सरस्वती

सचित्र मासिक पत्रिका

भाग ४

सम्पादक,

पण्डित महावीरप्रसाद द्विवेदी।

१९०३

इण्डियन प्रेस, इलाहाबाद।

सूची-पत्र

☞ जिन लेखों के पहिले * ऐसा चिन्ह है वे सचित्र हैं।

४—जीवन चरित ।

(पुरुष)

७—साहित्य-विषय ।

८—साहित्य-समाचार ।

मातृभाषा के प्रचारक, विमल बी० ए० पास।
सौम्य, शीलनिधान, बाबू श्यामसुन्दरदास॥

अध्यापक जगदीशचन्द्र वसु

विष्णुशास्त्री चिपळूनकर ।

महामहोपाध्याय पण्डित दुर्गाप्रसाद ।

महामहोपाध्याय बापूदेव शास्त्री, सी० आई० ई० ।

श्रीमान् राजा कमलानन्दसिंह ।

माइकेल मधुसूदन दत्त ।

DR. A. F. RUDOLF HOERNLE, PH.D., C.I.E.

हिन्दी के पाणिनी, बुद्धि-विद्या के सागर ।
ऋषि- समान आचार्य हॉर्नली वन्दनीय-वर ॥

खड्गविलास प्रेस, बांकीपुर, के स्वामी, हिन्दी के परमहितैषी,
परलोकवासी बाबू रामदीन सिंह ।
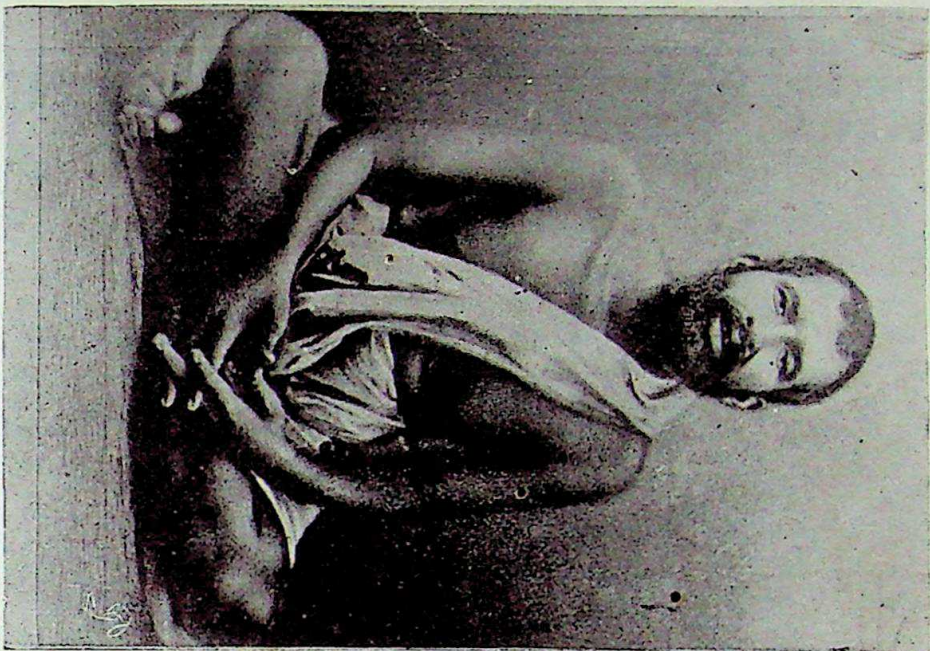
महात्मा रामकृष्ण परमहंस।
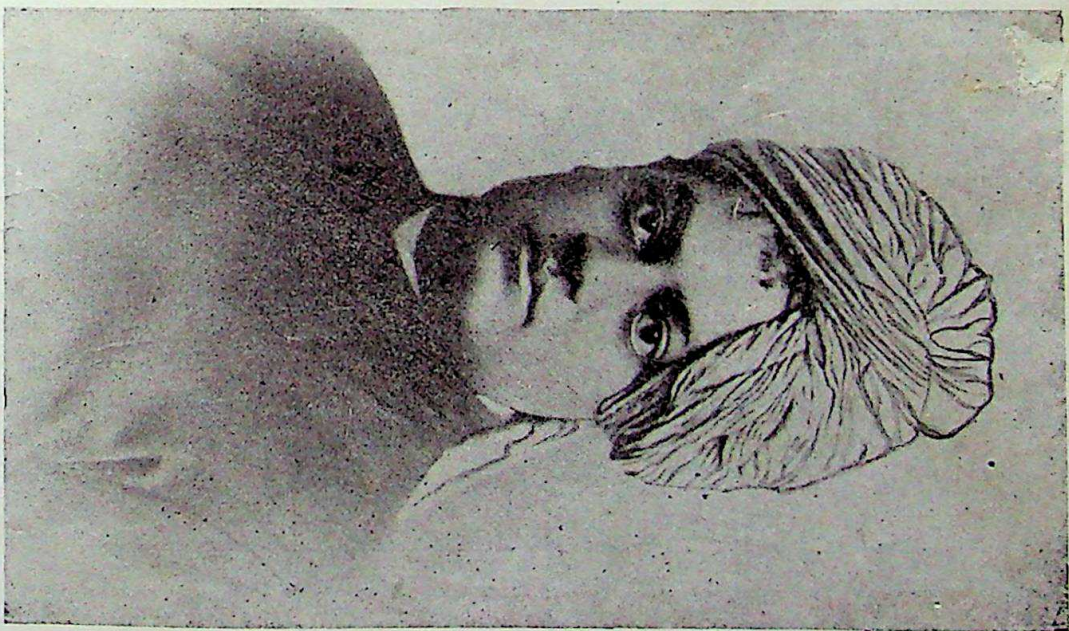
स्वामी विवेकानन्द।
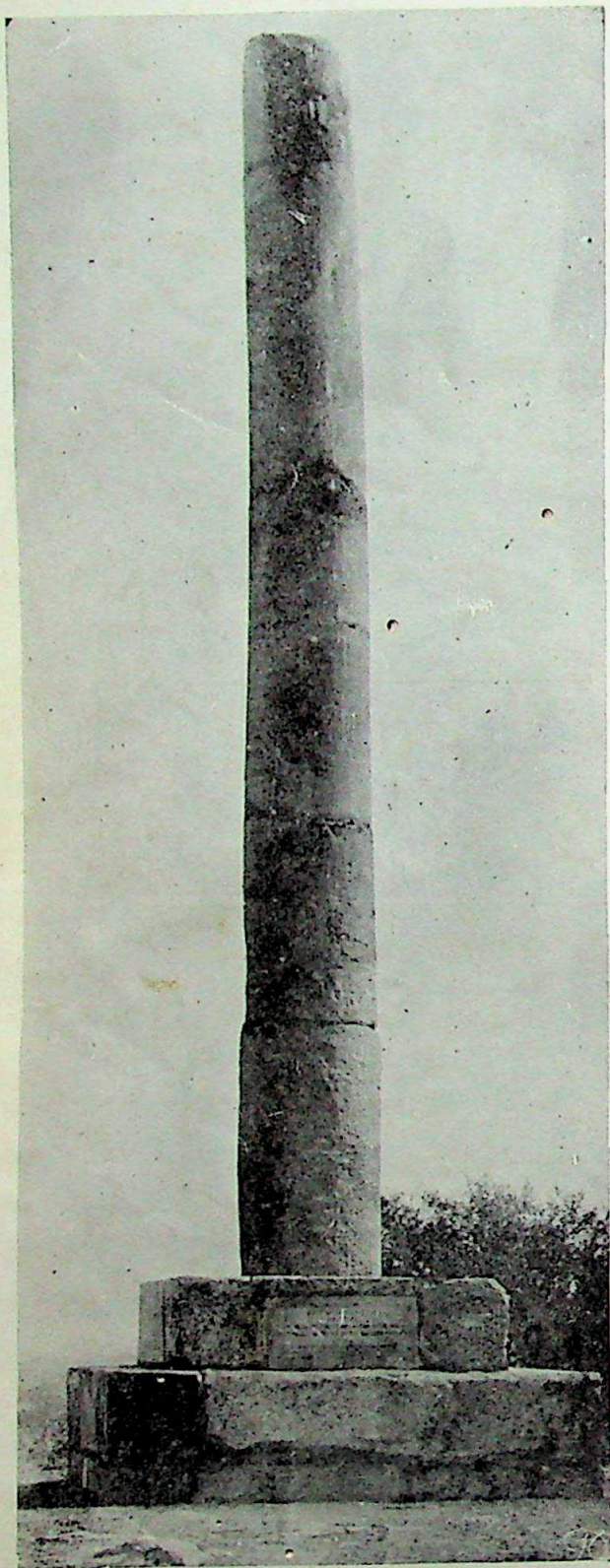
लोहे का स्तम्भ ।
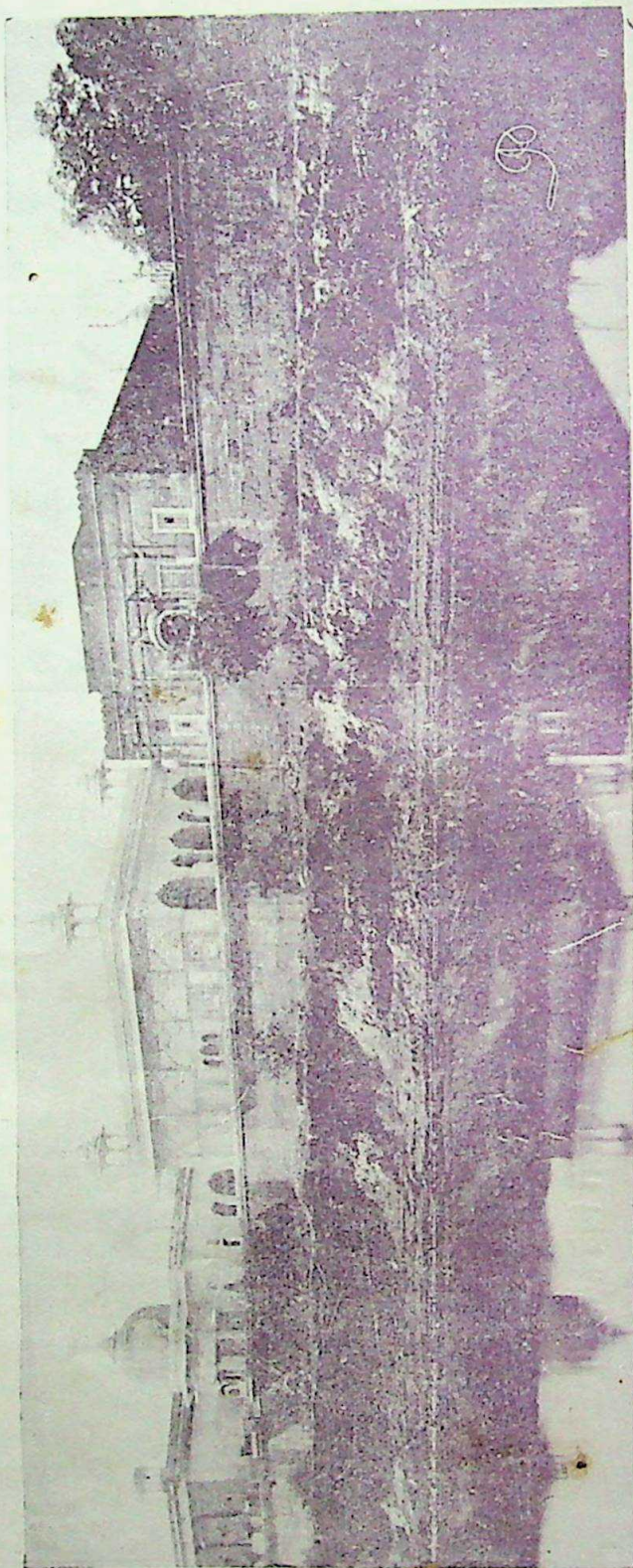
दीवान ख़ास और मोती मसजिद का बाहरी दृश्य ।

पूना का अनाथ-बालिकाश्रम ।

श्रीमती निर्म्मलाबाला सोम, यम. ए. ।

मिस कारनेलिया सोहराबजी।

राजा रविवर्म्माकृत प्राणघातक माला ।

सफ़दरजंग का मक़बरा।
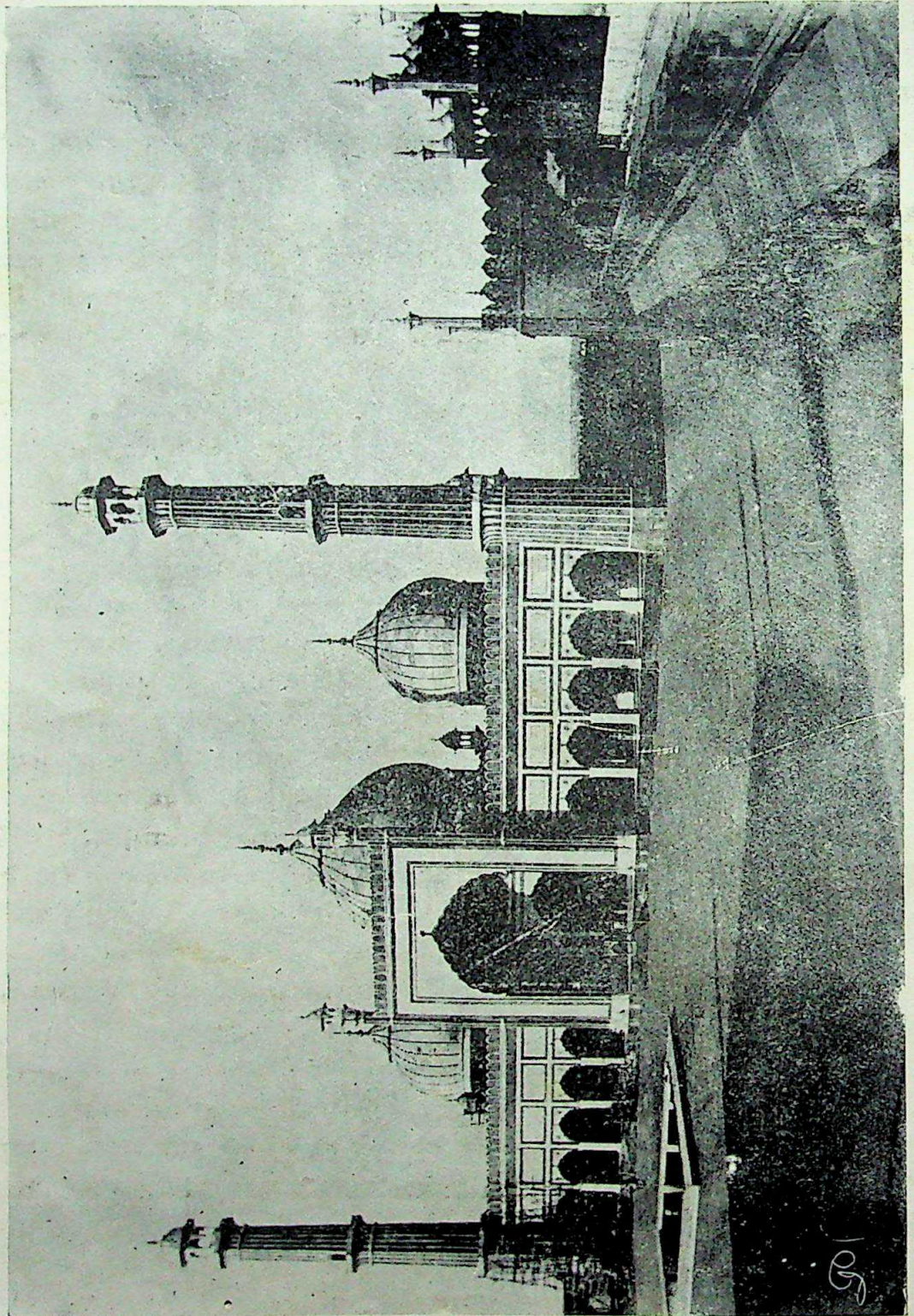
जामे मसजिद ।
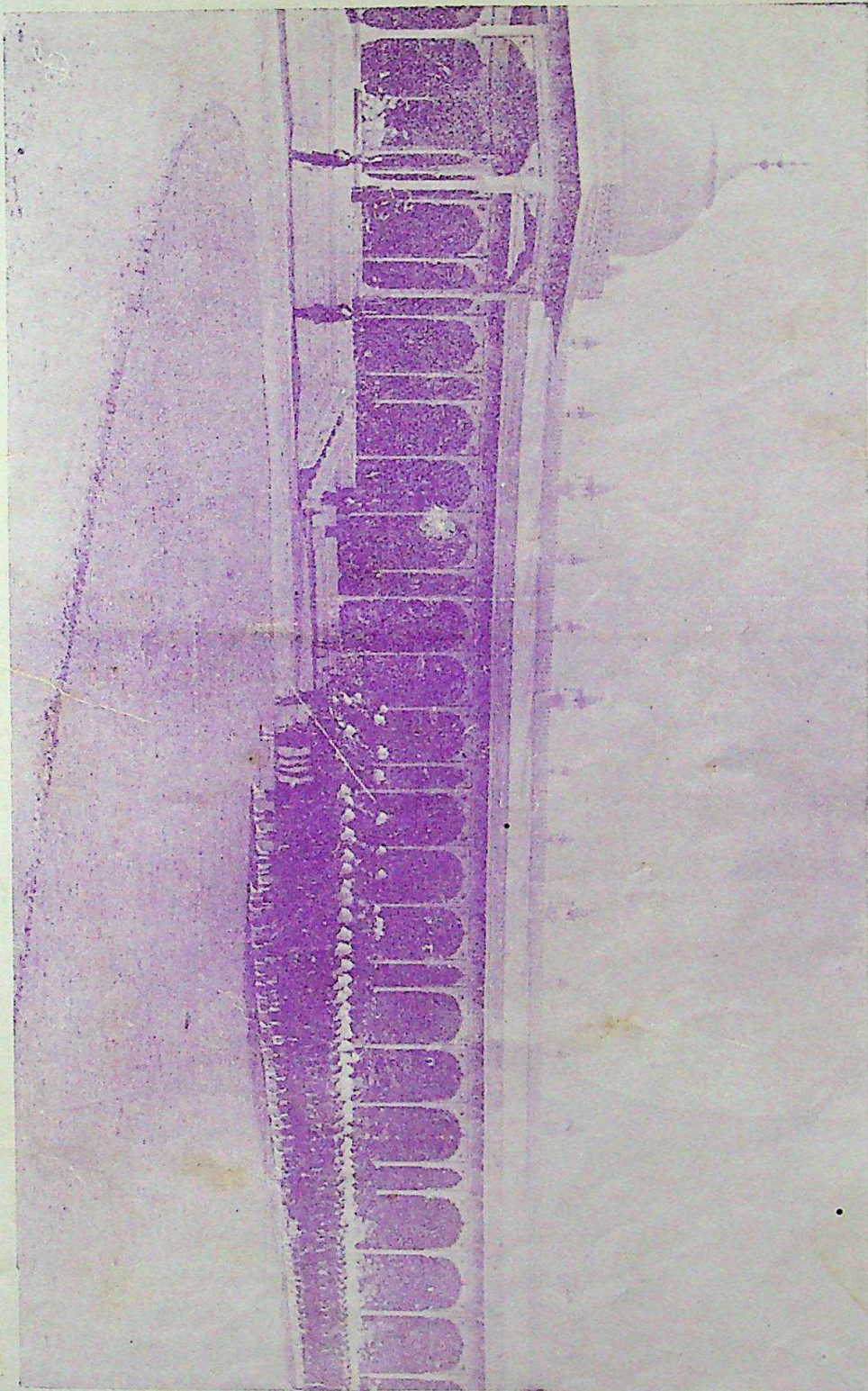
ऐम्फ़ीथियेटर वा दर्बारमण्डप ।
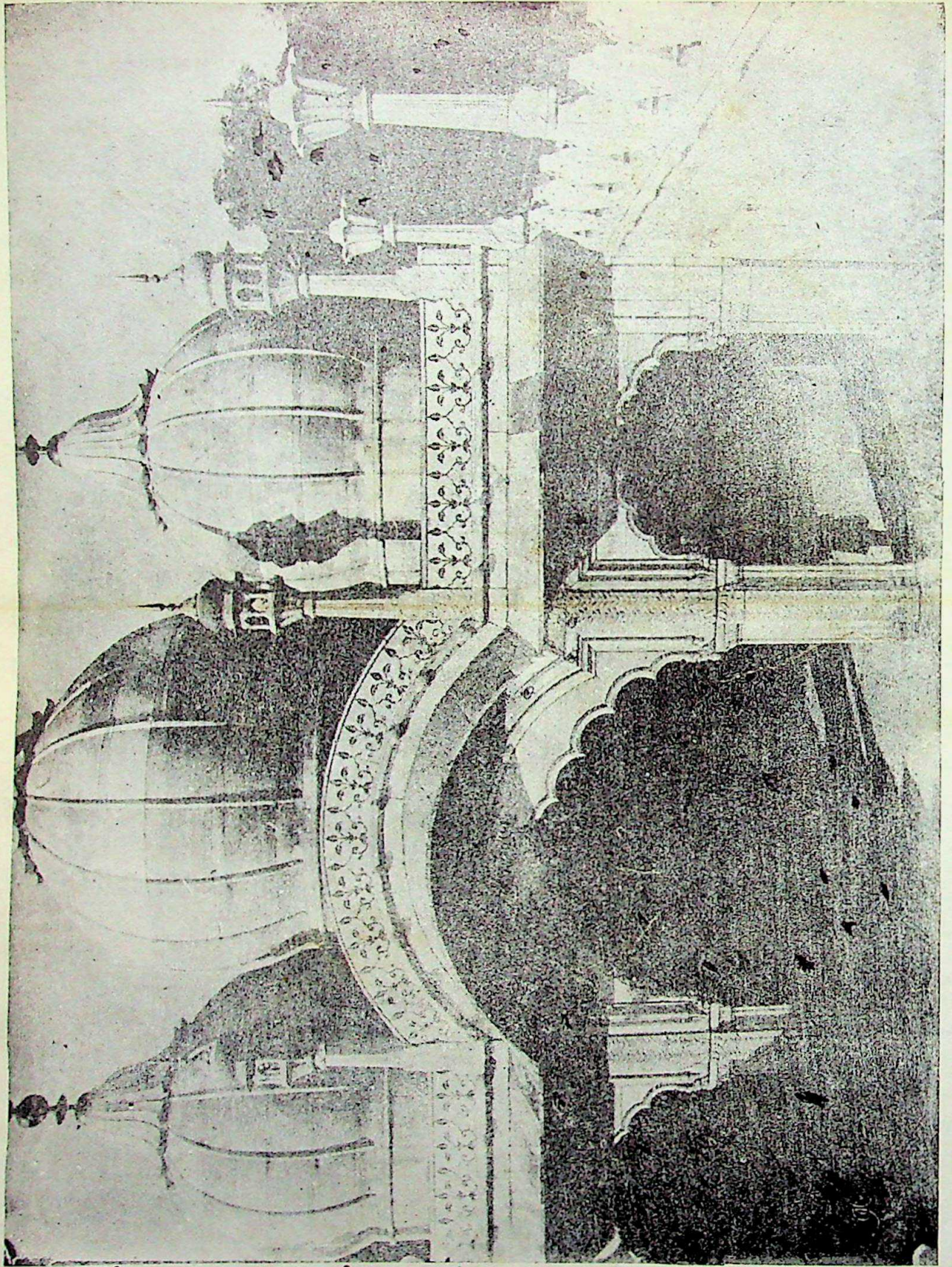
मोती मसजिद—भीतरी दृश्य ।
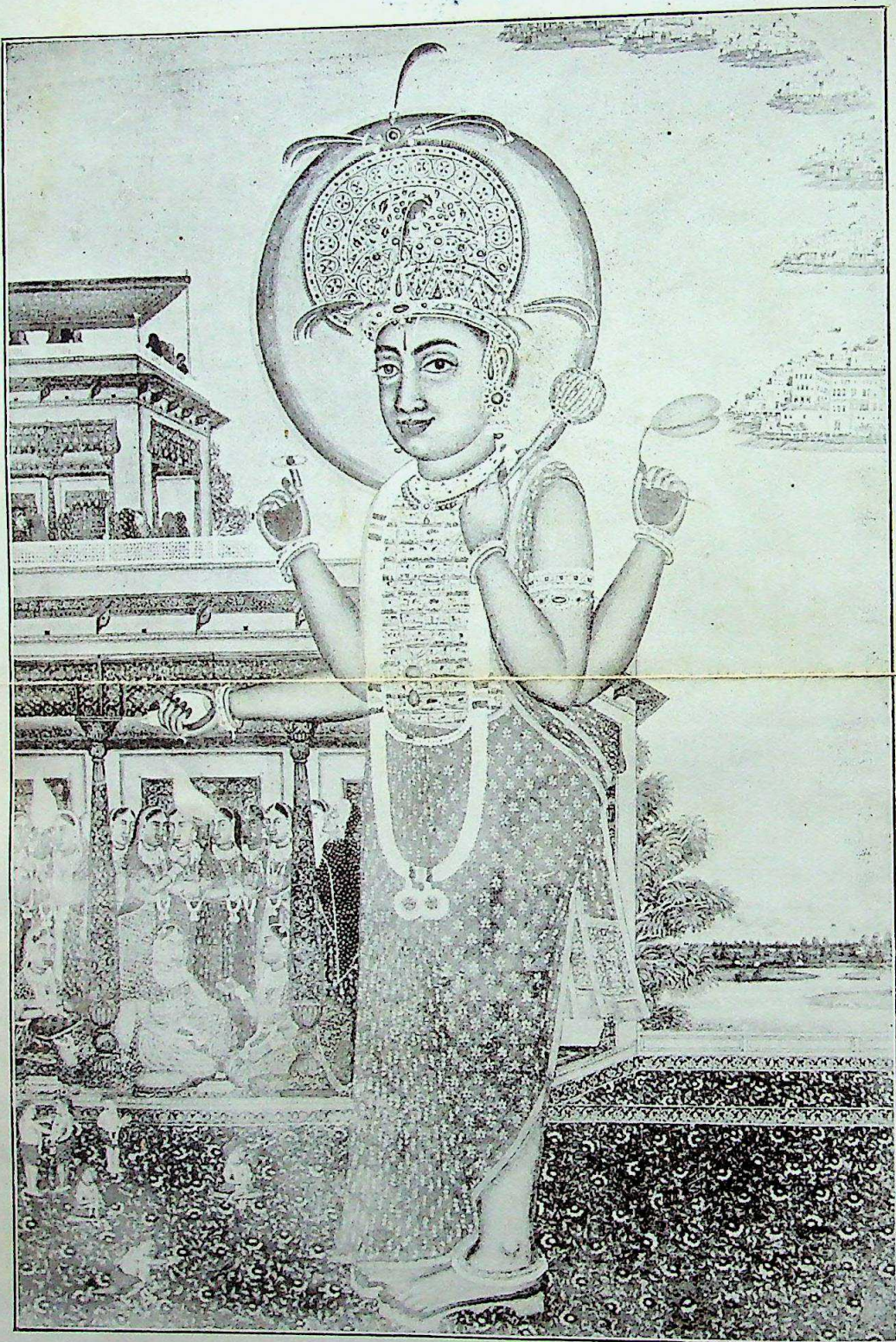
जो नहिँ देखा नहिँ सुना जो मनहूँ न समाइ।
सो सब अद्भुत देखेउँ बरनि कवन बिधि जाइ॥
(उ० का० ८० दो०)
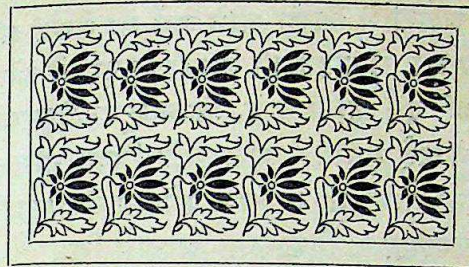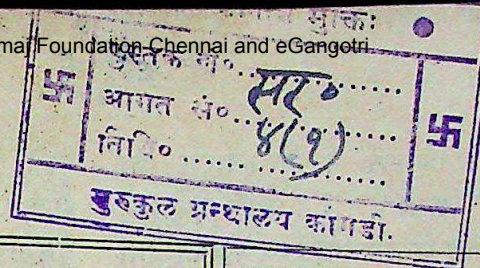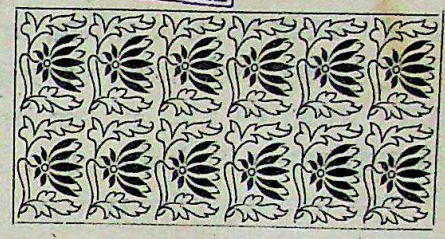
भाग ४]　　　　जनवरी १९०३　　　　[संख्या १

विविध विषय।

जिन्होंने बाल्यकाल ही से अपनी मातृभाषा हिन्दी में अनुराग प्रकट किया; जिनके उत्साह और अश्रान्त श्रम से नागरीप्रचारिणी सभा की इतनी उन्नति हुई; हिन्दी की दशा को सुधारने के लिए जिनके उद्योग को देखकर सहस्रशः साधु-वाद दिए बिना नहीं रहा जाता; जिन्होंने विगत दो वर्षों में, इस पत्रिका के सम्पादन कार्य्य को बड़ी ही योग्यता से निबाहा, उन विद्वान् बाबू श्यामसुन्दर दास के चित्र को, इस वर्ष, आदि में प्रकाशित करके, सरस्वती अपनी कृतज्ञता प्रदर्शित करती है।

***

नागरीप्रचारिणी सभा का सभा-भवन बनना आरम्भ होगया।

***

बड़े हर्ष की बात है कि वङ्गदेश और दक्षिण की स्त्रियां दिन पर दिन अधिक शिक्षिता होती जाती हैं। कमला किशोरीलाल कौल नामक स्त्री ने अङ्गरेज़ी में कथोपकथन-रूप एक आख्यायिका एक अङ्गरेज़ी मासिक पुस्तक में प्रकाशित की है। मनोरञ्जक और उपयोगी होने के कारण हमने उसका आशय अन्यत्र, "कामिनी-कौतूहल" में दिया है।

***

इस देश के प्रसिद्ध ग्रन्थकारों को उचित पेन्शन देने का अधिकार गवर्नर जनरल को है। आज तक जितने गवर्नर जनरल हुए हैं, किसीने इस अधिकार का उपयोग नहीं किया। परन्तु लार्ड कर्ज़न सचमुच महानुभाव हैं; वे स्वयं विद्वान् और विद्यानुरागी हैं; इसीलिये विद्वानों का आदर भी करते हैं। उन्होंने पूर्वोक्त अधिकार का उचित उपयोग करके तीन वङ्गाली विद्वानों को पेन्शन की आज्ञा दी है। उनके नाम ये हैं—

(१) बाबू किशोरीमोहन गांगुली।
(२) बाबू हेमचन्द्र वन्द्योपाध्याय।
(३) बाबू दीनेशचन्द्र सेन।

(१) बाबू किशोरीमोहन ने महाभारत का अङ्गरेज़ी में अनुवाद किया है। यह वही अनुवाद है जिसे स्वर्गवासी बाबू प्रतापचन्द्र राय ने प्रकाशित किया है। उनको ५० रुपए मासिक मिलता है। (२) बाबू हेमचन्द्र वन्द्योपाध्याय बँगला के विख्यात कवि हैं। उनको २५ रुपए मासिक मिलता है। (३) बाबू दीनेशचन्द्र सेन ने बँगलाभाषा और बँगला साहित्य का बहुत बड़ा इतिहास लिखा है। उनको भी २५ रुपए मासिक मिलता है। क्या कभी ऐसा भी समय आवैगा कि हमारे हिन्दी के लेखक भी अपनी मातृभाषा का इतिहास लिखकर गवर्नमेण्ट के इस पुरस्कार के पाने की योग्यता दिखलावैंगे?

* * *

जिस प्रकार, इस देश में, बँगला और मराठी भाषाओं ने आश्चर्यकारक उन्नति की है, उसी प्रकार गुजराती भाषा ने भी की है। किसी किसी बात में तो गुजराती का नम्बर इन दो भाषाओं से भी बढ़ा चढ़ा हुआ है। मगनलाल नरोत्तमदास पटेल ने गुजराती में एक बहुत बड़ा और बहुत ही उपयोगी ग्रन्थ लिखा है। इसका नाम "महाजन-मण्डल" है। इसका प्रथम भाग निकले कई वर्ष हुए; दूसरा भाग भी शायद बन चुका है। इसमें प्रसिद्ध प्रसिद्ध कवि, चित्रकार, ग्रन्थकार, वक्ता, भक्त, विद्वान्, विज्ञानी, ज्योतिषी, राजा और राज्याधिकारियों के जीवनचरित हैं। केवल इसी देश के विख्यात पुरुषों के चरितों का समावेश इस पुस्तक में नहीं किया गया; और और देशों के वर्णनीय विद्वानों और महात्माओं के भी चरित इसमें दिए गए हैं। यह ग्रन्थ अद्वितीय है। इस भाषा में, इसी प्रकार का एक और ग्रन्थ है; उसका नाम है "सती-मण्डल"। उसमें प्रसिद्ध प्रसिद्ध स्त्रियों के चरित हैं। हम नहीं जानते, हिन्दी में ऐसे ऐसे ग्रन्थों की रचना कब होगी।

* * *

देश भर की भाषा एक होने से जो लाभ हैं वे छिपे नहीं हैं। इस देश में यदि कोई सर्वव्यापिनी भाषा हो सकती है तो वह हिन्दी ही है। एक भाषा होने को बहुत समय चाहिए। तब तक यदि गुजराती, बँगला और पञ्जाबी आदि भाषायें देवनागरी अक्षरों में लिखी जाने लगें तो लोगों की प्रवृत्ति क्रम क्रम से सहज ही हिन्दी भाषा की ओर हो जावै। बड़े हर्ष की बात है, कि बाबू बलदेवराम उपाध्याय ने कई महीने से गुजरातीपत्रिका नामक एक गुजराती भाषा की मासिक पत्रिका देवनागरी अक्षरों में लखनऊ से निकालना आरम्भ किया है। इस पत्रिका में यद्यपि छापे इत्यादि की कई त्रुटियां हैं, तथापि पूर्वोक्त उद्देश्य का विचार करके वह सर्वथा आदर की पात्र है।

* * *

पृथ्वी में सबसे बड़ा पुस्तकालय फ़्रांस की राजधानी पेरिस में है। उसमें २००,००० छपी हुई और १,६०,००० हस्तलिखित पुस्तकें हैं। नहीं जानते कितना ज्ञानभण्डार उनमें भरा होगा।

* * *

कुछ दिन हुए विलायत की बरलिङ्गटन और मसौरी रेलवे के ऊपर एकली और रे नामक स्टेशनों के बीच इतने वेग से रेल गाड़ी दौड़ाई गई कि उतने वेग से आज तक कहीं किसी देश में वह नहीं चली। इन दो स्टेशनों का अन्तर १४ मील है जिसे पार करने में रेल को केवल ९ मिनट लगे, अर्थात् घण्टे में लगभग ९८ मील के हिसाब से वह चली।

* * *

पृथ्वी की सारी खानों से २५६५ मन सोना और १४,०४० मन चाँदी प्रति वर्ष निकलती है।

* * *

१९०१ ईसवी में जो मनुष्य गणना हुई थी उसका फल प्रकाशित हो गया है। उससे जाना जाता है कि इन प्रान्तों में नीचे लिखे अनुसार मनुष्य निवास करते हैं:—

शिक्षित	पुरुष	१४,२२,९३४
	स्त्री	५५,९४१
अशिक्षित स्त्री-पुरुष		४,६२,१२,९०७
जोड़		४,७६,९१,७८२

इसके पहले १८९१ ईसवी में मनुष्य-गणना हुई थी, उस समय १२,५७,१४९ पुरुष और ३८,४६८ स्त्रियां शिक्षित थीं। अर्थात् इन दस वर्षों में शिक्षित पुरुषों की संख्या १०० में ८ और स्त्रियों की १०० में ३९ के हिसाब बढ़ी है। इससे ज्ञात होता है कि स्त्री-शिक्षा का प्रचार इन प्रान्तों में क्रम क्रम बढ़ता जाता है। शिक्षितों की जो संख्या ऊपर दी गई है उसका हिसाब, भिन्न भिन्न जाति के लोगों के अनुसार इस प्रकार है—

	प्रति सैकड़ा
हिन्दू	११
मुसल्मान	११
जैन	२२
आर्य्य	२४
ईसाई	२२

इससे सिद्ध है कि हिन्दू और मुसल्मान शिक्षा में बहुत पीछे पड़े हैं। यह बड़े खेद की बात है।

इन प्रान्तों में हिन्दी के जाननेवालों की संख्या १०,१६०,६७ और उर्दू के जाननेवालों की केवल २,५९,०५३ है। अर्थात् उर्दू जाननेवालों की अपेक्षा हिन्दी जाननेवाले चौगुने हैं। इससे प्रमाणित है कि हिन्दी ही यहां की प्रधान भाषा है और उसीका सार्वजनिक प्रचार होना प्रजा के लिए हितकर है।

* * *

मनुष्य-गणना की रिपोर्ट के अनुसार १८९१ और १९०१ में प्रकाशित हिन्दी और उर्दू की पुस्तकों का मिलान करने से यह फल निकलता है:—

भाषा	१८९१	१९०१
हिन्दी	१९९	४३६
उर्दू	२६६	५१२

अर्थात् हिन्दी पुस्तकों में प्रतिशत ११६ और उर्दू पुस्तकों में प्रति शत ९२ के हिसाब से वृद्धि हुई। परन्तु गत दस वर्षों का हिसाब लगाने से विदित होता है कि इन प्रान्तों में जितनी पुस्तकें प्रकाशित हुईं उनमें से ४५ प्रति सैकड़ा उर्दू की, ३४ हिन्दी की और २१ दूसरी भाषाओं की थीं। यह फल सन्तोषजनक नहीं है, क्योंकि जहां उर्दू बोलनेवालों की अपेक्षा हिन्दी बोलनेवाले चौगुने हैं वहां उर्दू से हिन्दी की पुस्तकें भी चौगुनी निकलनी चाहिए। इस अवनति का कारण लोगों का अनुत्साह और हिन्दी का राजकीय कार्य्यालयों में अप्रवेश है। गवर्नमेण्ट ने अब हिन्दी को भी अपने यहां स्थान दिया है, अतः आशा है कि अगली मनुष्य-गणना तक हिन्दी भाषा की पुस्तकों में अवश्यमेव उन्नति होगी।

* * *

मध्य एशिया के आँदिजन नामक नगर में, गए दिसम्बर महीने में बड़ाही विकराल भूकम्प हुआ। हज़ारों मनुष्य उससे मर गए और अनेक इमारतें गिर कर धूल में मिल गईं। यह ऐसा भारी भूडोल है कि अभी तक, अर्थात् इस जनवरी महीने तक, पृथ्वी हिल रही है। कभी हिलना शान्त हो जाता है और कभी फिर समुद्र में नाव के समान ऊपर नीचे, इधर उधर पृथ्वी डगमगाने लगती है। आँदिजन और उसके आसपास के निवासी ऐसे भयभीत हो गए हैं कि अपने अपने मकान छोड़ कर रेल की किराचियों में वे अपने दिन काट रहे हैं।

* * *

यद्यपि देहली-दरबार होने के पहले कई विघ्न हुए; कई खेमे, भीतर के सामान समेत, जल गए; महाराजा ट्रावनकोर के हाते में भी आग लगी और उसने बहुत कुछ हानि भी पहुंचाई; परन्तु और कुछ नहीं हुआ। सफलता-पूर्वक दरबार समाप्त हो गया। यह जलसा अभूत-पूर्व हुआ। इससे इस देश के राजाओं को यह लाभ हुआ कि गवर्नमेण्ट ने उन्हें, अकाल के समय, जो ऋण दिया है उसका सूद तीन वर्ष तक उसने छोड़ दिया।

* * *

दरबार के समय, समाचार भेजने के लिए, देहली में, कोई ४० नए तार लगाए गए थे; उन सब की लम्बाई लगभग ५,००० मील थी। इन सब तारों से सम्बन्ध रखनेवाले यन्त्रों पर काम करने के लिए ४०० कर्मचारी नियत हुए थे।

* * *

प्रयाग के इण्डियन प्रेस ने राजा रविवर्म्मा का जीवनचरित अंगरेज़ी में प्रकाशित किया है। यहां पर, रविवर्म्मा का परिचय कराने की कोई आवश्यकता नहीं। सरस्वती के वाचकों ने रविवर्म्मा का संक्षिप्त चरित, इसमें जो प्रकाशित हुआ है, पढ़ा ही होगा। रविवर्म्मा के बनाए हुए मनोमोहक अनेक चित्र भी, आज तक, सरस्वती ने अपने वाचकों को उपहार दिए हैं। इस जीवनचरित में रविवर्म्मा के २१ हाफ टोन चित्र भी हैं। और सब से अच्छे जो हैं वही छाँट कर रक्खे गए हैं। जो अंगरेज़ी जानते हैं उनका तो कुछ कहना ही नहीं; जो नहीं जानते वे भी इस चरित के चित्रों को देख कर आनन्द प्राप्त कर सकते हैं। स्वदेशी ही चित्रकार! स्वदेशी ही नक़ाश!! और स्वदेशी ही छापनेवाले!!! इसीलिए इस चित्रयुक्त चरित को, जिन्होंने देखा है वे, "दिव्यम् दिव्यम् महा-दिव्यम्" कह रहे हैं*। इस वर्ष की पत्रिका के ऊपर सरस्वती का जो चित्र दिया गया है वह भी राजा रविवर्म्माही के बनाए चित्र का अनुकरण है।

विष्णु शास्त्री चिपलूनकर।

गुणाधिके पुंसि जनोऽनुरज्यते
जनानुरागप्रभवा हि सम्पदः ॥*

—भारवि।

साहित्य के जितने अङ्ग हैं उनमें इतिहास प्रायः सबसे श्रेष्ठ समझा जाता है। परन्तु किसी किसी का मत है, और हमारा भी है, कि जीवनचरित का महत्व इतिहास से भी बढ़ कर है। जीवनचरित से मनोरञ्जन भी होता है; व्यवहारज्ञान भी होता है; चरित-नायक के उत्कर्ष के कारणों का विचार करके उसके गुण-ग्रहण करने का उत्साह भी बढ़ता है; और साथ ही उसके किए हुए प्रमादों से बचने की सद्बुद्धि भी मनुष्य में सहज ही उत्पन्न होती है। सद्गुण किसी देशविशेष अथवा जाति-विशेष में नहीं वास करते। सब देशों में और सब जातियों में सद्गुणी मनुष्य और स्त्रियां हुआ ही करती हैं। यह ऐश्वरीय नियम है। सद्गुणी पुरुष चाहै जिस देश का हो, और चाहै जिस जाति का हो, उसके चरित्र से शिक्षा अवश्यही मिलती है। अतएव जो लोग किसी जाति-विशेष के पुरुषों से घृणा करते हैं, अथवा उनके चरित पर अनास्था प्रकट करते हैं, उनको अपने संकुचित हृदय से इस प्रकार के विचार दूर कर देने चाहिए। किसीके जीवन चरित को पढ़ कर उससे लाभ उठाने का यत्न करना उचित है। यदि किसी बङ्गाली के, अथवा महाराष्ट्र के, अथवा मदरासी के, अथवा अङ्गरेज़ के, अथवा और किसी अन्य जाति या देश के पुरुष से हमको अधिक उपदेश मिलने की आशा हो तो हमको उचित है कि हम आदरपूर्वक उसके चरित को पढ़ें, उसपर विचार करें और उससे लाभ उठावें। जिस प्रान्त में जो रहता है, उस प्रान्त के सत्पुरुषों की चरितावली पढ़ने की ओर उसकी विशेष प्रवृत्ति होती है। ऐसा होना स्वाभाविक है और स्वदेश-प्रीति का लक्षण भी है। परन्तु उसके साथही दूसरी जाति अथवा दूसरे देश के सद्गुणी पुरुषों के जीवन की घटनाओं का वृत्तान्त सुनने और उनसे शिक्षा ग्रहण करने के लिए भी

* जिस पुरुष में गुणों की अधिकता होती है उससे सब कोई अनुराग करने लगते हैं और लोगों का अनुराग जागृत होने से आपही आप सब सम्पदाएं उसके पास चली आती हैं।

* Ravi Varma, the Indian Artist. Indian Press, Allahabad. Price Rs. 5. By V.P.P. Rs. 5-6 0.

उसे सर्वदा सज्ज रहना चाहिए, क्योंकि ऐसे चरितों के परिशीलन से निन्द्य नाटक ग्रैार ग्रसत्यमूलक कहानियों की ग्रपेक्षा, सहस्रगुणित लाभ होने की सम्भावना रहती है। लार्ड बेकन ने ग्रपनी एक पुस्तक में जीवनचरित लिखे जाने की बड़ी ग्राव-श्यकता बतलाई है, ग्रैार उसकी प्रशंसा में बहुत कुछ कहा है। उसके लेख का कुछ ग्रंश हम नीचे ग्रङ्गरेज़ी में उद्धृत करते हैं* ।

जो मनुष्य स्वतन्त्रताप्रिय है; जिसमें ग्रपने देशवासियों के कल्याण की इच्छा सर्वदा जागृत है; जो ग्रपनी मातृभाषा से निःसीम प्रेम रखता है वह धन्य है। वह ग्रवश्य सबका प्रेम-भाजन होता है; उसे सब लोग ग्रवश्य ग्रादर की दृष्टि से देखते हैं; उसकी विमल कीर्ति का ग्रवश्य प्रसार होता है; ग्रैार उससे जनसमूह के लाभ भी ग्रवश्य ही पहुंचता है। स्वतन्त्रता, मातृभाषा का प्रेम ग्रैार लोकोपकार, इन तीनों में से एक भी गुण जिस पुरुष में वास करता हो, वह भी सर्वसाधारण के ग्रादर का पात्र होता है; फिर जिसमें ये तीनोंही गुण पूर्णरूप से विद्यमान हों, उसके जन्म से उसके देशवासी ग्रपने देश के धन्य ग्रैार ग्रपनेके कृतार्थ मानेंगे, इसमें क्या सन्देह है! विष्णुशास्त्री चिप-लूनकर, जिनका संक्षिप्त जीवन-वृत्तान्त लिखने का ग्राज हमारा विचार है, ऐसेही थे; उनमें ये तीनों गुण एक ही साथ जागरूक थे।

दक्षिण में रत्नागिरी ज़िले के ग्रन्तर्गत चिपलून नामक एक क़सबा है। विष्णु शास्त्री के पूर्वज पहले वहीं के निवासी थे। इसीलिए उनका उपनाम चिपलूनकर पड़ गया। वे दाक्षिणात्य कोकनस्थ ब्राह्मण थे। पूना के पेशवाग्रों के द्वारा विद्वानों का जब विशेष ग्रादर होने लगा तब उनके पूर्वज चिपलून से पूना चले ग्राए ग्रैार वहीं रहने लगे। उनके पिता का नाम कृष्ण शास्त्री था। कृष्ण शास्त्री पहले थोड़ी सी वेद-विद्या सीख कर विश्राम-बाग़ में नवीन स्थापित हुई एक पाठशाला में न्याय ग्रैार साहित्य पढ़ने लगे ग्रैार थोड़े ही दिनों में इन दो शास्त्रों में उन्होंने दक्षता प्राप्त कर ली। उस पाठशाला में मोर शास्त्री नामक एक महा-विद्वान् पण्डित थे; उन्होंसे कृष्ण शास्त्री ग्रध्ययन करते थे। कृष्ण शास्त्री की कुशाग्रबुद्धि ग्रैार विद्या-प्रियता के देख कर मोर शास्त्री ने उन्हें "बृहस्पति" की पदवी दी थी। संस्कृत का ग्रभ्यास समाप्त करके कृष्ण शास्त्री ने ग्रङ्गरेज़ी पढ़ना ग्रारम्भ किया ग्रैार उसमें भी शीघ्र ही बहुत कुछ प्रवेश पाकर शिक्षाविभाग में वे शिक्षक का काम करने लगे। उस समय तक उनकी धन-सम्बन्धी दशा ग्रच्छी न थी; परन्तु जबसे शिक्षक का काम उनके मिला तबसे उनकी वह दशा सुधर गई, ग्रैार वे सुख से कालक्षेप करने लगे। उन्होंने ग्रपना काम ऐसी योग्यता से किया कि बहुत शीघ्र उनकी उन्नति होगई। कुछ दिन में शिक्षकों के शिक्षा देने की "ट्रेनिङ्ग स्कूल" नामक पाठशाला में वे ग्रध्यापक नियत किए गए। ग्रधिकारियों के कृष्ण शास्त्री की योग्यता ग्रैार विद्वत्ता का साक्ष्य मिलते ही उन्होंने उन्हें मराठीभाषा के समाचारपत्र ग्रैार पुस्तकों का रिपोर्टर नियत किया, जिस काम के उन्होंने बड़ीही चतुरता से सम्पादन किया। "शालापत्रक" नामक एक सामयिक पत्रिका भी वे पाठशालाग्रों के लिए सरकारी ग्राज्ञा से निकालने लगे। यह पत्रिका बहुत दिन तक प्रचलित रही; परन्तु ग्रन्त में उनके सुयोग्य पुत्र, विष्णु शास्त्री, के कारण बन्द हो गई। क्यों बन्द हो गई इसका कारण हम ग्रागे चल कर बतलावेंगे।

१८५० ईसवी में विष्णु शास्त्री का जन्म हुग्रा। उनके पिता कृष्ण शास्त्री ने पहले उनके पूना के 'इन्फैण्ट स्कूल' में पढ़ने भेजा। वहां कुछ दिन रह कर हरिपन्त नामक एक पण्डित की पाठशाला

*But lives, if they be well writtern, propounding to themselves a person to represent, in whom actions—both greater and smaller, public and private, have a com-mixture, must of necessity contain a more true, native and lively representation.—ADVANCEMENT OF LEARNING.

में वे मराठी पढ़ने लगे। वहीं उन्होंने दो एक पुस्तकें अङ्गरेज़ी की भी सीखीं। तदनन्तर वे पूना के गवर्नमेण्ट हाई स्कूल में भरती हुए और अङ्गरेज़ी का अभ्यास करने लगे। १८६६ ईसवी में, अर्थात् जिस समय विष्णु शास्त्री का वय केवल १५ वर्ष का था, उन्होंने प्रवेशिका (एन्ट्रन्स) परीक्षा पास की और पास करके पूना के डेकन कालेज में वे प्रविष्ट हुए। लड़कपन ही से विष्णु शास्त्री को पढ़ने लिखने का अनुराग था। उनकी बुद्धि और धारणा-शक्ति बहुत ही विलक्षण थी। वह भली भाँति चित्त लगा कर विद्याभ्यास करते थे; इस लिए स्कूल के विद्यार्थी और शिक्षकों ने उनका नाम "अभ्यासी" रक्खा था। उनका स्वभाव गम्भीर था; स्कूल में वे कभी किसी प्रकार का गड़बड़ न करते थे। यथासमय वे सीधे स्कूल जाते थे और छुट्टी होने पर सीधे घर आते थे। पाठशाला में प्रवेश करने के दिन से छोड़ने तक कभी उन्होंने अपना पाठ याद करने में किंचिन्मात्र भी शिथिलता नहीं की। एकही दो बार पढ़ने से उनको उनके पाठ कण्ठ हो जाते थे; उन्हें कण्ठ करके वे पाठशाला जाते थे और वहां शान्तचित्त बैठे हुए अध्यापक के मुख से निकली हुई शिक्षाओं को सुनते थे। पाठशाला की पुस्तकों को पढ़ने के अनन्तर जो समय उन्हें मिलता था, उसे वे कभी व्यर्थ न जाने देते थे। मराठी भाषा के नाटक, उपन्यास और समाचार पत्र इत्यादि पढ़ने में उसे वे लगाते थे। उनको पुस्तकावलोकन की बड़ी अभिरुचि थी; उसमें उनको विशेष आनन्द मिलता था। पढ़ने से उनको कभी भी विरक्तता न होती थी। जब तक उनके पास कोई भी पुस्तक पढ़ने के लिए रहती थी तब तक वे दूसरा काम न करते थे। पढ़ने में निमग्न देख कर कभी कभी लड़के उनको तङ्ग किया करते थे; परन्तु वे इसका बुरा न मानते थे और न किसी लड़के को बुराशब्द कहते थे। लड़कों की इस नटखटता को चुपचाप सहन करके वे पढ़ते रहते थे; पढ़ना वे कभी बन्द न करते थे।

विष्णु शास्त्री को जैसा मराठी भाषा पर स्नेह था, वैसा ही संस्कृत पर भी था। जब तक वे स्कूल में थे तब तक अङ्गरेज़ी के साथ उनकी दूसरी भाषा मराठी थी; परन्तु संस्कृत का अभ्यास भी वे घर पर करते थे। छोटे ही वय में संस्कृत का बहुत कुछ ज्ञान उन्होंने सम्पादन कर लिया था; यहां तक कि मराठी की प्रथम तीन पुस्तकों का संस्कृत में अनुवाद तक उन्होंने कर डाला था। यह अनुवाद उनके वय और उनकी नियमित विद्या के विचार से बुरा न था।

प्रवेशिका परीक्षा में उत्तीर्ण होने पर विष्णु शास्त्री ने पूना के डेकन कालेज में प्रवेश किया, और १८७२ ईसवी में बी० ए० पास करके कालेज छोड़ा। अर्थात् बी० ए० में उत्तीर्ण होने के लिए उनको लगभग ६ वर्ष लगे। यदि वे बीच की साधारण वार्षिक परीक्षाओं में उत्तीर्ण होते जाते तो बी० ए० होने के लिए उनको केवल ४ वर्ष बस थे। परन्तु ऐसा नहीं हुआ; जितना चाहिए था उससे डयोढ़ा समय उन्हें लगा। इसका कारण उनका पुस्तकावलोकन था। उन्होंने स्वयं लिखा है कि जिस समय वे कालेज में थे और विद्या-पर्वत के उच्च शिखर तक पहुंचने के लिए शिक्षा-विभाग के बनाए हुए मार्ग से जा रहे थे, उस समय मार्ग के दोनों ओर लगे हुए वृक्ष और लताओं के पुष्प को देख, आकर्षितान्तःकरण हो कर, बीचही में वे रुक जाते थे। इस समय उनकी दूसरी भाषा संस्कृत थी। अतः मराठी और अङ्गरेज़ी ग्रन्था-वलोकन के अतिरिक्त वे संस्कृत भाषा के भी ग्रन्थों का अवलोकन पहले की अपेक्षा अधिक करते थे। इतिहास, साहित्य, संस्कृत और तर्कशास्त्र उनको विशेष प्रिय थे। गणित में उनकी रुचि अधिक न थी। सम्भव है इसी अनभिरुचि के कारण उनको ६ वर्ष तक कालेज में रहना पड़ा हो।

विष्णु शास्त्री की स्कूल और कालेज की दिन-चर्या में कोई अन्तर नहीं हुआ। जैसे स्कूल में विद्याध्ययन करने के समय वे शान्त और गम्भीर थे

वैसेही कालेज में प्रवेश पाने पर भी वे बने रहे। कालेज के विद्यार्थियों को बहुधा अनेक दुर्गुण घेर लेते हैं; परन्तु विष्णुशास्त्री उनसे सदा दूर रहे। अपने सहाध्यायियों के साथ बातचीत करने में अथवा उनके साथ घूमने फिरने में उन्होंने कभी अपना समय व्यर्थ नहीं खोया; न कभी उन्होंने कोई ऐसा अनुचित व्यवहार किया जिसके कारण उनको अपने अध्यापकों के सम्मुख सिर नीचा करना पड़ता; अथवा पिता को उनपर क्रोध आता। हां, एक बार कालेज के लड़कों ने वेणीसंहार नाटक संस्कृत में खेला था; उस समय विष्णु शास्त्री धर्म्मराज बने थे। इस पात्र का काम शोकरसप्रधान था, जिसे उन्होंने बड़ी ही योग्यता से निर्वाह किया। यह भूमिका उनके शान्तशील और गम्भीर स्वभाव के अनुकूल भी थी। सुनते हैं, जिस समय यह प्रयोग हो रहा था, उस समय दर्शकों में शास्त्री जी के पिता भी विद्यमान थे; परन्तु उनके सम्मुख ही, सब सङ्कोच छोड़ कर, विष्णु शास्त्री ने तर्पण किया! इस बात से उनके पिता को किञ्चिन्मात्र भी अप्रसन्नता नहीं हुई। कारण यह था कि डेकन कालेज के लड़के प्रतिवर्ष कोई न कोई संस्कृत-नाटक खेलते थे। उनमें और मुम्बई के यल्फिन्स्टन कालेज के विद्यार्थियों में परस्पर स्पर्धा सी थी। दोनों कालेजों के लड़के अपने अपने खेल को अधिक अच्छा करके दिखलाना चाहते थे। ऐसी दशा में प्रत्येक पात्र को अपना अपना काम योग्यता से सम्पादन करनाही उचित था।

कालेज में विष्णु शास्त्री का यद्यपि नाम नहीं हुआ; यद्यपि उनकी तेजस्विता का प्रकाश नहीं पड़ा; और यद्यपि एक आध को छोड़ उन्हें कोई छात्रवृत्ति नहीं मिली; तथापि उनकी विशालबुद्धि का अंकुर गूढ़रूप से उस समय उनके हृदय में उग कर धीरे धीरे बढ़ रह था। राजा दशरथ के विषय में कालिदास ने कहा है:–

> अतिष्ठत्प्रत्ययाक्षेपसन्ततिः स चिरं नृपः।
> प्राङ्मन्थनादनभिव्यक्तरत्नोत्पत्तिरिवार्णवः॥
>
> -रघुवंश।

समुद्र को मथने के पहले यह कौन जानता था कि उससे इतने रत्न निकलेंगे। विद्यार्थी की दशा में विष्णु शास्त्री के बुद्धिवैभव का भी पता किसीको नहीं लगा। उनकी बुद्धि शान्त थी; परन्तु सांसारिक व्यवहारों के घर्षण का संस्कार होते ही वह जग उठी और अपना विकास दिखलाने लगी। हां, उनके कालेज में रहने के समय एक भविष्यद्-वाद अवश्य हुआ था और वह सर्वथा सत्य निकला। जिस समय विष्णु शास्त्री डेकन कालेज में थे, उस समय डाक्टर कीलहार्न वहां अध्यापक थे। एक बार उनके एक परिचित विद्वान् जर्मनी से इस देश में आए और उन्होंने डेकन कालेज की देखभाल की। उस समय विष्णु शास्त्री के विशाल सिर, भव्य कपाल और उसकी विलक्षण बनावट को देखकर उन्होंने यह कहा कि "यह युवक विद्वान्, प्रतिष्ठित और कीर्तिमान होगा"। उस समय किसीने इस भविष्यद्वाद पर ध्यान नहीं दिया; परन्तु पीछे से उसकी सत्यता के सम्बन्ध में किसीको शङ्का न रही।

कठिन से कठिन परीक्षाओं में उत्तीर्ण होना; बड़ी बड़ी छात्रवृत्तियां मिलना; सहस्रशः पुस्तकों को साद्यन्त पढ़ जाना और अन्त में सेवावृत्ति स्वीकार करके आमरण लेखनी रगड़ते रहना कोई प्रशंसा की बात नहीं। इस प्रकार के अनेक पुरुष हुए हैं, और होते रहेंगे; परन्तु उनसे देश को क्या लाभ? धन्य वही पुरुष है जिससे जगत् का उपकार हो। यद्यपि विष्णुशास्त्री चाणाक्ष विद्यार्थी न थे और यद्यपि उन्होंने उस दशा में अनेक पुरस्कार प्राप्त करके नाम नहीं कमाया, तथापि उन्होंने पीछे से जो कुछ अपने देश और अपनी मातृभाषा के लिए किया, उसके लिए उनके देशवासी चिरकाल उनके ऋणी रहेंगे। हज़ार तीव्र और तेजस्वी विद्यार्थियों की अपेक्षा हम उनको अधिक समझते हैं।

विष्णुशास्त्री के पिता स्वयं विद्वान् और ग्रन्थकार थे। उनके यहां अनेक प्रकार के ग्रन्थ थे। यह भी हम कह आए हैं कि मराठीभाषा की पुस्तकों और उसके समाचारपत्रों के रिपोर्टर भी वे थे। इस

लिए कोई भी नवीन पुस्तक उनके यहां आए बिना न रहती थी। उनके घर पर विद्वान् लोग भी आया करते थे और अनेक विषयों पर उनके पिता के साथ वार्तालाप किया करते थे। उनके वार्तालाप को विष्णुशास्त्री एकान्त में बैठ कर सुनते और उस पर विचार किया करते थे। विविध-विषय की पुस्तकों के अवलोकन और विद्वानों के वार्तालाप को श्रवण करने से उनका ज्ञान-भाण्डार प्रतिदिन बढ़ता गया; पुस्तकस्थ विषयों के अतिरिक्त देश की दशा का भी उनको बहुत कुछ ज्ञान हो गया। अतएव जब उन्होंने बी० ए० पास करके कालेज छोड़ा तब और विद्यार्थियों के समान उनका ज्ञान आकुञ्चित न था। वे विशेष विद्वान, बुद्धिमान् और ज्ञानसम्पन्न होकर कालेज से निकले।

१८७२ ईसवी में जब विष्णुशास्त्री ने कालेज छोड़ा, तब उनका वय २२ वर्ष का था। वे उस समय हृष्ट पुष्ट और आरोग्य थे। उनके ओठ मोटे थे; उनकी दृष्टि स्तब्ध थी; उनकी भौंहें बड़ी और स्थिर थीं; उनका शरीर श्यामल और सुदृढ़ था। उनके रूप रङ्ग को देखकर यह कोई न कह सकता था कि वे ऐसे प्रसिद्ध लेखक, देशभक्त और स्वातन्त्र्य-प्रिय होंगे।

कालेज छोड़ कर विष्णु शास्त्री ने बाबा गोखले की पाठशाला में अध्यापक का काम स्वीकार किया; परन्तु कुछही दिनों के अनन्तर पूना के हाई स्कूल में उनको तृतीय अध्यापक का पद मिल गया। इस प्रकार व्यवसाय प्राप्त होने पर उनको अपनी प्रिय मातृभाषा मराठी की सेवा करने का सुअवसर मिला। जब विद्यार्थी थे तभी से वे अपने पिता के सम्पादित "शालापत्रक" में लेख लिखा करते थे। जबसे वे कालेज से बाहर निकले तबसे उन्होंने उस ओर विशेष ध्यान देना आरम्भ किया और क्रम क्रम से "शालापत्रक" को अपने ही अधिकार में कर लिया। उसमें सब लेख उन्हींके आने लगे। उनके प्रसिद्ध ग्रन्थ "कविपञ्चक" में जो कालिदास, भवभूति, बाण, सुबन्धु और दण्डी के ऊपर पाँच निबन्ध हैं, वे दो वर्ष तक इसी "शालापत्रक" में छपते रहे थे। यह पत्र गवर्नमेण्ट की सहायता से प्रकाशित होता था। इसमें कविता के विषय में लिखते समय, विष्णु शास्त्री ने, क्रिश्चियन धर्म्म और उसके आचार्यों के प्रतिकूल बहुत कुछ लिखा। यह बात उन आचार्यों को बहुत बुरी लगी। गवर्नमेण्ट ही का पत्र और गवर्नमेण्ट ही के गृहीत धर्म्म पर आघात! अतएव १८७३ के अन्त में गवर्नमेण्ट ने "शालापत्रक" की समाप्ति कर डाली।

"शालापत्रक" को तो गवर्नमेण्ट ने बन्द कर दिया; परन्तु विष्णु शास्त्री की विशाल लेखनी से उत्पन्न हुई विचारधाराओं को रोकने में वह नहीं समर्थ हुई। क्षुब्ध हुए सिन्धुप्रवाह को कौन रोक सकता है? "शालापत्रक" बन्द होते ही १८७४ से शास्त्री जीने क्रिश्चियन धर्म्माचार्यों का एक और विशेष प्रबल शत्रु उत्पन्न किया। उसका नाम उन्होंने "निबन्धमाला" रक्खा। इसे वे प्रतिमास मासिक पुस्तक के रूप में बड़ी ही योग्यता से निकालने लगे। इसमें भी उन्होंने अपना पहला क्रम नहीं छोड़ा; दूसरों पर तीव्र कटाक्ष किए बिना वे नहीं रह सके। चाहे स्वदेशाभिमान की मात्रा अपने बहुतही अधिक जागृत रहने के कारण उन्होंने ऐसा किया हो; चाहे और किसी कारण से किया हो; हमारी बुद्धि में तो यह आता है कि इस प्रकार के कड़े लेख लिखने की तादृश आवश्यकता न थी। दूसरों के धार्म्मिक विचारों पर आघात न करके, और दूसरों को मर्म्मभेदी वाक्य न कह कर भी, मनुष्य अपने हृद्गत भावों को प्रकट कर सकता है और अपने को अच्छा लेखक सिद्ध कर सकता है। इतिहास पर लिखते लिखते विष्णु शास्त्री ने मेकाले और मिल इत्यादि इतिहासकारों को अनेक दुर्वचन कहे और अङ्गरेजी भाषा पर लिखते लिखते, स्वदेशियों के साथ अङ्गरेज़ों के उद्घट व्यवहार पर तथा पादरीलोगों के द्वारा अनेक युक्तियों से क्रिश्चियन धर्म्म के प्रचार पर भी उन्होंने बड़ी ही तीक्ष्ण आलोचना

को। यह बात क्रिश्चियन धर्म्मोपदेशकों और गवर्नमेण्ट के अधिकारियों को अच्छी न लगी और ऐसा भासित होने लगा कि शास्त्री जी पर राजद्रोह का आरोप लगाया जावैगा। परन्तु यह न हुआ; हुआ यह कि, थोड़े ही समय में शास्त्री जी की बदली पूना से सैकड़ों कोस दूर रत्नागिरी को हो गई। यह आयोजना इस निमित्त शायद की गई कि रत्नागिरी में छापेख़ाने इत्यादि का प्रबन्ध न होने के कारण "निबन्धमाला" का निकलना बन्द हो जावै; परन्तु इसमें शास्त्री जी के विपक्षियों को कृतकार्यता नहीं हुई।

बाल्यावस्था से विष्णु शास्त्री पूना ही में रहे। वह नगर उन्हें अतिशय प्रिय था। उसे छोड़ कर वे रत्नागिरी जाना नहीं चाहते थे; परन्तु अपने पिता कृष्ण शास्त्री के आज्ञानुसार उन्होंने वहां के लिए प्रस्थान किया। वहां से भी वे अपनी प्रिय "निबन्धमाला" को निकालते ही गए। वे उसे लिखते रत्नागिरी में, और छपाते पूना में थे। इस बदली के कारण उनका चित्त और भी अधिक कलुषित हो गया और पहले से भी विशेष तीव्र लेख निबन्धमाला में निकलने लगे। जिस वर्ष उनकी बदली रत्नागिरी को हुई उसी वर्ष, अर्थात् १८७८ में, उन पर एक और ऐश्वरीय कोप हुआ। उनके पिता का शरीरान्त हो गया। इस दुर्घटना के कारण उनको बहुत खेद हुआ और साथही गृहस्थाश्रम का भार भी ऊपर आ पड़ा। इन्हीं कई कारणों से सेवावृत्ति से वे पहले से भी अधिक घृणा करने लगे और अपनी रजत-शृङ्खल को तोड़ कर स्वतन्त्र होने का विचार करने लगे। ऐसा न करने से देशोपकार करने और मातृभाषारूपी मन्दिर के ऊपर अपनी यशः पताका उड़ाने का अवसर आना उन्होंने दुर्घट समझा। अतएव पिता के परलोकवासी होने के अनन्तर वे बहुत दिन रत्नागिरी में नहीं रहे। पहले उन्होंने छुट्टी ली और पीछे से, शीघ्रही, सेवावृत्ति को तिलाञ्जलि दे दी।

रत्नागिरी के स्कूल में विष्णु शास्त्री को १००) मासिक वेतन मिलता था। इस वेतन को तृणवत् समझ कर उन्होंने सेवावृत्ति पर लत्ता प्रहार किया। इस बात को सुन कर लोगों को बड़ा आश्चर्य हुआ, क्योंकि विष्णु शास्त्री धनी न थे। न उनके यहां कोई व्यापार होता था; न जीविका का दूसरा और कोई मार्ग था। अतएव १००) रुपए की नौकरी छोड़ना आश्चर्य की बात ही थी। उनकी मित्रमण्डली उनको वैसा न करने के लिये बहुधा उपदेश देती रही; परन्तु उन्होंने उस विषय में किसी की बात नहीं सुनी। उनका उत्तर यह था कि "प्राणरक्षा के लिए मुझे दिन में एक बार रूखा सूखा अन्न चाहिए; वह चाहे जहां मैं रहूं और चाहे जो काम मैं करूं, मुझे मिलैगा; मुझे अधिक की इच्छा नहीं; फिर मैं क्यों दूसरों की सेवा करूं"। धन्य सन्तोष! धन्य स्वातन्त्र्य-प्रियता!

विष्णु शास्त्री यदि और अङ्गरेज़ी के पदवीधर विद्वानों के समान सेवा-प्रिय होते और शिक्षाविभाग में बने रहकर अधिकारियों को प्रसन्न रखने का प्रयत्न करते तो, शीघ्रही उनके वेतन की वृद्धि हो जाती; उनको उच्च पद भी मिल जाता; और किसी समय वे धनसम्पन्न भी हो जाते। परन्तु इन बातों की उन्होंने कुछ भी परवाह न की। बाल्यावस्था ही से उन्होंने अपनी मातृभाषा की सेवा करने का प्रण कर लिया था। उस प्रण को, धन और पद सम्बन्धी हानि लाभ का विचार न करके उन्होंने पूरा करना चाहा और मराठी भाषा में उत्तमोत्तम निबन्ध लिखकर उसे समृद्धि-शालिनी करने के लिए वे शीघ्रही बद्धपरिकर हुए। वे अंगरेज़ी में भी पारङ्गत थे; यदि चाहते तो उस भाषा में भी वे अच्छे अच्छे लेख लिख सकते थे। इण्डियन ऐण्टिक्वेरी अथवा एशियाटिक सोसाइटी के जर्नल में पुरातत्व-विषयक प्रबन्ध लिखकर वे सुलेखकों में अपना नाम कर सकते थे। परन्तु मराठी के सामने अङ्गरेज़ी को उन्होंने तुच्छ समझा। स्वतन्त्रता के सामने परतन्त्रता को उन्होंने रौरव नरक के समान दुःखद जाना और सेवावृत्ति में सुखी होने के लिए अधिकारियों की चाटुकारिता करने की अपेक्षा एक-ही बार भोजन

करके जीवन निर्वाह करना उन्होंने अधिक सुखकर निश्चित किया। किसी जातिविशेष अथवा देश विशेष की उन्नति के जो जो कारण हैं, उनमें उस जाति अथवा उस देश की भाषा का उन्नत होना भी एक कारण है। इस बात को विष्णु शास्त्री भली भाँति समझते थे। इसी लिए सेवावृत्ति से पृथक् होने पर "अध्ययन, अध्यापन और महाराष्ट्रग्रन्थ-लेखन" में अपना जीवन व्यतीत करने का उन्होंने प्रण किया। जिस जाति में ऐसे ऐसे उन्नताशय, ऐसे ऐसे स्वभाषाप्रेमी और ऐसे ऐसे अध्ययनशील पुरुष हुए, उस जाति के साहित्य की क्यों न उन्नति हो। हमारे युक्त प्रान्त के विद्वानों को ऐसे ऐसे पुण्य पुरुषों का चरित्र सुन कर लज्जा आनी चाहिए। माता और मातृभाषा से उदासीन लोगों को हम समान दोषी समझते हैं। जिस भाषा को हम बाल्यकाल से बोलते हैं; जिसमें अपनी मा, अपनी स्त्री, अपनी कन्या और अपने पुत्र पौत्रादि से बात चीत करते हैं; अङ्गरेज़ी में पराकाष्ठा के विद्वान् हो कर भी विपत्ति में जिस भाषा को छोड़ दूसरी भाषा मुख से नहीं निकलती; उससे बहिर्मुख होना बड़ी भारी कृतघ्नता है। कृतघ्नता क्या, घोर पाप है! अङ्गरेज़ी पढ़ कर जो हिन्दी की मासिक पुस्तकों और समाचारपत्रों से दूर भागते हैं; परन्तु पायनियर का आदर करते हैं, उनको उनकी प्रिय अङ्गरेज़ी के कविशिरोमणि मिल्टन के वचनों का स्मरण करके भी तो लज्जित होना चाहिए। लैटिन भाषा में विशेष प्रवीण होकर भी अपने देश की भाषा अङ्गरेज़ी ही की सेवा करना मिल्टन ने अपना धर्म्म समझा। यह बात उसने अपनी एक पुस्तक में स्पष्ट लिखा है; उसे हम फुटनोट में अविकल उद्भृत करते हैं*।

विष्णु शास्त्री ने समझ बूझकर सेवावृत्ति को छोड़ा, अविचार से नहीं छोडा। अपने मन का निश्चय उन्होंने पहले ही से दृढ़ कर लिया था। सेवा और स्वतन्त्रता का अन्तर वे भली भांति समझ गए थे। लापलैण्ड के रेन-डियर नामक अतिशय शीतप्रिय हरिण को आफ़्रिका का जलता हुआ वालुकामय प्रदेश जैसा कष्टदायक होता है, स्वतन्त्रता के अभिमानी पुरुष को दूसरे के आधीन होकर रहना भी वैसा ही असह्य होता है। रत्नागिरी से चले आने पर विष्णु शास्त्री ने अपने एक मित्र को एक पत्र अङ्गरेज़ी में भेजा था, उसमें उन्होंने सेवाधर्म को परित्याग करते समय अपने मन के विचारों को संक्षिप्त रीति पर प्रकट किया है। उस पत्र का सारांश हम नीचे देते हैं—

"सरकारी सेवा बुद्धिपुरस्सर छोड़ देना इस समय मनुष्यों
"को प्रत्यक्ष आत्मघात करना सा जान पड़ता है; परन्तु उस विषय
"में मेरा मत बिलकुल निरालाही है। अन्यायी अधिकारियों
"के सामने मस्तक झुकाने की अपेक्षा उन से सारा सम्बन्ध ही
"तोड़ डालना मैं अच्छा समझता हूं। जिस समय मेरी रत्नागिरी
"को बदली हुई, उसी समय मुझे सेवावृत्ति से पृथक् होना
"था; परन्तु कई कारणों से उस समय मैं वैसा नहीं कर सका।
"इससे तुमको विदित हो जावेगा, कि रजतशृङ्खलाओं को बहुत
"दिन तक न पहने रहने का मेरा पहले ही से निश्चय हो चुका था।"

विष्णु शास्त्री के ये वचन हृदय में अङ्कित कर रखने योग्य हैं। इस विषय में उनको दक्षिण का विद्यासागर कहना चाहिए। कलकत्ते में शिक्षा विभाग के अधिकारियों के अन्याय से पीड़ित होकर जिस प्रकार ईश्वरचन्द्र विद्यासागर ने अपने इतने बड़े माननीय पद को तृणवत् समझ कर एकक्षण में छोड़ दिया, उसी प्रकार पूना में विष्णु शास्त्री ने

*I applied myself to that resolution which Ariosto followed against the pursuations of Bembo, to fix all the industry and art I could unite to the adorning of my native tongue; not to make verbal curiosities the end (that were a toilsome vanity) but to be an interpreter and relator of the best and sagest things among mine own citizens throughout this island in the mother dialect. That what the greatest and choicest wits of Athens, Rome or Modern Italy and those Hebrews of old, did for their Country, I, in my portion, with this, over and above those of being a christian, might do for mine; not caring to be once named abroad, by writing in Latin (like Bacon) though perhaps I could attain to that, but content with these British Islands as my world—REASONS AGAINST CHURCH GOVERNMENT.

शिक्षा-विभाग से सम्बन्ध तोड़ने में किञ्चिन्मात्र भी आगा पीछा नहीं किया। भारत-भूमिको ऐसे ही ऐसे दृढ़प्रतिज्ञ, स्वतन्त्रताभिमानी और स्वदेश-प्रिय पुरुषों की आवश्यकता है। खेद है, ऐसे ऐसे महात्मा इस देश के अपने जन्मसे यदा कदा ही भूषित करते हैं।

रत्नागिरी से आकर अपने मित्रों की सलाह से विष्णु शास्त्री ने १८८० ईसवीमें "न्यू इङ्गलिश स्कूल" नामक एक नवीन पाठशाला खोली। उस पाठशाला में अध्यापन का काम शास्त्री जी के साथ साथ उनके मित्र पण्डित बाल गङ्गाधर तिलक और महादेवराव नामजोशी करने लगे। कुछ दिनों के अनन्तर पण्डित गोपाल गणेश आगरकर और वामन शिवराम आपटे भी उनमें आमिले। इन पाँच विद्वानों ने मिलकर इस नवीन शाला का काम ऐसी योग्यता से करना आरम्भ किया कि थोड़े ही दिनों में वह पाठशाला बहुत ही उन्नत अवस्था को पहुंच गई। वही इस समय 'फरगुसन कालेज' के नाम से प्रसिद्ध है। खेद का स्थल है कि शास्त्री जी को अपनी स्थापित की हुई पाठशाला का कालेज में परिणत होना जीवित दशा में देखने को न मिला।

विष्णु शास्त्री नवीन पाठशाला ही को स्थापन करके चुप नहीं बैठे। उन्होंने 'केसरी' नाम का समाचार पत्र मराठी में और 'मराठा' नाम का समाचार पत्र अङ्गरेज़ी में निकालना प्रारम्भ किया। इस काम के लिए एक छापेख़ाने की आवश्यकता हुई, इसलिए उन्होंने आर्यभूषण नाम का छापख़ाना भी स्थापित किया। ये दोनों समाचार पत्र दक्षिण के बड़े ही प्रभावशाली पत्र हैं और अभी तक बराबर अपने कर्त्तव्य को दक्षता से पालन करते जाते हैं। यह वही 'केसरी' है जिसमें कई वर्ष हुए, एक कविता प्रकाशित करने के अपराध में पण्डित बाल गङ्गाधर तिलक को विशेष कष्ट भोगना पड़ा। शास्त्री जी ने 'आर्यभूषण' छापेख़ाने के साथ ही चित्रशाला नामक एक और छापाख़ाना स्थापित किया। वह भी अभी तक विद्यमान है, और प्रतिदिन उन्नति के पद पर आरूढ़ होता जाता है। उससे अनेक प्रकार के प्राचीन और नवीन ऐतिहासिक चित्र निकलते हैं। विष्णु शास्त्री ने 'काव्येतिहास-संग्रह' नामक एक मासिक-पुस्तक भी निकाली। इस संग्रह में अनेक प्राचीन मराठी और संस्कृत के ग्रन्थ उन्होंने प्रकाशित किए। जितने कार्य शास्त्री जी ने आरम्भ किए, सबका यथासमय वे परिचालन और पर्यवेक्षण करते रहे। यह सब करके अपनी प्यारी 'निबन्धमाला' को फिर भी वे नहीं भूले। उसको वे बराबर सात वर्ष तक बड़ी योग्यता से लिखते रहे। उनके लेख ऐसे मनोरम, सरस और रोचक होते थे कि सब लोग उनकी 'माला' का हृदय से आदर करते और उसे बड़े प्रेम से पढ़ते थे।

शास्त्री जी बड़े धैर्य्यवान पुरुष थे। उनके स्थापित किए हुए समाचार पत्रों में कोलापुर के दीवान के प्रतिकूल लेख प्रकाशित होने पर उनपत्रों से सम्बन्ध रखने वालों पर अभियोग चलाया गया। इस कारण उन के सहयोगी मित्र घबड़ा उठे; परन्तु शास्त्री जी ने धैर्य्य नहीं छोड़ा। आए हुए सङ्कट का सामना करने के लिए उन्होंने सबको उद्यत किया और उसके लिए जो सामग्री आवश्यक थी उसका भी यथोचित प्रबन्ध कर दिया *।

एक कवि ने कहा है कि ब्रह्मा बड़ा ही अन्यायी है, क्योंकि पहले तो वह अच्छे अच्छे विद्वानों को उत्पन्न ही नहीं करता; और करता भी है तो वामन शिवराम आपटे के समान उन्हें बहुत दिन तक इस संसार में रहने नहीं देता। यह उक्ति बहुत सत्य जान पड़ती है। रत्नागिरी से आकर तीन चार वर्ष में जो उद्योग परम्परा विष्णु शास्त्री ने उत्थापित की थी वह भली भाँति यथास्थित भी न होने पाई थी कि निष्ठुर कालने १८८२ ईसवी के मार्च महीने की १७

---

* इस अभियोग का फल यह हुआ कि विष्णु शास्त्री के मित्र आगरकर और तिलक को कुछ दिन के लिए कारागार सेवन करना पड़ा, परन्तु इस दण्ड से वे किञ्चित भी नहीं डगमगे। अपना कर्तव्य पालन करने के लिए वे सदैव सजग बने रहे।

तारीख़ को उन्हें इस लोक से उठा लिया। ऐसे उत्कृष्ट लेखक, निस्सीम देश-भक्त, महारसिक और अत्यन्त सद्गुणी पुरुष का अवतार केवल ३२ वर्ष में समाप्त हो गया! हन्त!! ब्रह्मदेव सचमुच हो महा अन्यायी जान पड़ता है!!!

शास्त्री जी का स्वभाव बहुत ही सरल और दयालु था। लिखने में वे यद्यपि इतने प्रवीण थे तथापि वाचालता उनमें न थी। एक बार एक विद्वान् पुरुष उनके लेखों से मोहित होकर उनसे मिलने आया। शास्त्री जी ने उसे आदरपूर्वक बुलाया और बैठाया; परन्तु उसके आसन ग्रहण करने पर उन्होंने अपनी ओर से कुछ पूछ पाछ न की, और न उस आगन्तुक पुरुष ही ने कुछ कहा। इसका फल यह हुआ कि कुछ देर चुपचाप बैठे रहने के अनन्तर शास्त्री जी ने एक पुस्तक हाथ में ले ली और उसे वे देखने लगे। यह देख कर दो चार मिनट में वह आया हुआ गृहस्थ भी उनको नमस्कार करके उठ गया। शास्त्री जी के रूप रङ्ग को देख कर कोई नया मनुष्य यह नहीं विश्वास कर सकता था कि ऐसे अच्छे लेख उनकी लेखनी से निकलते होंगे। यद्यपि उनमें वाचालता न थी, तथापि अपने मित्रों के साथ वे प्रसन्नतापूर्वक वार्तालाप करते थे। स्वभाव के वे बड़े ही उदार थे। जिसपर उनका विश्वास जम जाता था, उसे वे हृदय से चाहते थे। अपनी परिमित प्राप्ति में से दान पुण्य भी वे करते थे। दो एक दीन ब्राह्मणों के कुटुम्ब का पालन भी उन्होंने यथा-साध्य किया है।

विष्णु शास्त्री अपने देश के पूरे भक्त थे। उनके समान देशाभिमानी होना कठिन है। परन्तु वे इतने सत्यप्रिय थे कि अपने देश के दोषों को स्वीकार करने में भी वे सङ्कोच न करते थे। उन्होंने यह स्पष्ट कहा है कि "हमारा उद्देश्य सत्य के निरूपण करने का है। हम अपनी भूल प्रसन्नता पूर्वक मानने को प्रस्तुत हैं। अपने देश की एक आध बात अनुकरणीय होने ही से उसकी प्रशंसा करना अथवा उसके वास्तविक दोषों को छिपाना, दोनों प्रकार, हमको पसन्द नहीं। ये दोनोंही निन्द्य हैं। जो मनुष्य न्यायी और निष्पक्षपाती है उसे ऐसा व्यवहार कदापि सहन नहीं हो सकता"। सच है, अपनी भूल न स्वीकार करना मूर्खता का चिन्ह है। उदारचेता और न्यायशील पुरुष कभी सत्य का अपलाप नहीं करते।

विष्णुशास्त्री ने यद्यपि आर्यसमाज, प्रार्थनासमाज और बाइबल के अनुयायियों पर अपनी निबन्धमाला में ठौर ठौर पर बड़े ही मर्म्मभेदी आघात किए हैं, तथापि उनके पूर्वोक्त वाक्यों और 'लोकभ्रम' तथा 'अनुकरण' इत्यादि निबन्धों से यह सूचित होता है कि उनके धार्मिक विचार संकुचित न थे। क्या ही अच्छा होता यदि इस विषय पर वे अपना मत स्पष्टतापूर्वक प्रदर्शित कर देते। एक स्थल पर उन्होंने इतना अवश्य लिखा है कि "धर्म के समान वादग्रस्त विषय पर व्यर्थ वाद प्रतिवाद करते बैठना और परस्पर का न्यूनताओं को दिखलाते रहना अनुचित है"। ऐसा करने का अपेक्षा जन्म से जो धर्म्म जिसे प्राप्त हुआ है उसीमें रह कर सदाचरण करना उत्तम है।

शास्त्री जी बड़े ही उद्भट लेखक थे। उनकी सबसे अधिक प्रशंसा उनके ग्रन्थ लिखने के कौशल की है। परन्तु वे केवल लेखनी ही नहीं परिचालन करते थे; उनकी उद्योग परम्परा भी प्रशंसनीय थी। उद्योग के बिना लेखनकौशल अथवा वाचालता व्यर्थ है। विलायत के प्रसिद्ध वक्ता बर्क ने कहा है कि "क्रिया* वह भाषा है जिसके अर्थज्ञान में कभी भूल ही नहीं होती"। शास्त्री जी की क्रिया के प्रत्यक्ष एक नहीं अनेक फल इस समय दृग्गोचर हो रहे हैं; परन्तु खेद इस बात का है कि उनका उपयोग करने के लिए इस समय वे नहीं हैं। उनके प्रचलित किए हुए समाचारपत्र, केसरी

*Action is the language that never errs—Burke.

और मराठा, बड़ी ही योग्यता से अपने देश की सेवा कर रहे हैं; उनका "न्यू इङ्गलिश स्कूल" इस समय कालेज हो गया है; उनकी चित्रशाला में प्रतिवर्ष नए नए मनोरम चित्र बनते हैं और सुलभ होने के कारण साधारण-प्राप्ति के मनुष्यों के भी कमरों में स्थान पाते हैं।

विष्णु शास्त्री के ग्रन्थों में निबन्धमाला और संस्कृत कविपञ्चक मुख्य हैं। निबन्धमाला के सब ८४ अङ्क हैं। उन सब की पृष्ठ-संख्या अष्ट पत्री १२०० से भी अधिक है। इन ८४ अङ्कों में जितने निबन्ध हैं, प्रायः सभी नवीन हैं। शास्त्री जी के विषय-प्रतिपादन करने की पद्धति ऐसी अद्भुत और उनकी भाषा ऐसी मनोरम है कि औरों की तो बात ही न्यारी है, उनके प्रतिपक्षी भी उनके निबन्धों को पढ़ कर उनके लेखन-कौशल की प्रशंसा किए बिना नहीं रह सकते। जिनके मतों अथवा लेखों का शास्त्री जी ने खण्डन किया है वे लोग, स्वयम् अपने ही मुख से, उनके प्रबन्धों को पढ़ते समय अपने भ्रम को बहुधा स्वीकार करके, शास्त्री जी के कोटि क्रम और विलक्षण चातुर्य्य पर मोहित हो रहे हैं। वे इतने सत्यप्रिय थे कि अपने विपक्षियों के आक्षेपपूरित पत्रों को प्रसन्नतापूर्वक निबन्धमाला में स्थान देकर उनका विचार करते थे; और यदि कोई उनकी भूल को सिद्ध कर देता था तो उसे वे तुरन्त स्वीकार कर लेते थे। परन्तु उनके लेख प्रायः बड़े ही तीव्र होते थे। जिसके वे पीछे पड़ जाते थे, उसके ऊपर ऐसे मर्मकृन्तक वाक्य लिखते चले जाते थे कि उनको पढ़ कर उनके लक्ष्यीकृत मनुष्य को समाज में मुख दिखलाना कठिन हो जाता था। 'लोकहितवादी' नामक ग्रन्थकार पर जो उन्होंने वाग्-वर्षा करनी आरम्भ की तो वर्षों तक उसकी झड़ी बाँध दी। वे प्राचीन मराठी कवियों के बड़े पृष्टपोषक थे। प्रसिद्ध कवि मोरोपन्त पर उन्होंने अपनी निबन्धमाला में बहुत कुछ लिखा है; और अङ्गरेजी दृष्टि से उसकी कविता में दोष दिखलानेवालों की खूब ख़बर ली है।

इतिहास, समालोचना, डाक्टर जान्सन, भाषा-पद्धति, भाषादूषण, गर्व वक्तृत्व और भाषापरिज्ञान इत्यादि विषयों पर जो निबन्ध शास्त्री जी ने निबन्धमाला में लिखे हैं, वे अवलोकन करनेयोग्य तो हैं ही; मनन करने योग्य भी हैं। वे जिस निबन्ध को लिखते थे उसके ऊपर शिरोभाग में किसी कवि, पण्डित अथवा दार्शनिक की कोई ऐसी उक्ति रख देते थे जिसमें उनके निबन्धान्तर्गत विषय का पूरा पूरा प्रतिबिम्ब सा झलकने लगता था। सात वर्ष तक प्रचलित रखने के अनन्तर जब उन्होंने निबन्धमाला को बन्द करना चाहा, तब उसके अन्तिम, अर्थात् ८४ वें अङ्क के आरम्भ में कालिदास के शाकुन्तल नाटक का यह श्लोक उन्होंने लिखा—

गाहन्तां महिषा निपानसलिलं शृङ्गैर्मुहुस्ताडितं
छायाबद्धकदम्बकं मृगकुलं रोमन्थमभ्यस्यतु।
विश्रब्धं क्रियतां वराहपतिभिर्मुस्ताक्षतिः पल्वले
विश्रामं लभतामिदञ्च शिथिलज्याबन्धमस्मद्धनुः॥

यह पद्य उस समय का है जब राजा दुष्यन्त से कण्व मुनि के आश्रय में मृगया न करने की प्रार्थना की गई है। उस प्रार्थना को मान देकर दुष्यन्त कहते हैं—"अपने सींगों से जल को ताड़ित करते हुए जङ्गली महिष प्रसन्नतापूर्वक सरोवरों में प्रवेश करें; वृक्षों की छाया में बैठे हुए हरिणों के यूथ सुख से निगाली करें; बड़े बड़े शूकर अल्प जलाशयों में निडर होकर खाने के लिये मोथे को खोदें; और ढीली प्रत्यञ्चा वाला मेरा यह धनुष भी अब विश्राम लेवै।" निबन्धमाला के इस अन्तिम अङ्क को आधा ही लिखकर विष्णुशास्त्री इस लोक को छोड़ गए। उनके परलोकवासी होने पर उनके छोटे भाई ने इस अङ्क को प्रकाशित करके यह सिद्ध सा कर दिया कि महाधनुर्धारी दुष्यन्त के धनुष के समान शास्त्री जी ने अपनी लेखनी ही को शिथिल करने की सूचना इस अवतरण से नहीं दी थी; किन्तु उससे उन्होंने अपने शरीर-बन्धनों को शिथिल करके सर्वदा के लिये विश्राम

लेने की भी पहलेही से सूचना दे दी थी! विष्णुशास्त्री के कई निबन्धों का अनुवाद पण्डित गङ्गाप्रसाद अग्निहोत्री ने हिन्दी में किया है। क्या ही अच्छा हो यदि कोई शास्त्री जी की समग्र निबन्धमाला का अनुवाद हिन्दी में करके उनके प्रचण्ड पाण्डित्य से परिपूर्ण निबन्ध हिन्दी जाननेवालों के लिए भी सुलभ कर दे। परन्तु, करै कोई कैसे? हमारे प्रान्त के निवासियों को तो अपनी मातृभाषा का आदर करना अपमान-जनक सा जान पड़ता है। देश का दुर्भाग्य! और क्या? निबन्धमाला का तो नहीं, परन्तु शास्त्री जी के कविपञ्चक का अग्निहोत्री जी ने पूरा अनुवाद कर डाला है। पाँच निबन्धों में से कालिदास और भवभूति विषयक निबन्ध पुस्तकाकार छप भी गए हैं। बाण विषयक निबन्ध सरस्वती ही में प्रकाशित हो चुका है। शेष दो निबन्ध अभी तक नहीं प्रकाशित हुए। इन निबन्धों के देखने से शास्त्री जी की रसिकता, मार्मिकता और मराठी के साथ साथ संस्कृत की भी विद्वत्ता का पूरा परिचय मिलता है। हे जगदीश्वर! क्या हिन्दी के साहित्य-जगत् में भी कभी कोई विष्णुशास्त्री उत्पन्न होगा?

सरस्वती का विनय।

[१]

विश्वाधार! विशाल-विश्व-बाधा-संहारक!
प्रेममूर्ति! परमेश! अबल-अबला-हितकारक!
सरस्वती बालिका विनय करती है; सुनिए;
सकल-मङ्गलागार! अमङ्गल सारे हनिए॥

[२]

अब तक निज कर्तव्य किए जो मैंने प्रभुवर!
वर-विषयों से यथाशक्ति भूषित हो हो कर।
उसके लिए सहर्ष शीश निज नीचा करके,
भक्ति-भाव-संयुक्त धरातल-ऊपर धरके॥

[३]

धन्यवाद शतवार देव! देती हूं; लीजै;
कृपा-कोर मम ओर अहर्निश हे प्रभु! कीजै।
बिना तुम्हारी कृपा न कुछ भी हो सकता है;
महा तुच्छ भी काम न कोई कर सकता है॥

[४]

मेरे वाचक-वृन्द, तथा ग्राहक विज्ञाता,
विविध भांति उत्साह और लेखों के दाता।
सम्पादक जो हुए आज तक मेरे बुध-वर,
सुखी रहैं सब काल विनय यह है हे ईश्वर!

[५]

अपनी दशा दुरन्त नाथ! तुमसे कहती हूं;
जब से हुई सदैव दुःख सहती रहती हूं।
प्रतिदिन किया प्रयत्न यदपि मैंने बहुतेरा,
गया न दिवस परन्तु एक भी सुख से मेरा॥

[६]

यद्यपि वेश सदैव मनोमोहक धरती हूं;
वचनों की बहुभांति रुचिर रचना करती हूं।
उदर-हेत मैं अलं नहीं तिस पर पाती हूं;
हाय! हाय! आजन्म दुःख सहती आती हूं॥

[७]

पड़ता कहीं अकाल वर्ष भर जो जगदीश्वर!
कितना दारुण दुःख लोग पाते हैं भू-पर।
तीन वर्ष से कष्ट उसी विध मैं सहती हूं;
शपथ तुम्हारी नाथ! सत्य यह मैं कहती हूं॥

[८]

हिन्दी जिनकी मधुर-मातृभाषा मुददायी,
ऐसी यहां अनन्त लोक-संख्या है छाई।
निराहार यदि मुझे नाथ! तुम तिसपर पावौ;
अति लज्जा की बात, या नहीं; तुम्हीं बतावौ॥

[९]

अहो देव! अतएव विनय मम मन में लावौ;
जन-समूह उर-बीच प्रीति मेरी प्रकटावौ।

जिसमें कुछ तो प्रेम मातृभाषा पर जागै ;
अबला-वध-उत्पन्न पाप भी इन्हें न लागै ॥

[१०]

जो इनमें जगदीश ! न तुम करुणा उपजैहौ ;
इस वत्सर के अन्त मुझे नहिँ जीवित पैहौ ।
तब मेरे गुण-दोष चित्त में ये लावेंगे ;
सम्भव है उस समय कदाचित पछतावेंगे ॥

[११]

उन्नति उन्नति उच्च सदा जो चिल्लाते हैं ;
मुझ में विविध प्रकार न्यूनता बतलाते हैं ।
उनसे विनय विनीत यही मेरा; मन लावैं ;
"भूखे भक्ति" विशेष वही करके दिखलावैं ॥

[१२]

इतनाही वक्तव्य आज मेरा है स्वामी !
बार बार करजोड़ भक्ति-युत तुम्हें नमामी ।
करुणासिन्धु ! कृपालु ! सुजन-भय-भञ्जनहारी !
सरस्वती सब भाँति दयामय ! शरण तुम्हारी ॥

पति का पवित्र प्रेम ।

इङ्गलैण्ड के दक्षिण में ससेक्स नाम का एक सूबा है । उसमें समुद्र के तट पर ब्राइटन नाम का एक छोटा सा नगर है । इङ्गलैण्ड के दक्षिणी भागों के रहनेवालों में से बहुत से लोग, विशेष कर लण्डन-निवासी, इस नगर में जल वायु के बदलने और स्वास्थ्य से सुधारने के निमित्त जाया करते हैं । यहां की म्यूनिसिपैलिटी ने ऐसा प्रबन्ध किया है कि शहर में कोई चीज़ ऐसी न हो जो आंख, कान, या नाक को नागवार गुज़रे । यहां के क़रीब क़रीब सब मकानात होटलों का काम देते हैं । वहां मुसाफिर जाकर ठहरते हैं, और कुछ दिन रह कर फिर अपने अपने नगरों को लौट जाते हैं । इस कारण यहां के घर एक से एक सुन्दर और हर प्रकार से स्वच्छ और सज्जित दिखाई देते हैं । बाहर से देखने में दीवारें ऐसी साफ कि जिनपर बैठने से मक्खी फिसिल पड़े । इनमें, बीच बीच, वार्निश किए हुए शीशेदार दर्वाज़े और खिड़कियां बहुत ही सुहावनी लगती हैं । यदि किसी मकान के अन्दर दृष्टि डालिए तो कमरों की दीवारें और छत फूलदार कागजों से मढ़ी हैं । उन पर सुन्दर सुन्दर बहुमूल्य चित्र लगे हैं । फर्श बहुत मोटा, चिकना और फूलदार है । मोटी मोटी मखमली गद्दियों से वेष्टित तरह तरह की कुर्सियां और सुन्दर सुडौल छोटी, बड़ी, गोल मेजें पड़ी हैं । हर मकान में किताबें, अख़बार, हारमोनियम, पियानो इत्यादि मौजूद हैं । पिछली तरफ एक छोटी सी फूलबाग़ भी है । सारांश यह कि वहां हर प्रकार के सुख का सामान एकत्र है । सब मकान प्रायः इसीप्रकार सुसज्जित हैं । अन्तर केवल इतना ही है कि ग़रीबों के ठहरने के होटलों में सामान सस्ते मेल का है और अमीरों के होटलों में बहुत क़ीमती ।

गत शताब्दी के आरम्भ में इस नगर में एक पुरुष विलियम ब्रिमली नामक रहते थे । इनके पिता लण्डन के बड़े सौदागरों में से थे; मगर इनमें वह बात न थी । पिता का सञ्चित किया हुआ धन इन्होंने बहुत सा इधर उधर उड़ा दिया । जब कुछ होश में आए तब शेष से इन्होंने थोड़ी सी जायदाद मोल ले ली; विवाह भी कर लिया; और ब्राइटन में एक मकान लेकर अपनी पत्नीसहित जा बसे । इनके मकान के जो कमरे इनके काम में न आते थे, उनको इन्होंने होटल बना दिया था । इस होटल के किराए और उनकी छोटी सी ज़ायदाद की आमदनी से ब्रिमली के कुटुम्ब का गुज़र भली प्रकार हो जाता था—न तो बहुत अमीरों ही के से ठाठ थे न ग़रीबों की सी तङ्गीही । इस नगर में जाने के दो वर्ष पीछे उनके एक कन्या हुई । वह अत्यन्त स्वरूपवती थी । ब्रिमली की पत्नी खुद बड़ी सुन्दरी थी, परन्तु वह भी अपनी पुत्री के रूप से चकित-

हुई। माता पिताने इस रूपवती का नाम लिली (कमला) रक्खा।

जब लिली की अवस्था ४ वर्ष की हुई तब पिता ने उसे निकट के एक स्कूल में पढ़ने के लिए भेजना आरम्भ किया। यह स्कूल एक गिरजाघर में था और वहां के पादरी ही उसके अध्यापक थे। लिली के अलैाकिक स्वरूप के कारण स्कूल के सभी बालक बालिकाएं उसकी बड़ी ख़ातिर करतीं और उसको हर प्रकार प्रसन्न रखने की चेष्टा करती थीं! उसके साथियों और सहेलियों में से पादरी जेम्स का पुत्र उससे विशेष स्नेह रखता। स्कूल हो जाने के बाद वह उसको मकान पहुंचाने जाता और इधर उधर से फूल एकत्र करके उस की गुड़ियों के लिए और उसके लिए भी माला बना कर देता। इन दोनों में विशेष हेल मेल था।

[२]

अब जेम्स की अवस्था १४ और लिली की १० वर्ष की हुई। बच्चों के छोटे स्कूल की पढ़ाई ख़तम हुई। पादरी साहब ने तो अपने पुत्र को लण्डन एक अच्छे बोर्डिङ्ग* स्कूल में भेजा और ब्रिमली ने अपनी पुत्री की शिक्षा स्वयम् अपने हाथ में ली। जेम्स और लिली इस प्रकार जुदा तो हो गए, परन्तु बालपन का उनका स्नेह अति घना होगया था। जेम्स जब छुट्टियों पर मकान जाता तो अक्सर लिली से मिलता रहता। जब वह माता पिता के साथ टहलने जाती तो यह भी उसके साथ जाता। कभी कभी लण्डन से अच्छी अच्छी चीज़ें ला कर उसे देता और अनेक प्रकार अपना स्नेह दर्शित करता। इस समय कुछ दिनों में ब्रिमली और उनकी पत्नी के जी में यह विश्वास होने लगा कि इनके बालपन के स्नेह ने और प्रकार की दृढ़ता पकड़नी शुरू की। परन्तु यह देख कर कि जेम्स एक अच्छे कुल का साधारण दरजे का अमीर शिक्षित और होनहार युवक है, उन्होंने लिली के प्रेम को रोकने का कोई प्रयत्न करना आवश्यक न समझा। इस प्रकार छ वर्ष बीत गए। लिली की अवस्था १६ वर्ष की हुई। इस समय लण्डन के एक प्रसिद्ध तालुक़ेदार लार्ड बैरस्फर्ड का पुत्र जल वायु बदलने के लिए ब्राइटन गया। उसने एक रोज़ कहीं बाग़ में लिली को देखा; बस वह तुरन्त मोहित हो गया; और अपने होटल से उठकर ब्रिमली के यहां रहने लगा। वहां उसने अपने को पहिले एक मध्यम श्रेणी का मनुष्य प्रगट किया परन्तु क्रम क्रम से ब्रिमली को यह प्रगट हो गया कि वह एक बड़े ज़मींदार का पुत्र है और लिली को कोर्ट* करता है। अगर लिली को स्वीकार हो तो ब्रिमली को तो इससे बड़ी खुशी थी कि उसकी पुत्री ऐसे उच्च पद को प्राप्त हो। बैरसफर्ड को थोड़े ही दिन ब्रिमली के मकान पर रहते हुए थे जब जेम्स छुट्टियों में मकान पर आया। इसी समय नगर के एक प्रसिद्ध पुरुष के यहां एक बाल† दिया गया।

इस बाल में लिली, जेम्स और बैरस्फर्ड तीनों को निमन्त्रण था। जब नाच का समय आया, हर युवा पुरुष की यही इच्छा हुई कि वह लिली के साथ नाचे। पहिली बार तो लिली ने जेम्स को अपनी कृपा से कृतकृत्य किया। और दूसरी बार बैरस्फर्ड की प्रार्थना को स्वीकार करके उनके चित्त

* बोर्डिङ्ग स्कूल इङ्गलैण्ड में वे कहलाते हैं जहां बालक प्रारम्भिक शिक्षा ख़तम होने पर कालिजशिक्षा के लिए तैयार होते हैं और प्रवेशिका परीक्षा पास करते हैं।

* योरप में पहिले युवा पुरुष किसी युवती को जिससे वह प्रेम करता है, अपनी सेवा से प्रसन्न करलेता है। फिर उससे प्रार्थना करता है कि वह उसकी पत्नी होना स्वीकार करे। इसी प्रारम्भिक सेवा को 'कोर्टिंग' कहते हैं।

† बाल अङ्गरेज़ों में एक परस्पर हेल मेल और हँसी ख़ुशी का तरीक़ा है। इसमें एक कमरा या मकान विशेष रीति पर सजा कर, अपने दोस्त और परिचित स्त्री पुरुषों को बुला कर उन्हें भोज देते हैं; भांति भांति के खेल खेलते हैं; और पीछे सब मिल कर गाते बजाते और नाचते हैं।

को उसने प्रफुल्लित किया। बैरस्फर्ड की अवस्था इस समय २४ वर्ष की थी। लिली और बैरस्फर्ड के नाच से सब लोगों ने यही अनुमान किया कि अब इन दोनों की अवश्य शादी हो जायगी। पुरुष लोग सब बैरस्फर्ड के भाग्य को सराहते और स्त्रीगण लिली के भाग्य को। बिचारे जेम्स को छोड़ और सब लोगों के लिये वह रात बड़ेही आनन्द से कटी। जब जेम्स लोगों के मुंह से यह सुनता कि लिली का विवाह बैरस्फर्ड से होगा तो उसके दिल में अजीब आग सी भड़कती। आज जेम्स को पहिली बार मालूम हुआ कि जिस स्नेह को वह लड़कपन में साथ खेलते रहने के कारण समझता था, वह शनैः शनैः किसी दूसरी ही सूरत में बदल गया। अब उसके लिये केवल इतना ही काफी न था कि लिली उससे बातचीत करे और उसके तोहफ़ों को मञ्जूर करे, किन्तु अब उसके जी में यह ख़याल होता था कि सुन्दरी लिली उसकी ही होके रहे। कभी वह सोचता कि मैं कौन हूं जो यह इच्छा करूं कि लिली मेरे सिवाय और किसी को स्वीकार न करे। जब उसे ऐसा योग्य वर मिलता है तो क्यों मेरे लिये वह अपने सुख पर पानी डाल दे। परन्तु फिर वह कहता कि आख़िर लिली भी तो उससे स्नेह रखती थी। इसी प्रकार के सोच विचारों में डूबते उतराते दो चार दिन बाद एक रोज़ उसको लिली से अकेले में मिलने का मौक़ा हुआ। इधर उधर की बातों के बाद उसने कहा "बाल वाले दिन सब स्त्रियां तुम्हारे भाग्य की प्रशंसा करती थीं।

लिली–"कैसा भाग्य ?"

जेम्स–"उन लोगों को यह ख़याल था कि तुम्हारा विवाह बैरस्फर्ड से होगा"।

लिली–(ज़रा आंख बदल कर)–"जेम्स! क्या तुम्हारे जी में भी यही ख़याल था ?"

जेम्स–"न, न, नहीं; प्रिये! मेरे जी में तो आता था कि तुम मुझे न भूलोगी और धन के लालच में न आवोगी। लेकिन तुमने कुछ वचन तो दिया ही न था; और बैरस्फर्ड साहब बड़े धनवान भी हैं; सुशील भी हैं और आदरणीय भी हैं। मेरी और उन की क्या तुलना?"

लिली–"जेम्स! तुम्हारी ऐसी बातों से मुझे बहुत रञ्ज होता है। इतने दिनों में तुमने मेरे चित्त को ही न पहिचाना। क्या सच्चे प्रेम का सुख धन दौलत और उच्च पद में होता है? क्या मुंह से कहना ही वचन देना है? चित्त का देना कुछ नहीं?"

यह सुन कर जेम्स आंखों में आंसू भर लाया, और गदगद शब्दों में उसने कहा, "मैं क्षमाप्रार्थी हूं; मैंने तुम्हारे चित्त की निर्मलता को नहीं पहिचाना था। मैं हमेशा से तुम्हारा सेवक रहा हूं और सदा ही रहूंगा"।

[३]

इधर बैरस्फर्ड प्रतिदिन अपने प्रेम को और स्पष्टरूप से प्रकट करने लगे। लिली ने हर प्रकार फेरफार से उनपर यह विदित करना चाहा कि उसे उनसे सम्बन्ध स्वीकार नहीं; परन्तु प्रेम अन्धा होता है; उन्होंने कुछ भी ध्यान न दिया और यही आशा करते रहे कि कभी न कभी उनकी धन दौलत उसके चित्त को मोहित कर लेगी। उन्होंने बहुत से बहुमूल्य पदार्थ लिली की सेवा में भेजे; परन्तु वह सब वापस आए। कई बार अकेले में मिल कर अपनी प्रेमकथा कहने की चेष्टा भी उन्होंने की, परन्तु निष्फल हुई। लिली कभी अकेले में मिलना स्वीकार ही न करती। इस प्रकार अत्यन्त निराश होकर उन्होंने बिना लिली की आज्ञा ही के उससे एकान्त में मिलने का इरादा किया। एक बार अवसर पा कर जहां लिली कमरे में अकेली बैठी मोज़े वग़ैरा बना रही थी, वे घुस आए और उसको सलाम करके बोले "मुझे क्षमा कीजिये, बिना आपकी आज्ञा ही चला आया। कुछ विनय करना है, वह सुन लीजिये तो मुझ पर बड़ी दया हो"।

लिली ने उनको एक कुर्सी बैठने को दी, और कहा "मुझे खुद आपसे क्षमा मांगनी चाहिए कि आपके कई बार लिखने पर भी मैं न मिलसकी; मगर, मिलना व्यर्थ था"।

बैरस्फर्ड–"फिर क्या आप मेरी सेवा न स्वीकार करेंगी? ऐसा मुझ से क्या अपराध हुआ?"

लिली–"अपराध कुछ नहीं; मेरा अभाग्य; मैं अपना चित्त पहिले ही दूसरे को अर्पण कर चुकी हूं; और उसपर अब मेरा वस नहीं"। इसके बाद थोड़ी देर दोनों चुप रहे। फिर लिली बोली "सत्य जानिएगा आपको इस प्रकार कहते मुझको बहुत क्लेश हुआ। मगर मजबूर हूं; आशा है आप मुझे क्षमा करेंगे।

यह सुनकर बैरस्फर्ड ने कहा "मैं बड़ा अभागी हूं; धन्य है वह पुरुष जिसको आपकी सी दृढ़ निश्चयवाली स्त्री ने अपने चित्त में स्थान देकर आदर दिया"। तदनन्तर, थोड़ी देर दोनों चुप रहे और बैरस्फर्ड लिली की ओर देख देख उसके रूप को मन ही मन सराहते रहे। फिर वे बोले "अच्छा, मेरी एक प्रार्थना तो स्वीकार कीजिए"।

लिली–"आज्ञा कीजिए"।

बैरस्फर्ड–"मुझे सदा अपना हितचिन्तक मित्र समझे रहिए। मैं तो अपना चित्त आपको दे चुका; सदा ही सेवा के लिए प्रस्तुत रहूंगा"।

लिली–"ऐसा मत कहिए, आप मेरे मालिक हैं"।

इसपर बैरस्फर्ड ने बहुत हठ की कि लिली अवश्य उन्हें अपने मित्र होने की पावन पदवी दे। लिली ने इस पर उनसे मित्रता का बरताव रखने का वचन दिया और दोनों जुदा हुए।

इस घटना के पीछे बैरस्फर्ड ने एक मकान अलाहिदा ख़रीद किया और विशेष कर ब्राइटन ही में वे रहने लगे। लिली से वे अक्सर मिलते रहे; परन्तु साधारण मेल की बातों के सिवाय प्रेम की बात ज़बान पर भी वे कभी न लाए। दो वर्ष पीछे लिली और जेम्स का विवाह हुआ। पाश्चात्य जातियों में विवाह के समय वर और कन्या दोनों ही के मित्र और सम्बन्धी अपनी अपनी हैसियत के मुताबिक़ उपहार देते हैं। बैरस्फर्ड ने उपहार में वर और कन्या के लिए सोने के कमरे का कुल सामान दिया–उत्तम लोहे का पलंग, मेज़, कुर्सी, बड़ा शृङ्गारदान, इत्यादि–और विवाह के समारम्भ में लिली के एक प्रतिष्ठित मित्र की तरह आमन्त्रित होकर वे शामिल हुए।

[४]

जेम्स पहिले स्कूल मास्टर रहे और अपने पिता के देहान्त होने पर उसके पद पर, यानी गिरजाघर के पादरी नियत हुए। ५ वर्ष इस प्रकार हँसीखुशी से बीतने पर वह यकायक बीमार हुए। बहुत दवा का प्रयत्न हुआ, मगर कुछ लाभ न दिखाई दिया। इस समय बैरस्फर्ड ने उनके इलाज में बहुत सहायता की। अन्त में डाक्टर ने यह सलाह दी कि वेस्ट इन्डीज़ (अमेरिका के टापुओं) की वे यात्रा करें तो शायद आरोग्य हो जांय। लिली के इस समय एक ३ वर्ष का बालक और एक १ वर्ष की कन्या थी, इस कारण वह नहीं जा सकती थी। जेम्स ने अकेले ही जाने की तय्यारी की। लिली और बैरस्फर्ड दोनो जेम्स को जहाज़ पर पहुंचाने गए। जब जहाज़ के चलने का समय आया, तब लिली से न रहा गया और उसे अश्रुपात होने लगे। जेम्स के भी आंसू निकल पड़े। बैरस्फर्ड उन दोनो को समझा कर चुप करने की प्रार्थना करते थे।

जहाज़ की रवानगी के १० दिन पीछे ब्राइटन में ख़बर उड़ी कि 'फिनिक्स' डूबगया। इसी जहाज़ पर जेम्स गया था। इस भयावनी ख़बर को सुनते ही लिली को मूर्च्छा आगई। पड़ोसी लोग आए और उसको दवा वग़ैरा सुंघाकर होश में लाए। इधर बैरस्फर्ड भी पहुंच गए और उसे इस प्रकार कह कर बहुत समझाया कि "क्या डूबे हुए जहाज़ के कोई आदमी बचते ही नहीं! देखो, हम तार दे कर पूछते हैं"। फिर जगह जगह तार दे कर उन्होंने पूछा कि 'फिनिक्स' के यात्रियों

में से कौन कौन बचा। मालूम हुआ कि सिवाय ७ मल्लाहों के और सब जहाज के यात्री, कप्तान इत्यादि समेत डूब गए। बैरस्फर्ड के कोमल हृदय ने ऐसी भयावनी ख़बर लिली को सुनाना न पसन्द किया। लिली के पूछने पर यही उन्होंने कहा कि ठीक ठीक हाल अभी शायद नहीं मालूम हुआ, इससे तार का जवाब नहीं आया। ४ दिन बाद लिली ने खुद एक अख़बार में 'फिनिक्स' के डूबने की कुल कैफ़ियत पढ़ी और उसे यह मालूम होगया कि केवल ७ मल्लाह बचे हैं। उसने बैरस्फर्ड से कहा कि "मैंने ऐसी ख़बर अख़बार में पढ़ी है, तुम्हारे तारों का जवाब क्यों नहीं आया, और यह ख़बर विश्वसनीय है वा नहीं"। बैरस्फर्ड ने सविनय कहा "मुझे यह हाल मालूम होगया था, परन्तु कहने का साहस मुझे नहीं हुआ"। फिर उन्होंने लिली को बहुत समझाया कि जो कुछ होगया उसको कोई क्या कर सकता है। तुम इन बच्चों की ओर देखो और इनके पालन पोषण की फ़िक्र करो। लिली रोती ही रही। बैरस्फर्ड ने बहुत धैर्य दिया और उसके कुछ शान्त होने पर वे अपने घर गए।

लिली और उसके बच्चों की ज़रूरियात की चीज़ें और नक़द रुपया भी बैरस्फर्ड लिली के पास गुप्त रीति से भेज दिया करते थे; परन्तु, इस दिन से दो वर्ष पर्य्यन्त, वह कभी लिली के मकान पर न गये। रास्ते में या कहीं बाग बग़ीचे में अगर भेट हो जाती तो बच्चों को वे खिलाते और उनको प्यार करते। इस भय से कि कहीं दुनिया के मैले चित्तवाले लोग लिली के चालचलन पर धब्बा न लगावें, बैरस्फर्ड ने लिली से मिलना ही छोड़ दिया, यद्यपि उनका मन बिना लिली से मिले और बिना उसे देखे व्याकुल रहता था।

[५]

दो वर्ष बीतने पर बैरस्फर्ड, जो अब लार्ड बैरस्फर्ड हो गए थे, अपने एक पुराने नौकर को लेकर लिली के मकान पर गए। लिली ने उन्हें बड़े सम्मान से बैठाला। उसने उनके इहसानों का शुक्रिया अदा करना चाहा; परन्तु बैरस्फर्ड ने उसे तुरन्त ही टोक दिया और कहा "एहसान का नाम मत लो। मैंने केवल अपना धर्म पालन किया है; परन्तु मैं तुमसे अब एक एहसान चाहता हूं"।

लिली-"मैं आपके किस काम आ सकती हूं"?

बैरस्फर्ड-"आप मेरे दिल की अभिलाषा भली प्रकार जानती हैं। मेरी सेवा स्वीकार कीजिए।"

लिली-"मैं आपको वैसा पूर्ण प्रेम नहीं दे सकती जैसा मैंने जेम्स को दिया और ऐसी हालत में आपसे विवाह करना आपके साथ बेइनसाफ़ी होगी"।

बैरस्फर्ड-"आपका हृदय जेम्स को नहीं भूल सकता, यह मैं जानता हूं। लेकिन अगर आपको कुछ भी मेरे लिए ख़याल है तो वही मुझे बहुत है, और मैं उसीसे सन्तुष्ट हूं।"

लिली-"अच्छा मैं विचार करूंगी"।

थोड़ी देर और वार्तालाप के बाद लार्ड बैरस्फर्ड चले गए। एक सप्ताह पीछे उनको निम्न-लिखित आशय का पत्र लिली का भेजा हुआ मिला।

"प्रियतम बैरस्फर्ड! विचार तो मेरा ऐसा था कि जेम्स की याद ही में मैं अपना शेष जीवन बिताऊं; परन्तु आपके इस प्रेम की निर्मलता और दृढ़ता ने मेरे चित्त को चञ्चल कर दिया है। अतः मैं अब अपनेको आपकी दासी हो कर समर्पण करती हूं"।

यह पत्र पढ़ कर लार्ड बैरस्फर्ड को जो ख़ुशी हुई वह बयान के बाहर है। उसी दिन वे लिली से भेंट करने गए और बहुत कुछ उसका शुक्रिया अदा किया। उन्होंने लिली से पूछा कि वह विवाह का दिन मुक़र्रर करें।

लिली-"अब तो मैं आपकी हूं, जब आप चाहें"।

बैरस्फर्ड-"अच्छा मैं तो जितनी जल्दी हो सके, उतनी ही जल्दी चाहता हूं। यह फरवरी का

महीना है; अप्रैल का पहिला रविवार आप ठीक समझती हैं ?"

लिली—"जी हां"।

अब शहर में प्रसिद्ध हो गया कि लार्ड बैरस्फर्ड और लिली की सगाई हो गई। अख़बारों ने इनके अखण्ड और निश्चल प्रेम की प्रशंसा करनी शुरू की। लिली और बैरस्फर्ड रोज़ मिलने लगे। दो डेढ़ महीना कैसे बिताया इसका बयान नहीं हो सकता। वे तो चाहते थे कि जिस दिन सगाई हुई, उसी दिन विवाह भी हो जाता; परन्तु इङ्गलैण्ड में यह चाल है कि विवाह वसन्त ऋतु या गर्मी ही में होता है। दूसरे यह भी कि सगाई और विवाह में कुछ अन्तर देने की भी चाल है। इन्हीं कारणों से विवाह की तारीख़ दो डेढ़ महीने बाद मुक़र्रर हुई।

जिस गिरजे में विवाह होना निश्चय हुआ वह अनेक प्रकार के फूलों और बेलों से आरास्ता किया गया। गिर्जे के रास्ते में भी दोनों तरफ मङ्गल सूचक ध्वजा आदिक स्थापित की गईं। इस प्रकार बड़ी धूमधाम से लिली और बैरस्फर्ड का विवाह हुआ।

[६]

अब इधर जेम्स का हाल सुनिये। 'फीनिक्स' के डूबने पर वह एक तख़ते से चिपटा हुआ बहते बहते पैसिफिक समुद्र के एक द्वीप में जा लगा। उस द्वीप के निवासी निपट जङ्गली थे। मगर जब इसे उन्होंने किनारे पर क़रीब क़रीब बेहोशी की हालत में पाया तब कुछ इसके सुन्दर रूप पर तरस खाके, और कुछ अचम्भे के कारण जो वहशियों को होता है, उन्होंने इसे बहुत अच्छी तरह रक्खा। धीरे धीरे यह सबल होता गया। जो कपड़े वह पहिने था, उनमें से कुछ तो उन जङ्गली आदमियों ने छीन लिए और शेष पुराने होकर फट गए। अतः यह बिलकुल उन्हीं लोगों में मिल कर जङ्गलियों की भांति रहने लगा। इस प्रकार बीस वर्ष बीतने पर इत्तिफ़ाक़ से उस द्वीप के निकट से एक जहाज़ निकला और वहीं उसने लङ्गर डाला। और वहशियों के साथ यह भी जहाज़ देखने को गया और वहां अपने देश के आदमियों को पहिचान कर, उनपर उसने यह प्रगट किया कि वह भी अङ्गरेज़ है। जहाज़वालों ने उसको साथ ले लिया और ब्राइटन में ला के उतार दिया। जङ्गल की धूप से और वहां का कच्चा मांस खाने से इसके रङ्ग में कुछ स्याही आगई थी। बाल बहुत गढ़ गए थे। इसे कोई पहिचान नहीं सकता था कि यह वही पादरी जेम्स है। विवाह होजाने के बाद से बैरस्फर्ड और लिली विशेष कर लण्डन में रहा करते थे, ब्राइटन में कभी कभी आ जाते थे। जेम्स ने अपने मकान को लिली और बच्चों से ख़ाली पाया। तलाश करने पर बैरस्फर्ड के सच्चे प्रेम और लिली के दृढ़ पातिव्रत की सब कथा उसे मालूम हुई। तब उसने अपने चित्त में पूर्ण प्रतिज्ञा करली कि अपना हाल ज़ाहिर करके वह लिली के सुख में बाधक न होगा। पुरानी बातों को याद करने और अपने चित्त को ज़बरदस्ती रोकने से उसकी दशा क़रीब क़रीब आधे पागल की सी होगई। इस दशा में वह लिली का खोज करते करते लण्डन पहुंचा। वहां वह बैरस्फर्ड के दर्वाजे भीख मांगते मांगते जाता, और लिली तथा बच्चों को देख आता। परन्तु यदि उससे कोई कुछ प्रश्न करता तो अटसट जवाब देकर चल देता।

दैवयोग से वह वहां थोड़े ही दिनों में बीमार पड़ा और जिस महल्ले में बैरस्फर्ड का मकान था वहीं के अस्पताल में रहने लगा। इङ्गलैण्ड में बहुत से ख़ैरात के तरीक़े हैं। उनमें से एक यह भी है कि बीमारों को जाकर किताबें और अख़बार सुनावें और उनको तसल्ली करदें। हमारी परम पूजनीया महारानी विक्टोरिया भी ऐसाही बहुधा करती थीं। लिली का भी ऐसा ही नियम था। इस समय, जब वह अस्पताल में जाती तब जेम्स उसकी तरफ हमेशा देखा करता। जब वह

उसके पास आती ते वह देर तक उसे बिठाए रहता और मुश्किल से उठने देता। कभी कभी वह जी में सोचती और एक बार अपने पति से भी इस बारे में उसने कहा कि यह रोगी क्यों उससे विशेष स्नेह रखता है। फिर दोनों ने यह निश्चय किया कि वह आधा सिड़ी ते है ही, उसकी हरकतों का क्या ठीक। जब जेम्स को मालूम हुआ कि अब उसका बचना कठिन है, और मृत्यु समीप ही आगई, तब उसने डाक्टर और वहां की दाई के अपने पास बुला कर पहिले उनसे क़सम ली कि वह उसकी प्रार्थना को स्वीकार करेंगे या नहीं। जब उन्हेंाने मंजूर किया तब जेम्स बोला "मैं तुमसे इस समय अपने जीवन का हाल बयान करता हूं, जिसको मैं अब तक छिपाए रहा; मगर तुम इसे बैरस्फर्ड की पत्नी से उस समय कहना जब मेरी मृत्यु हो जाय। मैं जीते जी इस बात को ज़ाहिर करके उसके सुख का बाधक नहीं होना चाहता। मरने के बाद भी जाहिर न करता, मगर मेरी इच्छा है कि मेरी लिली के मालूम हो जाय कि उसने जिससे इतना दृढ़ प्रेम किया, वह उस प्रेम का पात्र भी था; और उसको अपनी लिली का उतना ही, या उससे भी अधिक, ख़याल था।" इसके बाद उसने अपना सारा जीवनचरित कह सुनाया और एक पत्र में ऐसे ऐसे गुप्त हाल अपने और लिली के प्रेम के लिखाए, जिसके जानने से यह शङ्का कभी न हो सके कि वह लिली का पति जेम्स न था। पत्र के अन्त में अपनी मित्रता को इस प्रकार निबाहने के लिए उसने बैरस्फर्ड की बड़ी प्रशंसा की और उसको बहुत धन्यवाद दिया। लिली को उसने सच्चे दिल से आशीर्वाद दिया और कहा कि मैं तुम्हारे प्रेम से हर प्रकार सन्तुष्ट होकर इस लोक से विदा होता हूं।

इसके दूसरे ही दिन उसका जीवनकाल शेष होगया। उसके शरीर की अन्त्यक्रिया करने के पहिले डाक्टर ने लार्ड बैरस्फर्ड के मकान पर जाकर, लार्ड और लेडी दोनो के सामने, जेम्स का कहा हुआ हाल कह सुनाया और वह पत्र दिया। उस समय उनके चित्त की दशा अनुमान ही की जा सकती है, कहने योग्य नहीं। जेम्स के इस पवित्र प्रेम की कहानी सुन कर, लिली और बैरस्फर्ड विह्वल हो उठे; दोनो ने बहुत विलाप किया। अन्त में उन्हेंाने जेम्स के एक बहुत अच्छे शवागार में रक्खा। लिली जेम्स की समाधि पर अकसर फूल वगैरः जाकर चढ़ाती और घण्टों वहां रो रो कर अपने हृदय में भरे हुए दुःख को कम करने का प्रयत्न करती।

गिरिजादत्त वाजपेयी।

गरुड़।

दूसरे पृष्ठ पर चित्र में एक भेड़ के बच्चे को अपने पञ्जों से दबाए हुए जो पक्षी उड़ा जाता है उसको गरुड़ कहते हैं। यह उसी जाति का पक्षी है जिस जाति के सिकरे और बाज़ आदि पक्षी होते हैं। रूप रङ्ग में वह बाज़ ही के समान होता है, परन्तु उससे डीलडौल में बड़ा होता है और बलवान भी उससे अधिक होता है। गरुड़ का स्वभाव सिंह के स्वभाव से मिलता है। जिस प्रकार सिंह सब पशुओं में श्रेष्ठ है, उसी प्रकार गरुड़ सब पक्षियों में श्रेष्ठ है, क्योंकि बल और पराक्रम में गरुड़ की बराबरी कोई पक्षी नहीं कर सकता। जिस प्रकार सिंह मरे हुए जीवों को नहीं छूता, उसी प्रकार गरुड़ भी मरे हुए अथवा दूसरे के द्वारा मारे गए पक्षियों को नहीं छूता।

गरुड़ यद्यपि शिकारी चिड़िया है, तथापि वह निर्दयी नहीं है। जिन जीवों का वह शिकार करता है उनको वह विशेष कष्ट नहीं पहुंचाता। बिजुली समान वह शिकार पर टूट पड़ता है और अपने के पंखों की एक ही चोट से पल भर में उसके प्राण ले लेता है। किसी उड़ते हुए पक्षी पर जब वह गिरता है तब केवल उसके धक्के से उसकी मृत्यु हो जाती है। बड़े बड़े पक्षी उसके धक्के के साथ

ही मर कर पृथ्वी पर गिर पड़ते हैं। पक्षियों पर झपटते ही उनकी जान निकल जाती है; उनको मारने के लिए गरुड़ को अपनी चोंच से कभी सहायता नहीं लेनी पड़ती। यदि गरुड़ बकरी के बच्चे अथवा खरहे इत्यादि पर गिरता है तो वह अपने पञ्जों से उन्हें दृढ़ता के साथ पकड़ लेता है और लेकर उड़ जाता है। उसके बड़े बड़े नुकीले

है। चोंच बहुत दृढ़ और पैनी होती है। पञ्जों के नख लम्बे, नुकीले और कठिन होते हैं। उसकी उंचाई ४ फुट तक होती है। जिस समय वह अपने पङ्ख फैलाता है, उस समय उनका विस्तार दस ग्यारह फुट तक होता है। उड़ने में गरुड़ पक्षी की बराबरी कोई पक्षी नहीं कर सकता। एक घण्टे में ४० मील से भी अधिक वह उड़ सकता

नख उनके शरीर के भीतर घुस जाते हैं। जब तक वे मर नहीं जाते तब तक गरुड़ अपने नखों को उनके शरीर से बाहर नहीं निकालता।

गरुड़ प्रायः सब देशों में पाया जाता है। उसकी कई जातियां हैं। उनमें से सुवर्ण-गरुड़ औरों से अधिक सुन्दर और अधिक बलवान होता है। उसका रङ्ग भूरा होता है; परन्तु उसके सिर के बाल सोने के समान ललाई लिए होते हैं; इसीलिए उसका नाम सुवर्ण-गरुड़ पड़ गया है। उसके पैरों का रङ्ग पीला होता है। उसकी पूंछ छोटी होती

है। आकाश में, कभी कभी, मेघों के ऊपर भी वह निकल जाता है। वह इतना बलवान होता है कि अपने पङ्खों के एक धक्के से बड़े बड़े घोड़ों को गिरा देता है।

गरुड़ पक्षी ऊंचे ऊंचे पहाड़ों पर रहता है। जहां वह रहता वहां कोसों दूर तक और कोई पक्षी नहीं रहता। वह अपना घोसला बड़ी बेपरवाही से बनाता है। दस बीस लकड़ियों को उलटा सीधा रख कर और उनके भीतर घास, फूस और पत्तियां डाल कर, घोसले को वह बच्चों के रहने

योग्य कर देता है। एक बार में उसकी मादी दो तीन अंडे देती है। एक महीने में अंडों से बच्चे निकलते हैं।

गरुड़ हिरन, बकरी और भेड़ के बच्चे, लोमड़ी, खरहा और पक्षियों का शिकार करता है। कभी कभी वह इनसे भी बड़े बड़े जीव उठा ले जाता है। भेड़िये तक उससे नहीं बचते। यदि वह दस पांच भेड़ियों को एक साथ जाते देखता है तो उन सबको एक एक करके पास की किसी पहाड़ी के ऊपर वह उठा ले जाता है। एक दो को इस प्रकार उठा ले जाते देख भेड़िये अपने प्राण ले कर भगते हैं; परन्तु गरुड़ पक्षी इतना शीघ्र उड़नेवाला है कि वह दो ही तीन मिनट में उन सबको एक एक करके बीन लेता है और अपने रहने के स्थान पर पहुंचा देता है।

सिंह के समान गरुड़ बहुत कम खाता है; परन्तु उसके बच्चे बड़े खाने वाले होते हैं; उनके लिये उसे दिन रात शिकार करना पड़ता है। बच्चे जब बड़े हो जाते हैं तब गरुड़ पक्षी उन्हें घोसले से निकाल देता है। तब वे वहां से किसी दूसरे स्थान को चले जाते हैं और वहां अपने आप ही शिकार करने लगते हैं। गरुड़ पक्षी में यह एक बात आश्चर्य्य की है कि वह महीनों बिना अन्न पानी के रह सकता है और भूखा प्यासा रहकर भी व्याकुल होने के कोई चिन्ह नहीं दिखलाता।

गरुड़ पक्षी कभी कभी मनुष्यों को भी उठा ले जाता है। कालोन नगर में एक बार एक दस बारह वर्ष का लड़का गरुड़ के घोसले से उसके बच्चे निकाल रहा था। इतने में यह पक्षी वहां आगया और उस लड़के को उठाकर पासके एक पहाड़ के ऊपर उसने पटक दिया। बड़ी कठिनता से वह लड़का वहां से उतारा गया। उसे बहुत चोट लगी थी। उसी नगर में एक पांच वर्ष की लड़की को भी गरुड़ उठा ले गया। कई दिन ढूंढ़ने पर एक पहाड़ के कगार पर वह पड़ी हुई मिली। न्यूयार्क नगर में भी एक लड़के को गरुड़ पहाड़ के ऊपर उठा लेगया था। वह लड़का बड़ा ढीठ था। वह गरुड़ को अपने पास न आने देता था। ज्यों ही वह उसपर चोट करना चाहता, त्योंहीं वह उसे पत्थर मारता था; परन्तु गरुड़ ने उसको अपने दाहने पङ्ख की चोट से मार डाला।

स्काटलैण्ड में एक बार एक मनुष्य ने गरुड़ को एक पहाड़ी पर सोते देखा; इसलिए उसने उसे जीता पकड़ना चाहा। वह चुपचाप उसके पास तक गया और पकड़ कर उसे बड़ी दृढ़ता से अपने दोनों हाथों के बीच में दबा लिया। गरुड़ का जब कोई उपाय न चला, तब उसने अपने एक पञ्जे को उसकी छाती में चुभो दिया। वह पञ्जा मांस में दूर तक चला गया। जब वह मनुष्य गरुड़ के पञ्जे को मांस के भीतर से न निकाल सका तब उसने गर्दन मरोड़ कर गरुड़ को मार डाला। परन्तु वह पञ्जा ऐसा जकड़ गया था कि गरुड़ के मरने पर भी न निकला। तब उसने चाकू निकाल कर गरुड़ की टांग को उसके शरीर से अलग कर दिया और उस पञ्जे को वैसे ही छाती में लटकाए हुए वह अस्पताल पहुंचा। वहां डाक्टर ने उस पञ्जे को उसकी छाती के भीतर से बड़े प्रयत्न से निकाला।

पालने से गरुड़ पक्षी सध जाता है और अपने पालनेवाले को पहचानने लगता है। स्काटलैण्ड के क्लिफ्टन् नगर में और फ़्रांस की राजधानी पेरिस में कई गरुड़ पाले गए हैं।

गरुड़ पक्षी प्रायः सौ वर्ष तक जीता है। गरुड़ में एक यह गुण बहुत उत्तम है कि नर और मादी बड़े प्रेम से साथ रहते हैं। न नर मादी को छोड़ता है और न मादी नर को छोड़ती है। यदि दो में से एक मर जाता है तो, लाचार हो कर, अपना जोड़ा ढूंढ़ लेते हैं। एक स्त्री के रहते जो दूसरा विवाह करलेते हैं उनको गरुड़ से शिक्षा लेनी चाहिए। इस प्रकार विवाह करना उचित नहीं है।

———

ग्रहों पर जीवधारियों के होने का अनुमान

हम सब लोग पृथ्वी पर रहते हैं। पृथ्वी की गणना ग्रहों में है। पृथ्वी पर जब अनेक प्रकार के प्राणी रहते हैं और वनस्पति उगते हैं, तब और और ग्रहों पर भी उनका होना सम्भव है। दूरबीन और स्पेक्ट्रास्कोप नामक यन्त्रों के सहारे विद्वानों ने इस बात का अनुमान किया है कि मङ्गल और शुक्र आदि ग्रहों पर भी प्राणी रह सकते हैं। दूरबीन एक ऐसा यन्त्र है जिसके द्वारा दूर दूर के पदार्थ दिखलाई देते हैं। फ्रांस की राजधानी पेरिस में, कुछ दिन हुए, एक बहुत बड़ी दूरबीन बनी है; उससे देखने से चन्द्रमा केवल २० मील की दूरी पर आ गया सा दिखलाई देता है। दूरबीन के नाम ही से यह सूचित होता है कि उससे दूर की वस्तु दिखलाई पड़ती है; परन्तु स्पेक्ट्रास्कोप का उपयोग उसके नाम से नहीं सूचित होता। इस यन्त्र के द्वारा, आकाश से आए हुए प्रकाश की किरणों की परीक्षा करके इस बात का पता लगाया जाता है कि जिन ग्रहों से वे प्रकाश की किरणें आई हैं, वे किन किन पदार्थों से बने हुए हैं। ग्रहों को दूरबीन से देख कर और स्पेक्ट्रास्कोप से उनकी परीक्षा करके विद्वानों ने यह अनुमान किया है कि ग्रहों पर बस्ती का होना सम्भव है।

प्राणियों के जीवन के लिए जल, वायु और उष्णता की अपेक्षा होती है। उनके बिना कोई प्राणी जीता नहीं रह सकता। मिट्टी, लोहा, कोयला और चूना इत्यादि पदार्थों का होना भी आवश्यक है, क्योंकि जितने प्राणी हैं उनके शरीर में प्रायः यही पदार्थ पाए जाते हैं। स्पेक्ट्रास्कोप से यह जाना गया है कि ग्रहों में ये सब पदार्थ हैं; इसलिए उनमें जीवधारी रह सकते हैं। ग्रहों में जल, वायु और उष्णता का होना भी विद्वानों ने सिद्ध किया है। इस बात को कुछ अधिक विस्तार से हम लिखते हैं।

जितने ग्रह हैं सब में दो प्रकार की उष्णता रहती है। एक तो स्वयम् उनकी उष्णता और दूसरी वह जो उन्हें सूर्य से मिलती है। पहले जैसे पृथ्वी जलते हुए लोहे के गोले के समान उष्ण थी वैसे ही और और ग्रह भी थे। पृथ्वी का ऊपरी भाग धीरे धीरे शीतल हो जाने से प्राणियों के रहने योग्य हो गया है; परन्तु बृहस्पति, शनैश्चर, यूरेनस और नेपच्यून अभी तक अत्यन्त उष्ण हैं; इसलिए उनपर जीवधारियों का होना कम सम्भव जान पड़ता है। शेष ग्रहों में से शुक्र, मङ्गल और बुध का ऊपरी भाग शीतल हो गया है। उनकी दशा वैसी है जैसी पृथ्वी की है। इसलिए उनपर जीवधारी और वनस्पति रह सकते हैं। सूर्य से जो उष्णता इन तीन ग्रहों को मिलती है उसका परिमाण न्यारा न्यारा है। पृथ्वी की अपेक्षा मङ्गल को आधी उष्णता मिलती है; परन्तु शुक्र को उसकी दूनी और बुध को उसकी सातगुनी मिलती है। उष्णता के सम्बन्ध में एक बात और विचार करने योग्य है। वह यह है कि जहां जितनी वायु अधिक होती है वहां उतनीही कम उष्णता रहती है। मङ्गल में पृथ्वी की अपेक्षा वायु कम है उसमें सूर्य की उष्णता भी कम है; इसलिए उसमें अधिक वायु की आवश्यकता नहीं। शुक्र में भी वायु होने का पता लगा है; परन्तु उसका परिमाण नहीं जाना गया। बुध, सूर्य के बहुत निकट होने के कारण, दूरबीन से भली भांति देखा नहीं जाता; इसलिए यह नहीं जाना गया कि उसमें वायु है अथवा नहीं। तथापि कई कारणों से ज्योतिष-विद्या के जाननेवालों ने अनुमान किया है कि उसमें भी वायु अवश्य होगी।

उष्णता और वायु के सिवाय प्राणियों के लिए जल की भी आवश्यकता होती है। दूरबीन से देखने से यह जाना गया है कि शुक्र और मङ्गल में पानी है, क्योंकि इन ग्रहों में बर्फ के पहाड़ के पहाड़ गलते हुए देखे गए हैं। जहां बर्फ है वहां पानी होना ही चाहिए। इसका पता ठीक ठीक नहीं

लगा कि बुध में पानी है अथवा नहीं; परन्तु जब उसमें वायु का होना अनुमान किया गया है तब पानी होने का भी अनुमान हो सकता है।

इन बातों से यह सूचित होता है कि यदि बुध जीवधारियों के रहने योग्य नहीं तो शुक्र और मङ्गल अवश्य उनके रहने योग्य हैं। अब इस बात का निश्चय करना कठिन है कि, इन दो ग्रहों में किस प्रकार के प्राणी और किस प्रकार के वनस्पति होंगे। जैसा देश होता है उसमें वैसेही मनुष्य, पशु, पक्षी और वनस्पति होते हैं। जिन देशों में सरदी अधिक पड़ती है, उनमें वैसे ही जीव उत्पन्न होते हैं जो सरदी को सहन कर सकें। जो देश उष्ण हैं उनमें ईश्वर उनके जल वायु के अनुकूल प्राणी उत्पन्न करता है। इसलिए मङ्गल और शुक्र पर जो जीव और जो वनस्पति होंगे वे उनके जल वायु के अनुकूल होंगे। इस विषय में एक बात ध्यान में रखने योग्य यह है कि प्राणियों की छुटाई बड़ाई ग्रहों की छुटाई बड़ाई के अनुसार होनी चाहिए। जो ग्रह जितना बड़ा होगा उसमें उतनी ही अधिक आकर्षणशक्ति होगी। आकर्षणशक्ति उसे कहते हैं जिसके द्वारा जड़पदार्थ ग्रहों की ओर खिँच आते हैं। पृथ्वी पर जो पदार्थ गिरते हुए दिखलाई देते हैं वे पृथ्वी की आकर्षण-शक्ति से खिँच आते हैं। इसी खिँच आने को गिरना कहते हैं। इस नियम के कारण बड़े ग्रहों में छोटे जीव नहीं रह सकते, क्योंकि उनमें शक्ति कम होने के कारण वे चल फिर न सकेंगे; ग्रहों की आकर्षण-शक्ति से खिँचे हुए जहां के तहांही पड़े रहेंगे। इसीलिए विद्वानों ने यह निश्चय किया है कि बड़े ग्रहों में बड़े और छोटे ग्रहों में छोटे जीवों की बस्ती होगी।

ग्रहों की बस्ती के विषय में अभी इतनीही बातें जानी गई हैं। आशा है कि, विद्या और विज्ञान के बल से विद्वानलोग किसी दिन मङ्गल और शुक्र आदि के निवासियों के रूप, रङ्ग और आकार इत्यादि का भी पता लगावेंगे।

कामिनी-कौतूहल

ताराबाई

कालिदास ने कुमारसम्भव में लिखा है कि पार्वती का शरीर सोने के कमलों से बना हुआ था, जिसका यह आशय है कि उसका शरीर कोमल भी था और कठोर भी, क्योंकि यदि वह कठोर न होता तो पार्वती से किस प्रकार वैसी कठिन तपस्या हो सकती। और भी अनेक उदाहरणों से सिद्ध होता है कि यह बात पार्वती ही में नहीं, किन्तु और स्त्रियों में भी पाई जाती है। आज हम एक ऐसी स्त्री का संक्षिप्त वृत्तान्त लिखते हैं जिसकी वीरता और दृढ़ता का विचार करके चित्त आश्चर्यसागर में डूब जाता है। इस वीर बाला का नाम ताराबाई है।

कोई पांच सौ वर्ष हुए राय शिवरतन नामक एक क्षत्री राजा मध्यभारत के टोंक-ठोड़ा नामी नगर में राज्य करता था। शिला नामी एक अफ़गान ने बलपूर्वक उसे उसके नगर से निकाल दिया और उसकी धन सम्पत्ति छीन ली। इसलिए वह वहां से भग कर अरवली पहाड़ के नीचे बेदोर नामक स्थान में रहने लगा। उसके एक लड़की थी, जिसका नाम तारा था। लड़ाइयों के विषय में अपने पिता से अनेक प्रकार की बातें सुन सुन कर उसे शस्त्रविद्या सीखने का उत्साह हुआ। राय शिवरतन ने अपनी लड़की के इच्छानुसार उसे घोड़े पर चढ़ना, शिकार खेलना, तीर और तलवार चलाना अच्छी भांति सिखलाया। जब वह चौदह वर्ष की हुई तब शस्त्र चलाने और घोड़े की सवारी में वह बहुत प्रवीण होगई। जिस समय वह घोड़े पर सवार होकर मर्दाने कपड़े पहने हुए निकलती थी, उस समय वह एक बहुत ही सुघर नवयुवक योधा के समान देख पड़ती थी।

राय शिवरतन ने अपने नगर ठोड़ा को कई बार अफ़ग़ानों से छीनने का यत्न किया; परन्तु उन्हें सफलता नहीं हुई। जब उसने तारा के साहस

श्रीर उसकी वीरता को देखा तब एकबार फिर उसने अफ़ग़ानों पर चढ़ाई की। उस समय धनुष बाण ले कर श्रीर एक बड़े ही शीघ्रगामी घोड़े पर सवार होकर वीर तारा भी लड़ाई में गई श्रीर युद्ध में उसने बड़ी कुशलता दिखलाई; परन्तु अभाग्यवश राय शिवरतन की हार हुई श्रीर उसे तारा के साथ बेदोर को लौट आना पड़ा।

तारा की सुन्दरता श्रीर वीरता का समाचार सुन कर अनेक युवा पुरुषों ने उससे विवाह करने की इच्छा की। उनलोगों में से मेवार के राना रायमल्ल का तीसरा लड़का जयमल्ल भी था। जब उसने तारा से विवाह करने की अभिलाषा प्रगट की तब तारा ने उसके पास यह उत्तर भेजा कि यदि "तुम मेरे पूर्वजों की राजधानी ठोड़ा से अफ़ग़ानों को निकाल कर उसे मेरे पिता को प्राप्त करा दो तो मैं बड़ी प्रसन्नता से तुम्हें स्वीकार करूं"। यह सुन कर जयमल्ल ने हां तो किया, परन्तु उस बात के पूरा करने का कुछ भी प्रयत्न न करके बहुत दिनों तक वह वहीं पड़ा रहा। एक दिन अभाग्यवश बिना आज्ञा ही के वह तारा से मिलने के लिए उसके महलों में जाने लगा। इस बात से अप्रसन्न होकर राय शिवरतन ने उसे वहीं मार डाला।

मेवार के राना रायमल्ल के तीन लड़के थे। जयमल्ल, पृथ्वीराज श्रीर साङ्गा। जयमल्ल के इस प्रकार मारे जाने के समाचार सुन कर पृथ्वीराज ने अपने भाग्य की परीक्षा करनी चाही। वह भी बेदोर पहुँचा श्रीर वहां पहुँच कर ताराबाई से विवाह करने की उसने अपनी अभिलाषा प्रगट की। ताराबाई ने उससे भी वही बात कही जो उसने जयमल्ल से कही थी; अर्थात् "ठोड़ा को अफ़ग़ानों से छीन लो श्रीर मैं तुम्हारीही हूं।" इस बात को सुन कर पृथ्वीराज ने तुरन्त उत्तर दिया कि "यदि मैं ठोड़ा न लेलूं तो राजपूत ही नहीं"।

पृथ्वीराज ने पांच सौ वीर घुड़सवारों को इकट्ठा करके ठोड़ा की श्रोर प्रस्थान किया। उसके साथ ताराबाई भी घोड़े पर सवार होकर चली। उसने पृथ्वीराज को अकेले जाने देना उचित नहीं समझा। पृथ्वीराज के यश में भी उसने भाग लेना चाहा श्रीर सङ्कट में भी। जिस समय पृथ्वीराज श्रीर ताराबाई ठोड़ा पहुंचे, उस समय वहां ताज़िये निकल रहे थे श्रीर नगर की सारी गलियां मनुष्यों से भरी हुई थीं। पुरुष का भेष बनाए हुए ताराबाई श्रीर पृथ्वीराज एक दूसरे विश्वासपात्र साथी को लिए हुए उसी भीड़ में घुस पड़े। पृथ्वीराज शीघ्र ही अफ़ग़ान सूबेदार के निकट पहुँच गया श्रीर पहुँचते ही उसने अपना भाला उसपर चलाया। ताराबाई भी शिथिल न थी; भाले को उठते देख उसने भी एक तीर ऐसा मारा कि वह अफ़ग़ान सूबेदार प्राणहीन होकर भूमिपर गिर पड़ा। जब तक अफगान लोग इस बात को ठीक ठीक समझ सकें कि ये कौन हैं श्रीर कहां से आए, श्रीर उनपर आघात करने का प्रयत्न करें तब तक वे तीनों वहां से अपनी सेना में मिलने के लिए निकल गए। परन्तु एक हाथी ने उनका मार्ग रोक दिया श्रीर यदि ताराबाई अपनी तलवार से चोट करके उसे भगा न देती तो उनका बचना कठिन हो जाता। अपनी सेना के बीच में पहुँच कर पृथ्वीराज उसे नगर पर चढ़ा लाया श्रीर बड़ी वीरता से अफ़ग़ानों को उसने वहां से भगा दिया। ठोड़ा में पृथ्वीराज का अधिकार हो गया श्रीर बहुत दिनों के अनन्तर राय शिवरतन को अपने पूर्वजों की राजधानी में सुशोभित होने का अवसर मिला।

पृथ्वीराज की वीरता से सबलोग बहुत प्रसन्न हुए श्रीर राय शिवरतन ने तुरन्त ही ताराबाई का विवाह उसके साथ कर दिया। कई महीनों तक पृथ्वीराज ताराबाई के साथ अपनी ससुराल में सुख से रहे। उसके अनन्तर ताराबाई को लेकर पृथ्वीराज अपने पिता के पास मेवार लौट आया।

जिस समय पृथ्वीराज मेवार पहुंचा, उस समय उसका पिता रायमल्ल बड़ी विपत्ति में था; क्योंकि रायमल्ल के भाई सूर्यमल्ल ने उसके साथ शत्रुता

का व्यवहार आरम्भ कर दिया था। वह शत्रुता यहां तक बढ़ी कि सूर्यमल्ल ने मेवार पर प्रगट रूप से चढ़ाई कर दी। सूर्यमल्ल का सामना करने के लिए रायमल्ल के पास बहुत ही थोड़ी सेना थी; परन्तु पृथ्वीराज और ताराबाई ने पहुँच कर शीघ्र ही एक हज़ार घुड़सवार इकट्ठा कर लिए। अन्त में युद्ध हुआ; इस युद्ध में ताराबाई ने जो वीरता दिखलाई उसे सुन कर किसीको भी यह विश्वास नहीं होता था कि एक कोमल शरीरवाली स्त्री में भी इतनी वीरता हो सकती है। उस युद्ध में ताराबाई ने अनेक योद्धाओं को सुरलोक पहुँचाया। उसके सामने खड़े होने के लिए किसी वीर को साहस नहीं होता था। उसके बाण और उसके भाले चारों ओर वृष्टि की धारा के समान गिरते थे। यह युद्ध दो दिन तक होता रहा और दोनों दिन ताराबाई ने अपनी वीरता और अपने युद्धकौशल की पराकाष्ठा करदी। अन्त में सूर्यमल्ल की हार हुई और वह युद्धस्थल से भाग निकला। इस युद्ध में यशस्वी होने के अनन्तर ताराबाई और पृथ्वीराज बहुत दिन तक कमलमेर में आनन्द से रहते रहे। बीच बीच में कई बार उन दोनों को अपने तीर कमान, तलवार और भाले से काम लेना पड़ा और प्रति वार उनके शत्रुओं को या तो उनकी शरण आना पड़ा; या रणक्षेत्र से भागना पड़ा; या युद्ध में प्राण परित्याग करके इस लोक को सदा के लिए छोड़ जाना पड़ा।

पृथ्वीराज के एक बहिन थी जिसका विवाह सिरोही में हुआ था। जिस समय पृथ्वीराज कमलमेर में था उस समय उसकी बहिन ने लिख भेजा कि "मेरा पति अफ़ीम के नशे में आकर मेरी बड़ी दुर्दशा करता है"। पृथ्वीराज ने उसके पत्र को पढ़कर अपनी बहिन की सहायता के लिए वहां जाना निश्चय किया। ताराबाई ने उसके साथ जाना चाहा; परन्तु यह बात उसने स्वीकार न की। पृथ्वीराज अकेला ही सिरोही को चला। आधी रात के समय वह अपने बहनोई प्रभुराव के महल में पहुँचा और पहुँचकर उसके कण्ठ में अपना कटार रख दिया। स्त्रियों को दुःख देनेवाले सभी मनुष्य प्रायः डरपोक हुआ करते हैं। प्रभुराव भी ऐसा ही था। ज्योंही वह जगा और पृथ्वीराज को इस प्रकार अपने सामने देखा, त्यों ही वह कांपने लगा और जीवदान देने के लिए पृथ्वीराज से प्रार्थना करने लगा। पृथ्वीराज की बहिन भी अपनी पिछली बातों को भूल कर उसे क्षमा करने के लिए विनय करने लगी। पृथ्वीराज ने उसकी प्रार्थना स्वीकार करके प्रभुराव को छोड़ दिया। जान पड़ता है, पृथ्वीराज का यह काम प्रभुराव को डरानेही के लिए था; क्योंकि ऐसा कोई विरलाही मनुष्य होगा जो अपनी बहिन को विधवा दशा में देखना चाहे।

इसके अनन्तर पृथ्वीराज कई दिनों तक सिरोही में रहा। जब तक वह वहां था उसका बहनोई उसका यहां तक सत्कार करता रहा कि पृथ्वीराज के चित्त से प्रभुराव की शत्रुतासम्बन्धी सारा संशय जाता रहा। उसने यह न जाना कि प्रभुराव अपने अपमान को नहीं भूला। जिस समय पृथ्वीराज वहां से चलने लगा उस समय उसके खाने के लिए और और पदार्थों के साथ एक प्रकार का उत्तम मिष्टान्न भी प्रभुराव ने दिया। पृथ्वीराज जब कमलमेर के निकट पहुँचा तब उसने उस मिठाई को खाया जिसके खाते ही उसे चक्कर आने लगे। तब उसे यह विदित हुआ कि उसे विष दिया गया है। यह विदित होते ही तुरन्त ताराबाई को उसने समाचार भेजा; परन्तु ताराबाई के वहां पहुँचने के पहले ही उसका प्राणान्त हो गया। जब तारा बाई ने वहां आकर अपने पति को मृतक पाया, तब उसे महा शोक हुआ; प्रभुराव की करतूत पर उसे अपार क्रोध भी हुआ; परन्तु वह समय क्रोध करने का न था। दुःख से कातर होकर वह अपने मृतक पति के पास गिर पड़ी और उसने इतना दुःख दर्शित किया कि जान पड़ता था कि उसका कलेजा फट जायगा। उसके

शोक का वेग इतना अधिक था कि वह "मेरे प्रियतम; मेरे पति", इन दो चार शब्दों के अतिरिक्त और कुछ भी न कह सकी। इन्हीं शब्दों को कहते हुए वह चिता पर चढ़ गई और अपने पति के मृतक शरीर के साथ जल कर शीघ्र ही राख हो गई।

जिस ताराबाई ने बड़े बड़े वीरों का सामना किया और जो बाणों और भालों की चोट से तनिक भी नहीं डरी, वही अपने प्यारे पति के वियोग से कातर हो उठी और जल गई। इस देश की स्त्रियों को पति से अधिक और कोई वस्तु प्रिय नहीं और पति के वियोग से बढ़कर और कोई दुःख नहीं! पति ही उनका सर्वस्व है।

(२) महारानी चन्द्रिका और भारतवर्ष का तारा।

एक बार, सायङ्काल, रानी चन्द्रिका अपनी सभा में अपने रत्नजटित सिंहासन पर विराजमान थीं। उनके सारे सभासद और अधिकारी अपने अपने स्थान पर बैठे हुए सभामण्डप की शोभा बढ़ा रहे थे। सभासदों के चारों ओर अनन्त तारागण अपने अपने तेज से एक अद्भुत प्रकाशमयी छटा फैला रहे थे। क्रम क्रम से राज्य के काम अधिकारियों द्वारा किए जाने लगे; महारानी सब कामों की समीक्षा करते हुए विचारपूर्वक आज्ञा भी देने लगीं। उसी समय अकस्मात् एक चमकीली वस्तु दूर अँधेरे से निकलती हुई देख पड़ी और धीरे धीरे सभा की ओर बढ़ने लगी। जब वह सभामण्डप के निकट आगई तब यह जाना गया कि वह एक धीमी ज्योतिवाला तारा था। उस तारा ने आ कर महारानी को दण्डप्रणाम किया; और प्रणाम करके हाथ जोड़े और सिर झुकाए हुए वहीं वह उनके सामने खड़ा होगया।

महारानी ने पूछा, "तुम कौन हो?" उसने कहा "मैं आपही की प्रजा में से एक व्यक्ति हूं। मुझे 'भारतवर्ष का तारा' कहते हैं"।

महारानी ने अपने सभासदों से पूछा; "क्या तुममें से कोई इसे पहचानता है"? यह सुनकर एक सभासद ने उत्तर दिया कि, "हां अब मैंने इसे पहचाना। जब यह यहां आया तब मुझे ऐसा भासित हुआ कि मैंने कभी इसे पहले देखा है परन्तु मैं इसे पहचान न सका। अब नाम बतलाने पर मैंने इसे पहचाना। मैंने तो समझा था कि अब कभी इससे भेट न होगी; परन्तु सौभाग्य से आज यह मुझे फिर दिखलाई दिया"।

महारानी ने तब उससे पूछा कि, "तुम अब तक रहे कहां"? उसने कहा, "मैं अस्त हो गया था"। महारानी ने फिर पूछा, "अच्छा; बतलाओ तो ऐसा क्यों हुआ"। यह सुनकर उस तारा ने कहा कि, "आप इस बात को अवश्य जानती होंगी कि, अब भारतवर्ष में युधिष्ठिर, विक्रम और भोज के समान राजा; शङ्कर, जैमिनि और भास्कर के समान विद्वान् और कालिदास, भवभूति और श्रीहर्ष के समान कवि नहीं उत्पन्न होते। हिमालय से लेकर कन्याकुमारी तक चाहे जितना ढूंढ़िए कहीं भी, प्राचीन समय के से महात्मा नहीं दिखलाई देते, जो सत्य ही को अपना धन समझें, देशप्रीतिही को अपना सर्वस्व समझें, और देश भाषाही को अपनी माता समझें। इसलिए, हे देवी! आपही विचारिए, कि जहां इस प्रकार का एक भी महानुभाव नहीं, वहां के तारा को अस्त हो जाने के सिवाय और क्या गति हो सकती है?"

यह सुन कर महारानी चन्द्रिका ने बड़े आश्चर्य से पूछा कि, "क्या कारण है जो प्राचीन काल के से महात्मा अब वहां नहीं उत्पन्न होते?" उस तारा ने शोकपूरित शब्दों में उत्तर दिया कि "इसका कारण प्रत्यक्ष है। वहां कौशल्या के समान माता, सीता और द्रौपदी के समान पत्नी, गार्गी, मैत्रेयी और लीलावती के समान विदुषी स्त्रियां अब नहीं होतीं। अतएव कोई आश्चर्य नहीं जो भारतवर्ष में रहनेवालों का अधःपात हो जावे"।

महारानी चन्द्रिका को यह सुन कर महाखेद हुआ और उन्होंने फिर पूछा कि, "क्या कारण है जो इस प्रकार की स्त्रियां अब वहां नहीं पाई जातीं"? उत्तर में उस तारा ने निवेदन किया कि "इसका कारण महारानी को मुझसे अधिक ज्ञात होना चाहिए, क्योंकि यह एक ऐसी बात है जो स्त्रियोंही से सम्बन्ध रखती है। जिस समाज में स्त्रियों को शिक्षा नहीं दी जाती; उनका बात बात में निरादर होता है; उनकी अभिलाषाओं के पूर्ण करने की ओर प्रायः कोई भी ध्यान नहीं देता; यहां तक कि उन्हें अकारण ताड़ना तक दी जाती है; उस समाज में सीता अथवा द्रौपदी के समान स्त्रियों के उत्पन्न होने की कोई कैसे आशा कर सकता है। इस प्रकार की सामाजिक दुर्दशा भारतवर्ष में बढ़ती ही गई और मेरा तेज धीरे धीरे कम होता गया। अन्त में एक दिन ऐसा आया कि मुझे अस्त हो जाना पड़ा'।

"अच्छा, अब यह तो बतलाओ कि तुम्हारा उदय किस प्रकार हुआ?"

"महारानी ने सुना होगा कि इस समय भारतवर्ष में अङ्गरेज़ों का राज्य है। उन्होंने स्त्री-शिक्षा की ओर ध्यान देना आरम्भ किया है; और उस देश के निवासी क्रम क्रम से अपनी भूल पर पछताने भी लगे हैं। अब स्त्रियों को शिक्षा भी कहीं कहीं मिलने लगी है। यही कारण है जो मैंने अपना पहला प्रकाश थोड़ासा प्राप्त किया है। यदि स्त्रीशिक्षा की ओर लोगों का ध्यान इसी प्रकार बना रहा, तो मुझे आशा है कि, कुछ दिनों में मैं अपना पूरा तेज प्राप्त करके भारतवर्ष में प्रकाशित हूंगा"।

यह सुन कर महारानी चन्द्रिका ने उसके सिर पर अपना हाथ रक्खा और आशीर्वाद दिया कि, "ईश्वर करै, शीघ्र ही, तुम भारतवर्षरूपी आकाश में अपने पूरे प्रकाश से पूर्ण होकर उदय होओ"।

———

देहली।

देहली भरतखण्ड का रोम है। योरप में रोम नगर जिस दृष्टि से देखा जाता है, इस में, देहली भी उसी दृष्टि से देखी जाती है। रोम नगर इटली की राजधानी है। प्राचीन समय में, इस रोम के राजराजेश्वरों ने चिरकाल तक प्रायः सारे योरप में अपनी राजसत्ता चलाई है। इसीलिए रोमनगर बड़े आदर का पात्र माना जाता है। देहली के हिन्दू और मुसलमान राज-राजेश्वरों ने भी अनेक काल पर्य्यन्त अपनी राजसत्ता इस देश पर चलाई है; हज़ारों वर्ष तक यह नगर इस देश की राजधानी रहा है। यही कारण है जो उसकी समता रोम से की जाती है; यही कारण है जो कलकत्ता और बम्बई आदि प्रसिद्ध नगरों को छोड़ कर यही नगर दरबार के लिए चुना गया है। हमारे प्रतापशाली अंगरेज़ों ने देहली को अपनी राजधानी न बनाकर कलकत्ते को बनाया है। इसलिए देहली की शोभा क्षीण हो गई है, परन्तु जब हम प्राचीन इतिहास को देखते हैं और टेवरनियर, बर्नियर और फिञ्च आदि की लिखी हुई पुस्तकें पढ़ते हैं तब मुग़ल बादशाहों के समय की शोभा और समृद्धि का विचार करके बुद्धि चकित हो जाती है।

यद्यपि यहां का अभूत-पूर्व दरबार इस महीने में समाप्त हो गया है; यद्यपि उसके साथ होनेवाले और अनेक विशाल समारम्भ समाप्त हो गए हैं; और यद्यपि इस दरबार के कारण थोड़े दिन के लिए बनाई गई कई कोस की कपड़े की नगरी अब प्रायः लोप होचुकी है; तथापि देहली अपनी प्राचीन इमारतों समेत अब भी वहां अवस्थित है। हमारे वाचकों में से जो लोग दरबार गए होंगे, उन्होंने देहली को स्वयम् अपनी आंखों से देखा होगा; परन्तु जो नहीं गए होंगे उनको इस प्रसिद्ध ऐतिहासिक नगर का थोड़ा सा वृत्तान्त सुनाना इस समय भी अनुचित न होगा।

देहली का प्राचीन नाम हस्तिनापुर है। परन्तु इस हस्तिनापूर का पता ठीक ठीक नहीं लगता कि वह कहां पर था। प्राचीन हस्तिनापुर से कुछ दूर पर एक नगर इन्द्रप्रस्थ नाम का था। उसे पहले पहिल युधिष्ठिर ने अपनी राजधानी बनाई। तीस पीढ़ी तक युधिष्ठिर के वंशज राजा लोग वहां राज करते रहे। उनके अनन्तर पांचसैा वर्ष तक एक दूसरे वंश ने वहां राज्य किया। फिर, वहां गैातम-वंश का राज्य हुआ। उस वंश के पन्द्रह राजा वहां हुए। गैातम के अनन्तर मयूरें ने वहां अपना अधिकार जमाया। मयूर-वंश का पिछला राजा पाल हुआ। इस पाल राजा के, आज से कोई दे। हज़ार वर्ष पहले, उज्जयिनी के राजा विक्रमादित्य ने परास्त किया। उसी समय के लगभग दिलु अथवा दिलप नाम के राजा ने एक नया ही नगर बसाया; उसका नाम देहली पड़ा। कोई आठ सैा वर्ष तक देहली उजाड़ पड़ी रही। तदनन्तर तोमर घराने के लोग वहां रहने लगे। उनसे, कुछ दिनों में, चैाहानों ने राज्य छीन लिया। चैाहानों के प्रसिद्ध राजा विशालदेव ने तोमर लोगों के वहां से निकाल दिया। इस विशालदेव का नाम, फीरोज़शाह की लाट पर जो शिलालेख है उसमें, खुदा है। प्राचीन देहली पृथ्वीराज के उजाड़ क़िले के पास कहीं थी। लोहे का स्तम्भ जो अब वहां शेष है वह हिन्दुओं के उस प्राचीन नगर का एक मात्र चिन्ह है।

देहली के चारों ओर अनेक उजाड़ इमारतें पड़ी हुई हैं। इन सब उजाड़ इमारतों का क्षेत्रफल ४५ वर्ग मील के लगभग है। यहां पर पृथक् पृथक् राजाओं ने सात नगर बसाए थे। देहली की उजाड़ इमारतें और उनके बचे हुए चिन्ह उन सात प्राचीन नगरों की साक्षी देते हैं। इन सातों में से एक नगर लालकोट था, जिसे राजा अनंगपाल ने १०५२ ई० में बसाया था। दूसरा नगर वह है जहां पृथ्वीराज का खण्डहर क़िला इस समय दिखाई देता है; उसे पृथ्वीराज ने ११८० ई० के लगभग बसाया था। शेष पांच नगरों में, एक सीरी के पास रहा होगा; उसे अलाउद्दीन ने १३०४ ई० में बसाया था। दूसरा १३२१ ई० में तुग़लक़ शाह का बसाया हुआ तुग़लक़ाबाद है। तीसरा १३२५ ई० में मुहम्मद तुग़लक़ का बसाया हुआ आदिलाबाद है। दे। और नगर भी इसी मुहम्मद तुग़लक़ बादशाह ने बसाए थे। १६११ ई० में फिञ्च साहब आगरे से देहली गए थे। वे लिखते हैं कि उन्होंने उस समय प्राचीन देहली के अवशेष भाग को देखा था। उन छिन्नभिन्न हुए मकानों और क़िलों के "सात क़िला और बावन फाटक" के नाम से लोग को कहते हुए उन्होंने सुना था। कई विद्वान जिन्होंने इस बात की खोज की है, अनुमान करते हैं कि युधिष्ठिर का इन्द्रप्रस्थ कहीं उस जगह रहा होगा जिसे पुराना क़िला कहते हैं। ११९१ ई० में मुसलमानों ने हिन्दुओं को निकाल कर जब देहली अपने अधिकार में कर ली, तब उन्होंने प्राचीन नगर के बिलकुल ही छिन्नभिन्न कर दिया। इसीलिए अब उसके बहुतही कम चिन्ह पाए जाते हैं।

मुसलमानों का राज्य होने पर पहली इमारत कुतबुद्दीन ऐबक ने १२०६ ई० में बनाई। यह कुतुबमीनार के नाम से प्रसिद्ध है। उसके अनन्तर अलाउद्दीन ने भी कसरे-हज़र-सितून अर्थात् हज़ार खम्भों का एक महल बनाया, जिसके चिन्ह शाहपुर के उजड़े हुए क़िले में अब तक पाए जाते हैं। उसके अनन्तर ग़यासुद्दीन तुग़लक़ ने तुग़लक़ाबाद में एक क़िला बनवाया। उसके लड़के महम्मद ने आदिलाबाद नामक एक उत्तम गढ़ निर्माण कराया। फीरोज़ तुग़लक़ ने १३५१ से १३८८ ई० के बीच में अनेक इमारतें बनवाईं। एक नहर उसने यमुना से निकलवाई और उसे अपनी नई राजधानी फीरोज़ाबाद तक वह ले गया। यह नहर अब तक वर्त्तमान है। इसी फीरोज़ तुग़लक़ ने फीरोज़ाबाद को बसाया और कुशके-फीरोज़ाबाद और कुशके-शिकार नाम के दे। महल भी उसने बनवाए। १५३३ ई० में हुमायूं ने इन्द्रप्रस्थ अर्थात्

पुराने क़िले की मरम्मत कराई और उसका नाम दीनपनाह रक्खा। १५४० ई० में शेरशाह ने इसीका नाम शेरगढ़ रक्खा। इसी शेरशाह ने क़िला-कोहना-मसजिद नाम की एक मसजिद और शेरमहल नाम का एक महल बनवाया। १५४६ ई० में शेरशाह के लड़के सलीम शाह ने सलीमगढ़ का क़िला बनवाया।

जिस देहली को हम आज देख रहे हैं और जिसे शाहजहांनाबाद भी कहते हैं, वह १६३८ ई० के लगभग शाहजहां की बसाई हुई है। वहां का प्रसिद्ध क़िला और प्रसिद्ध बादशाही महल जो उसी क़िले के भीतर हैं, १६३८ और १६४८ ई० के बीच में बने हैं। जो दीवार शहर के चारों ओर है वह और जुमा-मसजिद भी उसके थोड़ेही दिन पीछे निर्माण हुई हैं। औरङ्गज़ेब के द्वारा क़ैद किए जाने के पहिले केवल छ वर्ष तक शाहजहां ने अपने बनवाए हुए महल में वास किया। उसके अनन्तर औरङ्गज़ेब कोई बीस वर्ष तक वहां रहा। फिर, १६८० ई० में दक्षिण की ओर वह विजययात्रा के लिए निकला। शाहजहां के अनन्तर फिर कोई अच्छी इमारत देहली में नहीं बनी।

१७३९ ई० में फारस के बादशाह नादिरशाह ने देहली पर चढ़ाई की और १२ मार्च को प्रातःकाल से दोपहर तक नगर के प्रत्येक गलीकूचे से उसने रुधिर की नदियां बहाईं। नादिरशाह की सेना ने देहली के असंख्य निवासियों का संहार किया। यह मनुष्य-हत्या देहली के बादशाह महम्मद शाह के विनय करने पर बन्द हुई; परन्तु, तब तक, नगर का बहुत कुछ भाग उजाड़ होचुका था। देहली की शोभा की क्षीणता उसी समय से आरम्भ हुई। नादिरशाह वहां से असंख्य धन के साथ बादशाह का मयूर-सिंहासन और कोहनूर हीरा भी लेगया।

१७७० ई० में महादाजी सेंधिया ने देहली को विजय किया और १८०३ ई० के सितम्बर तक उसे उसने अपने आधीन रक्खा। १८०३ ई० में जनरल लेक ने सेंधिया की सेना को परास्त करके शाह आलम और उसके कुटुम्ब को अपने आधीन कर लिया। १८०४ ई० के आक्टोबर महीने में यशवन्तराव होलकर ने बहुत दिन तक देहली को घेर रक्खा; परन्तु अंगरेज़ी सेना को वह वहां से न निकाल सका। उस समय से लेकर १८५७ ई० तक इस देश की प्राचीन राजधानी देहली अंगरेज़ों ही के आधीन रही। औरङ्गज़ेब के वंशज, उस समय तक, नाममात्र के लिए बादशाह रहे। १८५७ ई० में, जिस समय सिपाहियों ने विद्रोह मचाया, देहली में बहादुरशाह बादशाही नाम को चला रहे थे। उस समय उनको अवस्था ८० वर्ष के लगभग थी। विद्रोहियों का साथ देने के कारण अंगरेज़ों ने उन्हें रंगून भेज दिया। तब से देहली का राज्यासन सदा के लिए सूना हो गया। विद्रोह के अनन्तर देहली पञ्जाब में मिला दी गई; और वह एक साधारण नगर रह गई। उसका राजकीय ठाठ सब लोप हो गया। यह लिखने का स्थान इस छोटे से लेख में नहीं है कि विद्रोह के समय देहली में कौन कौन घटनायें हुईं और किस किस कारण से उसे क्या क्या हानियां सहन करनी पड़ीं। इस शुभ अवसर में उन दुःखदायिनी पुरानी बातों का स्मरण दिलाना भी अनुचित है। इसलिए देहली के दर्शनीय स्थानों का दिग्दर्शन कराना ही हम, यहां पर, उचित समझते हैं।

देहली में अनेक स्थान देखने योग्य हैं। उनमें से ये मुख्य हैं—

१ क़िला	५ समन बुर्ज और रङ्गमहल
२ नक़्क़ारख़ाना	६ मोती मसजिद
३ दीवाने-आम	७ जुमा मसजिद
४ दीवाने-ख़ास	८ चान्दनी चौक

देहली का क़िला लालपत्थर का बना है। वह यमुना के किनारे है। कहीं कहीं उसमें सङ्गमरमर भी लगा हुआ है। क़िले में जाने के लिए कई फाटक हैं; उनमें से लाहौरी दरवाज़ा, जो चान्दनी

चौक के सामने है, बहुत प्रसिद्ध है। लाहौरी दरवाज़ा और क़िले के बीच में अनेक अच्छी अच्छी इमारतें थीं। इन इमारतों में, बादशाही समय में, बाज़ार लगते थे और शाही कर्म्मचारी रहा करते थे। विद्रोह के समय ये सब गिरा दी गईं; परन्तु अभी जो कुछ शेष है, उससे उनके वैभव का बहुत कुछ अनुमान किया जा सकता है। लाहौरी दरवाज़े से निकल कर पूर्व की ओर थोड़ी दूर जाने से नक़्क़ारख़ाना मिलता है। बड़े बड़े अमीर और अधिकारी, बादशाही समय में, यहां तक अपने अपने हाथियों पर चढ़े हुए चले आते थे। यहां वे उतर पड़ते थे और शाही दरबार को पैदल जाते थे।

क़िले के भीतर प्रवेश करने पर दीवाने-आम, दीवाने-ख़ास और मोती मसजिद पर दृष्टि पड़ती है। दीवाने-आम बादशाही दरबार का स्थान है। यहां प्रायः सबको प्रवेश मिलता था। यह तीन ओर से खुला है। पीछे दीवार में एक ज़ीना है जो सिंहासन के स्थान तक चला गया है। वह स्थान पृथ्वी से १० फुट ऊंचा है। उसपर संगमरमर के चार खम्भों पर एक छत्र है। उसका काम बहुतही अच्छा है। सिंहासन के पीछे एक दरवाज़ा है जिससे बादशाह दरबार में आते थे। पीछे की दीवार बहुमूल्य पत्थरों से पची की हुई है। वहां नाना प्रकार के सुन्दर सुन्दर फल, फूल और पशु, पक्षियों के चित्र चित्रित हैं। वह काम आस्टिन डी बोरडक्स नामक फरासीसी कारीगर ने शाहजहां के समय में किया था।

दीवाने-आम से कोई १०० गज़ पूर्व की ओर आगे दीवाने-ख़ास है। यह बादशाह के बैठने की जगह थी। यहां मुख्य मुख्य अमीर उमरा और अधिकारियों के सिवाय और कोई नहीं जाने पाता था। यहीं राज्य के कार्यों की गूढ़ बातें अपने मन्त्रियों के साथ बैठ कर बादशाह करते थे। यह सङ्गमरमर का बना हुआ है। इसमें सुनहरा काम है। इसकी छत चांदी के पत्र से मढ़ी हुई थी, जिसे १७६० ईस्वी में मराठे निकाल ले गए। मध्य में पूर्व की ओर सङ्गमरमर का एक चबूतरा है जिसपर प्रसिद्ध मयूर-सिंहासन, तख़्ते-ताऊस रक्खा रहता था। इसे १७३९ ई० में नादिरशाह फारस को उठा ले गया। वहां वह अब तक तेहरान में विद्यमान है।

समनबुर्ज और रङ्गमहल, दीवाने-ख़ास के दक्षिण ओर हैं। यह बादशाह का अन्तःपुर था। इसमें जो काम किया हुआ है उसका वर्णन नहीं हो सकता। इसे देख सुन्दरता और शोभा स्वयं लज्जित होती है। पहले इन इमारतों के चारों ओर वाटिका थी और स्थान स्थान पर फौवारे लगे थे। उस समय इनकी जो शोभा और समृद्धि थी उसका शतांश भी नहीं रह गया है। तथापि जो कुछ बचा है उसको देख कर यह अनुमान किया जा सकता है कि उस समय, इनकी समता करने योग्य दूसरी इमारत शायद कहीं भी न रही होगी। अब यहां अङ्गरेज़ी सेना का निवास है।

मोती मसजिद भी वहीं पास है। उसे १६[illegible] में औरङ्गज़ेब ने बनवाया था और उसके बनाने में १,६०,००० रुपए लगे थे। वह भी सङ्गमरमर की है। उसकी भी शोभा और सुन्दरता देखनेही योग्य है।

जुमा मसजिद को यदि संसार भर की मसजिदों से अच्छी कहें तो कोई अत्युक्ति न होगी। वह २०१ फुट लम्बी और १२० फुट चौड़ी है। वह १६५८ ईसवी में बनी थी। ५००० कारीगर ६ वर्ष तक उसके बनाने में लगे रहे थे। उसके मीनार बहुत ऊंचे और बहुत ही मनोहर हैं। उनमें से दो की उँचाई कोई १३० फुट है। यहां हाथ के लिखे हुए कुरान की कई पुस्तकें देखने योग्य हैं। अली के हाथ का लिखा हुआ एक कुरान सातवीं शताब्दी का यहां है; और एक इमाम हुसेन के हाथ का भी है। कफ़्शे-मुबारक (महम्मद की जूती), कदमुल-मुबारक (महम्मद के पैरों का चिन्ह) और मूये-मुबारक (महम्मद का केश) भी यहां देखने की वस्तु हैं।

चान्दनी चौक देहली का मुख्य बाज़ार है। इसके दोनों ओर वृक्ष लगे हुए हैं। यहां देहली

के प्रसिद्ध प्रसिद्ध दूकानदार बैठते हैं। चौक के बीच में नार्थब्रुक नाम का फौवारा है। १७२१ ईसवी में रोशनुद्दौला ज़फ़र ख़ां की बनवाई हुई सोनहली मसजिद इसी फौवारे के पास है। यह मसजिद छोटी परन्तु सुन्दर है। इसी मसजिद में बैठ कर नादिरशाह ने देहली की नरहत्या का कौतुक देखा था।

काली मसजिद, घण्टाघर, जैन-मन्दिर, रानी-बाग़ इत्यादि और भी कितनेही स्थान देहली में देखने योग्य हैं।

देहली में ऐसे अनेक स्थल हैं जो १८५७ के विद्रोह का स्मरण दिलाते हैं। इनमें से शस्त्रागार, सेनृजेम्स् का गिरजाघर, काश्मीरी दरवाज़ा, कुदसियां बाग़, लिडलो कैसल, हिन्दूराव का मकान मुख्य हैं।

देहली के आस पास भी अनेक दर्शनीय स्थान हैं। अशोक का एक बहुत प्राचीन स्तम्भ है। वह पहले मेरठ में था। ईसा के ३०० वर्ष पहले वह बना था। १३५६ ईसवी में उसे फ़ीरोज़शाह बादशाह देहली में लाया। फीरोज़ाबाद में भी एक अशोक का स्तम्भ है। इन स्तम्भों पर १३१२, १३५९ और १५२४ ईसवी के कई छोटे छोटे शिला लेख हैं। फ़ीरोज़ाबाद के स्तम्भ (लाट) पर पाली भाषा में अशोक के समय का भी एक लेख है। इस लाट की उँचाई ४२ फ़ुट है। इसका व्यास १० फ़ुट १० इंच है।

क़ुतुबमीनार देहली के अजमेरी दरवाज़े से ११ मील है। वह उसी स्थान पर है जहां शायद प्राचीन देहली थी। उसीके पास पृथ्वीराज के क़िले के भी चिन्ह हैं। वह २४० फुट ६ इंच ऊंचा है। उसके नीचे का व्यास ४७ फुट है। वह ५ खण्डों में बना हुआ है। देहली में यह मीनार एक अनोखी ऐतिहासिक वस्तु है। उसीके पास क़ुतुबुल-इसलाम नाम की प्राचीन मसजिद है। इसे ११९१ ई० में कतुबुद्दीन ऐबक ने बनवाया था। इसके एक दरवाज़े पर अरबी में एक लेख खुदा है, जिसमें लिखा है कि २७ मन्दिरों को तोड़ कर उन्हींके ईंट पत्थर इत्यादि से यह मसजिद बनवाई गई थी।

इसी मसजिद के पास लोहे का एक प्राचीन स्तम्भ है। वह बिलकुल ठोस लोहे का है। उसका व्यास १६ इंच और उंचाई २३ फुट ८ इंच है। उस पर एक लेख संस्कृत में खुदा हुआ है। उसमें लिखा है कि वह राजा धव का यशोबाहु है। इस राजा ने सिन्धु नदी के पास रहनेवाली बाल्हीक जाति पर बड़ी विजय पाई थी। उसीके स्मरण में उसने यह स्तम्भ खड़ा किया था। वह ईसा की चौथी शताब्दी का बना हुआ जान पड़ता है। परन्तु किसी किसीका मत है कि राजा अनङ्गपाल ने इस स्तम्भ को बनवाया था। अनङ्गपाल का नाम इसी स्तम्भ में एक जगह खुदा भी है। अनङ्गपालवाले लेख की तारीख़ सम्वत् ११०९ अर्थात् १०५२ ईसवी है।

इन स्थलों और इन वस्तुओं के सिवाय और भी अनेक स्थल, देहली के इर्द गिर्द देखने योग्य हैं। इन्द्रप्रस्थ अर्थात् पुराना क़िला, निज़ामुद्दीन अवलिया की क़बर, हुमायूं की क़बर, सफ़दरजंग की क़बर, अलतमश की क़बर, हौज़ख़ास, जयसिंह का मानमन्दिर, तुग़लक़ाबाद और मेटकाफ़ हाउस इत्यादि देहली के प्राचीन वैभव का अभी तक साक्ष्य दे रहे हैं।

इसी ऐतिहासिक देहली में, इस महीने, एक वृहत् दरबार में, लार्ड कर्ज़न ने राजराजेश्वर का आदेशपत्र राजा, महाराजा और सर्वसाधारण को सुनाया। यह वही देहली है जहां आज २६ वर्ष के अनन्तर इस प्रकार का यह दूसरा समारम्भ हुआ। इस महान् जलसे के कारण इस देहली ने जो रूप रंग धारण किया था, उसका वर्णन, इस स्थल पर नहीं हो सकता। इस स्थल पर क्या, कहीं भी, उसका यथार्थ वर्णन किया जाना कठिन है। जो लोग दरबार देखने गए थे और जिन्होंने इस अश्रुतपूर्व समारम्भ की शाखा प्रशाखाओं

समेत समग्र दर्शनीय स्थलों का अवलोकन किया है वही उसकी भव्यता का अनुमान कर सकते हैं। ईश्वर को हम अन्तःकरण से धन्यवाद देते हैं जिसकी कृपा से यह माङ्गलिक अनुष्ठान कुशलपूर्वक समाप्त हुआ। इस सम्बन्ध में लार्ड कर्ज़न के भी प्रचण्ड उद्योग की प्रशंसा किए बिना नहीं रहा जाता। उन्हींके उत्साह, उन्हींके अध्यवसाय और उन्हींके बुद्धि-वैभव के कारण यह अद्भुत दरबार सफलता-पूर्वक समाप्ति को पहुंचा।

विनोद और आख्यायिका।

ब्रह्मणा तुलितौ लोके सिकन्दरपुरन्दरौ।
गुरुः सिकन्दरो भूमौ लघुरिन्द्रो दिवं गतः॥

ब्रह्मा ने सिकन्दर और पुरन्दर (इन्द्र) दोनों को तौला तो सिकन्दर भारी और पुरन्दर हलका निकला। इसीलिए सिकन्दर पृथ्वी पर रहा और पुरन्दर आकाश को चला गया!

✻

फ़्रांसदेश में फाण्टेन्यल नामक एक प्रसिद्ध विद्वान् हो गया है। एक बार उससे एक स्त्री ने पूछा कि घड़ी और स्त्री में क्या अन्तर है। ऐसा प्रश्न सुनकर उसने मुसुकाते हुए उत्तर दिया कि "घड़ी की ओर देखने से समय का ज्ञान होता है; और स्त्री की ओर देखने से समय का ज्ञान नहीं होता है, अर्थात् यह नहीं जान पड़ता कि कितना समय व्यतीत हो गया। यही दोनों में अन्तर है"!

✻

एक बार एक पण्डित ग्रीसके अपोलो नामक देवता के पास एक महाकाव्य के दोष निकाल कर ले गया और उन्हें उसको अर्पण किया। अपोलो बहुत प्रसन्न हुआ और उस पण्डित के परिश्रम के बदले में कुछ पुरस्कार देने की इच्छासे उसने उस के सामने धान का एक बोरा रख दिया और यह कहा कि भूसी को अलग और चावलों को अलग कर। जब वह पण्डित उसकी आज्ञा पालन कर चुका तब अपोलो ने उसके परिश्रम के बदले में केवल भूसी देकर उसे बिदा किया!

✻

ग्रीसदेश की राजधानी एथन्स में अनेक महाकवि हो गए हैं। एक बार एक कवि ने एक नया काव्य रचना करके एक सभा में उसे पढ़कर सुनाया। सुनने के पहिले वहां पर अनेक श्रोता इकट्ठे थे; परन्तु उस काव्य का 'श्रीगणेशाय नमः' कवि के मुख से निकलते ही एक उठा; दूसरा उठा; तीसरा उठा; इसी प्रकार सब लोग वहां से ऊब कर धीरे धीरे चले गए। अन्तमें ग्रीस का विख्यात विद्वान् प्लेटो केवल रह गया। उसे देखकर कवि ने किञ्चिन्मात्र भी क्रोध, खेद, अथवा निरुत्साह न प्रकट करके कहा "कोई चिन्ता नहीं; अकेला प्लेटो मेरे लिए हज़ार श्रोताओं से अधिक है"।

✻

एक बार एक चित्रकार किसी बड़े आदमी की चिट्ठी लेकर फ्रांस के राजा नपोलियन के पास गया। नपोलियन ने उस चित्रकार के मैले कुचैले कपड़े देख कर उसका बहुत ही कम आदर किया और उसे दूर बैठने को आसन दिया। परन्तु जब उसके साथ उसने बात चीत की तब उसे विदित हुआ कि वह बड़ाही गुणी पुरुष है; और चित्र खींचने की विद्या में उसकी बराबरी दूसरा नहीं कर सकता। अतएव जब वह चित्रकार चलने लगा तब नपोलियन ने स्वयं उठकर उससे हाथ मिलाया और द्वार तक उसे पहुंचाने गया। इस प्रकार का सत्कार देखकर चित्रकार को बड़ा आश्चर्य हुआ और उसने डरते डरते राजा से पूछा कि "जब मैं आया तब तो आपने मुझे अपने सम्मुख बैठने तक न दिया और जाते समय मुझे यहां तक आप पहुंचाने आए; इसका क्या कारण है?" नपोलियन ने उत्तर दिया कि "आते समय जो आदर किया जाता है वह मनुष्यों के कपड़े लत्ते देखकर किया जाता

है; परन्तु जाते समय जो आदर होता है वह उसके गुणों का विचार करके होता है"।

✲

एक मनुष्य की स्त्री गर्भवती थी। उसके सातही महीने में एक लड़का हुआ। जब उस लड़के के नाम रखने का समय आया तब उसके बाप से किसीने पूछा कि लड़के का नाम क्या रखना चाहिए। बाप ने उत्तर दिया कि "इसका नाम हम साँड़िनीसवार रक्खेंगे, क्योंकि नौ महीने चलकर और लोग जिस स्थान को पहुंचते हैं, उस स्थान को यह सातही महीने में पहुंच गया"!

मनोरञ्जक श्लोक।

पातु वो निकषग्रावा मतिहेम्नः सरस्वती।
प्राज्ञेतरपरिच्छेदं वचसैव करोति या ॥१॥

मतिरूपी सोना जिस सरस्वतीरूपी कसोटी पर कसा जाते ही केवल एकही बात में वह मूर्ख और विद्वान् का भेद बतला देती है उसको हमारा नमस्कार है।

इदमेव हि पाण्डित्यमियमेव विदग्धता।
अयमेव परो धर्म्मो यदायान्नाधिको व्ययः ॥२॥

जो प्राप्ति से अधिक व्यय नहीं होने देता वही पण्डित है; वही चतुर है; और वही धर्म्मात्मा भी है।

हालाहलं नैव विषं, विषं रमा;
जनाः परं व्यत्ययमत्र मन्वते।
निपीय जागर्ति सुखेन तं शिवः;
स्पृशन्निमां मुह्यति निद्रया हरिः ॥३॥

जो लोग हालाहल को विष कहते हैं वे भूलते हैं; हालाहल कदापि विष नहीं; विष यह लक्ष्मी है! देखिए हालाहल को पान करके भी शङ्कर जीते जागते हैं; परन्तु लक्ष्मी को केवल स्पर्शही करके विष्णु (क्षीरसागर में) मोह-निद्रा को प्राप्त हो जाते हैं।

स्वार्थं धनानि धनिकात्प्रतिगृह्णतो य-
दास्यं भजेन्मलिनतां किमिदं विचित्रम्।
गृह्णन् परार्थमपि वारिनिधेः पयोऽपि
मेघोऽयमेति सकलोऽपि च कालिमानम् ॥४॥

अपने लिए धनवानों से धन उधार लेने से यदि किसीका मुख मलिन होजावे तो कोई आश्चर्य्य की बात नहीं। देखिए, जिस समुद्र में रत्नों का अन्त नहीं उससे, और वस्तु जाने दीजिए, केवल जल, सो भी अपने लिए नहीं जगत् के लिए लेने-वाले मेघों का केवल मुखही नहीं किन्तु सारा शरीर मलिन क्या कोयले के समान काला हो जाता है!

यथा यथा ते सुयशोऽभिवर्द्धते
सितां त्रिलोकीमिव कर्तुमुद्यतम्।
तथा तथा मे हृदयं विदूयते
प्रियालकाली धवलत्वशङ्कया ॥५॥

एक कवि एक राजा के सुयश की प्रशंसा में कहता है—"इस त्रिलोकी को सफेद सी कर देने के लिए उद्यत हुआ आपका यह सुयश ज्यों ज्यों बढ़ता जाता है त्यों त्यों मेरा कलेजा अधिक अधिक कांपता है"। क्यों भाई, ऐसा क्यों? "क्यों क्या? मुझे डर लगता है कि कहीं मेरी प्रियतमा की अलकें न सफेद हो जावें! वे भी तो त्रिलोकी ही में हैं, उसके बाहर तो नहीं!!

साहित्य समाचार ।

कविता-कुटुम्ब पर विपत्ति ।
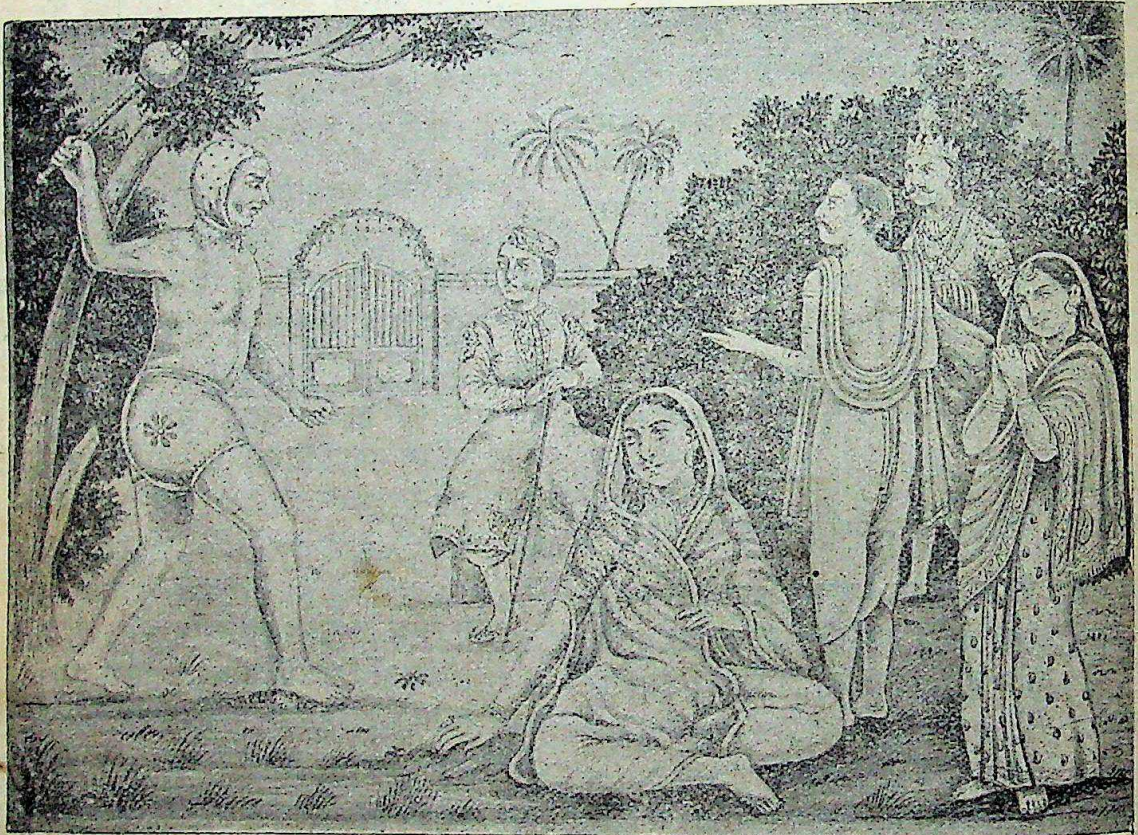
अनेक उपाधिधारी समस्यापूरक कवि । कविता-कुटुम्ब । व्यङ्ग अक्षर-मैत्री अर्थ अलङ्कार सरसता

हैं जो भयङ्कर गदा यह हस्त धारे ।
ताको चलाय मुख चूर करौं तिहारे !
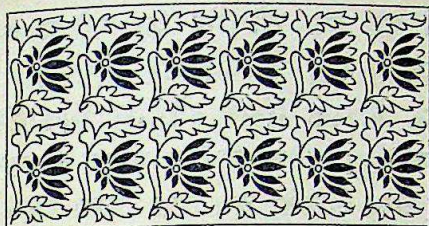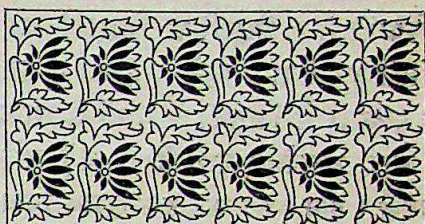
भाग ४] फरवरी—मार्च १९०३ [संख्या २-३

विविध विषय।

हिन्दी का ग्रहो भाग्य है जो बङ्गाली विद्वानों ने उसे लिखने के योग्य समझा। "दृष्टि-दान" नामक लेख, जो इस संख्या में छपा है, वह एक बङ्गाली सज्जन का लिखा हुआ है। लेख सरल, रोचक ग्रैार भाव-गर्भित है। खेद का विषय है कि इन प्रान्तों के विद्वान, जिनकी मातृ-भाषा हिन्दी है, इस ग्रोर ध्यान नहीं देते।

* *
*

विहारी की सतसई पर ग्रनेक टीका, टिप्पणी, कुण्डलिया ग्रैार छप्पय इत्यादि ग्राज तक हिन्दी में बनी हैं। ग्रभी तक बनती जाती हैं; बन्द नहीं हुई। संस्कृत में भी उसका ग्रनुवाद हुग्रा है। ग्रब सुनते हैं, उसका छन्दोबद्ध ग्रनुवाद उर्दू में हो रहा है। ग्वालियर से "कायस्थ-हितकारी" नामक एक पत्र उर्दू में निकलता है। इस पत्र से सम्बन्ध रखनेवाले एक महाशय इस ग्रनुवाद को कर रहे हैं। देखना चाहिए उनको कहां तक सफलता होती है। प्रयाग के "कायस्थ-समाचार" के सम्पादक को तो इस ग्रनुवाद की प्रशंसा के लिए यथोचित शब्द हीं नहीं मिले। वे कहते हैं कि इस ग्रनुवाद में जो उर्दू के शब्द रक्खे गए हैं वे हिन्दी शब्दों के ग्रर्थ के ठीक ठीक व्यञ्जक हैं। वे यह भी कहते हैं कि ग्रनुवाद ललित भी बहुत है; छन्दोरचना भी हृदयहारिणी है; मूल के ग्रलङ्कार ग्रैार भावार्थ भी यथावत् ग्रागए हैं। वे ग्रनुवादक को हिन्दी ग्रैार उर्दू, दोनों, का महान् पण्डित बतलाते हैं। परन्तु, स्मरण रहे कि, यह ग्रनुवाद ग्रभी समाप्त नहीं हुग्रा; बिना ग्रनुवाद देखे हम नहीं कह सकते "कायस्थ-समाचार" का कहना कहां तक सत्य है। उसने ग्रनुवादक महाशय का नाम तक नहीं बतलाया। शायद "कायस्थ-समाचार" को हिन्दी कविता ग्रैार विशेष करके विहारी की सतसई में बहुत कुछ विज्ञता है।

* *
*

पृथ्वी पहले तपाए हुए एक लोहे के गोले के समान थी ग्रैार क्रम क्रम से ठण्ढी होती गई है। उसके भीतर ग्रभी तक उष्णता भरी हुई है। यह उष्णता प्रति ५९ फुट पर १ ग्रंश बढ़ती है। इस

हिसाब से यदि कई मील तक नीचे पृथ्वी खोदी जावै तो १,००० अंश तक की उष्णता वहां पाई जा सकती है। वैज्ञानिक विद्वानों का मत है कि थोड़ेही दूर तक खोदने से भूगर्भ में इतनी उष्णता मिल सकती है जितनी से पानी में भाफ उत्पन्न हो सके और उसके द्वारा बड़े से बड़े एञ्जिन चलाए जा सकें। इस बात का, इस समय विचार हो रहा है कि किस प्रकार पृथ्वी की यह स्वाभाविक उष्णता काम में लाई जा सके। यदि इस उष्णता से भाफ उत्पन्न की जा सके तो कोयला और लकड़ी की आवश्यकता जाती रहै और उससे मनुष्यमात्र को अचिन्त्य लाभ हो। प्रोफ़ेसर हालक का मत है कि यदि ५० फुट के अन्तर पर १२,००० फुट गहरे दो कुवें पृथ्वी में खोदे जावें तो उनमें २४० अंश की उष्णता मिलैगी। यह उष्णता खौलते हुए पानी की उष्णता से भी अधिक होगी और उससे सहजही में भाफ बन सकैगी। खोदे जाने पर यदि इन कुवों के भीतर डाइनामाइट नामक बारूद भर कर उड़ाई जावै, तो सम्भव है कि भीतरही भीतर दोनों कुवों के बीच की पृथ्वी फट जावै और वहां बड़ी बड़ी दरारें हो जावें। इसके अनन्तर यदि एक कुवें में पानी भर दिया जावे और वह पानी उन दरारों से दूसरे कुवें में जाकर खौलै तो उसकी भाफ को ऊपर निकाल कर उससे एञ्जिन चलाने का काम लिया जा सके। इस विषय की अभी जांच हो रही है। सम्भव है किसी दिन इसमें सफलता प्राप्त हो और भूगर्भ की स्वाभाविक उष्णता से भाफ उत्पन्न करके विज्ञान-विशारद विद्वान् एञ्जिन चलाने लगें।

* *
*

विज्ञान की ऐसी आश्चर्यजनक उन्नति हो रही है कि किसी समय शायद मनुष्य अपने विज्ञान-बल से अजर और अमर हो जावै। पुराणों में अमृत का नाम सुनते आए हैं। अमेरिका के फ़ील्ड नामक डाकृर ने अमृत ही के समान गुणकारिणी एक ओषधि का पता लगाया है। डाकृर साहब कहते हैं कि यदि किसीका अङ्गभङ्ग न हो गया हो तो वे मृतक को जीवित कर सकते हैं। सुनते हैं मरे हुए पशुओं पर इस ओषधि का प्रयोग करके डाकृर साहब ने उन्हें जीवित कर दिया है। एक दूसरे डाकृर ने एक ऐसी ओषधि निकाली है जिसके लगाने से मृतक-शरीर पत्थर के सदृश हो जाता है और सैंकड़ों वर्ष तक रक्खा रहने पर भी सड़ता गलता नहीं। शायद है किसी समय कोई ओषधि ऐसी भी निकले जिसके सेवन से मनुष्य सर्वदा तरुण ही बना रहै; कभी वृद्ध न हो। यदि इस ओषधि का भी पता लग जावे तो अजर और अमर होकर चिरकाल मनुष्य इस संसार-सागर में डूबता उतराता रहै। जब मनुष्य के जीवन का एक क्षण भर भी ठिकाना नहीं तब तो इतने अनर्थ होते हैं; अजरत्व और अमरत्व मिलने पर तो इस भूलोक में बड़ेही भयङ्कर अभिनय दिखलाई देंगे!

* *
*

दयानन्द ऐङ्गलो-वैदिक कालेज की रिपोर्ट हमारे पास समालोचना के लिए आई है। यह रिपोर्ट १९०१-१९०२ ई० सम्बन्धी है। इस कालेज के तीन विभाग हैं। कालेज विभाग, स्कूल विभाग और वह विभाग जिसमें कलाकौशल इत्यादि विषय की शिक्षा दी जाती है। विद्यार्थियों के रहने के लिए इस कालेज का एक 'बोर्डिंग हाउस' (निवासालय) भी है। इसमें बी० ए० तक शिक्षा दी जाती है। परीक्षाओं का फल बहुतही सन्तोषजनक होता है। इसके विद्यार्थी परीक्षाओं में उत्तीर्ण होकर पञ्जाब के उत्तीर्ण विद्यार्थियों की नामावली में प्रायः ऊंचा स्थान पाते हैं। इस कालेज में एञ्जीनियरी और दरज़ी इत्यादि का भी काम सिखलाया जाता है। सबसे उत्तम बात यह है कि इस कालेज के सिक्ख और हिन्दू विद्यार्थियों को हिन्दी अवश्य पढ़नी पड़ती है। १९०१-०२ में ३४६ लड़के हिन्दी पढ़ते थे। इसमें संस्कृत की भी शिक्षा दी जाती है और इस भाषा के पढ़नेवाले विद्यार्थी

परीक्षाओं में प्रायः सदैव उत्तीर्ण होते आए हैं। उपनिषद्, वेदान्त, दर्शन, वेद-पाठ और सन्ध्या आदिक विषय भी सिखलाए जाते हैं। इस प्रकार की शिक्षा देने में, आशा है, कालेज के अधिकारी शिक्षित विषयों का अर्थ भी लड़कों को समझाते होंगे, क्योंकि ऐसा न करने से शुकवत् वेद की ऋचाओं का कण्ठस्थ करना तादृश उपयोगी न होगा। इस वर्ष इस कालेज में रु० ४५,६००-८-२ व्यय हुआ और वर्ष के अन्त में रु० ३,९६,४१०-६-६ कोश में शेष रहा। इससे कालेज की धन-सम्बन्धी दशा भी अच्छी जान पड़ती है। यह कालेज, इसके स्थापक और सञ्चालकों के उद्योग और उत्साह का जाज्वल्यमान् प्रमाण है। जब तक ऐसे कालेज इस देश के प्रत्येक प्रान्त में बहुतायत से न खुलेंगे तब तक सर्व-साधारण के लिए उपयोगी शिक्षा का मिलना कदापि सुलभ न होगा।

* * *

मराठी में एक छोटीसी मासिक पुस्तक निकलती है। उसका नाम "बालबोध" है। उसके लेखों पर प्रसन्न हो कर, कुछ समय हुआ, महाराजा गायकवाड़ ने १००० रुपए पुरस्कार में दिये। गायकवाड़ की गुणग्राहकता और विद्याभिरुचि प्रशंसनीय है। पूर्व और दक्षिण में सुलेखकों को बहुत उत्साह दिया जाता है; इसीलिए महाराष्ट्र और बंगला भाषायें इतनी उन्नत दशा को पहुंची हैं। हमारी ओर हिन्दी की हीनदशा का सबसे बड़ा कारण राजा, महाराजा और धनसम्पन्न पुरुषों की अनभिरुचि है। किसी पत्र अथवा पुस्तक के लिए सहायता देना, किम्वा, किसी प्रकार, उसके कर्त्ता को उत्साहित करना तो दूर की बात है; उसकी एक प्रति मोल लेने तक की उदारता ये सज्जन नहीं दिखलाते। और यदि किसीने बड़ी कृपा करके दिखलाया भी तो उनके मंगाए हुए पत्र अथवा पुस्तक का पैकेट बिना खोलेही रह जाता है! फिर, किस प्रकार, सम्भव है कि ये लोग अधिक ज्ञान-सम्पन्न हों; किस प्रकार, स्वदेशभाषा की उन्नति हो; और किस प्रकार, उसके द्वारा स्वदेश का कल्याण हो? इधर इनका यह हाल; उधर अङ्गरेज़ी-विद्या के विशारदों का इससे भी बुरा। वे हिन्दी को कोई भाषा ही नहीं समझते। हिन्दी की पुस्तक हाथ में लेना उनको कलङ्क सा प्रतीत होता है। उनको यह समझना चाहिए कि हिन्दी में जो न्यूनतायें उनको देख पड़ती हैं उनका स्वयम् वे ही कारण हैं। यदि वे उसका आदर करें तो वह शीघ्रही उन्नत हो जावै। हिन्दी हमारी मातृ-भाषा है। विद्वान्, मातृ-भाषा को वैसाही पूज्य समझते हैं जैसा माता को समझना चाहिए। अतएव मातृभाषा का निरादर करना इस प्रान्त के निवासियों के लिए लज्जा का विषय है; हिन्दी के लिए शोक का विषय है; और देश के लिए दुर्भाग्य का विषय है!

* * *

शायद यह बात सबको न विदित होगी कि कलकत्ते का विश्वविद्यालय, संसार में, सबसे बड़ा है। उसमें, प्रतिवर्ष, दस हज़ार से भी अधिक विद्यार्थी परीक्षा देते हैं!

* * *

हमारे देश के कोशकारों ने पृथ्वी का नाम रत्नगर्भा और वसुन्धरा भी रक्खा है। ये नाम यथार्थ हैं; क्योंकि पृथ्वी के गर्भ में अनेक रत्न और अनेक प्रकार के मूल्यवान पदार्थ भरे हुए हैं। सुनते हैं, बृटिश कोलम्बिया में, एक ऐसी वस्तु का पता लगा है जो साबुन का काम देती है। यह खानि से निकलती है; और आज तक हज़ारों मन निकल भी चुकी है। साबुन का काम इससे भली प्रकार निकल सकता है। जान पड़ता है, कुछ दिनों में इसका प्रचार बहुतायत से होगा; क्योंकि इसके निकालने में व्यय कम पड़ता है। इसका प्रचार होने से साबुन के कारखानों को हानि पहुंचने का डर है; कोई कोई बन्द भी हो जावें तो आश्चर्य्य नहीं; क्योंकि यह खनिज वस्तु साबुन से सस्ती बिकती है।

* * *

जैसे जैसे विद्वान् लोग खनिज ग्रैार उद्भिद् पदार्थों की खोज करते हैं वैसे ही वैसे उनको ग्रद्भुत ग्रद्भुत धातु, ग्रोषधि ग्रैार वृक्ष इत्यादि का पता लगता है। कुछ दिन हुए ब्रेज़ील के जंगलें में एक ऐसा वृक्ष मिला है कि जिससे दूध निकलता है। इस वृक्ष का दूध गाय का सा होता है; इसीलिए इसका नाम 'गो-वृक्ष' रक्खा गया है। यह दूध पेड़ में नश्तर देकर गोंद के समान निकाला जाता है। वह पानी में मिल जाता है; चाय में डालने से नहीं जमता; ग्रैार उससे पनीर भी बनाया जा सकता है।

*
* *

तीस चालीस वर्ष के परिश्रम ग्रैार लग भग १,५००,००० रुपये व्यय करने पर वैज्ञानिकों को पृथ्वी के परिमाण का ग्रब ठीक ठीक पता लग गया है। उन्होंने ग्रब यह निश्चित रीति पर सिद्ध कर दिया है कि विषुववृत्त के मध्य से पृथ्वी का व्यास ७,९२६ मील है; ग्रैार दोनों ध्रुवों के बीच उसकी उंचाई ७,८९९ मील है। इससे यह प्रमाणित है कि पृथ्वी उत्तरी ग्रैार दक्षिणी ध्रुव में कुछ चिपटी है। ध्रुवों में पृथ्वी का चिपटा होना बहुत दिनों से विद्वानों को ज्ञात था; परन्तु पृथ्वी की ठीक ठीक माप हो जाने से वह विषय ग्रब सन्देह-रहित हो गया।

*
* *

संसार में सबसे बड़ी घड़ी ग्रमेरिका के फिलाडेलफिया नगर में है। वहां वह एक मीनार के ऊपर लगी है। पृथ्वी से वह ३५१ फुट ऊंचाई पर है। उसमें जो घण्टा लगा है यह २५० मन का है। जिसपर काँटे लगे रहते हैं उस तख़्ते का व्यास २५ फुट है। मिनिट का काँटा १२ फुट ग्रैार घण्टे का ९ फुट लम्बा है। उसके ग्रङ्कों के बीच २ फुट ८ इञ्च का ग्रन्तर है। इस प्रचण्ड घड़ी को मनुष्य नहीं कूक सकता; उसके कूकने के लिए तीन घोड़ों की शक्ति रखनेवाला एक यञ्जिन है!

महात्मा रामकृष्ण परमहंस।

भवो हि लोकाभ्युदयाय तादृशाम्*—कालिदास।

पुत्र-कलत्र ग्रादि बेड़ियों को तोड़ना; विषय-वासना से छुटकारा पाना; मृत्तिका ग्रैार स्वर्ण में ग्रभेद मानना; ग्रैार ईर्षा-द्वेष-रहित होकर प्राणिमात्र के कल्याण की ग्राकांक्षा रखना महा कठिन काम है। कठिन क्या, ग्राज कल प्रायः ग्रसम्भव है। सांसारिक बन्धनों को तोड़ने के लिए केवल एकही राम-बाण उपाय है। उस उपाय का नाम विराग है। परन्तु विरागता-रूपी खड्ग का स्मरण होतेही मनुष्यों के होश जाते रहते हैं; उसकी ग्रोर देखने तक का साहस किसीको नहीं होता। परन्तु, कोयलेही से हीरा निकलता है; सीपही के भीतर मोती पाया जाता है। विरक्त पुरुष भी इन्हीं प्रापञ्चिक ग्रैार विषय-लोलुप मनुष्यों के समुदायही में कभी कभी उत्पन्न होते हैं ग्रैार ग्रपने सदुपदेश द्वारा ग्रनन्त जीवों का उद्धार करते हैं। जितने प्राणी हैं सबमें परमात्मा का ग्रंश-जीव विद्यमान है। ग्रर्थात् यदि यह कहें कि सारे जीवधारी ईश्वरही की ग्रात्मा हैं तो भी ग्रत्युक्ति न होगी। इस बात का ज्ञान परिमित बुद्धिवाले साधारण जनों को बहुत कम होता है; परन्तु महात्मा लोग ग्रपने को ग्रात्मस्वरूपही समझते हैं। वे बहुधा विदेह ग्रवस्था में रहते हैं; उनको ग्रपने देह का किञ्चिन्मात्र भी ज्ञान नहीं रहता। ऐसे पुरुषों में ईश्वरांश की मात्रा साधारण जनों की ग्रपेक्षा बहुत ग्रधिक रहती है। उनको ईश्वर का ग्रवतारही कहना चाहिये। श्रीकृष्ण ने कहा है—

> यदा यदा हि धर्म्मस्य ग्लानिर्भवति भारत!
> अभ्युत्थानमधर्म्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम् ॥७॥
> परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।
> धर्म्मसंस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे ॥८॥
>
> भगवद्गीता, ४ ग्रध्याय।

* ऐसे ऐसे महात्माओं का जन्म सांसारिक जीवों के ग्रभ्युदय के लिए होता है।

अर्थात्—हे अर्जुन ! जब धर्म्म घटता है और अधर्म्म वृद्धि को प्राप्त होता है, तभी मैं जगत् में अवतार लेता हूं। सत्पुरुषों की रक्षा के लिए, असत्पुरुषों को दण्ड देने के लिए, और धर्म्म की स्थापना करने के लिए मैं युग युग में उत्पन्न हुआ करता हूं। अतएव जितने महान् पुरुष हो गए हैं उनको यदि हम ईश्वरीय अवतार मानें तो कोई इसमें अयथार्थता दोष नहीं आसकता; क्योंकि ईश्वरांश की अधिकता के बिना अलौकिक काम कदापि नहीं हो सकते। मनुष्यों में ऐसे कितने हैं जो 'वसुधैव कुटुम्बकम्' की भावना करके तदनुकूल व्यवहार करते हों ? मुख से कह कर, अथवा अखबार के सिर पर लिख कर, सबेरे से सायङ्काल तक अपनेही पापी पेट के निमित्त नानाप्रकार के उचित अनुचित काम करते हुए, जीवन को कृतार्थ मानना 'वसुधैव कुटुम्बकम्' नहीं कहलाता। जो पुरुष यथार्थरूप से मनुष्यमात्र को अपना कुटुम्ब मानता है, और 'करतल-भिक्षा तरुतल-वास' करके सब की मङ्गल-कामना करते हुए स्वयं विषयों में लिप्त नहीं होता, वही महात्मा है। वही ईश्वरावतार है। वहीं जगदुद्धारक धर्म्मात्मा और ज्ञानी है। ऐसे महात्मा धर्म्मोपदेश ही को अपना कर्तव्य समझते हैं; विरागही को अपना सुहृद् अथवा सहचर समझते हैं; शान्ति ही को अपनी धर्म्मपत्नी समझते हैं; उपकारही को अपना व्रत समझते हैं; और मनोनिग्रह ही को अपना सर्वस्व समझते हैं। आज, हम, सरस्वती के वाचकों के सम्मुख एक ऐसे महात्मा का चरित सादर प्रस्तुत करते हैं जिसमें पूर्वोक्त गुण पूरे प्रकार से वास करते थे। यह वह महात्मा है जिसके पीयूष-पूरित उपदेशों को सुन कर अन्य-धर्म्मावलम्बी भी मुग्ध हो गए। यह वह महात्मा है जिसके चरित को विस्तार-पूर्वक लिखकर विदेशीय विद्वान मोक्षमूलर ने भी अपने को धन्य समझा। यह वह महात्मा है जिसके शिष्य स्वामी विवेकानन्द ने योरप और अमेरिका तक के विद्वानों को भारत-वर्षीय वेदान्त-शास्त्र की महिमा सुनाकर मोहित कर लिया। स्वामी विवेकानन्द का संक्षिप्त चरित सरस्वती की किसी संख्या में प्रकाशित हो चुका है। जिन्होंने उसे पढ़ा है, वे अनुमान कर सकेंगे कि विवेकानन्द के सदृश जगद्विख्यात उपदेशक के उपदेशक का चरित कितना बोधप्रद, कितना उन्नत और कितना मनोरम होगा। इस महात्मा का नाम परमहंस रामकृष्ण है।

वङ्गदेश के हुगली ज़िले में जहानाबाद के १० मील पूर्व, वर्धमान के ३२ मील दक्षिण, घाटाल के १६ मील उत्तर और तारकेश्वर के २४ मील पश्चिम कामारपुकुर नामक एक ग्राम है। उसी ग्राम में परमहंस जी का जन्म १८३३ ईसवी के फरवरी महीने की २० तारीख़ को ३ बजे पराह्ण में हुआ। उनके पिता का नाम खुदिराम चट्टोपाध्याय और माता का चन्द्रमणी देवी था। खुदिराम सात्विक और विद्वान् ब्राह्मण थे। वे पहले डिरे नामक ग्राम में रहते थे; परन्तु उस ग्राम के अधिकारी ने एक बार उनको अपने पक्ष में साक्ष्य देने के लिए बहुत तंग किया। यह बात उनको अच्छी नहीं लगी; इस लिए उन्होंने वह ग्रामही छोड़ दिया और कामारपुकुर में आकर रहने लगे। वहां उनको किसीने थोड़ी सी भूमि दी। उस भूमि में जो कुछ उत्पन्न होता था उसीसे वे अपना जीवन-निर्वाह करते थे। वे और उनकी धर्म-पत्नी दोनों दयाशील और अतिथिसत्कारक थे। इतनी थोड़ी प्राप्ति पर भी वे द्वार पर आए हुए अतिथि अथवा भिक्षुक को विमुख नहीं लौटने देते थे। खुदिराम के तीन पुत्र हुए और एक पुत्री। उनमें से रामकृष्ण सबसे छोटे थे।

रामकृष्ण के गाँव के पासही से जगन्नाथपुरी का मार्ग था। उस गाँव में एक धर्मशाला थी। वहां यात्री लोग आकर रहा करते थे। उस धर्मशाला में रामकृष्ण बहुधा आया जाया करते थे। यात्रियों से वे देवताओं की, भक्तों की और महात्माओं की बातें सुनते थे। वे लड़कपन ही से बड़े मधुरभाषी और चतुर थे। जिसके साथ एक बार वे बात चीत करते थे उसकी यही इच्छा रहती थी कि वह फिर

फिर उनसे वार्तालाप करें। राम अथवा कृष्ण की लीला जहां कहीं होती थी वहां वे अवश्य जाते थे, और घर आकर अपने सम-वयस्क लड़कों के साथ वही लीला करते थे। कोई भी पद यदि एक बार वे सुन लेते थे तो वह फिर उन्हें कभी न भूलता था। एक बार गांव के एक प्रतिष्ठित मनुष्य के घर में कई पण्डित एकत्र होकर किसी धार्मिक प्रश्न पर विचार कर रहे थे; परन्तु उनमें से कोई भी उसका ठीक ठीक समाधान नहीं कर सकता था। दैवयोग से उस समय रामकृष्ण वहां पहुंच गए और पहुंचते ही उन्होंने उस प्रश्न का ठीक ठीक उत्तर दे दिया। उस समय उनकी अवस्था केवल बारह वर्ष की थी। उनके इस चातुर्य और इस धर्मज्ञान को देख कर, जितने लोग वहां एकत्र थे, सबको बड़ा आश्चर्य हुआ।

रामकृष्ण ने चित्र लिखने और मूर्ति बनाने का भी अभ्यास बाल्य-काल ही से किया था। दक्षिणेश्वर के मन्दिर में उनकी बनाई हुई मूर्तियां अब तक विद्यमान हैं। वे मूर्ति भी बहुत अच्छी बनाते थे और चित्र भी बहुत मनोहर खींचते थे। मूर्त्तियों के गुण-दोष का विचार जिस समय उपस्थित होता था, उस समय, रामकृष्ण अवश्य बुलाये जाते थे।

रामकृष्ण के भाई का नाम रामकुमार था। वे विद्वान् थे। कई शास्त्रों में उनकी गति थी। उन्हों ने कलकत्ते में एक पाठशाला खोल रक्खी थी। रामकृष्ण का जब यज्ञोपवीत हो गया तब उनके पिता ने उन्हें उसी पाठशाला में पढ़ने के लिए भेज दिया। वहां वे बहुत ही थोड़े दिन तक रहे। पढ़ना लिखना व्यर्थ समझ कर उन्होंने वह पाठशाला शीघ्रही छोड़ दी। जिस विद्या से केवल चार पैसे दक्षिणा अथवा आधसेर चून के सिवाय और कुछ मिलने की आशा नहीं, वह विद्या भला क्यों उन्हें अच्छी लगती। विरक्तता का अंकुर उनके हृदय में बाल्यावस्था ही से उगा था। वह अब धीरे धीरे बढ़ने लगा।

उस समय, रानी रासमणी ने, कलकत्ते से ... मील उत्तर की ओर दक्षिणेश्वर में, गंगा के तटपर, काली का एक मन्दिर बनवाया। ये रानी साहब जाति की शूद्र थीं। उनके शूद्र होने के कारण, उनकी स्थापित की हुई काली की पूजा, उनके नाम पर करने के लिए, कोई ब्राह्मण नहीं मिलता था। इस लिए रानी ने मन्दिर का सारा काम ब्राह्मणों ही से कराना उचित समझा। उन्होंने रामकृष्ण के बड़े भाई रामकुमार को मन्दिर का अधिष्ठाता नियत किया और उन्हीं के द्वारा काली की पूजा होने लगी। जिस दिन उस मन्दिर की प्रतिष्ठा हुई, उस दिन सैकड़ों विद्वान् वहां इकट्ठा हुए। पहिले रामकृष्ण को जातिभेद का बड़ा विचार था। शूद्रों का स्पर्श अथवा उनका अन्न ग्रहण करना वे बहुत ही बुरा समझते थे। इसलिए उन्होंने उन एकत्रित विद्वानों से, बड़े आवेश में आकर, वाद-विवाद किया; और यह सिद्ध करना चाहा कि उस मन्दिर में पूजा करना अथवा वहां उस अवसर पर कुछ खाना पीना ब्राह्मणों के लिए धर्मसम्मत नहीं। अन्त में कई हज़ार ब्राह्मणों ने वहां भोजन किया; परन्तु अकेले रामकृष्ण ही बिना अन्न-स्पर्श किए हुए कलकत्ते को लौट गए।

रामकुमार बहुत दिन तक काली की पूजा करते रहे। एक बार वे बीमार हुए; इसलिए उन्होंने रामकृष्ण से पूजा करने के लिए कहा। उनकी चित्त-वृत्ति में प्रतिदिन परिवर्त्तन हो जाता था, इसलिए उन्होंने पूजा करना तो स्वीकार किया, परन्तु अन्नग्रहण करना नहीं स्वीकार किया। गङ्गा के तट पर अपने हाथ से भोजन बनाकर उन्होंने जीवन-निर्वाह करना निर्धारित किया। रामकृष्ण काली के पुजारी तो हुए; परन्तु उनकी पूजा रामकुमार अथवा दूसरे पुजारियों की पूजा से बहुतही विलक्षण थी। जैसे जैसे भक्ति की मात्रा उनमें बढ़ती गई, वैसेही वैसे उनकी पूजा का प्रकार भी विलक्षणता को धारण करता गया। काली की षोडशोपचार पूजा कर

नैवेद्य लगाते समय, कभी वे उसे प्रत्यक्ष होकर नैवेद्य पाने के लिए प्रार्थना करते; और उसे न आते देख घण्टों रोया करते। कभी वे उसकी स्तुति करते रहते; और अनेक प्रकार के कारुणिक सम्बोधनों के द्वारा उसे बुलाते। कभी काली को निकट आया जान उसकी प्रार्थना करते; और कभी उसके लोप हो जाने की भावना करके रोते और विलाप करते। रामकृष्ण की ऐसी दशा देख लोगों को यह संशय हुआ कि वे पागल होगए हैं। इससे उनके माता पिता को बहुत खेद हुआ। रामकृष्ण को तरुण देख उन्होंने उनका विवाह कर देना चाहा, कि शायद गृहस्थाश्रम में प्रवेश करने से उनकी चित्त-वृत्ति स्थिर हो जावे। इसलिए उनके पिता खुदिराम ने दक्षिणेश्वर से उन्हें घर बुला लिया। वहां वे उनके विवाह की बातचीत करने लगे। जब यह बात रामकृष्ण ने सुनी, तब उन्होंने सङ्कोच छोड़ कर अपने पिता से कहा कि अमुक ग्राम में रामचन्द्र मुखोपाध्याय के एक कन्या है। उसी कन्या के साथ मेरा विवाह होने की योजना ब्रह्मा ने की है। इसलिए उसीको आप ढूंढ़िये। खुदिराम ने जो ढूंढ़ा तो रामचन्द्र मुखोपाध्याय का पता लग गया; और उसके रामकृष्ण की बताई हुई कन्या भी निकली। इस कन्या का नाम शारदा देवी था। उस समय उसका वय केवल पाँच वर्ष का था। उसीके साथ रामकृष्ण का विवाह हुआ।

विवाह हो जाने के अनन्तर रामकृष्ण के माता पिता ने यह समझा कि उनका पागलपन जाता रहा; इसलिए उन्होंने फिर उन्हें काली की पूजा करने के लिए दक्षिणेश्वर भेज दिया। परन्तु उनकी भक्ति, जिसे लोग पागलपन समझते थे, पहले से अधिक बढ़गई। अब वे और भी अधिक रोने लगे; और भी अधिक चिन्ता करने लगे; और भी अधिक दर्शन के लिए देवी से हठ करने लगे। कभी वे काली की स्तुति करते; कभी उसका उपालम्भ करते; कभी उसके पैरों पर अपने सिर को रखदेते; और कभी उसके वस्त्रालङ्कार स्वयम् पहिन लेते और अपनी ही पूजा करने लग जाते! अपने देह की उन्हें सुध तक न रहती। दो दो चार चार घण्टे तक समाधि सी लगा कर कभी कभी वे चुपचाप बैठे रह जाते। रानी रासमणी के दामाद, बाबू मथुरादास ने, जब रामकृष्ण की यह दशा देखी, तब काली की यथोचित पूजा होना असम्भव जान, उस काम को करने के लिए उन्होंने एक दूसरे ब्राह्मण को नियत किया; और रामकृष्ण को उस दिन से छुटकारा मिला।

दक्षिणेश्वर के निकट पेड़ों का एक कुञ्ज है। उसका नाम पञ्चवटी है। वहां एक बेल का वृक्ष है। उसी बेल की जड़ पर आसन लगा कर रामकृष्ण ने साधना आरम्भ की। वहां तपश्चर्या करते करते काली की भक्ति का आवेग उनमें प्रति दिन और भी अधिक बढ़ने लगा। दर्शन देने के लिए क्रम क्रम से वे हठ करने लगे। अन्त में उन्होंने देवी से कहा कि "यदि तू अब मुझे दर्शन न देगी तो मैं तेरे ऊपर प्राण देदूंगा"! जब रामकृष्ण की भक्ति इस अवस्था को पहुंची तब, सुनते हैं, उन्हें काली के दर्शन होने लगे। परन्तु दर्शन पाकर उन्हें भ्रम होने लगा। उन्हें यह शङ्का होने लगी, कि कहीं अपने ही मन के विकार-वश उन्हें काली की मूर्त्ति न दिखलाई पड़ने लगी हो। इसलिए बारम्बार प्रार्थना-पूर्वक वे बड़े प्रेमसे देवी से कहने लगे कि यदि तू सत्य सत्य ही दर्शन देती है, तो मेरे समाधान के लिए, उसकी सत्यता के प्रमाण तुझे देने चाहिए। यदि तूने मेरी प्रार्थना स्वीकार की है, तो परीक्षा के प्रकार पर, रानी रासमणी के कुटुम्ब की अमुक अमुक कन्या, जिसे कभी किसीने नहीं देखा, इसी बेल के नीचे मेरे सम्मुख आवै और मुझसे बातचीत करे। इस प्रकार की भी अघटित घटनाएं होने लगीं। जब रामकृष्ण को यह विदित होगया, कि काली उनकी भक्ति पर प्रसन्न होकर उनकी प्रार्थनाओं को स्वीकार करने लगी है, तब वे और बातों के लिए भी विनय करने लगे। उन्होंने आत्मज्ञान होने के

लिए देवी से बारम्बार हठ किया। इस प्रकार की प्रार्थना को सुनकर, कहते हैं, काली ने उन्हें यह सूचना दी, कि अहङ्कार के गए बिना आत्मज्ञान होना दुर्लभ है। उसकी प्राप्ति के लिए अहंता का समूल नाश होना चाहिए; मृत्तिका और सुवर्ण का भेद जाना चाहिए; उच्च और नीच का अन्तर नाश होना चाहिए। इस प्रकार काली का उपदेश पाकर उसके आज्ञानुसार अहंता को नाश करने के लिए वे बड़े श्रम से प्रयत्न करने लगे। उनका ध्यान और उनकी धारणा तथा समाधि दिन दिन बढ़ने लगी; भोजन तक भी उन्होंने अच्छी भाँति करना छोड़ दिया। कभी वे कुछ खाते और कभी खाते ही नहीं।

जैसे जैसे अहंता नाश करने का रामकृष्ण प्रयत्न करने लगे, वैसे ही वैसे उनके शरीर में दाह होने लगा। आत्मज्ञान प्राप्त करने की चिन्ता और सांसारिक विषयों से विराग का अभ्यास करते करते उनको एक प्रकार का ज्वर सा आने लगा। इस अन्तर्दाह से पीड़ित होकर वे कभी कभी गङ्गा के भीतर गले तक डूब कर बैठने लगे। परन्तु इससे भी उन्हें कुछ लाभ न हुआ। दाह प्रतिदिन बढ़ता ही गया। उनकी निद्रा भी जाती रही। अनेक प्रयत्न करने पर भी पलक न लगती थी। दिन रात बराबर वे चिन्तित दशा ही में बिताते थे। इस चिन्तना और इस निद्रानाश ने उन्हें अत्यन्त दुर्बल कर दिया। जब रामकृष्ण इस अवस्था को प्राप्त थे, तब वहां एक विदुषी परन्तु विरक्त स्त्री आई। महाभारत और भागवत इत्यादिकों का बहुत भाग उसे कण्ठस्थ था। वह योग-शास्त्र में भी निपुण थी। रामकृष्ण को देख कर उसने लोगों से कहा कि ये पागल नहीं हैं; ये बड़े महात्मा और ईश्वर के परम भक्त हैं। इनके अन्तर्दाह को दूर करने के लिए मैं शीघ्रही उपचार करती हूं; और मुझे आशा है कि मेरे उपचारों से इनको अवश्य लाभ होगा। उसने यह भी कहा कि अन्तर्ज्ञान होने के पहले महात्माओं की बहुधा यही दशा होती है। तदनन्तर मनोहर फूलों की माला रामकृष्ण को पहना कर उनके सर्वाङ्ग में चन्दन का लेप लगवाने लगी। इस व्यवस्था से दो ही तीन दि[न] में रामकृष्ण का कष्ट बहुत कुछ दूर हो गया; और थोड़ेही दिनों में अन्तर्दाह की सारी बाधा जा[ती] रही। उस स्त्री का असामान्य प्रेम अपने ऊ[पर] देख कर रामकृष्ण उसे देवी समझने और उस[का] बड़ा आदर करने लगे। उस समय मनुष्यमा[त्र] से उनको विराग हो रहा था; किसी पर उन[की] भक्ति न थी। परन्तु इस स्त्री को वे बड़े आदर [की] दृष्टि से देखने लगे। उसने भी बड़ी प्रीति से राम[कृष्ण] को योगाभ्यास का उपदेश दिया और क्रम क्रम से ध्यान, धारणा, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार और समाधि इत्यादि, योग के सब अङ्गों को, उस[ने] उन्हें शास्त्रानुकूल सिखलाया। जब रामकृष्ण [का] शारीरिक ताप समूल जाता रहा, और योग में वे प्रवीण होगए, तब वह स्त्री रामेश्वर की या[त्रा] करने का निमित्त बतला कर दक्षिणेश्वर से क[हीं] चली गई। यह किसीने नहीं जाना कि वह कौ[न] थी और कहां से आई थी। लोगों का अनुमान [है] कि देवीही ने उस रूप में आकर उनको नी[रोग] किया और योग-शास्त्र की दीक्षा दी। तथास्तु।

जिस समय रामकृष्ण दक्षिणेश्वर में, इस प्रका[र] साधना में निमग्न थे, उसी समय तोतापुरी नाम[क] एक महायोगी दक्षिणेश्वर में आया। यह यो[ग में] पहुंचा हुआ साधु था। वह सब वासनाओं [से] विरक्त था। किसी बात की उसे कामना न थी। वह किसीसे कुछ याचना न करता था। एक स[्थान] में वह दो तीन दिन से अधिक न रहता था। जो कुछ मिल जाता था वही खा कर कहीं [भी] खुले में, पेड़ के नीचे अथवा किसी मन्दिर [में] वह पड़ रहता था। उसने रामकृष्ण को देख[कर] जान लिया कि वे भी, उसीके समान, एक वि[रक्त] और योग-प्रिय थे। रामकृष्ण, उस समय तक, [योग] में बहुत कुछ कुशल तो हो गए थे; परन्तु निर्विक[ल्प] समाधि नामक योगियों की जो सर्वोच्चसिद्धि

वह उन्हें नहीं सधी थी। तोतापुरी ने उसे भी उन्हें सिद्ध कराना चाहा और दोही तीन दिन में वह समाधि भी रामकृष्ण को सिद्ध हो गई। यह देख कर तोतापुरी को महाआश्चर्य हुआ। उसे इस निर्विकल्प समाधि को सिद्ध करने में बड़े बड़े कष्ट सहन करने पड़े थे और कोई तीस चालीस वर्ष की सतत साधना से वह उसे प्राप्त हुई थी। परन्तु उसेही रामकृष्ण ने तीन दिनमें सिद्ध करके दिखला दिया! अतएव तोतापुरी को आश्चर्य होनाही चाहिए था। इससे यह सूचित होता है कि अन्तर्ज्ञान होने से रामकृष्ण का आत्मा निर्मल हो गया था; अतः साधना का मार्ग दिखलाते ही उन्हें निर्विकल्प समाधि सिद्ध होगई। उस दिन से तोतापुरी रामकृष्ण को अपना शिष्य न मानकर मित्र मानने लगा; और मित्र अथवा भाई कह कर उनको पुकारने लगा।

रामकृष्ण को जबसे निर्विकल्प समाधि सिद्ध हुई, तबसे वे उसमें बड़े आनन्द से निमग्न होने लगे। पहले भी वे समाधिस्थ हुआ करते थे; परन्तु तोतापुरी के समागम से जबसे उनको योग की यह उच्च अवस्था प्राप्त हुई, तबसे वे उसमें लीन से हो जाने लगे। समाधिस्थ होने पर शारीरिक विकार अथवा वेदना का ज्ञान योगी को नहीं होता। एक बार समाधिस्थ दशा में रामकृष्ण आग पर गिर पड़े और कई जलते हुए कोयले के टुकड़े उनके शरीर के भीतर घुस गये। समाधि छूटने पर वे कोयले शस्त्रद्वारा उनके शरीर से निकालें गए। जब तक वे समाधि में थे तब तक वे उनके मांस के भीतर गड़ेही रहे। एक बार वे ऊंचे से गिर पड़े और एक हाथ उनका टूट गया। डाकृर ने बड़े परिश्रम से इस हाथ की हड्डी को यथास्थान बिठाया। परन्तु एक बार बिठाने से रामकृष्ण के हाथ को निरोगता नहीं प्राप्त हुई; कई बार डाकृर को उसे बिठाना पड़ा। कारण यह था कि ज्योंहीं कोई उनके पास भगवद्भक्ति की चर्चा करने लगता, त्योंहीं आवेश में आकर वे उसके साथ स्वयं बात चीत करने लगते और बोलते ही बोलते समाधिस्थ हो जाते। ऐसी दशा में परमानन्दित होकर वे उसी टूटे हुए हाथ को ऊपर उठाते जिसके कारण बँधी हुई हड्डी फिर अपना स्थान छोड़ देती।

रामकृष्ण अपने शिष्यों से कहा करते थे कि स्वभावही से कोई कोई मनुष्य सात्विक वृत्ति के और कोई कोई आसुरी वृत्ति के होते हैं। सात्विक वृत्ति वालों में ईश्वरांश अधिक रहता है; इस लिए दूसरों की अपेक्षा वे अधिक ज्ञानी और कोमल प्रकृति के होते हैं। ऐसे सात्विक-वृत्ति के लोगों को, वे, कभी कभी, अपने उपदेशों से उनकी ओर देखते ही देखते, समाधिस्थ कर देते थे। इससे स्पष्ट है कि वे स्वयं ही समाधि का सुख नहीं भोगते थे; किन्तु औरों को भी वे उस सुख का अनुभव कराते थे। एक बार एक धनवान और कुलीन परन्तु अपरिचित स्त्री को प्रेमपूर्वक पूजा करके उन्होंने उसे समाधिस्थ कर दिया। बड़ी देर तक वह निश्चल होकर एकाग्रता का सुख अनुभव करती रही और समाधि छूटने पर रामकृष्ण की प्रशंसा करती हुई वह अपने घर गई। इस उदाहरण से लोगों को यह विदित हो गया कि सात्विक वृत्ति के मनुष्य योगसाधन के विशेष अधिकारी होते हैं।

एक बार, सुनते हैं, रामकृष्ण लगभग छ महीने समाधिस्थ थे। कभी किसी दिन घण्टे आध घण्टे के लिए वे होश में, शायद, आते रहे हों। परन्तु यदि ऐसा होता भी था तो तत्कालही वे फिर पूर्व दशा में हो जाते थे। इस कारण उनके शिष्यों को उनके शरीरपात का भय होने लगा था। वे उन्हें उस अखण्ड समाधि से रोकने का यत्न करते थे; परन्तु उनका प्रयत्न बहुत करके व्यर्थ जाता था। इस समय, दैवयोग से एक योगी वहां आ गया था; वह रामकृष्ण के मुख में, समाधि-छूटने पर, दो एक ग्रास अन्न डाल दिया करता था और उनके शरीर की रक्षा में भी सदा तत्पर रहता था। परन्तु उनकी दीर्घ समाधि से तङ्ग आ कर

कभी कभी, कहते हैं, वह उन्हें शारीरिक कष्ट भी देता था। इसका परिणाम यह हुआ कि रामकृष्ण के अतीसार रोग हो गया। इस रोग ने उनकी समाधि के धीरे धीरे कम कर दिया।

इस जगत् में, सारे अनर्थों का मूल, बहुत करके दोही वस्तु हैं,—एक कनक और दूसरी कान्ता। इसलिए रामकृष्ण स्त्रीमात्र को माता और द्रव्यमात्र के मिट्टी समझते थे। धन से उनको अत्यन्त घृणा थी। सुवर्ण के वे मिट्टी के टुकड़े से भी तुच्छ समझते थे। एक हाथ में रुपए के और दूसरे में मिट्टी के लेकर रुपए की ओर देख देख वे बहुधा कहते थे—"मिट्टी है, मिट्टी है, मिट्टी है; तू मिट्टी है; तू वही है जो मेरे दूसरे हाथ में है!" रुपए पैसे के मिट्टी के साथ एकही हाथ में लेकर कभी कभी वे इसी प्रकार देर तक कहा करते थे। कभी कभी रुपए, अठन्नी, चवन्नी इत्यादि के लेकर वे गङ्गा के तट पर बैठते थे और पहले उनकी प्रशंसा करते थे। वे कहते थे "तुम्हारे ऊपर रानी की मुद्रा है; तुमको संसार चाहता है; तुम्हारे बल से मनुष्य बडे बड़े काम कर सकते हैं। परन्तु मैं तुम्हें तुच्छ समझता हूं। मेरी बुद्धि में तुम्हारे बराबर हानिकारक पदार्थ संसार में दूसरा नहीं। सब अनर्थों का मूल तुम्ही हो। मेरी समझ में तुम मिट्टी हो। लो; मैं तुम्हें गङ्गा में फेंके देता हूं"। इस प्रकार कह कर वे उन्हें दूर धारा में फेंक देते थे। कुछ दिन में उन्होंने द्रव्य के हाथ से छूना तक छोड़ दिया। यह कहना चाहिए कि, निर्लोभता की सीमा का उन्होंने उल्लंघन कर दिया। यदि सोते में भी कोई उनके हाथ में पैसा रख देता था तो तत्काल उनकी निद्रा भंग हो जाती थी, और वे उसे हाथ में रखने के साथही, फेंक देते थे। यहां तक कि यदि उनकी चटाई के नीचे भी कोई रुपया अथवा पैसा रख देता था तो उन्हें नींद न आती थी; और जब तक वे उसे निकाल न फेंकते थे तब तक वे विकल से रहते थे। बाबू मथुरादास ने, एक बार उन्हें एक बहुमूल्य दुशाला दिया। पहले तो उन्हों उसे ले लिया और प्रसन्नता भी प्रकट की; पर दूसरे दिन उसके टुकड़े टुकड़े करके और उन्हों झाड़ू बना कर उन्होंने उससे अपना स्थान स्व किया! पूर्वोक्त बाबू साहब ने कई बार रामकृ से कहा कि दक्षिणेश्वर में उनके मन्दिर सम्पत्ति, जो लगभग २५००० रुपए की थी, उन नाम वे लिखदें; परन्तु उन्होंने न माना; और बहु दबाए जाने पर स्पष्ट उत्तर दिया, कि यदि उस विषय में फिर कुछ कहेंगे तो उनको वह स्था छोड़ कर और कहीं चला जाना पड़ेगा। रामकृ को हज़ारों रुपए नकद भी मिलते थे; परन्तु अप दृढ़ निश्चय के अनुसार उनको मिट्टीही समझ कर कभी उनको लेने की इच्छा उन्होंने नहीं की।

रामकृष्ण को विवाह किए यद्यपि बहुत व होगए थे, तथापि एक बार भी उनको उस बा का स्मरण न आया और विषय-सुख की ओर स्व में भी उनकी प्रवृत्ति न हुई। जब उनकी प शारदादेवी ने सुना कि मेरा स्वामी एक महा-यो और महात्मा होगया है, तब उनको उनके दर्शन बलवती अभिलाषा हुई। परन्तु किस प्रकार उ भेंट हो यह वे नहीं स्थिर कर सकीं। अन्त सङ्कोच छोड़ अपने माता पितासे दक्षिणेश्वर ज की उन्होंने आज्ञा माँगी। आज्ञा पाकर वे दक्षिणे आई और स्वामी के उन्होंने दर्शन किए। रामकृ ने प्रेम से उनके साथ वार्तालाप किया; पर उनसे यह कहा कि वह रामकृष्ण, जिसके स उनका विवाह हुआ था, उनको मर गया समझ चाहिए और विद्यमान रामकृष्ण को दूसरा पुरुष मानना चाहिए। उन्होंने शारदादेवी से भी कहा कि यह रामकृष्ण संसार की स्त्रियों माता के समान समझता है; और उनको भी उसी दृष्टि से देखैगा। शारदादेवी भी प्रत्यक्ष थीं। उन्होंने निवेदन किया कि उनको स्वामी आज्ञा मान्य है; परन्तु वे वहां उनके लिए भो इत्यादि बना कर उनकी सेवा करना चाहती

यह बात रामकृष्ण ने स्वीकार की और उस दिन से शरदादेवी वहीं उनके पास रहने लगीं और भक्ति-भावपूर्वक उनकी सेवा करने लगीं।

बाबू मथुरादास के साथ, एक बार, रामकृष्ण तीर्थयात्रा के लिए भी गए और वैद्यनाथ, काशी, प्रयाग, वृन्दावन इत्यादि स्थान देख कर फिर दक्षिणेश्वर लौट आए। और स्थानों की अपेक्षा वृन्दावन उनको विशेष अच्छा लगा। वे कदाचित् सदा के लिए वहां रह जाते; परन्तु अपनी वृद्ध माता के आग्रह के वशीभूत हो कर वे वैसा न कर सके। जब वे काशी आए तब सबसे पहले उन्होंने महात्मा *तैलङ्ग स्वामी के दर्शन किए। उनसे मिल कर रामकृष्ण बहुत प्रसन्न हुए। लौटते समय वैद्यनाथ के निकट एक गांव के निवासियों को भूखों मरते देख उनको बड़ी दया आई। बाबू मथुरादस से कह कर उन्होंने प्रत्येक घर में कुछ दिन के निर्वाह के लिए अन्न पहुंचवाया; थोड़ासा रुपया पैसा भी दिलवाया; और दस पन्द्रह दिन वहां रह कर, और सबको सुखी देख कर, तब वहां से प्रस्थान किया।

रामकृष्ण यद्यपि महा-योगी थे, तथापि अघटित घटनाओं को दिखला कर वे अपना सामर्थ्य सब लोगों पर विदित नहीं करना चहते थे। वे इसे खेल समझते थे और कहा करते थे कि ऐसा करना ही बुरा है। इससे ईश्वर की उपासना में अन्तर पड़ता है और, अहङ्कार से मन के कलुषित हो जाने का डर रहता है। एक बार उनके एक शिष्य ने पानी पर चलने की सिद्धि प्राप्त करके उसका वृत्तान्त उनसे कहा। वे उसके कथन को सुन कर प्रसन्न तो हुए नहीं; उलटा उन्होंने अप्रसन्नता प्रकट की। उन्होंने कहा कि "तू ने इतना परिश्रम और इतने दिन एकान्त-वास करके क्या यही एक पैसे की वस्तु प्राप्त की। क्या एक पैसा देकर कोई मनुष्य नाव के द्वारा नदी नहीं पार हो सकता? तेरा परिश्रम व्यर्थ है। इस प्रकार का व्यवसाय छोड़ कर तुझे केवल ईश्वर की उपासना में लीन होना चाहिए; पानी पर चलने और अंगार मुख में रखने की सिद्धि से अणु मात्र भी लाभ नहीं"।

रामकृष्ण के माहात्म्य और उनकी कीर्ति को सुन कर लोग दूर दूर से उनके दर्शनों के लिए आने लगे और उनके ज्ञानामृत-वर्षी मधुर उपदेशों को सुन कर अपने को धन्य मानने लगे। उनके उपदेश ऐसे सीधे परन्तु ऐसे हृदयगामी होते थे कि, उनको सुनकर महा नास्तिक भी अपनी नास्तिकता छोड़ देते थे! प्रसिद्ध ब्रह्म-समाजी बाबू केशवचन्द्र सेन, रामकृष्ण के उपदेशों से तल्लीन होकर, उनके शिष्य-सदृश हो गए थे। वे प्रायः उनके दर्शनों को जाया करते और समाधिस्थ होने पर उनकी पाद-सेवा अपने हाथ से किया करते थे। रामकृष्ण के मुख से निकले हुए दृष्टान्तों को उन्होंने पहले पहल अंगरेज़ी में प्रकाशित किया। उनके प्रकट होते ही रामकृष्ण की कीर्ति और भी दूर दूर तक फैल गई। बड़े बड़े अधिकारी अंगरेज़

---

* तैलङ्ग स्वामी को परलोकवासी हुए कोई १५ वर्ष हुए। ये महाविद्वान् भी थे और योगी भी थे। ये सदा दिगम्बर रहा करते थे और जगत् को ब्रह्ममय देख कर पात्रापात्र और खाद्याखाद्य का विचार न करते थे। जो कोई जो कुछ उन्हें खिला देता था वही खा लेते थे। सुनते हैं, परीक्षा के लिए, कोई कोई दुष्ट उनको गोबर तक खिला देते थे। एक महाराष्ट्र पण्डित ने काशीयात्रा विषयक मराठी में एक पुस्तक लिखी है। उसमें उसने लिखा है कि एक बार तैलङ्ग स्वामी को नग्न देख पुलिस ने उनका चालान कर दिया। मैजिस्ट्रेट के सम्मुख उन्होंने कहा कि हम सांसारिक बन्धनों से बद्ध नहीं; हमारे लिए नग्न और अनग्न रहना तुल्य है; हम अच्छे और बुरे में अन्तर ही नहीं समझते। मैजिस्ट्रेट ने कहा यदि यह सत्य है तो जो कुछ हम कहेंगे वह तुम खावोगे: स्वामी ने कहा हम अवश्य खायँगे; परन्तु आपको भी हम जो कुछ कहें खाना पड़ेगा। मैजिस्ट्रेट ने जब यह स्वीकार किया तब स्वामी ने वहीं पुरीष-त्याग करके उसे खाने के लिये मैजिस्ट्रेट से कहा। जब मैजिस्ट्रेट ने घृणा सूचित की तब उन्होंने सबके देखते ही उसे स्वयम् ग्रहण किया! उस दिन से फिर पुलिस ने स्वामी को नहीं सताया; वे बराबर नग्नही विचरते रहे।

भी, तब से, उनको आदर की दृष्टि से देखने लगे। पादरीलोग भी कभी कभी पूछ पाछ करने की इच्छा से, उनके पास जाने लगे। अंगरेज़ी के बड़े बड़े विद्वान् और कालेज के विद्यार्थी, जिनमें नास्तिकता का बीज दृढ़ता से आरोपित हो गया था, उनके सीधे सादे उपदेशों को सुनकर चकित होने और साथही नास्तिकता को छोड़ने लगे। उनकी तर्क-प्रणाली रामकृष्ण की ग्राम्य आख्यायिकाओं के सम्मुख उड़ी उड़ी फिरने लगी।

स्वधर्म्मीय पुरुष यदि किसी महात्मा की प्रशंसा करें तो उसमें शङ्का भी की जा सकती है। परन्तु रामकृष्ण की प्रशंसा अन्य-धर्म्मावलम्बियों ने भी की है—और बहुत कुछ की है। वङ्गदेश के विद्या-विभाग के डाइरेकृर टानी साहब तक ने रामकृष्ण की उपदेशात्मक उक्तियों को पढ़कर बड़ाई की है। उसका उल्लेख हम आगे चल कर करेंगे। यहां पर क्रिश्चियन धर्म्माश्रित बाबू प्रतापचन्द्र मज़ूमदार के कथन का भावार्थ सुनिए। देखिए वे रामकृष्ण जी के विषय में क्या कहते* हैं—

"मेरा मन उस ज्योतिःस्वरूप प्रकाश में अब तक डूब रहा है जिसे वह अद्भुत महात्मा अपने चारों ओर, जब और जहां कहीं वह जाता है फैलाता है। उन अवर्णनीय और आश्चर्य्यमय भावनाओं को मेरा मन अब तक नहीं भूला, जिन्हें वह, जब वह मुझसे मिलता है, उसमें जागृत कर देता है। साहबी स्वरूपधारी, सभ्य, साहङ्कार, अर्द्ध नास्तिक और शिक्षित कहलाया जानेवाला, तर्कनाप्रिय मैं! और निर्धन, अशिक्षित, अपरिमार्जित, रुग्ण, कुरूप, अर्द्ध-मूर्तिपूजक, मित्रहीन वह साधु! दोनों में महान अन्तर!!! फिर मैं क्यों घण्टों उसके पास बैठकर उसकी बातें सुनूं? मैंने डिसरायली, फाकेट, स्टैनली और मोक्षमूलर इत्यादि अनेक योरोपीय विद्वानों के कथित धर्म्म-तत्वों को क्या नहीं सुना? मैं ईसामसीह का अनुगामी और शिष्य हूं; मैं पादरी लोगों का मित्र और प्रशंसक हूं। फिर क्यों मैं मन्त्र-मुग्ध सा होकर उसकी बातों को सुनता हूं? मैं हीं नहीं; मेरे सदृश और अनेक लोग भी मेराही अनुकरण करते हैं। सैकड़ों ने उससे भेंट की है और उसकी परीक्षा भी ली है। यूथ के यूथ मनुष्य प्रति दिन उसके पास आते हैं और उससे बात चीत करते हैं। वह पवित्र और महात्मा पुरुष मधुरता की प्रत्यक्ष मूर्ति और हिन्दू धर्म्म का अगाध सागर है। उसने विषय-वासनाओं पर पूरा विजय प्राप्त किया है और भौतिक देह को प्रायः नष्ट सा कर दिया है। उसका शरीर जीवात्मा से पूरिपूर्ण है; सत्य—धार्म्मिकता से परिपूर्ण है; परमानन्द से परिपूर्ण है; मंगलमय पवित्रता से परिपूर्ण है। संसार की शून्यता और मिथ्यात्व का वह प्रत्यक्ष प्रमाण है। वह अपने निरभिमान और सीधे सादे जीवन में ईश्वर ही को सब कुछ समझता है। ईश्वर ही उसका सर्वस्व

---

* My mind is still floating in the luminous atmosphere which that wonderful man diffuses around him whenever and wherever he goes. My mind is not yet dischanted of the mysterious and indefinable pathos which he pours into it whenever he meets me. What is there common between him and me? I, a Europeanized, civilized, self-centered, semi-sceptical, so called educated reasoner; and he, a poor, illiterate, shrunken, unpolished, diseased, half-idolatrous, friendless Hindu devotee. Why should I sit long hours to attend to him, I, who have listened to Disraeli and Fawcett, Stanly and MaxMuller, and a whole host of European scholars? I, who am an ardent disciple and follower of Christ, a friend and admirer of liberal-minded Christian missionaries and preachers ... ... why should I be spell-bound to hear him? And it is not I only, but dozens like me who do the same. He has been interviewed and examined by many; crowds pour in to visit and talk with him.

A living evidence of the sweetness and depth of Hindu religion is this holy and good man. He has wholly controlled, and nearly killed his flesh.

He is full of soul, full of the reality of religion, full of joy, full of blessed purity; as a Siddha Hindu ascetic he is a witness of the falsehood and emptiness of the world. He has no other thought, no other occupation, no other relation no other friend in his humble life than his God.—*Theistic Quarterly Review, October* 1899.

है। ईश्वर को छोड़ कर न उसे दूसरा ध्यान है; न उसे दूसरा उद्योग है; न उसका दूसरा मित्र है; और न उससे और दूसरे से सम्बन्ध है।"

ब्रह्मसमाज के अधिष्ठाता बाबू केशवचन्द्र सेन ने भी रामकृष्ण की ऐसीही प्रशंसा की है। वे तो एक प्रकार रामकृष्ण के शिष्य ही से हो गए थे। वेही क्या अनेक विद्वान् उनके साथ वार्तालाप करके और उनके सदुपदेशों को सुन कर चकित हुए हैं और लेखद्वारा अपनी कृतार्थता और महात्मा रामकृष्ण की महिमा उन्होंने प्रकट की है। रामकृष्ण यथार्थ में महान् थे। सब धर्म्मों का तत्व जानने के लिए, सुनते हैं, उन्होंने मुसल्मानों के नियमानुसार भी ईश्वर की उपासना की। उन्होंने अपनी डाढ़ी बढ़ाई, मुसल्मानों के समान भोजन किए, और, क़ुरान की आयतों तक का पाठ किया। उन्होंने ईसाई धर्म्म के अनुसार भी आचरण किया; क्राइस्ट के वचनों का विचार किया; और उसी धर्म्म के अनुकूल व्यवहार भी किया। परन्तु अन्त में उन्होंने यह फल निकाला कि ईश्वर सबका एक है; और सदाचरण करने तथा उसकी आराधना में लगे रहने से सबको उसकी प्राप्ति हो सकती है। अन्तर इतना ही है कि कोई धर्म्म-मार्ग सरल और कोई टेढ़ा, अतएव देर से सिद्धि का देने वाला है। मतमतान्तर के सम्बन्ध में झगड़ा करनेवालों को महात्मा रामकृष्ण की इस उक्ति से उपदेश लेना चाहिए।

जिनको लोग ईश्वर अथवा ईश्वर का अवतार मानते हैं, उनमें भी रामकृष्ण की पूरी भक्ति थी। राम, कृष्ण, शिव, शक्ति इत्यादि के विषय में वे ऐसी ऐसी युक्ति-पूरित बातें कहते थे जिनको सुनकर महानास्तिकों के भी मनमें भक्ति का भाव उदित हो उठता था। यह ठीक ठीक नहीं जाना गया कि रामकृष्ण का स्वयं कौन धर्म्म था। यदि उनका कोई धर्म्म-विशेष था तो विलक्षण था। वह किसी धर्म्म-विशेष के अनुयायी न थे। वह न शैव थे; न शाक्त थे; न वैष्णव थे; और न वेदान्ती थे। परन्तु फिर भी वे वह सब थे; क्योंकि इन सम्प्रदायों के तत्वों को वे मानते थे। मूर्तिपूजक होकर भी वे "अखण्ड सच्चिदानन्द" के अभिभावक थे।

उनके उपदेशों में और उनके अपूर्व दृष्टान्तों में यह शक्ति थी कि चाहे जैसा विद्वान् उनके सामने आकर उनके प्रतिकूल अपना मत स्थापित करने का यत्न करे, वह उसे अपना सा अवश्य बना लेते थे। उनकी बातों को सुनकर उनके पास से लोगों को उठने का जी नहीं होता था। वह भी सांसारिक जीवों पर दया करके सदैव उपदेश दिया करते थे।

अस्वस्थ होने पर भी वे बहुधा चुपचाप न बैठते थे; कुछ न कुछ ज्ञानोपदेश किया ही करते थे। इस सततभाषण का परिणाम उनके दुर्बल शरीर पर बहुत बुरा हुआ। कुछ दिनों में उनके कण्ठ में पीड़ा होने लगी। परन्तु, तिसपर भी, उन्होंने बोलना न बन्द किया। जो कोई उन्हें बोलने से रोकता तो वे कहते कि यदि मेरे कथन से एक भी मनुष्य का थोड़ा भी उपकार हो, और यदि उसके बदले मुझे मेरे प्राण भी विसर्जन करने पड़ें, तो भी मैं अपने को कृतार्थ मानूंगा। धीरे धीरे उनके कण्ठ का विकार बढ़ता गया। अन्त में उसने असाध्य-रूप धारण किया। उनको पानी पीना भी दुर्घट हुआ। गला सूझ आया। परन्तु, इतने पर भी, उन्होंने उपदेश देना बन्द नहीं किया। अन्त में, १६ अगस्त, १८८६ ई० को, रात के दस बजे जो उन्होंने समाधि लगाई तो फिर उस समाधि से वे नहीं जगे! वह उनकी अन्तिम समाधि हुई!

महात्मा रामकृष्ण के अट्ठारह उन्नीस मुख्य शिष्य हैं। उन्होंने विवेकानन्द, तूर्यानन्द, अभयानन्द, ब्रह्मानन्द, निरञ्जनान्द इत्यादि नाम धारण करके देश देशान्तर में धर्म्मोपदेश देने का बीड़ा उठाया है। उन्होंने पहले कलकत्ते के पास अपने गुरु का मठ स्थापन किया था; परन्तु उन्होंने अब और अनेक मठ स्थापित किए हैं। 'रामकृष्ण मिशन' नामक एक उपदेशक-मण्डली बना कर उनके

शिष्य सब कहीं उपदेश करते फिरते हैं। उन्होंने "प्रबुद्ध-भारत" नामक एक अंगरेज़ी मासिक पुस्तक भी मायावती से निकालनी आरम्भ की है। इसमें और और बातों के अतिरिक्त वेदान्तविषयक बातें भी रहती हैं और महात्मा रामकृष्ण और विवेकानन्द के विषय में भी लेख रहते हैं। रामकृष्ण के शिष्यों में विवेकानन्द सबसे अधिक प्रसिद्ध हुए। उनको यह लोक छोड़े अभी थोड़ेही दिन हुए। उनका संक्षिप्त चरित सरस्वती में छपचुका है। परन्तु उनका चित्र नहीं प्रकाशित हुआ था; इसलिए उसे हम इस संख्या में प्रकाशित करते हैं। विवेकानन्द ने योरप और अमेरिका तक में अपना नाम किया। उनकी वक्तृता बड़ी प्रभावशालिनी होती थी। उनके व्याख्यान, जो छप गए हैं, पढ़ने और मनन करने योग्य हैं। कर्म्मयोग, भक्तियोग और राजयोग इत्यादि पर उन्होंने बहुतही सरल और सुन्दर व्याख्या की है। जब वे कालेज में पढ़ते थे तब उनमें नास्तिकता पूर्णरूप से विद्यमान थी; परन्तु रामकृष्ण के उपदेशामृत को पान करके वे शीघ्रही उनके पट्ट शिष्य हो गए। पहले पहल वे रामकृष्ण से बहुत वाद-प्रतिवाद करते थे। उनसे पूछते थे कि जिस ईश्वर के विषय में तुम इतना आड़म्बर करते हो उसके होने का तुम्हारे पास क्या प्रमाण है। तुमने स्वयम् कभी उसे देखा है? इस प्रकार के प्रश्नों का यथोचित उत्तर पाने से उनकी चित्तवृत्ति शीघ्रही बदल चली और थोड़ेही दिनों में वे कुछ के कुछ हो गए। जिसके विवेकानन्द ऐसे शिष्य हुए उसकी महिमा का क्या कहना है!

दृष्टान्तों से भरी हुई महात्मा रामकृष्ण की उक्तियां बड़ीही मनोहारिणी और बोधदायिनी हैं। अङ्गरेज़ी, बङ्गला, मराठी और गुजराती आदि अनेक भाषाओं में उनका अनुवाद हो गया है। 'एशियाटिक क्वार्टरली रिव्यू' नामक अङ्गरेज़ी की सामयिक पुस्तक में टानी साहब ने उनकी बड़ी प्रशंसा की है। वे कहते हैं कि परमहंस जी की उपदेशमयी उक्तियों को पढ़ कर पढ़नेवाले के मन में उनके लिए आदरभाव उत्पन्न हुए बिना नहीं रहता। इन्हीं उक्तियों से वे कट्टर से कट्टर नास्तिक को अपने वश करलेते थे। अतएव इतनेही से उनकी योग्यता और उनके माहात्म्य का अनुमान करलेना चाहिए। यदि वे सचमुचही अपूर्वता से पूर्ण न होतीं तो टानी साहेब सदृश अन्य-धर्म्मावलम्बी विद्वान् और विद्या-विभाग के उच्चतम अधिकारी उन्हें देख कर क्यों मोहित हो जाते? उनमें से मुख्य मुख्य उक्तियां 'दृष्टान्त-समुच्चय' नाम से 'इण्डियन प्रेस', प्रयाग, में छपी हैं। ये हिन्दी में हैं और केवल तीन आने को आती हैं। महात्मा रामकृष्ण परमहंस के चरित को पढ़ कर जिनके हृदय में कुछ भी अनुराग उत्पन्न हो, उनको चाहिए कि वे इन उक्तियों को एक वार अवश्य देखें।

जन्मभूमि।

[१]

देखीं वस्तु विश्व की सारी;
जन्मभूमि सम एक न प्यारी।
हे "सरस्वती" के हितकारी!
सुनिए, सुनिए बात हमारी॥

[२]

जहां बालपन सकल बिताया;
जहां खेल खेला मनभाया।
जहां रहे भगिनी, प्रिय भ्राता,
पिता और सुत-वत्सल माता॥

[३]

ऐसा कौन निपट अज्ञानी,
महामूढ़, जड़, पामर प्राणी।
जो शठ उसे भूल जावैगा;
बन कृतघ्न, मुख दिखलावैगा॥

[४]

पशु, पक्षी जो जीवन-धारी;
जन्मभूमि उनको भी प्यारी।
यदि वे बेच दिए जाते हैं;
दौड़ दौड़ फिर फिर आते हैं॥

[५]
जल अथवा थल के सञ्चारी,
घास-पात-आदिक-आहारी।
जीव जगत में जो रहते हैं;
जन्मभूमि को सब चहते हैं॥

[६]
महा असभ्य मनुष्याहारी
अफरीका के भी वनचारी।
जन्मभूमि से स्नेह लगावैं;
वहीं रहैं; आनन्द मनावैं॥

[७]
जग में जन्मभूमि सुखदायी,
जिस नर-पशु के मन न समाई।
उसके मुख-दर्शक नर-नारी
होते हैं अघ के अधिकारी॥

[८]
एक गेह में जो रहते हैं;
दुख न विशेष कभी सहते हैं।
प्रीति परस्पर वे रखते हैं;
जिसका फल मीठा चखते हैं॥

[९]
दुखी एक को जो पाते हैं;
सभी सहायक हो जाते हैं।
हित की बातैं बतलाते हैं;
स्वयं अनेक काम आते हैं॥

[१०]
विविध भांति श्रम मनुज उठावैं;
निज कुटुम्ब को सुखी बनावैं।
सब को सुखी देख सुख पावैं;
सत्य सत्य हम सत्य सुनावैं॥

[११]
यह जो भारतभूमि हमारी;
जन्मभूमि हम सब की प्यारी।
एक गेह सम, विस्तृत भारी;
प्रजा कुटुम्ब तुल्य है सारी॥

[१२]
इसको देख विपत्ति-विभागी,
निर्धन, अपढ़, निरन्न, अभागी।
जिसका हृदय न दया दुखाती,
लज्जा भी क्या उसे न आती?

[१३]
यदि कोई पीड़ित होता है;
उसे देख सब घर रोता है।
देश-दशा पर प्यारे भाई!
आई कितने बार रुलाई?

[१४]
सुख-समृद्धि-शाली करने में;
निज घर को धन से भरने में।
कौन न श्रम सब दिन करता है?
तनिक नहीं उससे डरता है॥

[१५]
थोड़ाभी श्रम यदपि उठाते;
जन्मभूमि को तुम न भुलाते।
तो अब तक निहाल हो जाती;
शोभामयी दिव्य दिखलाती॥

[१६]
जो कुछ अब तक हुआ, भुलावो;
अब इसका सम्मान बढ़ावो।
मान लीजिए वचन हमारे;
इसकी लज्जा हाथ तुम्हारे॥

[१७]
जन्मभूमि की बलिहारी है;
यह सुरपुर से भी प्यारी है।
इसकी महिमा अति भारी है;
सुधि भी इसकी सुखकारी है॥

कवि-कीर्ति।

जगत-विजेता वीर धरा सारी अपनावत।
कर गहि खर करवाल महा-महिपाल कँपावत॥१॥
विक्रम विकट दिखाय सिंह कटि काटि गिरावत।
रवि-सम प्रबल प्रताप आपनो अति फैलावत॥२॥

देश देश सविशेष ध्वजा निज उच्च उड़ावत।
दुर्गम दुर्ग, अनेक सेतु, प्राचीर उठावत ॥३॥
अति अद्भुत रमणीय राजधानी निरमावत।
दै अपनो प्रतिरूप प्रचुर मुद्राहु चलावत ॥४॥
पै ये एकहु नाहिँ नाम चिरजीवि बनावत।
कवि-कीरति के सौंह नम्र बनि शीश नवावत ॥५॥

नृपति-सिकन्दर-चिन्ह आज हम कहूं न पावैं।
चन्द्रगुप्त की कहौ कहां हम ठांव बतावैं ? ॥ ६ ॥
पै कवि-वर प्राचीन, लखौ, अबलौं सब बोलत।
उनके कृत इतिहास हमारे नैननि खोलत ॥७॥
नृप-विक्रम की आज लोग कम कहत कहानी।
कालिदास की किन्तु सुनत अति मीठी बानी ॥८॥
हर्षदेव* की कथा हर्ष अब अधिक न देवै।
किन्तु बाण को काव्य काहि नहिँ वश करि लेवैं ? ९
अवशि पिथौरा-लाट† दिवस कोऊ ढहि जैहै।
किन्तु चन्द की सुयश-छटा छिति छिटकी रैहै १०
अकबर के वर नाम जगत जो प्रचलित भारी।
नेकु न तुलसीदास-अमरता कर अधिकारी ॥११॥

निज प्रतिभा तें विगत बात प्रत्यक्ष दिखावत।
त्यों भविष्य को खैंचि लोक-सन्मुख जो लावत १२
अति अन्तर्गत गूढ़ भाव हिय के जो जानत।
अद्भुत उक्ति सुनाय असम्भव सम्भव ठानत ॥१४॥
जाके कृपा-कटाक्ष विलोकत लोक-विदित-नर।
दान-वीर, रण-वीर, तथा धन-धर्म्मवीर वर ॥१४॥
कर्न‡-दान विनु व्यास धर्म्म§ की धर्म्म-धीरता।
वालमीकि विनु रम्य राम की विपुल वीरता ॥१५॥
को जानत यहि भांति सविस्तर आज बिचारौ ॥
कहौ, होय जो कछु कथन अत्युक्ति हमारौ ॥१६॥
उत्तम-कविता-दान अनूपम देत सदाहीं।
सबको सदा प्रसन्न करत कुछ लए बिनाहीं ॥१७॥
जासु ललित लेखनी विमल-मुद-वितरनहारी।
अनुपमेय, जो, अमर, सदा स्वच्छन्द-विहारी ॥१८॥
गुन गनना के पार अहै जो ऐसो कवि-वर।
नमस्कार है ताहि बार शत हाथ जोड़ कर ॥१९॥

काशीप्रसाद।

---

* हर्षवर्द्धन बौद्ध जो कान्यकुब्ज का राजा था, और जिसके यहां बाण थे।

† पृथ्वीराज चौहान की लाट-कुतुब-मीनार।

‡ कर्न = राजा कर्ण।

§ धर्म्म = धर्म्मराज, युधिष्ठिर।

दृष्टि-दान।

आठही वर्ष की अवस्था में मेरा विवाह हो गया था। मनभाया पति पाने के लिये लड़कियां बहुधा शिव का पूजन करती हैं। मैंने भी किया था। परन्तु अगले जन्म के पाप से मैंने ऐसा मनभाया पति पाकर भी भली भांति नहीं पाया। भगवान त्रिलोचन ने मेरे दोनों लोचन ले लिये। जीवन के अन्त काल तक अपने स्वामी को भर आंख देखने का सुख भी उन्होंने मुझे नहीं पाने दिया।

बचपनही से मेरी अग्निपरीक्षा आरम्भ होगई। सोलह वर्ष पार होते न होते मैंने एक मरे बालक का जन्म दिया, और आप भी मरने से बची। पर जिसे जीवनभर दुःख भोगना ही बदा है, वह भला कैसे मरती ? जिस दीपक को जलनाही है, उसका तेल नहीं चुकता; रात भर जलने पर उसको शान्ति होती है।

मैं बच तो गई पर देह की कमजोरी, मन का क्लेश या किसी और कारण से मेरी आंखों में पीड़ा होने लगी।

मेरे पति तब डाकटरी पढ़ते थे। नई विद्या सीखने की उछाह से, इलाज करने का सुभीता पाकर, वे बड़े प्रसन्न हुए। वे आपही मेरा इलाज करने लगे।

भैया भी उसी बरस वकालत पास करने के लिये कालिज में पढ़ रहे थे। उन्होंने एक दिन आकर मेरे पति से कहा, तुम यह क्या कर रहे हो! कम्मू की आंखों को नास करने बैठे हो! किसी अच्छे डाकटर को दिखाओ।

स्वामी ने कहा कोई अच्छा डाकटर आकर नया इलाज क्या करेगा, दवाइयां तो सब जानी ही हुई हैं।

भैया ने कुछ नाराज़ होकर कहा तो फिर तुम में और तुम्हारे कालिज के बड़े साहब में कोई अन्तर ही नहीं है? स्वामी बोले तुम क़ानून पढ़ते हो, डाकटरी क्या समझो? जब अपना व्याह करोगे और अपनी स्त्री की रियासत का मुक़द्दमा लड़ोगे, तब क्या तुम मेरी सलाह पूछने आओगे?

मैं अपने मनमें सोचने लगी कि ये दोनों आपस में लड़ें और मारी जाऊं मैं। दोनो ओर से मुझही पर चोट! फिर सोचने लगी कि पिता के कुल ने जब मेरा दान कर डाला है तब भैया को मेरे लिये इस झगड़े बखेड़े से क्या? मेरा सुख, मेरा दुख, मेरा रोग, मेरा आरोग्य, ये तो सब मेरे पति के ही हाथ में हैं।

उस दिन मेरी इस तनिक सी आंखों की पीड़ा के लिये भैया और मेरे पति में खटपट हो गई। मेरी आंखों से आपही पानी टपका करता था, उस दिन से उनसे धारा बहने लगी।—इसके कारण मेरे पति थे कि मेरे भैया, यह बात किसीने नहीं सोचा। सोचने की ज़रूरत भी न थी।

मेरे पति जिस समय कालिज गए हुए थे, उस समय, अकस्मात्, दूसरे पहर, भैया एक डाकटर को लिवा लाए। डाकटर ने देखभाल कर कहा जो सावधानी न की जायगी तो पीड़ा अधिक बढ़ जाने का डर है, और दवा लिख कर वे चले गए। भैया ने भी उसे मंगवा भेजा।

डाकटर के चले जाने के पीछे मैंने भैया से कहा, भैया, मैं आपके पांव छूकर विनती करती हूं, जो दवा हो रही है उसमें आप बाधा न डालिए।

लड़कांई से ही मैं भैया से बहुत डरती थी। उनके सामने मुंह खोल कर मैं इतना भी कह सकी यह आश्चर्य की बात हुई। परन्तु इतना मैं ख़ूब समझ गई थी कि मेरे पति को छिपा कर वे जो इलाज करवाना चाहते थे, उससे मेरे लिये हानि छोड़ लाभ की आशा नहीं थी।

भैया भी मेरी ढिठाई देख कुछ चकित हुए। थोड़ी देर चुप चाप सोचकर बोले,—अच्छा मैं डाकटर को और नहीं लाऊंगा, पर जो दवा मंगवाई है उसे तुम अच्छी तरह लगा देखना। दवा आने पर, मुझे उसके लगाने की रीति समझा कर वे चले गए। मेरे पति के कालिज से लौटने के पहिले ही शीशी, डिबिया और आंख में दवा डालने की क़लम को बड़ी सावधानी से मैंने आंगनवालें कुए में फेंक दिया।

भैया से मानो होड़ करके मेरे स्वामी दुगने उत्साह से मेरी आंखों की इलाज करने लगे। सांझ सबेरे दवा बदलने लगे। आंखों पर पट्टी बांधी गई; चश्मा पहनाया गया; उनमें बूंद बूंद दवा टपकाई गई; पुड़िया लगाई गई; दुर्गन्धित मछली का तेल खाते खाते मेरे पेट की अंतड़ियां तक बाहर निकलने पर हो गईं; परन्तु मैंने सब कुछ सह लिया।

स्वामी पूछते 'अब आंखों की क्या हालत है?' मैं कहती 'अब कुछ अच्छी हूं'। अपने मनमें भी मैं यही सोचने की चेष्टा करती कि अच्छी ही हूं। जब पानी अधिक टपकता तब सोचती कि पानी का टपकना ही अच्छा है; जब टपकना बन्द हो जाता तो सोचती कि अब आराम हो जायगा।

परन्तु थोड़े दिनों में दुःख मुझसे और नहीं सहा गया। आंखों से मैं धुन्धला देखने लगी। सिर के दर्द से मुझे कल न पड़ने लगा था। मुझे जान पड़ा कि स्वामी भी कुछ लज्जित से हो गए हैं। इतने दिनों पीछे डाकटर को क्यों कर बुलावें वे इसी का बहाना सोचने लगे।

तब मैंने उनसे कहा कि भैया की बात रखलेने के लिये एक डाकटर को बुलवाने में क्या हानि है? इसी बात पर भैया नाराज़ हो गए हैं; इससे मेरे मन में दुःख होता है। इलाज तो तुम्ही करोगे, पर एक डाकटर नाम के लिये रहे तो अच्छा है।

उन्होंने कहा ठीक कहती हो। और उसी दिन एक अंगरेज़ डाकटर को वे लिवा लाए। क्या

बातचीत हुई मैं न समझी; पर ऐसा जान पड़ा कि साहब मेरे स्वामी को धिक्कार रहे थे। वे सिर नीचा किए चुपचाप खड़े थे।

डाकटर जब चला गया तब मैंने स्वामी का हाथ पकड़ कर कहा, कहां से एक उजड्ड गोरे को पकड़ लाए। एक देसी डाकटर को लानेही से काम चल जाता। वह मेरी आंखों की पीड़ा को भला तुमसे अच्छा क्या पहिचानेगा?

स्वामी कुछ लज्जित होकर बोले, आंखों में नश्तर देने की ज़रूरत हो गई है।

मैंने कुछ क्रोध का बहाना सा कर के कहा—नश्तर की ज़रूरत है! तुम इस बातको मुझसे जानबूझ कर छिपा रहे थे, यह तो मैंने बहुत दिनों से जान लिया था। क्या तुम समझते हो कि मैं नश्तर लगवाने की बात से डर गई?

इसपर उनका संकोच जाता रहा। उन्होंने कहा कि आंखों में नश्तर देने की बात सुनकर मर्दों ही में कौन ऐसा वीर है जिसे डर न लगता हो?

मैंने ठट्ठा मारकर कहा मर्दों का वीरपना तो केवल स्त्रियों ही के पास है।

स्वामी ने तुरन्त मुरझा कर ठंढी सांस भरते हुए कहा—यह बात ठीक है। पुरुषों की कुल पूंजी अहङ्कार ही है।

मैंने उनकी मलिनता को तुरन्त हवा में उड़ा कर उत्तर दिया; क्या अहङ्कार में भी तुमलोग स्त्रियों से आगे बढ़ सकते हो? वहां भी हमीं लोगों की जीत है।

मेरी आंखों की बीमारी में एक दिन, भैया फिर आए। मैंने उन्हें अलग बुलाकर कहा भैया! आपके उस डाकटर की दवा से इतने दिन मैं अच्छी ही थी। एक दिन भूलकर खानेवाली दवा को मैंने आंखों में लगालिया था, इसीसे जन्मभर के लिये उन्हें मैं खोने बैठी हूं। मेरे स्वामी कह रहे हैं कि नश्तर देना पड़ेगा।

भैया ने कहा कि मैं समझे हुए था कि तुम्हारे स्वामी ही का इलाज चल रहा है। इसीसे क्रोध में आकर मैं यहां आया तक नहीं। मैंने कहा, नहीं, छिपकर मैं डाकटरवाली ही दवा लगाती थी, पर उनसे यह बात मैंने नहीं बतलाई।

हाय, स्त्री का जन्म पाकर कितना झूठ कहना पड़ता है! भैया के मन को भी मैं दुखाना नहीं चाहती थी और स्वामी के यश में भी धब्बा नहीं लगाना चाहती थी! मा बनकर गोद के बालक को पुचकारना पड़ता है, और स्त्री बनकर बालक के पिता को भी समझाना पड़ता है,—स्त्रियों को इतने छल का प्रयोजन होता है!

छल का फल इतना तो हुआ कि अन्धी होने के पहिले अपने भाई और पति में मेल तो मैंने देख लिया। भैया ने जाना कि इलाज को छिपा कर मेरी यह दशा हुई। स्वामी ने समझा कि पहिले से भैया की बात मान लेते तो अच्छा होता। यों सोच सोच दोनों मन ही मन पछताने लगे और मन ही मन एक दूसरेसे क्षमा मांगने लगे। मेरे स्वामी भैया से सलाह लेने लगे, और भैया भी बड़ी नरमी से उन्होंकी बात को मान कर चलने लगे।

निदान, दोनों ही की सम्मति से, एक दिन अंगरेज़ डाकटर ने आकर मेरी बांईं आंख में छुरी चलादी। कमज़ोर आंख उस चोट को नहीं सह सकी; उसकी क्षीण ज्योति अकस्मात् बुझगई। फिर तो दूसरी आंख भी कुछ दिनों में धीरे धीरे अन्धेरे में छिप गई। बाल्यपने में विवाह के दिन जो चन्दन से रची हुई किशोर मूर्त्ति मेरे सामने पहिले पहिल प्रकाशित हुई थी, जन्मभर के लिये उसपर पर्दा पड़ गया!

एक दिन मेरे स्वामी मेरे बिछौने के किनारे बैठ कर कहने लगे—तुम्हारे पास झूठी बड़ाई और नहीं करूंगा; तुम्हारे नेत्रों का नाश मैंने ही किया है।

मुझे जानपड़ा कि उनका कण्ठ दुःख से रुंधा जाता था और आंखें आंसुओं से भीगी जाती थीं। मैंने अपने दोनों हाथों से उनका दहिना हाथ दबा कर कहा—अच्छा किया है; तुम्हारी अपनी चीज़ तुमने लेली है। सोचो तो सही जो किसी डाकटर

के इलाज से मैं अन्धी हो जाती तो मुझे कैसा दुःख होता। जब होनहार रुकही नहीं सकता, तब भला, मेरी आंखों को कौन बचा सकता था? मेरी आंखें तुम्हारे हाथ गईं, अपने अन्धेपन में मुझे बस इतना ही सुख है! जब पूजा के कमल घट गए थे तब रामचन्द्र जी अपने नेत्रकमल उखाड़ कर देवता को चढ़ाने लगे थे। मैंने भी अपनी दृष्टि अपने देवता को चढ़ा दी। तुम्हारे नेत्रों में जब कोई वस्तु अच्छी जचे तो मुझसे कहना, मैं उसे तुम्हारे नेत्रों का प्रसाद जान कर पास रक्खूंगी। इतनी बातें मैं सब नहीं कह सकी थी। मुंह से इतनी बातें एकसाथ कही भी नहीं जातीं। बहुत दिनों तक मैंने इनको सोच रक्खा था। जब कभी चित्त मलीन हो जाता; भक्ति का तेज हलका हो जाता; जब अपने को दुखिया अभागिनी समझ कर क्लेश होता; तब आपही आप मन को यों ही समझाया करती; इसी शान्ति, इसी भक्ति का सहारा लेकर अपनी आत्मा को इस दुःख की अवस्था में भी ऊंचा करने की चेष्टा किया करती। उस दिन कुछ कह कर, कुछ मौन रह कर, किसी तरह उनको अपना भाव मैंने समझा दिया। वे बोले, मूढ़ता से मैंने तुम्हारा जो नुक़सान कर डाला है, उसे लौटा तो सकता ही नहीं; परन्तु मुझसे जहां तक बन पड़ेगा, तुम्हारी आंखों की कमी दूर करने के लिये मैं तुम्हारे पास ही रहा करूंगा।

मैंने कहा, यह काम की बात नहीं है। मेरे लिये तुम अपनी गृहस्थी को अन्धे का अस्पताल बनाओ, मैं ऐसा कभी न होने दूंगी। तुम्हें फिर दूसरा विवाह करना पड़ेगा।

विवाह करना क्यों बहुत आवश्यक है, यह विस्तारपूर्वक कहते हुए मेरी बोली रुकने लगी। खांस कर, गला साफ कर, कहने जाती थी कि, मेरे पति बड़े वेग से बोल उठे, मैं मूढ़ हूं; मैं अहङ्कारी हूं; पर मैं नीच नहीं हूं। मैंने अपने हाथों से तुम्हें अन्धी किया; फिर मैंहीं तुम्हें छोड़ यदि दूसरा व्याह करूं तो, ईश्वर की सौगन्ध खाकर कहता हूं, मुझे ब्रह्महत्या और पितृहत्या का पाप लगे।

यह शपथवाली बात मैं उन्हें न कहने देती; परन्तु उस समय आंसू गला रोक कर, हृदय पर होकर, दोनों आंखों से बड़ी धाराएं बाँध कर, बह रहे थे। उन्हें रोक कर मैं बोल नहीं सकी। पति ने जो बात कही, उसे सुन आनन्द से विह्वल हो कर तकिए में मुख छिपा मैं रोने लगी। मैं अन्धी हूं, तौभी वह मुझे नहीं त्यागेंगे! दुखिया के दुख की भाँति मुझे अपने हृदय में वे रखलेंगे। इतना सौभाग्य मैं नहीं चाहती; पर मन सदा अपनाही स्वार्थ चाहता है।

निदान आंसू की पहिली झड़ी जब बड़े वेग से बरस गई, तब उनका मुख अपने हृदय के पास खींच कर मैंने कहा इतनी भयङ्कर शपथ क्यों? क्या मैं अपने सुख के लिये तुम्हें व्याह करने कहती थी? क्या सौत से मैं अपनी सेवा करवाती? आंखों के न होने से मैं खुद तुम्हारा जो काम न कर सकती वह उससे करवा लेती।

स्वामी बोले काम तो दासी भी कर लेती हैं। क्या मैं अपने काम के लिये दासी से विवाह कर उसे देवी के साथ एक आसन पर बैठा सकता हूं? यों कह कर मेरा मुख पकड़ कर मेरे ललाट पर उन्होंने एक निर्म्मल चुम्बन किया। उस चुम्बन से मानों मेरा एक तीसरा नेत्र खुल पड़ा; उसी क्षण मैं देवी के आसन पर आरूढ़ हो गई। मैंने मनही मन सोचा, यही अच्छा है। जब अन्धी हो गई हूं, तब बाहरी संसार की मालिक मैं और नहीं बन सकती। अब मैं संसार से ऊपर चढ़, देवी बन, अपने स्वामी का मङ्गल सोचूंगी। यह झूठ नहीं। मैं कुछ छल से नहीं कहती हूं। संसारी स्त्री में जो छोटापन है, जो कपटता है, मैंने वह सब उसी क्षण दूर कर दिया। उस दिन, दिन भर, अपनी ही आत्मा से मेरा झगड़ा चलता रहा। इतनी भारी शपथ से बँध कर पति फिर दूसरी बार अब

विवाह नहीं कर सकते, इस आनन्द ने मेरे मन को मेरे पति से बाँध सा दिया। मैं उसे उनसे किसी तरह नहीं छुड़ा सकी।

मेरे प्रेमी पति, दासियों को रोक कर, मेरा सब काम आप करने लगते। पति पर इस तरह से, छोटी छोटी बातों में भी, भरोसा रखना पड़ता; परन्तु मैं क्या कर सकती थी? तोभी, उनको सदा अपने पास पाती। इससे मुझे बड़ा सुख मिलता था। आंखों से उन्हें नहीं देख सकती थी; इस लिये उन्हें पास रखने की इच्छा दिन दिन बढ़ने लगी। वे यदि बहुत देर तक बाहर किसी काम में लग जाते तो मुझे जान पड़ता कि मानो मैं आकाश में लटक रही हूं; मानो मैं किसी वस्तु को पकड़ही नहीं पाती; मानो मैंने अपना आधार खो दिया। पहिले, जब पति कालेज जाते थे, तब, देर होने से मार्ग की ओर, खिड़की को तनिक सो खोल कर, देखा करती थी। जिस जगत् में वे घूमा करते, मैं उस जगत् को नेत्रों से अपने साथ बांध लिया करती थी। और अब, मेरा दृष्टिरहित सारा शरीर उनकी खोज करने लगा। उनकी पृथिवी मेरी पृथिवी के साथ जिस पुल के द्वारा जुड़ी हुई थी, वह अब टूट गया है। अब उनके और मेरे बीच अपार अन्धकार है। अब मैं निरुपाय हो व्याकुलता से, आस लगा कर सोचा करती हूं कि वे कब अपने पार से मेरे पार आ पहुंचेंगे। इसी कारण, यदि वे क्षणभर के लिये भी मुझे छोड़ कहीं चले जाते तो मेरा सारा अन्धा शरीर उठ कर उन्हें पकड़ लेना चाहता और हाहाकार करके उन्हें पुकारने लगता।

परन्तु इतनी अभिलाषा अच्छी नहीं। एक तो योंही स्त्री का बोझ पति पर बहुत रहता है, तिस पर अन्धेपन का भारी बोझा लाद देना और भी बुरा होता है। मेरा यह विश्वव्यापक अन्धकार मुझी को उठाना उचित है। मैंने मन में ठान लिया कि मैं अपने इस अनन्त अन्धेपन से पति को अपने साथ नहीं बांध रक्खूंगी।

थोड़े ही काल में शब्द, गन्ध और स्पर्श से मैंने अपने सब आवश्यक कामों को करना सीख लिया, यहां तक कि, मैं गृहस्थी के बहुत से काम अब पहिले से अधिक निपुणाई के साथ करने लगी। अब मुझे अनुभव हुआ कि दृष्टि मनुष्य की जितनी सहायता करती है, वह उसे उससे अधिक पागल कर देती है। जितना देखना चाहिए, जितना देखने से काम ठीक हो सकता है; नेत्र उससे बहुत अधिक देखते हैं। और नेत्र जब पहरुए का काम करते हैं, कान उस समय आलसी हो जाते हैं; जितना उन्हें सुनना चाहिए, वे उससे कम सुनने लगते हैं। अब चञ्चल नेत्रों के न रहने से मेरी दूसरी इन्द्रियां अपना अपना काम अच्छी रीति से पूरा पूरा करने लगीं।

अब मैं अपने पति को अपना काम नहीं करने देती थी; और, पहिले की नाईं, अब फिर, मैं ही खुद उनका सारा काम कर दिया करती थी।

स्वामी कहते कि तुम मुझे मेरे प्रायश्चित से रोक रही हो। मैं कहती, प्रयाश्चित्त तुम्हें क्यों करना है सो मैं नहीं समझती; परन्तु मैं अपने पाप का बोझ क्यों बढ़ाने लगी?

यों वे चाहे जो कहते; परन्तु मैंने जब उन्हें इस भांति छुट्टी दी तब वे आनन्दित अवश्य हुए। अन्धी स्त्री की जन्मभर सेवा पुरुष का काम नहीं है।

मेरे स्वामी डाक्टरी में पास हो गए। तब मुझे वे आपने गांव को लिवा लाए। गांव में आकर मुझे जान पड़ा मानो मैं अपनी मा की गोद में आ गई। अपने बचपन ही में मैं नगर को भेज दी गई थी। इस बात को इतने दिन हो गए थे कि जन्मभूमि मेरे हृदय में छाया की नाईं जान पड़ती थी। जब तक आंखें थीं, मेरी और सब भावनाओं को हटा कर नगर की शोभा मुझे घेर कर खड़ी थी। जब आंखें जाती रहीं, तब मैंने जान लिया कि नगर आंखों को फुसला रखने वाला है; मन को तृप्त करने की शक्ति उसमें नहीं है। नेत्रों को खोते ही लड़कपन के गांव का स्मरण दिन छिपने के समय नक्षत्रों की ज्योति के समान मेरे मन में चमक उठा।

अगहन के अन्त में हमलोग देवीपुर गए। नया देश, चारों ओर देखने में कैसा था सो मैंने नहीं जाना। परन्तु लड़कपन के अनुभवों ने मेरे सब अङ्गों के घेर लिया। ओस से भीगे, नए जुते हुए खेतों से प्रातःकाल की वायु, सुनहले अरहर और सरसों के खेतों से आकाश भरनेवाली कोमल मीठी सुगन्ध, चरवाहों के गीत, इन्हीं सबोंने, नहीं, वरन् टूटी सड़क पर अद्भुत शब्द करके चलने वाली बैलगाड़ी तक ने, मुझे आनन्द से भर दिया। मेरे बाल्यकाल की बीती हुई बातें प्रत्यक्ष के समान मुझे चारों ओर से घेर बैठीं। सवेरे से सांझ तक जिन जिन बातों को अपनी बाल्यावस्था में देखा करती, वे सब मुझे देख पड़ने लगीं।

इस बात को अवश्य मान लेना पड़ता है कि नगरों में रहने से मनुष्यों की बुद्धि में कई विकार आ जाते हैं। धर्म्म, कर्म्म, श्रद्धा, भक्ति, किसी में निर्म्मल सरलता नहीं रहती है। उसदिन की बात मुझे स्मरण है कि जब, अन्धी हो जाने के पीछे, एक दिन मेरे पड़ोस में रहनेवाली एक सखी ने आकर मुझसे कहा था—कम्मू, तुझे क्रोध नहीं आता? मैं होती तो ऐसे पति का फिर मुख तक न देखती। मैंने उत्तर दिया था–बहिन, मुख देखना तो बन्द हो हो गया है। इसलिये आंखों ही पर क्रोध होता है। स्वामी पर क्रोध करने से क्या होगा। ठीक समय पर वे डाकटर को लाना भूल गए थे, इसलिये ललिता मेरे पति पर क्रोध कर रही थी और मुझे भी क्रोध दिलाना चाहती थी। मैंने उसे समझाया कि संसार में रहने से, इच्छा अथवा अनिच्छा से, जानकर अथवा अनजान भूल, चूक और सुख दुःख सब हुआ ही करते हैं; परन्तु यदि मन में भक्ति पक्की बनी रहे तो दुःख में भी शान्ति मिल सकती है। नहीं तो केवल क्रोध, धमकी, बकझक, इन्हींमें जीवन व्यतीत करना पड़ता है। अन्धी होगई हूं इतना ही दुःख बहुत है। इस पर स्वामी से द्वेष कर दुःख का बोझ और क्यों बढ़ाऊं?

मेरे मुख से ऐसी बातें सुन ललिता रूसकर, घृणा से सिर हिला कर, चली गई। परन्तु, कहने को मैं भी चाहे जो कुछ कहलूं, उसकी कथा में विष अवश्य था; वह बिलकुल निष्फल नहीं गया। ललिता का क्रोध मेरे मनमें भी दे। एक अंगारे फेंक गया। मैंने उन्हें पैरों से कुचल कर बुता दिया था; परन्तु तौभी उनके दे। एक चिन्ह रह ही गए इसीसे मैं कह रही थी कि नगरों का रहना बहुत कठिन है; वहां देखते ही देखते बुद्धि, समय के पहले ही पक कर, सूख जाती है।

गांव में आकर शिवालयवाली बगिया के मनोहर फूलों की सुगन्ध से मेरी आशा, मेरा विश्वास, फिर लड़कपन की नाईं नवीन और उज्वल होगए। मेरा हृदय, मेरा संसार, देवता की प्रीति से पूर्ण हो गए। मैं मस्तक झुका कर कहने लगी "हे देव, अच्छा हुआ जो मेरी आंखें जाती रहीं; तुम तो मेरे लिये बने ही हो"।

"तुम मेरे लिये बने हो!"–हा, मैं भूल गई! तुम मेरे हो यह भी झूठी बात है। मैं तुम्हारी हूं इतना ही कहने का मुझे अधिकार है। अजी, एक दिन मेरे देवता मेरा गला दबा कर मुझसे यही कहलवा लेंगे। कुछ भी चाहे न रहे, मुझे रहना ही पड़ेगा। किसी पर अधिकार नहीं; अधिकार अपने ही ऊपर है।

कुछ दिन अच्छी तरह बीत गए। मेरे पति की डाकतरी भी चल निकली। हाथ में कुछ धन भी हो गया। परन्तु धन वस्तु अच्छी नहीं है। उससे मन बिगड़ जाता है। जब मन राज्य करता है तब वह अपनेही सुख की ओर ध्यान देता है। पर धन जब सुख इकट्ठा करने की चेष्टा करता है तब मन के लिये और काम नहीं बचता। उस समय, मन का इकट्ठा किया हुआ जहां सुख रहता था, पहिले वहीं बिलास की सामग्रियां पैर पसार पसार बैठ जाती हैं। तब सुख के बदले केवल वही सामग्रियां ही मिलती हैं।

किसी विशेष कथा वा विशेष घटना का उल्लेख नहीं कर सकती; परन्तु अन्धों को अनुभव की शक्ति अधिक होती है; अथवा और ही कोई कारण होगा, जिससे धन की बढ़ती के साथ साथ मैं अपने पति के स्वभाव में कुछ अन्तर भली भांति समझने लगी। तरुण अवस्था के आरम्भ में न्याय, अन्याय, धर्म्म, अधर्म्म, आदि विषयों में स्वामी को बहुत विचार था; वह दिन दिन कम होने लगा। मुझे स्मरण है, वे कभी कहा करते थे कि डाकटरी केवल जीविकाही के लिये नहीं सीखता हूं; इससे अनेक दीन दुखियों का उपकार भी कर सकूंगा। जो डाकडर मरते हुए दरिद्रों के द्वार पर आकर बिना रुपया लिये नाड़ी तक नहीं देखते, उनकी बात कहते समय, घृणा से, मेरे पति की बोली तक रुक जाती थी। अब मैं जान गई हूं कि वह दिन नहीं रहा। अपने इकलौते बेटे की प्राण रक्षा के लिये किसी दुखिया नारी ने उनके पांव तक पकड़ लिये थे; परन्तु उन्होंने उसकी कुछ परवाह नहीं की। अन्त में मैंने अपने सिर की सौगन्ध देकर उन्हें उसके घर भेज दिया। वे गए, परन्तु मन से काम नहीं किया। जब हम लोगों के पास धन थोड़ा था, उस समय, मेरे पति अपने नेत्रों से क्या देखते थे सो मैं जानती हूं। परन्तु अब बैङ्क में रुपया बहुत जमा हो गया है। एक बार, किसी सेठ का गुमाश्ता आकर दो दिन तक, एकान्त में, उनसे न जानें क्या कह सुन गया। क्या कह गया सो मैं नहीं जानती; परन्तु उसीके पीछे जब वे मेरे पास आए, तब बड़े हर्ष से उन्होंने बहुत सी बातें मुझसे कीं। उन्होंने बतलाया तो नहीं; परन्तु मैं अपने अन्तःकरण की स्पर्शशक्ति से समझ गई कि आज वे कलङ्क का टीका लगा आए।

पति के साथ, नेत्रों से देखने का, मेरा जो विच्छेद हो गया है वह कुछ भी नहीं; परन्तु जब मैं सोचती हूं कि जहां मैं हूं वहां वे नहीं हैं, तब हृदय के भीतर मैं काँप उठती हूं। मैं अन्धी हूं। संसार के उजियाले से रहित अपने हृदय में मैं अपनी पहिली उमर का नया प्रेम और नई भक्ति लेकर बैठी हूं। परन्तु मेरे पति एक छायावान और शीतल देश को छोड़ कर धन कमाने के पीछे संसार के ऊसर में कहीं छिपते जाते हैं। मेरा जिस पर विश्वास है; जिसे मैं धर्म्म कहती हूं, जिसे सुखसम्पदा से भी अधिक जानती हूं; वह दूरही से हँस कर उसकी ओर कटाक्षपात करते हैं। परन्तु यह विच्छेद बराबर नहीं रहा है। पहली उमर में हम दोनों साथ ही एक ही पथ पर चले थे; परन्तु, इस बात की मुझे कुछ भी सुध नहीं कि हमारे पथ में भेद किस स्थान से हो गया। उन्हें भी इसकी सुध नहीं। पर आज, हमलोग परस्पर इतनी दूर जा पड़े हैं, कि पुकारने पर भी मुझे उनका पता नहीं लगता।

कभी कभी सोचती हूं कि मैं अन्धी हूं इसीसे छोटी छोटी बातों को भी बहुत भारी समझती हूं। यदि मेरे नेत्र होते तो, सम्भव है कि, संसार की सब वस्तुओं को और लोगों ही के समान मैं जानती।

मेरे पति भी एक दिन मुझे योंही समझा रहे थे। उस दिन, सबेरे एक बूढ़ा मुसलमान अपनी पोती की चिकित्सा के लिये उन्हें बुलाने आया। उसकी पोती को हैज़ा होगया था। मैंने सुना, वह कह रहा था, बाबूजी, मैं बड़ा ग़रीब हूं; पर अल्लाह तुम्हारा भला करेगा आप मेरा काम कर दीजिए। मेरे पति ने उत्तर दिया, अल्लाह जो कुछ करेगा उसीसे मेरा पूरा नहीं पड़ेगा, तुम क्या करोगे सो तो कहो। यह सुनते ही मैं सोचने लगी कि ईश्वर ने मुझे अन्धी कर दिया है; बहरी भी क्यों नहीं बनाया? वृद्ध गहरी लम्बी सांस भर कर 'या अल्लाह' कहते हुए उठ गया। मैंने तुरन्त अपनी महरी के द्वारा उसे घरके पिछवाड़े वाले द्वार के पास बुलवा भेजा और उससे कहा, बाबा, तुम्हारी पोती के इलाज के लिये यह थोड़ा सा ख़र्च देती हूं; तुम मेरे पति की मङ्गल कामना करके उस मुहल्ले के डाक्टर हरिश्चन्द्र को बुला ले जाओ।

परन्तु दिन भर मुझे अन्न नहीं रुचा। स्वामी दूसरे पहर नींद से जाग कर पूछने लगे, आज तुम कुछ उदास सी क्यों देख पड़ती हो? एक पुराना अभ्यस्त उत्तर मुख से निकलने को था कि–"नहीं, कुछ नहीं"; परन्तु छल का समय अब नहीं रहा है; मैंने साफ़ साफ़ कह दिया कि कई बार तुमसे इस बात को मैं कहना चाहती थी, परन्तु कहती बेर मेरे ओंठ बन्द हो जाते थे। अपने मन की बात तुमको मैं समझा सकूंगी वा नहीं सो नहीं जानती; परन्तु तुम निश्चय अपने मन में समझ सकते हो कि जिस भांति हम दोनों ने मिल कर एक साथ जीवन की यात्रा आरम्भ की थी, आज वह बात नहीं है। स्वामी ने हँसकर कहा हेरफेर होना तो संसार का धर्म है। मैंने कहा कि रुपया, पैसा, रूप, यौवन, इन सभों ही का हेरफेर हुआ करता है; पर क्या कोई ऐसी वस्तु नहीं है जो सदा एकसी बनी रहै। मेरे पति ने कुछ गम्भीर भाव से उत्तर दिया, "देखो, दूसरी स्त्रियां सच्ची बातों के लिये दुख मानती हैं,–किसीका पति धन नहीं कमाता, किसीका पति उससे प्रेम नहीं रखता,–और तुम अपना दुःख आकाश से उतार लाती हो!" मैंने तुरन्त जान लिया कि अन्धता ने मेरी आंखों में एक प्रकार का अञ्जन लगा कर मुझे इस फेरफारवाले संसार के बाहर उठा कर फेंक दिया है; मैं दूसरी स्त्रियों की भांति नहीं हूं; मेरे पति मुझे नहीं समझेंगे।

इसी बीच में मेरी एक फुफुआसास देश से अपने भतीजे की खोज लेने आई। जब हम दोनों ने उठकर उन्हें प्रणाम किया, मुझे देखते ही वह बोल उठीं, "बहू, तुमने अपने भाग से अपनी आंखें खो दी हैं, भला यह तो बताओ कि सुन्दरलाल (मेरे पति) अन्धी के साथ गृहस्थी कब तक निभावेगा? उसका दूसरा विवाह कर देना चाहिए। मेरे पति यदि हँसकर कहते "बुआ, अच्छा तो है, झटपट इस काम को कर डालो"—तो सब साफ़ हो जाता। परन्तु नहीं, वे कुछ लज्जित सा होकर बोले "आः, आप यह क्या कह रही हैं!" बुआ ने उत्तर दिया "क्यों, मैंने कुछ बेजा थोड़े ही कहा है? अच्छा, बहू, तुम्हीं बताओ। मैं हँसने लगी" मैंने कहा, बुआ आपने अच्छे आदमी से पूछा है! जिसकी गांठ काटनी हो उसीसे सम्मति पूछी जाय? बुआ बोल उठीं "हां, सो तो ठीक ही है! अभी रहने दो। सुन्दर, हम तुम, पीछे, अलग, इसकी सलाह करेंगे। पर, बहू, मैं फिर भी कहूंगी; सौत लो होवेही गी; पर इसमें तुम्हारी ही बड़ाई होगी"।

दो दिन पीछे मेरे पति ने, मेरे ही सामने, बुआ से पूछा; बुआ यह विचारी आंखों से लाचार है, कोई हरघड़ी इनके पास रह कर इनकी सेवा किया करे तो मैं निश्चिन्त हो जाऊं।" जब नई नई मैं अन्धी हुई थी, उस समय यह बात कही जाती तो सजती भी। परन्तु अब आंखों के न होने से गृहस्थी का वा मेरा क्या बिगड़ता था, सो मैंने नहीं समझा। परन्तु मैंने कुछ नहीं कहा; चुप ही रह गई। बुआ कहने लगीं, "क्या कुछ कमी है? हमारी ही बिरादरी में एक लड़की है, वह जैसी सुन्दरी है, स्वभाव की भी वैसी ही सुशीला है। ठीक लक्ष्मी की मूर्त्ति है। अब तक ठीक घर नहीं मिला इसीसे रुकी है। नहीं तो उमर व्याह के लायक हो गयी है। और तुम्हारे यहां छोटी लड़की का काम नहीं है। सयानी लड़की हो तौ ही अच्छा। तुम्हें देख कर तो वे लोग खुशी से उसे व्याह देंगे"। मेरे पति चौंक कर बोल उठे, "व्याह की बात कौन पूछता है?" बुआ कहने लगीं, "अच्छी कही! व्याह नहीं करोगे तो क्या किसी भले घर की बेटी तुम्हारे यहां आपही आकर रहेगी?" बात तो ठीक थी। न मेरे पति, और न मैं ही इसके विपरीत कुछ कह सकी।

मैं अपने बन्द नेत्रों ने अनन्त अन्धकार में अकेली खड़ी होकर, ऊपर की ओर मुख उठाकर पुकारने लगी "भगवान्! मेरे पति की रक्षा करो!"

इसी बीच एक दिन, सबेरे ही, जब मैं पूजा करके बाहर निकली, बुआ जी ने मुझे पुकार कर कहा, बहू, जिस लड़की की बात उस दिन मैं तुम से कह रही थी, उसके नाना उसे लेकर शङ्करपुर

जा रहे थे, सो कल रात से वे यहां आ ठहरे हैं; मैंने बहुत कह सुन कर उन्हें यहां २।४ दिन टिक जाने के लिये राज़ी कर लिया है। चम्पा, यह तेरी बड़ी बहिन लगती है, इसके पैर छू!

ठीक उसी समय मेरे पति भी उसी ठौर आ रहे थे। अपरिचित स्त्री को देख कर वे लौटे जा रहे थे। उन्हें देख बुआ जी ने पुकार कर कहा, सुन्दर, कहां जाते हो? यहां आओ। उन्होंने घूम कर पूछा ये कौन हैं? बुआ बोलीं, इसीकी बात मैं तुम से कह रही थी। इसीका नाम चम्पा है। इसके नाना इसे लेकर शङ्करपुर जा रहे थे; सुन कर मैं ने टिका लिया है। यह कब आई, शङ्करपुर में क्या काम है, इत्यादि बहुत सी अनावश्यक बातें बारबार पूछ कर मेरे पति आश्चर्य्य प्रकट करने लगे।

मैं मन में सोचने लगी कि जो कुछ हो रहा है वह तो सब मैं समझती हूं। परन्तु इसमें छल करने का क्या प्रयोजन है? जो कुछ करना हो कर डालो। परन्तु मेरे सामने यह ओछापन क्यों? मुझे धोखा देने के लिये ऐसा आचरण क्यों?

चम्पा का हाथ पकड़ कर मैं उसे अपने सोने के घर में ले गई। उसके मुख पर, देह पर, हाथ फेर कर देखा,—मुख सुन्दर ही होगा; वयस भी चौदह पन्द्रह से कम न होगी।

वह ज़ोर से एक बड़े मीठे स्वर से बोल उठी "यह क्या करती हो? क्या मन्त्र पढ़ कर मेरे ऊपर से भूत उतार रही हो?"

उसका यह हँसना मुझे इतना सरल, इतना खुला हुआ, जान पड़ा कि तुरन्त मेरे मन में से एक काला बादल अलग हट गया। मैंने अपने दहिने हाथ से उसका कण्ठ घेर कर कहा, बहिन, मैं तुम्हें देख रही हूं। और यों कह कर मैं उसके कोमल मुखपर फिर एकबार अपना हाथ फेरने लगी।

"देख रही हो?" यह कह कर वह फिर ज़ोर से हँसने लगी और बोली "क्या मैं तुम्हारे बगीचे की तरकारी हूं जो हाथ फेर फेर कर देखती हो कि मैं कितनी बढ़ गई हूं"।

तब मेरे मनमें आया कि चम्पा यह नहीं जानती कि मैं अन्धी हूं। मैंने कहा, बहिन, मैं अन्धी हूं; तुम्हें आंखों से नहीं देख सकती। मेरी बात सुनकर उसे बड़ा आश्चर्य्य हुआ; चुपचाप थोड़ी देर तक वह कुछ सोचने लगी। मैं अच्छी भांति समझ गई कि वह अपने कुतूहली और नए तथा बड़े बड़े नेत्रों से मेरी दृष्टिहीन आंखों को और मेरे मुख के भाव को, बड़े ध्यान से देख रही है। थोड़ी देर बाद वह बोली—"ओः, इसीलिये तुमने चाची को यहां बुलवा भेजा है?" मैंने कहा, नहीं, मैंने नहीं बुलवाया है। तुम्हारी चाची आपही आई हैं।

चम्पा फिर ज़ोर से हँसने लगी और बोली "दया करके आई हैं! यदि यह सच है तो वे दयामयी जल्दी नहीं हटेंगी! पर, नाना मुझे यहां क्यों ले आए?"

ठीक उसी समय बुआजी वहां आ पहुंचीं। अब तक वह मेरे पति से बोल रही थीं। उनके वहां आते ही चम्पा बोल उठी, चाची, मैं घर जाऊंगी; बताओ मैं कब घर जाने पाऊंगी?

बुआ कहने लगीं "ऐं हैं! लें!! आते देर नहीं और चल चल की पड़ गई!!! ऐसी चञ्चल छोकरी तो मैंने कहीं नहीं देखी!"

चम्पा—"चाची, जान पड़ता है, तुम तो यहां से अभी हिलोगी नहीं। तुम्हारा तो यह घर ही है। जितने दिन चाहो यहां तुम ठहरी रहो, पर मैं नहीं रहूंगी; सो मैं पहिले हा से कहे देती हूं"।

तब मेरा हाथ पकड़ कर उसने कहा; "क्यों बहिन, तुम क्या कहती हो? मैं तो तुम लोगों के घर की नहीं हूं।" मैं इसका क्या उत्तर देती? जब कुछ सूझ न पड़ा, तब उसे खींच कर मैंने अपने हृदय से लगा लिया। मैं समझ गई कि बुआ जी चाहे जितनी प्रबला क्यों न हों, पर इस चम्पा को सम्हालने की शक्ति उनमें नहीं है। ऊपर क्रोध न कर के वे चम्पा को कुछ दुलारने सी लगीं। चम्पा ने

उनके दुलार को, मानो हिला कर, अपने देह से फेंक दिया। बुआ जी इन सब बातों को देख हँसी हँसी में उड़ा कर चली जाने लगीं। फिर कुछ सोच कर वे कहने लगीं "चल, तेरे नहाने को देर हो रही है; मेरे साथ आ" वह मेरी देह से चिपट कर बोली, बहिन आओ, तुम भी मेरे साथ चलो; हम तुम साथ ही चलेंगे। बुआ जी बेबस होकर चुप रहीं। वे जानती थीं कि बहुत खींचा तानी करने से चम्पा ही की जीत होगी, और मेरे सामने अपनी बेढब हार से उनकी कलई खुल जावैगी।

चम्पा ने मुझसे पूछा, तुम्हारे कोई लड़का क्यों नहीं है? मैंने कुछ मुसकरा कर कहा, मैं क्या जानूं, भगवान ने नहीं दिया। चम्पा बोली, इसका कोई कारण अवश्य होगा। मैंने कहा सो भी अन्तर्यामी ईश्वर ही जानें। बालिका ने प्रमाण के तौरपर कहा, "देखो न, चाची में इतनी कुटिलता भरी है, इसी से उसे भी कोई बालबच्चा नहीं हुआ"। पाप पुण्य और सुख दुःख इत्यादि का तत्व मैं आपही नहीं जानती, उसे क्या समझाती। केवल एक ठंढी साँस लेकर मनही मन में बोली—"तुम्हीं जानो!" चम्पा तुरन्त मुझसे लिपट कर बोली, अरे, मेरी बात सुन कर तुम सांस लेती हो! क्या कोई मेरी बात पर भी ध्यान देता है?

मुझे मालूम हुआ कि स्वामी के धन्धे में बाधा पड़ने लगी। दूर से कोई बुलाता तो वे जाते ही नहीं। पास से भी कोई बुलाने आता, तौभी झटपट काम करके लौट आते थे। पहिले जब काम से अवकाश मिलता था, तब दोपहर को भोजन और निद्रा के ही समय वे भीतर आते थे। अब बुआ जी भी जब तब उन्हें बुला भेजती थीं; वह भी बिना किसी कारण के ही उनकी ख़बर लेने आया करते थे। बुआ जब चिल्लाकर पुकारतीं, चम्पी, मेरे पान तमाखू का बटुवा तो ले आ!—मैं समझ जाती कि मेरे पति भी उनके पास हैं। पहिले पहिल दो एक दिन चम्पा ने उनकी आज्ञा पालन की; परन्तु, फिर पुकार कर बुआ अपना गला फाड़ लेतीं, तो भी वह अपनी जगह से न हिलती। बुआ पुकारतीं चम्पी! चम्पी! वह महाभयभीत सी होकर मेरी देह से लिपटी रहती; एक प्रकार की शङ्का और विषाद उसे घेर लेता। इसके पीछे मेरे पति की बात वह भूल कर भी कभी मुझसे नहीं पूछती थी।

इसी बीच में मेरे भैया मुझे देखने आए। मैं जानती थी कि उनकी दृष्टि बड़ी तीक्ष्ण है। किधर की हवा चल रही है, उनसे यह छिपाना कठिन था। भैया बड़े बारीक विचारक हैं। वे तिलभर भी अन्याय को क्षमा नहीं करते। उन्हीं-के सामने मेरे पति को अपराधी की भांति खड़ा होना पड़ेगा; यही भय मुझे सबसे अधिक था। मैंने मामूली से अधिक प्रफुल्लता से सब बातें ढक डालीं। मैं बहुत सी बातें बनाकर, बहुत सा धूमधड़ाका दिखलाके, नेत्रों के सामने चारों ओर धूल उड़ाने की चेष्टा करने लगी। परन्तु यह काम मेरे लिये इतना अस्वाभाविक था कि उसीसे पकड़ जाने की सम्भावना भी अधिक हो गई। परन्तु भैया अधिक दिन तक नहीं ठहरे। मेरे पति इतनी अस्थिरता दिखाने लगे कि उनके आचरण से रूखा-पन साफ़ झलकने लगा। भैया भी सब देख सुन कर चले गए। जाते समय अपना कांपता हुआ स्नेह से भरा हुआ हाथ उन्होंने बड़ी देर तक मेरे सिरपर रक्खा। मन हीं मन एकाग्रचित्त हो कर क्या आशीर्वाद दिया मैंने नहीं जाना; पर उनके नेत्रों से आंसू बहने लगे थे। क्योंकि दो एक बून्द मेरे सिर पर आ टपके थे!

मुझे स्मरण है, उस दिन, सन्ध्या समय, बाज़ार का दिन होने के कारण, सब लोग अपने अपने घर लौट रहे थे। दूर से मेहं लेकर एक आंधी चली आती थी। उसीसे भीगी हुई मिट्टी का गन्ध और वायु का भीगापन आकाश में भरा हुआ था। मेरे सोने के कमरे में जब तक मैं अकेली रहती थी, तब तक, दिया नहीं जलाया जाता था, कि कहीं मेरे कपड़ों से दीपक की

शिखा लगकर कोई दुर्घटना न हो जाय। मैं उस निर्जन अँधेरी कोठरी में, भूमि पर बैठी हुई, दोनों हाथ जोड़ कर अपने अनन्त अन्धजगत के जगदीश्वर को पुकार रही थी,—कह रही थी, प्रभु, तुम्हारी दया जब अनुभव नहीं होती, तुम्हारा अभिप्राय जब समझ में नहीं आता, तब इस अनाथ टूटे हृदयरूपी नाव के पतवार को भरसक दोनों हाथों से छाती में दबालेती हूं। छाती से रुधिर निकल पड़ता है, तौभी आंधी के हिलोरे को सम्भाल नहीं सकती; मेरी और कितनी परीक्षा लोगे। मेरी शक्ति ही कितनी है!—यों कहते कहते आंसू निकल पड़े, चारपाई पर माथा टेक कर कर मैं रोने लगी। दिन भर गृहस्थी का काम करती हूं; चम्पा छाया के समान साथ साथ रहती है; हृदय के भीतर जो आंसू भर जाता है उसे बहाने का समय नहीं मिलता। आज एकान्त पा कर जी खोल कर मैंने रो लिया। उसी समय चारपाई कुछ हिली; किसी मनुष्य के पैरों की आहट जान पड़ी; तुरन्त चम्पा आकर मेरे गले से लिपट गई; विना कुछ बोले चाले अपने अञ्चल से मेरे नेत्रों को पोंछने लगी। वह सन्ध्या के पहिले कब, क्या सोच कर, मेरी चारपाई पर आकर लेट गई थी, मुझे इसका कुछ पता नहीं था। उसने मुझसे कुछ भी नहीं पूछा; मैंने भी कुछ नहीं कहा। वह धीरे धीरे अपना ठंढा हाथ मेरे ललाट पर फेरती रही। इसी में कब मेघ गर्जना और मूसलधार वर्षा के साथ आंधी आगई, मुझे कुछ भी नहीं जान पड़ा। परन्तु बहुत दिनों के पीछे एक कोमल शान्ति आकर मेरे जलते हुए हृदय को ठंढा करने लगी।

दूसरे दिन चम्पा कहने लगी, चाची, जो तुम घर न चलो तो मैं अकेली ही, रमुआ की माई को साथ लेकर, जाती हूं। बुआ ने कहा, जल्दी क्या पड़ी है? अच्छा ले, कल मैं भी घर जाऊंगी। देख, चम्पी, सुन्दर तेरे लिये यह कैसी मोती जड़ी हुई मुँदरी लाया है! और बुआजी ने बड़े गर्व से चम्पा के हाथ में एक मुँदरी दी। चम्पा ने उत्तर दिया, चाची, देखो, मैं कैसा अच्छा निशाना मार जानती हूं—और तुरन्त खिड़की की राह से, घ के बाहर पास ही जो तालाब था, उसमें उस उसे फेंक दिया। बुआजी क्रोध से, दुख से, विस्म से काठ होगई। वे मेरा हाथ पकड़ कर बारबा कहने लगीं, बहू, मेरे सिर की सौगन्ध, सुन्दर से इस लड़कपन की बात मत कहना। मैंने कहा मुझे क्या काम है, मैं कभी नहीं कहूंगी।

दूसरे दिन चलने के पहिले चम्पा मुझ लिपट कर कहने लगी, बहन मुझे भूलना मत मैंने बराम्बार उसके मुख पर दोनों हाथों को फे कर कहा, बहिन, अन्धे कुछ नहीं भूलते। मुझे तो और दूसरी वस्तु का सहारा ही नहीं है; मन ही को टटोल कर रहना है। यों कह कर मैं उसका माथा चूमा; उसके केशों पर मेरे आंसुओं की झड़ी होने लगी।

चम्पा के चले जाने पर मुझे पृथिवी सून जचने लगी। उसके आने से मेरे प्राणों में जे सुगन्ध, सौन्दर्य, कोमल तरुणाई, और उजियाल भर गए थे, उसके साथ ही वे भी जाते रहे मैंने सहारे के लिये चारों ओर हाथ फैलाया परन्तु, हाय, कुछ भी न मिला! मेरे पति आक बड़ा हर्ष प्रकाश कर कहने लगे, कि "इन लोगों के जाने से बहुत अच्छा हुआ। अब काम काज के लिये कुछ सावकाश मिला करेगा"। धिक्का मुझे! मेरे ही लिये यह चातुरी! मैं क्या सत्य से डरती हूं! मैं क्या किसी चोर से भय मानती हूं मेरे पति क्या नहीं जानते कि जब मैंने अपने नेत्र दे डाले थे, उसी समय मैंने बड़े शान्त चित्त से सब सुखों को तिलाञ्जलि दे दी थी?

अब तक मुझ में और मेरे पति में अन्धेपन ही का अन्तर था, आज से एक और व्यवधान हो गया। मेरे पति कभी भूल कर भी मेरे सामने चम्पा का नाम नहीं लेते थे, मानो, उनके लिए संसार से चम्पा सम्पूर्ण लुप्त हो गई थी। परन्तु पत्रों से वे उसका समाचार सर्वदा पाते थे, यह मैं अच्छी तरह जा

गई। जैसे, झील में जिस दिन बाढ़ का जल प्रवेश करता है, उसी दिन कमल की नाल पर बल पड़ता है; ठीक उसी भांति जिस दिन मेरे पति के हृदय का मूल कुछ फूलने लगता, उसी दिन मैं भी अपने हृदयमूल में उसका अनुभव करलेती। किस दिन उन्हें समाचार मिलता, किस दिन न मिलता, मुझसे कुछ अज्ञात न रहता। परन्तु मैं भी उनसे उसका समाचार कुछ न पूछ सकती। मेरे अन्धकार हृदय में जो उन्मत्त स्वेच्छा-विहारी चमकता हुआ सुन्दर छोटासा तारा क्षण भर के लिये उदय हुआ था, उसका संवाद पाने के लिये, उसकी कथा आलोचना करने के लिये, मेरे प्राण प्यासे रहते थे; परन्तु अपने स्वामी से पल भर के लिये भी मैं उसका नाम नहीं ले सकती थी। हम दोनों के बीच में वाक्य और वेदना से परिपूर्ण यह मूक भाव अटलरूप में विराजने लगा। कुछ दिन यों ही बीत गए। एक दिन महरी आकर बोली, बहू जी, आज बाहर कैसी तैयारी हो रही है? बाबूजी कहीं जा रहे हैं! मैंने भी जान लिया था कि किसी काम का उद्योग हो रहा है। मेरे भाग्यरूपी आकाश में आंधी के पहले की निस्तब्धता, और उसीके अन्तमें प्रलय के टूटेफूटे मेघ आकर जमा हो रहे थे। संहारकारी शङ्कर चुपचाप अँगुली के इशारे से अपनी सारी प्रलयशक्ति को मेरे सिर के ऊपर इकट्ठी कर रहे थे। यह सब मैंने भी जान लिया था। दासी से मैंने कहा मैं तो इस बात को कुछ भी नहीं जानती। वह और दूसरा प्रश्न करने का साहस न कर, एक लम्बी सांस भर कर, वहां से चली गई।

बड़ी रात बीतने पर मेरे स्वामी ने आकर मुझसे कहा, बहुत दूर एक जगह मेरा बुलावा है; मैं कल तड़के ही यात्रा करूंगा; सम्भव है कि दो तीन दिन का विलम्ब हो जाय। मैंने शय्या से उठ कर कहा, क्यों झूठ बोल रहे हो? मेरे पतिने कांपते हुए अस्पष्ट स्वर से कहा, झूठ मैंने क्या कहा! मैंने कहा, तुम विवाह करने जाते हो!

वे चुप रहे। मैं भी चुपचाप खड़ी रही। कुछ देर तक कमरे में किसी प्रकार का शब्द न हुआ। अन्त में मैंने पूछा, कुछ उत्तर दो! कहो, हां मैं विवाह करने जाता हूं। उन्होंने प्रतिध्वनि की नाईं उत्तर दिया, हां मैं विवाह करने जाता हूं। मैंने कहा, नहीं, तुम नहीं जाने पाओगे। मैं तुम्हें इस महा आपत्ति से, इस महा पाप से, बचाऊंगी। यदि मुझसे इतना भी न हुआ तो मैं स्त्री काहे की, मैंने इतना शिवपूजन क्यों किया है।

फिर कुछ देर के लिये वहां सन्नाटा छा गया। मैंने भूमि पर गिर, अपने पति के पैरों से लिपट कर कहा—मैंने तुम्हारा कौन सा अपराध किया है, किस बात में मेरी भूल हुई है? दूसरी स्त्री का तुम्हें क्या प्रयोजन है? तुम्हे मेरे सिर की सौगन्ध सत्य कहो!

तब मेरे पति धीरे धीरे कहने लगे—"मैं सच कहता हूं, मैं तुमसे डरा करता हूं। तुम्हारी अन्धता ने तुमको एक अनन्त आवरण से ढक रक्खा है। वहां मेरा प्रवेश असम्भव है। मैं जिसको धमका सकूं; जिस पर क्रोध कर सकूं; जिसे आदर कर सकूं; जिसके लिये गहने गढ़वा सकूं; मुझे ऐसो ही एक रमणी से प्रयोजन है।"

"मेरे हृदय के भीतर चीर कर देखो! मैं एक साधारण नारी हूं; अपने मन में मैं वही नई व्याही हुई बालिका ही हूं; मैं विश्वास करना चहती हूं; अवलम्बन करना चाहती हूं; तुम्हारी पूजा करना चाहती हूं। तुम अपना अपमान कर, मुझे दुःसह दुख देकर, अपने से मुझे बड़ा न समझो; मुझे सब विषयों में अपने चरणों के तले पड़ा रहने दो।"

मैंने क्या क्या कहा था, मुझे स्मरण नहीं है। क्या बढ़ा हुआ समुद्र अपनी गर्जन आप सुन सकता है? मुझे इतना ही याद है, कि "यदि मैं सती हूं; पति ही में यदि मेरी प्रीति है; तो भगवान साक्षी रहें, तुम किसी भांति अपना धर्म-शपथ नहीं लांघ सकोगे। उस महापाप के पहिले

या तो मैं विधवा हो जाऊँगी; अथवा चम्पा ही नहीं बचेगी! यों कह कर मैं गिरपड़ी; मुझे मूर्च्छा आ गई !!!

जब फिर मुझे चेतना हुई, तब भोर होने लगा था। पक्षिओं ने तब तक बोलना आरम्भ नहीं किया था। परन्तु मेरे पति चले गए थे!

मैं उठकर पूजा की कोठरी में चली गई, भीतर से द्वार बन्द कर पूजा में बैठ गई। दिनभर बाहर नहीं निकली। सन्ध्या को एक आंधी आई, जिससे मकान काँपने लगा। मेरे हृदय में भी आंधी चल रही थी। परन्तु मैं यही कह रही थी, हे सदाशिव, मेरे पति की इस समय रक्षा कीजिए; उन्हें इस महा पाप से बचाइए। मेरे भाग्य में जो चाहे हो, परन्तु उनसे पाप कर्म्म न करवाइए। रात भर बीत गई। उसके दूसरे दिन भी मैंने आसन नहीं छोड़ा। इस अनिद्रा में, अनाहार में, मुझे कहां से बल मिल गया था सो मैं नहीं जानती। मूर्त्ति के सामने मैं भी मूर्त्ति बनी बैठी रही।

सन्ध्या के समय बाहर से द्वार पर धक्के लगने लगे। अन्त को द्वार तोड़ कर कोई भीतर घुस आया। मैं उस समय फिर अचेत होकर गिर गई।

जब मेरी मूर्च्छा टूटी, किसीने मुझे बहिन कह कर पुकारा। मैंने देखा कि मैं चम्पा की गोद में पड़ी हूं। मैंने ज्योंही सिर हिलाया, उसके विवाह का नया वस्त्र मेरे सिर से छू गया। हा जगदीश्वर, मेरी विनती तुमने नहीं सुनी! मेरे स्वामी का पतन हो ही गया!

चम्पा ने सिर नीचा करके कहा, बहिन, तुम्हारी असीस लेने आई हूं।

सुनते ही मैं काठ हो गई। एक पलभर पीछे बोली, बहिन, तुझे क्यों न असीस दूं? तेरा क्या अपराध है?

चम्पा अपनी मीठी बोली से हँस कर बोली, अपराध!—तुम अपना व्याह करो तो कोई अपराध नहीं; मेरा ब्याह होते ही अपराध हो गया?

मैं भी चम्पा से लिपट गई; मनही मन में कह लगी, जगदीश! तेरी इच्छा का अन्त कहां है? अच्छा, जो चोट लगी, वह मेरे सिर ही पर ल परन्तु मेरे हृदय में, जहां मेरा धर्म्म, मेरा विश्वा है, वहां चोट न लगने दूंगी। मैं जैसी थी वै ही बनी रहूंगी! चम्पा ने मेरे पैरों पर गिर पैरों धूल अपने सिर पर रक्खा। मैंने कहा तेरा सौभाग चिरञ्जीव हो; तू जीवन भर सुख भोगती रह।

इतनेही में कोई वहां आकर बड़े स्नेह से पुका लगा 'कम्मू!'

सुनते ही चम्पा सिर पर घूंघट खींच, अल जा बैठी। यह भैया का स्वर था। मैंने उठ उनके चरण छुए।

मैंने चम्पा को गले लगा कर कहा, भैया दे देख तू यों हट क्यों गई? उसने मेरे कान पर अप मुख रख कर कहा, भैया कैसे, ये तो अब तुम्हा बहनोई हैं!

भैया भी हँसने लगे। तब मैंने सारा वृत्तान समझा। मैं जानती थी कि भैया ने प्रतिज्ञा कर थी कि वे कभी विवाह नहीं करेंगे।

अम्मा हैं ही नहीं; कोई कह सुन कर उन विवाह करनेवाला नहीं था। लोग कहा कर थे कि भैया अंगरेज़ी चालचलन के मनुष्य हैं किसीसे उनका मत मिलता ही नहीं। परन्तु आ मैंने ही उनका विवाह किया। मुझे बचा लेने लिये भैया ने अपनी प्रतिज्ञा तोड़ डाली। हे ज दीश्वर! तू बड़ा समर्थ है। मेरे दोनों नेत्रों जल का प्रवाह बहने लगा। भैया ने धीरे मेरे सिर पर अपना हाथ रक्खा। चम्पी मुझ लिपटी हुई हँसने लगी।

रात को निद्रा नहीं आई। मैं घबड़ाती अपने पति की राह देखने लगी। लज्जा और नैरा को वह कैसे सहेंगे, मैं यही सोचती रही।

बहुत रात बीत जाने पर धीरे से द्वार खुले मैं चौंक कर उठ बैठी। मेरे पति के पैरों की आह मिली। मेरा कलेजा बड़े वेग से धड़कने लगा।

वे मेरे पास आकर, मेरा हाथ पकड़ कर कहने लगे, तुम्हारे भाई ने मुझे बचा लिया। मैं क्षण भर के मोह में पड़ कर मरने जाता था। जब मैं यहां से चला, मेरे हृदय पर कितना भारी पत्थर लद रहा था, भगवान ही जानते हैं। परन्तु गनेशगञ्ज पहुंच-कर मैंने सुना कि एक दिन पहिले ही चम्पा से तुम्हारे भाई का विवाह हो गया है। मुझे कितनी लज्जा हुई, परन्तु साथही कितना आनन्द भी हुआ, सो मैं नहीं कह सकता। अब मैंने निश्चय जान लिया है कि तुमको छोड़ मुझे कभी सुख नहीं मिलैगा। तुम मेरी देवी हो!

मैं ने हँस कर कहा, नहीं, मैं और देवी बनना नहीं चाहती। मैं तुम्हारी मामूली स्त्रीही बनी रहूंगी। पति ने कहा, मेरी एक बात तुम्हें भी माननी होगी। मुझे देवता कह कर और लज्जित न करना!

दूसरे दिन, बाजे गाजे से मुहल्ला काँपने लगा। सब लोग आनन्द मनाने लगे। हमारे यहां बड़ा धूम मचगया। परन्तु विचारे मेरे पति की दुर्गति बढ़ गई। चम्पा अवसर पाते ही, भांति भांति से उनको छेड़ा करती। उसके परिहास के भय से, जब तक वह हमारे घर रही, उनका घर में आना कठिन हो गया। परन्तु और किसीने, कभी भूल कर भी, वे कहां गए थे उसका उल्लेख नहीं किया*।

कुमुदबन्धु मित्र।

दिल्ली-दर्बार।

परिवर्तन-शील जगत में सदा परिवर्तन होता रहता है। कभी कोई बात स्थिर नहीं रहती। स्वयम् मनुष्य ही, जो ईश्वर की सृष्टि का गौरव और उसकी अद्भुत शक्ति का आदर्श है, सदा बना नहीं रह सकता तो और बातों का क्या कहना है, जो विशेष कर उसीके आश्रित हैं। पुरातत्ववेत्ताओं के अनुसार आज इस बात को लगभग पांच छ हज़ार वर्ष हुए होंगे जब महाराज युधिष्ठिर ने जङ्गलों को साफ करके एक नगर बसाया और यज्ञ किया। यज्ञ क्या किया, वैर का बीज बोया। दुर्योधन अपने भाई का विभव देख कर बहुत जला और इस बात का उद्योग करने लगा कि कैसे पाण्डवों का नाश हो। बेईमान मामा की बेईमानी से उसने जुए में युधिष्ठिर से सब कुछ छीन लिया और अन्त में भाइयों सहित उन्हें बनवास दिया। कृष्ण भगवान ने लाख लाख उद्योग किया कि आपस का वैरभाव घर ही में निपट जाय; पर यह कब सम्भव था कि एक ही देश में दो बराबर के राजा राज करते। एक म्यान में कभी दो तलवारें रहीं ही नहीं हैं। अन्त को महाभारत का घोर युद्ध ठना। अनेक वंश, राज्य और कुल नष्ट होगए और लाखों क्या करोड़ों जीवों के प्राण आहुति दिए गए, तथा भीष्म, द्रोण, कर्ण, अभिमन्यु से लाखों वीर इस युद्ध के पीछे भारत-भूमि को वीरों से एक प्रकार शून्य कर गए। अस्तु किसी तरह महाराज युधिष्ठिर को निष्कण्टक राज्य मिला और उन्होंने अपना प्रताप दिखाने के लिये अश्वमेध यज्ञ किया। ये सब घटनाएं जिस मैदान में हुई थीं, उसीके एक टुकड़े पर इस दिल्ली-दर्बार की रचना हुई है।

महाभारत के ४००० वर्ष पीछे इस भूमि पर ज्योतिषियों की सहायता से इस बात का उद्योग किया गया कि जिसमें क्षत्रियों का राज्य अटल बना रहे। पर इसमें सफलता न हुई, लोह-खम्भ स्थिर न रह सका। इसके पीछे यहीं पृथ्वीराज का अभ्युदय, उसकी प्रतापवृद्धि और अन्त में उसका अधोपतन हुआ और साथ ही हिन्दुओं के राज्य का भी एक प्रकार से अन्त हो गया। इसके पीछे बाबर और इब्राहीम तथा अकबर और हेमू का युद्ध होकर मुग़ल राज्य की यहीं जड़ जमी। फिर भारतवर्ष के दक्षिणी भाग में मरठ्ठों के हिन्दूराज्य का अभ्युदय हुआ, पर सन् १७६१ में उन्होंने भी इस भूमि पर पराजित हो कर भविष्यत में हिन्दूराज्य

---

* बङ्गभाषा के प्रसिद्ध लेखक बाबू रवीन्द्रनाथ ठाकुर की रची कहानी का भावानुवाद।

6

की आशा को जड़ मूल से नाश कर दिया। कुछ काल पीछे अंग्रेज़ों का राज्य यहां तक फैल-आया। अन्त में सन् १८५७ की विद्रोहाग्नि ने कुछ दिनों के लिये तो अङ्गरेज़ों के राज्य के स्थिर रहने में भी बड़ी प्रबल आशङ्काएं उत्पन्न कर दी थीं, पर सिक्ख और गोरखे वीरों की सहायता से अङ्गरेज़ों ने जय पाई और विद्रोह शान्त हुआ। सन् १८७७ में रसिक लोर्ड लिटन ने बड़ा भारी दर्बार करके महारानी विक्टोरिया को भारतवर्ष की सम्राज्ञी प्रसिद्ध किया। कुटिल काल ने महारानी को भी अपने गाल का ग्रास बनाया और गत जनवरी मास में इसी स्थान पर महाराज सप्तम एडवर्ड के राज्यतिलकोत्सव के उपलक्ष में बड़ा भारी दर्बार किया गया। दिल्ली की भूमि विचित्र है। इसने अनेकों राज्यवंशों का नाश अपनी आंखों देखा है, करोड़ों भारतवासियों का लोहू पिया है, पर फिर भी लोग इसे मानते चले आते हैं। हमारे मित्र मिर्ज़ापुरनिवासी बाबू काशीप्रसाद ने इस भूमि के विषय में खूब लिखा है, जिसे हम भारतमित्र से अविकल उद्धृत करते हैं–

अति अभेद वनवृन्द दाहि जिन दिल्ली कीनी
तिनहू को तू भई कलहभू विषरस भीनी ॥ १
कटवायो शिशुपाल शीश प्रथमहिं उछाह महं
नहिं सुख भोगन दियो आपुने रचनहार कहं ॥ २
टिकी न तोमर-कुलहिं कील माथे हू दीने
पति छांड़त नित रही जतन लाखन हूं कीने ॥ ३
पृथीराज सम कहा और नरपुङ्गव ह्वै है
ऐसे स्वामिहु त्याग कियो कुलटे! तू, है! है!! ४
लै पति की तू देहु देहली! गई न क्यों धसि
कियो कलङ्कित देश अहो तू जग जोवत बसि ॥ ५
धन्य हस्तिना धन्य पाटली धन्य उजैनी
धनि कनोज की भूमि दुखी ममहिय सुखदैनी ॥ ६
जिनकी हड्डी भसम भई ढूंढ़न पर पावै
अथवा ढूंढ़न-हार हारि जिय घर फिरि आवै ॥ ७
पर दिल्ली–कलिराज-दूतिनी–राखत ऊपर
पति को कीरतिखम्भ 'कुतुब' कहि सोउ छिन्न सिर!!
सौर्य सींव चौहान–मंदिर के चित्रित देवन
नाक कान कटवाय हाय! किय परम विकृततन ॥
तिलाञ्जुली दै आर्य्यकुलहि पुनि खैंचि लुटेरन
कियो प्रेम इक असभ नीचतम क्रीतदास सन ॥ १०
मनुज रक्त से रङ्गि सदा निज छटा संवारी
लहि कटाक्ष तव मुग्ध भई भूपावलि सारी ॥ ११
भारत लुञ्चन कटावन इक कर्त्तव्य तिहारौ
द्वितिय करन सब भांति भूरि विध्वन्स हमारौ ॥ १२
तिमिरलिङ्ग बर्बर बाबर विक्षिप्त मुहम्मद
निर्दय नादिर नरकुठार-अवतारहु अहमद ॥ १३
मनु सन्तति के सहज शत्रु क्रूरता-डरावन
त्यायो भारत बीच मरी दारिद फैलावन ॥ १४
तुव करनी बल फटी लोह कीली की छाती
श्री यमुना घिन मानि पार्श्व तें बिलगी जाती ॥ १५
भारत के आदर्श नृपति–मुगलाधिप अकबर
और न्यायरत बृटिश–दोउ ये नीतिधुरन्धर ॥ १६
दिखरायो नीतिज्ञपनो निज, त्यागि ठगिन को
डारि मोहिनी सको मुग्ध करि दासन जिनको ॥ १७
होय बूढ़िहू तदपि रिझायो रसिक लिटन को
और लुभायो आज साधु प्रभुवर कर्जन को ॥ १८
बलिहारी शतवार तिहारी अटखेलिन पर
लट्टू भे बहुबार क्रूर अरु धीरहू जिनपर ॥ १९
किन्तु सुनो अब पलित भये तव केश विलासिनि
भजौ रमा अरु राम त्यागि निज चाल नसावनि ॥ २०

अस्तु, कई महीने पहिले से इस दर्बार की तय्यारियां होने लगीं। समाचारपत्रों में जिधर सुनिये दिल्लीदर्बार की ही ध्वनि सुनाई देती थी। कोई कहता था कि दर्बार करना व्यर्थ धन नष्ट करना है, भारत कङ्गाल हो रहा है, अकाल पर अकाल पड़ रहा है, प्लेग भारत का पिण्ड नहीं छोड़ता, देशी रियासतें सजधज में एक दूसरे से बढ़ कर रहने का प्रयत्न करने में रुपया उधार ले रही हैं, ऐसे लोग दर्बार को एक तमाशा समझते हैं और कहते हैं कि दर्बार का करना अङ्गरेज़ों के लिये वैसाही है कि जैसा नीरो राजा का रोम के भस्म होने पर सितार बजाना। दूसरी ओर से लार्ड

कर्ज़न कहते हैं "जिसका सिकन्दर को स्वप्न भी न था, जो अकबर भी न कर पाया, उसको कर दिखाने में समय पाकर एक वृटिश सम्राट ही समर्थ हुआ", अर्थात् इस बृहत् जनसमूह को शान्ति और एकता प्रदान कर एक संघटित जाति बनाया, और मेरी सम्मति में यह इतिहास की एक हृदयग्राही घटना है और वर्तमान समय का एक आश्चर्य है। सप्तम एडवर्ड के राज्याभिषेक के साथ साथ दिल्ली दर्बार करने से एक अभिप्राय यह भी था कि वृटिश राज्य में बसनेवाली समस्त जातियों के प्रतिनिधि अपने राजा की जय मनाने के हेतु एकत्रित हों। भारत के समस्त पत्रों और लीडरों की सम्मति में दरबार व्यर्थ था, और सरकार और सरकार-प्रिय पत्रों की सम्मति में यह आवश्यक था परन्तु जब इस समय का इतिहास निष्पक्ष हो कर कुछ समय व्यतीत होने पर लिखा जायगा तो दोनों सम्मतियों में सत्यता का अंश मिलेगा। प्रजा की दृष्टि सदैव सङ्कीर्ण हुआ करती है, राजा राजनीति सोचा करते हैं। प्रजा को अपने पेट का ध्यान पहिले होता हैं, राजा को अपने राज्य के गौरव का।

भारत का कोई ऐसा नगर नहीं था जहां से दर्बार के अवसर पर लोग दिल्ली न गए हों। रेलों में इतनी भीड़ रहती थी कि लोग खड़े खड़े सफ़र करते थे। कोई जाति ऐसी नहीं जो दिल्ली न आई हो। यदि कोई पुरुष चाँदनी चौक में खड़ा होकर विचित्र विचित्र पोशाकों का फोटो लेता तो उसे भारत भर इस प्रयोजन से भ्रमण करने की ज़रूरत न रहती। गाड़ियों की इतनी भरमार थी कि रास्ता चलना मुशकिल था। कहीं बिना घोड़े के और बिना पैर की सहायता से चलनेवाली गाड़ियां (motor car), कहीं राजाओं की चौकड़ी, और कहीं चांदी सोने हाथीदांत की गाड़ियां थीं। प्रशंसा के योग्य वे लेडियां थीं जो इस भीड़ में भी बाइसिकल पर सवार निकल जाती थीं। इस अवसर के लिये राजाओं ने बड़े बहुमूल्य वस्त्र बनवाए थे। बाज़ारों में जिन लोगों के मकान थे, उन्होंने सैकड़ों झण्डियां, जिनपर एडवर्ड और महारानी के चित्र थे, लगा रक्खी थीं। सरकार की तरफ़ से निमन्त्रित लोगों, और राजों महाराजों के लिये नगर के बाहर लगभग १५ मील के घेरे में केम्प बने हुए थे। वाइसराय का केम्प बहुत सुन्दर और सुसज्जित था। वहीं डयूक आफ़ केनाट ठहरे हुए थे। देशी रियासतों के केम्प प्रान्त प्रान्त के अलग अलग थे। पञ्जाब केम्प में महाराजा काश्मीर, पटियाला, नाभा, झिन्द इत्यादि थे, जिनमें से महाराजा कश्मीर का केम्प सर्वसाधारण के लिये खुला रहता था और जहां दुशाले का खेमा देखने योग्य था। महाराजा बड़ौदा का केम्प बड़ाही सुन्दर था, जिसमें १६ बिजली के बड़े लैम्प और २००० छोटे लैम्प थे जिसका प्रबन्ध श्रीमान् की रियासत के एक देशी इञ्जिनियर ने किया था। श्रीमान् का भवन काठ का बना हुआ था जो बड़ोदा में बनाया गया था और इसके टुकड़े यहां लाकर जोड़ दिए गए थे। श्रीमान् के केम्प में सोने चांदी की तोपें भी थीं। बरमा (ब्रह्मा) केम्प के बाहर दो सिंहों की सुन्दर मूर्तियां थीं। राजपुताने के केम्प में कोई विशेष सजधज न थी, वरन् वहां जाने से तो राजपुताने की बलुई भूमि का पूरा पूरा अनुभव हो जाता था। पानी का वह कष्ट यहां देखने में आता था जो राजपुताने के रहनेवाले प्रायः उठाया करते हैं। वास्तव में राजपुताने का केम्प पूरा राजपुताना बना हुआ था।

एक केम्प दूसरे केम्प से इतनी दूर पर था और सड़कों पर इतनी धूल होती थी कि सब केम्पों को पूरी तरह से देखना कठिन था। लार्ड कर्जन का यह कहना कि इस दर्बार में सब राजे महाराजे एक दूसरे से मिल कर प्रेम भाव उत्पन्न कर सकेंगे, किसी क़दर निष्फल हुआ। केम्पों के डाकख़ाने अलग अलग थे जिनका एक सदर डाकख़ाना दरबार ही के लिये बना था जिसके ठीक सामने दरबार का तारघर था। इन दोनों में बहुत से

मुहर्रिर थे। दरबार के डाकख़ानों के चीफ़ सुपरेन्टेण्डेण्ट राय दौलतराम बहादुर सी० आई० ई० नियत किए गए थे। चिट्ठीरसे वाइसिकल पर सवार होकर चिट्ठी बांटते थे। डाकख़ाने के काम का अनुमान इस हिसाब से किया जा सकता है कि १०० मोहर्रिर, १०० चिट्ठीरसा, ३० बाइसिकल वाले डांकिए और ८० नौकरों से काम लिया गया। ७० घोड़े टांगे के लिये थे। एक दिन में आठ बेर चिट्ठियां बटती थीं। केम्प ही में पत्रव्यवहार डांक खाने द्वारा होता था। सवेरे की चिट्ठी का जवाब सन्ध्या को मिल जाता था। पांच सौ रुपए रोज के टिकट हर प्रकार के बिकते थे। सब मिला कर पन्द्रह लाख पत्र और दस हज़ार पारसल डाकख़ाने में आए।

दर्बार का दैनिक वृत्तान्त लोगों पर विदित करने के लिये एक पत्र 'दरबार बुलेटिन' (Darbar Bulletin) के नाम से निकलता था, पर उसका प्रवन्ध सन्तोषजनक न था।

दर्बार का एक इतिहास लिखने के लिये विलायत से विख्यात टालवाय ह्वीलर (Talboy Wheeler) के पुत्र बुलाए गए थे, जिनका इतिहास शीघ्र छपने की सूचना भी हो चुकी है।

दिल्ली में दर्बार के कारण मकानों का किराया पहिले बहुत बढ़ गया था। इसलिये लोगों ने नए नए मकान बनवाए, पर अन्त में इस कारण बहुतों ने हानि उठाई। लाखों आदमियों की भीड़ दिल्ली में समा गई, पर फिर भी अनेकों मकान खाली वन्द पड़े रह गए। जो आदमी ऐक बेर केम्पों की ओर और विशेष कर रोहिला सराय और राजपुताने के केम्प की ओर घूम आता था, वह धूल से पूरा पूरा स्नान कर लेता था और एक प्रकार से उसका पहिचानना भी कठिन हो जाता था। इस आपत्ति के रहते भी केम्पों की शोभा देखने लायक थी। ऐसा जान पड़ता था कि कपड़े के घरों का एक नया नगर बसाया गया है। सरदी का तो कुछ पूछना ही न था। रात को केम्पों में इतना शीत रहता था कि प्रायः पानी जम कर बर्फ़ हो जाता था। इस सरदी में कई आदमी मर भी गए और कदाचित् प्रति सैकड़ा १०, १५ आदमी ऐसे रहे होंगे जिन्हें किसी न किसी प्रकार का कष्ट न सहना पड़ा हो। सरदी से तो प्रायः सभी के नाक वन्द हो गए। पर इन सब बातों के रहते भी प्रवन्ध की प्रशंसा करनी पड़ती है। इसमें सन्देह नहीं है कि यदि कुछ भी अधिक ध्यान दिया जाता तो किसी को जरा भी कष्ट न होता। पुलिस पञ्जाब की भरी गई थी जो इधरवालों की बात कम समझ सकती थी। जो कुछ हो, दर्बार की तय्यारियां बड़ी धूम धाम से की गईं और २८ दिसम्बर तक प्रायः सब लोग दिल्ली में आगए। २९ दिसम्बर को लाट साहब की सवारी निकली। इसकी धूम पहिले से बहुत थी। लोगों को इसके देखने की बड़ी उत्कण्ठा थी। एक पार्सी सौदागर ने चांदनी चौक में बीच की पटरी पर बेञ्च लगा दी थीं जिन पर टिकट देकर बैठने का प्रवन्ध था। २९ दिसम्बर को प्रातःकाल ६ बजे से ही लोग अपने अपने स्थानों पर बैठने लगे थे। ९ बजे तक प्रायः सब स्थान दर्शकों से भरे हुए दिखाई देते थे। सड़कों पर चलने के लिये किसी प्रकार की रोक टोक न थी। धीरे धीरे फ़ौजें आती देख पड़ने लगीं। ग्यारह बजे तक सड़क के दोनों तरफ़ फ़ौजें खड़ी हो गईं। सड़क पर चलने की मनाही हो गई। परन्तु सिपाहियों के पीछे और पटरियों के बीच में इतनी जगह छूटी हुई थी कि लोगों को आने जाने में सुबीता था। इस समय का दृश्य देखने ही योग्य था। जिस ओर देखो रङ्ग बिरंगे कपड़े पहिने हुए स्त्री पुरुष बैठे हुए दिखाई देते थे। भीड़ का कुछ कहना ही नहीं था। लाखों आदमी खचाखच भरे हुए थे। ठीक साढ़े ग्यारह बजे तोपों की सलामी प्रारम्भ हुई जिससे दर्शकों को यह सूचना मिली कि वाइसराय की गाड़ी स्टेशन पर पहुंच गई है।
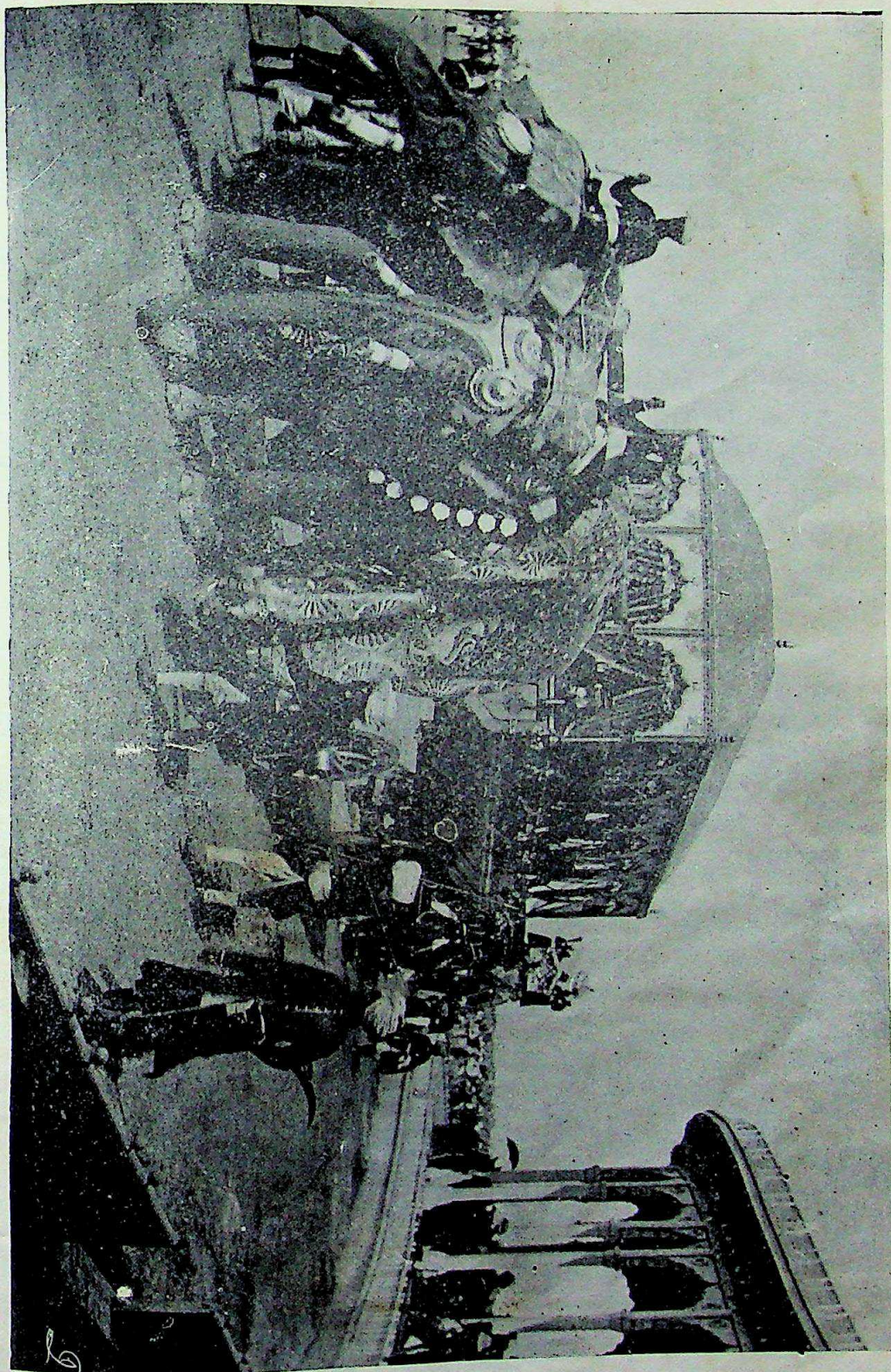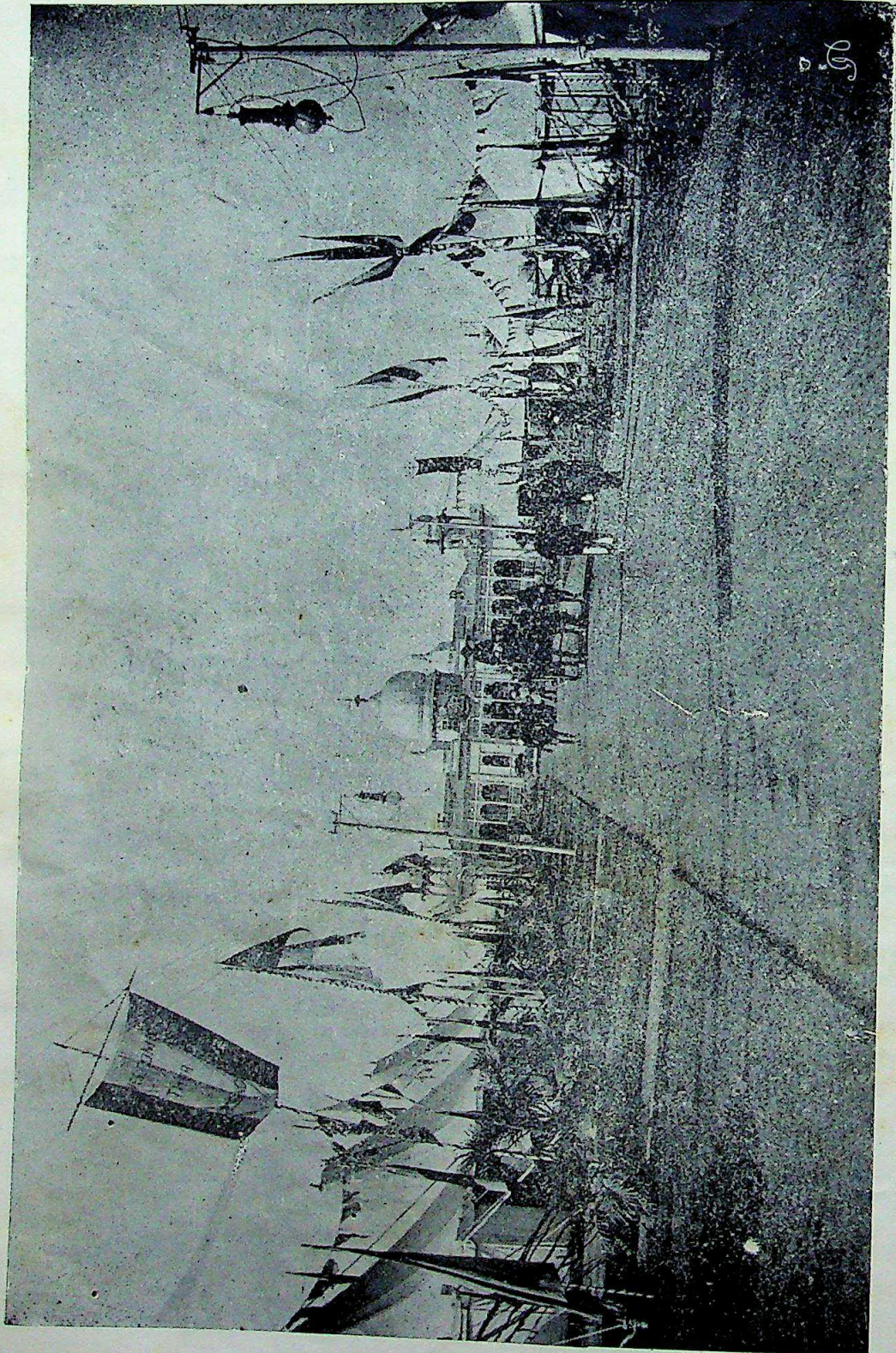
रींवा नरेश का गजरथ।

बड़ौदा का कैम्प।

इन दिनों में दिल्ली स्टेशन का कायापलट हो गया था। स्टेशन का प्लेटफ़ार्म बहुत बढ़ा दिया गया था। इस दिन बन्दनवारों, फूल, बेल और बूटों से स्टेशन बहुत ही सजाया गया था। जो जो राजा महाराजा तथा अङ्गरेज़ लोग वाइसराय को लेने गए थे, उनके बैठने के लिये कुर्सियां लगी हुई थीं। राजा लोग अपने अपने पूरे सजधज के साथ गए थे। सब प्रायः अपने अपने प्रान्त की पगड़ी पहिने हुए थे। केवल एक नवाब साहब टोपी पहिने हुए थे। गाड़ी से उतरते ही लाट साहब सबसे मिले और बातें करने लगे। इतने में ड्यूक और डचेज़ कनाट की गाड़ी भी स्टेशन पर आ लगी। सभों ने उनका स्वागत किया और परस्पर स्नेह की बातें कीं। ड्यूक को अपने पुराने मित्रों से मिल कर वास्तविक आनन्द मिला। फिर सवारी की तय्यारी होने लगी। जिन लोगों को सवारी में सम्मिलित होना था, वे तो ठहर गए; बाकी के सब लोग अपने अपने स्थानों पर बैठ कर सवारी देखने के लिये चल दिए। वाइसराय आदि सब लोग अपने अपने हाथी या गाड़ियों पर बैठने लगे और ठीक बारह बजे सवारी स्टेशन से चली। सवारी इन सड़कों से होकर निकली—क्वीन्स रोड, लोथिअन रोड, खास रोड, जुमा मसजिद, अस्पताल, स्प्लेनेड रोड, चांदनी चौक, फ़तहपुरी बाज़ार, अहमद बाई रोड, मोरी दर्वाजे से होकर राजापुर रोड।

सबसे पहिले पञ्जाब की पुलिस के इन्स्पेक्टर जेनरेल थे। इनके पीछे लोग इस क्रम से थे—

वाइसराय के रक्षकों के डिप्टी असिस्टेंट क्वार्टर मास्टर
चौथे (रोयल आयरिश) ड्रगून गार्ड्स का एक रिसाला
रोयल होर्स आर्टिलरी का तोपखाना नं० एच
चौथे ड्रगून गार्ड्स का तीसरा रिसाला

वाइसराय के रक्षकों के आर्डरली अफ़सर	वाइसराय के रक्षकों के डिप्टी असिस्टेंट एजुटेंट जेनरेल

वाइसराय के रक्षकों के जेनरेल अफ़सर कमांडिङ्ग
राजाज्ञा घोषक और तुरही बजाने वाले
वाइसराय के शरीर रक्षक

इम्पीरियल केडेट सेना
(हाथी पर)

वाइसरोय के दो मुसाहिब	वाइसरोय के दो मुसाहिब
श्रीमान् ड्यूक आफ़ कनाट के कर्मचारी	श्रीमान् ड्यूक आफ़ कनाट के कर्मचारी
वाइसराय के प्राइवेट सेक्रेटरी	भारत की गवर्न्मेंट के विदेशी विभाग के सेक्रेटरी
वाइसराय का मुसाहिब	वाइसरोय का मिलिटरी सेक्रेटरी

श्रीमान् वाइसरोय तथा गवर्नर जेनरेल और लेडी कर्ज़न
ड्यूक और डचेज़ आफ़ कनाट

बांई ओर	दहिनी ओर
माइसर के महाराजा	हैदराबाद के निज़ाम
काश्मीर के महाराजा	त्रिवंकोर के महाराजा
ग्वालियर के महाराजा	जैपुर के महाराजा
इन्दौर के महाराजा	बूंदी के महाराव राजा
रीवां के महाराजा	बीकानेर के महाराजा
ओर्छा के महाराजा	कोटा के महाराव
दतिया के महाराजा	करौली के महाराजा
धार के राजा	जेसलमेर के महारावल
देवास के (बड़े) राजा	अलवर के महाराजा
देवास के (छोटे) राजा	टोंक के नव्वाब
समथर के महाराजा	सिरोही के महाराव
चरखारी के महाराजा	झालावार के राज राणा
छतरपुर के महाराजा	कोल्हापुर के महाराजा
राजगढ़ के राजा	कच्छ के राव
नरसिंहगढ़ के राजा	खैरापुर के मीर
पटियाला के महाराजा	शेहर और मोकल्ल के सुलतान
बहावलपुर के नव्वाब	सिक्किम के महाराजा के पुत्र
नाभा के राजा	कूचविहार के महाराजा
जिन्द के राजा	टिपरा के राजा
कपूरथला के राजा	रामपुर के नव्वाब
सिरमूर के राजा	बनारस के महाराजा
मलेर कोटला के नव्वाब (के पुत्र)	टेहरी के राजा
फ़रीदकोट के राजा	मोर्वी के ठाकुर साहिब
मनीपुर के राजा	बांसदा के राजा
लिमड़ी के ठाकुर साहिब	बरिया के राजा

जंजीबार के नव्वाब

मोंगनई के सौब्वा	केंग टंग के सौब्वा

(गाड़ियों में)

ग्रैंड ड्यूक आफ़ हेस्से और उनके कर्मचारीगण

[अपने रक्षक के सहित]

बम्बई के गवर्नर और उनके कर्मचारीगण

[अपने शरीररक्षक के सहित]

मदरास के गवर्नर और उनके कर्मचारीगण

[अपने शरीररक्षक के सहित]

पञ्जाब के लफ़्टिनेण्ट गवर्नर और उनके कर्मचारीगण

[अपने रक्षक के सहित]

(घोड़ों पर)

कमांडर-इन-चीफ़ साहब और उनके कर्मचारीगण

उनकी रक्षा के लिये बृटिश केवेलरी का एक रिसाला

(गाड़ियों में)

बर्मा के श्रीमान् लेफ़्टिनेंट गवर्नर साहब और उनके कर्मचारीगण

[अपने रक्षक सहित]

आगरा और अवध के संयुक्त प्रदेश के श्रीमान् लेफ़्टिनेंट गवर्नर और उनके कर्मचारीगण

[अपने रक्षक सहित]

बङ्गाल के श्रीमान् लेफ़्टिनेंट गवर्नर और उनके कर्मचारीगण

[अपने रक्षक सहित]

गवर्नर जेनरेल की सभा के आनरेब्ल साधारण सभ्य लोग

(तीन गाड़ियों पर)

(घोड़ों पर)

बङ्गाल के लेफ़्टिनेंट जेनरेल कमांडिङ्ग और उनके कर्मचारीगण

केलात के ख़ां | बलूचिस्तान में गवर्नर जेनरेल के आनरेब्ल एजेंट

बलूचिस्तान के शासकलोग

पश्चिमोत्तर सीमाप्रदेश के आनरेब्ल चीफ़ कमिश्नर तथा गवर्नर जेनरेल के एजेंट

पठान चीफ़ लोग

(गाड़ियों में)

आसाम के आनरेब्ल चीफ़ कमिश्नर और उनके कर्मचारीगण

[अपने रक्षक सहित]

मध्यप्रदेश के आनरेब्ल चीफ़ कमिश्नर और उनके कर्मचारीगण

[अपने रक्षक सहित]

ग्यारहवीं (प्रिंस आफ़ वेल्स ओन) बङ्गाल लैंन्सर्स

इस क्रम से सवारी के निकलने में एक घण्टे से ऊपर लगा था। सवारी की शोभा देखने योग्य थी, विशेष कर जिस समय कडेट कोर के राजकुमार एकसा वस्त्र पहिने और एकही रङ्ग के घोड़ों पर चढ़े हुए देख पड़े, उस समय चियर्स की इतनी ध्वनि उठी कि कहते नहीं बन पड़ता। इन वीर युवकों की सजधज, उनके वस्त्र, उनकी चाल आदि सब बातों पर मन मोहित होता था। इन वीरों के सर्दार इदर के महाराज सर प्रतापसिंह जी थे। इनकी शोभा देखने ही योग्य थी। इनका गठीला शरीर वीरवेश और हाथ में नङ्गी तलवार प्राचीन समय के क्षत्रिय वीरों का स्मरण दिलाती थी। इस कडेड कोर में निम्नलिखित महाराज और राजकुमार सम्मिलित थे। महाराज जोधपुर, महाराज किशनगढ़, नवाब जरोरा, राजा रतलाम, महाराज राना धौलपुर, सरदार वसन्तसिंह, कुंअर प्रतापसिंह, कुंअर जोरावरसिंह, महाराज अक्षयसिंह, ठाकुर गोपालसिंह, कुंअर अमरसिंह, कुंअर रामसिंह, कुंअर खुमानसिंह, ठाकुर देवसिंह, राजा समुन्दरसिंह, कुंअर भरतसिंह, साहबज़ादा अमानुतुल्ला ख़ां, कुंअर रायसिंह जी, नवाब वली-दुद्दीन ख़ां, ख़ां मुहम्मद अकबरख़ां, आग़ा क़ासिमशाह, साहबज़ादा कालेमुहम्मद ख़ां। राजा[ओं] की सवारी में जो सादगी निजाम हैदराबाद प[र] थी वह दूसरे किसी पर देखने में नहीं आई। स[ब] आभूषणों से लदे हुए थे। वीर राजाओं का भूष[ण] तलवार है। इन शृङ्गाररस की मूर्तियों को दे[ख] कर हमें दुःख होता था। हा ! एक समय वह था जब इनके पूर्वपुरुष बहादुरी ही अपना जीवन प्रा[ण] और भूषण समझते थे और एक समय यह आगया है कि गहनों से लदने और अपना शृङ्गार बनाने ह[ी] में ये लोग अपना सम्मान समझते हैं। वाइसरा[य] साहब बराबर हँसते जाते और हाथ उठा उ[ठा] कर लोगों का सलाम लेते जाते थे। लेडी साह[ब] के चेहरे पर तो इतना हार्दिक आनन्द झलक[ता] था कि वे फूले अङ्ग न समाती थीं। साथही ड्यू[क] और डचेज़ भी हाथ उठा उठा कर लोगों का सला[म] लेते जाते थे। राजा लोग सब अपने अपने हाथि[यों] पर थे। उनमें से किसी किसी के साथ उनके भा[ई]

अथवा सेक्रेटरी आदि थे। इन सब राजों की सवारी इतनी जल्दी से निकल गई कि उनमें से सबके दर्शन भी न हो सके। क्या ही अच्छा होता यदि सब राजे अपने अपने सिपाही और अनुचरवर्ग के साथ रहते। हमारी समझ में इससे इस सवारी की शोभा और भी अधिक बढ़ गई होती।

सबसे भारी त्रुटि जो हमें इस सवारी में देख पड़ी वह यह थी कि कुछ तुरही बजानेवालों को छोड़ कर और कहीं बैंड बाजे का नाम भी न था। इस तरह सब चुपचाप चले जाते थे कि जैसे किसी बड़े सोच में पड़े हों। यदि कोई पुरुष उस दिन सड़क पर के किसी मकान के अन्दर बैठा रहता तो उसे यह भी न जान पड़ता कि कब सवारी आई और कब निकल गई। एक उत्सव के समारोह में यह शोकतुल्य सन्नाटा बड़ा ही खटकता था।

अस्तु, सवारी निकल कर जब मोरीदर्वाज़े के बाहर पहुंची तो लाट साहब का हाथी खड़ा हो गया और वहां वे सब राजाओं से बिदा हो कर अपने भवन की ओर गाड़ी पर चढ़ कर चले गए और इस प्रकार यह प्रथम उत्सव समाप्त हुआ।

सवारी चाँदनी चौक से तो दो बजे निकल गई, पर भीड़ सायङ्काल तक बनी रही। सवारी के निकल जाने पर फिर सड़कों की ख़बर लेनेवाला कौन था। पुलिस के सिपाहियों ने भी आराम किया और गवर्नमैंट के पाहुनों को अपनी अपनी गाड़ियों के पाने में जो कष्ट उठाना पड़ा उसका कहना ही क्या है।

दूसरे दिन, अर्थात् तारीख़ ३० दिसम्बर को, प्रदर्शनी खोलने का उत्सव होनेवाला था, इसलिये इधर उधर घूमते हुए हम प्रदर्शनीभवन के निकट पहुंच गए। वहां सब तय्यारियां हो चुकी थीं। केवल कुर्सियों का बिछना बाकी रह गया था। टिकट धड़ाके से बिक रहे थे और उन राजा महाराजों अथवा रईसों के नौकर फटफटा रहे थे जिन्हें टिकट नहीं मिले थे वा मिलने की आशा न थी। दृश्य अद्भुत था। विचारे मान अपमान को दूर रख टिकट की लालच में दुखी हो रहे थे। प्रदर्शनी का भवन कुदसिया बाग में कश्मीरी दर्वाजे के निकट बनाया गया था। यह भवन सदा बना न रहेगा, वरन प्रदर्शनी हो जाने पर गिरा दिया जायगा। इसकी सजावट अच्छी थी और बाहर से देखने पर भवन सुन्दर सार्सैनिक रीति पर बना हुआ ज्ञात होता था। तारीख ३० दिसम्बर को इस प्रदर्शनी को लार्ड कर्जन ने खोला। भवन के सामने एक बड़ा सा चौतरा बना था, जिसपर राजा महाराजा और बड़े बड़े सर्कारी अफ़सरों के बैठने के लिये कुर्सियां रक्खी थीं। उसके नीचे दर्शकों तथा अन्य गवर्न्मैंट के अतिथियों के बैठने के लिये जगह थी। ठीक साढ़े ग्यारह बजे लार्ड कर्जन अपनी श्रीमती तथा ड्यूक और डचेज कनाट के सहित प्रदर्शनीभवन में पहुंचे और निम्नलिखित लोगों ने उनका स्वागत करके उन्हें अपने अपने स्थानों पर बैठाया—डाकृर वाट, कर्नल जेकोब, कर्नल बांटसन, कर्नल हेंडले, मिस्टर बर्नस, मिस्टर थर्स्टन, शिवेरियर थिलार्डी, मिस्टर मेकेंज़ी, मुंशी माधोलाल, भाई रामसिंह, मिस्टर अर्बुथनोट।

डाकृर वाट ने लार्ड कर्जन से प्रार्थना की कि वे प्रदर्शनीभवन को खोलें और उन्होंने खड़े होकर एक वक्तृता दी, जिसका अनुवाद यह है–

"अब मेरा आनन्दमय कार्य इस पखवाड़े के पहिले काम को आरम्भ करने अर्थात् 'दिल्ली आर्ट एकज़ीबिशन' को खोलने का है। हमारे दर्शकों में से बहुतों को कठिनता से इस बात का विश्वास होगा कि यहां पर जितनी चीज़ें देख पड़ती हैं उनमें से पेंड़ों को छोड़ कर और सब वस्तुएं पिछले आठ महीनों में तय्यार हुई हैं। जब मैं गत अप्रैल मास में यहां स्थान चुनने के लिये आया था तो उस समय इस बड़े भवन, इन बुर्जियों और इन सब मनोहर वस्तुओं का कहीं चिन्ह भी नहीं था। ये सब केवल इसी प्रदर्शनी के लिये बनाई गई हैं। और यद्यपि मैं आशा करता हूं कि इस प्रदर्शनी

का प्रभाव इतनी जल्दी न मिट जायगा, परन्तु मुझे खेद है कि यह सब भवन आदि बने न रहेंगे।

"कदाचित जिन कारणों से यह प्रदर्शनी बनाई गई है उनके विषय में आपलोग मुझसे कुछ सुनने की आशा रखते होंगे। जब से मैं भारतवर्ष में आया हूं तभी से मैंने इस देश की कारीगरियों पर, जो एक समय इतनी प्रसिद्ध और सुन्दर थीं, ध्यान पूर्वक विचार किया है और मुझे इन कारीगरियों की बढ़ती हुई अवनति और पतन पर, बहुत से अन्य लोगों की नाईं, खेद हुआ है। जब यहां इस बड़े जमावड़े का होना निश्चय हो गया, जिसमें कि भारतवर्ष के हर एक प्रान्त और राज्य के लोग, सारे भारतवर्ष के राजे महाराजे, बड़े बड़े अफ़सर और रईस लोग तथा दुनिया भर के दर्शक लोग एकत्रित होंगे तो, मैंने सोचा कि अन्त में यह अवसर ऐसा हाथ आ गया जिसमें कि इन मृत प्राय कारीगरियों को पुनर्जीवित करने के लिये, संसार को यह दिखलाने के लिये कि भारतवर्ष अब तक भी क्या कर सकता है, और यदि सम्भव हो तो इस अवनति को रोकने के लिये, कुछ किया जा सकता है। अतएव मैंने डाक्टर वाट को बुलवाया और उन्हें इस काम में अपना सहायक नियुक्त किया। वह तथा उनके सहायक मिस्टर पर्सी ब्राउन ने भारतवर्ष में सब जगह कारीगरों की देख भाल करते हुए, फ़रमाइश देते हुए, जहां आवश्यक हुआ वहां नमूने देते हुए, और जिनको रुपए की आवश्यकता थी उनको रुपया पेशगी देते हुए, हज़ारों मील दूर दूर तक यात्रा की। मैंने तीन बातों पर ध्यान देने के लिये बहुतही ज़ोर दिया है—

"पहिले तो यह कि यह प्रदर्शनी केवल कला कौशल सम्बन्धी वस्तुओं की हो, दूसरी किसी वस्तु की नहीं। हम आपलोगों को सहज में एक अद्भुत प्रदर्शनी दिखला सकते थे, जिससे कि भारतवर्ष के शिल्प और उपज आदि प्रगट होते। परन्तु डाक्टर वाट की एक ऐसी प्रदर्शनी कलकत्ते में है और वह बहुत उत्तम भी है। हम आपलोगों को लकड़ी, धात, वे बनी वस्तुएं, चमड़े और बनी हुई चीज़ें आप जितनी चाहते उतनी दिखला सकते थे। यह सब बहुत सन्तोषदायक होते, पर साथ ही बहुत भद्दे भी होते। परन्तु मैं यह नहीं चाहता था। मेरा मन इसे शिल्प की प्रदर्शनी करने का नहीं था। मैं इसे ऐसी वस्तुओं और केवल ऐसीही वस्तुओं की प्रदर्शनी किया चाहता था जिनका सम्बन्ध कला कौशल से हो।

"मेरी दूसरी बात यह थी, इसमें योरप की या आधी योरप की भी कोई वस्तु न रहे। मैंने इसमें भड़कीले बैठकों के लम्पों, रङ्गीन कांच के झाड़ों या विलक्षण मूर्तियों तथा इसी तरह की वस्तुओं का रखना स्वीकार नहीं किया, जिन्हें यहां के कुछ लोग बड़े अचम्भे की दृष्टि से देखते हैं, पर जो सारे संसार में खराब समझी जाती हैं और विशेष कर ऐसे भारतवर्ष में जहां का कला कौशल अद्भुत है, सबसे अधिक ख़राब समझी जानी चाहिए। मैंने कहा था कि मुझे केवल वे ही वस्तुएं चाहिए जो वि[illegible] सर्वसाधारण के विचार, रुचि और विश्वास प्रगट करती हों। यह सम्भव है कि कुछ वस्तुएं ऐसी भी चली आई हों जो मेरे इस कथन के अनुसार नहीं हैं, क्योंकि इस देश में योरप की चाल व्यवहार शीघ्रता के साथ फैल रही है और हिन्दुस्तानी कारीगरों को जितने चाह के बर्तन, मलाई रखने के बर्तन, रूमाल रखने के रिङ्ग, नमक की रकाबी, सिगरेट की डिबिआ आदि बनानी पड़ती हैं, उनकी संख्या का अन्त नहीं है। परन्तु, बहुत करके मेरे इस नियम का पालन किया गया है।

"अन्त में मेरा तीसरा नियम यह था कि केवल सबसे अच्छी चीज़ें लाजांय। मैं सस्ते सूती कपड़ों, मोमजामों, छोटे छोटे गहिनों और झूठी चीज़ों अथवा उन पीतल की मूर्तियों और कटोरों के रखना नहीं चाहता था जो कि बर्मिंघम में फ़र्माइश देके बनवा दी जाती हैं, या कदाचित् स्वयम् बर्मिंघम हीं में बनती हैं। मैं हिन्दुस्तान की कारीगरी की केवल दुर्लभ, विशेष और सुन्दर वस्तुओं की [illegible]

गजदल ।

इम्पीरियल कैडेट कोर।
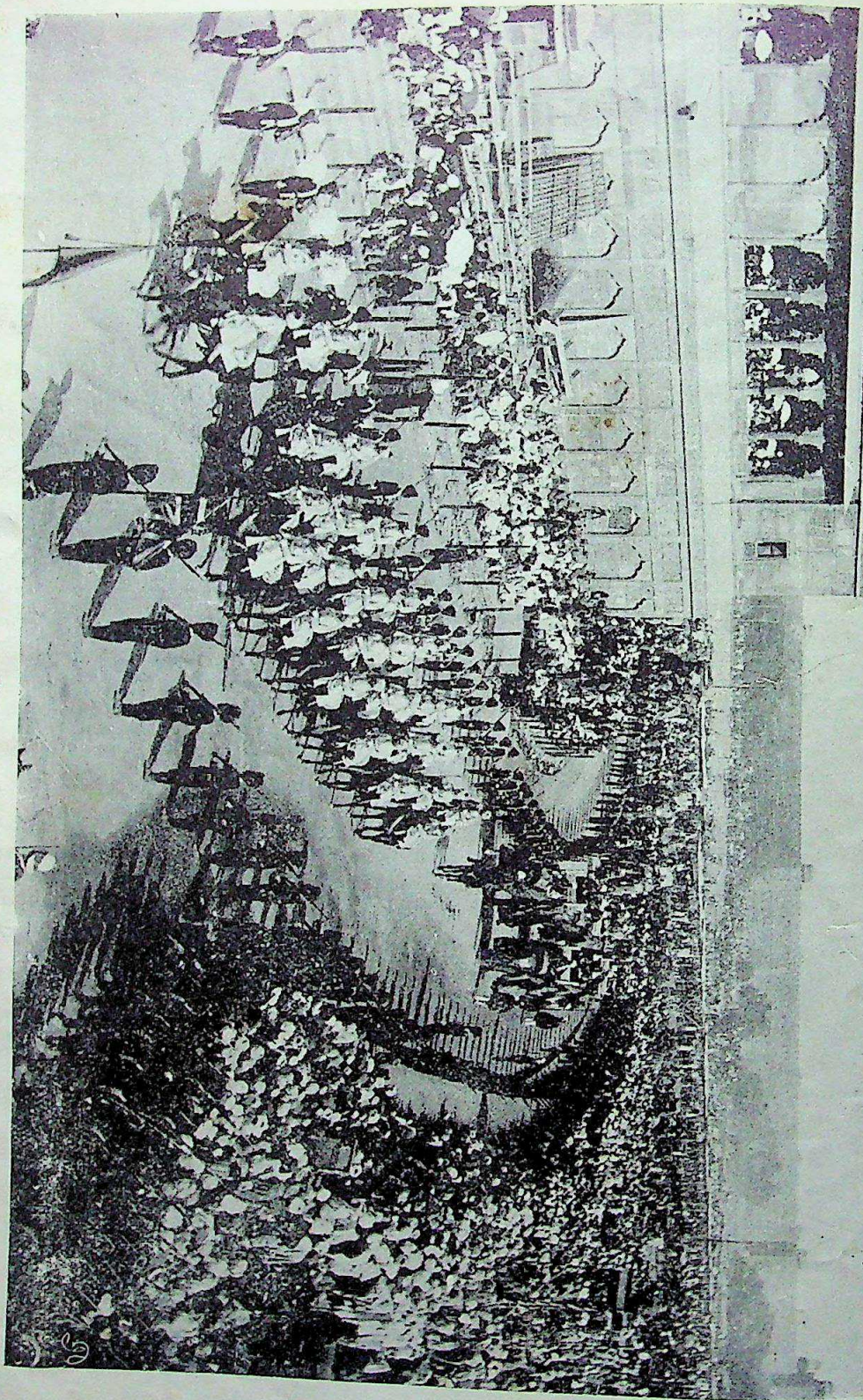
दिखलाया चाहता था, जैसे सोने ग्रोर चांदी के बर्तन, धातों पर की कारीगरी ग्रोर मीनेकारी की चीज़ें, जवाहिरात, लकड़ी, हाथींदांत पर की कारीगरी, उत्तमोत्तम मिट्टी के बर्तन ग्रोर खपरे, पूर्वी (इस देश की) चाल के गलीचे, मलमल, रेशमी कपड़े ग्रोर कारचोबी के वस्त्र ग्रोर भारतवर्ष के ग्रद्वितीय कमख्वाब के वस्त्र। इन सब वस्तुग्रों के। ग्राप इस भवन में देखेंगे। परन्तु कृपाकर याद रखिए कि यह प्रदर्शनी है, कुछ बाजार नहीं है। यहां पर हमलोगों का उद्देश्य उत्तमोत्तम कारीगरी को उत्साहित करके पुनर्जीवित करने का है, कुछ कम रुपएवालों की ग्रावश्यकताग्रों को दूर करने का नहीं है।

"यह तो इस प्रदर्शनी का साधारण वर्णन हुग्रा। परन्तु हमलोगों ने इसमें ग्रोर भी एक बड़ी ग्रावश्यक बात रक्खी है। इस बात को जान कर कि लोगों की रुचि घटती जा रही है ग्रोर ग्राजकल हमलोगों की बहुत सी चीज़ें खराब नमूने की बन रही हैं, हमलोगों ने ग्राज कल की चीज़ों के साथ ही साथ पुराने जमाने की चीज़ों के नमूनों का भी संग्रह करने का उद्योग किया है। इसलिये बहुत सी चीज़ें मंगनी की हैं ग्रोर इनके लिये एक ग्रलग कमरा है। इसमें ग्रापलोग हिन्दुस्तानी कारीगरी के बहुत से पुराने सुन्दर नमूने देखेंगे जोकि हमें भारतवर्ष के राजों महाराजों ग्रोर गुणी लोगों की उदारता से उधार मिले हैं ग्रोर जिनमें से कुछ भारतवर्ष के ग्रजायबखानों से ग्रोर कुछ लन्दन के साउथ केनसिंगटन म्यूज़ियम के ग्रद्वितीय संग्रहालय से ग्राए हैं। इनमें से बहुत सी वस्तुएं तो स्वयम् सुन्दर हैं, पर हम ग्राशा करते हैं कि जो हिन्दुस्तानी कारीगर यहां हैं वे लोग तथा उनके नियुक्त करनेवाले ग्राश्रयदाता भी इन वस्तुग्रों को ध्यानपूर्वक केवल पुरातत्व ग्रथवा कारीगरी की दृष्टि से ही नहीं देखेंगे, वरन उनसे ग्रपने विचारों को नया वा पुनर्जीवित करने की दृष्टि से भी देखेंगे, जिससे भविष्यत में उन्हें उनके कार्य में लाभ पहुंचे। क्योंकि इस बात को सत्य मानना चाहिए कि भारतवर्ष की कारीगरी विदेशी विचारों को उद्धृत करके कभी पुनर्जीवित नहीं हो सकती, वरन् जब होगी तब ग्रपने ही ढंग पर चल कर होगी।

"ग्रब यह पूछा जा सकता है कि इस प्रदर्शनी का उद्देश्य क्या है ग्रोर इससे मैं क्या लाभ होने की ग्राशा रखता हूं। इसका उत्तर मैं बहुत संक्षेप में दूंगा। यदि भारतवर्ष के शिल्प की ग्रवनति व्यापारिक उन्नति पर, कलों का काम हाथ के काम पर ग्रोर प्रयोजन तथा ग्रावश्यकता, सुन्दरता पर ग्रधिपत्य प्रगट करते हैं तो मुझे बहुत ग्राशा नहीं होती। भारतवर्ष में हम उस परिवर्तन के केवल एक रूप को देखते हैं जो सारे संसार में हो रहा है, जिसने बहुत दिनों से इङ्गलैंड की हाथ की कारीगरी को नष्ट कर दिया है ग्रोर जो चीन ग्रोर जापान की हाथ की कारीगरियों को भी बहुत शीघ्रता से नष्ट कर रहा है। कल का करघा, हाथ के करघे का स्थान ग्रवश्य ले लेगा ग्रोर दूकानों की ग्रपेक्षा कलों का कारखाना ग्रवश्य ठीक उसी प्रकार कृतकार्य होगा जिस तरह कि घोड़े गाड़ी के स्थान पर भाफ़ की गाड़ी ग्रोर हाथ के पङ्खे की जगह बिजली का पङ्खा हुग्रा जाता है। यह सब ग्रवश्य हो हीगा, जिसका कि कोई उपाय नहीं है। ग्रोर जिस समय में कि लोग सस्ती चीज़ें चाहते हैं पर उनके भद्दे होने पर ध्यान नहीं देते, ग्राराम पर बहुत ज्यादः ध्यान देते हैं ग्रोर सुन्दरता की ग्रोर ज्यादः नहीं देखते, ग्रपने यहां के नमूनों ग्रोर पुरानी बातों को छोड़े बिना संतुष्ट नहीं होते ग्रोर बराबर दूसरों की विदेशी बातों की खोज में रहा करते हैं तो ऐसे समय में यह निश्चय जानना चाहिए कि बहुत सी कारीगरियां ग्रवश्य नष्ट हो जांयगी।

"परन्तु एक दूसरी बात ऐसी है जो कि मुझे इससे भी ग्रधिक भयानक जान पड़ती है। मैं कह चुका हूं कि मैं उन लोगों में से हूं जिनका विश्वास है कि जब तक किसी जाति का शिल्प उस जाति

के विचारों को न सन्तुष्ट करे और उसकी आवश्यकताओं को न दूर करे, तब तक वह बराबर जीवित नहीं रह सकता। कोई भी शिल्प केवल संसार में भ्रमण करनेवाले यात्रियों अथवा अद्भुत चीज़ों की तलाश करने वालों ही के भरोसे नहीं चला जा सकता। और यदि वह इस अवस्था को पहुंचा है तो उसे कुछ अच्छी अच्छी चाल के नमूनों की केवल नकलमात्र ही समझना चाहिए। जब वह चाल उठ जाती है और वे नमूने जनप्रिय नहीं रह जाते, तो उस शिल्प का भी नाश हो जाता है। इसलिये हिन्दुस्तान का शिल्प यदि उन्नति कर सकता है या पुनर्जीवित किया जा सकता है तो सिर्फ़ उस अवस्था में जब कि हिन्दुस्तान के राजे महाराजे और रईस लोग तथा पढ़े लिखे और सभ्य लोग उसे अपनावें। परन्तु जब तक ये लोग अपने घरों को ब्रुसेल्स के भड़कीले गलीचों, टोटेनहम कोर्ट रोड के असबाबों, इटली की सस्ती पचीकारियों, फ़्रांस की तस्वीरों और ओस्ट्रेलिया के झाड़ फ़ानूसों से सजाना नहीं छोड़ेंगे, तब तक मुझे भय है कि बहुत आशा नहीं है। यह मैं निन्दा की तरह पर नहीं कहता, क्योंकि मैं समझता हूं कि इङ्गलेण्ड में भी हमलोग विदेशी वस्तुओं के ऐसे ही आधीन हैं। परन्तु मैं यह तो अवश्य कहता हूं कि यदि हिन्दुस्तान के शिल्प और कारीगरों को जीवित रखना है तो यह बात केवल विदेशी आश्रय से नहीं हो सकती। यह बात केवल तभी हो सकती है जब कि यहां की चीज़ें इस देश में बिकें और यहां के लोगों की रुचि के अनुसार भी हों। मैं बड़ा प्रसन्न होऊंगा यदि मैं हिन्दुस्तानी राजों महाराजों और रईसों को आज कल की रुचि में संशोधन करके अपने ही देश की बनी हुई पुरानी चाल की परन्तु उत्तमोत्तम नमूनों और ढङ्ग की चीज़ों में रुचि करते हुए देखूं। इसमें कोई सन्देह नहीं कि कभी न कभी यह बात अवश्य होगी। परन्तु समय बीत जाने पर फिर क्या हाथ आवेगा।

"जब कि ऐसे भय हैं तो फिर इस प्रदर्शनी का क्या उद्देश्य है और इससे मैं क्या लाभ की आशा करता हूं? इसका उत्तर मैं एक शब्द में दे सकता हूं। इसका उद्देश्य यह दिखलाने का है कि भारतवर्ष अब तक भी क्या सोच सकता और उत्पन्न कर सकता है। इसका उद्देश्य यह दिखलाने का है कि भारतवर्ष के कारीगरों में कारीगरी का दिमाग़ अभी जाता नहीं रहा है, बरन् उन्हें केवल थोड़ी उत्तेजना और उत्साह दिलाने की आवश्यकता है। इसका उद्देश्य यह दिखलाने का है कि हिन्दुस्तानी घरों की सजावट या असबाब के लिये लोगों को कलकत्ते या बम्बई की विलायती दूकानों में दौड़ने की आवश्यकता नहीं है वरन् यहां के प्रायः सभी देशी राज्य या प्रान्तों में, अधिकांश नगरों में और बहुत से गांवों में अब तक भी वह शिल्प और वे कारीगर हैं जो कि इस देश के लोगों की सब प्रकार की रुचि को सन्तुष्ट कर सकते हैं और इस अमूल्य बपौती को जीवित रख सकते हैं जिसे कि हम लोगों ने पुराने ज़माने से पाया है। इसी उद्देश्य से डाक्टर वाट तथा मैंने इस प्रदर्शनी के बनाने में परिश्रम किया और अब इसके खोलने के समय मुझे केवल अपनी ओर से यह आशा प्रगट करनी रह गई है कि यह प्रदर्शनी जिस लाभकारी उद्देश्य से की गई है उसे वह कुछ न कुछ अंश में पूरा करेगी।"

यह वक्तृता देकर लार्ड कर्जन प्रदर्शनी भवन के अन्दर गए और साथ ही अनेक राजे महाराजे भी गए। प्रदर्शनी भवन के चार मुख्य भाग थे, अर्थात् (१) बिक्री की चीज़ें, (२) मंगनी आई हुई चीज़ें, (३) जवाहिरात और (४) कारीगरों की दूकानें। इन विभागों में निम्नलिखित प्रकार की वस्तुएं सजाई हुई थीं। (१) जवाहिरात, जड़ाऊ गहिने, सोने चांदी के गहिने और बर्तन, तथा तांबे पीतल के बर्तन, (२) आगरे, जयपुर, जोधपुर, भरतपुर, बीकानेर, मिर्ज़ापुर, मैसूर, उदयपुर, अलवर आदि स्थानों की सङ्गमरमर, संगमूसा, और मामूली पत्थर

की बनी हुई चीज़ें (३) बुलन्दशहर, रामपुर, पेशावर, मुलतान, बम्बई और वेलोर की बनी हुई मिट्टी की बहुत ही उत्तम चीज़ें (४) काठ की बहुत ही उत्तम उत्तम चीज़ें, जिन के देखने से प्रगट होता है कि भारतवर्ष में लकड़ी का काम कितना अच्छा बनता है, (५) हाथी दांत, सींग, हाड़ और चमड़े की चीज़ें (६) जयपुर, होशियारपुर, फीरोज़पुर मोंटगुमरी, डेराइसमाइलखां आदि स्थानों की बनी हुई लाह की बहुत ही अच्छी अच्छी चीज़ें तथा लाह की वार्निश की चीज़ें; (७) सादे तथा छपे हुए वस्त्र। इनमें से रेशमी वस्त्र तो अमृतसर, मुलतान, भावलपुर, बनारस, आज़मगढ़, मुर्शिदाबाद, मालदह, बांकुड़ा, औरंगाबाद, त्रिचनापली, बिलारी, मैसूर, थाना, सूरत, बड़ोदा और अहमदाबाद आदि स्थानों से बहुत उत्तम आए थे; कमख़ाब बनारस, अहमदाबाद और सूरत के आए थे; ढाका, कोटा, आदि कई स्थानों की बनी हुई बहुत तरह की मलमल आई थीं; लखनऊ, फ़र्रुख़ाबाद, फ़रीदपुर, बुलन्दशहर, अजमेर, कोटकोमलिया, सुल्तानपुर और लाहौर आदि से छपे हुए कपड़े और जयपुर, अजमेर तथा जोधपुर के रंगे हुए वस्त्र बहुत अच्छे आए थे। इनके अतिरिक्त साटन और मलमल पर तरह तरह के कसीदे के काम, कई तरह की चिकन, ज़री, कारचोबी और लेस की चीज़ें भी बहुत अच्छी अच्छी आई थीं। कालीने तो बहुत करके जेलखानों की बनी हुई थीं, जिनमें से सबसे अच्छी अमृतसर, आगरा, मिर्ज़ापुर, काश्मीर, हैदराबाद और पूना की थीं। यहीं पर बड़ोदा की एक बहुमूल्य कालीन भी थी जिसमें मोती लगे हुए थे और जिसका मूल्य तीन लाख रुपया था। यहीं पर महाराजा साहब काश्मीर के भेजे हुए कई बढ़िया बढ़िया शाल भी थे। (८) चित्रकारी का काम भी बहुत अच्छा देखने ही लायक था, जिनमें से बहुत करके लखनऊ के इंडस्ट्रियल स्कूल तथा मदराज, बम्बई और लाहौर के आर्ट स्कूल के थे। इनके सिवाय कुछ बहुमूल्य और बहुत पुरानी पुस्तकें भी एकट्ठी की गई थीं। इनमें महाराजा साहब अलवर की एक गुलिस्तां देखने ही लायक थी। इसका मूल्य १७५०००) है। इसे चार प्रसिद्ध चित्रकारों और एक बहुत ही निपुण सुलेखक ने मिलकर बड़े परिश्रम से तयार किया था। दूसरी देखने लायक पुस्तक दो सौ वर्ष की पुरानी कुरान की थी जिसका मूल्य ३०००) कहा जाता है। तथा ऐसी ही दीवानेहाफ़िज़ की भी एक प्रति थी। दिल्ली के रायबहादुर पण्डित जानकीनाथ ने रामायण के बहुत प्राचीन और सुन्दर ७२ चित्र भेजे थे जिनका मूल्य ५५००) कहा जाता है। रायबहादुर पण्डित जानकीनाथ कहते हैं कि ये चित्र सोने के हरफ़ों में लिखी हुई संस्कृत की एक रामायण में थे, जोकि जहांगीर के समय को लिखी हुई थी और जो सैकड़ों वर्ष तक बादशाही कुतुबख़ाने में रही। सन् १८५७ के गदर की लूट में यह एक सिपाही के हाथ लगी और उस सिपाही से रायबहादुर पण्डित जानकीनाथ ने ख़रीद ली। असल किताब किसी कारण से नष्ट हो गई और ये चित्र निकाल कर रख लिए गए हैं।

संक्षेप में यह वर्णन प्रदर्शनी का हुआ। पर इस में राजा महाराजों को छोड़ कर साधारण लोगों के काम की कोई चीज़ नहीं देख पड़ी। इसमें कोई सन्देह नहीं कि प्रदर्शनियों से बहुत कुछ लाभ हो सकता है। लार्ड कर्ज़न ने अपनी वक्तृता में यह आशा प्रगट की थी कि भारतवर्ष के नृपतिगण इस प्रदर्शनी में संग्रह की हुई चीज़ों को देख कर अपने अपने राज्य में कला कौशल की उन्नति की ओर ध्यान देंगे तो बहुत कुछ लाभ हो सकेगा। लार्ड कर्ज़न को इस बात पर बड़ा दुःख था कि विलायती चीज़ों से रईस लोग अपने घरों को सजाते हैं। वास्तव में बात दुःख की है, पर विचार करने का स्थल है कि राजा महाराजों को देशी वस्तु क्यों पसन्द आने लगी; उनको तो सभी कुछ अंगरेज़ी चाहिए, यहां तक कि विलायती पानी तक

में उन्हें अनुराग अधिक रहता है। इन राजा महाराजों की रहन सहन और पहिरावा भी अंग्रेज़ी ही हो रहा है। अभी थोड़े दिन हुए हमें पश्चिम जाने का अवसर प्राप्त हुआ था। लौटती बेर एक स्टेशन पर हमने राजपुताने के एक बड़े महाराज को भी उसी गाड़ी से जाते देखा जिससे हम चलनेवाले थे। महाराजा साहब की पोशाक सिर से पैर तक अंग्रेज़ी थी, पर ईश्वर की दया से उनका रङ्ग काला था; इससे जब पहिले पहल हमने उनको देखा तो यही भ्रम हुआ कि ये कोई किरानी होंगे जो सर्कारी किसी दफ़र में काम करते हैं। पीछे अधिक भीड़ भाड़ देख कर हमने पूछा कि यह किस राजा को सवारी है। नाम मालूम होने पर हमें राजा के दर्शनों की उत्कण्ठा हुई। पर जब उनके अनुचरवर्ग में से एक ने हमें उन्हें पहचनवाया तो हम बड़े आश्चर्यित हुए, क्योंकि जिन्हें हम किरानी समझे हुए थे वे ही महाराजा निकल पड़े। यदि लार्ड कर्ज़न अब उन सब राजा महाराजों से पूछें जो दिल्ली गए हुए थे, कि उन्होंने प्रदर्शनी में क्या क्या नई चीज़ें देखीं और उन्होंने किस किस की उन्नति करने का विचार किया है, तो उन्हें ज्ञात होगा कि एक दो को छोड़ कर किसी ने ध्यानपूर्वक प्रदर्शनी की चीज़ों को भी न देखा होगा।

तारीख़ ३१ दिसम्बर का दिन ख़ाली था। उस दिन कोई उत्सव न था। पहिली जनवरी को दर्बार की तय्यारी थी। इस दिन सवेरे से ही निमन्त्रित लोग प्रायः काले काले कपड़े पहिन दर्बार भवन की ओर चले, क्योंकि हुकुम था कि ग्यारह बजे तक सब लोग अपने अपने स्थान पर बैठ जांय। दर्बार भवन घोड़े की नाल के आकार का बना हुआ था। इसके पूर्वी और पश्चिमी ओर के अन्तिम ब्लाकों में दर्शकों को स्थान मिला था और भीतर की ओर प्रत्येक प्रान्त के राजों महाराजों, नवाबों और अंगरेज़ अफ़सरों के लिये अलग अलग ब्लाक थे।

वाइसराय की दहिनी ओर ब्लाक यू (U) में हैदराबाद के निज़ाम, बड़ौदा के महाराजा और मैसूर के महाराजा बैठे थे।

वाइसराय की बांई ओर ब्लाक बी (B) में महाराजा कश्मीर, क़िलात के ख़ान, लसबेला के जाम और राजा मनीपुर थे।

दहिनी ओर ब्लाक वी (V) में राजपूताने के महाराजा लोग थे। पहिली कुर्सी महाराणा उदयपुर की थी, परन्तु वे आ न सके, इसलिये यथाक्रम महाराजा जयपुर, महाराजा जोधपुर, महाराव राजा बून्दी, महाराजा बीकानेर, महाराव कोटा, महाराजा करौली, महाराजा किशनगढ़, महारावल जयसलमेर, महाराजा अलवर, नवाब टोंक, महाराज राना धौलपुर, महाराव सिरोही, महारावल डूंगरपुर, और राजराना झालावाड़ बैठे थे। महाराजा भरतपुर अभी बच्चे हैं, इसलिये वे अपनी माता के साथ ज़नाने ब्लाक में बैठे थे।

बांई ओर ब्लाक सी (C) में मध्यभारत के नृपतिगण इस क्रम से थे—महाराज ग्वालियर, महाराज इन्दौर, भूपाल की बेगम (पर्दे में), महाराजा रीवां, महाराजा उर्छा, महाराजा दतिया, राजा धार, देवास के दोनों राजा, महाराजा समथर, नवाब जावड़ा, राजा रतलाम, महाराजा चरखारी, राजा राजगढ़, राजा नरसिंहगढ़, राना बरवानी, ठाकुर साहब पिपलौधा, राजा अलीपुर।

दहिनी ओर का ब्लाक टी (T) मदरासवालों के लिये था। इसमें महाराजा ट्रवनकोर, राजा कोचीन और राजा पदूकोटा बैठे थे।

बांई ओर ब्लाक डी (D) में बम्बई के राजा लोग इस क्रम से थे–महाराजा कोल्हापुर, राव कच्छ, महाराजा ईडर, मीर ख़ैरपुर, सुलतान शेर और मोकल्ला, नवाब जूनागढ़, ठाकुर साहिब भावनगर, राना पोरबन्दर, नवाब केम्बे, ठाकुर साहब मोर्वी, ठाकुर साहिब गोंडल, सुलतान लहेज, राजा बांसड़ा, राजा बरिया, ठाकुर साहब पालीटाना, ठाकुर साहब लीमड़ी, नवाब जंजीरा, अमीर दथाली, पंतसचिव भोर, रईस मीराज।

दाहिनी ओर ब्लाक एस (S) में निम्नलिखित पञ्जाब के राजा बैठे थे—महाराजा पटियाला, नवाब भावलपुर, राजा झींद, राजा नाभा, राजा कपूरथला, राजा सिरमौर (नाहन), नवाब मालेर कोटला, राजा नालागढ़, राजा क्योंथल, राजा फ़रीदकोट, सरदार कलसिया, नवाब लोहारू, नवाब दोजाना।

बाईं ओर ब्लाक एफ़ (F) में बङ्गाल के निम्नलिखित राजा थे-महाराजा कूचविहार, राजा टिपरा और राजा मोरभंज।

दहिनी ओर ब्लाक आर (R) में आगरा और अवध के संयुक्त प्रदेश के निम्नलिखित नृपतिगण थे-नवाब रामपुर, महाराजा बनारस और राजा टिहरी।

बाईं ओर ब्लाक जी (G) में ब्रह्मा के सरदार बैठे थे।

ब्लाक डब्लू (W) की दूसरी क़तार में मध्य प्रान्त के राजा सोनपुर, राजा रिहराखोल, राजा रायगढ़ और राजा खैरागढ़ बैठे थे।

ब्लाक एच (H) में पश्चिमोत्तर सीमा प्रान्त के सरदार अर्थात् चित्राल के मेहतर, दीर के नवाब, नवागई के ख़ान, हुंआ के मीर और वनगर के मीर बैठे थे।

इस प्रकार से सब मिला कर ९८ संरक्षित राज्याधीश्वर इस दर्बार में उपस्थित थे। इनके सिवाय बृटिश राज्य के अनेक ज़मींदार और अंगरेज़ अफ़सर भी सपत्नीक इसकी शोभा बढ़ा रहे थे।

पहिले दर्बार का समय १२ बजे का नियत किया गया था, पर उसी दिन ईद होने के कारण आधा घंटा टाल दिया गया। धन्य मुसल्मानो! अब तक तुममें यह शक्ति वर्तमान है। एका जो न करे सो थोड़ा है।

सब लोग अपने अपने स्थानों पर नौ बजे से ही बैठने लग गए थे। ग्यारह बजे तो एक ब्लाक को छोड़ कर और कोई स्थान खाली न था। इस ब्लाक में सन् १८५७ के विद्रोह के विजयी सैनिकों के बैठने का स्थान था। इनमें हिन्दू अधिक थे। कोई कोई तो ऐसा बुड्ढा हो गया था कि बिना दूसरे के सहारे के चल भी नहीं सकता था। जनाने ब्लाक के आगे चिक पड़ी हुई थी। इस नालाकार दर्बार भवन के मध्यभाग में एक बुर्जी सी बनी थी जिसमें जरी के कालीन बिछे थे और उनपर चार कुर्सियां सोने और चांदी के काम की रक्खी थीं, जिनपर वाइसराय, उनकी अर्द्धाङ्गिनी, डयूक आफ़ कनाट तथा डचेज़ आफ़ कनाट बैठे थे। इस बुर्जी के सामने एक बड़ा सा गोल चबूतरा था जिसपर शाही झण्डा गड़ा हुआ था। इस चबूतरे के उस पार कुछ दूर पर ४०,००० फ़ौज कतार बांधे खड़ी थी। ठीक सवा बारह बजे डयूक अपनी पत्नी के सहित और साढ़े बारह बजे लार्ड कर्ज़न अपनी श्रीमती के साथ दर्बार में पहुंचे। सभों ने उठ कर इनका स्वागत किया और जब वे बैठ गए तो सब लोग अपने अपने स्थानों पर बैठ गए। शान्ति हो जाने पर फ़ारेन सेक्रेटरी ने वाइसराय से दर्बार खोलने की आज्ञा मांगी और हेरल्ड बुलाया गया। इसपर हेरल्ड तथा धौंसा और तुरही बजानेवालों ने द्वार पर खड़े होकर दो बेर धौंसा और तुरही बजाई और फिर वाइसराय के सामने आकर वैसाही किया। इसके पीछे हेरल्ड ने उच्च स्वर से घोषणा पत्र पढ़ा जिसका आशय यह था कि "स्मरणीय पूर्व अधीश्वरी महारानी विक्टोरिया के स्वर्गवास होने पर २२ जनवरी १९०२ को परमेश्वर की कृपा से ग्रेट ब्रिटेन तथा आयरलेण्ड के संयुक्त प्रदेश के राजा, धर्म के संरक्षक तथा भारतवर्ष के राजराजेश्वर एडवर्ड सप्तम के नाम तथा उपाधि से हम राजसिंहासन पर आरूढ़ हुए। अपने शासनकाल के पहिले वर्ष में अपने तारीख़ २६ जून और १२ दिसम्बर १९०१ के राजकीय घोषणापत्रों द्वारा सर्वशक्तिमान परमेश्वर की कृपा से हमने अपनी राजकीय इच्छा प्रगट की थी कि हमारे राज्याभिषेक का उत्सव तारीख़ २६ जून १९०२ को किया जाय; परन्तु सर्वशक्तिमान ईश्वर की महती कृपा से हम

उस उत्सव को ८ अगस्त को कर सके। परन्तु हमारी यह इच्छा है कि भारतवर्ष की हमारी प्रिय प्रजा में भी हमारे राज्याभिषेक की प्रसिद्धि प्रकाश रूप से की जाय और भारतवर्ष में हमारे प्रतिनिधियों, राज्यप्रवन्धकों और राजों महाराजों तथा सरदारों को भी इस उत्सव में सम्मिलित होने का अवसर मिले। इसलिये हम इस राजकीय घोषणापत्र द्वारा सूचित करते हैं और इसके द्वारा अपने वाइसराय और भारतवर्ष के गवर्नर जेनरेल लार्ड कर्जन को इस सम्बन्धी कार्य का भार सौंपते हैं, तथा उन्हें आज्ञा देते हैं कि वे हमारे राज्याभिषेक की प्रसिद्धि के लिये १ जनवरी १९०३ को दिल्ली में एक दर्बार करें और वहां यह घोषणापत्र सूचना के लिये पढ़ा जाय।

परमेश्वर महाराज भारतेश्वर को चिरञ्जीवी करे!!

इस घोषणापत्र के पढ़े जाने के पीछे फिर तुरही और धौंसा बजा। साथही बैण्ड भी बजा और श्रीमान् राजराजेश्वर के लिये १०१ सलामी की तोपें छूटीं। फिर हेरल्ड और तुरही तथा धौंसा बजानेवाले द्वार पर आ खड़े हुए। जिस समय सलामी की तोपें छूटीं, उसी समय दर्बार से कुछ दूर जो पल्टन खड़ी थी उसने भी तीन बेर एक साथ बन्दूकों की बाढ़ चलाई। सलामी हो चुकने पर हेरल्ड के साथियों ने फिर तुरही बजाई और तब लार्ड कर्जन ने अपनी स्पीच आरम्भ की जिसका अनुवाद यह है—

'आज से छ मास पूर्व लन्दन में श्रीमान् एडवर्ड सप्तम राज्यसिंहासन पर बैठे। उस अवसर पर वहां यहां के केवल थोड़े से रईस उपस्थित हो सके थे। इसलिये राजराजेश्वर ने कृपापूर्वक आज अपनी भारतवर्ष की सब प्रजा को उसी प्रकार से उत्सव मनाने का अवसर दिया और इसीलिये यहां पर तथा भारतवर्ष के अन्य अन्य नगरों में राज्याभिषेक के उपलक्ष में देशी राजे महाराजे और सर्दारलोग, जो कि भारतवर्ष के राज्य के स्तम्भ हैं, तथा वे देशी और योरोपिअन अफ़सर लोग जोकि असाधारण सावधानी और भक्ति के साथ राजराजेश्वर की सेवा करते हैं, वह देशी और विलायती सेना जो कि इतनी वीरता के साथ राजराजेश्वर की सीमा प्रान्त की रक्षा करती है और उनकी लड़ाइयों लड़ती है, और भारतवर्ष की वह राजभक्त प्रजा जोकि भिन्न भिन्न जातियों, अवस्थाओं, विचारों और रीति व्यवहारों के होने पर भी एक सम्राट की भक्त बनी हुई है, वे सब लोग एकत्रित हुए हैं।

"इस प्रकार से अपने राज्याभिषेक के उत्सव को भारतवर्ष में करने ही के लिये श्रीमान राजराजेश्वर ने मुझ अपने वाइसराय को इस बड़े दर्बार के करने की आज्ञा दी है। और वे इस अवसर को कितना अधिक प्रधान समझते हैं उसको प्रगट करने ही के लिये उन्होंने निज भ्राता श्रीमान ड्यूक आफ़ कनाट को इस दर्बार में सम्मिलित होने के लिये भेजा है।

"इस बात को छब्बीस वर्ष होते हैं कि आज ही के दिन तथा इसी ऐतिहासिक और स्मरणीय नगर में इस स्थान पर महारानी विक्टोरिया को भारतवर्ष की पहिली राजराजेश्वरी होने की घोषणा दी गई थी। वह कार्य श्रीमती की प्रजा की ओर विशेष प्रीति तथा उनके भारतवर्ष के देशों का वृटिश राज्य के अधीन होना दिखलाने के लिये किया गया था। आज चौथाई शताब्दी के उपरान्त यह राज्य और भी संयुक्त हो गया है। जिस राजराजेश्वर के सम्मान के लिये हमलोग यहां एकत्रित हुए हैं वह अपनी भारतवर्ष की प्रजा को कम प्रिय नहीं हैं, क्योंकि वे लोग उन्हें अपनी आंखों देख चुके और उनका शब्द भी सुन चुके हैं। वे एक ऐसे राज्य के उत्तराधिकारी हुए हैं जो सारे संसार में केवल सबसे अधिक प्रतापी ही नहीं वरन सबसे अधिक चिरस्थायी भी है और वह पुरुष निस्सन्देह बड़े ही भ्रम में होगा जो इस बात को अस्वीकार करे कि इस राज्य की दृढ़ता का एक प्रधान कारण राजराजेश्वर के अधिकार में भारतवर्ष के राज्य का होना तथा भारतवर्ष की

प्रजा की राजराजेश्वर पर अटलभक्ति का होना भी है। वह भारतवर्ष, जिसका प्राचीन इतिहास बड़े गौरव का है, बड़ा राजभक्त भी है और उसमें पश्चिम ने इस राजभक्ति का सञ्चार नए सिरे से कर दिया है। भारतवर्ष के अधिकार पाने के अभिलाषी प्रत्येक शताब्दी में अनेक हुए हैं, परन्तु उन सभों में से भारतवर्ष ने अपना अधिकार केवल उसीको दिया है जिसने कि इसका विश्वास भी प्राप्त कर लिया है।

"जैसा दृश्य हम यहां आज देख रहे हैं वैसा संसार में और कहीं होना सम्भव नहीं है। इसले मेरा तात्पर्य इस बड़े तथा अद्भुत समारोह से नहीं है, यद्यपि मैं विश्वास करता हूं कि यह भी अद्वितीय है। वरन मेरा तात्पर्य उससे है जिसका चिन्ह यह समारोह है, तथा उन लोगों से है जिनका भाव यह प्रगट करता है। यहां पर भिन्न भिन्न राज्य के १०० से अधिक शासक लोग, जिनकी प्रजा सब मिला कर ६ करोड़ से अधिक है और जिनका राज्य ५५ रेखांशों तक फैला हुआ है, अपने एक सम्राट के साथ सम्बन्ध दिखलाने के लिये एकत्रित हैं। जिस राजभक्ति के साथ वे इतनी इतनी दूर से और प्रायः बहुत सा कष्ट उठा कर भी उपस्थित हुए हैं, उनका हम बड़ा आदर करते हैं और थोड़ी ही देर में मुझे उनके ही मुखों से राजराजेश्वर को उनकी बधाई पहुंचाने की बात सुनने की प्रतिष्ठा प्राप्त होगी। जो अफ़सर तथा सैनिक यहां उपस्थित हैं, वे भारतवर्ष की लगभग २३०००० मनुष्यों की सेना में से चुन कर बुलाए गए हैं, जिनको कि राजरजेश्वर की सेना होने का गौरव प्राप्त है। भारतवर्ष के सर्कारी तथा बेसर्कारी लीडर (नेता) लोग जो यहां उपस्थित हैं, वे २३०० लाख मनुष्यों के प्रतिनिधि हैं। अतएव इस स्थान पर समस्त मनुष्यजाति के पञ्चमांश लोगों की आत्माएं, अथवा यों कहिए कि अपने शासकों और प्रतिनिधियों के द्वारा वे लोग स्वयम्, उपस्थित हैं। इन सब के चित्त का केवल एक ही भाव है और सब एक ही राजराजेश्वर के आगे सिर झुकाते हैं। और यदि कोई यह पूछे कि इतने अधिक तथा दूर दूर के लोग इस प्रकार से इकट्ठे होकर जो एक से हो गए हैं, इसका क्या कारण है, तो इसका उत्तर यही है कि जब सबको अपने राजराजेश्वर के न्याय और कृपा का विश्वास हो जाता है तो सबके हृदय में राजभक्ति उत्पन्न हो जाती है और यही इस समारोह का कारण है। यह केवल विचार को प्रकाशित करना ही नहीं है, वरन् बहुत सा अनुभव करके विश्वास को प्रगट करना है। क्योंकि इन करोड़ों मनुष्यों में से अधिकांश को राजराजेश्वर के राज्य ने आक्रमणों और बलवों से मुक्त कर दिया है, बहुतों के लिये उनके अधिकार और स्वत्व दृढ़ कर दिए हैं; बहुतेरों के लिये उनके प्रतिष्ठापूर्वक कार्य करने का मार्ग खोल दिया है, सर्वसाधारण के लिये उनके दुःखों के दयापूर्वक निवारण करने का प्रबन्ध किया है और सबके साथ बराबर न्याय करने, अत्याचार से बचाने और सबको शिक्षा तथा शान्ति देने का उद्योग किया है। ऐसे एक राज्य को जीतना एक बड़ा भारी काम है। उस राज्य को न्याय और धर्म के साथ बनाए रखना इससे भी भारी काम है। और उस सारे राज्य को निपुणता और नीति से एक कर देना सबसे बढ़ कर भारी काम है और सदा रहेगा।

"इन्हीं विचारों और उद्देश्यों से यह राज्याभिषेक का दर्बार किया गया है। अब मेरा कार्य आप लोगों के सामने उस सम्वाद के पढ़ने का है जिसे श्रीमान् राजराजेश्वर ने कृपा कर अपनी भारतवर्ष की प्रजा को सुनाने को मुझे आज्ञा दी है।

"'मुझे उस शुभ अवसर पर अपनी भारतवर्ष की प्रजा के पास इस सम्वाद के भेजने में बड़ा हर्ष प्राप्त होता है, जबकि वे मेरे राज्याभिषेक का उत्सव कर रहे होंगे। लन्दन में जो उत्सव हुआ था उसमें भारतवर्ष के केवल थोड़े से राजे तथा प्रतिनिधि लोग उपस्थित हो सके थे। इसलिये मैंने अपने वाइसराय तथा गवर्नर जेनरेल को दिल्ली में एक

बृहद् दर्बार करने के लिये कहा जिससे कि भारत-वर्ष के सब राजों महाराजों और रईसों आदि को तथा मेरे राज्य के अफ़सरों को इस शुभ उत्सव के मनाने का अवसर मिले। मैं जब सन् १८७५ में भारतवर्ष में आया था तभी से इस देश और यहां की प्रजा पर मेरा बहुत ही अनुराग हो गया है; और यहां की प्रजा की मेरे वंश और राज्य पर जो सच्ची प्रीति और भक्ति है, वह भी मुझे भली भांति विदित है। गत कई वर्षों में मुझे उनकी प्रीति के भी कई उदाहरण मिले हैं और मेरी भारतवर्ष की सेना ने मेरे राज्य के युद्धों और विजयों में बहुत ही अधिक सहायता दी है।

"'मुझे दृढ़ आशा है कि मेरे प्रिय पुत्र प्रिन्स आफ़ वेल्स तथा प्रिन्सेस आफ़ वेल्स भारतवर्ष को बहुत शीघ्र देखने जायंगे और ये लोग भी उस के देखने को ऐसे ही उत्सुक हैं। यदि मेरा आना सम्भव हो सकता तो मैं भारतवर्ष में इस शुभ अवसर पर स्वयम् बड़ी प्रसन्नता के साथ उपस्थित होता। किन्तु मेरा आना नहीं हो सकता। इस-लिये मैं अपने प्रिय भ्राता ड्यूक आफ़ कनाट को, जिनसे कि भारतवासी भली भांति परिचित हैं, भेजता हूं, जिसमें मेरे राज्याभिषेक के इस उत्सव पर वे मेरे कुटुम्ब के प्रतिनिधि हों।

"'जब से मैं अपनी पूज्य माता, भारतवर्ष की प्रथम राजराजेश्वरी महारानी विक्टोरिया की गद्दी पर बैठा हूं, तभी से मेरी अभिलाषा उन्हीं दयामय और न्यायपूर्ण सिद्धान्तों पर स्थिर रहने की रही है जिससे कि मेरी माता ने भारतवासियों की इतनी प्रीति और भक्ति प्राप्त की थी। मैं अपने भारत-वर्ष के समस्त राजाओं और प्रजा को फिर विश्वास दिलाता हूं कि मैं उनकी स्वतन्त्रता, प्रतिष्ठा, उच्च-पद, और स्वत्व का पूरा ध्यान रक्खूंगा और उनकी उन्नति और प्रसन्नता की चेष्टा करूंगा। मेरे शासन का मुख्य उद्देश्य यही रहेगा और इस शासन में मेरे भारतीय राज्य की सम्पत्ति वृद्धि और प्रजा का सुख अधिकाधिक होता रहेगा।'

"भारतवर्ष के नृपतिगण तथा निवासीगण! उस राजराजेश्वर के वाक्य हैं जिनके राज्याभिषे[क] का उत्सव मनाने के लिये हमलोग यहां एकत्रित हु[ए] हैं। इनसे उनका कार्य करनेवाले अफ़सरों को ए[क] नया उत्साह मिलता है और सबलोगों को मह[त्] तथा शुभचिन्तन की शिक्षा मिलती है। जो लो[ग] मेरी तथा मेरे साथियों की नाईं राजराजेश्वर [के] राज्य के मुख्य प्रतिनिधि हैं, उन्हें ये वाक्य जिस री[ति] से राज्य का प्रबन्ध करना चाहिए उस मार्ग [को] दिखलाते हैं। इसके पहिले कभी ऐसा समय न[हीं] हुआ था जब कि हमलोग राज्य के प्रबन्ध को उदा[-] रता और दया के साथ करने के लिये अधि[क] इच्छुक हुए हों। जिन्होंने अधिक दुःख सहा है [वे] अधिक पाने के योग्य हैं और जिन्होंने अच्छी तर[ह] से काम किया है वे भी अच्छी तरह से सम्मा[-] नित होने के योग्य हैं। भारतवर्ष के राजाओं ने इस सम्राज्य के युद्धों में हमें अपने सिपाही औ[र] अपनी तलवारों से सहायता दी है और अकाल [और] अनावृष्टि आदि आपदाओं में भी उन्होंने वैसी [ही] बहादुरी और योग्यता से कार्य किया है। जो कु[छ] अधिकार आज उन्हें प्राप्त है उससे अधिक उन्हें दे[ना] कठिन है और जिस रक्षा में वे आज स्थित हैं औ[र] जिसमें न्यूनाधिक होने की कोई आशंका नहीं [है] उसमें अधिकता असम्भव है। तो भी हमको इ[स] प्रस्ताव के करने में आनन्द हुआ कि गवन्मेंट उ[न] सब रुपयों पर, जो देशी राज्यों को अकाल के सम[य] में उधार दिए गए, अथवा जो गवन्मेंट की ज़मान[त] पर उनको ब्याज पर भी दिए गए हैं, उनका ब्याज [...] वर्ष तक न लिया जाय और हमें विश्वास है कि जि[न] पर हम यह उदारता प्रगट करते हैं वे इसे स्वीका[र] करेंगे। इस देश में और भी श्रेणी के लोग हैं जि[न] की संख्या अधिक है और जिन्हें हम उदार[ता] प्रसन्नतापूर्वक दिखा सकते हैं। हमें विश्वास है [कि] थोड़े ही दिनों में हम इस बात को प्रगट कर सकें[गे] कि हम उन्हें क्या सहायता दे सकते हैं। वर्ष[...] मध्य में किसी ऐसी बात का प्रगट करना अथ[...]
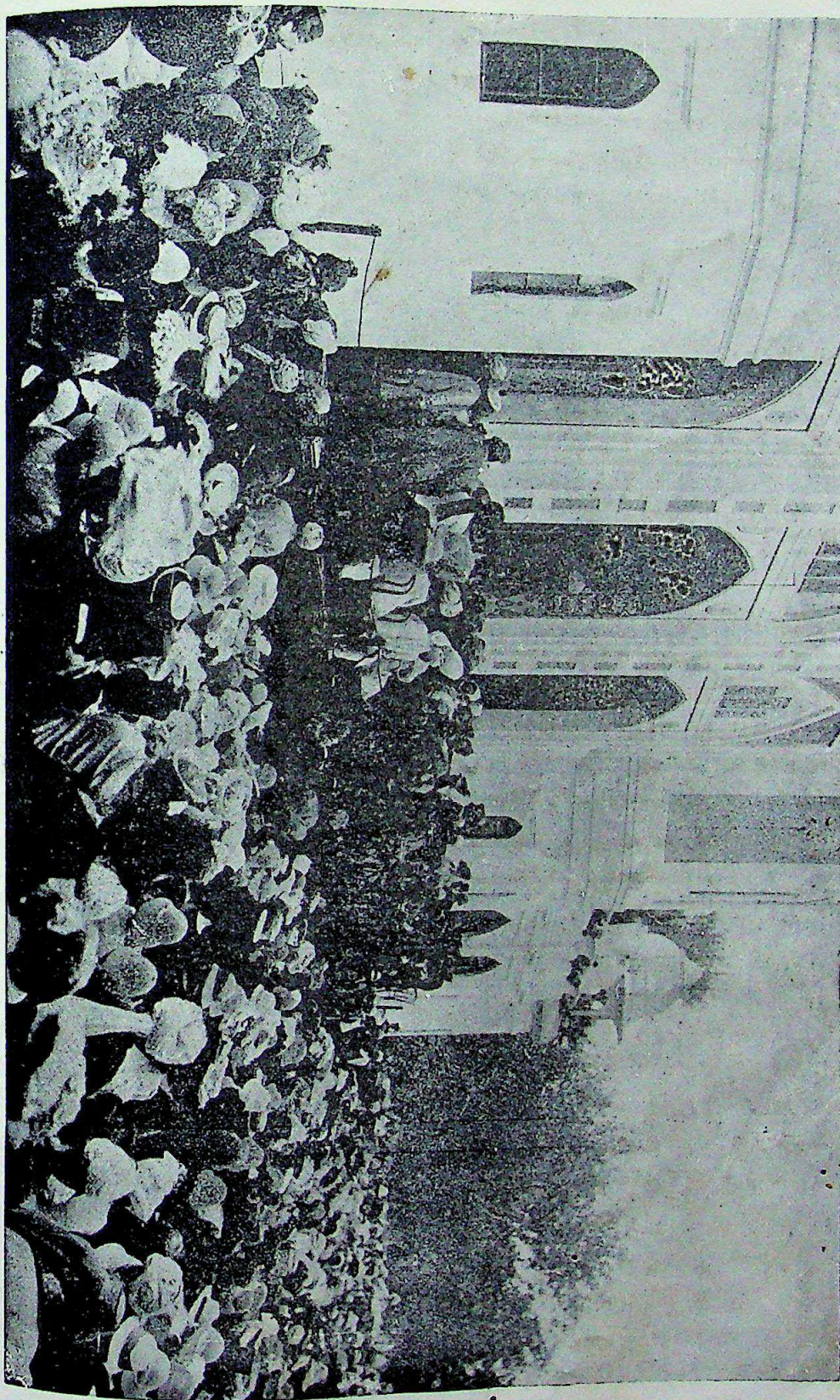
लार्ड कर्ज़न का लेक्चर।

हिसाब किताब का अनुमान कर लेना उचित नहीं है। यदि भारतवर्ष के कोष में इस समय विशेष उन्नति देख पड़ती है जैसा कि हमारा विश्वास है, तो मुझे निश्चय है कि श्रीमान् सम्राट के राज्यारम्भ के वर्ष ऐसे ही न बीत जांयगे। वे भारत गवर्नमेंण्ट को इस बात के लिये समर्थ करेंगे कि वह भारतवासियों के साथ अपनी सहानुभूति और प्रीति ऐसे ऐसे कार्यों से प्रगट करें जिससे उनके आर्थिक कष्ट दूर हों, क्योंकि कष्ट और आपदा के समय में उन्होंने बड़े धैर्य्य और राजभक्ति के साथ अपने को निबाहा है। इस बात का विचार कर विशेष सन्तोष होता है। अब मुझे उन दया और रिआयत के कामों के उल्लेख करने की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि उनका वर्णन अन्यत्र है। परन्तु इस बात के प्रगट करने में मुझे आनन्द है कि अब से भारतीय सेना का जो 'इण्डियन स्टाफ़ कोर' नाम था, वह हटा दिया जायगा और वह राजराजेश्वर की भारतीय सेना के नाम से कहलावेगी।

"भारत के नृपतिगण और निवासियो! यदि हम थोड़ी देर के लिये भविष्यत की ओर दृष्टि डालें तो इस देश की अच्छी उन्नति निस्सन्देह देख पड़ती है। भारतवर्ष के सम्बन्ध का कोई ऐसा प्रश्न नहीं है, चाहे वह बस्ती, शिक्षा, परिश्रम अथवा भरण पोषण से सम्बन्ध रखता हो जिसे हल करना राजनीतिज्ञों की शक्ति के बाहर हो। बहुत से प्रश्नों का हल तो अब भी हमारी आँखों के सामने हो रहा है। यदि भारतवर्ष और ग्रेट ब्रिटन की संयुक्त सैनिक शक्ति से सीमा पर निरन्तर शान्ति रह सके, यदि राजा महाराजों और प्रजा में, अंगरेज़ों और हिन्दुस्तानियों में और शासकों तथा शासित लोगों में आपस का भाव बना रहे, और यदि इन्द्रराज अपनी उदारता में कमी न करें, तो कोई चीज़ भी उन्नति की गति को नहीं रोक सकती। भविष्यत् में भारतवर्ष ईश्वर की कृपा से ऐसा न रहेगा जहां की सम्पत्ति घट रही हो, जहां की भविष्यत् आशा कुछ न हो और जहां सच्चा असन्तोष फैला हो। परन्तु ऐसा होगा जहां उद्योग बढ़ेगा, लोगों की विद्या बुद्धि की उन्नति होगी, जहां की धन सम्पदा बढ़ेगी और जहां सुख और धन का अधिक विस्तार होगा। मुझे अपने देश की ईमानदारी और उसके सच्चे व्यवहार पर विश्वास है और मुझे भारतवर्ष को भी असीम योग्यता में विश्वास है। परन्तु सम्राट को निर्विवादित प्रभुता को छोड़ कर और किसी अवस्था में इस भविष्यत् पर विश्वास नहीं हो सकता और बृटिश सिंहासन को छोड़ न किसी दूसरे के अधिकार में यह अवस्था बनी रह सकती है।

"और अब मैं अपने कथन को समाप्त करूंगा। मेरा दृढ़ विश्वास है कि इस बड़े भारी समारोह को, जिसमें उनका सम्बन्ध सम्राट के विचारों से इतना घनिष्ट हो गया है, भारतवासी बहुत दिनों तक स्मरण रक्खेंगे। मुझे विश्वास है कि इसका स्मरण उत्साह और आनन्द के साथ बना रहेगा और श्रीमान् सप्तम एडवर्ड का राज्यकाल, जिसका प्रारम्भ अत्यन्त मङ्गल के साथ हुआ है, भारतवर्ष के इतिहास में और यहां के लोगों के हृदय पर अङ्कित बना रहेगा। सर्वशक्तिमान जगन्नियन्ता से हमलोगों की प्रार्थना है कि उसकी अनुकम्पा से इनका राज्य और शक्ति बहुत दिनों तक बनी रहे कि जिसमें प्रजा का हित दिनों दिन बढ़ता जाय, उसके सेवकों का कार्य बुद्धिमत्ता और धर्म से हो और उसके राज्य में शान्ति और सम्पदा सदा वर्तमान रहे। ईश्वर करे भारतवर्ष के सम्राट बहुत दिनों तक जिएं।"

श्रीमान की वक्तृता हो जाने पर हेरल्ड तथा तुरही बजानेवाले फिर वाइसराय के सामने आ खड़े हुए और उन्होंने तुरही बजाई, तथा हेरल्ड ने अपनी टोपी उठा कर उच्च स्वर से तीन चियर्स राजराजेश्वर के लिये दिए। इसके साथ ही सब लोगों ने खड़े होकर चियर्स दिए। इसके पीछे बाहर खड़ी हुई ४० हजार सेना ने चियर्स दिए। फिर बैंड बजा और तुरही बजानेवाले तथा हेरल्ड बाहर चले गए।

अब सेक्रेटरी फिर वाइसराय के सम्मुख आए और उन्होंने श्रीमान् वाइसराय से रईसों की भेंट कराने की आज्ञा मांगी और सब रईस क्रमानुसार श्रीमान वाइसराय और ड्यूक आफ़ केनाट से हाथ मिलाने तथा अपने राज राजेश्वर को बधाई देने के लिये सम्मुख आए। इस समय वाइसराय और ड्यूक आफ़ कनाट अपने स्थान से एक सीढ़ी नीचे उतर कर खड़े हो गए थे और रईस लोग सीढ़ी के नीचे आ आ कर हाथ मिलाते थे। सबसे पहिले निज़ाम हैदराबाद अपने पुत्र और वज़ीर के साथ आए और वाइसराय और ड्यूक आफ़ कनाट से हाथ मिलाने के पीछे अंगरेज़ी में जो कुछ उन्होंने पढ़ा उसका सारांश यह है—

"श्रीमान, मुझे इस शुभ और स्मरणीय उत्सव में सम्मिलित हो सकने के कारण बहुत ही प्रसन्नता प्राप्त हुई है। मुझे निश्चय है कि श्रीमान् को यह ज्ञात होगा कि मेरे ख़ानदान से बृटिश राज्य के सच्चे सहायक होने का जो सम्बन्ध चला आया है, उसे स्थिर रखना तथा दृढ़ करना ही मेरे जीवन का सबसे बड़ा उद्देश्य रहा है। अतएव मैं श्रीमान् से प्रार्थना करता हूं कि आप कृपा कर श्रीमान् राजराजेश्वर को मेरी ओर से हार्दिक बधाई दीजिएगा, तथा श्रीमान् को विश्वास दिलाइएगा कि वे मुझे तथा मेरे वंश को सदैव हर प्रकार से अपना सच्चा सहायक पावेंगे।"

इसके उपरान्त महाराजा बड़ौदा बड़े शान से आए और हाथ मिला कर चले गए। वास्तव में महाराज सियाजी राव के समान विद्वान योग्य और प्रतिभाशाली राजा इस समय भारतवर्ष में वर्तमान नहीं हैं। कांग्रेस के सम्बन्ध में जो प्रदर्शनी गत सन् १९०२ में हुई थी, उसमें जो वक्तृता श्रीमान् ने दी है, वह स्वर्णाक्षरों में लिखने योग्य है। ईश्वर करे श्रीमान् बहुत दिनों तक जीवित रह कर अपनी प्रजा का उपकार करें और भारतवर्ष का सामान बढ़ावें। इनके पीछे जितने महाराजा, राजा और नवाब आए, वे झुक झुक कर सलाम कर के तथा हाथ मिला मिला कर चले गए। जिस सम[य] भूपाल की बेगम बुर्क़ा ओढ़े हुए आईं तो बहुत [से] लोगों ने हर्षित हो कर चियर्स दिए। परन्तु कु[छ] लोग और विशेषतः मुसलमान लोग इससे कु[छ] खिन्न से हो गए। बेगम साहेबा आते ही कु[छ] चीज़ ज़मीन पर रखने को झुकीं, जिससे किस[ी] किसीने समझा कि ये लाट साहब तथा ड्यू[क] आफ़ कनाट के पैर छूने को झुकी हैं; परन्तु वास्त[व] में बात यह थी कि वे नज़र देने के लिये कु[छ] लाई थीं, जिसके ढकने को उन्होंने वहां रख कर खोला था। बेगम साहबा ने प्रायः ३ मिन[ट] कुछ आलाप किया और वे वाइसराय, ड्यू[क] आफ़ कनाट तथा लेडी कर्जन और डचेज़ आफ़ कनाट से हाथ मिलाकर चली गईं। जिस समय श्रीमान महाराजा मेजर जनरल सर प्रतापसिंह वाइसराय और ड्यूक आफ़ कनाट के सम्मुख आए उस समय सब अङ्गरेज़ों ने खूब चियर्स दिए। धन्य है वीरता, तेरा सब जगह आदर है! इस प्रकार जब सब लोगों से भेंट हो चुकी तो फ़ारे[न] सेक्रेटरी ने दर्बार बन्द करने की आज्ञा मांगी और दर्बार विसर्जित हुआ, तथा वाइसराय और ड्यू[क] के जाते ही सब लोग अपनी अपनी गाड़ियों की फ़िक्र में लगे और किसी प्रकार दिन भर के भू[खे] प्यासे घर लौटे।

इस दर्बार के उपलक्ष में कुछ लोगों को उपा[]धियां बांटी गईं। जिन लोगों के पीछे यह उपाधि लगी उनमें कितने भारतवासी थे और कितने अंग्रेज़ यह नीचे दी हुई संख्याओं से विदित हो जायगा

जी० सी० एस० आई

हिन्दुस्तानी १	अंग्रेज़ १

के० सी० एस० आई०

हिन्दुस्तानी २	अंग्रेज़ ९

सी० एस० आई०

हिन्दुस्तानी ३	अंग्रेज़ १३

जी० सी० आई० ई०

हिन्दुस्तानी २	अंग्रेज़ ०

के० सी० आई० ई०

हिन्दुस्तानी ७ अंग्रेज़ ८

सी० आई० ई०

हिन्दुस्तानी १६ अंग्रेज़ १४

नाइटहुड (Knighthood)

हिन्दुस्तानी १ अंग्रेज़ ७

कैसर हिन्द (सोने का मेडल)

हिन्दुस्तानी २ अंग्रेज़ १३

कैसर हिन्द (चांदी का मेडल)

हिन्दुस्तानी ८ अंग्रेज़ ११

तीसरी तारीख़ को रात के नौ बजे दिल्ली के क़िले के अन्दर दीवान ख़ास में चैपटर का दर्बार हुआ था। जितने उपाधिधारी लोग इस समय दिल्ली में वर्तमान थे, वे सब यहां उपस्थित थे। दीवान ख़ास फिर से रङ्ग कर सजाया गया था और बिजली की रोशनी ख़ूब की गई थी। बीच में राजसिंहासन लगाया गया था, जिसपर लार्ड कर्ज़न विराजमान थे और उसके नीचे दोनों ओर कुर्सियों पर अन्य लोग, बैठे थे। वाइसराय के पहुंचने पर सब लोग जिन्हें पहिले से उपाधियां मिली हुई थीं एक क्रम से पंक्ति बांध कर बैठ गए और जिन लोगों को नई उपाधियां देने का पहिले से निश्चय हो चुका था, उन्हें उपाधियां दी गई और दर्बार समाप्त हुआ।

चौथी जनवरी को रात के दस बजे जुमा मसजिद के आगेवाले मैदान में आतशबाज़ी छूटी। इसको इङ्गलेण्ड की ब्रुक कम्पनी ने बनाया था और साढ़े सत्रह हज़ार रुपए इसके लिये व्यय किए गए थे। भारतवर्ष में भी आतशबाज़ी बनाने-वाले हैं और उनकी आतशबाज़ी ब्रुक कम्पनी की आतशबाज़ी से किसी तरह कम नहीं होती। इस आतशबाज़ी में दो बातें विशेष थीं, एक तो धुआं बहुत ही कम होता था और दूसरे रोशनी इतनी अधिक होती थी कि दिन सा देख पड़ने लगता था। विशेष कर जो गोले छूट कर आकाश में जाते थे और वहां फट कर रङ्ग बिरङ्गे सितारे हो जाते थे, वे बड़े ही अद्भुत थे। आतशबाज़ी में सम्राट, सम्राज्ञी, ड्यूक कनाट, डचेज़ कनाट, लार्ड कर्ज़न, लेडी कर्ज़न और लार्ड किचनर दिखलाए गए थे। इनकी आकृति बहुत स्पष्ट और ठीक बनी थी। जलप्रपात तथा फ़ौवारों का दृश्य भी अद्भुत था। सब आतशबाज़ी में वैज्ञानिक रीति के अनुसार कार्य किया गया था। इसीमें इसकी विशेषता और उत्तमता थी।

इसके पीछे एक दिन गिर्जा घर में ईश्वर की प्रार्थना, वैण्ड का बाजा, फ़ौजों की प्रदर्शनी, गार्डन पार्टी, नाच, पोलो खेल आदि हुए, जिनमें कोई विशेषता न थी। सबसे अद्भुत दृश्य तारीख ७ जनवरी को देखने में आया, जब देशी राजाओं की सेना की प्रदर्शनी हुई। इसका बहुत अच्छा वर्णन कलकत्ते के भारतमित्र पत्र ने छापा है जिसे हम अपने पाठकों के लिये अविकल उद्धृत करते हैं।

"११ बजे ही मण्डप दर्शकों से भर गया। मण्डप के सामने अर्द्धगोलाकार में लाल और सुफ़ेद पोशाक पहिने हुए सैनिक खड़े दिखाई देते थे। ११॥ बजे तोप दगी। पहिले ड्यूक आफ़ कनाट आए। पीछे लार्ड कर्जन की गाड़ी आई। जातीय बाजा बजा। सब लोगों ने खड़े हो कर बड़े लाट साहब का स्वागत किया।

"अब सेना की प्रदर्शनी शुरू हुई। पहिले रङ्गभूमि में शिवाजी के वंशधर कोल्हापुर नरेश की सेना आई। पहिले एक हाथी आया, उसके ऊपर महाराष्ट्रों का जातीय झण्डा उड़ता था। हाथी के पीछे २० घोड़सवार और १२० पैदल थे। सेना के पीछे एक हाथी दिखाई दिया। उसकी पीठ पर सोने का छत्र था। कोल्हापुर के सैनिक लार्ड कर्जन और ड्यूक आफ़ कनाट को सलाम करके मण्डप के सामने से चले गए। इसके बाद कच्छ के महाराव के सैनिक आए। पहिले एक हाथी आया, उसके ऊपर राजपताका और राजचिन्ह थे। एक पताका पर सोने का बाघ और दूसरी पर सोने की मछली

थी। इसके बाद ९० आदमी अँगरेज़ी बाजा बजाते हुए आए। १२ ऊंट के ऊपर कुछ देशी बाजेवाले रङ्गभूमि में उपस्थित हुए। सहनाई की मीठी आवाज़ पर सब लट्टू हो गए। ऊंट के ऊपर राजपताका और राजचिन्ह उड़ता था। बन्दूकें ऊंटों पर लदी थीं। ऊंट के पीछे १४ घुड़सवार शरीररक्षक आए, फिर सजे सजाए ५ घोड़े लेकर पताका लिए हुए कई आदमी आए। घोड़ों की पोशाक जड़ाऊ थी। हीरे मोती लगे थे और सोने का काम किया हुआ था। इसके बाद २० जिरह बख्तर पहिने सिपाही आए। इनके बदन सिर से पैर तक लोहे से ढके थे। फिर युद्ध का एक रथ आया। उसमें चार बैल जुते थे। रथ के ऊपर कई सिपाही खड़े थे। उसके पीछे सैनिक आए। उनके एक हाथ में ढाल और दूसरे में तलवार थी। ये बीस बीस हाथ ऊंचे बांस पर पैर रख कर चलते थे। दो सेनापति सुनहली पालकी में चढ़ कर आए। वाहक रङ्गीन वस्त्र पहिने हुए थे। साथ में मशालची भी था। इसके बाद ३२ अरब देश के शरीररक्षक आए। इनका चेहरा भयानक था। फिर ३ सुसज्जित हाथी, १० बाजेवाले, १० ऊंट और ७० बन्दूकधारी सिपाही आए। ५ हाथियों के ऊपर कई पहलवान आए। फिर ४५ सवार दुबले पतले घोड़ों पर चढ़ कर आए और दर्शन देकर चले गए।

"शेर और मोकला एक छोटीसी अरबी रियासत है। वहां के ४६ अरब सिपाही लाल और पीली पोशाक पहिन कर आए। फिर ३९ हवशी आए। यह बाजेवाले थे, जोर से चिल्लाते नाचते कूदते चले गए। २८ सिपाही बर्छा लेकर और ६४ पैदल योंही आए और लड़ाई के शेर पढ़ते चले गए। मैसोर राज्य के सवारों का एक दल नीला वस्त्र धारण किए नीली और बैङ्गनी झण्डी दिखा गया। मैसोर के बाद जूनागढ़ के नवाब के २३ अरबी तिलङ्गे आए।

"अब बड़ोदा की सोने और चांदी की दो तोपें आईं। एक एक तोप आठ आठ मन की होगी। सोने की तोप की गाड़ी सोने के पत्तर से मढ़ी थी और चांदीवाली गाड़ी में कलई की हुई थी। दो बड़े बड़े बैल गाड़ी खींचते थे। बैलों के सींङ्ग सोने से मढ़े थे, उनका शरीर सुनहले कपड़ों से ढका था।

"बम्बई प्रान्त की रियासती सेना के बाद मध्य भारत की सेना का नम्बर आया। पहिले ग्वालियर की सेना आई। आगे हाथी, घोड़ा और पालकी आई। हाथियों के बदन रंगे हुए थे। उनके सिर में सोने की कपाली, कान में बाला और पीठ पर सुनहला कपड़ा था। फिर ४८ सवार, ३७ नक़ीब और बर्छाधारी, दो सजे सजाए घोड़े और १४ हाथी आए। फिर इन्दौर की सेना आई। १२ सुसज्जित घोड़े, नीलवस्त्रधारी ९ सवार, अङ्गरेज़ी बाजेवाले, ६ बड़े हाथी और सोने की पालकी सामने से चली गई। हाथियों ने सूण्ड उठा कर लार्ड कर्ज़न को सलाम किया। भूपाल की सेना के आगे आगे ढाल और शहनाई बजती आई। क[illegible] हाथी आए जिनपर जिरहबख्तर पहिने तिलङ्गे सवार थे।

"इसके पश्चात रीवां राज्य की सेना आई। इसमें ६ हाथी आए। हाथी के गले में सोने क[illegible] हार, सिर में मुकुट, कान में बाला, नाड़ में चन्द[illegible] हार था। यह सब सोने के थे। दो सोने के बा[illegible] के ऊपर हौदा बना था। हाथी के ऊपर डङ्[illegible] बजता था। हाथी के पीछे १८० सिपाही आए [illegible] हरे रङ्ग का अङ्गा और बसन्ती पगड़ी पहिने हु[illegible] थे। पीछे अङ्गरेज़ी बाजा बजाते हुए कई सिपाह[illegible] आए और उनके पीछे २०० पैदल जवान, फिर सोना, चांदी, हीरा, मोती जड़े ८ घोड़े आए। घोड़े [illegible] पीछे सोने की ४ पालकी थीं। आसा सोटा लि[illegible] १३२ आदमी पालकी के साथ थे। फिर एक र[illegible] में दो हाथी जुते आए। रथ दोमहला था, जिस[illegible] खिड़कियों में सोने की जाली लगी थी। रथ [illegible] पीछे चांदी की दो गाड़ियां आईं. फिर १० हा[illegible]

और ८ घुड़सवार आए। एक छोटे से हाथी पर एक परमसुन्दर बालक बैठा था उसको देख कर सब लोग हर्षित हुए। रीवां के बाद ओरछा की सेना आई। इसमें हाथी के ऊपर दो राजकवि भी थे। हाथी के पीछे १३१ सैनिक आए। यह सब घुटने तक भूरे रङ्ग का रुई भरा अङ्गा पहिने हुए थे। उसके बाद १० हाथी आए। एक हाथी सामने का पैर उठा कर पिछले दो पैरों पर हो खड़ा रह गया। वह लार्ड कर्जन के सामने बहुत देर तक खड़ा रहा था और सूण्ड उठा कर सलाम करता था। एक हाथी के सोने के हौदे पर सोने का एक मगर बना था। उसकी जीभ हिलती जाती थी, यही ओरछा का राजचिन्ह है। फिर सवार, मुसाहिब घोड़े और ऊंट आए। इसी प्रकार क्रम से दतिया, धार, समथर, चरखारी, राजगढ़ और नरसिंहगढ़ की सेना, तथा हाथी और ऊंटों की सवारी आकर चली गई। दतिया का हाथी कूदता जाता था, धार का हाथी चवर डुलाता था, समथर का ऐरावत चांदी का अलङ्कार पहिने उन्मत्त हुआ जाता था। चरखारी के हाथी पर सोने की मूर्ति और सोने का वृक्ष था।

"मध्य भारत के बाद राजपूताने की सेना आई। पहिले जयपुर का एक भीमदेह दन्ती राजपताका लिये उपस्थित हुआ। उसके बाद एक अश्वारोही त्रिशूल लेकर और दूसरा डङ्का लेकर आया। इसके पीछे ६४ बख्तर पहिने अच्छे योद्धे आए। फिर ५ जेवर पहिने घोड़े और ३ हाथी सामने से गुज़र गए। जोधपुर की तरफ़ से एक दल बाजेवालों का, १२ सुसज्जित घोड़े और सवार आए। फिर बूंदी ने अपना साज सामान दिखाया। बाजेवाले, पैदल, हयदल और गजदल आए। एक सवार गङ्गाजल का घड़ा लिए था। ८ सजे सजाए घोड़े, १ बड़ा हाथी, २५ सामन्त, ९ बर्छाधारी, ४ सरदार ४० सवार और ३ हाथी सामने से हो कर निकल गए। बूंदी के बाद बीकानेर का नम्बर था। वहां के भी हाथी घोड़े पैदल पालकी हयदल गजदल और रथदल अपना अपना चमत्कार दिखा गए। इस सेना के साथ ऊंटों की भी सेना थी, पीछे कोटा की चतुरङ्गिणी सेना आई। कोटा से १५ नागा आए थे। इनकी पटाबाज़ी से दर्शक प्रसन्न हुए। उनके सर्वाङ्ग में बिभूति, एक हाथ में तलवार, और दूसरे में लाठी थी। उनके बाद भरतपुर के हाथी, अश्वारोही और उष्ट्रारोही सेना आई। पीछे किशनगढ़ की सेना आई। बख्तर पहिने ५२ सवारों को देख देख रङ्गभूमि जयध्वनि से गूञ्ज उठी। चार सवार तलवार घुमाते जाते थे। फिर अलवर के दो हाथी पताका और राजचिन्ह लिए आए। हाथी के पीछे २१ ऊंट सवार और १५ घोड़े थे। फिर एक गाड़ी आई। उसको चार हाथी खींचते थे। गाड़ी क्या थी एक अच्छी बैठक थी। उसमें गद्दी तकिया मसहरी झाड़ फानूस हांडी गिलास लगे हुए थे। फिर एक हाथी आया जो अमूल्य आभूषणों से भूषित था। टोंक के नवाब के ५ शहनाई और चिकारावाले पहिले आए, फिर १०० पैदल, ३ हाथी, २० घुड़सवार नाचते कूदते चले गए। धौलपुर की सेना जिरहबख्तर पहिने हुए थी। उसके बाद झालावार की चतुरङ्गिणी सेना आई। यों राजपूताने की सेना खतम हुई। तब ब्रह्म देश के कुछ राजाओं की सेना आई। उसके सिपाही बड़े गम्भीर होकर चलते थे। बीच बीच में घण्टा बजता था। सैनिकों के सिर पर बांस की टोपी और सरदारों के सिर पर बांस का छाता था।

"फिर काशीनरेश की सेना आई। सैनिकों की पोशाक बड़ी सुन्दर थी। सबसे पहिले एक हाथी आया जिसके ऊपर शहनाई बजती थी। बजाने वाले बूढ़े थे। सुर बड़ा ही मीठा था, फिर ५१ सवार ३० बाजे वाले, १०० पैदल, ७० आसा सोटावाले, २० ढाल तरवार लिये घुड़सवार, ९ ऊंट के सवार और १५ हाथी आए। काशी के बाद टिहरी की सेना आई। वहां से सिर्फ ५० पैदल सिपाही आए थे।

"अब पञ्जाब की बारी आई। लोहारू के नवाब के १५ सिपाही मोरछल बन्दूक आसा सोटा और बर्छी लिये आए। फिर २ बैलगाड़ी और २ ऊंट दिखाई दिए। मलेर कोटला से एक हाथी ८ घोड़े और ३० सिपाही आए थे। फ़रीदकोट का पहिले एक भेरीवाला आया और चारों ओर शोर गुल करके चला गया। ८ सिपाही सोने की बर्छी, सोने का छाता और सोने का आसा सोटा लिए आए। फिर एक घोड़ा गाड़ी, २ हाथी और दो ऊंट की गाड़ियां आकर चली गईं। नाभा राज्य के पहिले ६ ऊंट और २५ सवार आए जो शरीररक्षक थे। इनका वीर-वेष सुन्दर था। फिर दो पालकी, काली झण्डी लिए एक हाथी और ६ सुन्दर हौदे लिए ६ हाथी आए। फिर एक राजशकट, २ बाज पक्षी, ४ शिकारी कुत्ते आए। सबके पीछे ५० वर्ष का बूढ़ा एक बौना आया सो सिर्फ़ डेढ़ हाथ लम्बा था।

"झींद की सेना भी अच्छे सामान के साथ आई। उसके हाथियों के सब अङ्ग गहने से लदे हुए थे, यहां तक कि पूंछ में भी गहना था।

"पटियाला की सेना का भी ठाठ अच्छा था। २ हाथी, ५ बाजेवाले, ४८ आसा सोटावाले, ८ मशालची, ४ डोले, ६ राज्य पताकाधारी, ८ घोड़े, २ आइना ढोनेवाले, ८ सोटावाले सवार, ६ शहनाई वाले, १ चांदी की गाड़ी (उसके ऊपर सोने का हाथी था), २ रणसिंगा वाले, २५ शरीररक्षक और ५ हाथी एक एक करके आए और चले गए।

"सब के अन्त में काश्मीर की सेना आई। बौद्ध लामा गण बाघ भालू और सिंह का मुखौस पहिन कर गदा घुमाते बिकट नाच करते चले गए। इसको लामा का नाच कहते हैं। बहुत रुपया ख़र्च करके कश्मीरनरेश ने इन लामों को लदाख से बुलाया है। फिर ६६ बाजेवाले, ६८ आसासोटा और बन्दूकधारी और २६ अश्वारोही आए। सवारों की छाती पर सोने का कवच था। पीछे मणिमुक्ता से सुशोभित ८ घोड़े और ८ हाथी आए। हाथियों को कश्मीरी शाल उढ़ाई गई थी।"

इस प्रकार भारतीय राजा महाराजाओं की सेना की प्रदर्शनी २ घण्टे में समाप्त हुई।"

तारीख १० जनवरी को बड़े ठाठ बाट के साथ लार्ड कर्ज़न दिल्ली से रवाना हो गए। उस समय दिल्ली में जो राजे महाराजे या अफ़सर वर्तमान थे, वे सब लाट साहब को पहुंचाने के लिये स्टेशन तक आए थे और सभों ने आनन्दपूर्वक लाट साहब को बिदा किया। बस, इस प्रकार दिल्लीदर्बार का अन्तिम दृश्य समाप्त हुआ और सब लोग अपने अपने घरों को लौटने की तयारी करने लगे। इधर दिल्ली की भीड़ भी छटने लगी और जनवरी मास के अन्त तक दिल्ली की पूर्व अवस्था हो गई।

श्यामसुन्दरदास।

बन्दरों का पुल।

बन्दरों का डील डौल मनुष्य के डील डौल से बहुत मिलता है। एक विलायती विद्वान् का तो यह मत है कि छोटे छोटे जीवों से अधिक बड़े होते होते, क्रम क्रम से, बन्दर उत्पन्न हुए और बन्दरों के अनन्तर मनुष्य उत्पन्न हुए हैं। अर्थात् बन्दर हमारे पूर्व-पुरुष हुए। हाथी और घोड़े इत्यादि पशुओं की बुद्धिमानी की कथाएं बहुधा सुनने में आती हैं; परन्तु बुद्धि में बन्दरों की बराबरी और कोई पशु नहीं कर सकते। बन्दर, कभी कभी बड़ी ही बुद्धिमानी के काम करते हैं। बन्दरों की तीक्ष्ण बुद्धि का नमूना, इस लेख के साथ वाले चित्र में देखिए। एक नदी पार करने के लिये उन्होंने अपने शरीर का पुल बाँध दिया है, जिसे देखकर देखनेवाले की बुद्धि चक्कर में आजाती है। इस पुल का वृत्तान्त इस प्रकार है—

बन्दरों को तैरना नहीं आता; वे पानी से बहुत डरते हैं। परन्तु जब कभी उनको कोई छोटी मोटी नदी पार करना पड़ता है, तब वे दस पाँच मिल कर अपने शरीर का पुल बना कर उसे पार कर जाते हैं। इस प्रकार का पुल एक मनुष्य ने अपनी आँखों से देखा है और उसका चित्र भी उस

प्रकाशित किया है। वह लिखता है कि, एक बार कोई चार पाँच सौ बन्दरों का झुण्ड एक नदी के किनारे आ पहुँचा। वह नदी इतनी गहरी थी और इतने वेग से बह रही थी कि उसमें प्रवेश करके पार जाने का साहस उन बन्दरों को नहीं हुआ। वह इतनी छोटी भी न थी कि उसे वे कूद जाते। उन बन्दरों में एक बहुत बड़ा और बुड्ढा बन्दर था। बन्दरों की उस सेना का वह सेनापति सा था। उसके साथ और भी दस पाँच बड़े बड़े बन्दर थे। उनमें से कोई कर्नल, कोई कप्तान, कोई सूबेदार, कोई जमादार, कोई इंजिनियर इत्यादि का सा काम करते थे। सेनापति ने नदी को वेग से बहती देख, उतरने का प्रबन्ध करने के लिये, अपने साथी उन बड़े बड़े बन्दरों को नदी के किनारे किनारे दूर दूर तक भेज दिया। थोड़ी देर में उनमें से एक बन्दर दौड़ता हुआ आया और सेनापति से कुछ कह कर उसने इशारा किया। तत्काल ही सेनापति वहां से चल दिया और उस के पीछे पीछे बन्दरों की सेना भी चली। थोड़ी ही दूर चलने पर वे एक बहुत ऊंचे पेड के नीचे पहुँच गए। वह पेड़ नदी के एक किनारे पर था और उसीके सामने दूसरे किनारे पर एक और पेड़ उतनाही बड़ा था। वहां सेनापति बन्दर ठहर गया और जो बन्दर उसे बुलाने गया था वह झट उस पेड़ की सबसे ऊंची डाल पर जा कर उसे हिलाने लगा। हिला कर वह नीचे उतर आया। उसने इंजिनियर का सा काम किया और उस डाल को हिला कर यह बतलाया कि वहीं से पुल बनाना चाहिए।

उस सेना में से सबसे बलवान और लम्बी पूंछ वाले कोई १५ बन्दर चुने गए। उनमें से एक बन्दर उस पेड़ पर चढ़ गया; और चढ़ कर पहले बन्दर की दिखलाई हुई डाली में तीन चार बार दृढ़ता से अपनी पूंछ को लपेट कर मुँह नीचे करके लटकने लगा। तब दूसरा बन्दर ऊपर गया और पहले बन्दर के गले में अपनी पूंछ लपेट कर वह भी लटकने लगा। तीसरे बन्दर ने उन दोनों के ऊपर से आकर दूसरे के गले से अपनी पूंछ लपेटी और लपेट कर वह भी लटक गया। इस प्रकार कोई चौदह पन्द्रह लटकते गए; यहां तक कि सबसे नीचे के बन्दर के हाथ भूमि तक पहुँच गए। तब नीचेवाले बन्दर ने उस शृंखला को हिलाना प्रारम्भ किया और हाथों को धीरे धीरे पृथ्वी पर लगाते हुए उसने उसकी गति को बढ़ाया। इस काम में उसे, उस शृंखला में लगे हुए दूसरे बन्दरों ने भी

सहायता की। थोड़ी देर में उसकी गति इतनी बढ़ी कि नीचेवाला बन्दर नदी के दूसरे किनारे के पेड़ की डालियों तक पहुंच जाने लगा। एक बार एक डाली के वह इतना निकट पहुंच गया कि उसे उसने झट पकड़ लिया। बस, पकड़ने की देरी थी कि वह शृङ्खला नदी के ऊपर से होती हुई दोनों पेड़ों के बीच में थम गई और एक सजीव

पुल तैयार हो गया। इस पुल के ऊपर से वे चार पाँच सौ बन्दर सहज में शीघ्रही पार हो गए।

जब सब बन्दर नदी के पार उतर गए, तब दूसरे किनारे के पेड़ के ऊपर पाँच सात बन्दरों ने मिलकर एक और शृङ्खला बनाई और उसे पहिली शृङ्खला से जोड़ दिया। जोड़ कर उसे उन्होंने पेड़ के और ऊपर खींच लिया, यहां तक कि उसके दोनों छोर बराबर उँचाई पर पहुँच गए। इतना हो चुकने पर सेनापति बन्दर ने एक ऐसी किलकारी मारी, जिसे सुनतेही नदी के पहले किनारे के पेड़ को पकड़नेवाले बन्दर ने उसे छोड़ दिया और वह शृङ्खला एक झटके के साथ नदी के दूसरे किनारे पर आकर लटकने लगी। ज्योंही वह थमी त्योंही नीचे का बन्दर औरों के ऊपर होते हुए पेड़ पर निकल गया। उसके पीछे दूसरा गया; फिर तीसरा; फिर चौथा। इसी प्रकार वे सारे बन्दर पेड़ पर चले गए और वह जीवधारी पुल पल भर में टूट गया।

तारीख़ से दिन निकालने की रीति।

यह जानने की बहुधा आवश्यकता हुआ करती है कि किस तारीख़ को कौन दिन था; अथवा किस तारीख़ को कौन दिन होगा। इसके लिये पत्रे और जन्त्रियां ढूंढ़नी पड़ती हैं और उनके न मिलने से दिन जानने में देरी होती है। यदि दो चार महीने आगे अथवा पीछे की तारीख़ का दिन जानना होता है तो उसका पता शीघ्र लग जाता है; परन्तु सौ दो सौ वर्ष आगे पीछे के किसी दिन के जानने की जब आवश्यकता होती है तब बड़ी कठिनाई आ पड़ती है। इसलिये तारीख़ से दिन जानने की एक सरल रीति हम यहां लिखते हैं।

जिस तारीख़ का दिन जानना हो उस तारीख़ समेत उस वर्ष के जितने दिन बीते हों उनको अलग रक्खो। फिर उस वर्ष के पिछले सन का सवाया करके उन दिनों में जोड़ दो। सवाया करने में य
पूरा अङ्क न आवे तो उस अपूर्ण अङ्क को छोड़ दो। जिस वर्ष के जिस महीने की जिस तारीख़ का दिन निकालना है, उस वर्षवाले शतक के पहले जितने शतक ४०० से कट जावें उतने कम कर बचे हुए शतकों को पहले के जोड़ से घटा दो। कुछ बचे उसमें ७ का भाग दो। भाग देने से

० बचे तो रविवार
१ ,, सोमवार
२ ,, मङ्गलवार
३ ,, बुधवार
४ ,, गुरुवार
५ ,, शुक्रवार
६ ,, शनिवार

उदाहरण—कल्पना करो कि आज सन १९ के दिसम्बर की १८ तारीख़ है; और आज बुध है। आज समेत इस वर्ष के ३५२ दिन हुए। दिनों में १९०१ के पिछले सन १९०० का सवा (१९००+४७५) २३७५ जोड़ने से २७२७ हु १९०० तक १९ शतक हुए, जिनमें से ४ शत अर्थात् चौथा, आठवां, बारहवां और सोलह ४०० से कट जाता है, इसलिये १९ से ४ निकाल पर १५ बचे। इन १५ को पहले जोड़ २७२७ से घटा से २७१२ हुए। इन २७१२ में ७ का भाग देने

```
७) २७१२ (३८७
   २१
   --
    ६१
    ५६
    --
     ५२
     ४९
     --
      ३
```

३ बचे। ३ बचने से बुधवार होता है। और आ बुधवार ही है; इसलिये दिन निकालने की रीति ठीक है।

अध्यापक वसु के अद्भुत आविष्कार।

अध्यापक वसु का पूरा नाम बाबू जगदीश-चन्द्र वसु है। इन्होंने कई ऐसे ऐसे अद्भुत आविष्कार किए हैं जिनका वृत्तान्त सुन कर पाश्चात्य विद्वान् भी चकित होते हैं और वसु बाबू की तीक्ष्ण बुद्धि, अश्रान्त अध्यवसाय और गम्भीर गवेषणा-शक्ति की हृदय से प्रशंसा करते हैं। बहुधा पुस्तकों और समाचारपत्रों में हम यह पढ़ते हैं कि इस देश के निवासी केवल वक्तृता देना जानते हैं; व्यर्थ भाषण और व्यर्थ लेख लिखने के अतिरिक्त उनसे कुछ नहीं बन पड़ता। न उनको व्यापार करना आता है; न उनको, किसी अच्छे पद को पाने पर, तत्सम्बन्धी प्रबन्ध करना आता है; और न कला-कौशल की ओर प्रवृत्त हो कर कोई नवीन आविष्कार करने में वे समर्थ होते हैं। कई अंशों में ये दोषारोपण सत्य हैं; परन्तु इससे यह नहीं सिद्ध होता कि इस देश के निवासियों में नूतन बातों का पता लगाने की शक्ति ही नहीं है। यथार्थता यह है कि हम लोगों को, पूर्वोक्त विषयों में प्रवीण होने के लिए; प्रायः योग्य अवसर ही नहीं मिलता। अध्यापक वसु ने अपने आविष्कारों से योरप और अमेरिका के बड़े बड़े वैज्ञानिकों को चकित करके यह सिद्ध कर दिखाया है कि भारत-वासियों में भी अद्भुत अद्भुत बातों का पता लगाने की शक्ति है; और अवसर मिलने पर वे उस शक्ति को काम में भी ला सकते हैं।

अध्यापक वसु ने पहले कलकत्ते में विद्याध्ययन किया। वहां उच्च शिक्षा-प्राप्ति की समाप्ति करके वे विलायत गए और १८८१ ईसवी में केम्ब्रिज के क्राइस्ट कालेज में उन्होंने प्रवेश किया। वहां और और विषयों के साथ वे विज्ञान भी सीखते रहे। १८८५ ईसवी में वे परीक्षा में उत्तीर्ण हुए और उनको बी० यस० सी० की उपाधि मिली। इस परीक्षा को पास करने में उन्होंने विज्ञान में बड़ी प्रवीणता दिखलाई; इसलिए उस सम्बन्ध में उनका बड़ा नाम हुआ। वहां, इस प्रकार, शिक्षा समाप्त करके वे भारत को लौट आए और लौटने पर उन्हें कलकत्ते के प्रेसीडेंसी कालेज में अध्यापक का पद मिला।

प्रेसीडेंसी कालेज में अध्यापक का पद पाने के दस वर्ष पीछे वसु बाबू ने अदृश्य प्रकाश और तद्गत तरङ्गों का पता लगाया और एक ऐसा विलक्षण यन्त्र भी बनाया जिसमें इस प्रकाश का अस्तित्व और उसका रूप रङ्ग आदि नेत्रों से प्रत्यक्ष देख पड़ने लगा। इस कारण उनका बड़ा नाम हुआ; विलायत की वैज्ञानिक रायल सोसाइटी ने उनके आविष्कार के महत्व की बड़ी प्रशंसा की। जब भारत-गवर्नमेण्ट को वसु महाशय की असाधारण बुद्धि और वैज्ञानिक प्रतिभा का प्रमाण मिला तब उसने उनको उत्तमोत्तम यन्त्रों की सहायता से वैज्ञानिक विषयों का अधिक ज्ञान प्राप्त करने के लिए अपने व्यय से विलायत भेज दिया। अतएव १९९७ ईसवी में अध्यापक वसु ९ महीने इङ्गलैण्ड में रहे। वहां लण्डन के विश्वविद्यालय ने उनको डी० यस सी० की उपाधि दे कर उनका आदर किया। उस दिन से वसु बाबू विज्ञान-शास्त्र के आचार्य्य हुए।

९ महीने विलायत में रह कर वसु महाशय भारत को लौट आए। यहां आ कर वे वैज्ञानिक विषयों की गहन से गहन परीक्षायें करने लगे। इन परीक्षाओं का यह फल निकला कि उन्होंने एक ऐसी अद्भुत बात का पता लगाया जिसे सुनकर वैज्ञानिक-जगत् आश्चर्य्य में सहसा निमग्न हो गया। यह एक ऐसा आविष्कार है जिसका यन्त्रों की सहायता से अस्तित्व सिद्ध हो जाने से हमारे प्राचीन ऋषियों की अनन्त विद्वत्ता, निःसीम ज्ञान और अदृश्य पदार्थों को ग्रहण-पात्रता का प्रमाण भी सहज ही में मिल गया। इस नूतन आविष्कार के सम्बन्ध में अध्यापक वसु ने, दो वर्ष पहले जो प्रदर्शिनी पेरिस में हुई थी उसमें, पहले

पहल व्याख्यान दिया। उनके इस नवीन आविष्कार का वर्णन सुन कर वैज्ञानिकों को पराकाष्ठा का आश्चर्य्य और पराकाष्ठा का आनन्द हुआ। अध्यापक वसु ने यन्त्रों के द्वारा यह सिद्ध कर दिया, कि इन्द्रिय-विशिष्ट पदार्थ ही चेतनायुक्त नहीं होते; किन्तु सोना, चाँदी और पीतल इत्यादि के समान इन्द्रिय-हीन जड़ पदार्थों में भी एक प्रकार की चेतना रहती है।

इस ब्रह्माण्ड में एक प्रकार का अदृश्य तेज-प्रकाश-आलोक-व्याप्त हो रहा है। इसी प्रकाश का उल्लेख हमने ऊपर तीसरे पाराग्राफ में किया है। यह प्रकाश अत्यन्त सूक्ष्म होने के कारण चर्म्म-चक्षुओं से दिखाई नहीं पड़ता। इस प्रकाश को आज कल के विद्वान् विद्युत् कहते हैं। इस विद्युत् के तरङ्गों की धारायें ऊपर नीचे, इधर उधर, सब कहीं, सब काल, अविरत बहती रहती हैं। अध्यापक वसु ने एक ऐसा यन्त्र बनाया है जिसमें ये विद्युत्तरङ्ग भली भाँति नेत्रों से देखे जा सकते हैं; जिन पदार्थों के वे बने हैं उनकी परीक्षा भी की जा सकती है, और उनके रूप रङ्ग इत्यादि का पूरा पूरा ज्ञान भी प्राप्त किया जा सकता है। ये ऐसे आश्चर्य्यमय तरङ्ग हैं कि सब कहीं व्याप्त हो सकते हैं; पृथ्वी, आकाश, पाताल सब में उनकी गति है! यही नहीं किन्तु पुस्तक, लकड़ी, लोहा और पत्थर तक में वे प्रवेश कर जाते हैं। जब वे किसी घनीभूत पदार्थ के भीतर चले जाते हैं तब उनकी छाया से, यन्त्र द्वारा, उस पदार्थ के भीतर के आकार और विकार प्रत्यक्ष दिखलाई देने लगते हैं; लोहे और लकड़ी के भीतर के चिन्ह इत्यादि मनुष्य की आखों के सम्मुख आ जाते हैं। मानव शरीर के किसी अङ्ग में उनका प्रयोग करने से भीतर का दृश्य स्पष्ट दिखलाई देने लगता है। उनके सहारे डाकृर लोग शरीर के भीतर से गोले और गोलियों के टुकड़े निकाल सकते हैं; टूटी हुई हड्डियों की चिकित्सा कर सकते हैं; और विकृत पदार्थों को शरीर से बाहर करके अनन्त प्राणधारियों की प्राण-रक्षा करने में सम[र्थ] होते हैं! अध्यापक वसु ही ने सबसे प्र[थम] इसका पता लगाया कि इस ब्रह्माण्ड में विद्यु[ल्]लतात्मक प्रकाश अदृश्य रूप से प्रवाहित हो र[हा] है। यदि वे इसका पता न लगाते तो बिना ता[र] के तार-समाचार भेजने की विद्या कभी उदय [हो]न प्राप्त होती। इस अदृश्य विद्युल्लता के आविष्क[ारक] अध्यापक वसु हैं; किन्तु इटली के मारकोनी साह[ब] विना तार के तार भेजने की क्रिया का प्रचार कर[के] अध्यापक वसु के यश को बीच ही में उड़ाए लि[ये] जाते हैं।

ऊपर जिस अदृश्य विद्युल्लता का वर्णन हुआ वह अध्यापक वसु का पहला आविष्कार है। उनका दूसरा आविष्कार इन्द्रियहीन पदार्थों में चेतना [के] अस्तित्व का प्रमाण है। जब मनुष्य के काँटा लग[ता] है; अथवा जब उसे कोई चुटकी से काटता है; अथवा जब डाकृर लोग उसके शरीर में शस्त्र-प्रयो[ग] करते हैं, तब मनुष्य को एक झटका लगता है, और कभी कभी शरीर काँप भी उठता है। यह झटक[ा] और यह कम्पन सजीव अर्थात् चेतनावान् होने [का] प्रमाण है। यह प्रमाण नेत्रों से दिखलाई पड़ने[से] प्रत्यक्ष है; परन्तु चेतना के कई ऐसे लक्षण हैं [जो] नेत्रों से नहीं देखे जा सकते। मनुष्य के शरीर [में] अनन्त ज्ञान-तन्तु फैले हुए हैं। इन तन्तुओं [का] अधिष्ठान मस्तिष्क में है। मस्तिष्कही ज्ञानाग[ार] है। तन्तुओं के द्वारा सुख दुःख का ज्ञान मस्ति[ष्क] में स्थित ज्ञानागार ही को होता है। जिस सम[य] ज्ञान-तन्तु किसी विकार को ज्ञानागार तक पहुंचा[ते] हैं उस समय उनमें एक प्रकार का स्पन्दन हो[ता] है। यह स्पन्दन ऐसा सूक्ष्म होता है कि वह कि[सी] प्रकार आंखों से मनुष्य को दिखलाई नहीं देता; परन्तु होना उसका सत्य है। कानों में किसी श[ब्द] का आघात होने और नेत्रों की कनीनिका पर कि[सी] प्रकाश-पटल के छू जाने से ज्ञान-तन्तु हिल उ[ठते] हैं; और प्राप्त किए हुए विकार-ज्ञान को ज्ञानाग[ार] तक पहुंचाने में प्रवृत्त हो जाते है। इस प्रवृत्ति

इस स्पन्दन अर्थात् कम्पन-क्रिया के प्रतिफलित करने के लिए अध्यापक वसु ने एक विचित्र यन्त्र निर्माण किया है। उसके द्वारा नेत्रों से देखे जाने योग्य शरीर-कम्पन इत्यादि क्रियायों का चित्र ही नहीं दिखलाई देने लगता; किन्तु अन्तर्गत ज्ञान-तन्तुओं के अदृश्य स्पन्दन का भी चित्र उसमें सहजही प्रतिफलित हो जाता है। जीवित शरीर ही में इस प्रकार की कम्पन-क्रिया होती है; निर्जीव में नहीं। इस कम्पन-क्रिया का सहजज्ञान बिजुली की बैटरी के तार को शरीर में स्पर्श कराके अच्छी प्रकार हो सकता है। इस प्रकार के तार को छूने से शरीर में झटका लगता है। बिजुली का जितना ही अधिक वेग होता है उतनाही अधिक झटका लगता है। चुटकी काटने, सूई चुभोने इत्यादि में भी झटका बैठता है और शरीर काँप उठता है; परन्तु बिजुली के तार के स्पर्श से जितना स्पन्दन होता है उतना सूई चुभोने अथवा चुटकी से काटने से नहीं होता; तथापि होता अवश्य है। इसी प्रकार ज्ञान-तन्तुओं के दर्शन, स्पर्शन, श्रवण इत्यादिक विकारों के आघात से भी कम्प होता है; यह कम्प बहुत ही सूक्ष्म होता है; इस लिए दिखलाई नहीं पड़ता। स्वयं ज्ञान-तन्तु ही अदृश्य हैं; फिर उनकी क्रिया कैसे दृश्य हो सकती है? जब स्पर्श आदिक विकारों के होने से भी तन्तुओं में कम्पन होता है तब शरीर पर शस्त्रादिक का आघात करने से और भी अधिक होवैहीगा। अतएव इस विषय में शङ्का नहीं हो सकती।

शरीर का बहिर्गत कम्पन और तन्तुओं का अन्तर्गत कम्पन सजीव होने का लक्षण है; क्योंकि मृतक देहमें यह कम्पन-क्रिया नहीं देखी जाती। अध्यापक वसु ने अपने अद्भुत यन्त्र के द्वारा मनुष्य के शरीरान्तर्गत कम्पन-क्रियाओं को प्रत्यक्ष करके सोना, चाँदी इत्यादि धातुओं पर भी परीक्षा की। उनके इस परीक्षा का फल महा आश्चर्य्यकारक हुआ। उन्होंने देखा कि सजीव शरीर के समान धातुओं में भी स्पन्दनक्रिया होती है। उनको चुटकी से काटने; उनमें सूई छेदने; अथवा उन पर आघात करने से वही दृश्य दिखलाई पड़ता है जो मनुष्यों में उस प्रकार की क्रिया करने से दृग्गोचर होता है। धातुओं को बारबार काटने और उन पर अनवरत आघात करने से उनको कम्पन-क्रिया कम कम शिथिल हो जाती है, परन्तु शक्ति-वर्द्धक ओषधियों का उन पर उपचार करने से वे फिर जगसी उठती हैं, और पूर्ववत् चेतनता के लक्षण दिखलाने लगती हैं। अध्यापक वसु ने अपनी परीक्षा के फल को संशयहीन सिद्ध करने के लिए धातुओं पर विष की भावना करके अपने यन्त्र का प्रयोग किया। प्रयोग करने से उन्होंने देखा कि क्रम क्रम से विषप्रयुक्त धातु स्पन्दनहीन होगए, अर्थात् उनकी चेतना मनुष्य के जीवन के समान जाती रही। फिर, कुछ काल के अनन्तर, विषघ्न ओषधियों का प्रयोग करके विष के प्रभाव को दूर करके जो उन्होंने देखा तो धातुओं की कम्पन-क्रिया धीरे धीरे फिर उनमें आगई। इन परीक्षाओं से यह निर्विवाद सिद्ध हो गया कि इन्द्रिय-विशिष्ट जीवधारियों के समान इन्द्रियहीन पदार्थों में भी एक प्रकार की चेतना-शक्ति है और उनमें भी ज्ञान-तन्तु विद्यमान हैं।

सरस्वती की किसी संख्या में आत्मा के ऊपर हमारा एक लेख निकला है। उस में हमने कहा है कि आत्मा का चिन्ह सज्ञानता है; और आत्मा परमात्मा ही का अंश है। अतएव जिन पदार्थों में ज्ञान का होना सिद्ध है वे अवश्यमेव ईश्वर से सम्बन्ध रखते हैं। ईश्वर के व्यापक होने में अभी तक लोगों को विश्वास न था; परन्तु धन्य है अध्यापक वसु को जिन्होंने अद्भुत आविष्कार द्वारा भारतवर्ष के तीन हज़ार वर्ष से भी प्राचीन ऋषियों के इस वचन को सत्य सिद्ध कर दिया कि—

सर्वं खल्विदं ब्रह्म।

हिन्दी भाषा और उसका साहित्य।

इस विषय में अनेक लेख समाचार-पत्रों में प्रकाशित हो चुके हैं; पुस्तकें तक लिखी जा चुकी हैं। अतएव यहां पर, इस सम्बन्ध में, कुछ लिखना पिष्ट-पेषण ही होगा। तथापि, सरस्वती में हिन्दी-भाषा विषयक कोई लेख, आज तक, प्रकाशित नहीं हुआ; इसलिए इस निबन्ध का लिखा जाना अनुचित भी न होगा। यह विषय गहन है; इसके लिए विशेष स्थल, विशेष विद्या-बुद्धि और विशेष योग्यता अपेक्षित है। अतः, इस छोटे से लेख में, हम, यथाशक्ति और यथामति, स्थूल ही स्थूल बातों का विवेचन करेंगे।

पहले हम 'हिन्दी' शब्द की उपपत्ति का विचार करना चाहते हैं। हिन्दी के दो अर्थ हैं। एक 'हिन्दुओं की भाषा'; और दूसरा 'हिन्द (हिन्दुस्थान) की भाषा'। ये दोनों अर्थ बहुत व्यापक हैं। दोनों ही यह सूचित करते हैं कि इस देश की प्रधान भाषा हिन्दी ही है। यदि इसे हिन्द की भाषा मानें तो यह सारे देश की भाषा हुई; और यदि हिन्दुओं की भाषा मानें तो सारे हिन्दुओं की भाषा हुई। हिन्दू ही इस देश में और जातियों से अधिक बसते हैं। इसलिए, पहले अर्थ में भी हिन्दी की व्यापकता का गौरव, किसी प्रकार, कम नहीं है। क्योंकि ऐसा कौन प्रान्त है जहां हिन्दू नहीं? और ऐसी कौन जाति है जो हिन्दी नहीं समझती? अतः, इस देश की यदि कोई एक भाषा हो सकती है तो वह हिन्दी ही है।

'हिन्द' शब्द फ़ारसी भाषा का है। वह हिन्दुओं के देश ही का बोधक है। जान पड़ता है 'हिन्द' ही से अंगरेज़ी 'इण्डिया' शब्द की उत्पत्ति हुई है। फ़ारसी शब्द 'हिन्द' बहुत पुराना है। उसका प्रचार इस देश में, मुसलमानों के द्वारा हुआ। संभव है, इस देश के निवासी हिन्दुओं ही के नामानुकूल फ़ारसवालों ने 'हिन्द' शब्द की उत्पत्ति की हो। संस्कृत के व्याकरण के अनुसार 'हिन्दी' शब्द की उपपत्ति का विचार करने में पहले "हिन्[...] शब्द को सिद्ध करना पड़ेगा; क्योंकि हिन्दु[...] ही की भाषा का नाम 'हिन्दी' है। संस्कृत [...] एक धातु 'हिसि' है। उसका अर्थ 'हिं[...] करना' है। इस 'हिसि' धातु से कर्ता[...] प्रत्यय करने से 'हिन्' और 'हिंसक आदि श[...] सिद्ध होते हैं। इन शब्दों में 'खण्डन' और 'प[...] ताप' अर्थ के बोधक 'दो' और 'दूङ्' धातुओं [...] योग से क्रमशः 'हिन्दु' और 'हिन्दू' शब्द सि[...] होते हैं। अतएव 'हिन्दू' शब्द का धात्वर्थ 'हिं[...] करने वालों को खण्डन करने अथवा सन्ता[...] पहुंचानेवाला' हुआ। यह उपपत्ति इस देश के स[...] मतवालों के अनुकूल जान पड़ती है। वेदान्त आदि षड्दर्शन तथा वैदिक, बौद्ध और जैन सिद्धान्तों के अनुयायी, सभी, व्यर्थ हिंसा न करना अप[...] अपने मत का एक प्रधान अङ्ग मानते हैं। अतए[...] हिंसा करनेवालों से प्रतिकूलता रखना उनके लि[...] स्वाभाविक ही है। जो लोग 'हिन्दू' शब्द [...] बिलकुल ही विदेशी समझते हैं, वे भूलते हैं। [...] शब्द की जो उपपत्ति हमने यहां पर दी [...] कपोल-कल्पित नहीं है! 'हिन्दू' शब्द का प्रयो[...] संस्कृत के प्राचीन ग्रन्थों में भी मिलता है। [...] स्थल में तो उसका अर्थ भी लिखा है। देखिए-

> हीनञ्च दूषयत्येव हिन्दुरित्युच्यते प्रिये।
>
> मेरुतन्त्र, २३ वाँ प्रकाश।

अर्थात् हीन लोगों पर जो दोषारोपण करे [...] हिन्दू कहते हैं। यह अर्थ भी हमारे पूर्वोक्त [...] से प्रायः मिलता है। भेद इतना ही है [...] यहां पर हिंसक अर्थ न लेकर हीन अर्थ लि[...] गया है।

व्याकरण से जब 'हिन्दू' शब्द सिद्ध हो ग[...] तब हिन्दुओं की भाषा 'हिन्दी' आप ही सिद्ध [...] गई। उसके पृथक् सिद्ध करने की आवश्यकता [...] रही। तथापि वह एक दूसरे प्रकार से भी सि[...] हो सकती है। यथा—'हिन्दू' शब्द से, स्त्री-लि[...] में तद्धित प्रत्यय करने से 'हैन्दवी' शब्द हु[...]

उसके अपभ्रंश 'हिन्दवी', 'हिन्दुई' और 'हिँदुई' हुए। 'हिँदुई' तो अब तक कहीं कहीं बोला जाता है। होते होते इसी 'हिँदुई' का 'हिन्दी' हो गया।

इस देश में बोली-जाने-वाली भाषाएं दो बड़े बड़े भागों में विभक्त हैं—एक आर्यभाषा और दूसरी द्राविड़ भाषा।

द्राविड़ भाषा में कनारी, तामोल, तिलैगू और मलायालम् मुख्य हैं। ये भाषायें मदरास की ओर बोली जाती हैं। जहां से आर्य भाषा की उत्पत्ति है, वहां से द्राविड़ भाषा की उत्पत्ति नहीं है; इसीलिए आर्य और द्राविड़ ये दो विभाग करना पड़े।

आर्य भाषा के मुख्य सात विभाग हो सकते हैं। यथा—हिन्दी, पञ्जाबी, सिन्धी, गुजराती, मराठी, उड़िया और बँगला। इसके अतिरिक्त और भी कई विभाग किये जा सकते हैं; परन्तु वे विभाग गौण हैं और इन्हीं सातों के अन्तर्गत आ जाते हैं। इन सातों भाषाओं में हिन्दी सबसे प्रधान है। पूर्व में गण्डक नदी से लेकर पश्चिम में पञ्जाब तक; और उत्तर में कमायूं से लेकर दक्षिण में विन्ध्याचल पर्वत के भी उस पार तक की प्रचलित भाषा हिन्दी ही है। सच तो यह है कि हिन्दी बोलनेवालों की सीमा नहीं बाँधी जा सकती। वह देश-व्यापक भाषा है। उसके बोलने और समझने वाले किस प्रान्त में नहीं हैं?

आदि में इस देश की भाषा संस्कृत थी। विद्वानों का अनुमान है कि आज से कोई २५०० वर्ष पहले सर्वसाधारण के बोलचाल में इस भाषा का प्रयोग उठगया। उसके अनन्तर प्राकृत भाषाओं का प्रचार हुआ। जो प्रकृति—स्वभाव—से उत्पन्न हो उसे प्राकृत कहते हैं। अर्थात् ये प्राकृत भाषायें स्वाभाविक रीति पर, आपही आप, संस्कृत से उत्पन्न होगई थीं। इन प्राकृत भाषाओं के कई भेद हैं। उनमें महाराष्ट्री, सौरसेनी, मागधी अर्थात् पाली, पैशाची और अपभ्रंश ये पांच मुख्य हैं। यद्यपि संस्कृत का बोल चाल उठ गये हज़ारों वर्ष हुए, तथापि विद्वान् लोग अपने ग्रन्थ इसी भाषा में लिखते रहे और अब तक भी लिखते हैं। संस्कृत भाषा के प्रवीण पण्डित इसे, समय पड़ने पर, बोलते भी हैं। परन्तु गौतम बुध ने सर्वसाधारण को अपने उपदेश प्राकृत ही में दिये। बौद्ध सम्प्रदाय के ग्रन्थ भी प्राकृतही में हैं। जो प्रजामात्र की भाषा हो उसीमें उपदेश देना और उसीमें ग्रन्थ लिखना हितकर होता भी है। इस समय, हमारी भाषा हिन्दी है, अतएव, विचारने की बात है, कि यदि देहली दरबार का वृत्तान्त संस्कृत में लिखा जावै तो वह कितना लाभकारी होगा; और उसे कितने लोग समझ सकेंगे?

हिन्दीभाषा में कई प्राकृत भाषाओं के बीज हैं; परन्तु विशेष करके वह सौरसेनी से उत्पन्न हुई है। प्राचीन समय में मथुरा और उसके आस पास का प्रदेश 'सूरसेन' कहलाता था। इसी प्रदेश की भाषा का नाम सौरसेनी था। स्वाभाविक रीति पर फेर फार होते होते इसी सौरसेनी से हिन्दी उत्पन्न हुई; और क्रम क्रम से उसे यह रूप प्राप्त हुआ जिस रूप में हम उसे, इस समय, देखते हैं। प्राकृत भाषाओं में भी अनेक शब्द संस्कृत के विद्यमान थे। उनमें से अनेक शब्द हिन्दी में भी वैसे ही बने हुए हैं और प्रतिदिन बोलचाल में आते हैं। उदाहरणार्थ; माता, पिता, पुत्र, कवि, पण्डित, क्रोध, लोभ, मोह, इत्यादि। बहुत शब्द प्राकृत के भी अपने पूर्वरूप में बने हुई हैं; परन्तु विशेष करके वे परिवर्तित रूप में पाये जाते हैं। प्राकृत के परिवर्तित शब्द अनेक हैं। उदाहरण के लिये हम, यहां दो, चार शब्द लिखते हैं:—

हिन्दी	प्राकृत	संस्कृत
काम	कम्म	कर्म्म
कान	कण्ण	कर्ण
आठ	अट्ठ	अष्ट
हाथ	हत्थ	हस्त
बात	वत्ता	वार्ता
आज	अज्ज	अद्य

आग	अग्गि	अग्नि
दूध	दुद्ध	दुग्ध
कहा	कहिओ	कथितः

सम्पर्क से भाषाओं में परिवर्तन हुआही करता है। सहवास के अनुसार गुण-दोष आही जाते हैं। यह एक स्वाभाविक नियम है। हिन्दी में संस्कृत और प्राकृत शब्दों के मेल के सिवाय, मुसल्मानों के सम्पर्क से अनेक शब्द, फ़ारसी, अरबी और तुर्की तक के आगए हैं। यह सभी जानते हैं। मुसल्मानों के मेल से 'बदलना' और 'दागना' इत्यादि विलक्षण प्रकार की क्रियायें तक हिन्दी में बन गई हैं। भिन्न भिन्न भाषाओं के बोलनेवालों के योग से भाषाओं में अवश्य परिवर्तन होता है। इस देश में योरप से पहले पहल पोर्त्तगीज़ लोग आए। उन्होंने भी कुछ शब्द हिन्दी में प्रविष्ट कर दिए। उनके द्वारा प्रयोग किए गए 'केमरा' (camera) का 'कमरा' हो गया। और 'आक्शन' (auction) से 'नीलाम', तथा हैमर (hammer) से 'हथौड़ा' की उत्पत्ति हुई। अंगरेज़ों के योग से तो अनेक शब्द नए बने; और प्रतिदिन बनते जाते हैं। 'अपील', 'डिगरी', 'इञ्च', 'फ़ुट', 'जज्ज', 'डाक्टर', 'कमिश्नर', 'अस्पताल', 'बोतल' इत्यादि शब्द अब हिन्दी बन बैठे हैं; और गाँवों में स्त्रियां और लड़के तक उनको बोलते हैं। इससे यह सिद्ध हुआ कि यह हमारी हिन्दी संस्कृत, प्राकृत, अरबी, फ़ारसी, तुर्की, पोर्त्तुगीज़ और अंगरेज़ी आदि भाषाओं की खिचड़ी है। ऐसा होना कोई लज्जा, अथवा हानि, अथवा दोष की बात नहीं। प्राकृतिक नियमों के अनुसार सम्पर्क से, भाषाओं में परिवर्तन हुआही करता है। इस जगत् के ऊपर ऐसी एक भी भाषा न होगी जिसने किसी अन्य भाषा का एक भी शब्द न ग्रहण किया हो।

कोई कोई हिन्दी को नागरी कहते हैं। यह उनकी भूल है। नागरी कोई भाषा नहीं। नागरी एक लिपिविशेष का नाम है। नागर अक्षरों में जो लिपि लिखी जाती है उसे नागरी कहते हैं। नागरी अक्षरों में हिन्दी, फ़ारसी, बँगला, गुजराती इत्यादि सब भाषायें लिखी जा सकती हैं। अतएव यह स्मरण रखना चाहिए कि हिन्दी एक भाषा का नाम है और नागरी एक लिपि का नाम है।

हिन्दी-साहित्य का काल-निर्णय करने के विषय में हिन्दी लेखकों में कई बार वादविवाद हुआ है। इस प्रकार के वाद-विवाद में हम कोई विशेष लाभ नहीं देखते। यह एक अत्यन्त गौण विषय है। मुख्य विषय साहित्य की उन्नति करना है। हिन्दी का साहित्य बड़ी ही दुरवस्था को प्राप्त हो रहा है। उसकी अभिवृद्धि करने की इच्छा से अच्छे अच्छे ग्रन्थ लिखना इस समय अत्यावश्यक है। हिन्दी बोलनेवालों का यह परम धर्म है। काल-निर्णय के सम्बन्ध में शुष्क विवाद करते बैठना व्यर्थ काल-क्षेप करना है।

हिन्दी साहित्य के, कई प्रकार से, कई भाग हो सकते हैं। हम समझते हैं कि यदि उसके प्राचीन, माध्यमिक और आधुनिक–ये तीनही विभाग किए जावें तो भी उसकी विभाग-परम्परा नहीं बिगड़ सकती। ये तीन विभाग इस प्रकार किए जा सकते हैं।

१। प्राचीन–१२०० से १५७० ईसवी तक।
२। माध्यमिक–१५७० से १८०० ईसवी तक।
३। आधुनिक–१८०० से आज तक।

हिन्दी साहित्य के इन तीनों विभागों का उल्लेख संक्षेपपूर्वक, यथाक्रम, हम यहां पर करते हैं।

प्रामाणिक रीति पर इसका, इस समय, पता लगाना बहुत कठिन है कि कब प्राचीन हिन्दी प्राकृत भाषा से उत्पन्न हुई; अथवा कब प्राचीन हिन्दी के साहित्य की सृष्टि हुई; और किस विषय की कौन पुस्तक पहले पहल लिखी गई। अवन्ती के राजा मान के यहां ८२६ ईसवी में पुष्प नामक एक कवि था। सुनते हैं उसने प्रथम हिन्दी में कविता की। राजपूताना में वेण नामक एक हिन्दी का कवि ११९८ ई० में होगया है। जगनिक कवि

वेषा के भी पहले, अर्थात् ११८० ई० में विद्यमान था। परन्तु इन कवियों के एक भी सर्वमान्य ग्रन्थ नहीं पाए जाते। किसीका उल्लेख राजस्थान में है; किसीका कहीं; किसीका कहीं। किसीके दो चार पद्य मिले भी तो उससे वह ग्रन्थकार नहीं कहलाया जा सकता। इन बातों से इतना अवश्य जाना जाता है कि हिन्दी की कविता नवीं शताब्दी में होने लगी थी। अतएव, जब तक और प्राचीन पुस्तकें उपलब्ध न हों तब तक बारहवीं शताब्दी में होनेवाले चन्द हीं को प्राचीन हिन्दी के साहित्य का पिता कहना पड़ता है। चन्द का पृथ्वीराज-रासो ही, इस हिसाब से, प्राचीन हिन्दी का प्रथम ग्रन्थ है। परन्तु इस ग्रन्थ की छन्दोरचना और आलङ्कारिक-वर्णन की प्रणाली इस बात का साक्ष्य अवश्य देती है कि चन्द के पहले हिन्दी के और कई कवि हो चुके हैं।

यद्यपि पृथ्वीराज रासो के अनेक स्थलों में सरस और चित्त को उत्तेजित करनेवाले वर्णन हैं; तथापि सब बातों का विचार करके, यही कहना पड़ता है कि उसमें शब्दों का प्राचुर्य अधिक और अर्थ का प्राचुर्य कम है। प्राचीनता के विचार से रासो हिन्दी बोलनेवालों के आदर का पात्र है। इतिहास के विचार से भी वह एक अमूल्य रत्न है। इन बातों को सभी स्वीकार करेंगे। परन्तु काव्यांश में वह हीन है। इसका कारण एक तो यह है कि उसकी प्राचीन भाषा, जिसमें टवर्ग और द्वित्व से अधिक काम लिया गया है, कान को अच्छी नहीं लगती। दूसरा कारण यह भी है कि पढ़ने के साथही, सब कहीं, अर्थ का तत्काल बोध न होने से उसे पढ़कर मन मुदित नहीं होता। वीररसात्मक काव्य होने के कारण, सम्भव है, चन्द ने जान बूझ कर टवर्ग अधिक प्रयोग किया हो; और रचना में कठोरता उत्पन्न करने के लिए, अक्षरों को द्वित्व भी शायद जान बूझ कर ही कर दिया हो।

नामदेव, कबीर और दादू इत्यादि भक्तों ने भी हिन्दी साहित्य के इसी विभाग के अन्तर्गत पद्यरचना की है। कबीर और दादू की कविता का बड़ा आदर है; परन्तु इन की कविता सरल नहीं है। दादू के कोई कोई पद्य बहुत ही अच्छे हैं। यद्यपि वे प्राचीन हैं, तथापि कहीं कहीं उनकी कविता में प्राचीनता के विशेष चिन्ह नहीं हैं। गुरु नानक का आदि ग्रन्थ (अर्थात् गुरु नानक से लेकर गुरु अर्जुन तक का संग्रह) भी हिन्दी साहित्य ही के अन्तर्गत समझना चाहिए; क्योंकि उसकी भाषा पञ्जाबी की अपेक्षा प्राचीन हिन्दी से अधिक मिलती है। गुरु नानक की मृत्यु १५३८ ईसवी में हुई। कबीर, दादू और नामदेव, ये तीनों महात्मा गुरु नानक से पहले हुए हैं। इनके अतिरिक्त १२०० और १५७० ईसवी के बीच मीरा-बाई, सारंगधर और राना कुम्भ इत्यादि कई औरों ने भी कविता की है; परन्तु रासो के समान उनके ग्रन्थ प्रसिद्ध नहीं हैं, और उन सब का उल्लेख इस निबन्ध में अभी नहीं सकता। हां, १५६० में मलिक महम्मद जायसी ने पद्मावत नामक एक अच्छा काव्य बनाया। वह अब तक आदर के साथ पढ़ा जाता है। उसकी भाषा रासो की भाषा के समान यद्यपि क्लिष्ट नहीं है, तथापि हिन्दी के माध्यमिक साहित्य में गिने जाने के योग्य सरल भी नहीं है।

प्राचीन हिन्दी साहित्य में गद्य का तो नामही न लीजिये। पद्य में भी दोही चार ग्रन्थ प्रसिद्ध हैं। किसी भाषा के वाङ्मय की समग्र सामग्री को साहित्य कहते हैं, दो चार काव्यों को नहीं। परन्तु हमारे प्राचीन साहित्य की सामग्री बहुतही थोड़ी है।

हिन्दी साहित्य के माध्यमिक विभाग में उसकी विशेष उन्नति हुई। सूरदास, तुलसीदास, केशव-दास, व्रजवासीदास, विहारीलाल, इत्यादि प्रसिद्ध कवि इसी समय हुए। यदि इनके ग्रन्थ निकाल लिए जावें तो हिन्दी भाषा के साहित्य में प्रायः शून्य ही रह जावै। इस काल में दो एक ऐसे भी कवि हुए हैं जिनकी भाषा तुलसीदास आदि की भाषा से नहीं मिलती। परन्तु इन कवियों की प्रयोग की गई भाषा ऐसी नहीं है कि वह चन्द

की भाषा से मिलती है। अतएव हिन्दी के प्राचीन साहित्य की भाषा के साथ उसे आसन नहीं दिया जा सकता। उसमें यद्यपि अन्तर है, तथापि उसका झुकाव माध्यमिक कवियों ही की भाषा के ओर है।

इसी समय नाभाजी ने अपना भक्तमाल बनाया। माध्यमिक काल में व्रजभाषा ने यद्यपि कवियों पर अपना पूरा पूरा अधिकार जमा लिया था, और उस भाषा में ऐसे ग्रन्थ निकलने लगे थे जो सर्वसाधारण की समझ में आ जावें; परन्तु नाभाजी में यह बात नहीं पाई जाती। उनकी कविता बहुत विलक्षण है। किसी किसी का तो यह मत है कि यदि कृष्णदास और प्रियादास भक्तमाल की टीका न बनाते तो नाभाजी का भावार्थ समझने में बड़ी ही कठिनाई उपस्थित होती। दुर्दैववश ये टीकायें भी विशेष सरल नहीं हैं; तथापि मूल का आशय समझने में थोड़ी बहुत सहायता देती ही हैं। नाभा जी की भाषा माध्यमिक काल के कवियों की भाषा से, क्लिष्टता में, बढ़ी चढ़ी है।

इस समय हिन्दी के अनेक उत्तमोत्तम कवि हुए। परन्तु कविता ही की ओर सब का ध्यान रहा। कवियों को कविता के सिवाय और किस ओर ध्यान हो सकता है? छन्द, अलङ्कार, नायिका भेद आदि पर भी अनेक ग्रन्थ, इसी समय, बने। भगवद्भक्तों ने अपने अपने इष्ट देवता के गुण-गान से गर्भित अनेक पुस्तकें लिखीं। विहारीलाल ने अपने ७०० दोहों में शृङ्गाररस की पराकाष्ठा कर दी; सूरदास, ने अपने पदों में भक्ति की पराकाष्टा करदी; और भूषण ने अपनी कविता में वीर रस की पराकाष्ठा कर दी। सूर, तुलसी, विहारी और केशव इस माध्यमिक साहित्य की आत्मा हैं; और सहस्रावधि कवियों के होते भी इनके बिना, यह साहित्यशरीर निर्जीव ही समझना चाहिए।

जिस समय व्रजभाषा के रूप में हिन्दी अपना आधिपत्य जमा रही थी, उसी समय उसकी एक दूसरी शाखा उससे पृथक् हो गई। इस शाखा का नाम उर्दू है। उर्दू कोई भिन्न भाषा नहीं है। वह भी हिन्दी ही है। उसमें चाहे कोई जितने फ़ारसी, अरबी और तुर्की के शब्द भर दे, उसकी क्रिया हिन्दी ही की बनी रहती हैं; उसकी रचना हिन्दी ही के व्याकरण का अनुसरण करती है। चाहे कोई जो कुछ कहे, वली और सौदा के काव्यों में जो भाषा है, वही तुलसीदास और विहारीलाल के भी काव्यों में है। 'मेरा बाप' के स्थान में 'बाप मेरा' अथवा 'आपके हुकम से' के स्थान में 'ब हुकम आपके' करने से वह हीं भाषा दूसरी हो सकती है? वही 'बाप', वही 'मेरा', वही 'हुकम' और वही 'आप' दोनों प्रकार के उदाहरणों में विद्यमान हैं। लिखने की प्रणाली को बदलने अथवा उसमें किसी अन्य भाषा के शब्दों का प्रयोग करने से मूल भाषा के अस्तित्व में कदापि अन्तर नहीं आ सकता। उर्दू दूसरी भाषा तभी गिनी जा सकती है जब उसके प्रेमी उसके सारे क्रियापदों को बदल दें और सथ ही हिन्दी-व्याकरण के अनुसार बने हुए कारकचिन्हों को भी बदल देवें। यह अब, इस समय, होना असम्भव जान पड़ता है। यदि कोई कहे कि जिसे हम शुद्ध हिन्दी कहते हैं, वह उर्दू ही है, तो हम उसे उन्मत्त अथवा भ्रमित कहेंगे। फ़ारसी और अरबी शब्दों से मिली हुई उर्दू नामधारिणी हिन्दी अभी कल उत्पन्न हुई है। १६वीं शताब्दी के पहले उसके साहित्य का [illegible] तक न था। परन्तु नवीं शताब्दी में ही हिन्दी कविता होने लगी थी और बारहवीं शताब्दी के [illegible] ग्रन्थ विद्यमान हैं। अतएव उर्दू साहित्य के कम [illegible] कम ५०० वर्ष पहले जिस भाषा के साहित्य का [illegible] लगे, वह भाषा उर्दू से उत्पन्न हुई किस प्रकार समझी जा सकती है। उर्दू नामधारिणी हिन्दी में फ़ारसी और अरबी के शब्दों की अधिकता है और देवनागरी अक्षरों को छोड़ कर फ़ारसी अक्षरों में उसके लिखे जाने से जो लोग उसे [illegible] भिन्न भाषा समझते हैं, वे बहुत बड़ी भूल करते हैं।

वह कदापि भिन्न भाषा नहीं है। वह भी सर्वथा हिन्दी ही है। संस्कृत शब्दों की प्रचुरता होने से जैसे हमारी विशुद्ध हिन्दी कोई भिन्न भाषा नहीं हो सकती, वैसेही फ़ारसी आदिक विदेशी शब्दों की प्रचुरता होने से उर्दू नामधारिणी हिन्दी भी कोई भिन्न भाषा नहीं हो सकती। अथवा रोमन किम्वा बङ्गला अक्षरों में लिखी जाने से जैसे विशुद्ध हिन्दी अन्य भाषा नहीं मानी जा सकती, वैसे ही फ़ारसी अक्षरों में लिखी जाने से उर्दू भी कोई अन्य भाषा नहीं मानी जा सकती। इससे अधिक स्पष्ट और कौन दृष्टान्त हो सकता है?

जबसे मुसल्मानों ने इस देश में पदार्पण किया, तभी से फ़ारसी शब्द हिन्दी बोलचाल में आने लगे। शब्दों के मेल का आरम्भ नवीं शताब्दी में हुआ। यह अनुमान सम्भव जान पड़ता है, क्योंकि अङ्गरेज़ों के आगमन से यदि हिन्दी में उनकी भाषा के शब्द बोले जाने लगे, तो मुसल्मानों के आने पर उनकी भाषा के शब्द भी अवश्य बोले जाने लगे होंगे। परन्तु १६वीं शताब्दी तक उन शब्दों का प्रयोग लिखने में नहीं हुआ। मुसल्मान बादशाहों ने राज्य के दफ़्तरों की भाषा फ़ारसीही रक्खी थी; अतः जिसे अब हम उर्दू कहते हैं, उसके प्रयोग की कोई आवश्यकता ही न थी। १६०० ई० के पहले जो मुसल्मान कवि हुए हैं उन्होंने हिन्दी ही में कविता की है; फ़ारसी के छन्दःशास्त्र के अनुकूल प्रायः एक भी छन्द उन्होंने नहीं लिखा। जबसे टोडरमल ने लगान-सम्बन्धी नये नियम प्रचलित किए और हिन्दू अधिकारियों को फ़ारसी पढ़ने के लिए विवश किया, तभी से फ़ारसी शब्द हमारी लिखित भाषा और हमारी बोली में अधिकता से प्रयुक्त होने लगे। मुसल्मानों के सम्पर्क से यद्यपि फ़ारसी शब्द बोल चाल में पहले से भी आने लगे थे, तथापि उनका प्राचुर्य्य टोडरमल के समय से ही हुआ। अतएव यह कहना चाहिए कि, विशेष करके फ़ारसी शब्दों के प्रयोक्ता हिन्दूही हैं। अब भी हम देखते हैं कि जब अंगरेज़ी पढ़े लिखे इस देश के लोग अपनी भाषा बोलते हैं, तब वेही अंगरेज़ी शब्दों का अधिक प्रयोग करते हैं। हिन्दी बोलते समय अंगरेज़ लोग बहुतही कम अंगरेज़ी शब्द काम में लाते हैं। यदि उनको कोई हिन्दी शब्द स्मरण नहीं आता तभी वे, विवश हो कर, हिन्दी बोलते समय, अपनी भाषा का शब्द कह कर, अपने मन का भाव प्रकट करते हैं। विद्वानों का मत है कि पहले पहल मुसल्मान फ़ारसी मिली हुई हिन्दी बहुत कम बोलते थे। परन्तु जब से हिन्दुओं ने फ़ारसी पढ़ना आरम्भ किया और बोल चाल में वे फ़ारसी शब्द प्रयोग करने लगे, तबसे मुसल्मान हिन्दुओं की उस ओर प्रवृत्ति देख उस प्रकार की भाषा अधिक प्रयोग में लाने लगे। इससे यह फल निकला कि फ़ारसी मिली हुई हिन्दी (अर्थात् उर्दू) को उत्पत्ति में पहले पहल हिन्दुओं की भी सहायता रही है।

'उर्दू' शब्द तुर्की भाषा का है। उसका अर्थ पड़ाव, डेरा अथवा तम्बू है। जब अमीर तैमूर देहली आया, तब उसने अपने पड़ाव का बाज़ार शहर में लगवा दिया। अतएव देहली का बाज़ार 'उर्दू' कहलाया जाने लगा। तभी से इस शब्द की उत्पत्ति हुई। अकबर के समय में जब अनेक देशों से अनेक जातियों के लोग देहली में इकट्ठे होने लगे और प्रतिदिन के हेल मेल से जब उन सबको परस्पर एक दूसरे से बात चीत करने का काम पड़ने लगा, तब एक नए प्रकार की बोली प्रचार में आई और वही क्रम क्रम से उर्दू के नामसे प्रसिद्ध हो गई।

अब प्रश्न यह है कि उर्दू की कविता कब से होने लगी। यह प्रश्न नहीं है कि फ़ारसी मिली हिन्दी हुई कब से बोली जाने लगी; क्योंकि उस: का कुछ कुछ आरम्भ नवीं शताब्दी ही में हुआ था। और न यही प्रश्न है कि फ़ारसी अक्षरों में उर्दू कबसे लिखी जाने लगी, क्योंकि किसी भाषा की लिपि का उत्पन्न होना गौण विषय है; मुख्य विषय स्वयं उस भाषा का उत्पन्न होना है।

प्रश्न यह है कि फ़ारसी के छन्दःशास्त्र के अनुसार पहले पहल, कब हिन्दी में पद्यरचना हुई; क्योंकि उसी समय उस प्रकार के साहित्य की उत्पत्ति समझनी चाहिए जिस प्रकार के साहित्य को हम उर्दू का साहित्य कहते हैं। इस प्रकार की छन्दोरचना सोलहवीं शताब्दी में हुई। अर्थात् सोलहवीं शताब्दी की हिन्दी की एक शाखा हिन्दी से अलग होकर, और फ़ारसी के शब्दों को अपना साथी बना कर, उसी भाषा के छन्दोरूपी वस्त्रधारण करके पद्य के आकार में प्रकट हुई।

उर्दू के सम्बन्ध में हमको, यहां पर, कुछ विस्तार करना पड़ा। यह विषय विचारणीय था; इसी लिए हिन्दी साहित्य के अन्तर्गत हमको यहां पर इतना कहना पड़ा। उर्दू का साहित्य भी एक प्रकार, हिन्दी ही का साहित्य है। अतएव आगे चल कर, हमको इस साहित्य पर अभी कुछ और लिखना पड़ेगा।

पूर्वोक्त कथन से यह सूचित हुआ कि माध्यमिक काल में हिन्दी साहित्य के दो भेद हो गए—एक ब्रजभाषा का साहित्य; दूसरा उर्दू का साहित्य। इस काल में भी, उर्दू में दो एक ग्रन्थों को छोड़, गद्य का कोई ग्रन्थ शुद्ध हिन्दी में नहीं बना। समस्त साहित्य छन्दोबद्ध ही रहा। विशेषता इस काल में इतनी हुई कि चरित, आख्यायिका और मनोरञ्जक कहानियों की उत्पत्ति कहीं कहीं होने लगी।

हिन्दी के आधुनिक साहित्य का जन्म उन्नीसवीं शताब्दी में हुआ समझना चाहिये। इस काल में मुख्य बात यह हुई कि लल्लू जी और सदल मिश्र ने गद्य में ग्रन्थ लिखने की परिपाटी प्रचलित की। लल्लू लाल और सदल मिश्र ने इस रचना का आरम्भ अवश्य किया और उसके लिए वे धन्यवाद के पात्र हैं। परन्तु विशेष धन्यवाद के पात्र फ़ोर्ट विलियम कालेज के अधिकारी डाक्टर गिलक्रिस्ट हैं। उन्होंने कई हिन्दी और उर्दू के विद्वानों को अपने आश्रय में रक्खा और उनसे अच्छे अच्छे उपयोगी ग्रन्थ गद्य में लिखवाए। अतएव हम लोग गद्य[illegible] सम्बन्ध में, पूर्वोक्त डाक्टर साहब के वि[illegible] कृतज्ञ हैं।

आधुनिक हिन्दी साहित्य के सम्बन्ध में जो[illegible] हुआ है और जो कुछ हो रहा है, वह हिन्दी[illegible] प्रेमियों से छिपा नहीं है। इस लिए इस निबन्ध[illegible] हम उसका विचार नहीं करना चाहते। समाचा[illegible] पत्र, मासिक पुस्तक, उपन्यास, प्रहसन, नाट[illegible] जीवनचरित और समालोचनाओं का जन्म इ[illegible] काल में हुआ। परन्तु, जहां तक हम जानते[illegible] साहित्य का वर्णन पुस्तकाकार आज तक कि[illegible] हिन्दी के ज्ञाता ने नहीं किया। हिन्दी की द[illegible] बड़ी ही हीन हो रही है। अनेक विषय ऐसे हैं कि एक भी हिन्दी का ग्रन्थ उनमें नहीं है[illegible] अतएव, इस दशा में साहित्य के इतिहास ब[illegible] की आशा रखना व्यर्थ है। हम लोगों के आल[illegible] और निरुत्साह की सीमा नहीं है। अप[illegible] मातृभाषा में हम लोगों को कुछ भी रुचि नहीं[illegible] यह बड़े शोक और लज्जा की बात है। हम[illegible] पाश्चात्य पण्डितों की विद्याभिरुचि और उ[illegible] उद्योग को देख कर भी लज्जा नहीं आती। ह[illegible] यात्रासम्बन्धी अथवा इतिहाससम्बन्धी [illegible] छोटीसी भी अच्छी पुस्तक नहीं लिख सकते; पर[illegible] फ़ांस के विद्वान् दस हज़ार मील दूर बैठकर हम[illegible] हिन्दीभाषा का इतिहास लिखते हैं। यम० गार्स[illegible] डि टासी फ़्रांस के निवासी थे। उन्होंने हिन्दीभा[illegible] का इतिहास लिखा है। यही नहीं, किन्तु १८५०[illegible] १८७७ ईसवी तक इस भाषा में जो कुछ परिव[illegible] हुआ और जो जो सम्वादपत्र अथवा पुस्तकें ना[illegible] लेने योग्य निकलीं, उनकी भी आलोचना उन्होंने[illegible] है। हार्नेल, बीम और ग्रियर्सन साहबों ने भी हि[illegible] के सम्बन्ध में कुछ कम नहीं लिखा। परन्तु हमलो[illegible] मुंह फैलाए बैठे हैं। कहीं दो चार उपन्यास लि[illegible] कर पेट पालने का हमने यत्न किया; कहीं एक आ[illegible] मोहिनी अथवा रोहिणी नामक मासिक पत्रि[illegible] लिख कर अपनी विद्वत्ता प्रकट की; कहीं कभी [illegible]

छ महीने के लिए एक समाचारपत्र निकाल कर सम्पादक बन बैठे! बस यही किया!! ग्रोर कुछ नहीं!!!

ग्राधुनिक काल में जो कुछ उन्नति हिन्दी की हुई, उसके विशेष कारण पण्डित वंशीधर वाजपेयी, बाबू हरिश्चन्द्र, राजा शिवप्रसाद ग्रोर पण्डित प्रतापनारायण इत्यादि प्रसिद्ध प्रसिद्ध लेखक हैं। जीवनचरित, नाटक, समालोचना, मासिक पुस्तक ग्रोर समाचार इत्यादि लिखना बाबू हरिश्चन्द्र ही ने हम सबको सिखलाया। जो कुछ इस समय हिन्दी में देख पड़ता है, उसका सूत्रपात प्रायः उन्होंने किया। नागरीप्रचारिणी सभा भी, ग्रब, इस समय, हिन्दी की बहुत कुछ उन्नति कर रही है। उसीके उद्योग से हिन्दी को गवर्नमेण्ट ने कचहरियों में स्थान दिया है।

इस समय देखने में ग्राता है कि जो लोग किसी प्रकार समाचारपत्र ग्रथवा पुस्तक लिखने के योग्य नहीं, वे भी हाथ की चपलता दिखलाए बिना नहीं रहते। यह बहुत बुरी बात है। मनुष्य को ग्रपनी योग्यता ग्रथवा ग्रयोग्यता का विचार करके कोई काम करना चाहिए। इस प्रकार के लेखक ग्रपना तो उपहास कराते ही हैं; परन्तु ग्रपने साथ हिन्दी भाषा को भी कलङ्कित करते हैं। ग्रतएव ऐसे लोगों को लेखनी कदापि न उठानी चाहिए। इस समय जो बुरे बुरे उपन्यास बनते जाते हैं उनका बनना बन्द होना चाहिए। जिस भाषा की उन्नति हुई है, उसमें पहले उपन्यासोंही की ग्रधिकता हुई है। ग्रैापन्यासिक साहित्य सामान्य मनुष्यों को ग्रधिक मनोरञ्जक होता है। इसीलिए उसकी चाह ग्रधिक रहती है। हमारा यह कदापि मत नहीं है कि उपन्यास की शाखा साहित्य से निकाल दी जाय। हम यह कहते हैं कि बेसिर पैर की बातों से भरे हुए जैसे उपन्यास ग्राज कल निकल रहे हैं, उनका निकलना बन्द होना चाहिए। बस।

नायिका-भेद ग्रोर रस तथा ग्रलङ्कार के विवेचन से पूरित पुस्तकों की भी इस समय ग्रावश्यकता नहीं। हम यह समझते हैं कि जसवन्तजसोभूषण ऐसे ग्रन्थों से भाषा को कुछ भी लाभ नहीं पहुँचा। यदि इन ग्रन्थों के बनाने (ग्रथवा बनवाने) ग्रोर छपाने में जो धन व्यय किया गया, वह जीवनचरित, इतिहास, ग्रथवा किसी वैज्ञानिक ग्रन्थ के लिए व्यय किया जाता तो भाषा का भी उपकार होता ग्रोर धन का भी सद्व्यय होता। जैसे ग्रंगरेज़ों ने ग्रीक ग्रोर लैटिन भाषा की सहायता से ग्रंगरेज़ी की उन्नति की, ग्रोर उन भाषाग्रों के उत्तमोत्तम ग्रन्थों का ग्रनुवाद करके ग्रपने साहित्य की शोभा बढ़ाई, वैसेही हमको भी करना चाहिए। इस समय ग्रंगरेज़ी का साहित्य ग्रत्यन्त उन्नत दशा को प्राप्त है। ग्रतएव हमको चाहिए कि उस भाषा के ग्रच्छे ग्रच्छे ग्रन्थों का ग्रनुवाद करके हिन्दी के साहित्य की दशा को सुधारें। इस समय विज्ञान, इतिहास, यात्रा, जीवनचरित ग्रोर समालोचनाग्रों की हिन्दी में बड़ी भारी न्यूनता है। इस न्यूनता को पूरा करना हिन्दी बोलनेवालों का परम धर्म है।

कुछ दिन से हिन्दी के लेखकों का ध्यान पद्य की भाषा की ग्रोर गया है। ग्रब तक हिन्दी का पद्य व्रजभाषाही में था। ग्रब बोलचाल की भाषा में भी कविता होने लगी है। इस विषय की ग्रोर पहले पहल बाबू ग्रयोध्याप्रसाद का ध्यान गया। बोलचाल की भाषा में कविता ग्रवश्य होनी चाहिए। कोई कारण नहीं देख पड़ता कि हम लोग बोलें एक भाषा ग्रोर कविता करें दूसरी भाषा में। बातचीत के समय जो जिस भाषा में ग्रपने विचार प्रकट करता है, वह यदि उसी भाषा में कविता भी करे तो ग्रोर भी उत्तम हो। व्रजभाषा बहुत काल से कविता में प्रयोग होती ग्राई है। ग्रतएव एकबारगी उसका परित्याग नहीं किया जा सकता। क्रम क्रम से बोलचाल की भाषा में गद्य का प्रचार होना उचित है। यदि नए प्रकार की कविता से लोगों का भालीभाँति मनोरञ्जन हुग्रा तो, काव्य में व्रजभाषा का प्रचार किसी दिन ग्रापही उठ जावैगा। ग्रोर सम्भव है कि शीघ्रही किसी दिन ऐसा हो; क्योंकि एक ग्रथवा दो ज़िले

की भाषा पर देश देश भर के निवासियों का प्रेम बहुत दिन तक नहीं रह सकता।

इस निबन्ध को समाप्त करने के पहले हिन्दी की शाखा उर्दू के साहित्य के विषय में भी हम कुछ कहना आवश्यक समझते हैं।

उर्दू की उत्पत्ति यद्यपि देहली में हुई, तथापि उसके साहित्य के जन्मदाता अच्छे अच्छे कवि पहले पहल दक्षिण के गोलकुण्डा और बीजापुर में हुए। अमीर खुसरू के अनन्तर शुजाउद्दीन नूरी ने उर्दू में कविता की। फ़ैज़ी के नूरी मित्र थे। नूरी गोलकुण्डा के नवाब सुलतान अबुल् हसन कुतुबशाह के मन्त्री के पुत्र के शिक्षक थे। नूरी ने अनेक ग़ज़लें कही हैं। १५८१ और १६११ ईसवी के लगभग गोलकुण्डा के नवाब क़ुली कुतुबशाह और अबदुल्ला कुतुबशाह ने भी उर्दू में कविता की, और अनेक ग़ज़लें, रुबाई, मसनवी और क़सीदा बनाए। तहसीनुद्दीन ने 'कामरूप और कला' नामकी मसनवी और इब्न निशाती ने 'फूलबन' नाम की कहानी इसी समय के लगभग लिखी।

इब्राहीम आदिलशाह ने बीजापुर में १५७९ से १६२६ ई० तक राज्य किया। उसने 'नवरस' नामक पुस्तक लिखी। इस पुस्तक का नाम यद्यपि शुद्ध हिन्दी है तथापि यह लिखी उर्दू ही में गई। इब्राहीम आदिलशाह के अनन्तर अली आदिल शाह के समय में नसरती नामक कवि ने 'गुलशने इश्क' और 'अलीनामा' नाम के दो ग्रन्थ लिखे। यह कवि हिन्दू था। अलीनामा में उसने अली आदिलशाह का चरित लिखा है।

दक्षिण में सबसे प्रसिद्ध उर्दू के दो कवि औरङ्गाबाद में हुए। उनके नाम वली और शीराज़ हैं। वली का काल १६८० और १७२० के बीच में है। वली को तो लोग "रेख़ता का पिता" (बाबाय-रेख़ता) कहते हैं। यह सब मानते हैं कि उत्तरी हिन्दुस्तान में उर्दू-कविता की जो उन्नति १८ वीं शताब्दी में हुई, उसका मूल कारण वली ही थे। उन्हीं की कविता को आदर्श मान कर और और कवियों ने कविता की। औरङ्गज़ेब के राज्य-काल के अन्तिम भाग में वली देहली गए और वहां शाह गुलशन नामक विद्वान् की सलाह से उन्होंने फ़ारसी के कवियों की उक्तियों को उर्दू में लिखना आरम्भ किया।

देहली के उर्दू कवियों में ज़हीरुद्दीन हातिम पहले कवि थे। वे १६९९ में उत्पन्न हुए और १७.. में मरे। हातिम के अनन्तर नाज़ी, मज़मून और आबरू ने उर्दू में कविता की। हातिम के दो दीवान प्रसिद्ध हैं। वह बहुत अच्छे कवि थे। रफीउस्सौदा, हातिम के शिष्य थे। सौदा का उर्दू में बड़ा नाम है। उनकी कविता सभी को प्रिय है। मीर तक़ी, ख़ान आरज़ू, इनामुल्ला ख़ां और मीरदर्द भी देहली में उर्दू के प्रसिद्ध कवि हुए हैं। नादिरशाह ने जब देहली को लूट लिया तब आरज़ू लखनऊ चले आए; वहीं उनकी मृत्यु हुई। उर्दू के कवियों में सौदा और मीर तक़ी सबसे अधिक प्रसिद्ध हैं। १८वीं शताब्दी के आरम्भ में सौदा का जन्म देहली में हुआ। उन्होंने हातिम से शिक्षा पाई। देहली के बिगड़ने पर सौदा लखनऊ चले गए। वहां नवाब शुजाउद्दौला ने ६०००) रुपए साल की जागीर उन्हें दी। वे लखनऊ ही में मरे। उनकी मृत्यु १७८० ई० में हुई। उन्होंने कई काव्य लिखे। उर्दू काव्य के जितने प्रकार हैं प्रायः सबमें उन्होंने कविता की है। सौदा की व्याजस्तुति (मज़म्मत) सबसे अधिक प्रसिद्ध है। मीरतक़ी का जन्म आगरे में हुआ। परन्तु लड़कपन ही में वे देहली चले गए और वहां आरज़ू से कविता सीखी। सौदा की मृत्यु के समय मीरतक़ी देहली ही में थे। १७८२ ई० में वे लखनऊ गए। वहां उनको भी एक अच्छी जागीर मिली। मीरतक़ी की मृत्यु १८१० ई० में हुई। मीरतक़ी ने अनेक पुस्तकें लिखी हैं। उनमें से ६ दीवान हैं। ग़ज़ल और मसनवी में मीर तक़ी सौदा से भी बढ़ गए हैं, परन्तु क़सीदा और मज़म्मत में सौदा ही का पहला नम्बर है।

सौदा और मीरतक़ी के समान मीर हसन (१७८६), मीर महम्मद सोज़ (१८००) और क़लन्दर-बख्श जुरात (१८१०) भी देहली से लखनऊ चले आए थे। ये भी अच्छे कवियों में गिने जाते हैं। मीर-हसन-कृत सिहरुलबयान और गुलज़ारे-इरम नामक दो पुस्तकें बहुत प्रसिद्ध हैं। जुरात ने दोहा और कवित्त भी लिखे हैं। मिस्कीन नामक कवि के मरसियों को बड़ी प्रशंसा है। नासिख़ की मृत्यु १८४१ और आतिश को १८४७ में हुई। इन दोनों कवियों ने गज़ल लिखने में अच्छा नाम पाया है। फ़िसाने अजायब के कर्ता रजबअली बेग और अनीस लखनऊ की नवाबी के समय के अन्तिम कवि हुए हैं। वाजिदअली शाह स्वयम् कविता करते थे; कविता में वे अपना नाम अख़्तर देते थे।

देहली के अन्तिम बादशाहों ने भी कविता की है। शाह आलम (१७६१-१८०६) ने मनज़ूमे-अक़दस नाम का एक उपन्यास लिखा है। एक दीवान भी उन्होंने बनाया है। शाह आलम के लड़के सुलेमां शिकोह ने भी एक दीवान की रचना की है। बहादुरशाह (१८६२) ने भी कविता की है; उन्होंने शेख़ इबराहीम ज़ौक़ से कविता सीखी थी। देहली के अन्तिम कवियों में मुशफ़्फ़ी का बड़ा नाम है। वे लखनऊ के रहनेवाले थे; परन्तु १७७७ ई० में वे देहली चले गए थे। वहां एक कवि-समाज स्थापित करके उन्होंने कविता की बहुत कुछ उन्नति की। मुशफ़्फ़ी ने पाँच दीवान, एक उर्दू कवियों का तज़किरा (जीवनचरित) और एक शाहनामा (शाह आलम तक होनेवाले बादशाहों का चरित्त) बनाया। क़यामुद्दीन और असदुल्ला ख़ां ने भी कई पुस्तकें लिखी हैं।

आगरे के मीर वली महम्मद (नज़ीर) भी अच्छे कवियों में गिने जाते हैं। नज़ीर के जोगीनामा, कौड़ीनामा, चूहानामा, बनजारेनामा कौन नहीं जानता?

कलकत्ता, फ़ोर्ट विलियम कालेज के डाक्टर गिलक्राइस्ट ने जैसे लल्लूजी लाल और सदल मिश्र इत्यादि को शुद्ध हिन्दी में पुस्तकें लिखने के लिए आश्रय दिया था, वैसेही कई विद्वानों को उर्दू में पुस्तकें लिखने के लिए भी उन्होंने रक्खा था। उर्दू लिखनेवालों में से सय्यद महम्मद हैदर बख़्श (हैदरी), मीर बहादुर अली (हुसैनी), मीर अमन लुत्फ़, हफ़ीज़ुद्दीन अहमद, शेरअली, क़ाज़िम अली, मज़हर अली और निहालचन्द मुख्य थे। इन लोगों ने उर्दू में अनेक पुस्तकें लिखीं हैं; जिनमें गुलज़ारे-दानिश, तारीख़े नादिरी, अख़लाके-हिन्दी, बाग़ो-बहार, चहारदरवेश, इख़वानुस्सफ़ा, और शकुन्तला-नाटक प्रधान हैं।

जिस प्रकार शुद्ध हिन्दी के कवि संस्कृत की छन्दों का प्रयोग अपनी कविता में करते हैं, इसी प्रकार उर्दू के कवि फ़ारसी की छन्दों का प्रयोग करते हैं। उर्दू की कविता में नूतनता बहुतही कम है। वही वही बातें बार बार कही जाती हैं। प्रत्येक कवि बहुधा एकही विषय का पिष्टपेषण करता है और पुरानी उक्तियों को नए प्रकार पर कहने का यत्न करके प्रायः हतसफल होता है। बड़ी बड़ी मसनवियों में भी कथाप्रसङ्ग का विचार कम, परन्तु कहने की प्रणाली और अलङ्कारों की योजना का विचार अधिक रहता है। संस्कृत के समान फ़ारसी भाषा का साहित्य विस्तृत नहीं है। अतएव फ़ारसी कवियों की प्रणाली और उनकी विचार परम्परा, जिसका अनुसरण उर्दू कवि करते हैं, कहां तक नूतनता रख सकती है?

गत मनुष्यगणना से यह सिद्ध है कि देवनागरी अक्षरों के जाननेवाले इन प्रान्तों में फ़ारसी अक्षरों के जाननेवालों से कई गुना अधिक हैं। उर्दू चाहे जितनी सरल हो, उसमें कुछ न कुछ फ़ारसी शब्दों का मेल होता ही है। इन प्रान्तों के ग्रामीण और साधारण मनुष्य संस्कृत के कम कठिन शब्द चाहे समझ भी लें, परन्तु फ़ारसी को वे नहीं समझ सकते। क्योंकि फ़ारसी विदेशी भाषा है; और संस्कृत, फिर भी, इसी देश की भाषा है। फिर उर्दू लिखने में जिन अक्षरों का प्रयोग किया

जाता है, वे अपूर्ण और भ्रम उत्पन्न करनेवाले हैं। उनकी लिखावट ठीक ठीक पढ़ी नहीं जाती। इन कारणों से उर्दू की अपेक्षा शुद्ध हिन्दी ही का प्रचार होना प्रजा के लिए लाभकारी है।

सरस्वती के तीसरे भाग की १२वीं संख्या में इन प्रान्तों की मनुष्यगणना की रिपोर्ट का कुछ अंश छपा है। उसमें लिखा है कि नागरीप्रचारिणी सभा संस्कृत शब्दों को अधिक काम में लाना ही भाषा को शुद्ध करना समझती है। यह सुपरिन्टेण्डेण्ट साहब की भूल है। जहां तक हम जानते हैं, सभा कदापि यह नहीं करना चहाती; और न कभी उसने ऐसा करने का यत्न ही किया। सभा ने उलटा, व्यर्थ संस्कृत शब्दों के लिखने के प्रतिकूल, अपना अभिप्राय प्रकट किया है। साहब के लिखने से जान पड़ता है कि आप 'हुक्म' और 'क़ायदा' इत्यादि शब्दों के समान फ़ारसी के शब्दों से भरी हुई भाषा के पक्षपाती हैं। आपने अपनी रिपोर्ट में हिन्दी का एक वाक्य लिखा है। वह वाक्य यह है—

परन्तु उसमें एक कठिनाई पड़ती थी। मनुष्यमात्र की गणना की अपेक्षा थोड़ी ही गउओं को यह रोग था; इस कारण इस चेप का बहुधा अभाव बना रहता था।

यह बहुत ही बुरा वाक्य उदाहरण के लिए चुना गया है। बुरी हिन्दी का यह एक अच्छा नमूना है। ऐसा नहीं करना चाहिए था। साहब कहते हैं कि इस वाक्य के जो जो शब्द पतले अक्षरों दिए गए हैं, उनमें से केवल दो शब्द उनके दफ़्तर के हिन्दू कर्म्मचारियों की समझ में आए। ये कर्म्मचारी, साहब के कहने के अनुसार, हिन्दी जानते थे। परन्तु हमारा अनुमान यह है कि वे बिलकुल हिन्दी नहीं जानते थे, नागरी अक्षर पढ़ चाहै भलेंही सकते हों। वे अवश्य उर्दू के भक्त होंगे। इस वाक्य में 'अभाव' और 'मनुष्यमात्र' ये दो शब्द कुछ कठिन हैं, परन्तु जिसने थोड़ी भी हिन्दी पढ़ी है और तुलसीदासकृत रामायण भी पढ़ता और समझता है, उसे इस वाक्य का अर्थ समझने में कुछ भी कठिनाई न पड़ेगी। साहब के कर्म्मचारि के अनुसार 'परन्तु' और 'कठिनाई' भी कठिन श हैं। इनके स्थान में यदि 'मगर' और 'मुश्कि का प्रयोग होता, तो शायद वे झट उन्हें सम जाते। इसीसे अनुमान होता है कि वे कर्म्मचा हिन्दी के नहीं किन्तु उर्दू के जाननेवाले हैं।

साहब उच्च हिन्दी के प्रतिकूल हैं। हमारा यही मत है, और नागरीप्रचारिणी सभा का जहां तक हमको विदित है, यही है। परन्तु साथ उसके हिन्दी में फ़ारसी शब्दों के प्रयोग कि जाने की हम कोई आवश्यकता नहीं देखते। रा शिवप्रसाद की हिन्दी शायद साहब को पसन्द है; परन्तु उसमें फ़ारसी शब्दों का मेल है। फ़ारसी शब्दों के मेल के बिना भी सरल हिन्दी लिखी जा सकती है और ऐसी हिन्दी में यदि कहीं कह संस्कृत के 'कठिन', 'सकल', 'कष्ट', इत्या सीधे शब्द आवें तो हम कोई हानि नहीं समझते। बँगला और मराठी भाषा में हज़ारों शब्द संस्कृ के होने पर भी जब बङ्गाली और मराठे उन्हें समझ हैं, तब वैसे शब्द हिन्दी में होने से इस प्रान्तवा उन्हें क्यों न समझ सकेंगे? इसका कोई कारण न देख पड़ता। पढ़े लिखे मुसल्मानों को छोड़ सारी प्रजा उर्दू की अपेक्षा शुद्ध हिन्दी को अधि चाहती है। इसलिए हिन्दी को उर्दू का अनुकर न करके स्वयम् अपनी ही लिखावट को अधि सरल करना चाहिए।

पूर्वोक्त रिपोर्ट के लिखनेवाले सुपरिण्टेण्डे साहब आधुनिक हिन्दी को बोलचाल की भा नहीं बतलाते। वे उसे उच्च हिन्दी कहते हैं उनका मत है कि जैसी हिन्दी लिखी जाती वैसी बोली नहीं जाती। साहब स्वयम् हि नहीं जानते; इसमें कोई संशय नहीं। यदि जानते तो पूर्वोक्त वाक्य अपने कर्म्मचारियों न पढ़ाते। इस दशा में, उनको हिन्दी के विषय ठीक ठीक ज्ञान कदापि नहीं हो सकता। सत्य है कि कोई कोई लेखक अपने लेखों में सरल

शब्द बहुत प्रयोग करके भाषा को क्लिष्ट कर देते हैं, परन्तु सरल लिखनेवाले भी हैं। फिर एक बात यह भी है कि बोलचाल की भाषा से लिखित भाषा में कुछ अन्तर अवश्य आ जाता है। क्या सुपरिण्टेडेण्ट साहब कह सकेंगे कि जिस भाषा में उन्होंने अपनी रिपोर्ट लिखी है, उसी प्रकार की भाषा में वे अपनी मेम साहबा अथवा अपने लड़के लड़कियों से बातचीत करते हैं? अथवा मेकाले, बेकन, लिटन, स्काट, ऐडिसन, बर्क इत्यादि सब काल, सब कहीं, वैसी ही भाषा बोलते थे जैसी भाषा उन्होंने अपने ग्रन्थों में लिखी है? हमारा मत तो इसके प्रतिकूल है। लिखते समय लेख को अधिक मनोरञ्जक करने के लिए लेखक अच्छे अच्छे शब्द रखता है; परन्तु बोलने के समय इस बात का उतना विचार नहीं किया जाता। फिर कुछ लोग ऐसे भी होते हैं जो उच्च भाषा ही में बातचीत करते हैं और उच्च भाषाही में अपने मन में विचार संग्रह करके उनको वैसेही लिखते हैं। अतएव ऐसे विद्वानों के ऊपर जानबूझ कर उच्च और अस्वाभाविक भाषा लिखने का दोष नहीं लगाया जा सकता। तथापि, जहां तक हो सकै, विषय पर ध्यान रख कर, यथासम्भव, सरलही भाषा लिखना उचित है।

इन प्रान्तों में शुद्ध हिन्दी जाननेवाले अधिक हैं। जब से गवर्नमेण्ट ने नागरी अक्षरों का प्रचार कचहरियों में किया, तबसे सर्वसाधारण का ध्यान इस ओर अधिक खिंचा है। आशा है, बहुत ही शीघ्र इसका अच्छा फल देखने में आवै। परन्तु इस भाषा में अच्छे ग्रन्थों का अभाव है। बँगला मराठी, गुजराती और तिलगू आदि भाषाओं में हम देखते हैं, बड़े बड़े यम० ए० और बी० ए० लेख लिखते हैं और ऐसा करना अपना गौरव समझते हैं; परन्तु इन प्रान्तों के विद्वान् कान में तेल डाले हुए बैठे हैं। यनसाइक्लोपीडिया ब्रिटानिका नामक अंगरेज़ी की पुस्तक को खोलने से देख पड़ता है कि जो लोग यहां लफ़टिनेण्ट गवर्नर, गवर्नर और गवर्नर जनरल तक रह चुके हैं, उन्होंने भी उस पुस्तक में लेख दिए हैं। अपनी भाषा में लेख अथवा पुस्तकैं लिखने से किसी की प्रतिष्ठा कम नहीं हो जाती; उलटा बढ़ती है। परन्तु हमारे प्रान्तवासी, अपनी लेखनी को घूंघुट की ओट में छिपाए हुए हैं; उसे बाहर निकलने ही नहीं देते; यह लज्जा का विषय है; अथवा अपनी भाषा के दुर्भाग्य का विषय है। जिन विद्वानों को लिखने का सामर्थ्य भी है, वे भी लेखनी नहीं उठाते। हमारे परम माननीय पण्डित मदनमोहन मालवीय ने कुछ काल तक हिन्दी की सम्पादकता भी की है और हिन्दी सम्बन्धी पुस्तकैं भी अंगरेज़ी में लिखी हैं। आप अनेक देशहितकारी कामों में भी सदा लगे रहते हैं। दूसरों को लिखने पढ़ने के विषय में उपदेश भी देते हैं। हिन्दीप्रचार के लिए आपने जो उद्योग किया है वह किसीसे छिपा भी नहीं है। तथापि, खेद के साथ कहना पड़ता है कि, स्वयं एक पंक्ति तक अब आप, हिन्दी में नहीं लिखते। हम जानते हैं आपको सैकड़ों काम रहते हैं, परन्तु यदि वर्ष में आप एक भी लेख लिखैं तो औरों के लिए वे उदाहरण हो जावैं; उनको देख कर दूसरे विद्वानों को भी लिखने का उत्साह हो। यदि वे स्वयं नहीं लिख सकते तो अपने परिचित, अपने मित्र, अथवा अपने पड़ोसी विद्वानों ही को उत्तेजित करके उनसे कभी कभी लिखवावैं; क्योंकि हिन्दी के ज्ञाता समर्थ हो कर भी यदि उसमें कुछ लिखने का यत्न न करेंगे, तो उसकी उन्नति की आशा करना व्यर्थ है। मालवीय जी के लिये जो कुछ हमने लिखा वह कटाक्ष नहीं है; वह उलाहना है; उलाहना भी नहीं, वरन् प्रेमपूर्वक विनय है। उन्हींसे नहीं; किन्तु हिन्दी लिखने की जिनमें शक्ति है ऐसे अंगरेज़ी में प्रवीण सभी विद्वानों से हमारी यह प्रार्थना है कि, जब तक वे अपनी लेखनी का घूंघुट न खोलेंगे, जब तक वे अंगरेज़ी के अच्छे अच्छे ग्रन्थों का अनुवाद न करेंगे; जब तक वे उत्तमोत्तम लेख न लिखेंगे, तब तक हमारी मातृ-भाषा हिन्दी का दरिद्र दूर न होगा।

क़ुतुब-मीनार ।

मुन्शी उदितनरायण जी ग़ाज़ीपुर से लिखते हैं—

"श्रीयुत् सम्पादक महाशय,

प्रणाम—जनवरी स० १९०३ इ० के (?) सरस्वती में देहली का हाल इतिहास के तौर पर लिखा है। उसके पृष्टि (?) ३० में जो यह लेख है कि "मुसलमानों के राज्य होने पर पहिली इमारत क़ुतुबुद्दीन ऐबक ने १२०६ ई० में बनाई। यह क़ुतुबमीनार के नाम से प्रसिद्ध है"। मेरे ख़ेयाल में वास्तव यह स्तम्भ पृथ्वीराज का बनवाया हुआ है जिन्होंने अपनी कन्या के सायंकाल यमुना दर्शन के लिये बनाया था। इसको, श्रीमती स्वर्णकुमारी देवी ने, अपने बङ्गभाषा के दीपनिर्वाण नामक पुस्तक में, जिसका अनुवाद मैंने हिन्दी भाषा में किया है, स्पष्ट लिखा है और उन्होंने सैय्यद अहमद ख़ां अलीगढ़-निवासी के पत्र का प्रमाण दिया है जिसको उन्होंने कर्नल केनिङ्हम को लिखा था जिसमें उन्होंने लिखा था कि यमुना-खंभ कदापि मुसलमान-कृत नहीं है। इसके अतिरिक्त उस खम्भ के मूल में देवताओं की मूर्तियां हैं इत्यादि २। अतः निवेदन है कि इस विषय में अनुसन्धान हो कर निर्णय के साथ यदि लेख ग़लत हो तो सुधारना चाहिए क्योंकि सरस्वती का लेख आर्यमात्र के सनमुख प्रमाण सिद्ध स्वीकार करना पड़ेगा। मुझको कोई अनुरोध नहीं है। केवल इतनाही ख़ेयाल है कि काल व्यतीत होने से आर्यकृत वस्तु धोखे से मुसलमानकृत न समझी जावै।

(3) Journal A. S. Bengal for 1864 Vol. 33

(4) Cunningham's Archeological Survey of India, Vol. IV.

उक्त दोनों प्रमाण देखने योग्य हैं। यदि आपको सन्देह हो तो इस पत्रही को सरस्वती में प्रकाश कर दीजिये!

भवदीय
उदितनारायण व०
ग़ाज़ीपुर"

यह मुंशीजी के पत्र की यथातथ्य नक़ल है। इस पत्र में तारीख़ नहीं है; नहीं मालूम किस दिन उन्होंने इसे लिखा। हमारे पास यह २३ फ़रवरी को पहुँचा। इसमें मुंशीजी ने अन्त में "प्रकाशित कर दीजिये" के आगे आश्चर्य्य का चिन्ह (!) क्यों दिया है, यह बात समझ में नहीं आई। उनकी इच्छा इस पत्र के प्रकाशित करने की देख कर हम उसे पूरी करते हैं। मुंशी जी के हम इसलिए कृतज्ञ हैं कि उन्होंने सरस्वती के लेख को ध्यानपूर्वक पढ़ा और उस विषय में हमको लिखा।

श्रीमती स्वर्णकुमारी ने एक ऐतिहासिक उपन्यास लिखा है। उसका नाम "दीपनिर्वाण" है। मुंशी उदितनारायण जी ने उसका अनुवाद हिन्दी में किया है। इस अनुवाद में मूल पुस्तक को उपक्रमणिका का भी अनुवाद हुआ है। इसकी उपक्रमणिका में लिखा है कि क़ुतुबमीनार मुसल्मानों का नहीं, किन्तु हिन्दुओं का बनाया हुआ है। इसमें पूर्वोक्त दोनों प्रमाणों का नामनिर्देश है। पहले प्रमाण अर्थात् एशियाटिक सोसाइटी के जरनल में, किसी बगलार नामक साहब ने यह सिद्ध किया है कि क़ुतुबमीनार हिन्दुओं का है। दूसरे प्रमाण अर्थात् कनिंहम साहब की रिपोर्ट में, सैय्यद अहमद ख़ां का एक पत्र छपा है; उसमें उन्होंने लिखा है कि यह मीनार मुसल्मानों का बनाया हुआ नहीं हो सकता। दीपनिर्वाण की उपक्रमणिका में इतनाही उल्लेख है; अधिक नहीं। पूर्वोक्त दोनों प्रमाणों का हवाला तो वहां अवश्य है; परन्तु प्रमाण स्वयम् नहीं उद्धृत हैं। हम नहीं जानते मुंशी जी ने ये प्रमाण स्वयम् देखे हैं अथवा नहीं। उन्होंने अपने पत्र के आरम्भ में क़ुतुबमीनार के हिन्दुओं द्वारा बनाये जाने का प्रमाण श्रीमती स्वर्णकुमारी ही को माना सा है। परन्तु पीछे से जो वे यह लिखते हैं कि "उक्त दोनों प्रमाण देखने योग्य हैं" उससे सूचित होता है कि उन्होंने प्रमाण स्वयम् देखे भी हैं।

हमको यह विदित नहीं कि मुंशीजी अँगरेज़ी भाषा से अभिज्ञ हैं अथवा नहीं। उनके पत्र में जो दो अँगरेज़ी पुस्तकों के हवाले हैं उनके पहले तीन और चार के अङ्क व्यर्थ हैं। ये अङ्क दीपनिर्वाण की भूमिका में फुटनोटों के नम्बर हैं। मुंशी जी के पत्र में इनकी कोई आवश्यकता न थी। परन्तु, सम्भव है, वे अँगरेज़ी जानते हों और उन्होंने पूर्वोक्त प्रमाण भी स्वयम् देखे हों। उनको भी कुतुबमीनार के सम्बन्ध में कोई आग्रह नहीं और हमको भी नहीं। यदि वह हिन्दुओं का बनाया हुआ सिद्ध हो जाय तो और भी अच्छी बात है।

जिन प्रमाणों का उल्लेख मुंशी उदितनारायण जी ने किया है उनको जिसने विचारपूर्वक पढ़ा है उसके कथन का कुछ भाग हम नीचे उद्धृत करते हैं–

The Kutub is a grand monument, and looks what it is intended to be—a tower of Victory. It has been a question whether it was not originally Hindu, altered and completed by the Mohomedan conquerors. It is the general belief of the people that it was built by Rai Pithora, that his daughter might see the Jumna from the top of it. Saiyad Ahmed inclines to the belief that it is of Hindu origin. But Cunningham seems to come to the right conclusion that it is a purely Mohomedan building.—Murray's *Hand Book for India and Ceylon.* Edition of 1892, page 145.

इसका भावार्थ यह है–इस विषय में विवाद होता आया है कि कुतुबमीनार पहले पहल हिन्दुओं का था और उसमें फेरफार करके उसे मुसलमानों ने पूर्ण किया है, अथवा नहीं। लोगों का साधारण विश्वास यह है कि उसे राय पिथौरा ने बनवाया था जिसमें उसकी लड़की उसके ऊपर से यमुना को देख सके। सैयद अहमद की समझ में उसकी उत्पत्ति हिन्दुओं के द्वारा हुई है। परन्तु कनिंहम साहब का यह कहना कि यह शुद्ध मुसल्मानी इमारत है, ठीक जान पड़ता है।

इससे यह सिद्ध है कि कनिंहम साहब भी कुतुबमीनार को मुसल्मानों ही का बनाया हुआ मानते हैं। यह पहला प्रमाण हुआ। अब दूसरा प्रमाण लीजिए–

For the further commemoration of his master, and to perpetuate the fame of his conquests he (Kutub ud-din) resolved that the tower from which was to be uttered the muezzin's call to prayer in this Sanctuary should be that vast structure which still perpetuates the name of its founder in its popular designation (The Kutub-Minâr). Round its base runs a band of bold and graceful arabesque—still sharp and clear—embodying inscriptions in honour of his Lord, Bin Sâm; but for the last posterity the tower is still "the tower of Kutub."—*History of Hindustan* by C. J. Keene, C. I. E., page 26.

कीन साहब के अनुसार भी कुतुबुद्दीन ही ने इस मीनार को बनवाया। अपने स्वामी, बिन शाम, की प्रशंसा में उसने इस स्तम्भ पर लेख तक भी खुदाये। कीन साहब प्रसिद्ध इसिहास-लेखक हैं। इनका इतिहास आदर की दृष्टि से देखा जाता है। इसे इन्होंने इस देश के भूतपूर्व गवर्नर जनरल लार्ड नार्थब्रुक को समर्पण किया है। कीन साहब अपने ग्रन्थ में लिखते हैं कि कुतुबुद्दीन ने सैकड़ों मन्दिरों को तोड़ कर यह मीनार बनाया; और इसके पासही एक मसजिद भी बनवाई। वह अपने साथ अपने देश से कारीगर तो लायाही न था; इसलिए इसी देश के कारीगरों से उसे ये इमारतें बनवानी पड़ीं। इसका यह फल हुआ कि इन इमारतों के किसी किसी अवयव में हिन्दूपन रह गया। ये दोनों इमारतें हिन्दुओं के मन्दिरों के ईंट, पत्थर और स्तम्भ आदि से बनी हैं; अतएव यदि कुतुब मीनार की जड़ में मूर्तियों के चिन्ह पाये जावें तो कोई आश्चर्य नहीं। सम्भव है, मूर्तियों ही का आसार रक्खा गया हो। किसी किसी मुसल्मान बादशाह ने तो मूर्तियों को मसजिदों की सीढ़ियों पर जड़वा दिया था।

आज कल इन प्रान्तों के अँगरेज़ी स्कूलों में एक छोटासा इतिहास पढ़ाया जाता है। इसे मार्सडन साहब ने लिखा है। ये साहब मदरास में स्कूलों के इन्सपेक्टर हैं। ये अपने इतिहास के ४१वें पृष्ठ में लिखते हैं–

With the stones of 25 Hindu temples he built a beautiful pillar close to Delhi. It is called after him the Kutub Minar.

अर्थात् हिन्दुओं के २५ मन्दिरों को तोड़ कर कुतुबुद्दीन ने यह स्तम्भ बनाया। यह उसके नाम के अनुसार कुतुब-मीनार कहलाता है। इन प्रमाणों से तो यही सिद्ध होता है कि यह स्तम्भ हिन्दुओं का बनाया हुआ नहीं है। परन्तु यदि मुंशी उदित-नारायण जी इसके प्रतिकूल कोई प्रमाण भेजेंगे तो हम उन प्रमाणों को प्रसन्नतापूर्वक प्रकाशित करके मुंशी जी को धन्यवाद देंगे।

कामिनी-कौतूहल।

१—सौभाग्यवती रखमा बाई।

स्त्रियों को पढ़ाने लिखाने से जो लाभ हैं वे छिपे नहीं हैं; परन्तु, तिसपर भी कोई कोई मनुष्य स्त्री-शिक्षा के प्रतिकूल हैं। वे कहते हैं कि स्त्रियों को शिक्षा देने से वे अपने पति की परवाह न करेंगी; घर के काम में मन न लगावेंगी; और अपने धर्म्म को तुच्छ समझने लगेंगी। इसलिये गृहस्थी का सारा सुख जाता रहेगा। परन्तु यह समझना भूल है। सौभाग्यवती रखमाबाई इसका प्रमाण हैं कि विद्या पढ़ने से स्त्रि[याँ] बिगड़ती नहीं, उलटा सुधर जाती हैं; पति से अधिक प्रेम करने लगती हैं; और मूर्ख स्त्रियों की अपेक्षा घर का काम भी अधिक अच्छा करती हैं।

रखमाबाई का जन्म १८५७ ईसवी में हुआ। इनकी जाति वैश्य है। बम्बई के पास बसई नाम[क] गांव में रहनेवाले डाकृर कृष्णाजी दादाजी के सा[थ] इनका विवाह हुआ। विवाह के समय इन[की] अवस्था ११ वर्ष की थी। उस समय तक इन्हों[ने] कुछ भी नहीं पढ़ा था। इनके पति स्त्री-शिक्षा [को] अच्छा समझते हैं; पढ़ने लिखने से भी उन[को] बहुत प्रेम है। उन्होंने रखमाबाई को पढ़ाना आरम्[भ] किया। रखमाबाई की बुद्धि स्वभाव ही से तीक्ष्ण थी; इसलिये थोड़े ही दिनों में वे मराठी लिखने पढ़[ने] लगीं। यह देखकर कृष्णाजी बहुत प्रसन्न हुए और उनको पहले की अपेक्षा अधिक परिश्रम से पढ़ा[ने] लगे। धीरे धीरे उन्होंने रखमाबाई को गणि[त,] व्याकरण, भूगोल, इतिहास आदि सभी कुछ मराठ[ी] में पढ़ा दिया। रखमाबाई ने कृष्णाजी से अँगरेज़[ी] पढ़ना भी आरम्भ किया और थोड़े ही दिनों में [वे] बहुत कुछ जान गईं। यह सब उन्होंने, घर का का[म] करके जो समय मिलता था उसीमें, सीखा। उ[स] समय तक यह कोई न जानता था कि रखमाबा[ई] लिख पढ़ सकती हैं। उनके पढ़ने की बा[त] इस प्रकार खुली—

जिस समय कृष्णाजी अलीबाग़ में थे, उस सम[य] डाकृर जानस्टन् उनका अस्पताल देखने आए [और] कृष्णाजी को चिट्ठी के द्वारा उन्होंने बुला भेजा। डाकृर जानस्टन् का चपरासी चिट्ठी लेकर कृष्णा[जी] के घर पर गया; परन्तु वे बाहर किसी गाँव को गए थे। रखमाबाई ने वह चिट्ठी खोल कर पढ़[ी] और अँगरेज़ी में यह उत्तर लिख दिया कि "डाकृ[र] कृष्णाजी पांच छ मील पर एक गाँव को गए [हैं] आज सन्ध्या को अथवा कल सवेरे आवेंगे"। डाकृ[र] जानस्टन् ने उत्तर पढ़ा; परन्तु उसके नीचे कि[सी] का नाम न होने के कारण उनके मन में सन्दे[ह]

उत्पन्न हुआ कि न जाने किसने यह उत्तर लिखा है। जब कृष्णाजी उनसे मिले तब उन्होंने उस उत्तर के लिखनेवाले का नाम पूछा। कृष्णाजी ने नम्रता से कहा कि "मेरी स्त्री ने लिखा है"। यह सुन कर डाकृर साहब को आश्चर्य हुआ। उन्होंने रखमाबाई को देखने की इच्छा प्रगट की और उनसे मिल कर वे बहुत प्रसन्न हुए।

डाकृर कृष्णाजी को पीनस का रोग था। कुछ दिन में वह रोग इतना बढ़ा कि उनका चेहरा तक बिगड़ गया। लाचार होकर उनको नौकरी छोड़नी पड़ी। ऐसे समय में रखमाबाई ने अत्यन्त मन लगा कर उनकी सेवा की और उनको घबड़ाते देख सब प्रकार धीरज देती रहीं। विपत्ति ही में स्त्री की परीक्षा होती है। जब कृष्णाजी कुछ अच्छे हुए, तब वे एक गांव में जा कर रहने लगे। वहां उनकी एक कन्या की मृत्यु हुई। उनको वहां अच्छा भी न लगता था। इसलिये वे अलीबाग़ में आकर रहने लगे। वहां एक दिन उन्हें डाकृर जानस्टन् मिले। उनकी दशा को देखकर डाकृर साहब को बड़ा रंज हुआ। उन्होंने रखमाबाई को कहीं किसी पाठशाला में नौकरी करने की सलाह दी और पाठशालाओं के इन्सपेकृर वाडिंग्टन साहब के नाम एक चिठ्ठी भी लिख दी। वाडिंग्टन पूना में थे। बहुत सोच विचार के अनन्तर रखमाबाई ने नौकरी करना स्वीकार किया। इसलिये वे स्त्री पुरुष दोनों पूना आए और वाडिंग्टन साहब को डाकृर जानस्टन का पत्र उन्होंने दिया। वाडिंग्टन साहब ने रखमाबाई से बात चीत की और बहुत प्रसन्न हुए; परन्तु लड़कियों की पाठशालाओं की प्रधान अधिकारिणी की सरटीफ़िकट के बिना वे रखमाबाई को कोई जगह न दे सके। इसलिये पूना की जिस पाठशाला में स्त्रियों को शिक्षक का काम सिखलाया जाता है उसमें रखमाबाई भरती हुईं। वहां रह कर १८८३ ईस्वी में उन्होंने सबसे ऊंची परीक्षा पास करके बहुत ही अच्छी सरटीफिकट प्राप्त की।

कोई वर्ष दिन तक पहले रखमाबाई बंबई में लड़कियों को पढ़ाती रहीं। उसके अनन्तर उनको कोलापुर में जगह मिली। वहां १८९५ ईसवी तक वे लड़कियों की प्रधान पाठशाला में शिक्षक का काम करती रहीं। कोलापुर-राज्य में लड़कियों की अनेक पाठशालाएं हैं। उस समय तक उनकी देख भाल एक मेम किया करती थी। उसका मासिक ४५०) रुपए था। १८९५ ईसवी में उसने नौकरी से इस्तीफ़ा दिया और उसकी जगह रखमाबाई को मिली। अब वे लड़कियों की पाठशालाओं की, 'लेडी सुपरिन्टेन्डेण्ट' (सबसे ऊंची अधिकारिणी) हैं।

रखमाबाई की चाल ढाल बहुत ही सादी है। अभिमान उनको छू तक नहीं गया। उनको अपने ही देश का पहनाव पसन्द है। पाठशाला से घर आ कर वे गृहस्थी के कामों में लग जाती हैं। वही अपने हाथ से भोजन बनाती हैं; वही अपने लड़कों के और पति के कपड़े सुधारती हैं; और वही घर के छोटे मोटे प्रायः सब काम भी करती हैं। विद्या ही में नहीं, किन्तु सीने पिरोने में, नाना प्रकार के भोजन बनाने में और लड़कों के पालन पोषण करने में भी वे प्रवीण हैं।

रखमाबाई के चरित को पढ़ कर क्या कोई यह कह सकता है कि स्त्रियों को पढ़ाने से हानि है?

२—स्त्रियों में सङ्गीत-विद्या।

ईश्वर ने स्त्रियों की वाणी में जितनी मधुरता दी है, पुरुषों की वाणी में उतनी नहीं दी। स्त्रियों का सामान्य भाषण भी कानों को मधुर लगता है। स्त्रियों के मुख से सङ्गीत सुन कर जो आनन्द आता है वह पुरुषों के मुख से सुनकर नहीं आता। पश्चिमी देशों में गायन और वादन कलाओं का बड़ा आदर है और लड़कियों को बाल्यावस्था ही से इन कलाओं में अभ्यास कराया जाता है।

इस समय, इस देश में, गाने बजाने की कला स्त्रियों के लिए प्रायः अनुचित समझी जाती है और

नाचने की तो महाही निन्द्य मानी जाती है। इन कलाओं को लोग वारवनिताओं का व्यवसाय समझते हैं; और यदि किसी कुलीन कामिनी ने बिना ताल स्वर के ढोलक पीटने के सिवाय गायन अथवा वादन में कुछ भी अधिक उत्साह दिखलाया, तो लोग उसके और उसके आत्मीयों की ओर बुरी दृष्टि से देखने लगते हैं। यह दशा, इस देशमें, पहले न थी। जिस प्रकार प्राचीन समय में स्त्रियां विद्या पढ़ती थीं, उसी प्रकार वे गाना बजाना भी सीखती थीं। गाना और बजाना ६४ कलाओं के अन्तर्गत है। उस समय, चित्र खींचना, कपड़े सीना, पलँग बिछाना, माला बनाना, शृङ्गार करना और सेवा शुश्रुषा करना तक सिखलाया जाता था।

कोई तीन सहस्र वर्ष पहले से भारतवर्ष की स्त्रियां स्वतन्त्रतापूर्वक पुरुषों के सम्मुख बाहर निकलती थीं; उनसे वार्तालाप करती थीं और अवसर आने पर शास्त्रार्थ तक करती थीं। समाज में वे सदा आदर की दृष्टि से देखी जाती थीं। प्राचीन समय में अनेक विदुषी स्त्रियां हो गई हैं। वेद की अनेक ऋचायें स्त्रियों के नाम से प्रसिद्ध हैं। विद्वानों का मत है कि गायत्री मन्त्र से भी एक स्त्री ही का सम्बन्ध है। विश्ववरा, लोपामुद्रा और आत्रेयी इत्यादि वैदिक स्त्रियां वैदिक ऋषियों के समान आदरणीय थीं। उस समय स्त्रियों के मनोरञ्जन का व्यवसाय गाना और बजाना भी था। यहीं नहीं; किन्तु नृत्य का भी उस समय प्रचार था। ऋग्वेद में ऊषाओं के गाने और नाचने की कला को इन विषयों के आचार्यों की कला से उपमा दी गई है, जिसका यह आशय है कि ऊषा इन कलाओं में बड़ी प्रवीण थीं। महाभारत के आदि पर्व में एक सामाजिक समारम्भ का वर्णन है; उस में कुछ स्त्रियों ने नृत्य किया था; कुछ ने गाया था; कुछ ने वीणा बजाई थी और कुछ ने मृदङ्ग। ये स्त्रियां वारवनितायें न थीं; अच्छे घराने की थीं। विराटपर्व में लिखा है कि राजा विराट के यहां की स्त्रियों को अर्जुन ने गाना, बजाना और नाचना सिखलाया था। विक्रमादित्य के समय में तो इस प्रकार के अनेक उदाहरण पाए जाते हैं। मेघदूत में अलका का वर्णन करते समय कालिदास ने लिखा है कि वहां की स्त्रियां मृदङ्ग बजाने और नाचने तथा गाने में बड़ी ही कुशल हैं। प्राचीन संस्कृत नाटकों में स्त्रियों के गाने और वीणा तथा मृदङ्ग इत्यादि बजाने के ठौर ठौर पर उल्लेख हैं। दशकुमारचरित में उसके रचयिता दण्डी ने एक माता के मुख से इस प्रकार कथन कराया है—"हम लोग अपनी कन्याओं को रँगने में, चित्र खींचने में, गाने में, बजाने में, नाचने और नाटकाभिनय करने में प्रवीण करती हैं"।

सङ्गीतरत्नाकर नामक एक प्राचीन ग्रन्थ है। उसमें सङ्गीतशास्त्र का विस्तृत वर्णन है। उसके कर्ता ने लिखा है कि प्राचीन समय में स्त्रियों को सङ्गीतशास्त्र के आचार्य विधिपूर्वक सङ्गीत सिखलाते थे और जो नृत्य तथा अभिनय करना सीखना चाहती थीं, उनको उस विषय की भी वे शिक्षा देते थे। उस समय के अभिनयाचार्य्य स्वयं अभिनय न करते थे; वे दूसरों ही को अभिनय करना सिखलाते थे।

दिन भर परिश्रम करने के अनन्तर घर आने पर स्त्रियों की स्नेहमयी मूर्ति को देखने और उनके साथ सम्भाषण करने ही से श्रम का बहुत कुछ परिहार हो जाता है। यदि वे पढ़ी लिखी हुईं और यदि सङ्गीत में भी उनकी गति हुई, तो उनका समागम कितना सुखदायक होगा यह केवल विचार ही से जाना जा सकता है, लिखने से नहीं। इस लिए स्त्रियों के लिए गाना बजाना जानना निन्दनीय नहीं; किन्तु गृहस्थाश्रमी मनुष्य के लिए एक विशेष सुख की सामग्री है।

विनोद और आख्यायिका।

सोलहवीं शताब्दी के प्रथमार्द्ध में दक्षिण के विजयनगर नामक संस्थान में कृष्णदेव नाम के

प्रसिद्ध राजा हो गया है। उसकी सभा में त्यनाली-रामा नामधारी एक समयसूचक और प्रत्युत्पन्न-मति विकट कवि (मसख़रा) था। दक्षिण में उसका नाम वैसाही प्रसिद्ध है जैसा इस ओर बीरबल का प्रसिद्ध है। त्यनालीरामा ने कृष्णा ज़िले के त्यनाली नामक ग्राम में एक ब्राह्मण के घर में जन्म लिया था। विकट कवि होने के कारण जब उसकी प्रसिद्धि हुई, तब लोग उसके ग्राम के नाम के साथ उसका नाम पुकारने लगे। इसलिए उसका नाम रामा से त्यनालीरामा हो गया। जब वह लड़का था तभी से उसमें मनोहर भाषण करने की शक्ति थी। उसकी कुशाग्रबुद्धि और सुन्दरता पर प्रसन्न हो कर एक बार एक साधु ने लड़कपनही में उसे एक साधना बतलाई और उपदेश दिया कि यदि "तू उसके अनुसार काली की उपासना करैगा, तो सहस्रमुखी कालिका तुझे दर्शन देगी; और यदि तू उसे देख कर न डरैगा, तो तुझे वह मुँह मांगा वर देगी"। त्यनालीरामा जब वयस्क हुआ तब उसने काली की उसी प्रकार उपासना की। यथा समय सहस्रमुखी, परन्तु दो भुजावाली, कालिका उसके सम्मुख प्रकट हुई। उस भयङ्कर रूप को देख कर त्यनालीरामा डरा तो नहीं; किन्तु उलटा हँसा। उसे हँसते देख देवी ने पूछा "तू हँसा क्यों?" त्यनालीरामा ने बड़ी नम्रता से विनय-पूर्वक कहा—"भगवती! मैं इसलिए हँसा, कि हम मनुष्यों के एक नासिका और दो हाथ हैं; परन्तु जब श्लेष्मा (ज़ुकाम) होता है तब दोनों हाथों से नाक साफ़ करते करते तङ्ग आ जाते हैं। आपके सहस्र नासिकायें हैं; परन्तु हाथ केवल दोहीं हैं। यदि अभाग्यवश आपको कहीं श्लेष्मा हो जावै तो, आपही कहिए, आपके ये दो हाथ कहां तक आपकी सहायता करेंगे"! त्यनालीरामा का यह परिहास सुनकर कालिका बहुत प्रसन्न हुई और उसने यह वर दिया कि "मेरे साथ विनोद करने के कारण आज से तू विकट कवि हुआ"। त्यनालीरामा ने भगवती को, उसकी इस कृपा के लिए, बहुत धन्यवाद दिया और कहा—"मातः! आपने दास को बड़ा अच्छा वर दिया। आपकी दी हुई 'विकट* कवि' की पदवी को यदि मैं बांई ओर से पढ़ता हूं तो भी मैं 'विकट-कवि' होता हूं और यदि दाहिनी ओर से पढ़ता हूं तो भी 'विकट कवि' होता हूं"! त्यनालीरामा की इस चतुरता और प्रत्युत्पन्न-मति पर भगवती और भी अधिक प्रसन्न हुई और उसे उसने इस प्रकार दूसरा वर दिया "त्यना-लीरामा! तू साधारण विकट कवि नहीं, किन्तु राजमान्य विकट कवि होगा; और तेरी कीर्ति दूर दूर तक फैलैगी"। तब से त्यनालीरामा के विकट-कवित्व की प्रशंसा सब ओर होने लगी और थोड़े ही दिनों में वह विजयनगर के राजा के यहां विकट-कवि नियत हुआ।

✼

एक मनुष्य ने कहा—"हमको एक ऐसा स्थल विदित है जहां सबको सब काल रुपया मिल सकता है"। दूसरे ने बड़ी उत्कण्ठा से पूछा—"कहां भाई! बतलाइए ना!" उसने धीरे से उत्तर दिया "कोश (डिक्शनरी) में"!

✼

एक दिन एक बाबू साहब एक नाटक कम्पनी के टिकट विक्रेता से कहने लगे—"जनाब! मेरे एकही आँख है; इसलिये आधे मूल्य पर मुझे टिकट दीजिए"!

✼

एक सुधारक-शिरोमणि लड़के के पिता से कहने लगे, कि जब तक लड़के को ज्ञान न हो तब तक उसका विवाह न कीजिएगा। पिताने उत्तर दिया—"ज्ञान होने पर भी क्या कभी कोई विवाह करता है?"

✼

---

* विकट कवि के लिए तामील भाषा में जो शब्द है वह, उलटा सीधा चाहे जैसा पढ़ा जावे वही रहता है। वह एक ऐसाही शब्द है जैसा अंगरेज़ी में Level शब्द है।

सत्रहवीं शताब्दी में, विलायत में, आलिवर क्रामव्यल नामक एक पुरुष हो गया है। इङ्गलैण्ड के राजा प्रथम चार्ल्स् की विपक्षी प्रजा का पक्ष लेकर उसने राज-विप्लव मचा दिया और अन्त में चार्ल्स् का शिरश्छेद भी किया। चार्ल्स् के अनन्तर क्रामव्यल ने 'सर्वसत्वात्मक' नामक प्रजा-तन्त्र राज्य स्थापन करके आप उसका प्रधान अधिकारी हुआ। परन्तु कई वर्ष व्यतीत होने पर क्रामव्यल की ज्योंही मृत्यु हुई त्योंहीं 'सर्वसत्वात्मक' प्रणाली की समाप्ति हो गई और प्रथम चार्ल्स् का पुत्र इङ्गलैण्ड के राजासन पर बैठा। उसका नाम द्वितीय चार्ल्स् हुआ। द्वितीय चार्ल्स् के एक भाई था; उसका नाम जेम्स था। इस जेम्स का स्वभाव बड़ाही क्रोधी और कठोर था। द्वितीय चार्ल्स् के अनन्तर इङ्गलैण्ड का राज्यासन उसीको मिला; परन्तु तीन ही वर्ष में प्रजा ने उसे गद्दी से उतार दिया!

क्रामव्यल के समय में प्रसिद्ध कवि मिल्टन विद्यमान था। इन दोनों का परस्पर बहुत स्नेह था। राजा के विपक्षियों के दल का होने के कारण क्रामव्यल के मरने पर उसे बड़े बड़े कष्ट मिले। यहां तक कि अतिशय प्राणभय और अन्य अनेक कारणों से उसकी दृष्टि भी जाती रही। इसी विपन्न स्थिति में 'पैराडाइज़ लास्ट' नामक विश्व-विख्यात महा-काव्य उसने लिखा। द्वितीय चार्ल्स् के राजा होने पर वह प्रायः छिपा रहा करता था; परन्तु एक दिन उसकी चार्ल्स् से भेंट होगई। यद्यपि मिल्टन चार्ल्स् का वैरी था, तथापि ऐसी विषम दशा में राजा ने उसके घावों पर नमक छिड़कना उचित नहीं समझा। उस समय चार्ल्स् का भाई जेम्स भी उसके साथ था। मिल्टन को देख कर उससे न रहा गया। अतएव उसकी और बुड्ढे तथा अन्धे मिल्टन कवि की कहासुनी हुए बिना न रही। अन्त में जेम्स ने मिल्टन से कहा—"अरे दुष्ट! क्या तू यह नहीं समझता कि तेरे पापों ही के कारण ईश्वर ने तुझे अन्धा कर दिया है?" यह सुन कर मिल्टन ने उत्तर दिया—"यदि आप ऐसाही समझते हैं तो मैं नहीं कह सकता कि आपके पूज्य पिता ने कितने घोर पाप किये होंगे जो उनको शिरश्छेद रूप दण्ड भोग करना पड़ा"।

मनोरञ्जक श्लोक।

हाथियों को देडालने में भोज की उदारता पर भोजप्रबन्ध में एक श्लोक है—

> निजानपि गजान् भोजं ददानं प्रेक्ष्य पार्वती।
> गजेन्द्रवदनं पुत्रं रक्षत्यद्य पुनः पुनः॥

अर्थात् और हाथियों की तो बातही क्या है, राजा भोज को स्वयं अपने भी हाथियों को याचकों को देता हुआ देख, हाथी के मुखवाले अपने पुत्र गणेश की रक्षा, उसकी माता पार्वती बड़ी दक्षता से कर रही है। क्यों? उसे डर लगता है कि गणेश को हाथी समझ कर कहीं भोज उसे किसीको दे न डाले! यह श्लोक बिलोचन कवि के नाम से भोज-प्रबन्ध में लिखा है। चाहै जिसका रचित हो; यह प्राचीन अवश्य है। इसका आशय लेकर पद्माकर ने नीचे दिया पद्य रघुनाथराव पेशवा की प्रशंसा में सुनाया था—

> सम्पति सुमेर की कुबेर की जो पावै कहूं
> तुरत लुटावत विलम्ब उर धारै ना।
> कहै पदमाकर सुहेम हय हाथिन के
> हलके हज़ारन को बितर विचारै ना॥
> गंज गज बकस महीप रघुनाथ राउ
> याही गज धोखे कहूं तोहिँ देइ डारै ना।
> यातें गौरि गिरिजा गजानन को गोय रही
> गिरि तें गरे ते निज गोद तें उतारै ना॥

सुनते हैं, रघुनाथराव ने, इस पद्य को सुनकर पद्माकर को एक लाख रुपया इनाम दिया था! यदि एक लाख न दिया होगा तो कुछ तो अवश्यही दिया होगा। मोल कवियों का मनोहर उक्तियों का होता है; शब्दरचना का नहीं। अतएव, पेशवा की सभा पण्डितों से परिपूर्ण होकर भी क्या किसी पण्डित

ने यह न जाना होगा कि पद्माकर जी का भाव पुराना है ? शायद कवि को पुरस्कार पाने में बाधा डालना पातक समझकर सभास्थित पण्डित चुप रहे हों। भाषा के अनेक कवियों ने संस्कृत के उत्तमोत्तम श्लोकों का आशय लेकर भाषा में कविता की है। पद्माकर ऐसे प्रसिद्ध कविने ऐसा करने में जब कोई दोष नहीं समझा, तब यदि आज कल के कवि प्राचीन संस्कृत पद्यों की छाया अथवा उनका भाव लेकर हिन्दी में कविता करें तो वे क्षमापात्र हैं। पद्माकर के पद्य का भाव यद्यपि पुराना है, तथापि कहने की प्रणाली और शब्दों की यथास्थान स्थापना प्रशंसनीय हैं।

*
* *

श्रीकण्ठचरित काव्य का कर्ता मङ्खक नामक एक कवि काश्मीर में हो गया है। श्रीकण्ठ-चरित की रचना करके, काश्मीर के प्रसिद्ध प्रसिद्ध पण्डितों की सभा में सुनाने की इच्छा से, उसे वह वहां ले गया। वहां कन्नौज के राजा गोविन्दचन्द्र के दूत सुहल नामक पण्डित ने उसे यह समस्या दी—

एतद्बभ्रु कचानुकारिकिरणं
राजद्रुहोऽन्हः शिर-
श्छेदाभं वियतः प्रतीचि निपत-
त्यब्धौ रवेर्मण्डलम्।

अर्थात्–नेवले के बालों के सदृश पीली किरणों को प्रकट करता हुआ सूर्य का यह बिम्ब, चन्द्रमा का द्रोह करनेवाले दिन के कटे हुए सिर के समान, आकाश से पश्चिम समुद्र में गिरता है।

यह समस्या हुई। इसमें 'राज' शब्द के दो अर्थ हैं-एक चन्द्रमा का और दूसरा राजा अथवा स्वामी का। चन्द्रमा और दिनका परस्पर द्रोह सिद्ध ही है; और राजा अथवा स्वामी का द्रोह करनेवाले का शिरश्छेद होना भी उचित ही है। यही इस समस्या में चमत्कार है। इसकी पूर्ति मङ्खक ने इस प्रकार की–

एषापि दुस्समा प्रियानुगमनं
प्रोद्दामकाष्ठोत्थिते।
सन्ध्याग्नौ विरचय्य तारकमिषा-
ज्जातास्थिशेषस्थितिः॥

अर्थात्–दिशाओं में उत्पन्न हुई सन्ध्यारूपी प्रचण्ड अग्नि में अपने प्रियतम का अनुगमन करके आकाश-मण्डल की यह शोभा भी ताराओं के बहाने अस्थि-शेष हो गई। इस पूर्ति में भी एक शब्द द्व्यर्थिक है। वह 'काष्ठा' है; उसका अर्थ दिशा है; परन्तु 'काष्ठा' और 'काष्ठ' (लकड़ी) इन दोनों के साथ 'उत्थिते' की सन्धि होने से 'काष्ठोत्थिते' यह एक ही रूप होता है। अतएव इस पद से लकड़ी का भी अर्थ व्यञ्जित होता है। सायङ्काल सूर्यास्त के समय पश्चिम दिशा अग्नि के समान अरुण हो जाती है; यह प्रतिदिन ही देखते हैं। यहां पर वही अग्नि मानी गई है। मङ्खक का यह आशय है कि जब दिन का सिर कट गया, और सूर्य का बिम्ब आकाश से गिर कर समुद्र में डूब मरा, तब आकाश-लक्ष्मी अर्थात् दिन की शोभा भी पति का अनु-गमन करने के लिए सती होगई; और अपने अनुगमन को स्पष्टरूप से बतलाने के लिए अपनी हड्डियों के टुकड़े ताराओं के बहाने आकाश में छोड़ गई। प्राचीन कवियों की प्रतिभा बड़ी ही विलक्षण थी।

* *
*

कविता-कामिनी किस शास्त्र के जाननेवाले को कैसा समझती है—

नैव व्याकरणज्ञमेव पितरं न भ्रातरं तार्किकं
मीमांसानिपुणं नपुंसकमिति ज्ञात्वा निरस्तादरा।
दूरात्संकुचितेव गच्छति पुनश्चाण्डालवच्छान्दसं
काव्यालङ्करणज्ञमेव कविताकान्ता वृणीते स्वयम्॥

वैय्याकरण अर्थात् व्याकरण जाननेवाले को वह अपने पिता के समान समझती है; अतएव उसके साथ विवाह नहीं कर सकती। तार्किक अर्थात् न्यायशास्त्र के ज्ञाता नैय्यायिक को वह भाई समझ-ती है; इसलिए उसके साथ भी वह विवाह करने

से रहीं। मीमांसक अर्थात् ब्रह्मवादी और कर्म्मवादी विद्वानों को वह पुरुषत्वहीन समझती है; इससे उनका भी वह आदर नहीं करती। रहे वेद-विद्या के विशारद छान्दस लोग; परन्तु वे उसको दृष्टि में बहुतही तुच्छ जँचते हैं; उन्हें चाण्डाल के समान अस्पृश्य समझ कर वह उनसे कोसों दूर भागती है। अलङ्कार अर्थात् साहित्य-शास्त्र के जाननेवाले ही उसे पसन्द हैं; कवितारूपी कान्ता, उन्हींके कण्ठ में, स्वयं वर-माला पहनाती है।

***

चरखे को देख कर किसी कवि को एक विचित्र उक्ति सूझी। वह कहता है—

रे रे घरट्ट मा रोदीः कं कं न भ्रामयन्त्यमूः।
कटाक्षवीक्षणादेव कराकृष्टस्य का कथा?

रे चरखे! क्यों रोता है? मत रो। ये स्त्रियां अपने कटाक्षही से किस किसको नहीं घुमातीं? तुझे तो ये अपने हाथ से खींचती हैं; अतएव तू चक्कर में आकर रोता फिरै तो क्या आश्चर्य है!

***

एक कुलकामिनी अपने पति के पास अपनी सखी के द्वारा सन्देश भेजती है—

वाच्यं तस्मै सहचरि! भवद्भूरिविश्लेषवह्नौ
स्नेहैरिद्धे मम वपुरिदं कामहोता जुहोति।
प्राणानस्मै तदहमुचितां दक्षिणां दातुमीहे
तत्रादेशो भवतु भवतां यत्वमेषामधीशः॥

हे सखि! उनसे कहना कि स्नेह (तेल और घी को भी स्नेह कहते हैं) से और भी अधिक प्रज्वलित हुये आपके वियोगरूपी अग्नि में, कामरूपी होता (यष्टा, पुरोहित), मेरे इस शरीर की आहुति दे रहा है। अतएव हवन समाप्त होने के अनन्तर, समय के अनुकूल, उसे मैं अपने प्राणरूपी दक्षिणा देना चाहती हूं। परन्तु मेरे प्राणों पर आपका स्वामित्व है; मेरा नहीं; इसलिए उन्हें डालने के लिए मैं आपकी आज्ञा चाहती हूं!
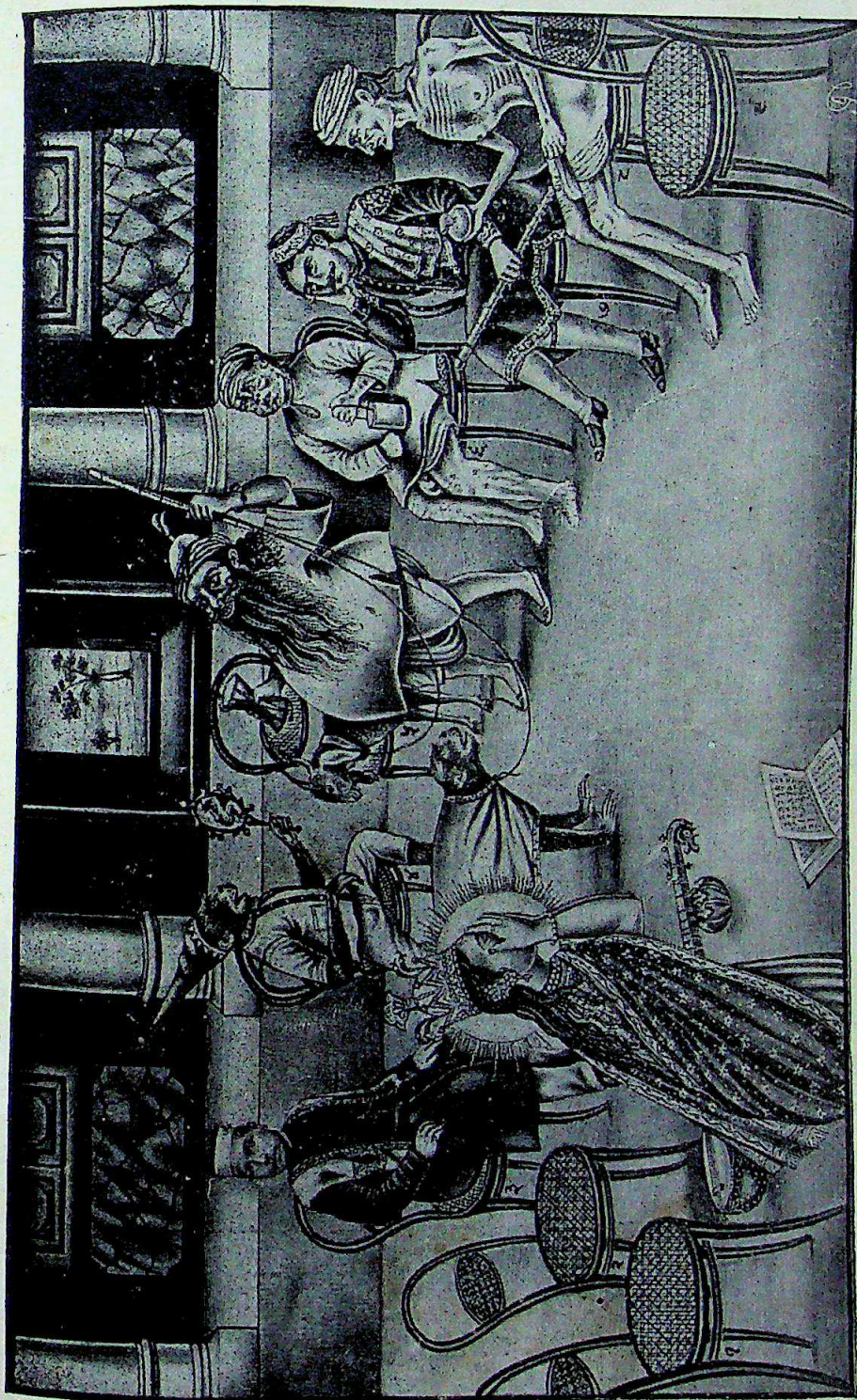
साहित्यसमालोचना।

साहित्यसभा।

१—इतिहास—(ख़ाली)। २—जीवनचरित—(ख़ाली)। ३—पर्य्यटन। ४—समालोचना।
५—उपन्यास। ६—व्या-(धि)-करण। ७—काव्य। ८—नाटक। ९—कोश—(ख़ाली)।
सरस्वती सभा की ओर देख देख रो रही है।

भाग ४] एप्रिल १९०३ [संख्या ४

विविध विषय ।

इटली के मारकोनी साहब ने बिना तार की तारबर्क़ी चलाई है। उसका प्रचार और और देशों में कहीं कहीं होगया है, और होता जाता है। अब इस देश में भी उसको प्रचलित करने का उद्योग किया जा रहा है। मारकोनी के एजण्टों ने इस देश की गवर्नमेण्ट को लिखा है, कि यदि वह स्वीकार करे, तो अण्डमन द्वीप, रंगून और कलकत्ते के बीच में वे इस तारबर्क़ी को प्रचलित कर दें।

***

पण्डित ब्रजवल्लभ मिश्र अलीगढ़ ज़िले में, हाथरस के पास, सासनी के रहनेवाले हैं। आपका उपनाम "वल्लभ कवि" है। आपने "वल्लभकोश" नामक एक पुस्तक लिखी है और उसे देवनागरी तथा फ़ारसी, दोनों अक्षरों में छपवाई है। भाषा भी दोनों प्रकार की पुस्तकों में अलग अलग है। अर्थात् नागरी अक्षरों में जो पुस्तक छपी है उसकी भाषा हिन्दी है और फारसी अक्षरों में जो है उस की भाषा उर्दू है। यह एक पद्यात्मक कोश है, जिसमें अंगरेज़ी के व्यवहारिक शब्दों का अर्थ इस देश की भाषा में है। इसे अंगरेज़ी को "ख़ालिक बारी" कहना चाहिए। यदि "ख़ालिकबारी" के पढ़नेवाले उससे लाभ उठाते होंगे तो इस पुस्तक के पढ़ने और उसे कण्ठ करनेवाले भी अवश्य लाभ उठावेंगे। "वल्लभ कवि" ने "वल्लभकोश" के साथ अपना बनाया छन्दोबद्ध "जयपुर-विलास" भी सरस्वती में समालोचना के लिए भेजा है। इसमें जयपुर के अवलोकनीय स्थलादिक का वर्णन है। हमारा मत यह है कि ऐसी पुस्तकों को गद्य में लिखना चाहिए; पद्य में नहीं। इस समय हिन्दी में स्थल-वर्णन-विषयक पद्य-ग्रन्थों की अपेक्षा गद्य ग्रन्थों की सौगुना अधिक आवश्यकता है।

***

दक्षिण के पण्डित पी० बी० जोशी ने हाल में एक पुस्तक लिख कर प्रकाशित की है, जिसमें उन्होंने बम्बई की उत्पत्ति का वर्णन किया है। उस में उन्होंने लिखा है कि अशोक के शिलालेखों में जिसका नाम अपरान्तक है, वह इस समय का

कोंकन प्रदेश है। नासिक में एक शिलालेख मिला है जिससे सूचित होता है कि ईसा की दूसरी शताब्दी में उत्तरी कोंकन राजा सातवाहन के वंशजों के आधीन था। कुछ काल के अनन्तर मौर्य लोगों ने उसपर अपना अधिकार जमाया, परन्तु छठी शताब्दी में चालुक्यों ने उत्तरी कोंकन को मौर्य्यों से छीन लिया। ८१० ईसवी में सिल्हार लोगों ने चालुक्यों को वहां से निकाल कर अपना राज्य स्थापन किया। १२६० ईसवी में देवगिरि के यादवों ने सिल्हारों के अन्तिम राजा को परास्त करके उसे मार डाला और उसके वंश का वहीं अन्त कर दिया। तदनन्तर यादवों ने इस देश को अपने आधीन कर लिया और अपने एक अधिकारी के द्वारा वे उसका शासन करने लगे। जब अलाउद्दीन ख़िलजी ने देवगिरि पर चढ़ाई की तब देवगिरि के राजा ने अपने पुत्र भीमदेव को, अपने प्राण बचाने के लिए, कोंकन में भेज दिया। इसी भीमदेव ने बम्बई को बसाया। उस समय उत्तरी कोंकन की राजधानी पुरी थी जो अब एलिफ़ैण्टा कहलाती है। बम्बई के पास यह एक छोटा सा द्वीप है। जिस समय कोंकन में सिल्हारों का राज्य था उस समय एलिफ़ैण्टा बहुत उन्नति को प्राप्त था। एलिफ़ैण्टा की मनोहर मूर्त्तियां उसकी उन्नति और प्रसिद्धि की प्रमाण हैं। भीमदेव जिस समय एलिफ़ैण्टा में आया, उस समय भी आधुनिक माहिम का नाम माहिम ही था; परन्तु तब उसमें कोई नहीं रहता था। भीमदेवही ने उसे बसाया। भीमदेव की यह प्राचीन बम्बई, उसकी राजधानी एलिफ़ैण्टा को समुद्र के गर्भ में फेंक कर अब स्वयं महा-समृद्धि-शालिनी हो बैठी है।

* *
*

जापान ने इतनी शीघ्रता से और इतनी अधिक उन्नति की है कि उसका विचार करके आश्चर्य होता है। वहां एक भी नगर ऐसा नहीं है जहां १०,००० मनुष्य रहते हों, पर दो एक समाचारपत्र न निकलते हों। जापान की राजधानी टोकिओ के किसी किसी समाचारपत्र की १,००,००० १,५०,००० तक कापियाँ निकलती हैं!

* *
*

कलाई में पहनने की लाखों घड़ियां प्रति[...] बनती हैं। हमारे वाचकों में प्रायः सभी ने उन[...] देखा होगा; अनेकों के पास वे होंगी भी। [...] अमेरिका के एक जौहरी ने एक अत्यन्तही छो[...] घड़ी बनाई है। घड़ी क्या है, वह एक प्रकार [...] नग है और अँगूठी के प्रकार पर उँगली में पह[...] जाता है। वह एक छोटी सुपारी के बराबर है[...] इस घड़ी में एक बात यह और भी विचित्र है [...] इतनी छोटी होकर भी वह 'अलार्म' सहित है[...] जिस प्रकार अलार्मवाली घड़ियों में घण्टी रहत[...] है और नियत समय पर वह बजती और सोनेवा[...] को जगा कर समय की सूचना देती है, उसी प्रका[...] का प्रबन्ध इस उँगली में पहनने की घड़ी में [...] है। यह भी पहननेवाले को यथा-समय जगा दे[...] है। इस घड़ी में घण्टी की जगह आलपीन के सम[...] एक नुकीली सूई लगी रहती है। उसे लगा देने [...] घड़ी को पहननेवाले के मांस में, वह यथा-सम[...] भीतर से निकल कर के, इतना चुभ जाती है [...] जितने से पीड़ा तो होती नहीं, परन्तु मनुष्य [...] तत्काल उठता है! धन्य बनानेवालों का बुद्धि[...] इन घड़ियों का प्रचार होते होते किसी दिन वे [...] देश में भी अवश्य दिखलाई देंगी।

* *
*

श्रीयुक्त आल्फ्रेड नन्दी साहब बैरिस्टर है[...] स्त्रियों को उच्च शिक्षा देने के आप प्रतिकूल हैं[...] इस विषय में आपने अँगरेज़ी में लेख भी लिखे हैं[...] अपने लेखों में आपने कहा है कि ऊंची शि[...] पाई हुई स्त्रियां चाहै बड़े बड़े कवियों की उक्ति[...] का पाठ कर सकें और चाहै वे कठिन से कठि[...] गणित के प्रश्नों को हल कर सकें; परन्तु घर [...] काम काज वे भली भाँति नहीं कर सकतीं; य[...] तक कि खाने के पदार्थ—उदाहरण के लिए हलु[...] भी, वे अच्छा और स्वादिष्ट नहीं बना सकतीं

यह बात उच्च-शिक्षा पाई हुई स्त्रियों को बहुत बुरी लगी है। वे अपने हाथ से बनाए हुए खाने के पदार्थों को दिखला कर नन्दी साहब को जज बनाना चाहती हैं, कि वे ही इस बात का न्याय करें कि उनको अच्छा भोजन बनाना आता है अथवा नहीं। यह लिखा पढ़ी होही रही थी कि कुमारी चक्रवर्ती यम० ए० नामक एक उच्चशिक्षा पाई हुई स्त्री ने अपने हाथ से हलुवा बना कर मदरास की एक प्रदर्शनी में भेज दिया। यह प्रदर्शनी गत दिसम्बर में हुई थी। वहां उस हलुवे की बड़ी ही प्रशंसा हुई और बनानेवाली को एक प्रशंसापत्र दिया गया। हम नहीं जानते, यह हलुवा नन्दी साहब ने चखा अथवा नहीं! यदि उन्हें वह पसन्द भी हो तो भी वे शायद कुमारी चक्रवर्ती के हाथ से उसके बनाए जाने का प्रमाण माँगें। बैरिस्टर लोग बिना प्रमाण के किसी बात को क्यों मानने लगे?

कोपर्निकस, गैलीलियो और न्यूटन।

कदर्थितस्यापि हि धैर्यवृत्तेर्न शक्यते धैर्य्यगुणः प्रमार्ष्टुम्।
अधोमुखस्यापि तनूनपातो नाधः शिखा याति कदाचिदेव॥
भर्तृहरि।*

चार पाँच सौ वर्ष पहले योरप में ज्योतिष-विद्या के अच्छे विद्वान एक भी न थे। इसलिए, उस समय की प्रचलित कल्पनाओं को झूठे अथवा सच्चे होने का निर्णय ही कोई न कर सकता था। जो कुछ जिसने सुन रक्खा था, अथवा जो कुछ टालमी और आरिस्टाटल इत्यादि पुराने विद्वान लिख गए थे, उसे ही सब सत्य समझते थे। लोगों का पहले यह मत था कि पृथ्वी अचल है और ग्रह उपग्रह सब उसके चारों ओर घूमते हैं। यह कल्पना ठीक न थी।

योरप में सबसे पहले जिसने ज्योतिष-विद्या का सच्चा ज्ञान प्राप्त किया उसका नाम कोपर्निकस था। प्रुशिया देश में, विश्चुला नदी के किनारे,

कोपर्निकस।

थार्न नामक नगर में, १४७२ ईसवी के जनवरी महीने की १९वीं तारीख़ को, उसका जन्म हुआ। उसके माता पिता धनवान न थे; परन्तु निरे निर्धन भी न थे। उसने क्राको की पाठशाला में वैद्यक, गणित और ज्योतिष का अभ्यास अच्छी तरह किया। जब वह २३ वर्ष का हुआ, तब पाठशाला छोड़ कर इटली में आया और रोम नगर में गणित का अध्यापक हो गया। रोम में बहुत वर्षों तक रह कर और विद्या के बल से अपनी कीर्ति को दूर दूर तक फैला कर, वह अपनी जन्म-भूमि को लौट गया। वहां, अपने मामा की सहायता से, उसे, गिरजाघर से सम्बन्ध रखनेवाली एक नौकरी

---

* धैर्य्यवान् पुरुषों की अवहेलना करने पर भी वे अपनी धीरता को नहीं छोड़ते। अग्नि को चाहे कोई जितना नीचा करे, उसकी शिखा सदैव ऊपर ही की ओर जाती है; नीचे की ओर नहीं।

मिली। कोपर्निकस ने ज्योतिष-विद्या का विचार यहीं मन लगा कर किया। पहले के ज्योतिषियों के सिद्धान्त भ्रम से भरे हुए उसने पाए। इसलिए बड़े ध्यान से ग्रहों की परीक्षा करके उसने यह सिद्धान्त निकाला कि, सूर्य बीच में है ग्रैार पृथ्वी इत्यादि दूसरे ग्रह उसकी प्रदक्षिणा करते हैं। यही सिद्धान्त ठीक है। कोपर्निकस ने जो पुस्तक इस विषय की लिखी वह १३ वर्ष तक बिना छपी पड़ी रही। उसके मरने के कुछ ही घण्टे पहले उसे उस पुस्तक की छपी हुई एक प्रति देखने को मिली। उसे उसने हाथ से छू कर ही सन्तोष माना ग्रैार दूसरों के लाभ के लिए उसे छोड़ कर परलोक की राह ली। रोम में एक धर्म्माधिकारी रहता है; उसे पोप कहते हैं। धर्म्म की बातों में वह सब का गुरु माना जाता है। उस समय पोप को यहां तक अधिकार था कि धर्म्मग्रन्थों के प्रतिकूल जो मनुष्य एक शब्द भी कहता था उसे कड़ा दण्ड मिलता था। धार्म्मिक लोगों की समझ में पृथ्वी अचल थी; परन्तु कोपर्निकस की पुस्तक में यह बात झूठ सिद्ध की गई थी; इसलिए उसे अपनी पुस्तक के छपाने में बहुत दिन तक सङ्कोच रहा। परन्तु मित्रों के कहने से अपना हृदय कड़ा करके उसने उसे छपा ही दिया। छपने के अनन्तर यदि वह कुछ दिन जीता रहता तो शायद उसे वही दुःख भोगने पड़ते जो गैलीलियो को भोगने पड़े। ७० वर्ष की अवस्था में कोपर्निकस की मृत्यु हुई।

कोपर्निकस के अनन्तर योरप में दूसरा प्रसिद्ध ज्योतिषी गैलीलियो हुआ। उसका जन्म, इटली के पिसा नामक नगर में, १५६४ ईसवी में, हुआ। गैलीलियो के बाप की इच्छा थी कि वह वैद्यक पढ़े; परन्तु उसको वह विषय अच्छा नहीं लगा। गणित ग्रैार पदार्थ-विज्ञान अधिक प्रिय थे; इसलिए उसने यही दो विषय पढ़ना आरम्भ किया। इन विषयों में वह बहुतही प्रवीण होगया। उसकी विद्या ग्रैार बुद्धि से प्रसन्न हो कर पिसा की पाठशाला के अधिकारियों ने उसे उस पाठशाला में गणित का अध्यापक नियत किया। कुछ दिन में गणित ग्रैार पदार्थ-विज्ञान में गैलीलियो इतना निपुण हो गया कि अरिस्टाटल ग्रैार टालमी इत्यादि प्राचीन विद्वानों की भूलें वह दिखलाने लगा ग्रैार अनेक प्रकार के प्रयोगों द्वारा उनकी भूलों को सिद्ध करके बतलाने लगा। पुराने विद्वानों के पक्षपातियों को यह बात बहुत बुरी लगी। वे गैलीलियो के शत्रु हो गए ग्रैार उसे तङ्ग करने लगे। इसलिए गैलीलियो पिसा की पाठशाला को छोड़ कर हादुआ को चला गया ग्रैार १८ वर्ष तक वहां की
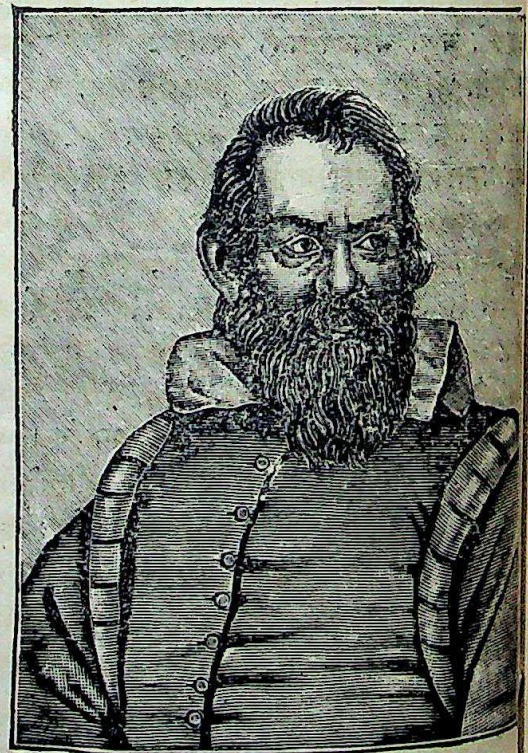
गैलीलियो।

पाठशाला में उसने गणित के अध्यापक का काम किया। इस बीच में उसकी विद्या ग्रैार बुद्धिमानी की यहां तक प्रशंसा हुई कि पिसा की पाठशाला के अधिकारियों ने उसे पीछे बुला लिया ग्रैार उसका मासिक वेतन बढ़ाकर फिर उसे वहां गणित के अध्यापक के पद पर नियत किया।

गैलीलियो ने अपनी विद्या के बल से सबसे पहले दूरबीन बनाने की युक्ति निकाली। पहले उसने जो दूरबीन बनाई उससे जो पदार्थ देखे जाते थे वे तिगुने बड़े दिखलाई देते थे; परन्तु धीरे धीरे उसने उसको यहां तक सुधारा कि उसके द्वारा देखने से पदार्थ तीस गुना बड़े अथवा तीसगुना निकट दिखलाई पड़ने लगे। इस दूरबीन के द्वारा उसने सूर्य, चन्द्रमा और शनैश्चर इत्यादि ग्रहों को देख कर उनके आकार, उनकी चाल और उनकी बनावट के विषय में ज्ञान प्राप्त किया और यह कह कर कोपर्निकस के मत को पुष्ट किया कि पृथ्वी सूर्य के चारों ओर घूमती है। पहले पहल जब उसने यह बात प्रकाशित की कि पृथ्वी के समान चन्द्रमा पर भी पर्वत, गड्ढे और ऊंचे नीचे स्थान हैं, तब पुराने विचार के लोग उसपर जल उठे। वे लोग उसको खुला खुली गालियां देने लगे और उसका यहां तक द्वेष करने लगे कि रोम के प्रधान धर्माधिकारी पोप तक से उन्होंने उसकी बुराई की।

१६१५ ईसवी में बाइबिल के प्रतिकूल मत प्रचलित करने के अपराध पर पोप ने गैलीलियो पर अभियोग चलाया। उस समय धर्म के ग्रन्थों के प्रतिकूल यदि कोई कुछ भी कहता था तो उसे कड़ा दण्ड मिलता था। इसी बात पर ब्रूनो नामक एक विद्वान जीताही जला दिया गया और अंटोनियो डिडामिनिस ६ वर्ष तक कारागार में रह कर वहीं मर गया। इन्हीं कारणों से डर कर शायद गैलीलियो ने न्यायाधीश के आज्ञानुार यह स्वीकार करके अपनी रक्षा की कि पृथ्वी के फिरने के विषय में मेरा मत ठीक नहीं। उससे इस प्रकार स्वीकार कराके न्यायाधीश ने उसे छोड़ दिया और वह अत्यन्त दुःखित हो कर अपने घर लौट आया।

गैलीलियो ने यद्यपि न्यायाधीश के सामने यह कह दिया कि मेरा मत ठीक नहीं; बाइबिल में जो कुछ लिखा है वही ठीक है; तथापि वह ग्रहों के विषय में ज्ञान प्राप्त करता ही रहा। १६२३ ईसवी में, रोम में, दूसरा पोप धर्माधिकारी हुआ। वह गैलीलियो का मित्र था; इसलिए उसे फिर धीरज आया और उसने एक ऐसी पुस्तक लिखी जिससे यह सिद्ध होता था कि प्राचीन मत के स्थापन करनेवाले मूर्ख थे। इस पुस्तक के निकलतेही लोगों ने फिर गैलीलियो की बुराई पोप से की। इस पोप ने भी जब देखा कि प्रायः देश का देश ही गैलीलियो का विरोधी है, तब उसने उसे फिर रोम में बुलाया। इस समय गैलीलियो ७० वर्ष का बुड्ढा हो गया था। पोप ने पहली बार का सा अभियोग फिर उसपर चलाया। कई महीने गैलीलियो रोम में रहा और उसे वहां बहुत कष्ट मिला। अन्त में, अत्यन्त दुःखित हो कर, और बचने का कोई दूसरा उपाय न देख कर, न्यायाधीश की आज्ञा के अनुसार, उसने अपने मुख से इस प्रकार कहा—"यह झूठ है कि पृथ्वी चलती है। मुझसे अपराध हुआ जो मैंने वैसा कहा। मैं क्षमा मांगता हूं। आज से जो आप कहेंगे उसी पर मैं विश्वास करूंगा। यदि फिर मुझसे ऐसी भूल हो तो आप जो दण्ड चाहें मुझे दें। मैं उसे चुपचाप सहन करूंगा"। विवश हो कर, यह सब कह चुकने पर गैलीलियो को इतना क्रोध आया; और मनही मन वह इतना जल भुन गया कि, पृथ्वी को लात से मार कर उसने धीरे से कहा कि—"यह अब भी चल रही है"।

कुछ दिन में गैलीलियो अन्धा हो गया और ७८ वर्ष की अवस्था में, १६४२ ईसवी की ८वीं जनवरी को वह परलोक-वासी हुआ। गैलीलियो अपने समय में, महा-विद्वान और महा-ज्यौतिषी हो गया। उसकी बुद्धि बड़ी तीव्र थी। यदि गैलीलिओ न उत्पन्न होता और दूरबीन बना कर ग्रहों का सच्चा सच्चा ज्ञान न प्राप्त करता तो ज्योतिष-विद्या आज इस दशा को कभी न पहुंचती।

जिस वर्ष गैलीलियो की मृत्यु हुई, उसी वर्ष, अर्थात् १६४२ ईसवी के दिसम्बर महीने की २५ तारीख को, इंगलैण्ड में, न्यूटन का जन्म हुआ। न्यूटन का बाप न्यूटन के लड़कपन ही में मर गया था;

इसलिए उसकी मा ने उसके लिखने पढ़ने का प्रवन्ध किया। १२ वर्ष की अवस्था में वह ग्रन्थम की पाठशाला में भरती हुआ। ६ वर्ष तक उसने वहां विद्याध्ययन किया। उसके अनन्तर वह केम्ब्रिज के ट्रीनिटी कालेज में पढ़ने लगा। न्यूटन ने २२ वर्ष की अवस्था में बी० ए० की और २५ वर्ष की अवस्था में एम० ए० की परीक्षा पास की। गणित और यन्त्र बनाने की विद्या से उसे बड़ा प्रेम था। पाठशाला में छुट्टी होने पर जब और लड़के खेल कूद में लग जाते थे, तब वह छोटे छोटे यन्त्र बनाया करता था। उसने एक छोटी सी पवनचक्की बनाई थी जो वायु के वेग से आपही आप चलती थी। उसे देखकर वह मनही मन बहुत प्रसन्न होता था। उसने लकड़ी की एक घड़ी भी बनाई थी। वह समय बतलाने का पूरा पूरा काम दे सकती थी। जब वह केम्ब्रिज के विद्यालय ही में था, तभी उसने यह बात सिद्ध करके दिखला दी कि प्रकाश के प्रत्येक किरण में सात प्रकार के रङ्ग रहते हैं।

सर आइज़क न्यूटन।

१६७२ ईसवी में न्यूटन को ट्रिनिटी कालेज में गणित के अध्यापक का पद मिला। कुछ काल तक वह पारलियामेन्ट का सभासद भी रहा। उसकी मान-मर्य्यादा प्रतिदिन बढ़ती हो गई। यद्यपि उसका यश देश देशान्तर में फैल गया था तथापि धन सम्बन्धी उसकी दशा अच्छी नहीं थी। इसलिए १६९६ ईसवी में सरकार ने उसे टकसाल का अधिकारी बनाया। कुछ दिन में वहां उसका वेतन १५००) रुपए मासिक हो गया। इस पद पर वह अन्त तक बना रहा और अपना काम बड़ी योग्यता से उसने किया। १७०५ ईसवी में उसे "सर" की पदवी मिली। तब से वह सर आइज़क न्यूटन कहलाया जाने लगा।

गैलीलियो की बनाई हुई दूरबीन में कई दोष थे। इसलिए न्यूटन ने एक नई दूरबीन बना कर गैलीलिओ की दूरबीन से देखने में जो बाधाएं आती थीं उनको दूर कर दिया। हमारे यहां के प्राचीन ज्योतिषी तो यह जानते थे कि पृथ्वी में आकर्षण-शक्ति है; अर्थात् जड़ पदार्थों को वह अपनी ओर खींच लेती है; परन्तु, न्यूटन के समय तक, योरप में इस बात को कोई न जानता था। एक बार न्यूटन ने अपने बाग़ में एक सेब को पेड़ से गिर कर पृथ्वी की ओर आते देखा। उसी समय से वह उसके गिरने का कारण सोचने लगा और अन्त में गुरुत्वाकर्षण के नियम का पता उसने लगाया। इस नियम के जानने से बड़ा लाभ हुआ; क्योंकि इसीके अनुसार सूर्य, चन्द्रमा, पृथ्वी तथा और और ग्रह अपनी अपनी कक्षाओं पर घूमते हैं।

१७२६ ईसवी में, ८४ वर्ष का होकर, न्यूटन परलोक-वासी हुआ। उसने अपनी सारी अवस्था गणितविद्या की किताबों के लिखने और विज्ञान-सम्बन्धी नई नई बातों के जानने में बिताई।

न्यूटन बहुत सवेरे उठता था और अपना सारा काम समय पर करता था। उसको क्रोध छू तक नहीं गया था। वर्षों के परिश्रम से लिखे गए उसके कागज़, एक बार, उसके डायमण्ड नामक कुत्ते ने

मेज़ पर, मोमबत्ती गिरा कर, जला दिए। परन्तु उसने इतनी हानि होने पर भी क्रोध नहीं किया; केवल इतनाही कहा कि "डायमण्ड! तू नहीं जानता, तूने मेरी कितनी हानि की है"। न्यूटन यदि इंगलैण्ड में न उत्पन्न होता तो शायद गैली-लिओ की ऐसी विपत्ति उसे भी भोगनी पड़ती। वह बड़ा प्रसिद्ध ज्योतिषी, गणितशास्त्र का ज्ञाता और तत्वज्ञानी हो गया। जहां उसका शरीर गड़ा है वहां पत्थर के ऊपर एक लेख खुदा हुआ है। उसका सारांश यह है—"यहां सर आइज़क न्यूटन का शरीर रक्खा है। इस विद्वान ने अपनी विद्या के बल से ग्रहों की चाल और उनके आकार का पता लगाया; ज्वार भाटा होने का कारण खोज निकाला; और प्रकाश की किरणों में रङ्गों के उत्पन्न होने का कारण भी जाना"। इतना विद्वान होने पर भी, मरने के समय, उसने कहा कि "मैंने कुछ नहीं किया। मैं समुद्र के किनारे एक लड़के के समान खेलता सा रहा। समुद्र में अनेक प्रकार के रत्न भरे रहे; परन्तु दो एक कङ्कड़ पत्थर अथवा सीपियों को छोड़ कर और कुछ मेरे हाथ न आया"। अर्थात् ज्ञानरूपी समुद्र में से केवल दो एक बूंद मुझे मिले; अधिक नहीं। सत्य है; विद्या की शोभा नम्रता दिखलाने हीं में है।

रहिमन-विलास।

[गत वर्ष की आठवीं संख्या के आगे]

जो रहीम गति दीपकी कुल कपूत की सोय।
बारे उजियारो करै बढ़े अंधेरो होय॥
बढ़े अंधेरो होय नेह गुन देय जलाई।
दुरगन्धित गृह करै कालिमा देइ लगाई॥
बिभिचारी अरु चोर देहि सुख तिन ही कों अति।
सब सोभा बिनसाइ होइ यह जो रहीम गति॥ २२

* ऊगत जाही किरन सों अथवत ताही कांति।
त्यों रहीम सुख दुख सबै बढ़त एकही भांति॥
बढ़त एकही भांति तैसहीं घटत न देरी।
सुख दुख आठो जाम रहैं सबही कों घेरी॥
जे बिवेक रत दास नाहिं तनिकहुं ते चूकत।
रहत एक रस, होत अस्त त्यों ही ज्यों ऊगत॥ २३

जो रहीम छोटे बढ़ैं बढ़त करैं उतपात।
प्यादे तें फरजी भयो तिरछे तिरछे जात॥
तिरछे तिरछे जात अधिक अभिमान बढ़ाई।
ओछे घट में कहां बहुत जल रहै समाई॥
जन्मि हीन कुल बढ़े भाग्य प्रभुता पाई सो।
भू पैं धरैं न पांव भूलि गए आपु रहे जो॥ २४

गति रहीम बड़ नरन की ज्यों तुरंग व्यवहार।
दाग दिवावत आपुने सही होत असवार॥
सही होत असवार आप दुख सहै अनेकन।
पर उपकारन लागि हानि निज करैं जु कोटन॥
औरन के सुख हेतु सहैं दुख धन्य धीरमति।
जस भागी ते दास स्वर्ग में पावैं नित गति॥ २५

संपति भरम गंवाइ कै तहां बसे कछु नाहिं।
ज्यों रहीम ससि रहत है दिवस अकासहि माहिं॥
दिवस अकासहिं माहिं रहै निज तेज गंवाई।
अति फीके मुख लखैा सबै सोभा बिनसाई॥
नकटा जीऐ जदपि तऊ है महा अधम गति।
तहां बसे सुख नाहिं जहां भोगे सुख संपति॥ २६

संपति संपतिमान को सब कोई सब देय।
दीनबन्धु बिनु दीन की को रहीम सुधि लेय॥
को रहीम सुधि लेय दीन दुखिया संपति बिन।
बनैं धनिक के सार दरिद परिवार करैं बिन॥
पै कृपालु प्रभु संपतिमानन कों करि चम्पत।
अपुनावत अति दीन दीनपन जिहि एक सम्पत॥ २७

---

* ज्ञान पड़ता है रहीम ने यह दोहा नीचे लिखे हुए प्राचीन श्लोक को देख कर रचा है—

उदेति सविता ताम्रस्ताम्र एवास्तमेति च।
सम्पत्तौ च विपत्तौ च महतामेकरूपता॥ —सं० स०।

दीनहिं सब कहं लखत है दीनहिं लखै न कोइ।
जो रहीम दीनहिं लखै दीनबन्धु सम होय॥

दीनबन्धु सम होय करैं वाकों प्रभु निज सम।
दीनबन्धु यह नाम प्रभुहिं लागत अति प्रियतम॥
देखु न करि हित दीन, कहत का ताकों जग महं।
दीनबन्धु ये धन्य दान इन दीनहिं सब कहं॥ २८

अब रहीम चुप करि रहौ समुझि दिनन को फेर।
जब दिन नीके आइहैं बनत न लागै देर॥

बनत न लागै देर जबै पलटैं दिन अपने।
तब लौं चुप करि सहौ कोऊ सों नेकु न झपने॥
सबै उपाय निरर्थ होंय दिन खोटे हैं जब।
करैं खुसामद सबै फेरि दिन पलटैंगे अब॥ २९

खीरा सिर धरि काटिए मलिए निमक लगाय।
करुवे मुख कों चाहिए रहिमन यहै सजाय॥

रहिमन यहै सजाय होत कटु मुखवारन की।
तातैं धरै सुभाउ मधुरता मुख धारन की॥
मधुर अंगूरहिं खात दिए बिनु छिलकहिं चीरा।
देखु प्रतच्छ प्रमान कहां अंगुर कहं खीरा॥ ३०

श्रीराधाकृष्णदास।

प्रच्छन्न-प्रभाकर।

[१]

क्यों न लोकमणि! आप अभी तक उदित हुए हैं?
किरण आपकी देख सदा हम मुदित हुए हैं।
बतलाइए कृपालु! आपको भय किसका है?
भोर भए, अतिरिक्त आपके, जय किसका है?

[२]

यह पंकेरुह-पंक्ति आपके लिए खड़ी है;
इन्हें प्रफुल्लित करें हुई प्रभु! देर बड़ी है।
यह भौंरों का पुञ्ज कुञ्ज के लिए चला है;
निकल आइए देव! उदय का काल टला है॥

[३]

चार मास यदि ताप आप से सब सहते हैं;
आठ मास अति सुखी सभी जग में रहते हैं।
यदि पृथ्वी से आप भाफ-मय कर लेते हैं;
न्यायी नृप सम उसे सलिल करके देते हैं॥

[४]

ग्रीष्म काल में जिन्हें आपने ताप दिया था;
यथा-उचित, उस समय, सभी का अंश लिया था।
वह उनके ही लिए विशद उद्योग किया था;
नहीं किसी को देव! आपने दुःख दिया था॥

[५]

मोर, पपीहा, मनुज तरसने जब लगते हैं;
आप जलद को भेज बरसने तब लगते हैं।
जो है जिसके योग्य उसे वह वस्तु मिलै है;
ललित लता बहु उगैं; कली-कुल विपुल खिलै है॥

[६]

शासन न्यायी नाथ! तुम्हारा सुखकारी है;
आज न रथ पर देख हमें अचरज भारी है।
देर हुई दिवसेश! दरस को हम आये हैं;
नहीं आपको देख, यहां पर, पछताये हैं॥

[७]

दीप्ति आपकी द्वीप द्वीप जो दीप दिखाती;
सब प्रकार के अन्धकार जो दूर हटाती।
वह मरीचि जो नवल वृक्ष को हितकारी है;
विज्ञानी के लिए बहुत ही जो प्यारी है॥

[८]

जीवन जिसके बिना नहीं हो सकै जगत में;
जो जीवित-आधार कही जाती सब मत में।
फिर उसको यह तुच्छ जीव क्यों बिसरावैगा?
कैसे उसके बिना मनुज जीवन पावैगा?

[९]

अहा! हमने लिया अब जान सब भेद;
नहीं इससे रहा है कुछ हमें खेद।
कृपा को आपकी हम जानते हैं;
दया की मूर्ति को पहचानते हैं॥

[१०]

कहीं से मेघ काले आ गये हैं;
गगन में रातही से छा गये हैं।
अनोखा काम सब यह भाफ का है;
इसीसे छिप गया मुख आपका है॥

वागीश्वर मिश्र।

तीन देवता।

मेरा नाम वररुचि है। जो एक बार भी किसी अच्छे पण्डित के पास बैठा होगा, वह मुझे भली भाँति जानता होगा कि मैं महापण्डित हूं। मेरी पण्डितताई का हाल इसीसे समझ लीजिए कि मैंने व्याकरणसम्बन्धी एक बहुत बड़ा ग्रन्थ बनाया है। यह सब इस लिए कहता हूं कि जिसमें तुमको मेरी बात पर विश्वास आवै। तुम कहीं यह न समझने लगो कि यह एक कहानी है। कहानी नहीं है। सच्ची घटना है। जो कुछ मैं आज तुमसे कहना चाहता हूं उससे मेरी प्राणाधिका पत्नी ही से सम्बन्ध है। इसलिए तुम्हीं कहो, कौन ऐसा मूर्ख होगा जो अपनी ही घरवाली के झूठे कलङ्क कहने बैठेगा? यह घटना यद्यपि हज़ारों वर्ष की पुरानी है, तथापि इसकी सत्यता में संशय नहीं है। यह वृत्तान्त उसी समय लिख रक्खा गया है। मैं उसे ही तुम्हारे मनोरञ्जन के लिए सुनाता हूं। अपनी ओर से मैं कुछ न कहूंगा। लो, सुनो।

लड़कपन में मैं अपने दो साथियों के साथ गुरुकुल में विद्या पढ़ता था। मेरे एक साथी का नाम विष्णु और दूसरे का इन्द्रदत्त था। मेरे गुरु विन्ध्याचल से थोड़ी दूर पर विन्ध्यनगर में रहते थे। नाम उनका विद्याविभूति था। हम तीनों बड़े परिश्रम से पढ़ते थे। जब मेरी अवस्था कोई ८ वर्ष की थी, तभी मैं विद्याविभूति जी के पास भेज दिया गया था। मेरे पिता का शरीरान्त हुए, उस समय चार वर्ष हो चुके थे। घर पर केवल मेरी वृद्ध माता थीं। वे मुझे प्राणों से अधिक चाहती थीं। मेरी भी यही इच्छा रहती थी कि शीघ्रही मैं पण्डित हो जाऊं और किसी राजा के आश्रय में रह कर स्वयं सुखी होऊं और माता को भी सुखी करूं। मेरे गुरु मुझे बहुत चाहते थे। मैं भी उनकी हृदय से सेवा शुश्रुषा करता था। उनकी कृपा से मैं शीघ्रही सब शास्त्रों में पण्डित हो गया। मुझे पूरा पण्डित होने में १२ वर्ष लगे। अर्थात् जब मैं २० वर्ष का हुआ, तब मैंने विद्या की भी समाप्ति करदी और उसके साथही अपने लड़कपन की भी समाप्ति की। मैं युवा हुआ।

एक बार नगर में एक उत्सव हुआ। गुरु की आज्ञा से मैं भी उसे देखने गया। साथ में विष्णु और इन्द्रदत्त भी थे। वहां मैंने एक नवयौवना, दीर्घलोचना, शशाङ्कवदना और गजेन्द्रगमना कामिनी देखी। मैंने इन्द्रदत्त से पूछा "यह कौन है?" उसने कहा "विश्वकोश नामक ब्राह्मण की यह कन्या है। इस का नाम उपकोशा है"। उपकोशा को देखकर मैं प्रेम-परवश हो गया। मेरा मन मेरे हाथ से जाता रहा। चाह भरी दृष्टि से मुझे अपनी ओर देखते देख उपकोशा ने अपनी सखी से कुछ पूछा। कुछ क्या, मेरा ही हाल पूछा। सखी ने उसके कान में कुछ कहा और कह कर मेरी ओर धीरे से उंगली उठा कर वह मुसकुराई। मेरा परिचय पाकर उपकोशा ने भी प्रेम-भरी दृष्टि से मेरी ओर एक बार देखा। देख कर वह वहां से चल दी। मैं भी किसी प्रकार घर लौट आया। परन्तु उस चन्द्रमा के समान मुखवाली नीले कमलों के समान काले और बड़े नयनोंवाली, कंदुक के समान सुन्दर स्तनोंवाली, केहरि के समान क्षीण कटिवाली, लक्ष्मी के समान सुन्दरी उस मनोमोहिनी के बिम्बाधरों में वर्तमान सुधासलिल की प्यास से व्याकुल होने के कारण रात को मुझे नींद नहीं आई। बड़ी बड़ी कठिनाई से पिछली रात ज़रा आंख बन्द हुई तो मैं क्या देखता हूं कि सफ़ेद साड़ी पहने हुए एक दिव्य स्त्री मेरे सामने खड़ी

है। उसने मुझसे कहा—"पुत्र! उपकोशा तेरी पूर्वजन्म की अर्धाङ्गिनी है। मैं तेरे मुख में वास करनेवाली सरस्वती हूं। तू चिन्ता मत कर। तेरी व्याकुलता मुझसे नहीं देखी गई; इसी लिए मैं तुझे धैर्य्य देने के लिए प्रकट हुई हूं। तेरे रूप और तेरे गुणों पर मोहित होकर उपकोशा तुझेही अपना पति करना चाहती है। शीघ्रही तेरी इच्छा पूरी होगी"। इतना कह कर भगवती सरस्वती अन्तर्धान हो गईं।

प्रातःकाल मुझसे नहीं रहा गया। उस चकोर-नयनी को देखने की मुझे छटपटी पड़ी। मैं उसके घर की ओर चला। वहां पहुंच कर उसके पिता की फूलवाटिका में इधर उधर मैं घूमने लगा कि कहीं उसके दर्शन हो जावैं। मेरा मनोरथ सफल हुआ। घर की खिड़की में मलिन चन्द्रमा का सा उदय हुआ। मेरे नेत्र उसी ओर दौड़ गए और उसके दर्शनों से कृतार्थ होने लगे। उपकोशा एक क्षण भर से अधिक वहां न ठहर सकी। लज्जा के वश होकर उसने अपना मुँह फेर लिया और मुझ पर वज्रपात सा करके वह लोप होगई। मेरे सारे शरीर में प्रचण्ड ज्वाला जलने लगी। मैं सन्ताप से पीड़ित होकर गिरने ही को था कि उपकोशा की एक सखी वहां अकस्मात् आकर उपस्थित हुई। उसने मुझे गिरते देख मेरा हाथ पकड़ लिया। मैं सँभल गया।

मेरी दशा पर उसने खेद प्रकट किया। उसने कहा कि "उपकोशा की भी बुरी दशा है। जिस क्षण से उसने तुम्हें देखा है, काम ने अपने पैने बाणों की वर्षा उस पर आरम्भ की है। उनसे उसकी किसी प्रकार कहीं भी रक्षा नहीं हो सकती। उनसे बचने का एक ही शिरस्त्राण है। वह आप हैं"। यह सुन कर मुझे बड़ा धीरज हुआ। मैंने कहा "मेरी जो दशा है वह तुम देखही रही हो। यदि तुम न आतीं तो शायद मैं भूमि पर मूर्छित होकर गिर पड़ता। जितना शीघ्र हो उतना ही उपकोशारूपी अमृतवल्ली के सेवन से मैं अपने शरीर का असह्य दाह शान्त करना चाहता हूं परन्तु गुरुजनों की आज्ञा बिना अपना मनोरथ सफल करना मैं अपने लिए अकीर्ति का कारण समझता हूं। अकीर्ति से मर जाना अच्छा है। इस लिए तुम अपनी सखी के मन की बात उसके पिता से कहो; जिसमें वे मेरे गुरु की आज्ञा लेकर विधि पूर्वक विवाह का प्रबन्ध कर दें। ऐसाही होने में मेरा और तुम्हारी सखी का कल्याण है"। सखी ने यह सब वृत्तान्त उपकोशा की माता से कहा, माता ने उपकोशा के पिता से। पिता मेरे रूप शील और विद्या आदि की बड़ाई सुन चुका था इस लिए उसने इस बात को प्रसन्नतापूर्वक स्वीकार किया और मेरे गुरु विद्याविभूति की भी अनुमति प्राप्त करली। इस प्रकार मेरा उपकोशा के साथ विवाह निश्चय हो जाने पर मेरा साथी विप्र कौशाम्बी से मेरी माता को ले आया। उसे वहां जाकर माता को लाने में दो दिन लगे। ये दो दिन मेरे लिए दो युग होगए। इस दो दिन की प्रतीक्षा में जो जो मनोरथ मेरे मन में हुए और जो जो मनोव्यथा मैंने सहन की, उसका अनुमान वे नहीं कर सकेंगे जिनको कभी इस प्रकार की प्रतीक्षा नहीं करनी पड़ी है। किसी प्रकार वह शुभ दिन आया और उपकोशा का पाणिग्रहण करके मैंने अपने मनोरथ सफल किये।

[२]

कुछ दिन में मेरी माता इस संसार से चल बसीं। इसका पहले मुझे बहुत शोक हुआ। परन्तु धीरे धीरे वह कम होगया और उपकोशा के साथ मैं आनन्द से वहीं विन्ध्यनगर में रहने लगा। इस बीच मेरे गुरु विद्या-विभूति के अनेक शिष्य हो गए। उनमें एक का नाम पाणिनि था। वह मेरे गुरु की स्त्री की बड़ी सेवा करता था। मेरी गुरु-पत्नी इसीलिए उस पर बहुत प्रसन्न थीं। उन्होंने पाणिनि को तपस्या के लिए हिमालय पर्वत पर भेज दिया। उसने वहां जाकर घोर तपस्या की

उसकी तपस्या से शङ्कर प्रसन्न हुए और उन्होंने उसे सब विद्याओं के प्रवेश का आदि कारण एक नया व्याकरण पढ़ाया। इस व्याकरण को पढ़ कर और परम सन्तुष्ट होकर कई वर्ष पीछे पाणिनि हिमालय से उतरा। वहां से विन्ध्यनगर को आने में जितने प्रसिद्ध प्रसिद्ध विद्यापीठ थे सबमें पाणिनि ठहरा। उसके साथ शास्त्रार्थ करने में किसीको यश नहीं मिला। इस प्रकार दिग्विजय करते करते वह विन्ध्यनगर के समीप आ पहुंचा।

पाणिनि की विद्या का वृत्तान्त सुन कर मुझे बड़ा आश्चर्य्य हुआ। पाणिनि जब विद्याविभूति के पास था, तब वह सबसे अधम शिष्यों में गिना जाता था। इस लिए मुझे यह जानने का कौतूहल हुआ कि देखूं पाणिनि अब कितना विद्वान् हो गया है। जब वह विन्ध्यनगर को लौट आया और वहां उसने मेरी प्रशंसा सबके मुख से सुनी, तब उससे स्वयं ही न रहा गया। इस लिए मुझे कुछ भी कहना न पड़ा। उसने आपही शास्त्रार्थ के लिए मुझे ललकारा। नियत समय पर मेरा और उसका शास्त्रार्थ आरम्भ हुआ। सात दिन तक यह शास्त्रार्थ बराबर होता रहा। आठवें दिन मैंने पाणिनि को परास्त किया। परास्त करने के साथही एक अद्भुत घटना हुई। आकाश में एक ऐसा घोर नाद हुआ कि उसके होते ही मैं अपना व्याकरण भूल गया! पाणिनि ने फिर शास्त्रार्थ आरम्भ किया और क्रम क्रम से उसने हम सबको जीत लिया!!

अब मैं विन्ध्यनगर में मुंह दिखाने के योग्य न रहा। मैं बहुतही लज्जित हुआ। इस लिए मैंने भी तप करना निश्चित किया। माता मेरी मरही चुकी थी। केवल उपकोशा थी। उसको समझा बुझा कर मैंने शङ्कर की आराधना के लिए हिमालय जाने की अनुमति ले ली। कुछ धन मेरे पास था। उसे मैंने उपकोशा के पास रखना उचित न समझा, इस लिए उसे मैंने सुवर्णगुप्त नामक महाजन के यहां रख दिया और उससे कह दिया कि उपकोशा को जिस समय जितना धन अपेक्षित हो, उतना वह देता जावै। इस प्रकार प्रबन्ध करके मैंने हिमालय जाने के लिए प्रस्थान किया।

[३]

उपकोशा पूरी पतिव्रता थी। दिन रात वह मेरी मङ्गल-कामना किया करती थी। प्रति दिन वह नर्म्मदा-स्नान करने जाया करती थी और सदा व्रत उपवास भी किया करती थी। इन व्रत और उपवासों के करने से वह बहुत ही दुबली होगई। तथापि उसकी शरीर-शोभा कम नहीं हुई। प्रतिपदा का चन्द्रमा क्षीण होने पर भी अच्छा लगता है। एक बार वसन्त ऋतु में, वह स्नान किए सायङ्काल घर आ रही थी कि, मार्ग में पहले उसे राजा के पुरोहित ने, फिर न्यायाधीश ने और फिर मन्त्री ने देखा। उपकोशा को देखते ही वे सब काम के बाणों का निशाना बन गए। वे अपना अधिकार, पद, धर्म्म सब क्षण में भूल गए। उपकोशा को अकेले आते देख मन्त्री ने उसे मार्ग में सहसा रोका। उपकोशा का कलेजा काँपने लगा। परन्तु वह बड़ी प्रत्युत्पन्नमति थी। उसकी बुद्धि बड़ी तीक्ष्ण थी। समय की बात उसे झट सूझ जाती थी। उसने कहा—"मन्त्री जी! आपकी जो अभिलाषा है वही मेरी भी है। परन्तु मैं कुलकामिनी हूं। पति मेरा विदेश में है। यहां एकान्त में अकेले आपसे बात-चीत करते यदि हमको कोई देख लेगा तो इसमें मेरी भी बदनामी होगी और आपकी भी। इस लिए आज तो मुझे व्रत है, कल रात को, आप, पहले पहर में, मेरे घर पधारें। वसन्तोत्सव का समय है; सब लोग मेले के झमेले में रहेंगे; कोई आपको देख न सकेगा"। इसे मन्त्री जी ने स्वीकार किया।

इस प्रकार मन्त्री महाशय से छुट्टी पाकर ज्योंही उपकोशा थोड़ी दूर आगे गई, त्योंही उसे मार्ग में पुरोहित देवता मिले। उन्होंने भी उसे रोका और अपना अनुराग प्रकट किया। उन्हें भी उपकोशा ने

प्रेम भरी बातों से प्रसन्न करके, दूसरे दिन रात के दूसरे पहर अपने घर आने की कृपा करने के लिए उनसे निवेदन किया। पुरोहित जी को पुलकित करके कुछ दूर उपकोशा आगे गई ही थी कि, न्यायाधीश जी ने, एक गली में, अपनी भुजवल्ली से उसे बांधना चाहा। उपकोशा ने उनकी भी अभिलाषा पूर्ण करने का वचन देकर रात के तीसरे पहर अपने घर को पवित्र करने की प्रार्थना की। इस प्रकार इन तीनों प्रेमियों से छुटकारा पाकर वह किसी प्रकार घर पहुंची। वहां उसने अपनी सखी से मार्ग का सारा वृत्तान्त कांपते हुए वर्णन किया। उसने कहा—"मेरी सुन्दरता को धिक्कार है। जिस कुलस्त्री का पति घर पर नहीं है उसका मरजाना ही अच्छा है"। इस प्रकार खेद प्रकट करके और मेरा बारम्बार स्मरण करके बीती हुई घटना को सोचती हुई उस रात उपकोशा निराहार ही पड़ी रही।

सबेरे पूजन-पाठ और ब्राह्मण को दक्षिणा देने के लिए उपकोशा को कुछ धन की आवश्यकता हुई। इस लिए उसने अपनी सखी को सुवर्णगुप्त के पास भेजा कि वह मेरे रक्खे हुए धन में से कुछ ले आवै। सुवर्णगुप्त ने धन तो दिया नहीं; परन्तु उपकोशा के घर स्वयं आने की कृपा की। घर आकर एकान्त में उपकोशा से उसने कहा—"सुन्दरि! तुम्हारे स्मरण में मुझे निद्रा नहीं आती; भूख प्यास जाती रही है; काम काज में जी नहीं लगता। अतएव मुझे प्राणदान दीजिए। मेरा अङ्गीकार करके मेरी अभिलाषा पूरी कीजिए। जो कुछ धन तुम्हारे स्वामी का मेरे पास रक्खा है, वही नहीं, मैं अपनी भी सारी सम्पत्ति तुम्हारे लिए देने को तैय्यार हूं"। इन बातों को सुन कर उपकोशा सूख गई; परन्तु धीरज धर कर, उसी दिन, रात के चौथे पहर सुवर्णगुप्त को भी आने के लिए उसने निमन्त्रण दिया।

[४]

चारों प्रेमी अपने अपने मन में मनोमोदक फोड़ने लगे। इधर उपकोशा ने केसर-कस्तूरी आदि सुगन्धित पदार्थों को मिलाकर बहुत सा काजल तय्यार कराया। उस काजल को एक कुण्ड में उसने भराया और उसी में बहुत सा तेल डलवा दिया। उसी तेल से डूबे हुए चार कौपीन भी उसने तैय्यार कराए। यथासमय पहले पहर मन्त्री जी पधारे। उपकोशा बड़े आदर से उठ कर मिली। परन्तु उसने कहा कि आपको पहले स्नान कर लेना चाहिए। बिना स्नान किए मैं आपको कैसे स्पर्श करूं।

मन्त्री जी ने स्नान करना स्वीकार किया। उपकोशा की दो सखियां उसे भीतर अन्धेरे में ले गईं। वहां उसके वस्त्राभूषण उतार कर उसको वहीं तेल और काजल से भीगा हुआ कौपीन उन्होंने पहनाया। स्नान के पहले सुगन्धित पदार्थों का अभ्यङ्ग (उबटन) लगाया जाता है। शरीर में वही उबटन लगाने के बहाने उन सखियों ने पूर्वोक्त कुण्ड की कालिख उसके शरीर में खूब मली। सखियां अभ्यङ्ग कर रही थीं कि पुरोहित देवता आगए। उनका आगमन सुनकर सखियों ने कहा कि वररुचि के मित्र पुरोहित जी किसी काम से आए हैं; अतः आप इस सन्दूक के भीतर हो जाइए। एक लम्बी चौड़ी सन्दूक पहलेही से तैय्यार रक्खी गई थी। इसमें हवा जाने का मार्ग था; परन्तु ऊपर से बड़ी मज़बूत कुण्डी लगी थी। इस प्रकार भय से बचने के लिए मन्त्री को सन्दूक के भीतर चुप चाप बैठे रहने की सलाह दे कर सखियों ने पुरोहित जी की भी पूर्ववत् सेवा आरम्भ की। उनको भी उन्होंने वही कौपीन पहनाया और स्नान करने के पहले शरीर में उबटन लगाना आरम्भ किया। तीसरे पहर न्यायाधीश जी का आगमन हुआ। उनको आया जान सखियों ने पुरोहित जी से कहा कि जान पड़ता है आपके आने का समाचार न्यायाधीश को मिल गया। इसीलिए वे आपको पकड़ने आए हैं। आप चुपचाप इस सन्दूक के भीतर बैठ जाइए। इस प्रकार पुरोहित को भी उसी सन्दूक में उन्होंने बन्द किया। यथाक्रम न्यायाधीश के शरीर में भी उबटन तेल लगने लगा। इसी बीच सुवर्णगुप्त

कृपा की। सखियों ने कहा "सुवर्णगुप्त वररूचि की धरोहर देने आया है। वह कहीं आप को देख ले। इसलिए आप झटपट छिप जाइए"। अतएव न्यायाधीश जी ने भी उसी सन्दूक में रक्षा पाई। उसमें अब तीन मनुष्य होगए; परन्तु उस अन्धेरी कोठरी में वे परस्पर एक दूसरे को पहचान न सकते थे और चुपचाप काँपते हुए उसीमें पड़े थे।

सुवर्णगुप्त के आने पर उपकोशा ने उसका बड़ा आदर किया और दीपक जला कर उसी कोठरी में जहां वह सन्दूक रक्खी थी, वह उसे ले गई। वहां उसने बड़ी नम्रता से मेरा धन लौटा देने की सुवर्णगुप्त से प्रार्थना की। सुवर्णगुप्त ने कहा "मैं पहलेही वादा कर चुका हूं कि जो कुछ धन तुम्हारे स्वामी का मेरे पास रक्खा है, मैं उसे ही नहीं अपना भी धन देने को तैय्यार हूं"। जब सुवर्णगुप्त यह कह चुका तब सन्दूक की ओर उँगली उठा कर उपकोशा बोली—"हे सन्दूक के देवता! सुनो, सुवर्णगुप्त क्या कहते हैं। इनके वादे को भूल मत जाना"। यह कह कर उपकोशा ने दीपक बुझा दिया। सखियों ने पूर्ववत् बहाना बतला कर सुवर्णगुप्त को कौपीन पहनाया और अभ्यङ्ग आरम्भ किया। थोड़ी ही देर में सबेरा हो गया। सुवर्णगुप्त के हाथ जोड़ने पर भी उसे उसके वस्त्राभूषण न मिले। सखियों ने उसकी गरदन में हाथ लगा कर ज़बरदस्ती उसे उसी दशा में घर से निकाल दिया। एक छोटा सा काला कौपीन पहने और शरीर भर में काजल लिपटाए हुए सुवर्णगुप्त शीघ्रता से अपने घर की ओर नङ्गा भागा। काले देव का सा उसका यह विलक्षण रूप देख कर कुत्ते, भोंकते हुए, उसके पीछे पीछे दौड़े। वह विचारा किसी प्रकार अपने घर पहुंचा। वहां अपने सेवकों से काजल धुलाते समय, लज्जा के मारे, मुँह तक उनके सामने वह न कर सका। दुराचारियों की यही दशा होती है।

[५]

दिन निकलते ही उपकोशा राजा प्रतापादित्य की सभा में पहुंची। वहां इस प्रकार बात चीत हुई।

उपकोशा—"महाराज! सुवर्णगुप्त मेरे स्वामी का रक्खा हुआ धन हज़म करना चाहता है। मैंने बहुत माँगा; परन्तु वह नहीं देता"।

राजा—"सुवर्णगुप्त को तुरन्त हाज़िर करो"।

राजा की आज्ञा पा कर दो मनुष्य उसी क्षण दौड़े गए और सुवर्णगुप्त को ले आए। उसे सम्मुख खड़े देख राजा ने पूछा—

"सुवर्णगुप्त! वररूचि की धरोहर तुम क्यों नहीं देते?"

सुवर्णगुप्त—"महारज! मेरे पास एक कौड़ी भी नहीं रक्खी; मैं देऊं क्या? उपकोशा झूठ बोलती है!" वह उपकोशा पर जल रहा था; भला क्यों वह मेरी धरोहर स्वीकार करता!

राजा—"उपकोशा! तुमने सुना, सुवर्णगुप्त ने क्या कहा? कोई तुम्हारा साक्षी है?"

उपकोशा—"हां महाराज! मेरे तीन देवता साक्षी हैं। विदेश जाने के पहले मेरे स्वामी ने उन तीनों को सन्दूक में बन्द कर दिया है। उन्हींके सामने इस धूर्त ने धन का रक्खा जाना स्वीकार किया है। आप यदि चाहें तो उस सन्दूक को मँगा कर उन देवताओं से पूछ लें।"

यह सुन कर राजा को आश्चर्य्य और कुतूहल दोनों एकही साथ हुए। उसने उस सन्दूक के लाए जाने की आज्ञा दी। कुछ देर में सात आठ आदमी उसे बड़ी कठिनता से उठा कर सभा में लाए। उसके बीच सभा में रक्खा जाने पर उपकोशा बोली—

"हे देवता! इस धूर्तने मेरे स्वामी का धन लौटाने का वादा तुम्हारे सामने किया है। तुमको वह बात स्मरण होगी। अतः उसे तुम सत्य सत्य राजा के सामने कहो। यदि न कहोगे तो मैं या तो इसी सभा में तुम्हें खोल दूंगी या तुमको

सन्दूक़ समेत जला दूंगी"। यह सुनकर उस सन्दूक़ के भीतर के तीनों मनुष्य बहुत ही भयभीत हुए। उन्होंने धीरे धीरे कहा "सुवर्णगुप्त झूठा है; उसने वररुचि की धरोहर अवश्य रक्खी है; और उसे वापस देने का वादा भी किया है"। यह सुन कर सुवर्णगुप्त ने राजा और उपकोशा से क्षमा माँगी और वररुचि का सारा धन दे कर झूठ बोलने और धोखा देने के अपराध में राजा की आज्ञा से बहुतसा धनदण्ड भी उसने दिया।

यह हो चुकने पर राजा ने उपकोशा की अनुमति से सभा में वह सन्दूक़ खुलवाई। खोलने पर वे तीनों पुरुष काजल से लिपटे हुए उसके भीतर से निकले! सबने उन्हें पहचाना। उनके रूप को देख कर सारी सभा के पेट में हँसते हँसते बल पड़ गए। राजा ने उपकोशा से उनका वृत्तान्त पूछा। उपकोशा ने उनका सारा चरित वर्णन किया। उनकी दुःशीलता का वृत्तान्त सुन कर राजा प्रतापादित्य बहुत क्रोधित हुआ। उसने उन तीनों का सर्वस्व छीन कर उनको अपने देश से निकाल दिया। उपकोशा को राजा ने, उस दिन से, अपनी बहन मानी और उसे बहुत सा धन और वस्त्रालङ्कार देकर बिदा किया।

कुछ दिन में मैं शङ्कर को प्रसन्न करके और उनसे इच्छानुकूल वर पा कर घर लौट आया। आ कर मैंने उपकोशा की चतुरता और उन तीन पुरुषों की दुःशीलता का वृत्तान्त सुना। उपकोशा के पातिव्रत पर मैं अतिशय प्रसन्न हुआ और उस दिन से फिर मैं उससे एक घड़ी भर के लिए भी जुदा नहीं हुआ।

अपनी प्रियतमा उपकोशा के इस अद्भुत चरित को मैंने अपने मित्र सोमदेव से लिख रखने के लिए कहा। उसने उसी क्षण इसे लिख लिया। वही आज मैंने यहां पर तुम्हें सुनाया है। तुमको मेरी शपथ है, इसे सच समझना।

हिसाब लगाने का यन्त्र।

विद्या के बल से मनुष्य नाना प्रकार के [illegible] बना कर जगत का बहुत कुछ उप[illegible] कर सकता है। रेल, तार, तापमापक य[illegible] और दूरबीन इत्यादि विद्या ही के बल से मनु[illegible] ने बनाए हैं। उनसे लोगों के अनेक उप[illegible] होते हैं और उनकी अद्भुत कला देख [illegible] बनानेवालों की बारंबार प्रशंसा किए [illegible] नहीं रहा जाता। छापने के, सूत कातने [illegible] कपड़ा बिनने के और चित्र उतारने के य[illegible] का नाम प्रायः सभी ने सुना होगा। सुना [illegible] नहीं, आप लोगों में से किसी किसी ने दे[illegible] भी होगा। परन्तु, हिसाब लगाने का य[illegible] शायद न देखा होगा। इस लिये हम यहां [illegible] उसका कुछ हाल लिखते हैं।

हिसाब लगाने का यन्त्र पहले पहल सन् १[illegible] ई० में पासकल नाम के एक साहब ने बनाय[illegible] यह यन्त्र घड़ी की डौल का था। उसके भी[illegible] घड़ी के ऐसे अनेक चक्र थे। उनके ऊपर १[illegible] अंक खुदे हुए थे। चक्रों के ऊपर एक पटरी [illegible] थी जिसमें छेद थे। इन छेदों की चार पाँतें बरा[illegible] बराबर एक दूसरी के नीचे थीं। उन पाँतों [illegible] नीचे एक लकीर थी। छेद इस प्रकार बनाए [illegible] थे कि उनके भीतर से चक्रों के ऊपर खुदे हुए [illegible] देख पड़ते थे। उस यन्त्र में केवल जोड़ ल[illegible] जा सकता था; सो भी केवल, चार पाँतों [illegible] अधिक का नहीं। छेदों की प्रत्येक पाँत के [illegible] एक एक कीली सी थी। उसके फिराने से प्र[illegible] पाँत के छेदों की जगह, फिरानेवाले की इच्छानु[illegible] अंक आ जाते थे। इस प्रकार चारों पाँतों में [illegible] रखने के अनन्तर उन चारों के नीचे की लकी[illegible] शून्य रखने पड़ते थे। फिर यन्त्र की चाभी घुमा[illegible] पड़ती थी, जिसके घुमाते ही यन्त्र के भीतर के [illegible] चक्कर फिरने लगते थे। कई सेकंड में उनका फि[illegible] बन्द होजाता था। उस समय उस पांचवीं ल[illegible]

मे, जहां सब शून्य ही शून्य थे, ऊपर की चारों पाँतों का जोड़ आजाता था। उस यन्त्र में यह दोष था कि जोड़ के सिवाय वह बाक़ी, गुणा और भाग का काम न देता था।

१८२१ ई० में सरकार अंगरेज़ की आज्ञानुसार बाँबेज नाम के एक विद्वान ने पासकल साहब के यन्त्र में यहां तक सुधार किया कि उसमें आठ पाँतों तक का जोड़ लगने लगा और बाक़ी भी उसमें निकलने लगी। इस यन्त्र को सरकार ने पसन्द किया और बाँबेज साहब को ख़र्च इत्यादि मिलाकर कोई दो लाख रुपए मिले। इस यन्त्र में अब अनेक फेरफार किए गए हैं। अब इसमें अनेक संख्याओं का जोड़ भी लग जाता है। दस करोड़ तक बाक़ी भी निकल सकती है; और दस करोड़ तक की संख्याओं को एक लाख तक से गुणा भी कर सकते हैं और उनमें उतने ही से भाग भी दे सकते हैं। सबसे आश्चर्य की बात इस यन्त्र में यह है कि हिसाब कर चुकने पर इस बात का प्रमाण भी मिल जाता है कि उत्तर ठीक है अथवा नहीं। इससे अधिक सुधार और क्या हो सकता है? जिस महात्मा ने इस उपयोगी यन्त्र को बनाया उसकी बुद्धि की जितनी प्रशंसा की जाय थोड़ी है। ये यन्त्र अब इस देश में भी आ गए हैं। जिन दफ़्तरों में हिसाब का अधिक काम रहता है उनमें ये बराबर काम में लाए जाते हैं। उनकी सहायता से लाखों और करोड़ों का जोड़, गुणा और भाग एक पल भरमें निकल आता है और उत्तर ठीक है अथवा नहीं इसका प्रमाण भी उसी क्षण मिल जाता है।

जलमानुस।

ईश्वर ने अनेक अद्भुत अद्भुत प्राणी उत्पन्न किए हैं। बनमानुस ही बना कर वह चुप नहीं रहा। उसने जलमानुस भी बनाया है। जहां तक हम जानते हैं किसीने यह बात कहीं नहीं लिख रक्खी कि इसदेश में भी जल मानुष पाया जाता है अथवा नहीं; परन्तु और और देशों में इस जीवधारी के विषय में अनेक बातें लिख रक्खी गई हैं।

सन १७३१ इसवी में हंगरी देश के साँगी नामक गाँव में एक जंगली स्त्री देखी गई। उसका मुँह और उसके हाथ काले थे और उन पर एक प्रकार के धब्बे थे। उसको देखकर लोग उसके पीछे दौड़े और उसे पकड़ने का यत्न करने लगे; परन्तु वह दौड़ कर एक पेड़ पर चढ़ गई और किसी प्रकार नीचे न उतरी। उसके उदासीन मुंह को देख कर लोगों ने जाना कि वह प्यासी है; इस लिए उन्होंने पेड़ के नीचे पानी रख दिया और वहाँ से वे हट गए। पानी को देखकर वह जंगली स्त्री पेड़ से नीचे उतर आई और उसे पी कर फिर पेड़ पर चढ़ गई। थोड़ी देर में उन लोगों ने दो चार फल वहाँ रख दिए और कुछ दूर पर उसे पकड़ने के लिए छिप रहे। जब वह फल लेने के लिए नीचे उतरी तब उन्होंने उसे पकड़ लिया।

उन आदमियों में से एक का नाम विस्कौण्ट था, वह उसे अपने घर ले आया। घर में आकर उस स्त्री ने एक बतख़ देखी और उसे पकड़ कर वह खागई। यह देख कर एक जीता खरहा उसके सामने लाया गया। उसे भी मार कर चमड़े समेत वह खागई। यदि वह कभी छूट जाती तो बड़ी कठिनता से पकड़ाई देती। वह जाति की जल-मानुस थी; इसलिए जब वह किसी तालाब में छोड़ी जाती तब वह बहुत प्रसन्न होती और जल की चिड़ियों के समान तैरने लगती। उसे मेंढ़क बहुत पसन्द थे। पानी में दौड़ती हुई मछलियों को वह बिना किसी कठिनता के पकड़ लेती और बाहर निकल कर उन्हें बड़े प्रेम से खाती। एक दिन विस्कौण्ट ने अपने दो चार मित्रों को भोजन के लिए बुलाया। जिस समय वे लोग भोजन कर रहे थे उस समय वह स्त्री बहुत से मेंढ़क लेकर वहां पहुंच गई और वहीं पर उन्हें फाड़ फाड़ कर

खाने लगी। उसे इस प्रकार मेढ़क खाते देख कोई हँसने लगा, कोई क्रोधित होने लगा और कोई भोजन करना छोड़ वहां से उठ गया। उस गांव से वह फ़्रांस की राजधानी पेरिस को भेज दी गई और वहीं वह मरी।

१७४९ ईसवी में हङ्गरी में दो मछुओं को एक जल-मानुस मिला। वह दस बारह वर्ष के लड़के के बराबर था। उसके हाथ पैर मनुष्य के हाथ पैर के समान थे; परन्तु अँगुलियाँ मनुष्य की अँगुलियों से बहुत बड़ी थीं। उसका सिर गोला था और आँखें छोटी थीं। मुँह चौड़ा था और नाक तोते की चोंच के समान आगे को निकली हुई थी। हङ्गरी के राजा ने उसे उन मछुओं से मोल ले लिया और उसे शिक्षा देने का बहुत प्रयत्न किया; परन्तु वह कुछ न सीख सका। पहले वह अपने शरीर पर कपड़े ही न रहने देता था, परन्तु कुछ दिनों में वह उन्हें रहने देने लगा। उसकी कमर में रस्सी बाँध कर एक तालाब में उसे छोड़ देते थे। पानी में कभी वह तैरता, कभी डुबकी लगाता और कभी लड़कों के समान पानी से खेला करता। पानी से निकलने की उसे इच्छा ही न होती। बड़ी कठिनता से बल-पूर्वक उसे पानी से निकालना पड़ता। एक बार उसकी कमर से रस्सी खुल गई; इससे वह पानी ही पानी न जानें कहां चला गया। एक दिन वह पास की नदी में तैरता हुआ देखा गया; परन्तु अनेक प्रयत्न करने पर भी उसने न पकड़ाई दिया।

१७२५ ईसवी में हामेन नगर के निकट भी एक जल-मानुस मिला। वह बन्दर के समान हाथों और पैरों से चलता था और पेड़ों पर दौड़ा करता था। उसकी अवस्था बारह तेरह वर्ष की जान पड़ती थी। वह मनुष्य हानोवर नगर में लाया गया और राजा जार्ज को भेंट किया गया। राजा के यहां से एक दिन वह छूट गया और छूट कर जङ्गल में एक ऊंचे वृक्ष पर जा बैठा। वहां से वह बड़ी कठिनता से पकड़ कर लाया गया। उसे सिखलाने के लिए अनेक प्रयत्न किए गए, परन्तु सब [व्यर्थ] हुए। वह ऐसा जङ्गली था कि बड़ी कठिनता से अपने शरीर पर कपड़े रहने देता था। उसे बिछौना अच्छा न लगता था। वह अपने हाथ पैर अपने [पेट] पर रख कर, पेड़ पर सोने के समान, सिकुड़ा हुआ एक जगह सो जाया करता था।

१७२६ ईसवी में वह इङ्गलैण्ड भर में सब [को] दिखलाने के लिए फिराया गया। एक बार एक साहब उसे देखने गए थे। वे लिखते हैं कि जब [वह] किसी को गाते सुनता था तब वह प्रसन्न हो[कर] ताली बजाने लगता था; और अपना सिर हि[ला] हिला कर अपनी प्रसन्नता प्रकट करता था। कि[सी] के मुँह से जो गीत वह सुनता था उसको वह न[कल] करने लगता था और देर तक मन ही मन गु[न]गुनाया करता था। उसे क्रोध बहुधा कम आ[ता] था, परन्तु जब आता था तब वह अपने हाथ अपने ही आप चबाने लगता था। कभी कभी [वह] काम भी करता था; परन्तु यदि कोई उसे देख[ता] न रहै तो वह उसे बिगाड़ भी डालता था। [एक] बार उसने खाद की गाड़ी को एक पल भर[में] भर दिया; परन्तु जो आदमी उससे काम ले[ता] था, वह ज्यों ही वहां से हटा त्यों ही बात की बा[त] में उस जल-मनुष्य ने खाद को फेंक कर गाड़ी ख़ाली भी कर दिया। १७८५ ईसवी में उस ज[ल-]मनुष्य की हर्टफोर्टशायर में मृत्यु हुई।

मङ्गल।

अङ्गारकः कुजो भौमो लोहिताङ्गो महीसुतः—अमरको[श]

प्राचीन ग्रीक और रोमन लोग मङ्गल [को] युद्ध और विग्रह का देवता मानते [थे।] वे समझते थे कि मङ्गल, जिसे वे मार्स कहते [थे—] यही नाम उसका अब तक प्रचलित है—जब कु[पित] होता है तभी युद्ध और विग्रह होते हैं; और [जब] वह प्रसन्न रहता है तब उनकी शान्ति रहती [है।] इसलिए वे नाना प्रकार के पूजा पाठ और बलिप्र[दान]
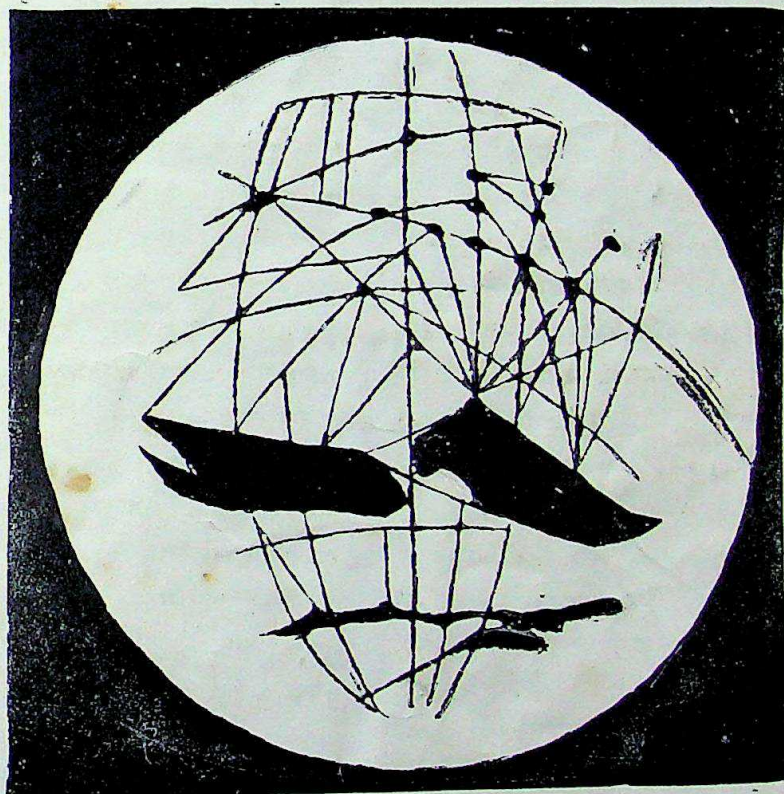
मङ्गलग्रह का छायाचित्र।
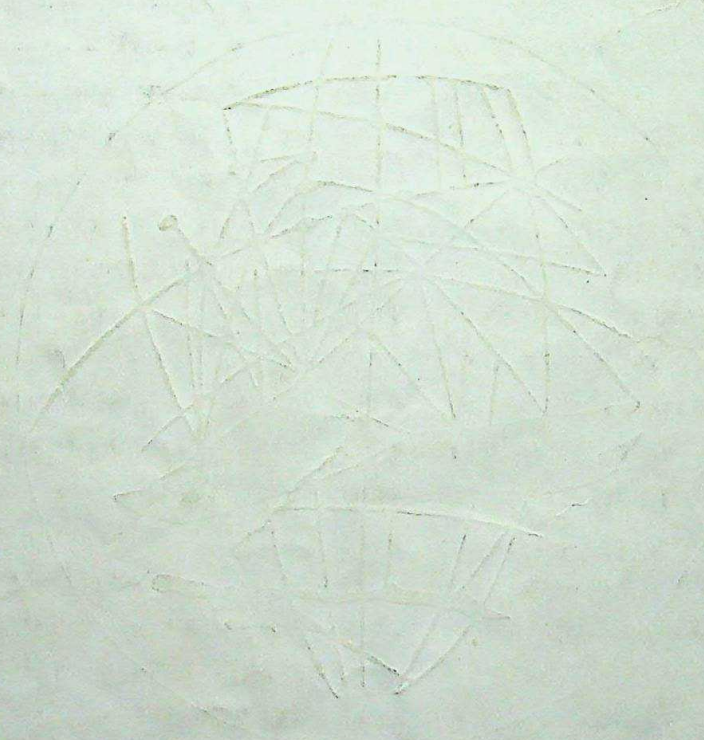
उसे प्रसन्न रखने की चेष्टाएं किया करते थे। यद्यपि इस ग्रह का नाम मङ्गल है, तथापि वे लोग इसे महा अमाङ्गलिक मानते थे और इसे बुरी दृष्टि से देखते थे। इस देश में भी फलित-ज्योतिष पर विश्वास रखनेवाले मङ्गली लड़के के लिए मङ्गली ही कन्या ढूंढ़ते फिरते हैं। वे समझते हैं, कि विग्रह-शील मङ्गल का जिसपर अधिक बल पड़ता है, उसके लिए वैसेही लक्षणवाला साथी भी चाहिए; नहीं तो उसके प्राण जाने की शङ्का रहती है; और यदि ऐसा न भी हुआ, तो परस्पर खटपट तो अवश्यही हुआ करती है। परन्तु बिचारा मङ्गल इन अपवादों का पात्र नहीं है। वह निरपराध है; वह एक दूसरे से युद्ध करा देने, अथवा एक के द्वारा दूसरे की हिंसा करने का अपराध नहीं लगाया जा सकता। वह हस्त-पाद-हीन, सेना-विहीन, बिना किसी प्रकार की शस्त्र सामग्री के, हमारी पृथ्वी के समान ही, एक ग्रह है। वह भी एक पिण्ड है जो पृथ्वी के समान सूर्य की प्रदक्षिणा करता हुआ आकाश में विद्यमान है। यदि उसे यह विदित होता कि लोग उसको ऐसा बुरा समझते हैं; और यदि वह बदला लेना चाहता तो, शायद, वह अपनी एक आध खाड़ी अथवा एक आध नहर को-ऐसे नहर उसमें अनेक विदित हुए हैं-पृथ्वी की ओर बहा कर एक दिन प्रलय कर देता!

ऊपर जो श्लोक हमने उद्धृत किया है उसमें मङ्गल की नामावली है। कोशों में उसके प्रायः पांच नाम पाए जाते हैं। वे नाम उसके रंग और उसकी उत्पत्ति के सूचक हैं। अङ्गारक और लोहिताङ्ग से सूचित होता है कि मङ्गल का रङ्ग अङ्गार के समान लाल है। और कुज, भौम, महीसुत आदि से सूचित होता है कि वह पृथ्वी का पुत्र है, अर्थात् पृथ्वी से उत्पन्न हुआ है। मङ्गल का रङ्ग लाल है और वह अनेक बातों में पृथ्वी से सदृशता रखता है। ये बातें आधुनिक ज्योतिषियों ने मङ्गल के बिम्ब को दूरबीन से देख कर सत्य सिद्ध की हैं। मङ्गल का सादृश्य पृथ्वी से इतना अधिक है कि यदि किसी दिन हम उस तक पहुंच जावें, और वहां घूमते घूमते मार्ग भूल जावें, तो हम यही न जान सकें कि हम हैं कहाँ-पृथ्वी पर अथवा मङ्गल पर! चन्द्रमा पृथ्वी का उपग्रह है; वह पृथ्वी की प्रदक्षिणा किया करता है। अतएव यदि चन्द्रदेव दयालु होकर, हमारे संशय की निवृत्ति न करें तो, अमेरिका, जापान अथवा इङ्गलेण्ड में पहुंचने की आशा रख कर, मङ्गल पर रहनेवाले लोगों के बीच पहुंचने का हमको बड़ा भय रहे! मङ्गल का बहुत कुछ सच्चा वृत्तान्त पाश्चात्य ज्योतिषियों को अभी विदित हुआ है; परन्तु बिना आज कल की दूरबीन के उसके रूप, रङ्ग, परिमाण और गति का ज्ञान हमारे प्राचीन आचार्यों ने हज़ारों वर्ष पहलेही प्राप्त कर लिया था। इससे उन आर्य विद्वानों की प्रचण्ड पण्डिताई और गम्भीर गवेषणा-शक्ति प्रकट होती है। यह आश्चर्य्य की बात है। हमारे लिए यह गर्व की भी बात है। परन्तु साथही, हमारे लिए, यह लज्जा का भी विषय है कि जिनके पूर्वजों ने बांस की नलियों से ग्रहों का वेध करके अनेक सत्य सिद्धान्त स्थिर किए, उनके वंशज बड़ी बड़ी दूरबीनों के होते भी कुछ न कर सकें!

इसका उल्लेख कहीं किसी ग्रन्थ में नहीं मिलता कि मङ्गल भूमि का पुत्र अथवा भूमि से उत्पन्न क्यों कहलाया। मङ्गल पृथ्वी से बहुत छोटा है। विद्वानों का अनुमान है कि पृथ्वी और मङ्गल दोनों मिल कर पहले एक ही पिण्ड-एक ही ग्रह, एक ही लोक-रहा होगा। आकाश में मनोवेग से घूमते घूमते, किसी समय, किसी दुर्योगवश, किसी दूसरे पिण्ड से कदाचित् पृथ्वी टकरा गई हो; और इस प्राकृतिक दुर्घटना के कारण उसके दो भाग हो गए हों-एक छोटा और एक बड़ा। उसका वही छोटा भाग मङ्गल हो। जो जिससे उत्पन्न होता है, उसमें उसके प्रायः सभी लक्षण पाये जाते हैं। मङ्गल में भी पृथ्वी की सदृशता अनेक प्रकार से है। इस लिए यह अनुमान निर्मूलक नहीं जान

पड़ता। आकाशगामी तारकादिक पिण्डों का एक दूसरे से टकरा कर टुकड़े टुकड़े हो जाना और उन टुकड़ों का फिर भी घूमते रहना कोई आश्चर्य्य की बात नहीं। ऐसी घटनाएं हुवा ही करती हैं; और ज्योतिष-शास्त्र के विद्वान् उनको बिना किसी शङ्का के स्वीकार करते हैं।

मङ्गल का व्यास लगभग ४,४०० मील है। सूर्य से मङ्गल की सबसे अधिक दूरी १५२,३०४,००० मील और सबसे कम १२६,३१८,००० मील है। इन दोनों प्रकार की दूरियों के योग का आधा अर्थात् सूर्य से मङ्गल की माध्यमिक दूरी १३९, ३११,००० मील है। घूमते घूमते जब मङ्गल सूर्य के बहुत निकट आ जाता है, तब भी वह १२ करोड़ मील से भी अधिक अन्तर पर रहता है। वह पृथ्वी की भाँति पश्चिम से पूर्व की ओर घूमता है और कुछ कम ६८७ दिन में एक बार सूर्य की परिक्रमा कर चुकता है। अपनी कील के चारों ओर घूमने में उसे २४ घण्टे, ३७ मिनट और २३ सेकण्ड लगते हैं। इससे यह जाना जाता है कि मङ्गल के रात दिन का मान पृथ्वी के रातदिन के मान से कोई ४१ मिनिट बड़ा है; क्योंकि पृथ्वी को अपनी कील पर घूमने में २३ घण्टे ५६ ही मिनिट लगते हैं। जिस समय मङ्गल सूर्य से अत्यन्त दूर अर्थात् उच्च स्थिति में होता है उस समय उसमें ·३६० के हिसाब से प्रकाश पहुंचता है। और जिस समय वह सूर्य से अत्यन्त निकट अर्थात् नीच-स्थिति में होता है, उस समय ०·५२४ के हिसाब से प्रकाश पहुंचता है।

पृथ्वी की कक्षा के सबसे निकट शुक्र की कक्षा है। उसके अनन्तर मङ्गल की कक्षा है। अर्थात् शुक्र को छोड़ कर और ग्रहों की अपेक्षा मङ्गल ही पृथ्वी के बहुत निकट है। मङ्गल का परिमाण पृथ्वी के परिमाण के एक-नवांश ($\frac{1}{9}$) से कुछ अधिक है; और उसकी घनता पृथ्वी की घनता के सप्त-दशांश ($\frac{7}{10}$) के बराबर है। मङ्गल की कक्षा पृथ्वी के क्रान्तिवृत्त से कोई डेढ़ अंश झुकी हुई है। उच्च स्थिति के समय पृथ्वी से मङ्गल की दूरी ६१,८००,००० मील और नीच-स्थिति के स[मय] ३३,८००,००० मील रहती है। अर्थात् पृथ्वी से [वह] कम से कम ३ करोड़ मील दूर रहता ही है। म[ङ्गल] जब सूर्य से अत्यन्त दूर हो जाता है तब उ[से] जितना प्रकाश मिलता है, उससे पँचगुना उसे [उस] समय मिलता है जब वह सूर्य के अत्यन्त नि[कट] आ जाता है। प्रति सातवें वर्ष वह पृथ्वी के [बहुत] निकट आ जाता है; और प्रति पन्द्रहवें वर्ष उस[की] निकटता और भी विशेष बढ़ जाती है। इस अ[वस्था] में वह सूर्य से कोई ६ अंश पर आ जाता है; इसलि[ए] उसका बिम्ब बहुत ही प्रकाशवान् दिखलाई दे[ता] है; और सन्ध्या से उदय हो कर प्रातःकाल [तक] बराबर बना रहता है। मङ्गल की यह सन्निकट[ता] प्रति ७९वें वर्ष अत्यन्त अधिक हो जाती है। १७[१९] ई० में वह सूर्य से २½ अंश पर आ गया था। [और] एव उसका बिम्ब इतना प्रकाशवान् दिख[लाई] दिया था कि उसे देख कर ज्योतिषियों को भ्र[म] हुआ कि यह कोई दूसरा ही ग्रह है। १७९८ [और] १८७७ ईसवी में भी वह वैसा ही तेजोमय दिख[लाई] दिया; और १९५६ में फिर वह उसी प्रकार प्रका[श]वान् देख पड़ैगा।

मङ्गल भी और और ग्रहों के समान [स्वयं] प्रकाशवान् नहीं; उसे भी सूर्य ही से प्रकाश मि[लता] है। उसका आकार प्रायः पृथ्वी के आकार [के] समान गोल है। उसमें भी उत्तर-दक्षिण दो [ध्रुव] हैं। ये ध्रुव और भागों की अपेक्षा विशेष प्रका[शित] दिखलाई देते हैं। ज्योतिषियों का अनुमान है [कि] मङ्गल के दोनों ध्रुव वर्फ से ढके हुए हैं। इसी[से] वे अधिक प्रकाशित जान पड़ते हैं। पृथ्वी के [ध्रुवों] के समान मङ्गल के ध्रुव भी चिपटे हैं। [इस] चिपटेपन का परिमाण लगभग २२ मील है। पा[श्चात्य] ज्योतिषियों के द्वारा मङ्गल के अनेक छाया-[चित्र] लिए गए हैं। २४ मई, १८९४ ई० से आरम्भ [करके] अप्रैल, १८९५ तक उसके ९१७ चित्र उतारे गए [थे]।

मङ्गल के दो उपग्रह भी हैं। उनका [पता] १८७७ ईसवी में लगा है। एक का नाम [...]

और दूसरे का फोबस है। ये दोनों मङ्गल की परिक्रमा करते रहते हैं। डीमस की दूरी मङ्गल से १४,६०० मील और फोबस की ५,८०० मील है। इन उपग्रहों में से पहले का व्यास कोई १० और दूसरे का कोई ३६ मील है। अर्थात् इनका आकार बहुत ही छोटा है। डीमस ३० घण्टे १८ मिनिट में और फोबस ७ घण्टे ३९ मिनिट में मङ्गल की परिक्रमा कर आते हैं।

पृथ्वी को दूर से देखने में उसका रङ्ग कुछ कुछ हरा दिखलाई देता है। पृथ्वी के चारों ओर वायुमण्डल है; और उसके ऊपर अनन्त वृक्ष और लता आदिक विद्यमान हैं। समुद्र भी उसको घेरे रहे हैं। इन्हीं कारणों से उसके रङ्ग में हरापन दिखलाई देता है। परन्तु मङ्गल का रङ्ग ऐसा नहीं है। वह कुछ कुछ लाल है। इसी लिए उसे "लोहिताङ्ग" संज्ञा प्राप्त हुई है। नेत्र से भी देखने से उसका प्रकाश अरुणाई लिए हुए देख पड़ता है। यह अरुणाई दूरबीन से और भी अधिक देख पड़ती है। ज्योतिषियों का कथन है कि, ध्रुवों को छोड़ कर मङ्गल में राजपूताना, अरब और अफरीका के रेतीले मैदानों के समान वालुका बहुत है। इसी लिए उसका रङ्ग लालिमा लिए हुए दिखलाई देता है।

अच्छे दूरबीन से देखने पर मङ्गल के पृष्ठ पर अद्भुत दृश्य दिखलाई देता है। जान पड़ता है काली काली सैकड़ों लकीरें उस पर फैली हुई हैं। कोई पतली हैं; कोई मोटी है; कोई दूर तक चली गई हैं; कोई थोड़ी ही दूर में समाप्त होगई है। इस ग्रह के ऊपर, दो स्थलों में, बहुत ही अधिक कालिमा दिखलाई देती है और उस कालिमा से दो दो तीन तीन भुजायें सी निकली हुई हैं। यह बात इस संख्या में दिए गए चित्र में स्पष्ट देख पड़ेगी।

ज्योतिषियों ने अनुमान किया है कि मङ्गल पर जहां जहां कालिमा देख पड़ती है, वहां वहां जल है। अर्थात् पतली पतली सुडौल धारियां, नहर अथवा दरियां हैं, और बहुत मोटी तथा बेडौल धारियां झीलें हैं। जहां कालिमा का ढेर दिखलाई देता है, वहां कास्पियन समुद्र के समान विस्तृत जल-राशि है। मङ्गल के जो पुराने और नए चित्र निकाले गए हैं उनको परस्पर मिलाने से कुछ अन्तर पड़ता है; परन्तु धारियों के सम्बन्ध में नवीन और प्राचीन वेध-कर्ता ज्योतिषियों के मत में कोई अन्तर नहीं है।

पृथ्वी पर हिमालय के समान ऊंचे ऊंचे पर्वत हैं; परन्तु पृथ्वी के पुत्र मङ्गल पर कोई पर्वत नहीं दिखलाई देते। यदि होंगे भी तो बहुत छोटी छोटी पहाड़ियां होंगी; ऊंचे पर्वत नहीं। मङ्गल पृथ्वी से बहुत छोटा है; इसलिए उसके भीतर अब इतनी उष्णता नहीं रह गई जितनी पृथ्वी में है। इसका यह कारण है कि जो पदार्थ जितना छोटा होता है, उतना ही शीघ्र वह उष्णताहीन हो जाता है। अर्थात् छोटे पदार्थों की गरमी बड़े पदार्थों की अपेक्षा शीघ्र निकल जाती है, और वे शीघ्रही शीतल हो जाते हैं। उष्णता ही जीवन का आधार है। शरीर में जब तक उष्णता है तभी तक प्राण हैं; उष्णता न रहने से प्राण भी नहीं रहते। इसी सिद्धान्त के अनुसार, कम उष्णता रह जाने के कारण, मङ्गल वृद्ध हो चला है। उसके समुद्र सूखने लगे हैं; और सम्भव है कि किसी समय वह पूरा मरूस्थल हो जावे; और उसपर बिना जल कोई जीव न रह सके। कदाचित् जल की न्यूनताही के कारण उसपर इतने नहर दिखलाई पड़ते हों। उत्तरीय और दक्षिणीय ध्रुवों में सरदी अधिक होने के कारण बर्फ अधिकता से जमती है। यह बर्फ गरमी में गलती है। कदाचित् इस गली हुई बर्फही के प्रवाहों को मङ्गलवासी काट कर सब ओर ले जाते हों और उनसे कृषि इत्यादि की सिँचाई भी करते हों; और जीवन के और व्यापार भी निर्वाह करते हों।

ग्रहों की कक्षा के हिसाब से ऋतुओं में परिवर्तन होता है। जिस ग्रह का कक्षा-वृत्त जितना बड़ा होता है, उतना ही उसके उत्तरीय और दक्षिणीय भागों की ऋतुओं में अधिक अन्तर पड़ता

है। पृथ्वी की भाँति मङ्गल पर भी ऋतुओं में परिवर्तन हुआ करता है। पृथ्वी के जो दो गोलार्द्ध हैं, उनकी ऋतुओं में प्रायः एक सप्ताह का अन्तर रहता है। परन्तु मङ्गल के गोलार्द्धों में यह अन्तर ७८ दिन का होता है। अर्थात् यदि उतरी गोलार्द्ध में आज जाड़ा आरम्भ हुआ तो दक्षिणी में आज के ७८ दिन पीछे वह आरम्भ होगा।

जीवधारियों के लिए जल, वायु और प्रकाश की बड़ी आवश्यकता होती है। जहां जल और वायु नहीं है, वहां कोई प्राणधारी नहीं रह सकता। इस वर्ष की सरस्वती के पहले अङ्क में एक लेख प्रकाशित हुआ है। उसमें ग्रहों पर जीवधारियों के होने की सम्भावना का वर्णन है। उसमें यह सिद्ध किया गया है कि मङ्गल में जल भी है और वायु भी है। अतएव उसपर प्राणियों का होना सर्वथा सम्भव है। फिर चाहे वे प्राणी पृथ्वी के प्राणधारियों के सदृश हों, चाहे विसदृश हों। आज कल विज्ञान की जैसी उन्नति हो रही है, यदि ऐसी ही होती गई, तो शायद किसी दिन हमलोग मङ्गल के निवासियों को दूरबीन से प्रत्यक्ष देख सकें। सम्भव है कोई दिन ऐसा भी आवै कि पृथ्वीवासी मङ्गलवालों से, किसी प्रकार, बात चीत भी कर सकें। पवन-नौकायें भी बन रही हैं; व्योम-यान भी उड़ रहे हैं; पंख लगा कर मनुष्य आकाश में उड़ान तक कर रहे हैं! तोप के गोलों के भीतर बैठ कर कोई कोई साहसी पुरुष चन्द्र-लोक में पहुँचने का प्रयत्न तक कर रहे हैं!! अतएव आश्चर्य्य नहीं, कि इस लोकवाले, एक दिन, पृथ्वी के पुत्र की अभ्यर्थना के लिए, चिरकाल से छूटी हुई उसकी माता का कोई उपायन ले कर, उसपर पहुँच जावें!!!*

---

* पण्डित अच्युतप्रसाद द्विवेदी ने मङ्गल के विषय में एक बहुत बड़ा और बहुत मनोरंजक लेख लिखा है। उसीको देखने से हमें यह लेख लिखने में प्रवृत्ति हुई। अतएव हम उनको अनेक धन्यवाद देते हैं - सम्पादक।

लोलिम्बराज।

हिन्दी की सामयिक पुस्तकों में संस्कृत भा[षा]
के कवियों पर लेख लिखना और उन[की]
कविता के नमूने दिखलाना किसी किसी की सम[झ]
में अनुचित जचता है। उनका यह कहना [है]
कि जिस भाषा की पुस्तक हो, उसमें उसी भाषा [के]
कवियों पर निबन्ध आने चाहिएं। हमारा मत इस[के]
विपरीत है। हम इसका कोई कारण नहीं दे[खते]
कि हिन्दी की सामयिक पुस्तकों में अँगरे[ज़ी]
फ़ारसी, बँगला अथवा मराठी आदि भाषाओं [के]
कवियों और विद्वानों के विषय में लेख क्यों
प्रकाशित किए जावें और उन लेखों के द्वारा उ[न]
उन कवियों और विद्वानों की अलौकिक प्रतिभा [के]
उदाहरणों से पढ़नेवालों का मनोरञ्जन क्यों न कि[या]
जावै? फिर, संस्कृत भाषा हमारी मातृभा[षा]
हिन्दी की जननी है और उसके परिशीलन [की]
ओर प्रवृत्ति होना इस प्रान्त—नहीं इस देश-
निवासियों का परम धर्म्म है। संस्कृत के कवि[यों]
की कविता की आलोचना पढ़ने और उनके च[रित्र]
का थोड़ा बहुत ज्ञान होने से उस भाषा की [ओर]
मनुष्यों की प्रवृत्ति होना अधिक सम्भव है। अत[एव]
ऐसे निबन्धोंके प्रकाशित होने में मनोरञ्जन भ[ी]
और उसके साथ ही लाभ भी है।

वैद्यक विद्या के जाननेवाले संस्कृतज्ञ लोलि[म्ब]
राज से, औरों की अपेक्षा अधिक, परिचित [हैं]
क्योंकि लोलिम्बराज का प्रसिद्ध ग्रन्थ "वैद्यजी[वन]
चिकित्सा शास्त्र का ग्रन्थ है। परन्तु लोलिम्ब[राज]
वैद्यही नहीं, किन्तु एक प्रसिद्ध कवि और र[सिक]
विद्वान थे। आज उनके और उनके ग्रन्थों के वि[षय]
में, यहां पर, हम कुछ लिखना चाहते हैं।

किसी प्राचीन विद्वान् के विषय में कुछ लि[खने]
के लिए लेखनी उठाते ही पहले यह प्रश्न उठत[ा है]
कि वह कौन था, कब हुआ, कहां रहा और उ[सने]
कौन कौन ग्रन्थ लिखे। परन्तु इन बातों का उ[त्तर]
देने में प्रायः हत-सफल होना पड़ता है। यह

की बात है; परन्तु क्या किया जाय, वश नहीं। किसी किसी बिरले विद्वान् को छोड़कर औरों ने अपने ग्रन्थों में अपने विषय में कुछ लिखा ही नहीं। और लिखा भी है तो बहुत थोड़ा। जिसने कुछ लिखा भी है, उसने अपने लेख में ऐसी अत्युक्तियां कही हैं, और उस लेख को कवितारूपी वेष्टन में इतना लपेटा है कि, उसमें से ऐतिहासिक तत्व को ढूंढ़ निकालना बड़ी कठिनता का काम है।

लोलिम्बराज भी उपर्युक्त दोष से नहीं बचे। वे अपने ग्रन्थों में अपने लिए कहते हैं—

"हमने अपनी जंघा का मांस अग्नि में हवन करके पार्वती को प्रसन्न किया; पार्वती ने हमको दूध पिलाया। हम एक घड़ी में १०० श्लोक बना सकते हैं। हम कवियों के नायक हैं। हम कवियों के बादशाह हैं। गानविद्या जाननेवालों की हम सीमा हैं। राजाओं की सभा के हम भूषण हैं"।

यह सब कुछ अपनी प्रशंसा में आपने लिखा; परन्तु यह न लिखा कि आप कहां उत्पन्न हुए; कब उत्पन्न हुए और कौन कौन ग्रन्थ आपने बनाए। अस्तु।

लोलिम्बराज के बनाए तीन ग्रन्थ पाए जाते हैं। वैद्यजीवन, वैद्यावतंस और हरिविलास। ये तीनों छप गए हैं। इनमें से पहले दो वैद्यक-विषय के हैं और अन्तिम में कृष्ण का चरित है। इनके ग्रन्थों में पहला वैद्यजीवन ही अधिक प्रसिद्ध है। तीसरे अर्थात् हरिविलास में नन्द के घर कृष्ण के पहुंचाए जाने से ले कर उद्धव-सन्देश तक की कथा है। काशी से निकलनेवाली काशी-विद्या-सुधानिधि नामक संस्कृत पुस्तक के दूसरे भाग के सोलहवें अङ्क में, लोलिम्बराज के विषय में, पण्डित बेचनराम शर्म्मा इस प्रकार लिखते हैं—

दिवाकर सूरि के सुत लोलिम्बराज राजा भोज के समकालीन सूर्य नामक नरेश के पुत्र हरिहर की सभा के पण्डित थे। वे दाक्षिणात्य ब्राह्मण थे; बड़े विषयी थे; महामूर्ख थे। उनका बड़ा भाई जीविका के लिए देश विदेश घूमा करता था और वे दिन रात न जाने कहां रह कर भोजन के समय घर में उपस्थित होते थे और अपने बड़े भाई की स्त्री के परोसे हुए भोजन को आकण्ठ खा कर फिर बाहर चले जाते थे। एक दिन उनकी दुर्वृत्ति से अत्यन्त खिन्न होकर उनके भाई की स्त्री ने उनके सामने से थाली खींच ली और क्रुद्ध हो कर कहा—"रे दुष्ट! घर से आज ही तू निकल जा। आज तक व्यर्थ ही मैंने तेरा पालन पोषण किया"। ये वाक्य लोलिम्बराज को विष में बुझाए हुए बाण के समान लगे। वे तुरन्त घर से बाहर हो गए और दक्षिण के सप्तशृङ्ग नामक पर्वत पर जा कर वहां स्थापित की हुई अट्ठारह भुजावाली देवी की, विद्याप्राप्ति के निमित्त, तपस्या करने लगे। लोलिम्बराज की तपस्या से प्रसन्न हो कर देवी ने उनको 'तथास्तु' कह कर उनकी कामना पूरी की। तबसे लोलिम्बराज महाकवि, महा पण्डित, महान् गायक और महान् वैद्य हो गए।

बेचनराम जी ने इस वार्ता को 'जनश्रुति' कहा है। यद्यपि इस विषय का प्रामाणिक लेख हमको कहीं नहीं मिला, तथापि इसकी कुछ सूचना लोलिम्बराज के ग्रन्थों में मिलती है। यथा—

रत्नं वामदृशां दृशां सुखकरं श्री सप्तशृङ्गास्पदं
स्पष्टाष्टादशबाहु तद्भगवतो भर्गस्य भाग्यं भजे।
यद्भक्तेन मया घटस्तनि! घटीमध्ये समुत्पाद्यते
पद्यानां शतमङ्गनाधरसुधास्पर्धाविधानोद्धुरम्॥

वैद्यजीवन में लोलिम्बराज अपनी स्त्री से कहते हैं—हे घटस्तनि! स्त्रियों में रत्नस्वरूपिणी, नेत्रानन्ददायिनी, सप्तशृङ्ग-पर्वतनिवासिनी, अट्ठारह भुजाशालिनी भगवान् वामदेव की उस शक्ति का मैं भजन करता हूं जिसका भक्त मैं, सुलोचनियों की अधर-सुधा की स्पर्धा करनेवाले सौ श्लोक, एक घड़ी में, रच सकता हूं।

इससे लोलिम्बराज का शाक्त होना और सप्तशृङ्ग-स्थित अष्टादश भुजावाली देवी की उपासना करना सिद्ध है। इससे यह भी सिद्ध है कि वे दाक्षिणात्य थे; क्योंकि सप्तशृङ्ग पर्वत दक्षिण ही में है। देवी

की उपासना का परिचय लोलिम्बराज अपने वैद्यावतंस ग्रन्थ में भी देते हैं। वहां आप कहते हैं—

> दुतवहहुतजंघाजानुमांसप्रभावा-
> दधिगतगिरिजायाः स्तन्यपीयूषपानः ।
> रचयति चरकादीन् वीक्ष्य वैद्यावतंसं
> कविकुलसुलतानो लाललोलिम्बराजः ॥

अर्थात् जंघा और गांठ के मांस को काट काट कर अग्नि में होम करने के प्रभाव से प्रसन्न होने वाली पार्वती के दुग्धरूपी अमृत का पान प्राप्त करनेवाला, कविकुल का सुल्तान (बादशाह) लोलिम्बराज, चरक आदि ग्रन्थों को देख कर वैद्यावतंस की रचना करता है। गिरिजा ने प्रसन्न हो कर जिसे पुत्रवत् अपना स्तन पान कराया, वह कवियों का बादशाह हो गया तो क्या आश्चर्य! उसे कवियों, वैद्यों, ज्योतिषियों, गायकों और सब विषय के विद्वानों का शाहंशाह होना चाहिए। पण्डित गट्टूलाल और अम्बिकादत्त व्यास इत्यादि आधुनिक विद्वान् भी शरीर के मांस का एक भी टुकड़ा हवन किए बिना ही एक घड़ी में सौ अनुष्टुप श्लोकों की रचना कर सकते थे। अतः लोलिम्बराज की गर्वोक्ति कोई गर्वोक्ति न हुई। गिरिजा का स्तन पान पा कर यदि गणेश और कार्तिकेय की बराबरी उन्होंने न किया तो क्या किया! हम यह नहीं कहते कि लोलिम्बराज की उक्ति मृषा है; नहीं, पार्वती उनपर अवश्य प्रसन्न हुई होंगी। हम यह कहते हैं कि पार्वती की प्रसन्नता का कोई विशेष लक्षण लोलिम्बराज की कृति में नहीं मिलता। लोलिम्बराज के तीनों ग्रन्थ जो उपलब्ध हुए हैं, बहुत छोटे छोटे हैं। यद्यपि उनकी कविता सरस और प्रासादिक है, तथापि वह कालिदास, भवभूति और श्रीहर्ष आदि, जिनको शायद गिरिजा के स्तन-पान करने का सौभाग्य नहीं प्राप्त हुआ था, उनकी कविता की बराबरी नहीं कर सकती। सम्भव है लोलिम्बराज ने और कोई अद्भुत ग्रन्थ बनाए हों जिनका पता अभी तक किसीको न लगा हो, अथवा देश-विप्लव के कारण जो नष्ट हो गए हों।

ऊपर जिस जनश्रुति का उल्लेख किया गया, उसमें कही गई इस बात का प्रमाण लोलिम्बराज के लेख से मिल गया कि वे दाक्षिणात्य थे और सप्तशृङ्ग पर्वत पर उन्होंने देवी की उपासना की थी। परन्तु इस बात का पता ठीक ठीक नहीं लगता कि वे किस समय हुए। हरिविलास काव्य के प्रति सर्ग के अन्त में एक श्लोक है, जिसका पाठ सब सर्गों में प्रायः एकही सा है। दो सर्गों में तीसरी पंक्ति में कुछ अन्तर है; और कहीं नहीं। वह श्लोक यह है—

> नानागुणैरवनिमण्डलमण्डनस्य
> श्रीसूर्यसूनुहरिभूमिभुजो नियोगात् ।
> त्रैलोक्यकौतुककरं क्रियते स्म काव्यं
> लोलिम्बराजकविना कविनायकेन ॥

अर्थात् अनेक गुणों के कारण भूमण्डल के मण्डन सूर्य नामक राजा के पुत्र हरि नामक राजा की आज्ञा से, कवियों के नायक लोलिम्बराज कवि ने तीनों लोकों में कुतूहल उत्पन्न करनेवाले इस काव्य की रचना की !!! इससे जनश्रुति की यह बात भी प्रमाणित हो गई कि सूर्य राजा के पुत्र हरि राजा की सभा को लोलिम्बराज जी ने सुशोभित किया था। इस श्लोक का 'त्रैलोक्यकौतुककरं' पद ध्यान में रखने योग्य है। इस काव्य में केवल पाँच सर्ग हैं। इन पाँच सर्गों की पद्य-संख्या इस प्रकार है—

सर्ग	पद्य
१	३४
२	३५
३	७०
४	७७
५	९८
जोड़	३१४

यह हम नहीं जानते कि इतने छोटे काव्य के लिए 'त्रैलोक्यकौतुककरं' कहना किस प्रकार शोभा

देता है। यदि हम यह कहें कि छोटा होकर भी उसमें कोई बहुत ही बड़ी विलक्षणता है, सो भी नहीं। कविता अवश्य ललित है, सरस है, आलङ्कारिक है; परन्तु ये गुण ऐसे नहीं कि इनको देख कर अथवा हरिविलास की कविता का आस्वादन करके त्रिलोक को कौतुक हो और वह सहसा चौंक उठे।

पण्डित बेचनराम लोलिम्बराज को भोज का समकालीन बतलाते हैं और अपने कथन के प्रमाण में यह श्लोक देते हैं—

भो लोलिम्ब कवे! कुरु प्रणमनं किं स्थाणुवत्स्थीयते
कस्मै भोजनृपाल! बालशशिने नायं शशी वर्तते।
किं तद्व्योम्नि विभाति चास्तसमये चण्डद्युतेर्वाजिनः
पादत्राणमिदं जवाद्विगलितं खे राजतं राजते॥

इसका भावार्थ इस प्रकार है—

भोज—हे लोलिम्ब कवि! ठूंठ के समान क्या खड़े हो? क्यों नहीं प्रणाम करते?
लोलिम्बराज—हे भोजराज! हम किसको प्रणाम करें?
भोज—बाल-चन्द्रमा को।
लो॰—यह चन्द्रमा नहीं है।
भोज—फिर सूर्यास्त के समय आकाश में यह क्या है?
लो॰—यह तो चाँदी की बनी हुई सूर्य के किसी घोड़े की नाल है, जो आकाश में वेग से दौड़ते समय गिर गई है!

यह श्लोक अपन्हुति अलङ्कार का एक बहुत अच्छा उदाहरण है; परन्तु इतने से लोलिम्बराज को भोज का समकालीन बतलाना युक्तिसङ्गत नहीं जान पड़ता। हम नहीं कह सकते कि यह पद्य किस लोलिम्ब से सम्बन्ध रखता है; वैद्यजीवन आदि के कर्ता लोलिम्बराज से, अथवा इस नाम के और किसी दूसरे कवि से। फिर इसका भी क्या प्रमाण है कि किसीने भोज के अनन्तर उनके और लोलिम्बराज के नाम से यह श्लोक नहीं बना डाला। बल्लाल मिश्र के सङ्कलित किए हुए भोजप्रबन्ध को जब हम देखते हैं तब वहां कालिदास, भारवि, भवभूति, माघ, मल्लिनाथ, श्रीहर्ष आदि सभी कवियों की उक्तियां भोज के विषय में पाई जाती हैं। जिन कवियों का वहां नाम आया है, उनमें परस्पर सैंकड़ों वर्ष का अन्तर है। इसीलिए ऐसे श्लोकों में ऐतिहासिक तत्व का पता लगाना कठिन है। फिर, भोज एक विद्वान् राजा था; वह कवियों को आदर की दृष्टि से देखता था। अतएव यह कहना कि उसने लोलिम्बराज को ठूंठ की उपमा दी, मानों उसके सिर पर अरसिकता और असभ्यता का मुकुट रखना है। लोलिम्बराज की कविता में आधुनिकता के चिन्ह पाए जाते है। उनमें से फ़ारसी के शब्द 'सुलतान' और 'पादशाह' बड़ेही जाज्वल्यमान चिन्ह हैं। ऊपर एक श्लोक दिया जा चुका है जिसमें लोलिम्बराज ने 'सुल्तान' शब्द प्रयोग किया है; एक श्लोक अब हम वैद्यावतंस से और उद्धृत करते हैं जिसमें 'पादशाह' शब्द आया है—

समस्तपृथ्वीपतिपूजनीयो
दिगङ्गनाश्लिष्टयशःशरीरः।
गुणिप्रियं ग्रन्थममुं व्यतानी-
ल्लोलिम्बराजः कविपादशाहः॥

दिशारूपी स्त्रियों ने जिसके यशोरूपी शरीर को आलिङ्गन किया है; जो समस्त राजवर्ग का पूजनीय है; जो कवियों का पादशाह है; ऐसे लोलिम्बराज ने गुणवानों के प्रीतिपात्र इस ग्रन्थ की रचना की। गुणवानों के प्रीतिपात्र इस वैद्यावतंस में केवल ५८ श्लोक हैं और उनमें वैद्यकशास्त्र के अनुसार पदार्थों के गुण दोष का वर्णन है। इस पद्य में अपने को सब राजाओं का पूजनीय कह कर और अपने यशःशरीर को दिगन्त में पहुंचा कर लोलिम्बराज जी कवियों के बादशाह बनते हैं। ये 'पादशाह' और 'सुल्तान' शब्द इस बात की साक्षी देते हैं कि उस समय मुसल्मानों का प्रवेश दक्षिण में हो गया था और उनके द्वारा

बहुत से फ़ारसी शब्द लोगों के कान तक पहुंच गए थे। दक्षिण में बीजापुर का मुसल्मानी राज्य बहुत पुराना है। शिवाजी के कई सौ वर्ष पहले वहां मुसल्मानों का राज्य स्थापित होगया था। अतः यह जान पड़ता है कि मुसल्मानों का प्रवेश दक्षिण में होने के अनन्तर लोलिम्बराज का उदय हुआ है। अर्थात् वे कोई ४००* वर्ष के इधर ही हुए हैं। भोज के समय लोलिम्बराज का होना, बिना किसी दृढ़ ऐतिहासिक प्रमाण के, नहीं माना जा सकता। लोलिम्बराज ने जिन सूर्य और हरिहर राजाओं का नाम अपने ग्रन्थों में दिया है, उन का कोई पता नहीं लगता। चोल, कर्णाटक, पांड्य और आंध्रदेश में होनेवाले राजाओं की जो नामावली अब तक ज्ञात हुई है, उसमें इन राजाओं का नाम हमको नहीं मिला। जान पड़ता है ये कोई छोटे माण्डलिक राजा थे। वैद्यक का प्रसिद्ध ग्रन्थ वाग्भट्ट चरक और सुश्रुत से बहुत पीछे का है। इस वाग्भट्ट का उल्लेख लोलिम्बराज ने अपने वैद्यावतंस में किया है, जिससे यह सिद्ध है कि लोलिम्बराज वाग्भट्ट के पीछे हुए हैं।

लोलिम्बराज ने अपने मुँह से अपनी मनमानी प्रशंसा की है। ऐसी प्रशंसा के कई उदाहरण ऊपर दिए जा चुके हैं। यहां पर एक उदाहरण हम और देते हैं, क्योंकि उसमें उन्होंने अपने पिता का नाम लिखा है। यह श्लोक वैद्यजीवन के अन्त में है—

आयुर्वेदवचोविचारसमये धन्वन्तरिः केवलं
सीमा गानविदां दिवाकरसुधाम्भोधित्रियामापति[illegible]
उत्तंसः कवितावतां मतिमतां भूभृत्सभाभूषणं
कान्तोक्त्याऽकृत वैद्यजीवनमिदं लोलिम्बराजः कवि[illegible]

अर्थात् आयुर्वेद में जो धन्वन्तरि के समान है; गानविद्या के जाननेवालों की जो सीमा है; दिवाकररूपी सुधासमुद्र के लिए जो चन्द्रमा है; कवियों का जो शिरोरत्न है; और राजाओं की सभा का जो भूषण है—ऐसे लोलिम्बराज कवि ने अपनी स्त्री के कहने से, अथवा अपनी स्त्री को सम्बोधन करके, इस वैद्यजीवन ग्रन्थ को बनाया। इस पद्य में और जो कुछ है सो तो हई है, एक बात इससे यह जानी गई कि लोलिम्बराज की उत्पत्ति दिवाकर से हुई; अर्थात् उनके पिता का नाम दिवाकर था। यह नाम वैद्यजीवन के आरम्भ में एक बार और आया है। वहां पर लोलिम्बराज ने "दिवाकरप्रसादेन" लिखा है, जिससे सूर्य का भी अर्थ भासित होता है; क्योंकि सूर्यको भी दिवाकर कहते हैं; परन्तु यहां, ऊपर दिय गए श्लोक से केवल एकही अर्थ निकलता है।

यहां तक जो कुछ लिखा गया उससे केवल इतना ही ज्ञात हुआ कि लोलिम्बराज दाक्षिणात्य ब्राह्मण थे; वे शक्ति के उपासक थे; सप्तशृङ्ग पर्वत पर उन्होंने देवी को आराधना की थी; वे आयुर्वेद

* महाजनमण्डल नामक गुजराती पुस्तक के कर्ता ने लोलिम्बराज का होना शक १५५५ अर्थात् १६३४ ईसवी के लगभग माना है। इससे हमारे कथन की पुष्टि होती है। इस पुस्तक में लिखा है कि लोलिम्बराज जुन्नर के निवासी थे। यह नगर दक्षिण में पूना के ज़िले में है। परन्तु ये सब बातें निराधार लिखी हैं। उनका कोई प्रमाण इस पुस्तक में नहीं दिया गया। लोलिम्बराज के तपस्या करने और अपने शरीर का मांस होमने आदि के विषय में भी इसमें प्रायः वही बातें लिखी हैं जो हमने लिखा है। इस पुस्तक में इतना अधिक लिखा है कि लोलिम्बराज की स्त्री रत्नकला 'बादशाह' की लड़की थी। बादशाह ने लोलिम्बराज से पूछा कि हमारी गर्भवती रानी के लड़का होगा या लड़की। पूछने के समय बादशाह की युवा कन्या उनके पास खड़ी थी। उसे देखकर लोलिम्बराज ने कहा कि मेरा उत्तर ठीक निकलने पर यदि आप मुझे यह कन्या देना स्वीकार करें तो मैं आपके प्रश्न का उत्तर बतला दूं। बादशाह ने यह बात अंगीकार की। लोलिम्बराज ने कहा आप की रानी के पुत्र होगा। पुत्र ही हुआ। और वह कन्या लोलिम्बराज को मिली। उसके साथ इन्होंने विवाह किया और उसका नाम रत्नकला रक्खा। यदि यह बात सत्य है तो लोलिम्बराज भी हमारे पण्डितराज जगन्नाथ राव के साथी हुए। परन्तु महाजनमण्डल के कर्ता ने इन बातों का कोई प्रमाण ही नहीं दिया। यह भी नहीं लिखा कि यह 'बादशाह' कौन था और कहां का था; सम्भव है गोलकुण्डा अथवा बीजापुरवालों में से यह कोई हो।

थे; सुगायक थे; चतुर वैद्य थे और हरिहर नरेश की सभा के पण्डित थे।

वैद्यजीवन और हरिविलास में लोलिम्बराज ने अपनी स्त्री का भी नाम दिया है। हरिविलास के पञ्चम सर्ग का ९६वाँ श्लोक यह है—

> सुजनैः कुजनैरपि रत्नकला-
> रमणस्य कवेः कविताश्रवणात्।
> रमणीभणितं मुरलीरणितं
> भ्रमरीभणितं तृणवद्गणितम्॥

अर्थात् रत्नकला के स्वामी (लोलिम्बराज) कवि की कविता को सुनकर सज्जनोंहीं ने नहीं, दुर्जनों ने भी, कामिनी के कोमल आलाप को, मुरली की मनोहर तान को और भ्रमरी की मधुर गुञ्जार को तृणवत् समझा! क्यों न हो, कवीश्वर जी आपके कोई कोई पद्य, निःसन्देह बड़े ही माधुर्य्य-पूरित हैं। इस पद्य में 'रत्नकलारमणस्य' लिखकर अपनी स्त्री का नाम आपने रत्नकला बतलाया। वैद्यजीवन में कई स्थलों में स्पष्टतया 'रत्नकले' कह कर लोलिम्बराज ने अपनी कविरानी को सम्बोधन किया है। लोलिम्बराज के कहने से जान पड़ता है कि उनकी स्त्री भी विदुषी थी। वैद्यजीवन में उन्होंने अपनी स्त्री को कहा है कि तू रसिका है; तू विद्वानों के द्वारा वन्दन किए जाने योग्य है; तू साहित्य में निपुण है; तू कलानिधि है; तू पण्डित है; तेरी बुद्धि कुश के अग्रभाग के समान तीक्ष्ण है; तू गाने में प्रवीण है; और तू सब स्त्रियों की शिरोभूषण है—इत्यादि। यह सोने में सुगन्ध हुई जो लोलिम्बराज ऐसे उद्भट विद्वान् और कवि को रत्नकला के समान विदुषी और रसिका स्त्री मिली; परन्तु यह नहीं कह सकते कि भगवती अष्टभुजा से वरदान पाने के अनन्तर उनको रत्नकलारूपी रत्न हाथ लगा, अथवा उसके पहले ही उनकी मूर्खदशा ही में उसके साथ उनका विवाह हो गया था! अस्तु।

लोलिम्बराज के ग्रन्थों में वैद्यावतंस बहुत ही छोटी पुस्तक है। जैसा ऊपर कहा गया है, उसमें केवल ५८ श्लोक हैं; और उनमें पदार्थों के गुण-दोष का विवरण है। वैद्यावतंस के आदि और अन्त में लोलिम्बराज ने जो मङ्गलाचरण के दो श्लोक लिखे हैं, वे सानुप्रास होने के कारण, बहुत ही मनोहर हैं। उनमें से पहला श्लोक यह है—

> अनुकृतमरकतवर्णा शोभितकर्णा कदम्बकुसुमेन।
> नखमुखमुखरितवीणा मध्ये क्षीणाशिवाशिवं कुर्य्यात्॥

मरकतमणि के वर्ण का जिसने अनुकरण किया है; कदम्ब-पुष्प से जिसके कान शोभित हो रहे हैं; नख से जो वीणा को बजा रही है, ऐसी क्षीणकटी शिवा (पार्वती) मङ्गल करे! दूसरा अर्थात् वैद्यावतंस का ५७वां श्लोक यह है—

> अधरन्यकृतबिम्बा जितशशिबिम्बा मुखप्रभया।
> गमनाविरलविलम्बाविपुलनितम्बाशिवाशिवं कुर्य्यात्॥

अपने अधरों से बिम्बाफल का धिक्कार करने वाली और मुख की कान्ति से चन्द्रबिम्ब को जीतने वाली मन्दगामिनी तथा विस्तृत-नितम्ब-शालिनी शिवा मङ्गल करे!

यह अनुमान होता है कि वैद्यावतंस लोलिम्बराज का पहला ग्रन्थ है। इसमें इन दो श्लोकों के अतिरिक्त, हमारी समझ में, एक ही और श्लोक है जिसे अच्छी कविता कह सकते हैं। करैले के गुणों का वर्णन करके लोलिम्बराज उसकी प्रशंसा इस प्रकार करते हैं—

> जाम्बूनदीयां प्रतिमां यदीयां
> वक्षःस्थले वामदृशो वहन्ति।
> अशेष शाकावलिमण्डनत्वं
> तत्कारवेल्लं न लभेत कस्मात्?

अर्थात् जिसकी सुवर्ण की प्रतिमा को स्त्रियां अपने हृदय पर धारण करती हैं वह करैला क्यों न सब शाकों में श्रेष्ठ समझा जावे! इसमें जो ध्वनि है वह सहज ही ध्यान में आजाती है।

रचना की प्रणाली और कविता के गौरव-लाघव का विचार करने से जान पड़ता है कि हरिविलास को लोलिम्बराज ने वैद्यावतंस के पीछे बनाया है। जैसा ऊपर लिखा जा चुका है, हरिविलास में केवल ५ सर्ग हैं, और सब सर्गों में ३१४ श्लोक हैं। इस काव्य में उद्धव-सन्देश तक संक्षिप्त रीति से कृष्ण की लीला का वर्णन है। इसकी कविता प्रायः सरल है। लोलिम्बराज की कविता का सबसे बड़ा गुण यह है कि वह सरल हो कर सरस भी होती है। हरिविलास के कोई कोई पद्य बहुत ही हृदयग्राही हैं। यहां पर हम केवल २ पद्य देकर सन्तोष करेंगे। वसन्त-वर्णन—

वारस्त्रीव वनस्थली नवनवां शोभां बभारान्वहं;
पान्थान्पीड़यति स्म तस्कर इव क्रूरैः शरैर्मन्मथः।
शृङ्गारः सगुणः क्षमापतिरिव प्राप प्रतिष्ठां परां;
रात्रिः स्वीकुरुते स्म मुग्धललनालज्जेव कार्श्यं क्रमात्

वार-वनिता के समान वन की भूमि ने प्रतिदिन नई नई शोभा को धारण किया; चोर के समान मन्मथ कठोर बाणों से बटोहियों को पीड़ा पहुंचाने लगा; गुणवान् राजा के समान शृङ्गार रस ने ऊंची प्रतिष्ठा पाई; और नवला-कामिनी की लज्जा के समान रात्रि ने क्रम क्रम से कृशता स्वीकार की अर्थात् छोटा होना आरम्भ किया। देखिए, कैसी मनोहर उपमाओं के द्वारा, कैसी सरल रीति से, लोलिम्बराज ने वसन्त का आगमन वर्णन किया है। इनकी उपमाएं प्रायः बहुत ही अच्छी हुआ करती हैं। शरद्वर्णन का एक श्लोक हरिविलास से हम और उद्धृत करते हैं—

वृद्धाङ्गनेव विजहौ सरिदुद्धतत्वं ;
वेदान्तिनामिव मतं शुचि नीरमासीत्।
चन्द्रे प्रभा युवतिवक्त्र इवाद्भुताभू-
द्विद्वत्कवित्वमिव केकिरुतं न रेजे॥

वृद्ध स्त्री के समान नदियों ने अपनी उद्धतता छोड़ी; वेदान्तियों के मत के समान जल स्वच्छ हो गया; कामिनी के मुखमण्डल के समान चन्द्रमा अधिक शोभायमान हुआ; और विद्वान् की कविता के समान मोरों का केका अरोचक हुई। इस पद्य के चौथे चरण में लोलिम्बराज ने एक अमूल्य बात कही है। सच है; विद्वान् होने से कोई कवि नहीं होता। यदि उसमें कवित्व करने की शक्ति का स्वाभाविक बीज नहीं है तो मनुष्य चाहे जितना उद्दण्ड विद्वान् हो, उसकी कविता कदापि सरस और मनोहारिणी न होगी। रस ही कविता का जीव है, और जो यथार्थ कवि है उसीकी कविता में रस होता है। नीरस कविता कविता ही नहीं। लोलिम्बराज ने वैद्यजीवन में ठीक कहा है—

यतो न नीरसा भाति कविताकुलकामिनी।

अर्थात् कविता-रूपी कुल-कामिनी नीरस होने से शोभा नहीं पाती।

लोलिम्बराज के ग्रन्थों में वैद्यजीवन सबसे श्रेष्ठ है। यद्यपि इसका विषय वैद्यक है, तथापि इसे काव्य ही कहना चाहिए। इसमें काव्य के प्रायः सब लक्षण विद्यमान हैं। कोई श्लोक ऐसा नहीं जिसमें लोलिम्बराज ने कोई न कोई मनोरञ्जक उक्ति न कही हो। इसमें उन्होंने अपनी कवित्वशक्ति की पराकाष्ठा दिखलाई है। पार्वती के स्तन-पान करने का प्रभाव यदि कहीं कुछ दर्शित होता है तो इस ग्रन्थ में दर्शित होता है। हमने अनेक अनुभवशाली वैद्यों से सुना है कि वैद्यजीवन में कही गई ओषधियां भी सब अनुभूत अतएव अव्यर्थ हैं। इसमें जो काढ़े लिखे हैं वे, सुनते हैं, बिना गुण किए रहते ही नहीं; जिस रोग पर जो काढ़ा है उसे वह अवश्य हटाए बिना नहीं रहता। इस ग्रन्थ को लोलिम्बराज ने अपनी स्त्री रत्नकला को सम्बोधन करके बनाया है और किसी किसी श्लोक में उसके अनोखे अनोखे विनोद किए हैं। सारा ग्रन्थ शृङ्गारिक भावों से भरा हुआ है। कहीं उपमा, कहीं रूपक, कहीं कूट, कहीं ध्वनि, कहीं अन्तर्लापिका, कहीं बहिर्लापिका, कहीं कर्ता गुप्त, कहीं क्रिया गुप्त, कहीं कुछ, कहीं कुछ। लोलिम्बराज

ते, इसे सब प्रकार हृदयहारी बनाने में कोई कसर नहीं की। इसमें सब पांच विलास हैं, और प्रत्येक विलास में नीचे लिखे अनुसार विषययोजना और श्लोक संख्या है—

विलास	विषय	श्लोक संख्या
प्रथम	ज्वर-प्रतीकार	७६
द्वितीय	अतीसार और ग्रहणी-प्रतीकार	२६
तृतीय	कासश्वास-प्रतीकार	३९
चतुर्थ	राजयक्ष्मादि रोग-प्रतीकार	४३
पञ्चम	बाजीकरण	२१
	जोड़	२०५

अब लोलिम्बराज की रसिकता के दो चार उदाहरण सुनिए। वैद्यजीवन के आरम्भ में आप कहते हैं—

> येषां न चेतो ललनासु लग्नं
> मग्नं न साहित्यसुधासमुद्रे।
> ज्ञास्यन्ति ते किं मम हा प्रयासा-
> नन्धा यथा वारवधू विलासान्॥

जिन्होंने साहित्यरूपी सुधासमुद्र में डुबकी नहीं लगाई और जिनका मन ललनाओं में लीन नहीं हुआ, वे इस ग्रन्थ की रचना करने में होनेवाले मेरे परिश्रम को उसी प्रकार न जान सकेंगे जिस प्रकार नेत्रहीन मनुष्य वारवनिताओं के हावभावों को नहीं जान सकते। वैद्यजीवन बनाने में क्या सचमुच बड़ा परिश्रम हुआ? एक घड़ी में सौ श्लोक बनानेवाले को २०५ श्लोक लिखने में फिर भी थोड़ा ही श्रम पड़ा होगा? यह बात लोलिम्बराज की बहुत यथार्थ है कि जिसे साहित्य-शास्त्र का ज्ञान नहीं है वह कवि के कर्तव्य को भलीभाँति नहीं जान सकता। श्रीकण्ठचरित में लिखा है—

> विना न साहित्यविदा परत्र
> गुणः कथञ्चित् प्रथते कवीनाम्।
> आलम्बते तत्क्षणमम्भसीव
> विस्तारमन्यत्र न तैलबिन्दुः॥

अर्थात् साहित्यशास्त्र के ज्ञाता विना, कवियों के गुण भली भाँति नहीं विस्तार पाते। तेल का बूंद पानीही पर फैलता है।

लोलिम्बराज की उपमायें बहुत अच्छी हैं। यद्यपि वे अद्भुत नहीं हैं, तथापि ऐसी चुटीली हैं कि उनके कारण उनकी कही हुई उक्ति हृदय में अङ्कित सी हो जाती हैं। उनकी सारी उपमायें प्रायः शृङ्गाररसात्मक हैं; तथापि उद्वेग-जनक नहीं हैं। दो एक सुनिए—

> तृड्दाहमोहः प्रशमं प्रयान्ति
> निम्बप्रवालोत्थितफेनलेपात्।
> यथा नराणां धनिनां धनानि
> समागमाद्वारविलासिनीनाम्॥

नीम के कोमल पत्तों के फेन का लेप करने से तृषा, दाह और मोह इस प्रकार नाश हो जाते हैं जिस प्रकार वारवनिताओं के समागम से धनी मनुष्यों का धन नाश हो जाता है।

> चातुर्थिको नश्यति रामठस्य
> घृतेन जीर्णेन युतस्य नस्यात्।
> लीलावतीनां नवयौवनानां
> मुखावलोकादिव साधुभावः॥

पुराने घी के साथ हींग का नास लेने से चातुर्थिक ज्वर उसी भांति चला जाता है जिस भाँति नवयौवना कामिनियों के मुखावलोकन से मनुष्यों का साधुभाव कहां का कहां जाता रहता है!

यद्यपि प्राचीन कवियों की कविता को उदाहरणवत् उद्धृत करने में कोई हानि नहीं, तथापि लोलिम्बराज की विशेष रसिकता का परिचय देते हम डरते हैं; क्योंकि, शायद कोई ऊपर दिए गए पद्यों के सदृश पद्यों को अश्लील समझें। अतएव इस प्रकार का हम एकही और उदाहरण देना चाहते हैं। लोलिम्बराज की दो बातें बहुतही विस्मयकारिणी जान पड़ती हैं; उस विषय में वे कहते हैं—

मम द्वयं विस्मयमातनोति
तिक्ताकषायो मुखतिक्तताघ्नः ।
निपीड़िताऽराजसरोजकोशा
योषा प्रमोदं प्रचुरं प्रयाति ॥

अर्थात् दो बातों का विचार करके मुझे बड़ा विस्मय होता है। एक तो यह कि महाकड़ुई कुटकी के काढ़े को पीने से मुख कड़ुवा न होकर उलटा उसका कड़ुवापन जाता रहता है; और दूसरी बात यह कि, * * रूपी कमल की कलिकाओं का पीड़न करने से कामिनी को पीड़ा न होकर उलटा उसे आनन्द होता है!

एक द्व्यर्थिक श्लोक सुनिए—

अयि प्रिये! प्रीतिभृतां मुरारौ
किं बालकश्रीधनधान्यविश्वैः।
यस्याप्यतीसाररुजो न तस्य
किं बालकश्रीधनधान्यविश्वैः ॥

हे प्रिये! जिनको कृष्ण से प्रेम है उनको बालक, श्री धन धान्य और विश्व से क्या प्रयोजन है? अर्थात् कुछ भी नहीं। और जिनको अतीसार का रोग नहीं है उनको भी इन वस्तुओं से क्या प्रयोजन है? यहां पर "बालकश्रीधनधान्यविश्वः" यह पद द्व्यर्थिक है। कृष्ण के पक्ष में उसका यह अर्थ है—

बालक—लड़केबाले
श्री—लक्ष्मी
घनधान्य—धान्य का समूह
विश्व—संसार

अर्थात् विरक्तों को इनसे कोई प्रयोजन नहीं। अतीसार के पक्ष में उन्हीं शब्दों का दूसरा अर्थ होता है। यथा—

बालक—हाऊ बेर
श्री—बेल
घन—मोथा
धान्य—धनियां
विश्व—सोंठ

अर्थात् जिसको अतीसार नहीं है उसे इन ओषधियों के होने से कोई लाभ नहीं। इनके काढ़े से अतीसार जाता रहता है।

एक छोटा सा कूट सुनिए—

रावणस्य सुतो हन्यात् मुखवारिजधारितः।
श्वसनं कसनं चापि तमिवानिलनन्दनः॥

अर्थात् मुखकमल में रखने से रावण का लड़का श्वास और खांसी दोनों को वैसे ही नाश करता है जैसे उसे (रावण के लड़के को) पवनसुत ने नाश कर दिया। हनूमान् के हाथ से मारे जानेवाले रावण के लड़के का नाम अक्ष था। अक्ष बहेड़े को कहते हैं। अर्थात् बहेड़े को मुख में रखने से श्वास और खाँसी जाती रहती है।

लोलिम्बराज की एक बहिर्लापिका सुनाकर हम इस व्यापार से विरत होंगे—

भिन्दन्ति के कुञ्जरकर्णपालिं
किमव्ययं वक्ति रते नवोढ़ा।
सम्बोधनं नुः किमु रक्तपित्तं
निहन्ति वामोरु! वद त्वमेव ॥

हे वामोरु! (अच्छी जंघावाली) तू मुझे बतला कि हाथियों के मस्तक को कौन विदारण करता है? उत्तर—'सिंहाः'। यह भी बतला कि नवोढ़ा कामिनी रतोत्सव के समय किस अव्यय को बार बार उच्चारण करती है? उत्तर—'न'। यह भी बतला कि 'नृ' शब्द का सम्बोधन क्या है? उत्तर 'नः'। और यह भी बतला कि रक्त पित्त को कौन ओषधि नाश करती है? उत्तर—'सिंहाननः'। अर्थात् 'सिंहाः, न, नः, इन तीनों शब्दों को एक करने से 'न' आगे होने के कारण 'सिंहाः' के विसर्गों का लोप हो गया और 'सिंहाननः' सिद्ध हुआ। सिंहानन अड़ूसे का नाम है। अड़ूसे के काढ़े से रक्तपित्त जाता रहता है।

वैद्यजीवन की कविता बहुत मनोहारिणी है परन्तु अब अधिक उदाहरण उद्धृत करने से लेख बढ़ जायगा; अतः इतनेही पद्य यहां पर देना

...समझते हैं। लोलिम्बराज की जितनी कविता उपलब्ध हुई हैं उससे यह प्रमाणित होता है कि वे अच्छे कवि थे। उनकी कविता में क्लिष्टता का दोष नहीं पाया जाता। यह उनके स्वाभाविक कवि होने का प्रमाण है।

कामिनी-कौतूहल।

१—लेडी जेन ग्रे।

लेडी ग्रे बहुतही स्वरूपवती, सुशीला और पुण्यात्मा थी। अँगरेज़ी इतिहास में जितनी प्रसिद्ध स्त्रियां हो गई हैं उनमें से यह भी एक है। यद्यपि यह महासद्गुणी और सीधी थी, तथापि अट्ठारहही वर्ष की उमर में उसे प्राणदण्ड मिला। उसका सिर काट लिया गया। उसकी मृत्यु की वार्ता बड़ीही हृदयद्रावक है। ईश्वर की माया कुछ समझ में नहीं आती। कभी कभी देखने में आता है कि गुणवान् और सदाचारी लोगों की अकालही में मृत्यु हो जाती है; और महानिर्गुणी और दुराचारी लोग चिरकाल आनन्द से रहते हैं। परन्तु यह बात बहुत ठीक है कि महात्माओं ही पर अधिक संकट आते हैं; और सुख का उपभोग भी वही औरों से अधिक करते हैं। चन्द्रमा को देखिए। वह कभी घटता है और कभी बढ़ता है। परन्तु तारा जैसे के तैसे बने रहते हैं। न वे घटें और न बढ़ें।

लेडी जेन ग्रे, इंगलैण्ड के राजा आठवें हेनरी की सबसे छोटी बहन की पोती थी। उसका बाप सफक का ड्यूक (सरदार) था। जेन ग्रे अपने बाप की सबसे बड़ी लड़की थी। उसका जन्म, ब्राडगेन नामक स्थान में, १५३७ ईसवी में हुआ। लड़कपनहीं से जेन को पढ़ने लिखने का बड़ा चाव था। उसके बाप ने उसके लिए एक शिक्षक नियत कर दिया था। वह शिक्षक उसे बहुत प्यार करता था। वह भी बड़े प्रेम से अपना पाठ पढ़ती थी। जेन ग्रे बहुत रूपवती थी। वह कभी झूठ नहीं बोलती थी। उसका स्वभाव बहुत नम्र था। आठवें हेनरी राजा की रानी कैथराइन पार जेन को बहुत चाहती थी। जेन के माता पिता की आज्ञा से उसने उसे अपने महल में रख लिया था। वहां उसने जेन के शिक्षण का अच्छा प्रबन्ध कर दिया था। परन्तु राजा के महलों में जेन के आने के कुछ ही दिन पीछे रानी कैथराइन की मृत्यु हुई। इस लिए जेन को अपने माता पिता के यहां लौट आना पड़ा।

उस समय मा बाप अपने लड़कों के साथ प्रायः निर्दयता का व्यवहार किया करते थे। वे उनको धमकाते ही न थे, मारते भी थे, और अनेक प्रकार से तंग किया करते थे। जेन ग्रे के माता पिता भी उसके साथ अच्छा व्यवहार न करते थे। उसे भी मार सहन करना पड़ती थी। परन्तु जेन के शिक्षकों का स्वभाव बहुत अच्छा था। वे कभी उसे दुर्वचन न कहते थे। उसको वे प्रेमपूर्वक पढ़ाते थे। इसीलिए जेन पढ़ने लिखने से बहुत प्रसन्न रहती थी। जब उसका पाठ समाप्त हो जाता और उसके शिक्षक उसके पास से चले जाते, तब वह बहुत घबड़ाती, क्योंकि पढ़ने के सिवाय और बातें उसे बहुत ही दुःखदायक और भयानक थीं।

लेडी जेन ग्रे अँगरेज़ी तो अच्छी प्रकार जानती ही थी। उसके सिवाय वह फ्रेंच, लैटिन और ग्रीक भाषायें भी समझ लेती थी; समझ ही नहीं; किन्तु उन्हें वह बोल भी लेती थी और बिना किसी कठिनाई के लिख भी सकती थी। कसीदा और ज़री का काम भी वह बहुत सुघर करती थी। गाने बजाने में तो वह अत्यन्तही चतुर थी। एक दिन की बात है कि यलीज़बेथ रानी के शिक्षक राजर ऐश्चम जेन के मकान पर गए। वहां उन्होंने देखा कि सब लोग बाग़ में शिकार खेल रहे हैं; परन्तु जेन को उन्होंने वहां नहीं पाया। जब उन्होंने नौकरों से पूछा तब उन्हें विदित हुआ कि जेन अपने कमरे में बैठी किताब पढ़ रही है। यह सुनकर उन्हें

आश्चर्य्य हुआ। इसलिए, बाग़ में न जाकर वे जेन के पास उसके कमरे में चले गए। वहां उन्होंने जेन को ग्रीस के प्रसिद्ध तत्ववेत्ता प्लेटो की एक किताब पढ़ते पाया। उन्होंने जेन से पूछा "तुम क्यों शिकार खेलने नहीं गईं?" यह प्रश्न सुनकर १४ वर्ष की जेन ने अपना सिर ऊपर के उठाकर मुसकुराते हुए उत्तर दिया—"मैं समझती हूं, जो आनन्द मुझे प्लेटो की पुस्तक पढ़ने में मिलता है, उस आनन्द की परछाहीं भी उन लोगों को शिकार में न मिलती होगी। खेद की बात है, वे यही नहीं जानते कि आनन्द कहते किसे हैं!"

इस सुशील और चतुर जेन को सभी प्यार करते थे। उसके शिक्षकों को इस बात का गर्व था कि उनकी विद्या-शिष्य जेन इतनी भाषायें जानती है। जेन के प्रधान शिक्षक डाकृर एल्मर उससे बहुत ही प्रसन्न थे। डाकृर एल्मर कोई साधारण मनुष्य न थे। वे एक प्रसिद्ध पुरुष थे और पीछे से लण्डन के बिशप (सबसे बड़े पादरी) नियत हुए थे। जेन को ग्रीक भाषा अधिक प्रिय थी। अन्तिम पत्र जो उसने अपनी बहन कैथराइन को लिखा, वह उस की ग्रीक भाषा के बाइबल (धर्म्मग्रन्थ) के एक कोरे पन्ने पर था। उसने ऐश्चम इत्यादि अनेक विदेशी विद्वानों को ग्रीक और लैटिन में लम्बे लम्बे पत्र लिखे हैं। वे पत्र अब तक विद्यमान हैं।

लेडी जेन ग्रे के पिता के दो बड़े भाई थे। दैवयोग से वे दोनों मर गए। इस लिए जेन के पिता को ड्यूक की पदवी मिली। वह सफ़क का ड्यूक (सरदार) हो गया। इस समय छठा एडवर्ड नामक राजा इंगलैण्ड के सिंहासन पर विराजमान था। उसकी उमर बहुत कम थी; अपने राज्य का काम वह स्वयं नहीं देख भाल सकता था। इसके सिवाय वह बीमार भी रहा करता था; उस के बहुत दिन तक जीने की आशा न थी। इन कारणों से राज्य का सारा काम बड़े बड़े सरदार और अधिकारी ही करते थे। जैसे जेन का पिता सफ़क का ड्यूक था, वैसेही एक और सरदार नारथम्बरलैण्ड का ड्यूक था। इसलिए नारथम्ब[रलैण्ड] के ड्यूक को राज्य का प्रबन्ध करने में जेन का पिता बहुत सहायता देता था। जब सब सरदा[रों] ने जाना कि छटे एडवर्ड की मृत्यु निकट आ[गई] है, तब वे इस बात का विचार करने लगे कि उस[के] अनन्तर इंगलैण्ड की गद्दी किसको मिलनी चाहि[ए।] जेन का पिता चाहता था कि जेन इङ्गलैण्ड की रा[नी] हो; क्योंकि वह इङ्गलैण्ड के राजवंश की थी और नारथम्बरलैण्ड के ड्यूक चाहते थे कि उन[के] पुत्र जे डडले को सिंहासन मिलै। अन्तमें [यह] निश्चय हुआ कि जेन डडले के साथ विवाह क[रे] जिसमें उसके रानी होने पर दोनों पक्षवालों [को] सन्तोष हो। राजा एडवर्ड से भी कह सुन[कर] इस विषय की आज्ञा ले ली गई। उसने अप[नी] सगी बहन मेरी और एलिज़बेथ को राज्य का अ[धि]कारी न स्वीकार कर जेन कोही स्वीकार किया।

जे डडले एक लम्बे पुरुष थे; रूपवान् भी [थे।] स्वभाव भी उनका अच्छा था। जेन के साथ उन[का] विवाह १५५३ में हुआ। राजा ने विवाह के [समय] उन दोनों के लिए अपनी ओर से बहुमूल्य [वस्त्र] और आभूषण दिए। बड़े बड़े सरदार, अमीर [और] अधिकारियों ने जेन और डडले के विवाह-म[ण्डप] को सुशोभित किया। बड़े आनन्द और उत्सव [के] साथ विवाह का मङ्गलकार्य समाप्त हुआ।

६ जुलाई १५५३ ईसवी को एडवर्ड की मृ[त्यु] हुई। अतएव रानी जेन की सास ने उससे क[हा] कि वह इंगलैण्ड का राजमुकुट शीघ्रही धा[रण] करने के लिए तैय्यार रहै। यह सुनकर जेन [पर] वज्रपात सा हुआ। राज्य की अधिकारिणी य[ह] की सगी बहन मेरी थी। अतः जेन ने विचार कि[या] कि सरदार लोग मेरी से राज्य का सूत्र छीन [लेना] देना चाहते हैं। इस दशा में इंगलैण्ड की प्र[जा] उससे कभी प्रसन्न न रहैगी और उसकी अ[धिकारिणी] समझ कर उसपर दया करना तो दूर रहै, उलटा उसे बिना अधिकार राज्य छीनलेनेवाली अन्या[यी] स्त्री समझैगी। इन बातों का विचार करके [...]

...ता दुःख हुआ कि वह अचानक बीमार हो गई। ...लिए उसे उसके घर से दूसरी जगह जल-वायु ...लने के लिए ले जाना पड़ा।

१० जुलाई १५८३ ईसवी को एक सुन्दर नाव ...बिठलाकर सरदार लोग लेडी जेन को लण्डन ...वर' नामक स्थान में ले गए। वहां उसे बड़े ...मारोह के साथ उन्होंने राजतिलक करना चाहा। ...के पिता और ससुर को, इस समय, परमानन्द ...रहा था; परन्तु जेन ग्रे के दुःख की सीमा न ...। रोते रोते उसके नेत्र लाल हो गए थे और ...ह फीका पड़ गया था। नाव में उसके पास ...का पति बैठा हुआ धीरज देता था; परन्तु पति ...आश्वासन को सुनकर उसे अधिक रंज होता ...। जब लेडी जेन ग्रे ने उस मण्डप में प्रवेश किया ...हां उसे तिलक होनेवाला था, तब सब सरदारों ...उसका अभिवादन किया। उसके सामने सिर ...काया। इस दशा को देख कर जेन ग्रे के सुकुमार ...ाल पहले से भी अधिक लाल हो गए; उसका ...य धड़कने लगा; उसकी घबड़ाहट बढ़ने लगी। ...हां सब अमीर और अधिकारियों ने उसे इंगलैण्ड ...रानी कह कर पुकारा और उसकी आधीनता ...रहना स्वीकार किया, त्योंही जेन ग्रे को मूर्छा आ ...। वह पहले ही से बीमार थी; इन सब विड-...नाओं को वह अधिक सहन न कर सकी। वह ...छित होकर भूमि पर गिर पड़ी और जगने पर ...लख बिलख कर रोने लगी। बड़ी कठिनता ...उसने अन्त में अपने को संभाला और घुटनों ...बल बैठ कर, ईश्वर से, उसने यह प्रार्थना ...कि "यदि इंगलैण्ड के सिंहासन पर बैठने ...मुझे अधिकार है, तो हे परमेश्वर! तू मुझे भली ...ति न्यायपूर्वक राज्य करने के लिए सामर्थ्य दे"। ...इंगलैण्ड के राज्य की अधिकारिणी मेरी थी। ...लिए प्रजा, जेन ग्रे के राज्य पाने के प्रतिकूल थी। ...का फल यह हुआ कि लण्डन की प्रजाने जेन ग्रे ...रानी नहीं स्वीकार किया। थोड़े ही दिनों में ...ी के पक्षवालों ने राज्य का सूत्र अपने हाथ में कर लिया और लेडी जेन ग्रे को कारागार में डाल दिया। उसका पति भी उससे पृथक् कर दिया गया। जब जेन ग्रे के पिता ने आकर उससे कहा कि वह अब रानी नहीं रही। तब उसने उत्तर दिया कि "मैं केवल अपने माता पिता की आज्ञा से गद्दी पर बैठी थी। मैं भली भांति जानती हूं कि, यद्यपि मेरी इच्छा न थी, तथापि आपकी आज्ञा पालन करने में मैंने बड़ा भारी अपराध किया है। अतः अपने अपराध का दण्ड भोगने के लिए मैं सब प्रकार तैय्यार हूं"।

यथा-समय जेन ग्रे और उसके पति पर राजद्रोह करने का अपराध लगाया गया। इस अपराध को उन दोनों ने बिना किसी विरोध के स्वीकार किया। अतएव उनके शिरच्छेद, सिर काट लिए जाने, की आज्ञा हुई। जेन ग्रे के पिता को भी कारागार जाना पड़ा; परन्तु रानी मेरी ने उसे क्षमा कर दिया। रानी मेरी बड़ी दयालु थी। उसकी इच्छा न थी कि वह जेन ग्रे और उसके पति को प्राणदण्ड दे। इसीलिए बहुत दिन तक उनको वैसेही कारागार में उसने रहने दिया। कारगार में जो कष्ट होते हैं वे भी जेन ग्रे और डडले को नहीं सहन करने पड़े। यह सब रानी मेरी की दया ही का फल था। परन्तु जेन ग्रे के पिता का स्वभाव बहुतही बुरा था। कारागार से छूट कर उसने फिर रानी मेरी के प्रतिकूल विद्रोह करना चाहा। इसलिए रानी मेरी ने जेन ग्रे और उसके पति को जीता रखना उचित न समझा। १२ फरवरी, १५५४ का दिन उनके शिरच्छेद के लिये नियत किया गया। जेन ग्रे ने केवल १० दिन राज्य किया। कोई सात महीने कारागार में रह कर वधस्थान को जाने के लिए वह तैय्यार हुई। रानी मेरी "रोमन कैथलिक" सम्प्रदाय की थी और जेन ग्रे "प्रोटेस्टेण्ट" सम्प्रदाय की। रानी मेरी ने अनेक धर्मोपदेशकों द्वारा जेन ग्रे को कहला भेजा कि यदि वह अपना मत छोड़ कर उसके मत को स्वीकार करले तो वह उसका

अपराध क्षमा कर देगी। परन्तु जेन ग्रे ने अपना मत नहीं छोड़ा। वह बड़े साहस और धैर्य्य के साथ अपना जी कड़ा करके अपने मत पर आरूढ़ रही। प्राण जाने की उसने कुछ भी परवाह नहीं की। धन्य इस १८ वर्ष की अबला की दृढ़ता!

मरने के पहले जेन ग्रे ने अपने पिता को एक पत्र लिखा, जिसका सारांश यह था—

"जिस पिता के द्वारा मेरा आयुष्य बढ़ना चाहिए था; उसीके द्वारा ईश्वर ने मुझे इतना शीघ्र मृत्यु भेजी। ईश्वर की इस आज्ञा को मैं शान्तचित्त हो कर मानती हूं। मेरे समान थोड़ी उमर की अज्ञान अबला के हाथ में इंगलैण्ड का राज्य बहुत दिन तक रखने की अपेक्षा शीघ्रही उसका अन्त करने के लिए ईश्वर को मैं धन्यवाद भी देती हूं"।

रानी मेरी को भी उसने एक पत्र लिखा। उसका आशय यह था—

"आपका दिया हुआ दण्ड मुझे मान्य है। तथापि जिस दशा में मैंने राज्य का सूत्र अपने हाथ में लिया, उस दशा का विचार करके ईश्वर मुझे बहुत ही अल्प अपराधिनी समझैगा। इसपर मुझे पूरा विश्वास है। बलपूर्वक मेरे सिर पर राज-मुकुट रखने का संस्कार केवल मेरे देह ही को हुआ; मेरे अन्तःकरण को नहीं हुआ। मेरा मन सब प्रकार निरापराधी है"।

जेन ग्रे के पति ने उससे अन्तिम भेंट करना चाहा; परन्तु उसने मिलना स्वीकार नहीं किया। उसने कहा कि इस समय मिलने से वे प्रेमविह्वल हो जावेंगे; और ऐसा होने से उनकी दृढ़ता कहीं कम न हो जावै। उसने अपने पति को यह कहला भेजा कि "हम दोनों शीघ्रही उस लोक में मिलेंगे जहां निराशता, विपत्ति और मृत्यु का कोई भय नहीं रहता"।

जहां वह क़ैद थी उसीके पास से उसका पति मारेजाने के लिए लाया गया। उसे देख कर जेन ग्रे ने रूमाल हिलाया और बड़े दुःख से उसका नाम लेकर उससे अन्तिम बिदाई ली। एक घण्टे के अनन्तर वह भी वहां से मारे जाने के लि निकाली गई। मार्ग में उसके पति का मृतक दे एक गाड़ी में उसे मिला। उसे देख उसकी आं से आँसू निकल पड़े; परन्तु साहस पूर्वक वह फि सँभल गई।

जब वधस्थान में जेन ग्रे पहुंची तब उसने के इतना ही कहा कि "जान बूझ कर मैंने के अपराध नहीं किया। जिनकी आज्ञा पालन क का मेरा स्वभाव पड़ गया था उनकी इच्छा के प्रतिकूल काम करने का धैर्य मुझमें नहीं हुआ, य मेरा अपराध है"। इतनाहीं कह कर वह मरने लिए तैय्यार हो गई और स्तोत्र-पाठ करने लगी।

उसके गले का कपड़ा उसकी सखी ने निकाल चाहा; परन्तु उसका हाथ थर थर थर थर कांप लगा, इसलिए वह न निकाल सकी। यह द देख जेन ग्रे ने अपने हाथ से कपड़ा अलग क अपना गला खोल दिया और अपने हाथ से रूमा निकाल कर अपनी आँखें ढकलीं। यह करके व खड़े हुए एक मनुष्य से उसने प्रार्थना की कि कृ करके वह उस लकड़ी के पास उसे पहुंचा दे जिसपर रख कर उसका सिर काटा जानेवाला था उस मनुष्य ने काँपते हुए उसकी प्रार्थना स्वीका की। वहां जब जेन ग्रे पहुंची तब उस वज्रहृद मनुष्य का भी हृदय विदीर्ण हो गया जिसका का अपराधियों की गर्दन मारना था और जो सैकड़ों के सिर काट चुका था। उसने बड़ी ही आधीनता से जेन ग्रे से क्षमा मांगी। जेन ग्रे ने कहा "तुम क्षमा माँगने की आवश्यकता नहीं। तुमने मे कोई अपराध नहीं किया। मैं तुमसे उलटा प्रार्थना करती हूं कि मुझ पर इतनी कृपा करना कि एक वार में मेरा सिर धड़ से अलग हो जावै"। इत कह कर जेन ग्रे ने अपना सिर यथास्थान रख यह कहा कि "हे ईश्वर! मैं तुझे अपनी आत्मा समर्पण करती हूं"। उसका यह कहना था कि उसकी गर्दन पर कुठार गिरा और उसका सि धड़ से अलग हो गया! जितने लोग वहां उपस्थि

...थे सबके मुँह सूख गए और आँसू बहाते हुए सब अपने अपने घर गए।

जिस समय जेन ग्रे ने अपने स्वामी का मृतक शरीर गाड़ी पर देखा था उस समय उसे दो एक विचार सूझे थे। वे उसने अपनी स्मरण बही में लिख लिए थे। इस बही को उसने मरने के समय एक अधिकारी को दे दिया था। जब उसने उसे खोला तो उसमें यह लिखा पाया—

"जिसे मनुष्यों के बनाए हुए क़ानून ने दोषी ठहराया, उसे बचाने में ईश्वर की दया समर्थ है। यदि मैंने सचमुच ही प्राणदण्ड पाने के योग्य अपराध किया है, तो मुझे आशा है, कि मेरी कम उमर और मेरे कम तजरुबे का विचार करके मेरे अपराध को ईश्वर हलका ही समझैगा"।

इस प्रकार, यह सुशील और सद्गुणी स्त्री, १९ ही वर्ष की उमर में इस लोक से बिदा हो गई।

२—पूना का अनाथ-बालिकाश्रम।

हमारे देश में, और देशों की अपेक्षा, विधवा स्त्रियों की दशा बहुत ही बुरी है। उनका पुनर्विवाह नहीं होता; पढ़ी लिखी न होने के कारण कथा वार्ता कह कर भी वे अपना समय नहीं काट सकतीं; सीने पिरोने में भी चतुर न होने के कारण वे यह भी नहीं कर सकतीं। कहीं कहीं उनकी बड़ी ही दुर्दशा होती है। उनका सिर तक मूँड दिया जाता है; घर से वे बाहर नहीं निकलने पातीं; मङ्गल-कार्यों में वे शामिल नहीं होने पातीं; यहां तक कि उनका दर्शन तक अशुभ समझा जाता है। दिन में एक वार उनको रूखा सूखा भोजन दे दिया जाता है। उसीपर निर्वाह करके वे रात दिन असह्य दुःख सहती हैं; और संसार के सब सुखों से हाथ धो कर चर्ख़ा कातने, दाल चावल बीनने और पत्तियां आदिक बनाने हीं अपनी सारी उमर काटती हैं। ऐसी बालविधवाओं की दशा सुधारने और उनके दुःखों को कम करने की ओर, आज़ कल, कहीं कहीं, कोई कोई सत्पुरुषों का ध्यान जाने लगा है।

पण्डिता रमाबाई के नामसे पाठक परिचित होंगे। बहुत वर्षों से उन्होंने पूना में शारदा-सदन नाम का एक आश्रम खोल रक्खा है। इस आश्रम में विधवाओं का पालन पोषण भी होता है और विद्या तथा दस्तकारी इत्यादि की शिक्षा भी दी जाती है। परन्तु रमाबाई का धर्म्म दूसरा है; वे हिन्दू नहीं हैं; क्रिश्चियन हैं। इसलिए धार्म्मिक हिन्दुओं को अपनी विधवाएं उनके सदन में भेजते सङ्कोच होता है। इसी से पूना के अध्यापक कर्वे ने एक दूसरा आश्रम खोला है। इस आश्रम का नाम अनाथबालिकाश्रम है।

पूना का यह अनाथ-बालिकाश्रम १४ जून १८९६ ईसवी को खुला था। उसके खोलनेवालों की इच्छा पहले दसही पाँच अनाथ विधवाओं को उसमें रख कर उनके भरण पोषण और शिक्षा के प्रवन्ध करने की थी। परन्तु दो वर्ष के अनन्तर इस आश्रम के बढ़ाने की आवश्यकता उपस्थित हुई। इसलिए वह बढ़ा दिया गया और १८९८ ईसवी के अक्टोबर में उसकी रजिस्टरी भी करा दी गई। इस आश्रम के सहायकों के कई प्रकार हैं। जो एक बार में ५०० रुपए अथवा उससे अधिक देते हैं, वे सदा के लिए आश्रम के प्रतिपालक माने जाते हैं। जो प्रति वर्ष ५० रूपए अथवा उससे अधिक देते हैं, वे वार्षिक प्रतिपालक समझे जाते हैं। जो १०० रुपए अथवा उससे अधिक देते हैं वे सदा के लिए आश्रम के अभिभावक कहलाते हैं। जो प्रतिवर्ष १० रुपए अथवा उससे अधिक देते हैं, वे वार्षिक अभिभावकों में गिने जाते हैं। इस आश्रम के शुभचिन्तकों के, ऐसे ही और भी, कई प्रकार हैं।

इस आश्रम के सहायक और प्रतिपालकों की एक कमेटी है। इस कमेटी के मुख्य मुख्य सभ्य और अधिकारी, इस समय, ये सज्जन हैं—

सभापति।

डाक्टर रामकृष्ण गोपाल भाण्डारकर।

उपसभापति।

राव बहादुर गणपतिराव मस्तमानकर

राव बहादुर गणेश गोविन्द गोखले
अध्यापक शिवराम बापूजी परांजपे
अध्यापक वी० के० राजवाड़े
अध्यापक जी० सी० भाटे

इत्यादि।

मन्त्री–अध्यापक डी० के० करवे
हिसाब जांचनेवाले–श्रीयुत यच० यन० आपटे
ट्रस्टी–वी० कुप्पू स्वामी मुडलियार
पण्डित वी० यन० आपटे

इन में से भाण्डारकर, गोखले, परांजपे, करवे इत्यादि नाम हमारे प्रान्त के भी समाचारपत्र पढ़नेवालों ने प्रायः सुन होंगे। इन पुरुषों की योग्यता और विद्या ही इस बात को कहे देती है कि इस आश्रम से अवश्य लाभ होगा और इसमें शिक्षापाने वाली बाल-विधवाओं की दशा सुधारने में कोई कसर न की जायगी।

इस आश्रम का अभी तक कोई अलग स्थान नहीं था; परन्तु अब एक अलग घर बन गया है। उसके बनवाने में ८००० रुपए लगे हैं। उसमें ३० बालिकाएं रह सकती हैं और वहीं रह कर शिक्षा भी प्राप्त कर सकती हैं। इस आश्रम की उन्नति प्रति दिन अधिक अधिक होती जाती है। यदि ऐसी ही उन्नति होती गई तो जो यह नया मकान बनवाया गया है वह बस न होगा। उसके बढ़ाने की आवश्यकता होगी। इस आश्रम का स्थायी धन अभी तक केवल ११,००० रुपया है। उसके बढ़ाने का प्रयत्न हो रहा है। बिना स्थायी धन के अधिक हुए इस आश्रम की यथोचित उन्नति नहीं हो सकती। आशा है कि आश्रम के सहायक और प्रतिपालकों की इच्छा, इस विषय में, शीघ्रही पूरी होगी। इसके अभिभावक और पालकों में से महाराजा दरभङ्गा, न्यायमूर्ति सुब्रह्मण्य ऐयर, राव बहादुर लालशङ्कर उमियाशङ्कर, और माननीय पारख सदृश सत्पुरुष हैं। परम आदरणीय लेडी नार्थकोट, बम्बई विद्या-विभाग के डाइरेक्टर और लाहौर के लाला रूचीराम इत्यादि, इस आश्रम में पधार कर, और अनाथ बालिकाओं की शिक्षा को देख भाल करके बहुत प्रसन्न हुए हैं। इससे यह अनुमान किया जा सकता है कि यह आश्रम अनाथ बिधवाओं के लिए सचमुचही बहुत उपयोगी है, और इसमें कुछ दिन रहने से बिधवाओं के लोक और परलोक दोनों के बनने की पूरी आशा है।

इस समय, इस देश में, स्त्री-शिक्षा के सम्बन्ध में भिन्न भिन्न लोगों के भिन्न भिन्न मत हैं। कोई कहता है स्त्री-शिक्षा की आवश्यकता ही नहीं; कोई कहता है आवश्यकता तो है, परन्तु उच्च शिक्षा न देना चाहिए। कोई अपने घर की बिधवओं को पुराण और पूजनपाठ की पुस्तकें पढ़ाना चाहता है। कोई लड़कों की सी शिक्षा बिधवाओं को भी देना अच्छा समझता है। कोई दस्तकारी और सीना पिरोना सिखला कर बाल-बिधवाओं को इस योग्य करना चाहता है कि जिसमें अपने भरण पोषण के लिए उन्हें दूसरे का मुँह न देखना पड़े। कोई उन्हें शिक्षक अथवा उपदेशक बना कर उन्हीं के समान दूसरी हतभागिनी विधवाओं को शिक्षा और उपदेश देने के योग्य करना चाहता है। अर्थात् सबके विचार अलग अलग हैं। इस दशा में यह आश्रम सबकी इच्छा नहीं पूर्ण कर सकता; तथापि, जहां तक सम्भव है, सब बातों का विचार करके, यहां उचित शिक्षा दी जाती है। यहां मराठी, संस्कृत और अँगरेज़ी तीनों भाषायें एकही साथ भी पढ़ाई जाती हैं, और अलग अलग भी पढ़ाई जाती हैं। यदि कोई लड़की एकही भाषा पढ़ना चाहती है तो उसे और भाषायें पढ़ाने का हठ नहीं किया जाता। अर्थात् आश्रम की लड़कियों और बिधवाओं के रक्षकों की इच्छा की ओर, यथा-सम्भव, सदा ध्यान रक्खा जाता है। गणित भी सिखलाया जाता है। इसके साथही गृहस्थी के काम काज करने की भी शिक्षा दी जाती है। आश्रम में जितनी लड़कियां और विधवायें हैं, उन सबको बारी बारी से आश्रम का सब काम करना पड़ता है। भोजन बनाने, कपड़े सीने, दस्तकारी करने

भी इसी प्रकार वे शिक्षा पाती हैं। उनको धार्म्मिक शिक्षा भी दी जाती है। रात को सोने के पहले, मराठी के प्रसिद्ध प्रसिद्ध कवियों को अच्छी अच्छी कविता उनको सुनाई जाती है और उसका अर्थ भी समझाया जाता है।

इस आश्रम की उन्नति के लिए अध्यापक करवे बड़ा परिश्रम करते हैं। वे इस आश्रम की आत्मा हैं। इसकी जितनी सफलता हुई है वह प्रायः उन्हीं के कारण हुई है। साधारण शिक्षा पा कर जो लड़कियां इससे निकली हैं, उनकी तो कोई बात ही नहीं, उनके सिवाय दस लड़कियां ऐसी निकली हैं जो सब प्रकार प्रशंसा के योग्य हैं। इनमें से २ दाई का काम करती हैं; ५ शिक्षक का काम करती हैं; एक महारानी माइसोर के कालेज में एफ़० ए० क्लास में पढ़ती है; एक पूना ही में स्त्रियों के स्कूल में पढ़ती है और छात्रवृत्ति पाती है; और एक बरार के अध्यापक-स्कूल में शिक्षा पा रही है। इस आश्रम की उपयोगिता की ये सब लड़कियां प्रमाण हैं। और अध्यापकों के सिवाय अध्यापक करवे स्वयं प्रति दिन दो घण्टे यहां शिक्षा देते हैं। एक 'लेडी सुपरिण्टेण्डेण्ट' शीघ्रही नियत होनेवाली है। यह एक ऐसा आश्रम है जहां की लड़कियों को धर्म्मान्तर होने का कोई भय नहीं। यहां, यथा सम्भव, सबके इच्छानुकूल शिक्षा दी जाती है; किसीके आचार और धार्म्मिक विचारों पर आक्षेप नहीं किया जाता।

इस समय, स्त्रियों के लिए, वैद्यक विद्या अर्थात् डाकृरी की बड़ी आवश्यकता है; परन्तु धन की कमी के कारण आश्रम के स्थापन करनेवाले सज्जन उसका प्रवन्ध अभी तक नहीं कर सके। आश्रम की सहायता के लिए वे सब जाति और सब धर्म्म के लोगों से प्रार्थना कर रहे हैं। आशा है उनकी प्रार्थना शीघ्र ही सफल होगी और शीघ्रही वे अनाथ बालिकाओं को वैद्यक विद्या सिखलाने में भी समर्थ होंगे। ईश्वर उनके मनोरथ को पूरा करे और इस परम उपयोगी आश्रम की प्रति दिन बढ़ती हो! इस समय इस आश्रम में १४ बालिका और विधवायें हैं। उनका चित्र, आश्रम के चित्र सहित, इस संख्या के आरम्भ में दिया जाता है।

इस विषय में पण्डित डब्लू० वी० पटवर्धन ने अँगरेज़ी में एक उत्तम लेख लिख कर प्रकाशित किया है। यह लेख हमने, उसीके आश्रय पर, धन्यवाद-पूर्वक, लिखा है।

विनोद और आख्यायिका।

एक बार इंगलैण्ड का प्रसिद्ध कवि शेक्सपियर अपनेही बनाए हुए एक नाटक का अभिनय कर रहा था। उसमें उसने राजा की भूमिका ली थी। यह बनावटी राजा साहब जब रङ्गभूमि के दरबार में उपस्थित हुए, तब उनके मन्त्री इत्यादि अधिकारियों ने उठ कर उनका यथा-रीति आदर किया। इङ्गलैण्ड की रानी यलिज़बेथ भी यह खेल देखने गई थीं। जहां इन बनावटी राजा साहब का सिंहासन था वहीं उसीके पास वह बैठी थीं। रानी बड़ी चतुर थीं और शेक्सपियर पर उसकी बहुत प्रीति थी। उसने शेक्सपियर की परीक्षा लेना चाहा। अतः जिस समय शेक्सपियर रूपी राजा साहब अपने कर्म्मचारियों को भिन्न भिन्न प्रकार के हुक्म दे रहे थे उसी समय रानी ने अपना रूमाल, जान बूझ कर, नीचे गिरा दिया। यह उसने इसलिए किया कि देखें शेक्सपियर अपना राजत्व भूलता है या नहीं, और मेरे रूमाल को उठा कर मुझे देता है या नहीं। क्योंकि, सामाजिक नियमानुसार सामान्य आदमी को किसी सभ्य लेडी का गिरा हुआ रूमाल उठा कर देना ही चाहिए। परन्तु शेक्सपियर सरस्वती-सिद्ध पुरुष था। वह भला, ऐसे समय में, भूल कर सकता था? रूमाल गिरते देख उसने तुरन्त ही कहा—

But ere this be done, take up our sister's handkerchief.

अर्थात् यह काम करने के पहले हमारी बहन का रूमाल उठा दो। इस समय सूचक उत्तर से उसने

अपने राजत्व की भी रक्षा की और रानी यलिज़बेथ भी रक्षा की। रानी, यह उत्तर सुन कर, बहुत को राजा का बहन बना कर उसके राज-पद का प्रसन्न हुई।

साहित्य-समाचार।

नायिका-भेद के ग्रन्थकार कवि और उनके पुरस्कर्ता राजा।

महाराजा नायिकेश्वर-प्रसाद सिंह वर्म्मा—"आइए कवीश्वर जी, चले आइए! पुरस्कार मिलने में अब देर नहीं !!"
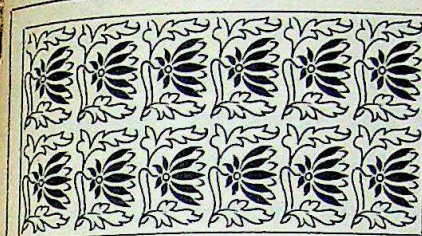
सरस्वती

सचित्र

मासिकपत्रिका
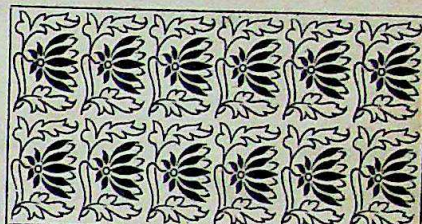
भाग ४]　　　　मई १९०३　　　　[संख्या ५

विविध विषय ।

ग्रहों के परिमाण का हिसाब सुन करके भी साधारण मनुष्यों को उनके विस्तार का ठीक ठीक अनुमान नहीं हो सकता । एक एक ग्रह का परिमाण बतलाने के लिए अङ्कों की पंक्तियां की पंक्तियां लिखनी पड़ती हैं । इन अङ्कों के सुनने अथवा पढ़ने का विशेष प्रभाव चित्त पर नहीं होता । जो लोग ग्रहों का परिमाण उत्प्रेक्षाओं के द्वारा बतलाते हैं उनके कथन का, चित्त पर, कुछ अधिक असर होता है । अर्थात् यदि यह कहैं कि पृथ्वी और सूर्य में वह सम्बन्ध है जो कि एक छोटी सी मटर और एक बहुत बड़े घड़े में है, तो इन दोनों ग्रहों की छुटाई बड़ाई का ज्ञान, मीलों में लम्बाई चौड़ाई देने अथवा वर्ग फल बतलाने की अपेक्षा, मनुष्यों को अधिक होता है । ग्रहों का परिमाण बतलाने के लिए फ़्रांस के एक ज्योतिषी ने एक और ही प्रकार निकाला है । रुपये की सब कहीं चाह है । उसका प्रभाव, उसकी गति, उसकी शक्ति कौन नहीं जानता ? रुपया संसार में सबसे अधिक प्यारा है । इसलिए इस ज्योतिषी ने सब ग्रहों की छुटाई बड़ाई का परिमाण रुपये में बतलाया है । ग्रहों के परिमाण का विचार करके उसने यह हिसाब लगाया है कि यदि पृथ्वी को १२॥) की मानैं तो दूसरे ग्रहों का कितना मूल्य होगा । यह हिसाब, इस प्रकार, है—

ग्रह		मूल्य		
		रु०	आ०	पाई
१ पृथ्वी	...	१२	८	०
२ चन्द्रमा	...	०	२	६
३ बुध	...	०	१२	०
४ मङ्गल	...	१	४	०
५ शुक्र	...	९	६	०
६ शनि	...	१,७७९	०	०
७ वृहस्पति	...	४६,०००	०	०
८ सूर्य	...	३७,६०,५०१	२	०

इस हिसाब को देखने से यह जान पड़ता है कि सूर्य के सामने पृथ्वी, जिसपर हम रहते हैं, कोई चीज़ ही नहीं । जिसके पास ३७ लाख रुपया है उसकी बराबरी १२ रुपयेवाला मनुष्य बिचारा

क्या करेगा ! अतएव, सूर्य के सामने इस अत्यन्त तुच्छ पृथ्वी पर रहनेवाला मनुष्य यदि अपने को कुछ समझे तो उसकी मूर्खता है। उसे अपनी तुच्छता को कभी न भूलना चाहिए।

* *
*

हे और डालफ़िन नामक अमेरिका के विद्वानों ने चिट्ठियों पर मोहर करने का एक अद्भुत यन्त्र बनाया है। यह समाचार समाचारपत्रों में छप चुका है। कुछ दिन हुए इस यन्त्र की परीक्षा जरमनी के बर्लिन नगर में बड़ी सफलता से हुई। यह यन्त्र बिजुली के बल से चलता है। एक घण्टे में यह साठ हज़ार चिट्ठियां छाप डालता है! कैसा अद्भुत व्यापार है! छपाई साफ़ और शुद्ध होती है। डाकख़ाने का नाम, महीना, तारीख़, सन इत्यादि सब स्पष्ट छप जाते हैं। इस यन्त्र के बनानेवाले इसे बेचते नहीं; केवल किराये पर देते हैं। यह इसमें बड़ी भारी पख़ है। इसके पुर्ज़े यदि बिगड़ जाते हैं तो यन्त्र को अमेरिका भेजने की आवश्यकता पड़ती है। यन्त्र यदि न भी भेजा जाय तो बिगड़े हुए पुरज़े अवश्य ही भेजने पड़ते हैं। इन्हीं कारणों से, देश देशान्तर में, इस यन्त्र के प्रचार होने में शायद बाधा पड़े।

* *
*

संसार में सबसे बड़ा पुल चीन में, हांगकांग के पास, पीत-सागर के ऊपर बँधा हुआ है। उसकी लम्बाई सवा पाँच मील है। उसमें ३०० कमानियां हैं। वह पानी के ७० फुट ऊपर है।

* *
*

मनुष्य बिजुली से कौन कौन काम नहीं लेते? इस समय वह तार चलाती है; रेल चलाती है; कल कारख़ानों के यञ्जिन चलाती है; ट्रामवे चलाती है; चिट्ठियां छापती है; पंखे हिलाती है; रात को दीपक का काम देती है; वैद्य बन कर रोगियों की दवा करती है और आज्ञा पाकर अपराधियों के प्राण तक पल में निकाल बाहर करती है। अब उससे एक और काम लिया जानेवाला है। वह अब खेतों के भीतर घुस कर भूमि को उर्वरा बनावैगी। वह खाद का काम देगी। कूड़ा, करकट, घासफूस, मल मूत्र, हड्डी इत्यादि से जो काम लिया जाता है वह काम बिजुली भी दिया करैगी। रूस के स्पाइसकाफ़ और कोवकाफ़ नामक विद्वानों ने परीक्षा से सिद्ध किया है कि बिजुली की बैटरी को खेत में गाड़ देने से उसमें बोये गये गेहूं, जौ, गोभी, आलू इत्यादि बहुत शीघ्र और अधिक होते हैं।

* *
*

हाथीदाँत, प्रति दिन, महंगा होता जाता है। इसके व्यापारियों को भय हो रहा है कि किसी दिन यह अप्राप्य न हो जावै। सबसे अधिक हाथी-दाँत आफ़्रीका से आता है। वहां प्रति वर्ष ७० हज़ार हाथी मारे जाते हैं! यदि यह हत्या बन्द अथवा कम न हुई तो, कुछ दिनों में, हाथीदांत सोने के भाव बिकने लगैगा।

* *
*

इन प्रान्तों के एक प्रसिद्ध ज़िले के अफ़सर को जनवरी के आरम्भ में, दरबारसम्बन्धी उत्सव करना था। उत्सव में ५०० घड़े दरकार थे। उनका प्रबन्ध करने के लिए साहब ने अपने शरिस्तेदार को आज्ञा दी। शरिस्तेदार ने तहसीलदार को लिखा कि कल शाम को ५०० घड़े कलेक्टर साहब के बङ्गले पर पहुंचाये जावैं। इसलिए कि कोई भूल न हो, शरिस्तेदार ने यह भी लिख दिया कि ये कुम्हार के यहां मिलैंगे। तहसीलदार साहब ने घड़े को गधा पढ़ा, और बड़ी देर तक वे सोचा किये कि ये ५०० गधे किस लिए दरकार हैं। परन्तु सोचने समझने अथवा पूछने का समय न था। हुकम की तामील करना था। इसलिए तहसीलदार ने शहर भर में चपरासी दौड़ाये। उन्होंने प्रत्येक कुम्हार के गधे छीने और शाम तक ३०० गधे इकट्ठे करके कलेक्टर साहब की कोठी पर पहुंचे। साहब उस समय बङ्गले पर न थे। जब वे बाहर से लौटे तब भाँति भाँति के सुरीले गान उनको अपने बङ्गले के हाते में होते दूर से सुनाई पड़े। इस गर्दभ-

को देख कर साहब बड़े चकित हुए। साहब के आने पर तहसील के एक चपरासी ने बढ़ कर झुका सलाम किया और कहा—"हुज़ूर! ये ३०० तैयार हैं; बाक़ी २०० थोड़ी देर में हाज़िर किये जावेंगे"। चपरासी और साहब बड़ी देर में एक दूसरे की बात को समझ सके। इस गुस्ताख़ी की कैफ़ियत देने के लिए तहसीलदार साहब तलब किये गये। उनके आने पर इस खर-सेना के शुभागमन का कारण ज्ञात हुआ; और जिसने जिसने सुना सबके पेट में हँसते हँसते बल पड़ गया। चपरासी तक हँसते हँसते लोट गये। यह कहने की कोई आवश्यकता नहीं कि शरिस्तेदार का लिखा हुआ हुकमनामा उर्दू में था! उर्दू ही में यह करामात है कि वह घड़े के गधे कर दे!! इसपर भी लोग उर्दू का पक्ष करते हैं!!!

* *
*

गत वर्ष जुलाई महीने से इस बात का विचार हो रहा था कि हिन्दी की प्रारम्भिक पाठ्यपुस्तकों की भाषा कैसी होनी चाहिए। इसपर टेक्स्ट बुक कमेटी के सभ्यों का यह मत हुआ कि इन पुस्तकों की भाषा वही होनी चाहिए जो इन प्रान्तों की भाषा है; और उसमें ऐसे शब्द, जो फ़ारसी से निकले हैं और जो सर्व-साधारण के बोलचाल में आते हैं, निकाल कर उनकी जगह संस्कृत के शब्द न रक्खे जावें। कमेटी के सभ्यों का यह भी मत हुआ कि ऐसे शब्द अथवा ऐसे वाक्य, जो इन प्रान्तों में सर्वत्र नहीं बोले जाते हैं, पाठ्य-पुस्तकों में न रक्खे जावें। इस मत को डाइरेक्टर साहब ने स्वीकार कर लिया है। अब से हिन्दी पुस्तकों की भाषा ऐसी ही होगी।

* *
*

किसी समय आनन्दकादम्बिनी नाम की एक मासिकपत्रिका मिर्ज़ापुर से निकलती थी। उसके तीन भाग निकलने पर वह बन्द होगई थी। बड़े हर्ष की बात है कि वह अब फिर निकलने लगी। उसका पहला, तीसरा और चौथा अङ्क हमको मिला है जिसके लिए हम धन्यवाद देते हैं। पिछले दोनों अङ्क एकही साथ निकले हैं। परन्तु दोनों अङ्कों में ३२ पृष्ठ के स्थान में केवल २४ ही पृष्ठ हैं। यह बहुत अच्छी पत्रिका है। इसके लेख उपयोगी और मनोहारी होते हैं। इसमें यह भी एक विशेषता है कि इसके सम्पादकीय लेखों में फ़ारसी का एक भी शब्द प्रायः नहीं रहता; हिन्दी और संस्कृत ही से काम लिया जाता है।

महामहोपाध्याय पण्डित दुर्गाप्रसाद।

विद्या-वारिधि बुद्धि-विधाता—तुलसीदास।

हतभाग्य भारतवर्ष पर विदेशी शत्रुओं के आक्रमण और आन्तरिक राज्य-विप्लवों के कारण यद्यपि हमारी देव-वाणी संस्कृत के सहस्रशः अलभ्य और अमूल्य ग्रन्थ सर्वदा के लिए लोप हो गए, तथापि अनन्त ग्रन्थरत्न अब तक छिपे पड़े हैं। इसका पता लगाना दुर्घट है कि इन ग्रन्थों में कितना ज्ञान-भाण्डार भरा पड़ा है। हमारे शासक राज-पुरुषों की विद्या की अभिरुचि प्रशंसनीय है। वे अनेक देशों की भाषाओं को केवल ज्ञानसम्पादन की अभिलाषा ही से सीखते हैं और उन उन भाषाओं में जो जो ग्रन्थ अथवा जो जो विषय उपादेय होते हैं उनका अनुवाद भी अँगरेज़ी में करके उस भाषा के जाननेवालों को वे लाभ पहुंचाते हैं। जबसे सर विलियम जोन्स नामक पण्डित ने कालिदास के शाकुन्तल नाटक का अँगरेज़ी में अनुवाद किया, तब से पाश्चात्य देशों के विद्वानों को विदित होगया कि संस्कृत भाषा में अनेक अमूल्य ग्रन्थ विद्यमान हैं। तब से वे लोग संस्कृत पढ़ने लगे और उत्तमोत्तम ग्रन्थों को खोज़ खोज विलायत भी भेजने लगे। संस्कृत के प्राचीन ग्रन्थों की उत्तमता की प्रशंसा जर्मन, फ़्रांस और इंगलैण्ड के प्रसिद्ध प्रसिद्ध विद्वानों के लेखों से अवगत करके गवर्नमेण्ट अब, अपने संस्कृतज्ञ अधिकारियों से दुर्मिल ग्रन्थों का पता लगवा कर

उनकी रक्षा करती है और क्रम क्रम से उनके छपाने का भी प्रबन्ध करती है। गवर्नमेण्ट की इस कृपा के हमलोग हृदय से कृतज्ञ हैं। हमारे ही पूर्वजों के बनाए हुए और हमारे ही यहां सैकड़ों वर्ष से पुराने बस्तों में बंधे पड़े हुए ग्रन्थों को कीड़ों का भक्ष्य होने से बचाने का सारा पुण्य प्रायः विदेशी विद्वानों ही को है। यह कृतघ्नता बहुत काल तक हम लोगों के पल्ले बँधी चली आई। परन्तु सन्तोष की बात है कि विदेशियों की देखादेखी इस देश के भी कोई कोई विद्वान् कुछ दिन से, हमारे बहते हुए आँसुओं को पोछने की इच्छा से, इस ओर उद्यत हुए हैं; और प्राचीन पुस्तकों का पता लगा कर उनको नाश होने से बचाने का यत्न कर रहे हैं। इन विद्वानों में से महामहोपाध्याय पण्डित दुर्गाप्रसाद का पहला नम्बर है।

राजपूताना में अलवर राज्य के अन्तर्गत हमजापुर नामक एक गाँव है। वहीं पण्डित दुर्गाप्रसाद के पूर्वज रहते थे। वे चौरासिया गौड़ ब्राह्मण थे। उनके पिता का नाम व्रजलाल था। पण्डित व्रजलाल ज्योतिष-विद्या में बड़े प्रवीण थे। देशपर्य्यटन करते करते वे पञ्जाब पहुंचे और वहां काँगड़ा ज़िले की प्रसिद्ध देवी के स्थान में बहुत काल तक पूजन पाठ (तपस्या,) करते रहे। उस समय काश्मीर के महाराजा गुलाबसिंह लाहौर में कारागार में पड़े हुए अपने दिन काट रहे थे। पण्डित व्रजलाल ने उनसे यह भविष्यद्वाणी कही कि आप अपनी इस दुरवस्था पर अधिक खेद न कीजिए; आप शीघ्रही काश्मीर के राज्यासन पर विराजमान होंगे। पण्डित जी की उक्ति सत्य निकली और महाराजा गुलाबसिंह को राज्य प्राप्त हुआ। जब वे काश्मीर पहुंचे तब उन्होंने पण्डित व्रजलाल को वहां बुला भेजा और उनको अपना मुख्य ज्योतिषी नियत किया। इस प्रकार राज-ज्योतिषी नियत करके महाराजा गुलाबसिंह ने उनका बड़ा सम्मान किया। तब से पण्डित व्रजलाल वहीं सकुटुम्ब रहने लगे।

१८४६ ईसवी में जिस समय उनके पिता ज[...] में थे, पण्डित दुर्गाप्रसाद का जन्म हुआ। दुर्गाप्रसाद जब बालकही थे तभी से उनमें बुद्धिमत्ता के चिन्ह दिखलाई देने लगे थे। १८५० ईसवी [...] महाराजा गुलाबसिंह के मरने पर उनके पुत्र महाराजा रणवीरसिंह को काश्मीर का राज्य प्रा[...] हुआ। उनके पुत्र महाराजा प्रतापसिंह—अर्था[त्] काश्मीर के वर्तमान राजा—और पण्डित दुर्गाप्रसा[द] दोनों समान वय के थे। महाराजा प्रतापसिं[ह] बाल्यकाल में सोमनाथ नामक विद्वान् से विद्या[...]भ्यास करते थे। उनको पण्डित सोमनाथ से अके[ले] पढ़ते हुए देख महाराजा रणवीरसिंह ने यह विचा[रा] कि यदि दुर्गाप्रसाद और प्रतापसिंह साथ [...] अभ्यास करें तो अच्छा हो। अतएव उन्होंने पण्डि[त] दुर्गाप्रसाद को महाराजा प्रतापसिंह का सहपा[ठी] बनाया। इस व्यवस्था से महाराजा प्रतापसिंह [...] अभ्यास पहले की अपेक्षा अधिक उत्तम रीति [...] होने लगा। पण्डित दुर्गाप्रसाद के, इस प्रका[र] राजपुत्र के सहपाठी बनाए जाने से यह सिद्ध [...] कि वे बाल्यावस्था ही से चतुर, बुद्धिमान औ[र] सुशील थे। यदि उनमें ये गुण न होते तो उन[...] काश्मीर के महाराजा के प्यारे पुत्र प्रतापसिंह [...] साहचर्य्य कदापि न प्राप्त होता।

कुछ अधिक वयस्क होने पर दुर्गाप्रसाद [...] पण्डित देवकृष्ण से साङ्गोपाङ्ग ज्योतिष शा[स्त्र] पढ़ा। ये महात्मा ज्योतिर्विद्या में बहुत प्रवीण [...] और महाराजा रणवीरसिंह ने इन्हें बनारस [...] बुलाया था। ज्योतिष शास्त्र में पारदर्शी हो जा[ने] पर प्रसिद्ध काश्मीरी पण्डित साहेबराम से उन्हों[ने] साहित्यशास्त्र पढ़ा। यह शास्त्र उनको और शा[स्त्रों] की अपेक्षा अधिक रुचिकर और आनन्द जन[क] जान पड़ा; अतएव इसका अवलोकन वे बहुत का[ल] तक करते रहे।

१८७६ में पण्डित दुर्गाप्रसाद के पिता पण्डि[त] व्रजलाल जी का शरीरपात हुआ। यह कहना [...] विपत्ति अकेली नहीं आती बहुत ठीक जान पड़[ता]

पिता के स्वर्गवास होने के अनन्तर कुछ ही दिनों में उनकी पत्नी का भी देहान्त हो गया; यही नहीं, किन्तु पत्नी की मृत्यु के अनन्तर उनके छोटे भाई ने भी स्वर्ग का मार्ग लिया*। इस प्रकार विपत्ति के ऊपर विपत्ति पड़ने पर उनका चित्त अत्यन्त उद्विग्न हो उठा और उन्होंने जम्बू छोड़ कर अपनी जन्मभूमि को जाना निश्चय किया। इस निश्चय को कार्य में परिणत करने के पहले वे हिमालय के दर्शनीय स्थानों को देखने के लिए गए और दूर दूर घूम कर जम्बू लौट आए। इस प्रकार कुछ दिनों तक बाहर पर्य्यटन करने से उनके चित्त को थोड़ी बहुत शान्ति मिली; परन्तु जम्बू में अधिक दिन तक रहने को असमर्थ होकर उन्होंने वहां से प्रस्थान कर दिया। मार्ग में अपने पिता के चिरपरिचित काँगड़ा होते हुए वे अपने घर, हमजापुर, आए। कुछ काल व्यतीत होने पर, अपने इष्टमित्र और कुटुम्बियों के इच्छानुसार हमजापुर में उन्होंने अपना दूसरा विवाह किया और वे सुख से रहने लगे।

पण्डित दुर्गाप्रसाद जिस समय अपने गाँव, हमजापुर, में थे, उस समय उन्होंने जयपुर के महाराजा रामसिंह की गुणग्राहिता इत्यादि सम्बन्धिनी बहुत प्रशंसा सुनी। अतएव उनसे मिलने की इच्छा से वे जयपुर आए और महाराजा रामसिंह के आश्रित पण्डित सरयूप्रसाद के यहां ठहरे। इनका और उनका शीघ्र ही परस्पर सौहार्द हो गया। दोनों विद्वान; दोनों रसिक; फिर क्यों न सौहार्द हो? इसी समय, अर्थात् १८७७ ईसवी में, महाराजा रामसिंह, उस बड़े दरबार में, निमन्त्रित होकर, देहली गए जो लार्ड लिटन के शासन-काल में हुआ था। उनके साथ पण्डित सरयूप्रसाद भी थे और सरयूप्रसाद पण्डित दुर्गाप्रसाद को भी अपने साथ ले गए थे। देहली से जब महाराजा रामसिंह लौटे तब मार्ग में दुर्गाप्रसाद से उनका परिचय हुआ। इस परिचय का यह फल हुआ कि महाराजा को यह तत्क्षण विदित हो गया कि पण्डित दुर्गाप्रसाद बड़े विद्वान, बड़े रसिक और बड़े सुशील थे। अतएव उन्होंने पण्डित जी को अपना आश्रित कर लिया।

इस प्रकार राजाश्रय मिलने पर पण्डित दुर्गाप्रसाद जयपुर में रहने लगे और अपने पाण्डित्य से सबके मनों को मुग्ध करने लगे। इनको देशाटन से अधिक प्रीति थी। इसलिए महाराजा रामसिंह की आज्ञा से एक बार ये फिर हिमालय की ओर गए। वहां गङ्गाद्वार, कुब्जकाम्र, हृषीकेश, देवप्रयाग, रुद्रप्रयाग, केदारनाथ और बदरीनाथ आदि स्थानों की यात्रा करके कुशलपूर्वक ये जयपुर लौट आए।

पण्डित दुर्गाप्रसाद को विद्या की अतिशय अभिरुचि थी। ग्रन्थावलोकन से उनको इतनी प्रीति थी कि वे अपना एक क्षण भी व्यर्थ न जाने देते थे। साहित्य तो उनको प्राणों से भी अधिक प्रिय था। वे प्राचीन पुस्तकों की सदा खोज में रहते थे और ढूंढ़ ढूंढ़ कर बड़े प्रयत्न से उनका सञ्चय करते थे। जिस समय वे इस प्रकार के दुर्लभ प्राचीन ग्रन्थों के खोजने में लगे थे, उस समय मुम्बई के यलफिंस्टन कालेज के प्रधान संस्कृताध्यापक, डाकृर पिटर्सन, जयपुर गए। उनको गवर्नमेण्ट ने प्राचीन संस्कृत-ग्रन्थों का खोज लगाने के लिए नियत किया था। इसी निमित्त वे जयपुर गए थे। वहां जिस पुस्तकालय में, ग्रन्थों की खोज में, वे पुस्तकावलोकन कर रहे थे, उसीमें पण्डित दुर्गाप्रसाद भी उसी काम में मग्न थे। वहीं डाकृर पिटर्सन की और उनकी भेंट हुई। दोनों ही समान व्यसनी और विद्वान् थे; अतएव शीघ्रही परस्पर स्नेह हो गया; और क्रम क्रम से उनकी मैत्री बढ़ती गई, यहां तक कि दोनों विद्वान् ग्रन्थों का पता लगाने के लिए साथही देश-पर्य्यटन को निकले और काश्मीर, पञ्जाब, बङ्गाल, राजपूताना, गुजरात, मध्यदेश और तैलङ्ग इत्यादि देशों में बहुत काल तक भ्रमण करके नाना प्रकार के काव्य, नाटक,

---

*अथ कालकरालमन्त्रणादहहामुष्य वधूर्दिवं ययौ।
अनुजोप्यगमत्ततः परं सहसास्या हि गवेषणाय किम्?

प्रसादशतक।

भाण, चम्पू, प्रहसन, अलङ्कार इत्यादि ग्रन्थ उन्होंने सम्पादन किए। इसके अतिरिक्त काश्मीर से वे स्वयं अनेक अलभ्य ग्रन्थ अपने साथ पहले ही लाए थे। जब वे बदरिकाश्रम की ओर देशाटन को गए, तब भी वहां से वे कितने ही हस्त-लिखित अनुपम ग्रन्थ खोज लाए थे। जिन प्राचीन ग्रन्थों का पता पण्डित जी ने लगाया, उनमें से बहुतेरे ग्रन्थ १००० वर्ष से भी अधिक पुराने हैं; सात आठ सौ वर्ष के पुराने ग्रन्थ तो सैकड़ों ही हैं।

१८८५ ईसवी में प्राचीन पुस्तकों की प्रसिद्धि के सम्बन्ध में पण्डित दुर्गाप्रसाद मुम्बई गए। वहां डाकृर पिटर्सन के स्थान पर उनसे और पण्डित काशिनाथ पाण्डुरङ्ग परब से भेंट हुई; और अनेक विषयों पर वार्तालाप होते होते पुराने ग्रन्थों के प्रकाशन के विषय में भी बात चीत निकली; जिसका फल यह हुआ कि पण्डित दुर्गाप्रसाद और काशिनाथ निर्णयसागर छापेख़ाने के अधिकारी जावजी दादाजी के यहां आए और वहां तीनों मनुष्यों की सलाह से "काव्यमाला" नामक मासिक पुस्तक निकालना निश्चित हुआ। यह १०० पृष्ठ की मासिक पुस्तक बराबर १७ वर्ष से निकल रही है। इसमें ऐसे ऐसे अपूर्व प्राचीन ग्रन्थ छपते हैं जिनका देखना तो दूर रहा, नाम तक बहुतों ने न सुना था।

इस प्रकार काव्यमाला के सम्पादन, ग्रन्थों के शोधन और उनके प्रकाशन में पण्डित दुर्गाप्रसाद इधर जयपुर में निमग्न थे; उधर हमजापुर में उनकी दो लड़कियों पर सहसा महामारी ने अपना प्रभाव प्रकट किया। यह दुर्वार्ता ज्योंहीं उनको मिली त्योंहीं उन्होंने वहां के लिए प्रस्थान किया; परन्तु घर पर पहुंचने के पहले ही लड़कियां काल-कवलित हो चुकी थीं। पण्डित दुर्गाप्रसाद के अल्प-वयस्क लड़के केदारनाथ को भी महामारी की बाधा हुई; परन्तु जगदीश्वर की कृपा से वह बच गया। तदनन्तर स्वयं दुर्गाप्रसाद पर उस घातक रोग ने आक्रमण किया और १८ मे, १८९२ को उनके प्राण लेकर उसने छोड़ा।

पण्डित दुर्गाप्रसाद की मृत्यु का समाचार शीघ्रही दूर दूर पहुंच गया। जिसने उनकी विद्वत्ता का कुछ भी परिचय पाया था, उसे भी इस असद्भुत समाचार को सुन कर बहुत शोक हुआ। पण्डित जी की कीर्ति योरप और अमेरिका तक पहुंची थी। अतः जर्मनी, अमेरिका और विलायत के सामयिक पत्रों और पुस्तकों में भी उनकी मृत्यु-वार्ता पर शोक-प्रदर्शक अनेक लेख प्रकाशित हुए। पायनियर, टाइम्स आफ़ इण्डिया, नेटिव ओपीनियन, इन्दुप्रकाश, ज्ञानप्रकाश, केसरी, सुबोधपत्रिका, गुजराती और राजस्थान-समाचार इत्यादि इस देश के पत्रों ने, उस समय, पण्डित जी के सद्गुणों का स्मरण करके अनेक विलापवेष्टित वचन कहे। दुर्गाप्रसाद जी की मृत्यु का सम्वाद सुनकर डाकृर पिटर्सन ने ५ जून, १८९२ को जो शोकसूचक लेख "टाइम्स आफ़ इण्डिया" नामक अंगरेज़ी के दैनिक पत्र में प्रकाशित किया, और जिसे हम नीचे फुटनोट* में पूरा उद्धृत करते हैं, उसका स्थूल आशय हम यहां पर दिए बिना नहीं रह सकते—

* I received only yesterday news of a melancholy e[illegible] which I ask your leave to make know in this way [illegible] the wide circle of scholars and friends for whom it will [illegible] the same sad interest that it has for myself. Pandit D[illegible] Prasad of Jeypore, on whom the Government of I[illegible] sought, this year, to bestow a well-merited meed of ho[illegible] died of cholera, in his native village, in the Ulwar S[illegible] on the 18th of May last. He had been summoned f[illegible] Jeypore by the news of an outbreak of the disease in [illegible] house; and it was his cruel fate to witness the death of [illegible] two daughters, before he was himself attacked. They [illegible] he have fallen victims to the epidemic which the Hard[illegible] pilgrims are spreading through the land. I had a letter f[illegible] him just before the fatal summons must have reached [illegible] full of spirit, and full, as ever, of plans for mutual work.

This is not the place in which to say much of the loss [illegible] myself of such a friend as he was. But I know well [illegible] scholars in India, in Europe, and in America, who have [illegible] what Durga Prasad has done for the revival of Sanscrit st[illegible] in this land will bear with keen sorrow his untimely d[illegible] He was a true scholar, for whom learning was everyth[illegible] While working with him at our joint edition of one o[illegible] Sanscrit Anthologies I first learned to admire his [illegible] knowledge, his profoundly critical spirit, his disintere[illegible]

"कल ही मुझे एक अतीव शोकजनक समाचार मिला। कृपा करके आप उसे अपने पत्र में प्रकाशित कर दीजिए। क्योंकि उसे सुनकर जितना मुझे दुःख हुआ है, उतना ही दूसरे विद्वानों और मित्रों को भी होगा। जयपुर के जिन पण्डित दुर्गाप्रसाद को गवर्नमेण्ट ने उनकी योग्यता का पुरस्काररूप महामहोपाध्याय की पदवी देना चाहा था, उनका शरीरपात हो गया। महामारी से उनकी मृत्यु हुई। मुझे अभी उस दिन उनका पत्र मिला था। यह पत्र जिस समय मुझे मिला उसके कुछ ही पीछे शायद शरीरान्तक आज्ञा ईश्वर के यहां से उनके पास पहुंची हो। यह पत्र उन्होंने बड़े उत्साह से लिखा था और उसमें काम काज विषयक अनेक सूचनायें थीं। वे मेरे परम मित्र थे। उनके न रहने से जो हानि मुझे हुई है उसपर लिखने बैठने का यह स्थान नहीं है। परन्तु मुझे यह विश्वास है कि, भारतवर्ष, योरप और अमेरिका के जिन विद्वानों को यह विदित है कि संस्कृत के पुनरुज्जीवन के लिए दुर्गाप्रसाद ने क्या क्या किया है, उनको, पण्डित जी की अकाल-मृत्यु का सम्वाद सुनकर मर्म्मभेदी दुःख होगा। वे सच्चे विद्वान थे; विद्या ही उनका सर्वस्व था। उनके साथ साथ सुभाषितावली नामक संस्कृत ग्रन्थ को सम्पादन करते समय मुझे, पहले पहल, उनकी विस्तृत विद्या, उनकी विशाल गुण-दोष-विवेचनशक्ति, और अपने देश के साहित्य पर उनकी निष्कपट भक्ति का परिचय मिला था। उनकी काव्यमाला, जिसमें अनेक ग्रन्थ प्रकाशित करके उन्होंने उनको लोप होने से बचाया, उनकी विद्वत्ता को चिरकाल स्मारक रहैगी। जैसा मैं उनसे परिचित था, और जैसा मैं उन्हें प्यार करता था, वैसाही जो जो करते रहे हैं, वे भली भांति जान सकैंगे कि इस काल के कराल दण्डाघात ने, पण्डित दुर्गाप्रसाद के साथ, कितनी महानुभाविता और कितनी विशाल विद्वत्ता को इस संसार से खींच लिया है!"

...votions to the literature of his country. His Kâvyamala; a ...onthly Journal, in which, he has, with the assistance of the ...ublic-spirited publisher, also, alas! lately deceased, rescued ...o much of that literature, from the oblivion which was cover...ng it, will be the endurig memorial of the soholar. Those ...ho knew him and loved him as I did, know, too, how much ...f the true nobility as well as of sound learning, has been, by ...is sharp stroke, taken out of the world.

यह एक विदेशी संस्कृतज्ञ की शोकोक्ति है। इसीसे इस बात का अनुमान करना चाहिए कि पण्डित दुर्गाप्रसाद के इष्ट मित्र और उनके कार्य-कलाप से परिचय पानेवाले इस देश के विद्वानों को उनकी मृत्युसे से कितना शोक हुआ होगा। वे इस देश के एक रत्न थे। उनकी विद्वत्ता अपार थी। सुनते हैं पण्डित जी ने अपनी पत्नी को भी संस्कृत में प्रवीण कर दिया था। हमारे एक मित्र ने उनकी पत्नी को अपने कानों संस्कृत बोलते सुना है। दुर्गाप्रसाद जी जैसे विद्वान थे, ईश्वर करै, उनका पुत्र केदारनाथ भी वैसाही विद्वान निकलै। उनकी मृत्यु के समय इस लड़के का वय ५ वर्ष का था; अतः इस समय वह १५ वर्ष का होगा। जयपुर से हमारे एक मित्र ने प्रसादशतक नामक पुस्तक हमको भेजी है। इसमें पण्डित दुर्गा-प्रसाद का संक्षिप्त जीवनचरित है। इसे पण्डित जी के शिष्य और उन्होंके नामधारी पण्डित दुर्गा-प्रसाद द्विवेदी ने बनाया है।। इस पुस्तक के ऊपर यह वाक्य संस्कृत में लिखा है—

पण्डितवरेभ्यो मथुरानाथेभ्य उपायनीकरोति केदारनाथः।

और नीचे "९।१२।००" लिखा है। इससे यह सिद्ध है कि केदारनाथ ने ९ दिसम्बर १९०० को यह पुस्तक पण्डित मथुरानाथ को भेंट की। पूर्वोक्त वाक्य के लिखने में केदारनाथ के दो एक दृष्टिदोष हैं; उनको हमने सुधार कर लिखा है। परन्तु इस बात के जानने के लिए इतनाही बस है कि १३ वर्ष के वयमें भी केदारनाथ संस्कृत में वाक्य-रचना कर सकते थे। यह पण्डित दुर्गा-प्रसाद के पुत्र के होनहार होने के लक्षण हैं।

महाराजा जयपुर ने केदारनाथ को अपने आश्रय में रक्खा है*।

वल्लभदेवदेव नामक एक प्राचीन पण्डित ने अनेक अच्छे अच्छे श्लोकों का संग्रह किया है और उसका नाम सुभाषितावली रक्खा है। यह एक अद्भुत और परमोपयोगी ग्रन्थ है। डाक्टर पिटर्सन और पण्डित दुर्गाप्रसाद ने मिल कर इस सम्पादन किया और संशोधन-पूर्वक छपाया है। "बांबे संस्कृत सीरीज़" नामक बम्बई की सरकारी पुस्तक-मालिका में गवर्नमेण्ट के व्यय से यह प्रकाशित हुआ है। पण्डित जी की योग्यता और विद्वत्ता का पूर्ण परिचय पाकर बम्बई की गवर्नमेण्ट ने काश्मीर के राजतरङ्गिणी नामक इतिहास का भी शोधन करके प्रकाशित करने के लिए उनसे कहा था। इस बृहत् इतिहास के दो भाग—अर्थात् प्रथम से अष्टमतरङ्ग तक-पण्डित जी ने अकेले ही बहुत अच्छे प्रकार पर सम्पादित किये। इतने ही में निष्ठुर मृत्यु ने उन्हें इस लोक से उठा लिया; अतः राजतरङ्गिणीसम्बन्धी शेष काम डाक्टर पिटर्सन को करना पड़ा। दुर्गाप्रसाद जी ने कथासरित्सागर और शिशुपालवध इत्यादि और भी कई ग्रन्थों का सम्पादन किया और निर्णयसागर प्रेस में छपाया है। जिस पुस्तक को वे प्रकाशित करते थे उस पुस्तक के कर्ता कवि का समय, उसकी जन्मभूमि, उसके बनाए हुए अन्य ग्रन्थ इत्यादि का विवेचन उदोद्घात में बड़ी ही योग्यता से वे करते थे। उनके विवेचन से उनका अपार पाण्डित्य और निःसीम ग्रन्थावलोकन, स्थल स्थल पर सूचित होता है। उनकी धारणा-शक्ति भी अपूर्व थी; कवियों का समय निरूपण करने में वे अनेक अश्रुतपूर्व ग्रन्थों के श्लोकों का प्रमाण देते थे।

* यह निबन्ध लिखने पर हमको विदित हुआ कि केदारनाथ बड़े परिश्रम से जयपुर में विद्याध्ययन कर रहे हैं। गत वर्ष 'साहित्योपाध्याय' परीक्षा में उत्तीर्ण होकर उन्होंने 'ज्योतिषोपाध्याय कक्षा में प्रवेश किया।

पण्डित दुर्गाप्रसाद के कार्यों में से "काव्यमाला" उनकी कीर्ति का सबसे ऊंचा पताका है। इस विद्वत्प्रिय मासिक पुस्तक को अब लाहौर "ओरियण्टल कालेज" के मुख्याध्यापक महामहोपाध्याय पण्डित शिवदत्त और बम्बई के पण्डित काशिनाथ पाण्डुरङ्ग परब सम्पादित करते हैं। इस माला में जो ग्रन्थ छपते हैं वे अलग भी पुस्तकाकार मिलते हैं। बड़े बड़े ग्रन्थ पृथक् पृथक् रहते हैं और छोटे छोटे कई एक एक, साथ, एक एक गुच्छक (भाग) में प्रकाशित होते हैं। ऐसे छोटे छोटे मनोहर प्रबन्ध आज तक सौ सौ डेढ़ डेढ़ सौ पृष्ठ के १४ गुच्छकों में निकल चुके हैं। इसके अतिरिक्त बड़े बड़े ८० ग्रन्थ अलग पुस्तकाकार प्रकाशित हुए हैं। इन ग्रन्थों में से कोई कोई बड़े ही विचित्र हैं। यदि पण्डित दुर्गाप्रसाद इन अलभ्य ग्रन्थों को अश्रान्त परिश्रम करके न एकत्र करते और एकत्र करके उनके प्रकाशन का प्रबन्ध न करते, तो ये सब अमूल्य रत्न कुछ काल में नष्ट हो गए होते। पण्डित जी के अभूत-पूर्व कार्य का कुछ परिचय देने के लिए आज तक काव्यमाला में प्रकाशित हुए प्रसिद्ध ग्रन्थों के नाम हम यहां पर देना उचित समझते हैं।

काव्य

आर्यासप्तशती	बालभारत
श्रीकण्ठचरित	सेतुबन्ध महाकाव्य
धर्म्मशर्म्माभ्युदय	द्विसन्धान महाकाव्य
समयमातृका	पतञ्जलिचरित
गाथा-सप्तशती	राघवनैषधीय
हरविजय (५० सर्ग)	युधिष्ठिरविजय
स्तुतिकुसुमाञ्जलि	हरचरितचिन्तामणि
दशावतारचरित	राघवपाण्डवीय
चन्द्रप्रभचरित	भारतमञ्जरी
विष्णुभक्तिकल्पलता	हीरसौभाग्य
सहृदयानन्द	रावणार्जुनीय

नाटक

कर्पूरमञ्जरी	दूताङ्गद
अनर्घराघव	भर्तृहरिनिर्वेद

	विद्यापरिणय
कंसवध	रुक्मिणीपरिणय
कर्णसुन्दरी	वृषभानुजानाटिका
जीवानन्द	अमृतोदय
अद्भुतदर्पण	

चम्पू, भाण और प्रहसन

पारिजातहरणचम्पू	रससदनभाण
मुकुन्दानन्द भाण	शृङ्गारतिलकभाण
उन्मत्तराघवप्रेक्षणक	मन्दारमरन्द चम्पू
लटकमेलक प्रहसन	शृङ्गारभूषण भाण
श्रीनिवासविलासचम्पू	

अलङ्कार और साहित्यशास्त्र

काव्यालङ्कार	चित्रमीमांसा
रसगङ्गाधर	काव्यानुशासन
काव्यालङ्कार सूत्र	वाग्भटालङ्कार
काव्यप्रदीप	अलङ्कारशेखर
ध्वन्यालोक	साहित्यकौमुदी
अलङ्कारसर्वस्व	अलङ्कार कौस्तुभ

स्फुट

प्राचीनलेखमाला	नाट्यशास्त्र
प्राकृतपिङ्गल सूत्र	वाणीभूषण

कहां छ काव्यों के आगे सातवें काव्य ग्रन्थ का नाम तक इस प्रान्त के पण्डितों को पहले न विदित था, कहां अब पण्डित दुर्गाप्रसाद जी की कृपा से क्षेमेन्द्र और रत्नाकर इत्यादि काश्मीर के महाकवियों के अनेक अद्भुत अद्भुत काव्य सहज ही मिलने लगे। धन्य पण्डित जी की विद्याभिरुचि और धन्य उनकी पुस्तकों को एकत्र करने की प्रीति! उन्होंने वात्स्यायन-मुनि-प्रणीत परमप्राचीन और प्रायः सर्वथा अप्राप्य कामसूत्रों को भी जयमङ्गल नामक टीका के साथ छपा कर प्रकाशित कर दिया है! उनकी रसिकता और उनकी श्रम-सहिष्णुता की जितनी प्रशंसा की जाय थोड़ी है। वे इतने ग्रन्थ एकत्र कर गए हैं कि अनेक वर्ष पर्य्यन्त काव्यमाला में छपते रहने पर भी वे निःशेष न होंगे!

पण्डित दुर्गाप्रसाद यद्यपि इतने रसिक और काव्यलोलुप थे, तथापि उनकी रचित कविता हमारे देखने में नहीं आई। प्राचीन महाकवियों के पीयूष-निन्दित काव्यरस का आस्वादन करते रहने के कारण शायद उनको अपने मुख से कुछ कहने की इच्छा ही नहीं हुई। उनकी काव्यमाला की प्रत्येक संख्या के वेष्टन-पत्र (टाइटिल पेज) पर एक श्लोक छपा रहता है; वह शायद उन्हीं की प्रतिभा का नमूना होगा। वह श्लोक यह है—

> साधुजनः पश्यतु काव्यमाला-
> मित्यर्थयामो जगदीश ! तुभ्यम् ।
> कदापि मास्यां पततु प्रचण्डा
> शनैश्चरस्येव खलस्य दृष्टिः ॥

अर्थात् हे जगदीश्वर! आपसे हमारी इतनी प्रार्थना है कि काव्यमाला को सज्जन ही देखें; शनैश्चर की दृष्टि के समान दुर्जनों की प्रचण्ड दृष्टि कदापि इसपर न पड़े! हम भी पण्डित जी के साथ 'एवमस्तु' कहते हैं। इस श्लोक में जो उपमा है वह बड़ीही मनोहर है और दुर्गाप्रसाद जी के ज्योतिष-ज्ञान की भी परिचायक है। शनैश्चर का नामही बुरा है; उसकी दृष्टि तो और भी भयोत्पादक है। उसके पड़ने से काम बिगड़े बिना नहीं रहता। उपमा की उत्कृष्टता के अतिरिक्त पद्य बहुत ही सरस और प्रसाद-गुण से परिपूर्ण है।

पण्डित दुर्गाप्रसाद पञ्जाब के विश्वविद्यालय में संस्कृत के परीक्षक होते थे। "संस्कृत-प्रावीण्य-वर्द्धिनी" नामक एक सभा भी उन्होंने जयपुर में स्थापित की थी। उनकी दिगन्तव्यापिनी कीर्ति को सुन कर आष्ट्रिया देश के प्रधान नगर विएना के संस्कृतज्ञ विद्वानों की सभा ने उनको वहां जाने के लिए आमन्त्रण दिया था; परन्तु जाति-बन्धन के अवरोध ने उन्हें वहां नहीं जाने दिया। उनके प्रचण्ड पाण्डित्य और उनकी अविश्रान्त देशसेवा से प्रसन्न हो कर गवर्नमेण्ट ने उनको "महामहोपाध्याय" की पदवी दी थी; परन्तु यथोचित रीति पर उसके दिए जाने के पहले ही उन्होंने इस लोक से प्रयाण कर दिया। ऐश्वरीय आदेश!

दुर्गाप्रसाद जी अपने समय का एक मिनट भी व्यर्थ न जाने देते थे। उनकी दिनचर्य्या नियमित थी; उसीके अनुसार वे अपने काम यथासमय करते थे। प्रातःकाल ४ बजे वे उठते थे और ६ बजे तक स्नानादिक नित्य-कृत्यों से निश्चिन्त हो जाते थे। ६ से ९ बजे तक वे काव्यमाला का काम और ९ से ३ बजे तक भोजन, वामकुक्षि और गृहस्थाश्रम के काम काज करते थे। ३ से ५ बजे तक राज-दरबार; तदनन्तर, ग्रन्थावलोकन और लोगों से तथा अपने मित्रमण्डल से भेंट। ९ बजे भोजनोत्तर शयन। इस क्रम में उन्होंने कभी व्यतिक्रम नहीं आने दिया; इसलिए वे कभी बीमार नहीं हुए।

पण्डित दुर्गाप्रसाद का चरित सर्वथा अनुकरण करने योग्य है। उनकी नियमित दिनचर्य्या, उनका विद्याप्रेम, संस्कृत के ग्रन्थों को प्रकाशित करके लोकोपकार करने की उनकी उत्कट इच्छा—सभी गुण अनुकरणीय हैं। बाल्यावस्था में अपनी सुशीलता और अपने सौम्य स्वभाव के कारण वे राजपुत्र के सहपाठी हुए और प्रौढ़ावस्था में अपनी विद्या के बल से बड़े बड़े धुरन्धर विद्वानों के मित्र हुए। दुर्गाप्रसाद जी के चरित से यह स्पष्ट है कि एक सामान्य मनुष्य भी सदाचरण और सद्विद्या के बल से, सर्वसाधारण की तो कोई बात ही नहीं, बड़े बड़े राजा महाराजों का सम्मान प्राप्त कर सकता है और अपनी कीर्त्ति-कौमुदी से देश देशान्तरों को उज्वलित भी कर सकता है।

पूर्व-पुरुषों के प्रति।

[१]

कहां गए वे वीर-शिरोमणि, मनुज-वंश अभिराम,
यशो-राशि के साथ छोड़ कर अपना सुन्दर नाम?
वह वीरता रही अब कहीं?
कठिन काल कहता है "नहीं" ॥
नहिँ वे जन अब इस पृथ्वी पर जिनके गुण कवि गाते हैं
गाते गाते थक जाते हैं; किन्तु पार नहिं पाते हैं ॥

[२]

जिनके चरित ध्यान करने से अति अपूर्व आनन्द
करता है हृदय-स्थल भीतर बहु विहार स्वच्छन्द
सुधि आते दृग से जल-धार
बह चलती है महा अपार।
पहले भारत भी अपने को उत्तम देश समझता था
सुयशवान पुरुषों का गौरव अपना गौरव कहता था

[ ]

अब वे नहीं वीर-पुङ्गव हैं जिनके कीर्ति-कला
सुन सुन कर विदेशियों ने भी किए विविध आलाप
रे अभाग्य! तुझको क्या कहूं?
मैं अब सिर धुनतेही रहूं।
भारत था उद्यान, गुणी-गण विशद वृक्ष सुख-मूल
काल-ग्रीष्म! तूने क्यों उनको लिया उखाड़ समूल

[४]

भीष्म-पितामह महा-वीर-वर, सत्य धार्मिक, धीर
जिसने किया 'महाभारत' में युद्ध परम गम्भीर
नहीं रहा अर्जुन सा वीर!
कहीं नहीं अब वैसे तीर!
उसने ही अपने बाणों की शय्या विशद बनायी थी
जिसपर लेट भीष्म ने रण में बेला बहुत बितायी थी

[५]

हे प्रताप! अब तव प्रताप के डंके कहां निशङ्क
जिनके घोर नाद से होते थे तव शत्रु सशङ्क।
योगी बन तुम बन में रहे।
घास पात खा कर दुख सहे॥
प्रण-रक्षा-निमित्त अकबर से तुमने युद्ध मचाया था
चौबिस वर्ष निरन्तर लड़ कर विजय अन्त में पाया था

[६]

शिव समान शिवराज छत्रपति, साधु, वीर-वर, धीर
जिसके यश की विमल पताका फहरा रही अधीर
कीर्ति विशाल, प्रताप विशाल।
शशी-सूर्य-सम उज्वल जाल॥
मातृ-भूमि के कारण जिसने कटि कस खड्ग उठाया था
यवनानल को ठण्ढी करके सुख-मय वायु बहाया था

[७]

...रत-भूमि ! प्रकट कर थोड़े पूर्व-पुरुष अवतार ।
...ज-भक्त-वर, देश-भक्त-वर, गुण गौरव-आगार ॥
यदपि नहीं अब उनका रूप ॥
तदपि विदित है नाम अनूप ॥
...म इस कुत्सित कलिकराल में सुयश उन्हींका गाते हैं
...नके ही चरित्र-अवलम्बी कवि भी कवित बनाते हैं

उमाशङ्कर द्विवेदी ।

वर्षाऋतु वर्णन ।

[कालिदास के ऋतुसंहार से]

(सरस्वती के द्वितिय भाग की आठवीं संख्या से आगे)

जिनके उपल नील-उत्पल-निभ,
जल-भर-विनत, नवल-घन-चुम्बित ।
जिन पर त्यों सब ओर विकल-रव,
निर्झर विमल बहैं छवि मंडित ॥
विलसैं मुदित मयूर नृत्य-रत,
अगनित वृन्द, अमित आनन्दित ।
सो मम प्राण-प्रिये ! पर्वत-वर
करैं चाह-युत चित्त उमंगित ॥ १६ ॥

अर्जु न, साल, कदम्ब, केतकी के
कानन कम्पायमान कर,
उनके कुसुमों के सैारभ से होवै गर्भित
ऐसा सुखद समीर, मेघ-जल-सीकर
से होकर शीतलतर
किसके मनको करै नहीं उत्सुक ग्रैार चित्रित !
सुठि चीकने चारु घने कचभार,
नितम्ब न लों बिथुरावती हैं ।
अवतंस सुगन्धित फूलन के
गुथि ग्रैानन सोभा सजावती हैं ।
कुच कुंदन कों पहराय हरा
मुख सैांधी सुरा महकावती हैं ।
इमि सामन में मन कामिन के तिय
काम की ज्योति जगावती हैं ॥ १८ ॥

सोंहनी चञ्चल बिज्जुलता
मन मोंहनी इन्द्रकमान सुहावत ।
त्यों कजरारे भरे बदरा घन-
घोरत ग्रै धुरवा धरि धावत ।
नारिन की नवरूप छटा मणि
कुण्डल कोंधनी जोय लुभावत ।
पावस में परदेसिन कैा मन
ये सबरे एक संग चुरावत ॥ १९ ॥

माला कदम्ब नव केसर केतकी की
बाला बनाके पहनें सिर पै सजीली ।
कानों के बीच अवतंस तथा अनूठे
गूंथे हुए ककुभ की कलियों के बांके ॥ २० ॥

स्याम अगरु मिश्रित चन्दन रस-
चर्चित सुठि मृदु अंग किये ।
कुसुम-रचित अवतंस-सुरभि-कृत
केश-पाश छवि-राशि लिये ॥
सुनि जलधर घहरान सुरत-सुख-
रस-लोभिनि हुलसाय हिये ।
जायं सांझ ही त्वरित सेज-गृह
तजि गुरुगृह नव वाम प्रिये ! ॥ २१ ॥

नीले सरोज के पत्रन कैा सैा खरैा
जिन कैा रंग नीलैा सुहावत ।
वारि के भार झुके बदरा मृदु
ब्यारि सों मन्द चलैं छवि पावत ॥
इन्द्र के चाप की बांकी छटा
नव सोभा सनी सुखमा सरसावत ।
पीतम दूरि गये जिनके तिन
तीयन कैा मन लै तरसावत ॥ २२ ॥

फूलि कदम्ब उठे चहुं ग्रोर
सोई मन कैा मनु मोद प्रकास है ।
ब्यारि चले तें हिलें तरु डार
सोई मनु ग्रानँद नृत्य विलास है ।
कांटेन सों युत केतकी सोहै
सोई रस की मुसक्यानि सहास है ।

ताप सों मुक्त सिंची नव नीर सों
यों वनभूमि दिखावै हुलास है ॥२३॥

सिर बकुल-फूलयुत-मृदुल मालती माला।
विकसित-वन-कुसुम-समेत यूथिका-जाला ॥
त्यों मुकुलित-नवल-कदम्ब ललित छविवारे।
लै कर्नफूल खुटि रचत लगत जो प्यारे ॥
इमि पावस प्रेमी प्रकृत प्रेमरस भीनौ।
बनि प्रीतम जनु सिंगार तियन कौ कीनो ॥२४॥

[क्रमशः

श्रीधर पाठक।

भूतौंवाली हवेली।

अच्छा, तो सुनिए। जब सन् १८—में—को मेरी बदली हुई तब मैं अपने एक नौकर ही को लेकर वहां चला गया। पहले तो मैं धर्म-शाला में जाकर टिका, फिर रहने के लिये एक मकान ढूंढ़ने लगा। परन्तु दैव की इच्छा कुछ समझ में नहीं आती; एक ही वर्ष के भीतर चार बार मेरी बदली हुई, और जहां जहां मैं गया, वहां वहां सब कहीं मकान के लिए मुझे बड़ा कष्ट उठाना पड़ा। इस कारण अपने एक विश्वासी पुराने नौकर को छोड़ कभी किसी आत्मीय को अपने साथ रखने का सुविधा न हुआ। इस बार भी उसी अचिन्तनीय दैवी नियम के अनुसार घर के लिये मुझे गली गली छानना पड़ा। दो दिन तक घूमते घूमते मैं थक गया। निदान तीसरे दिन मुझे पता लगा कि अमुक गली में एक मकान खाली है; पर उसमें कोई कभी नहीं रहता; फाटक में सदा ताला लगा रहता है। जब मैं वहां गया तब वास्तव में द्वार मैंने बन्द पाया। आस पास कोई पड़ोसी भी नहीं देख पड़ा कि जिससे उस घर के स्वामी का पता मैं पूछता। थोड़ा समय योंही सोच विचार में गया। मैं निराश होकर लौटही आने पर था कि एक मेहतर का लड़का उस ओर आ निकला। उसने मुझे द्वार पर खड़ा देख कर पूछा, "क्या, आप इस मकान का हाल पूछते हैं?" मैंने कहा हां मैंने सुना है कि यह किराए पर देने के लिये है।

"किराए पर? आप इसे किराए पर लेना चाहते हैं! अजी इसमें कोई नहीं रह सकता। और कौन कहै, लाला जी ने मेरी अम्मा को एक दि[न] एक रुपया तक देने कहा था कि कभी कभी भीतर झाड़ू लगा दिया कर; पर वह उस पर राज़ी नहीं हुई"।

मैंने पूछा "क्यों, इसका क्या कारण है?"

"अजी, इसमें भूत रहता है। एक बुढ़िया लाला जी ने इसकी पौरी में बसाया था; वह बिचा[री] एकही अठवाड़े में एंठ गई। भूतों ने उसका ग[ला] घोट डाला"।

भूत पलीत से मैं कभी नहीं डरता था। [अ]ब इस लड़के की बातों को सुनकर मेरा कौतूहल [ब]ढ़ चला। मैंने मनमें ठान लिया कि इस लम्बे चौ[ड़े] महल में आत्माराम ही आराम करेंगे। यह निश्च[य] कर लड़के से घर के स्वामी का पूरा पूरा [पता] जान मैं तुरन्त उनके पास गया और मैंने अ[पना] प्रयोजन कह सुनाया। यह मैंने खोलकर कह दि[या] कि मैंने सुना है कि उस घर में भूतों का डेरा है, [और] उसका पूरा पूरा हाल जानने की मुझे बड़ी उत्क[ण्ठा] हो रही है। यदि आप कृपा कर उसमें मुझे र[हने] दें तो मैं आपका बड़ा अनुगृहीत होऊंगा। ला[ला] जी बड़े विनय से बोले—"बाबू साहब! आपको [मैं] विदेशी सा देखता हूं। पर तौभी उस मकान [को] आप अपना ही समझें। किराए की कोई बात [नहीं] है। यदि आप साहस कर उसमें एक रात भी [रह] सकें, और भूत का यथार्थ परिचय ले सकें [तो] मैं उलटा आपका कृतज्ञ होऊंगा। उसमें तो [ऐ]से ऐसे स्वरूप लोगों को देख पड़े हैं कि उसका [अब] इस समय कोई दस रुपए भी नहीं देता। [और] कोई उसे किराए ही पर लेना चाहता है। [मुझे] नौकर तक नहीं मिलता कि कभी कभी उसके भीतर, और कुछ नहीं तो झाड़ू बुहारी लगा दिया करे। अजी रात को तो भली च[लाई]

उसमें दिनको भी भूत नाचा करते हैं। बड़ी कठिनाइयों से, कुछ दिन हुए, अकाल की मारी एक बुढ़िया कङ्गालिन मुझे मिल गई थी, उसे मैंने उसकी पौरी में बसा दिया था। बिचारी बड़ी भलीमानुस थी और जो जो उसे जानते थे सब उसकी बड़ाई करते थे। इससे मैंने विचारा कि यह दुखिया है; इसके रहने को कोई स्थान नहीं है; चलो यही वहां बस जाय जिससे लोगों का भ्रम तो छूट जाय। वह बुढ़िया भी जी की बड़ी कड़ी थी। और सच पूछिए तो उसे छोड़ किसी और ने आज तक वहां रहना स्वीकार ही नहीं किया। परन्तु वह भी ठीक आठवें दिन वहां मरी मिली।

मैंने पूछा "कितने दिनों से इस घर की यह अवस्था है?"

यह तो मैं आपसे ठीक नहीं कह सकता। मैं भी यहां कोई ४० वर्ष पीछे आकर रहा हूं। मैं टोंक के नवाब के यहां नौकर था। अब पेन्शन लेकर यहां अपने ननिहाल में आया हूं। वह भूतवाली कोठी और जिसमें मैं अब रहता हूं, ये सब मुझे अपने नाना से मिले हैं, क्योंकि मुझे छोड़ उनके वंश में और कोई उनका आत्मीय नहीं है। मैं जब यहां आया तब भी उसमें ताला लगा था। मैंने उसे खुलवा कर एक बार झड़वाया पुछवाया भी था, और जगह जगह थोड़ी बहुत मरम्मत भी करवाई थी। एक रिसालदार साहब एक बार आकर वहां टिके थे, परन्तु वे दूसरे ही दिन सपरिवार डरकर वहां से उठ गए। एक आध और भी किरायेदार आए थे, परन्तु एक दिन से अधिक वहां कोई भी नहीं ठहर सका। जिन जिन मनुष्यों ने उसमें पैर रक्खा उन सबको एक ही रूप नहीं देख पड़ा। जितने मनुष्य उसमें रहे सबको भिन्न भिन्न प्रकार के स्वरूपों से काम पड़ा। बाबू साहब! मैंने सब कथा साफ़ साफ़ आप से कह दी। आप परदेशी हैं, इससे अच्छी तरह सोच विचार कर जो मन में आवे कीजिए"।

मैंने पूछा "क्या आपको स्वयं उस घर में रहने का कौतूहल नहीं हुआ?"

"हां, रात तो मैंने वहां एक भी नहीं बिताई, परन्तु एक बार दिन दोपहर में तीन घण्टे निश्चय रह चुका हूं। मेरे कौतूहल की निवृत्ति उससे नहीं हुई, परन्तु वह कुछ ठंढा सा पड़ गया है। तथापि दुबारा परीक्षा लेने की मुझे इच्छा नहीं है। देखिए, आप मुझसे यह नहीं कह सकते हैं, कि मैंने आपसे कोई बात छिपा रक्खी है। इससे यदि आपका हृदय बहुत ही कड़ा हो और उत्कण्ठा आपकी बड़ी ही उग्र हो, तो आप भी परीक्षा ले लीजिए। नहीं तो, मैं मित्रभाव से आपसे कहे देता हूं कि अपने संकल्प को आप त्याग ही दें तो अच्छा है।

मैंने कहा, जी हां, मेरी उत्कण्ठा का अन्त नहीं है। और यद्यपि मैं यह नहीं कहता कि मेरा कलेजा इसपात का है तथापि मैं बड़ी बड़ी कठिनाइयां झेल चुका हूं; इसलिए सहज ही में मैं डर से नहीं डरता।

लाला जी इसपर फिर कुछ न बोले। सन्दूक खोल कर उस हवेली की कुञ्जी उन्होंने मेरे हाथ में दी और भूतभावन भगवान को समर्पण कर मुझे विदा किया।

इस अद्भुत परीक्षा के लिये मेरा उत्साह क्रमशः बढ़ता ही जाता था। धर्म्मशाला में पहुंच कर मैंने अपने विश्वासी भृत्य से इस अनोखे मकान का समाचार कह सुनाया। मेरा सेवक एक प्रफुल्लचित्त निडरस्वभाव का युवा था और मेरी ही भांति अलौकिक कथाओं पर उसे कम विश्वास था।

मैंने उससे पूछा "ठकुरी, दिल्ली के उस मकान की वह बात तुम्हें याद है जहां लोग कहते थे कि एक सिरकटा हुआ प्रेत सबको बाँह फैला कर डराया करता था, और यद्यपि हमलोगों ने बहुतेरा माथा पचाया पर उसका कुछ पता न मिला। आज इस नगर में भी एक ऐसेही निराले मकान का पता मुझे लगा है जिसमें, लोग कहते हैं कि, दिनको भी भूत नाचा करते हैं। आज रात को उसी मकान में सोयेंगे। जो कुछ मैं उसके विषय में सुन चुका हूं,

उससे जान पड़ता है कि आज हमलोगों को कोई अनोखी बात अवश्य देख या सुन पड़ेगी। अच्छा, जो मैं तुम्हें अपने साथ वहां ले जाऊं तो तुम धीरज तो नहीं छोड़ोगे? तुम्हारा साहस क्या वैसाही बना रहेगा? बताओ तो सही, क्या तुम पर मैं आज विश्वास कर सकता हूं?"

ठकुरी ने अपनी दन्तावली को दिखलाते हुए कहा, "जी हां, हमें आप अपने साथ ही रखना। भला तमाशा तो देखलें"।

"बहुत अच्छा, तो ये कुञ्जियां लो। वह मकान अमुक अमुक महल्ले में है। जाओ, जौनसी कोठरी तुम्हें अच्छी लगे मेरे सोने के लिये खूब साफ़ कर रखना, क्योंकि महीनों से उस में कोई मनुष्य नहीं रहा है। जाड़े का दिन भी है, इसलिए अंगीठी में खूब आग जला देना और लकड़ी भी रात भर के लिये वहीं रख छोड़ना। लम्प, तेल, दियासलाई आदि सब तैयार कर रखना। मेरा तमञ्चा और किरिच भी बिछौने के पास रख देना [मेरे पास हथियारों का लैसंस सदा रहता है, क्योंकि बड़े बड़े बीहड़ स्थानों में मुझे रहने का काम पड़ा करता है] फिर देखेंगे हमारे तुम्हारे समान दो हट्टे कट्टे मनुष्यों के सामने कौन सा भूत आकर खड़े रहने का साहस करता है।

यह कह कर मैं अपने काम पर चला गया और फिर दिन भर किसी भूत प्रेत की मुझे सुध न रही। सांझको हलवाई के यहां से कुछ मंगा कर और दफ़्र ही में खा पी कर मैं अपने नए घर में दाख़िल हुआ। मेरे साथ एक विलायती कुत्ता था; वह कभी मेरा साथ नहीं छोड़ता था। इस समय वह भी मेरे साथ ही था। यह कुत्ता बड़ा बली, बड़ा साहसी और बड़ा तीक्ष्ण-दृष्टिवाला था। इसमें एक विशेष बात यह भी थी कि घर के अँधेरे कोनेकानों में खोदखाद करने का इसे स्वभाव था। इस कारण मैंने सोचा कि यदि किसी कोने में कोई भूत बैठा होगा तो यह टामीही आगे उसका सत्कार करेगा।

जाड़े की ऋतु थी; सरदी बहुत पड़ रही थी। आकाश भी बादलों से कुछ घिरा हुआ था। तो भी कभी कभी चन्द्रमा अपना मुँह निकाल निकाल कर पृथिवी की अँधेरी शोभा को देख रहा था। परन्तु उसका मुख मलीन सा देख पड़ता था। तिस पर भी मुझे आशा हुई कि यदि मेघ महाराज ने कृपा की तो रात चढ़ने पर चाँदनी खुल कर निकलेगी।

घर पहुंच कर ठकुरी को मैंने प्रफुल्लचित्त और निरुद्वेग पाया। उसने मुसकरा कर कहा—"सब ठीक है। मकान तो अच्छा है। बड़े सुख से यहां रहेंगे"।

मैं कुछ उत्सुक सा होकर बोला, "आः, और कोई विशेष बात तुम्हें नहीं जान पड़ी?"

"भैया, मैं सच, कहूंगा। इस घर में कुछ विलक्षण तो अवश्य है"।

"क्या! क्या! कहो तो सही!!"

"ऐसा जान पड़ता था कि कोई मेरे पीछे पीछे आ रहा है। और दो एक बार चुपके से मानो कोई मेरे कान के पास कुछ फुस फुसारहा है"।

"तुम डरे तो नहीं?"

"अजी राम कहिए। हुंः!"

उस मनुष्य के निर्भीक मुख को देख कर मुझे इस बात का पूर्ण विश्वास होगया कि चाहे कुछ हो जाय, मेरा नौकर मुझे छोड़ कर नहीं भागेगा। हमलोग आँगन में गये और बाहरी द्वार को भली भांति बन्द कर आये; परन्तु मेरा ध्यान अपने कुत्ते की ओर गया। पहिले तो वह बड़े आग्रह से भीतर दौड़ आया; परन्तु आकर तुरन्त ही दुम दबा कर द्वार की ओर वह भाग खड़ा हुआ और निकलने के लिये मार्ग ढूंढने तथा कूं कूं करने लगा। मैंने उसके सिर को अपने हाथ से थपथपाया और उसे दिलासा दिया। वह बिचारा करता ही क्या? उसे अपनी दशा पर सन्तोष करना पड़ा और मेरे और ठकुरी के पीछे पीछे वह बड़ी सावधानी से चलने लगा। पहले मैंने नीचे के सब तहख़ानों की देखभाल की और मकड़ी के जालों से भ

...ए जो ताक़ थे, उन्हें विशेष यत्न से देखा। दिवाल की ईंटें सब सील खाई हुई थीं। सब कहीं, कुछ तो सील को देख कर, कुछ मकड़ी के जाले और कूड़ाकरकट को देख कर और कुछ धुएं की कालिमा को देख कर मन में आप ही आप एक विचित्र भाव का उदय होता था। ज्यों ज्यों हमलोग चलते जाते थे, भूमि पर हमारे पीछे हमारे पैरों के कुछ कुछ चिन्ह होते जाते थे। इस समय एक अनोखी घटना हुई। मेरे सामने अकस्मात् किसी के पैर का एक चिन्ह आपही आप हो गया। मैं ठिठुक गया। ठकुरी का हाथ मैंने पकड़ लिया और उसे भी वह पदचिन्ह दिखाया। उस पदचिन्ह के आगे बढ़कर एक और वैसा ही चिन्ह बन गया। उसे भी हम दोनों ने देखा। मैं तुरन्त आगे बढ़ा और मेरे आगे आगे पदों के चिन्ह भी वैसेही बनते गए। मैंने ध्यान से जो देखा तो जान पड़ा कि वे चिन्ह बड़े हलके हैं और किसी बालक के नंगे पैर के हैं। जब दूसरी ओर की दीवाल के पास हम पहुंचे तब यह दृश्य बन्द हो गया और लौटती बार फिर हमें नहीं देख पड़ा। तब हमलोग फिर सीढ़ी पर चढ़े और आंगन में आकर पहले खण्ड की कोठरियों की देखभाल करने लगे। रसोई की कोठरी, लकड़ी और पानी रखने की कोठरियां, पौर और एक और भी छोटीसी कोठरी उस खण्ड में थीं—सब सुनसान! यदि इस हवेली के भीतर रात को कोई अकेला जाता तो उसकी छाती अवश्य दहल जाती। तब हम बैठक में आये। यह स्थान कुछ सुथरा सा जान पड़ा। मैं एक तख़त पर, जो वहां पड़ा था, बैठ गया। ठकुरी ने एक कोने में लम्प रख दिया। मैंने उसे किवाड़ बन्द करने को कहा। वह मेरी आज्ञा पालन करने ही पर था कि, मेरे सामने जो मूढ़ा रक्खा था वह, दिवाल की ओर से वेग के साथ, परन्तु बिना शब्द के, हटने लगा और मेरे तख़त से कोई दो हाथ के अन्तर पर ठीक मेरे सामने आ कर ठहर गया।

"वाः, यहां तो भानुमती का खेल हो रहा है" यह कह मैंने कुछ हंस सा दिया। परन्तु उस समय मेरे कुत्ते ने अपना सिर समेट लिया और वह गुर्राने लगा।

ठकुरी ने लौट कर मूढ़े का हटना नहीं देखा था। वह कुत्ते को पुचकारने लगा। मैं उस मूढ़े की ओर देखता ही रहा। थोड़ीही देर में उसपर एक हलके नीले रंग की ज्योति के समान मनुष्य के आकार की एक छाया सी देख पड़ी। छाया इतनी हलकी थी कि मैंने अपनी दृष्टि पर विश्वास नहीं किया और नौकर से कहा "इस मूढ़े को फिर उस दिवाल के पास रख आओ"।

ठकुरी ने वैसाही किया; परन्तु तुरन्त मुड़ कर उसने कहा "क्या आपने मुझे मारा?"

"मैंने?"

"किसीने मुझे मारा, मेरे कन्धे पर ठीक इसी जगह आकर लगा है"।

"नहीं, नहीं। परन्तु यहां पर जादूगर हैं। यद्यपि उनकी चालाकियां देख नहीं पड़तीं तथापि हमें डराने के पहिले ही वे पकड़े जांयगे"।

बैठक में हमलोग बहुत देर तक नहीं ठहरे। वास्तव में वहां सील इतनी अधिक थी, और सरदी इतनी लगती थी कि हमें ऊपर के खण्ड में चला जाना पड़ा। जाते समय हमने बैठक में ताला लगा दिया। जिस जिस कोठरी में हमलोग गये थे, उस उसमें लौटते समय हमने ताला भर दिया था। मेरे सोने के लिये मेरे नौकर ने जो कोठरी चुनी थी, उस खण्ड में वही सबसे अच्छी थी। वह खूब लम्बी चौड़ी थी और गली की ओर उसमें दो खिड़कियां भी थीं। अँगीठी में धधकती हुई आग जल रही थी और उसके पास ही मेरे लिये चारपाई पर बिछौना बिछा था। चारपाई और खिड़की के बीचोबीच बांई ओर एक द्वार था। मेरे नौकर ने अपना बिछौना जिस कोठरी में बिछाया था वह मेरी कोठरी के बग़ल ही में थी और उसी द्वार से होकर उसमें जाने का मार्ग था। मेरे नौकर की

इस कोठरी में घुसने का कोई दूसरा मार्ग और नहीं था। अंगीठी के पास दीवाल में जड़ी हुई एक आलमारी थी और उसपर बादामी काग़ज़ चिपकाया हुआ था। इस आलमारी की खोज की गई। दो एक कपड़े टांगने की खूंटियों को छोड़ उसमें और कुछ नहीं था। दीवालों को ठोक ठाक कर देखा तो ठोस जान पड़ीं। यों सब वस्तुओं की जांच परताल कर मैंने अपनेको थोड़ी देर गरमा लिया। और एक चुरट सुलगा कर मुंह में दाब, नौकर के साथ फिर दूसरे दूसरे स्थानों को देखने के लिये मैं निकला। सीढ़ी के पास एक और द्वार था; परन्तु उसके किवाड़ बन्द मिले। "भैया"–मेरे नौकर ने आश्चर्य में होकर कहा, "जब मैं पहले आया था तब और और किवाड़ों की तरह मैंने इन्हें भी खोल दिया था; ये आपसे आप भीतर से बन्द होग–"

उसकी बात शेष भी न होने पाई थी कि, यद्यपि हमलोगों में से किसी ने उस द्वार को उस समय छुआ तक नहीं था, किवाड़ धीरे धीरे आपसे आप खुल गये। एक क्षण भर हमलोगों ने परस्पर एक दूसरे की ओर देखा! दोनों के मन में एकही चिन्ता हुई कि हो न हो यहां किसी के हाथ की चालाकी अवश्य देख पड़ेगी। मैं पहले दौड़ कर भीतर घुसा; मेरा नौकर पीछे से। पर देखा केवल एक छोटी सी उदासी से भरी हुई कोठरी! और कोई दूसरा वहां नहीं था। एक कोने में कई टूटे फूटे बक्स और काठ के टुकड़े पड़े थे। एक छोटीसी खिड़की थी जिसके किवाड़े बन्द थे। जिस द्वार से होकर हम भीतर आए थे उसे छोड़ कोई और द्वार नहीं था। भूमितल बहुत पुराना, ऊबड़ खाबड़, खुदा खुदाया सा था। दो एक ठौर कुछ मरम्मत सी भी की हुई थी; परन्तु न तो कोई जीता जागता मनुष्य ही हमने देखा; न कोई ऐसा स्थान ही पाया जहां मनुष्य छिप सके। जब हमलोग इस देख भाल में लगे थे, तब वह एकमात्र द्वार, जिसमें होकर हमलोग भीतर घुसे थे, अकस्मात् बन्द हो गया,–हमलोग बन्दी कर लिए गए!!!

अब पहली बार एक अकथनीय भय ने मेरे हृदय में अधिकार जमाया। परन्तु मेरा नौकर अब भी अटल रहा। उसने कहा "क्या ये लोग हमें यहाँ क़ैद करना चाहते हैं? कहिए तो लात मार कर इन पुराने किवाड़ों को तोड़ डालूं"।

मैंने अपने मन से आतङ्क को हटा कर कहा "पहले देखो तो सही खोलने, से खुलते हैं कि नहीं मैं इस खिड़की को खोलता हूं।

मैंने खिड़की खोल डाली। बाहर पिछवाड़े की ओर मैदान सा जान पड़ा। वहां से चढ़ने का कोई मार्ग नहीं था। खिड़की बहुत ऊंचे पर थी; यदि कोई कूदता भी तो चकनाचूर हो जाता।

उधर ठकुरी ने बहुत कुछ चेष्टा की, पर किवाड़ न खुले। यहां पर एक बात कह देनी उचित है कि भय का उसके मन में तनिक भी आगमन न हुआ था उसके नस नस में साहस भरा हुआ था; मुख शान्त देख पड़ता था; ऐसी आश्चर्य्यजनक अवस्था में भी वह ऐसा प्रसन्नचित्त जान पड़ता था कि देख कर मनही मन उसे बिना सराहे मुझसे नहीं रहा गया मैं अपने भाग्य पर यह बिचार कर प्रसन्न हुआ कि ऐसी दशा में मुझे उचित सहयोगी मिला है। वह बड़ा बलवान् था, परन्तु लातों पर लातें चोटों पर चोट, चला कर भी उन पुराने किवाड़ों को वह न तोड़ सका। तोड़ना तो दूर रहा, इतनी चोटें खाने पर भी वे तनिक टसके तक नहीं हांफते हुए वह इस काम से रुक गया। मैंने भी बहुतेरी चेष्टायें कीं; पर वे सब निष्फल हुईं तब फिर वही पूर्वकथित भय का सञ्चार मेरे मन में हो आया। परन्तु इस वार वह भय अधिक शीघ्रता से मेरे हृदय में छा गया। कलेजा कुछ कांप सा उठा। मुझे कुछ ऐसा अनुमान होने लगा कि उस कोठरी की मैलीकुचैली भूमि से मानो एक प्रकार का धुंआ सा उठकर मेरे श्वास को रोकता सा है, और यदि कुछ अधिक देर यहां बन्द रहना पड़ा तो दम घुट कर प्राण न निकल जांय। परन्तु यह मेरा अनुमानमात्र ही था; क्योंकि खिड़की

खुली थी, उससे वायु भी ठंढी ठंढी आ रही थी; और ठकुरी ज्यों का त्यों खड़ा था। उसे कुछ भी क्लेश नहीं होता था।

अब, थोड़ी देर में किवाड़ फिर आपसे आप खुल गये। हम दोनो तुरन्त बाहर निकल आये। वहां दोनों ने एक धुंधली हलकी सी परन्तु बड़ी ज्योति देखी, जिसे थोड़ी देर देखने पर यह जान पड़ता था कि मानो कोई मनुष्य की आकृति ही सामने खड़ी है। परन्तु कुछ स्पष्ट नहीं जान पड़ता था। वह ज्योति हमारे सामने से चलने लगी। मैं भी ठकुरी के साथ उसके पीछे हो लिया। वह ज्योति सीढ़ी के दक्षिण ओर एक छोटीसी कोठरी में घुसी। किवाड़ उसके खुले हुए थे। मैं भी कोठरी के भीतर चला गया। तब वह ज्योति झटसे एक छोटी गोली के बराबर हो गई, और बड़ी स्वच्छ और चमकती हुई देख पड़ी। कोठरी के एक कोने में एक खटिया पड़ी थी, और उसपर मैलाकुचैला एक कपड़ा पड़ा था। वह ज्योति उस वस्त्र पर जाकर तनिक ठहरी; कुछ कांपी और फिर बुझ गई। हमलोग खटिया के पास गये और उसे देखने लगे। वह बहुत पुरानी थी और उसके बान सब सड़ गल गये थे। उसके पास ही दीवाल में एक ताक था, जिसमें कुछ कागज़ सा मुझे पड़ा मिला। उसे उठा कर जो मैंने देखा तो वे दो टुकड़े थे। उनमें कुछ लिखा हुआ था। दोनो कागज़ों को मैंने ले लिया। और कुछ उस कोठरी में नहीं देख पड़ा। वह ज्योति भी फिर नहीं देख पड़ी; परन्तु लौटती बार हमारे आगे आगे किसी के पैरों के शब्द फिर स्पष्ट सुनाई पड़ने लगे। कागज़ दोनों मेरे हाथ में थे। जब मैं सीढ़ी के पास आया तो किसीने मेरा हाथ पकड़ लिया। जान पड़ा कि कोई बड़ी नरम वस्तु बहुत ही धीरे धीरे मेरे हाथ से कागज़ों को छीने लेती है। मैंने कागज़ों को अधिक सावधानी से पकड़ रक्खा। तब उन्हें छीनलेने की वह चेष्टा बन्द होगई।

जब हम अपनी सोने की कोठरी में पहुंचे, तब मैंने देखा कि मेरा कुत्ता मेरे साथ नहीं गया था। वह आग के पास सिकुड़ कर बैठा हुआ कांप रहा था। कागज़ों को पढ़ने की मुझे बड़ी उत्कण्ठा हुई; मैं उन्हें पढ़ने लगा; और मेरा नौकर मेरी आज्ञा से एक बकस से मेरे शस्त्रों को निकाल कर उन्हें मेरे बिछौने के सिरहाने रखने लगा। यह करके वह कुत्ते की ओर मुड़ा और उसे साहस देने और और पुचकारने लगा। किन्तु कुत्ते ने उसकी ओर तनिक भी ध्यान नहीं दिया।

दोनों कागज़ चिट्ठियां थीं। तारीख़ भी उनपर लिखी थी; जिससे ज्ञात हुआ कि ४५ वर्ष पहिले वे लिखी गई थीं। किसी पुरुष ने अपनी प्रियतमा को उन्हें लिखा था। चाहे वह उसकी विवाहता स्त्री ही रही हो। अक्षरों और लेख से जान पड़ता था कि लिखनेवाला पुरुष था और लिखना पढ़ना भी कुछ भली भांति नहीं जानता था। लिखने के ढंग से ऐसा जान पड़ता था कि लेखक ने कोई बड़ा भारी पाप किया होगा। "यदि कोई हमलोगों को पकड़ ले", "रात को अपने पास किसीको न सोने देना, क्योंकि नींद में तुम्हें अपने मन की बात कह डालने की आदत है", "क्या उसके फिर जिए बिना बिगड़ी बात नहीं सुधर सकती"—इत्यादि, इसी भांति के वाक्यों से मेरे मन में लेखक की ओर नाना प्रकार के सन्देह उपस्थित होने लगे। पत्रों को मैंने रख लिया और उनके विषय में मनही मन विचार करने लगा।

इस भांति सोच विचार करने से मेरे मन में कहीं फिर भयका सञ्चार न हो जाय, इसलिए मैंने सब प्रकार की भावनायें मन से हटा दीं और पक्का संकल्प कर लिया कि चाहे जो हो, साहस के साथ रात भर काटूंगा। चिट्ठियों को मैंने पास के सन्दूक़ पर रख दिया। आग को चिमटे से तेज़ कर दिया; और एक पुस्तक ले कर पढ़ने लगा। साढ़े ग्यारह बजे तक मैं इसी भांति पढ़ता रहा। तब बिछौने पर पड़ कर, मैंने नौकर से कहा कि

जाओ तुम भी पड़ रहो; परन्तु सचेत रहना। दोनों कोठरिओं के बीच का द्वार खुला छोड़ देना। मैंने लम्प की बत्ती के। बढ़ा कर, अपनी घड़ी के। उसी सन्दूक पर रख दिया और पड़ा पड़ा फिर पुस्तक पढ़ने लगा। कुत्ता भी आग के पास पड़ा हुआ था। कोई आध घण्टा बीत गया होगा कि एक बड़ा शीतल वायु का झोंका मेरे मुख के। छुगया। मैंने सोचा कि गली की ओर की खिड़की खुलगई होगी; परन्तु नहीं, वह ज्यों की त्यों बन्द मिली। तब मैंने देखा कि लम्प की शिखा बड़े वेगसे कांप रही है। उसी क्षण तमंचे के पास से मेरी घड़ी हटने लगी–धीरे–धीरे–पर किसीको उसे पकड़ते वा छूते मैंने न देखा,–अरे, वह चलदी! मैं उछल कर खड़ा हो गया; एक हाथ में बन्दूक और दूसरे में किरिच मैंने पकड़ ली और अपने चारो ओर मैं देखने लगा। सिरहाने की ओर किसीने धीरे धीरे, परन्तु स्पष्टरूप से तीन बार खट खट शब्द किया। ठकुरी चिल्ला उठा "भैया, आप हैं?" मैंने कहा "नहीं, सावधान रहो"।

कुत्ता भी उस समय जाग उठा और धनुष की नाईं अपनी पीठ बना कर बैठ गया। कानों के। एक बार आगे पीछे कर धीरे धीरे उन्हें वह हिलाने लगा। कुत्ता एक अपूर्व भाव से मेरी तरफ टकटकी बांध कर देखता रहा और फिर धीरे से खड़ा हो गया। उसके देह के सब बाल खड़े हो गये और उसी भयार्त्त दृष्टि से एक खिलैाने की भांति होकर निश्चल हो वह मेरी ओर ही देखता रहा। परन्तु मैं अधिक देर तक उसके भावों के। लक्ष नहीं कर पाया, क्योंकि इस समय मेरा नौकर दौड़ कर अपनी कोठरी से मेरे पास आया। यदि भय का साकार रूप कभी किसीने देखा हो तो उस समय उसे मैंने ही देखा था। ठकुरी का रूप कुछ ऐसा बदल सा गया था कि सड़क पर एकाएकी यदि वह मुझे मिलता तो मैं उसे पहिचान न सकता। वह अपनी कोठरी से दौड़ता हुआ आया और मेरे पास से यह कहता हुआ वह बढ़ा चला गया कि "भागो, भागो! मेरे पीछे वह आ रहा है!" वह सीढ़ी के किवाड़ों के पास कूद गया; झट उसने उन्हें खोल डाला और बाहर वह निकल गया। मैं भी उसके पीछे दौड़ा और "ठहर", "ठहर" कह कर बार बार उसे पुकारने लगा। परन्तु कौन किसकी सुने; वह एक एक बार में कई सीढ़ियां लांघता हुआ नीचे पहुंचा। तब मैंने खड़े होकर सुना कि गली के किवाड़ खुले और फिर झटके से बन्द हो गए। भूतौंवाली हवेली में मैं अकेला रह गया।

[अभी और है।

पार्वतीनन्दन।

जल-चिकित्सा।

उपोद्घात।

इस जगत में जितने जीव रहते हैं सबको किसी न किसी प्रकार का लोभ रहता है। निर्लोभी प्राणी शायद कोई बिरला ही होगा। सच्ची उदारता, सच्चे परोपकार और सच्ची देशहित-सम्बन्धी बातें बहुधा हम लोग सुनते हैं; परन्तु यदि विचार करके देखते हैं तो सब में स्वार्थ अथवा बड़ाई की अभिलाषा का थोड़ा बहुत अंश हम अवश्य ही पाते हैं। यह कोई निन्दा अथवा दोष की बात नहीं। परार्थ अथवा परमार्थ ही के लिए सब कुछ करना; स्वार्थ के। बिलकुल ही भूल जाना, दुर्घट है। अतएव अपने लाभ की ओर ध्यान देते हुए जो औरों को भी लाभ पहुंचाते हैं वे सब प्रकार वन्दनीय और प्रशंसनीय हैं।

आज कल, नाना प्रकार के नए नए अस्त्रशस्त्र और यन्त्र आदि निकल रहे हैं। उनके बनानेवाले अपने नवीन आविष्कारों का 'पेटेण्ट' लेकर उनपर अपना अधिकार रक्षित रखते हैं। इससे बिना उनकी आज्ञा उनके नवीन यन्त्रादि के। दूसरा नहीं बना सकता। इस प्रकार उनके निर्म्माता स्वयंही

सबसे अधिक, धनसम्बन्धी लाभ उठाते हैं। परन्तु उनके साथ ही उन उन नवीन यन्त्रों के उपयोग से सर्वसाधारण को भी वे लाभ पहुंचाते हैं। अतएव उनकी विद्या-बुद्धि के प्रभावसे देश का उपकार हुए बिना नहीं रहता।

किसी नवीन वस्तु के बनानेवाले को निर्माता कहते हैं। यदि वह बिलकुल ही नई है, वह पहले थी ही नहीं, तो उसके बनानेवाले को प्रकटकर्ता अथवा आविष्कर्ता कहते हैं। आविष्कर्ताओं में से बिरलेही उदार, उन्नताशय और परोपकारी होते हैं। ऐसें को अपने लाभ की ओर कम और सांसारिक मनुष्यों के लाभ की ओर अधिक ध्यान रहता है। परन्तु अधिक लोगें की लोकहित की सीमा बहुतही संकुचित होती है; उनको अपने लाभ का सर्वोपरि ध्यान रहता है; वे अपने आविष्कारों को छिपाये सा रहते हैं; उनका पूरा पूरा वृत्तान्त औरों को नहीं जानने देते। 'पेटेंट' लेकर भी वे मन में डरा सा करते हैं कि कहीं कोई उनकी विद्या-बुद्धि की थाह न पा जाय; कहीं कोई उन्हीं का सा अथवा उससे मिलता जुलता यन्त्र न बनाले; कहीं कोई उनसे बढ़ न जाय; ऐसा होने से कहीं उनको पैसे की हानि न पहुंचै। ऐसी ही ऐसी शङ्का करके, तान्त्रिकों की तन्त्रक्रिया के समान, वे अपने आविष्कृत यन्त्रों के बनाने की युक्ति आदि का पूरा पूरा वृत्तान्त नहीं प्रकाशित होने देते। ये सदाशयता के लक्षण नहीं हैं।

परन्तु, आज, हम एक ऐसे आविष्कर्ता के विषय में यह लेख लिख रहे हैं जो अपने लाभ का कम, परन्तु सांसारिक मनुष्यों के लाभ का बहुत ही अधिक प्रयत्न कर रहा है। इस उदाराशय, इस परोपकार-मूर्ति, इस महात्मा का नाम लुई कूने है। पाठकों को इस नाम पर आक्षेप न करना चाहिए। नाम में गुणों का वास नहीं रहता है। सब जातियों और सब देशों में महात्मा, उदार-हृदय और परोपकारी पुरुष जन्म ले सकते हैं।

लुई कूने जरमनी के रहनेवाले हैं। उनका घर लेपज़िक नगर में है। उनका चित्र हम अपने वाचकों के देखने के लिए यहां प्रकाशित करते हैं। ये लड़कपन में महा रोगी थे; परन्तु, इस समय,
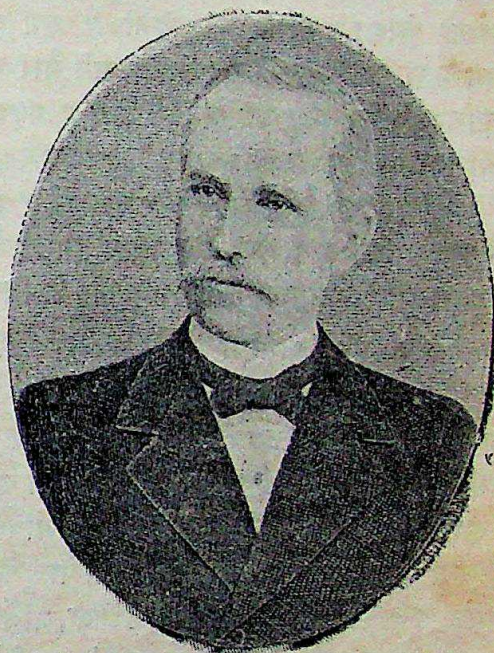
डाक्तर लुई कूने।

इनकासा निरोग मनुष्य संसार में शायद ही और कोई हो। योरप और अमेरिका में जल-चिकित्सा, जिसे अंगरेज़ी में हाइड्रोपैथी (Hydropathy) कहते हैं, बहुत दिनों से प्रचलित है। परन्तु कूने साहब ने उस चिकित्सा को बहुत ही सहज करके उसे एक नया ही रूप दिया है। इस चिकित्सा के द्वारा मानव-जाति को जो लाभ पहुंच रहा है और जो पहुंचैगा, उसकी सीमा नहीं स्थिर की जा सकती। जो मनुष्य मृत्यु के निकट पहुंच जाते हैं वे भी इस चिकित्सा से अनन्त लाभ प्राप्त करते हैं और अकाल मृत्यु से बच जाते हैं। यह चिकित्सा बहुत ही सीधी है। कूने साहब का मत है कि सब रोगों का आदि कारण एक ही है; इसलिए सबकी ओषधि भी एक ही होनी चाहिए। इसको वे सप्रमाण सिद्ध करके बतलाते हैं और नाना

प्रकार के रोगों से पीड़ित लोगों को एकही ओषधि, अर्थात् जलके प्रयोग से, वे अराम करते हैं। उनकी चिकित्सा के महा-लाभदायक होने का एक यही प्रमाण है कि पहले पहल उन्होंने, १० आक्टोबर १८८३ ईसवी को, लेपज़िक में, जल-चिकित्सा का कारख़ाना खोला। थोड़े ही दिनों में दूर दूर से लोग वहां चिकित्सा के लिए आने लगे और वह कारख़ाना इतना चला कि १८९२ में उसे बढ़ाना पड़ा। उससे भी काम नहीं चला। अतएव १९०१ में उसे और बढ़ाने की आवश्यकता हुई। इस कारख़ाने की अब एक प्रचण्ड इमारत हो गई है।

कूने साहब ने अपनी जल-चिकित्सा के विषय में जो पुस्तक जरमन भाषा में लिखी है, उसकी आज तक ५० आवृत्तियां छप चुकी हैं। इस बात से भी अनुमान किया जा सकता है कि उनकी चिकित्सा कितनी लोक-मान्य हुई है। उनकी पुस्तक का अनुवाद संसार की प्रायः सभी प्रसिद्ध प्रसिद्ध भाषाओं में हो गया है। फ़्रेंच, स्पैनिश, अंगरेज़ी, पोर्चुगीज़, रशियन, डच, इटैलियन, स्वीडिश, डैनिश, नार्वेजियन, रोमानियन, हङ्गारियन, सर्वियन, ग्रीक, टर्किश, आरमीनियन, मलाया, तिलैगू, तामील और उर्दू में उनकी चिकित्सासम्बन्धी पुस्तक के अनुवाद विद्यमान हैं और दूसरी भाषाओं में होते जाते हैं।

हमने कूने साहब से, उनकी पुस्तक का हिन्दी अनुवाद करने के लिए, अनुमति माँगी। उन्होंने हमको सहर्ष अनुमतिही नहीं दी, किन्तु अपनी बहुमूल्य पुस्तक की एक प्रति लेपज़िक से उपहार-स्वरूप भेजी, और पुस्तक में जितने चित्र हैं उनके 'ब्लाक' भी वहां से भेज देने की इच्छा उन्होंने प्रकट की। इन बातों से सिद्ध है कि वे पूरे महानुभाव हैं। उनको अपने लाभ का बहुत कम ख़याल है। वे लोभी नहीं हैं। अपनी चिकित्सा का प्रचार करना और उसके द्वारा सर्वसाधारण को लाभ पहुंचाना ही उनका अभीष्ट जान पड़ता है। उनके उदार चरित से दूसरे आविष्कर्ताओं को उपदेश लेना चाहिए।

२—चिकित्सक का कथन।

कूने साहब की चिकित्सा का पूरा पूरा वर्णन इस लेख में, नहीं किया जा सकता। इसलिए हम उसका संक्षिप्त वृत्तान्त लिख कर ही सन्तोष करना चाहते हैं। जिनको उनकी चिकित्सा का पूरा पूरा हाल जानना हो वे उनकी 'न्यू सायन्स आफ हीलिंग' नामक पुस्तक के अंगरेज़ी अनुवाद को पढ़ें। अपनी पुस्तक में उपोद्घात की भाँति जो कुछ कूने साहब ने लिखा है उसको हम, यहां पर, संक्षेप रूप में उन्हींके मुख से वर्णन कराते हैं।

"जब मैं २० वर्ष का हुआ तब मेरे शरीर के अवयवों ने अपना काम—जैसा चाहिए वैसा—करना बन्द कर दिया। मेरे फेफड़े और सिर में पीड़ा होने लगी। मैं ने डाक्टरों की शरण ली; परन्तु उनसे मुझे कोई लाभ नहीं हुआ। मुझे उनपर विश्वास भी न था। मेरी वृद्धा माता बहुत दिन से रोगी थी; वह मुझ से यही कहा करती थी कि मुझे डाक्टरों से होशियार रहना चाहिए। वह यह भी कहती थी कि उसके रोग का कारण डाक्टर ही थे। डाक्टरों की ओषधि करते करते मेरे पिता भी मर गए थे। उनके आमाशय—मेदे—में फोड़ा होगया था। मेरी बीमारी बढ़ती गई। इसी समय, अर्थात् १८६४ ईसवी में, मैंने स्वाभाविक जल-चिकित्सा का नाम सुना। इसलिए मैं जल-चिकित्सकों की सभा में जाने लगा और वहां उनके व्याख्यान सुनने लगा। वे मुझे बहुत ही मनोरञ्जक जान पड़े। उन चिकित्सकों मेंसे एक की अनुमति से मैंने अपनी चिकित्सा भी की। उससे मुझे तत्काल ही कुछ लाभ हुआ। मेरे फेफड़े में जो पीड़ा होती थी वह बन्द हो गई। १८६८ ईसवी में मेरा भाई भी बीमार हुआ—और बहुत बीमार हुआ। जब उसके जीने की आशा न रही तब वह थिओडर हान नामक एक स्वाभाविक जल-चिकित्सक के पास गया और उस की चिकित्सा से उसका रोग जड़ से जाता रहा। इस से मेरा विश्वास इस चिकित्सा में और भी बढ़ गया।

"इधर इस चिकित्सा में मेरा विश्वास बढ़ता था, उधर मेरे शरीर में रोग भी बढ़ता गया। अपने माता-पिता से रोग के बीज जो मैंने पाये थे वे प्रति दिन वृद्धि पाते गए। मेरी दशा बहुत ही शोचनीय हो गई। मैं जीवन से निराश हो चला। मेरा रोग अत्यन्त ही असह्य हो गया। मेरे आमाशय-पर्दे-में मेरा पैतृक (मौरूसी) फोड़ा अन्त को निकल आया। मेरा फेफड़ा बिगड़ गया। मेरे सिर में सदा पीड़ा होने लगी। यद्यपि मैं उस समय मोटा ताज़ा देख पड़ता था, तथापि मैं दुःसह रोग और वेदनाओं की प्रत्यक्ष मूर्ति हो रहा था। इसी दशा में, और सब प्रकार की चिकित्सा और ओषधियों से किञ्चित् भी लाभ न प्राप्त करके, मैं स्वाभाविक जल-चिकित्सा का प्रयोग अपने शरीर पर करने लगा। उस समय यह चिकित्सा बड़ी कठिन थी; उसका वह रूप न था जो रूप उसे अब मैंने दिया है। परन्तु फिर भी वह मेरी स्वाभाविक चिकित्सा से कुछ कुछ मिलती थी। उससे इतना लाभ हुआ कि मेरी पीड़ा कम हो गई, परन्तु मेरा रोग नहीं गया। मेरा मन घर में न लगता था, इसलिए मैं नगर के बाहर जा कर खुली हुई जगहों में घूमा करता था और प्रकृति की सुन्दरता को देख कर उससे अपने मलीन मन को बहलाया करता था। उसी समय मैं अपनी दशा पर और स्वाभाविक चिकित्सा के तत्वों पर भी विचार करता था। ऐसा करते करते इस चिकित्सा का तत्व मेरे ध्यान में आने लगा। कुछ दिनों में मैंने रोगों का कारण जान लिया और उनके दूर करने का उपाय भी मुझे विदित हो गया। मैंने अपनी चिकित्सा के सिद्धान्त स्थिर कर लिए; और दो एक आवश्यक, परन्तु बहुत सीधेसादे यन्त्र, जो चाहिए थे, उनको भी मैंने बना लिया। इस प्रकार मैं अपनेहीं सिद्धान्तों के अनुसार अपनी चिकित्सा करने लगा। मुझे सफलता हुई। मेरा रोग दूर होने लगा। कुछ दिनों में मैं पूर्ण रीति से आरोग्य हो गया। इस समय मेरे हर्ष का पारावार न रहा। मैंने अपनी चिकित्सा के सिद्धान्त औरों को भी सिखलाये। उन्होंने भी उनकी परीक्षा ली और वे भी सफल-मनोरथ हुए। अब मुझे विश्वास हो गया कि मेरी चिकित्सा सच्ची है; उसमें धोखा होने का डर नहीं; उसका प्रयोग करने से लाभ होना ही चाहिए"।

"इस प्रकार, इस चिकित्सा पर जब मेरा विश्वास जम गया, तब मैं उसे सर्वसाधारण में प्रकट करने लगा। डाकृरों से भी उस विषय में मैं बात चीत करने लगा। परन्तु फल उलटा हुआ। किसी-ने मेरी बात न सुनी; सुनी भी तो उसपर किसीने विश्वास न किया। सब लोग सुन सुन कर अचम्भा सा करने लगे; मैं पागल ठहराया जाने लगा। लोग मेरी ओर उङ्गली उठाने लगे। डाकृर लोग बेपरवाही, घृणा और निरादर की दृष्टि से मुझे देखने लगे। उनके अविश्वास को हटाने के लिए मैंने उन्हें अपने यन्त्र, बिना कुछ लिए ही, दे दिये और अपनी चिकित्सा की परीक्षा करने के लिए मैंने बड़ी नम्रता से प्रार्थना की। परन्तु मेरी सुनता कौन है? मेरे दिए हुए यन्त्र घर की किसी अन्धेरी कोठरी में फेंक दिए गए, जहां पर धूल और मकड़ियों के जालों से लिपटे हुए वे अपने दुर्भाग्य पर रोते रहे"!

"यह दशा देख कर मुझे खेद तो अवश्य हुआ; परन्तु मैंने धीरज नहीं छोड़ा। मुझे विदित हो गया कि मेरे तथा मेरे कुटुम्बी, मित्र और सम्बन्धियों के नीरोग हो जाने ही से सबको इस चिकित्सा पर विश्वास न आवैगा। सबको विश्वास दिलाने के लिए मुझे अनेक रोगियों को अच्छा करके यह सिद्ध कर देना चाहिए, कि मेरी जल-चिकित्सा सच्ची है; और वह दूसरे प्रकार की चिकित्साओं से विशेष लाभदायिनी है। नाना प्रकार के रोगों से मनुष्यों को पीड़ित देख मेरा अन्तःकरण पिघल उठा। मैंने कहा, ये लोग अपना हित अनहित नहीं जानते; बिना परीक्षा किये ही ये मुझे मूर्ख ठहराते हैं। इनका इसमें अपराध भी विशेष नहीं है। किसी नवीन वस्तु को देख अथवा सुनकर पहले लोग उससे भागते हैं; उसे बुरा समझते हैं; हज़ार

4

प्रयत्न करने पर भी उसपर विश्वास नहीं करते। अतः मनुष्यजाति को लाभ पहुंचाने के लिए मुझे कष्ट उठाना होगा; हानि भी सहन करनी होगी; लोगों के निरादर का पात्र भी बनना होगा। इन सब बातों का विचार करके मैंने जल-चिकित्सा का एक कारख़ाना खोलना चाहा। परन्तु ऐसा करने से मुझे बड़ी हानि होने का डर था। मेरा निज का एक दूसरा कारख़ाना था। वह २४ वर्ष से बराबर चल रहा था। उससे मुझे बड़ा लाभ था। यदि मैं चिकित्सा-सम्बन्धी नया कारख़ाना खोलता तो मुझे अपने पहले काराख़ाने की देख भाल के लिए समय न मिलता। इस कारण उसकी उन्नति न होती। उन्नति की कौन कहे, उसकी अवनति होने लगती और मुझे व्यर्थ हानि उठानी पड़ती। परन्तु मेरे हृदय में बैठा हुआ कोई प्रेरणा कर रहा था। उसने बार बार उत्तेजित करके जल-चिकित्सा का प्रचार करने के लिए मुझे बद्ध-परिकर किया। इसका फल यह हुआ कि १० आक्टोबर १८८३ को मैंने जल-चिकित्सा का कारख़ाना खोल दिया"।

"कारख़ाना खोलने पर, कई वर्ष तक, बहुत ही कम लोग उसमें चिकित्सा कराने आए। यदि कोई आते भी तो केवल स्नान करने आते; ओषधि कराने न आते। परन्तु क्रम क्रम से आनेवालों की संख्या बढ़ने लगी। पहले पहल दूरही दूर के नगरों से मनुष्य आते थे; परन्तु पीछे से निकट के नगरों से भी आने लगे; और स्वयं लेपज़िक के रहनेवालों ने भी कृपा करना आरम्भ किया। इसी बीच में मैंने "सायन्स आफ़ फ़ेसियल एक्सप्रेशन" अर्थात् "मुख-चर्य्या-विज्ञान" नामक एक विज्ञान के सिद्धान्त स्थिर किये। उसके द्वारा मैं मनुष्यों का मुख देख कर उनके वर्तमान और भावी रोगों का हाल जान लेने लगा। इस विषय की एक पुस्तक भी मैंने सबके जानने के लिए प्रकाशित की। इस प्रकार मेरे कारख़ाने और मेरी नवीन चिकित्सा का वृत्तान्त देश देशान्तर तक पहुंच गया; हज़ारों रोगी मेरे यहां आने लगे; और कठिन से कठिन रोगों से मुक्त होकर हँसते हुए और मुझे धन्यवाद देते हुए अपने अपने घर लौट जाने लगे"।

"धीरे धीरे मेरा तजरुबा बढ़ता गया। मेरा रोग, जो असाध्य कहा जाता था, निर्मूल हो गया। अब यद्यपि मुझे बहुत काम करना पड़ता है, तथापि मुझे थकावट नहीं आती। आज तक मैंने ऐसे अनेक रोगियों को अच्छा किया है जो परलोक को जाने के लिए तैयारी कर चुके थे। यह सफलता विशेष करके मुझे नहाने की एक नई रीति के निकालने के कारण हुई है। इस रीति का नाम मैंने 'मेहन-स्नान' रक्खा है। मैं विश्वास-पूर्वक, दृढ़ता पूर्वक शपथ-पूर्वक कह सकता हूं कि इसके द्वारा स[ब] प्रकार के रोग जड़ से नाश हो जाते हैं। मैं सब प्रकार के रोगों को दूर करने का प्रण करता हूं; परन्तु स[ब] प्रकार के रोगियों को अच्छा करने का प्रण नहीं करता। क्योंकि शरीर में रोग ने यदि अपना घर कर लि[या] और उसे उसने बिलकुल ही निर्बल कर डाला तो उसका दूर होना कठिन हो जाता है। परन्तु, हां ऐसी दशा में भी मेरी चिकित्सा से क्लेश बहुत कम हो जाता है, और यदि रोग निर्मूल न भी हुआ, अथवा रोगी न भी बच सका तो, उस[से] और चिकित्साओं की अपेक्षा अधिक लाभ अवश्य होता है"।

"चिकित्सा की यह जो नई रीति मैंने निकाली है, वह मैंने अनेक परीक्षाओं के अनन्तर, अनेक [वर्ष] पर्य्यन्त उसका मनन करके, निकाली है। इस सम[य] मुझे लोग चाहे कुत्सित और अधम चिकित्सक क[हें] चाहे मुझसे वे घृणा करें; चाहे मेरी वक्तृताओं [को] सुनकर वे मुझ पर पत्थर फेंकें; और चाहे वे मे[री] जितनी निन्दा अथवा अवज्ञा करें, मैं सब सह[न] करने को प्रस्तुत हूं। मैं उनके कटु-वाक्यों [को] चुप चाप सुनूंगा। मैं भली भांति जानता हूं [कि] मनुष्य-जाति के कल्याण करनेवाले जितने [बड़े] बड़े महात्मा हुए हैं, उनको भी लोगों ने आरम्भ [में] बुरा कहा है; उनकी भी उन्होंने निन्दा की है।

“जिस चिकित्सा को आज कल डाकृर लोग करते हैं उसका नाम ‘ऐलोपैथी’ है। उसमें इतनी अधिक दवाइयां दी जाती हैं कि बीमार का शरीर विकार से भर जाता है। दवाइयों का बहुत ही बुरा फल होता है। उनसे रोग दब जाता है; परन्तु निर्मूल नहीं होता। फिर, समय पाकर, वह उठ खड़ा होता है। शरीर में एक प्रकार का विष उत्पन्न हो जाता है जिसके कारण निरोगता का समूल ही नाश हो जाता है। मेरी समझ में चिकित्सा करने की यह रीति मनुष्यों को निरोग करने की अपेक्षा रोगी अधिक कर देती है। चिकित्सा करने की एक दूसरी रीति भी, आज कल, प्रचलित है। उसका नाम ‘होमिओपैथी’ है। उसमें दवाइयों की मात्रा अत्यन्त ही थोड़ी रहती है; इतनी थोड़ी कि खानेवाले को यही नहीं जान पड़ता कि वह है अथवा नहीं। उससे कम हानि होती है। परन्तु इस चिकित्सा में, भोजन पान के विषय में, कोई नियत और स्पष्ट नियम नहीं हैं। यह इसमें बड़ा दोष है। मेरी अल्प-बुद्धि में तो यह आता है कि ‘होमिओपैथिक’ दवाइयों की थोड़ी से भी थोड़ी मात्रा हानि से ख़ाली नहीं है। इन दोनों प्रकार की चिकित्साओं के निर्दोष न होने ही के कारण हान, रौसी, ओथ इत्यादि सज्जनों ने स्वाभाविक जल-चिकित्सा की नींव डाली। इस प्राचीन जल-चिकित्सा में नाना प्रकार के स्नान और पिचकारी आदि का प्रयोग करना पड़ता है। इस आडम्बर की कोई आवश्यकता नहीं। मैं नम्रता-पूर्वक यह भी कह सकता हूं कि इन सज्जनों ने रोगों का कारण भी ठीक ठीक नहीं ढूंढ़ पाया। ईश्वर की कृपा से मैंने इन सब न्यूनताओं को दूर कर दिया है। स्नान करने के आडम्बरों को भी मैंने कम कर दिया है; रोगों का कारण भी मैंने खोज लिया है; मुख-चर्य्या से उनके वर्तमान अस्तित्व अथवा भावी आगमन को जान लेने की विद्या भी मैंने प्राप्त करली है। मैं एक अल्पज्ञ मनुष्य हूं। यह सब मैंने अपनी विद्या और अपने बल से नहीं किया। मुझमें इतनी शक्ति कहां जो मैं यह कर सकूं। उस परम-ज्ञानी परमेश्वर की कृपा ही इसका कारण है। अतएव मेरे कथन को कोई गर्वोक्ति न समझे”।

यह कूने साहब का उपोद्घात है; यह उनकी भूमिका है। उनके कहने की रीति से यह स्पष्ट जान पड़ता है कि जो कुछ उन्होंने कहा है उसमें बनावट बिलकुल नहीं। उन्होंने अपनी बीती यथा-तथ्य कह सुनाई है। उन्होंने अपनी अवज्ञा और अपमान की बात तक कह दी है; कुछ छिपाया नहीं। इसी से जान पड़ता है कि वे सच्चे हैं; लोगों को ठग कर रुपया प्राप्त करने के लिए उन्होंने यह चिकित्सा नहीं चलाई। इसीसे उनके विषय में उनकी पुस्तक के पढ़नेवालों के हृदय में एक प्रकार की श्रद्धा और भक्ति उत्पन्न होती है। इस जगत् में श्रद्धा एक अपूर्व भाव है; उसके प्रभाव से मनुष्यों के बड़े बड़े काम सिद्ध होते हैं। इससे, यदि केवल श्रद्धा ही के बल से कूने साहब की चिकित्सा के द्वारा मनुष्यों को लाभ पहुंचे तो भी कोई आश्चर्य्य की बात नहीं। इसके स्वयं हम और हमारे कई मित्र प्रमाण हैं। [असमाप्त।

विमान और उड़नेवाले मनुष्य।

पुराणों में विमान का नाम अनेक जगह पाया जाता है। उनमें लिखा है कि प्राचीन समय में लोग विमान पर बैठ कर आकाश की राह, एक स्थान से दूसरे स्थान को, आया जाया करते थे। तुलसीदास ने रामायण तक में लिखा है कि लङ्का को जीत कर रामचन्द्र अयोध्या को विमान पर लौटे थे। किसी किसी प्राचीन मन्दिर में विमानों के चित्र भी खींचे हुए देखे जाते हैं। इन बातों से यह जान पड़ता है कि, किसी समय, इस देश में, विमानों का अवश्य प्रचार था; परन्तु उनके चलाने की रीति किसी पुराण अथवा और किसी पुस्तक में नहीं पाई जाती। इस समय गुब्बारे विमान का काम

थोड़ा बहुत देते हैं; परन्तु गुब्बारे में बैठ कर आकाश में उड़ना बड़े धोखे का काम है। अनेक मनुष्यों के प्राण गुब्बारे में चढ़ कर उड़ने से चले गए हैं। फिर, उसमें एक दोष यह है कि अपनी इच्छा के अनुसार मनुष्य जहां चाहे वहां नहीं जा सकता। प्राचीन समय के विमान में ये कोई दोष न थे। अपनी इच्छा के अनुसार मनुष्य उसमें बैठ कर जहां चाहते थे वहां जा सकते थे। विमान के सम्बन्ध में कई बातें एक दूसरे ही देशके द्वारा जानी गई हैं। उन्हें हम यहां पर लिखते हैं।

दो हज़ार वर्ष पहले जिस सिकन्दर ने इस देश पर चढ़ाई की थी। वह ग्रीस देश के मैसिडन प्रान्त का राजा था। ग्रीस देशवाले बहुत पहले से इस देश में आने जाने लगे थे। वहां के निवासियों ने इस देश की विद्या और इस देश के कलाकौशल भी सीखे थे। यहां से अनेक विद्वानों को वे अपने देश को भी ले गए थे। प्राचीन काल में हमारे देश की सी विद्या और हमारे देश की सी कारीगरी और किसी

देश में न थी। अभी तक सब लोग समझते थे कि रेखागणित का बनानेवाला ग्रीसदेश का निवासी यूक्लिड नामक विद्वान् था। परन्तु यूक्लिड के रेखागणित में जितने भाग यूक्लिड के नाम से प्रसिद्ध हैं उनके आगे के तीन चार भाग संस्कृत में लिखे हुए इस देश में पाए गए हैं। इससे जान पड़ता है कि रेखागणित की विद्या इस देशवालों को यूक्लिड के भी पहले विदित थी। प्राचीन काल में ग्रीस वालों ने अनेक बातें इस देश में सीखी थीं। इसी ग्रीस देश के एक नगर में हमारे यहाँ के प्राचीन विमान का चित्र मिला है। जहां चित्र मिला वहां उस का थोड़ा सा वर्णन वह भी मिला। वर्णन १७... ईसवी के दिसम्बर महीने के "ईवनिङ्ग पोस्ट" नामक अख़बार में छपा है। वह पूरा नहीं है। उसमें यह भी नहीं लिखा कि किस प्रकार वह विमान बनाया गया और उसमें उड़ने की शक्ति कैसे उत्पन्न हुई। तथापि जो कुछ उसमें है उसका सार हम नीचे लिखते हैं।

जिस विमान का यह चित्र है वह ब्राज़िल देश के एक कारीगर ने बनाया था। विमान के दोनों किनारे कुछ ऊंचे थे और ऐसे बने हुए थे कि चलानेवाले की इच्छा के अनुसार वे चारों ओर फिर सकते थे। उसके पीछे नाव का सा पतवार था। उसके दोनों ओर चुम्बक के दो बड़े बड़े गोले लगे थे। उसका अगला भाग पक्षी की चोंच के समान था। वह विमान लोहे की चद्दर का बना हुआ था और उसके ऊपर सुन्दर सुन्दर चटाइयां मढ़ी हुई थीं। उसमें सामान चढ़ाने और उतारने

के लिये डोरियां भी लगी हुई थीं। उसमें दस बारह मनुष्य एक साथ बैठ सकते थे। वह आकाश में बड़े वेग से उड़ सकता था और उसका चलानेवाला जिधर उसे ले जाना चाहता था उधरही वह उसे लेजा सकता था।

विमान का जो चित्र ऊपर दिया गया है वह इस देश के प्राचीन मन्दिरों में खिंचे हुए विमानों के चित्रों से मिलता है। इसीलिए यह अनुमान होता है कि ग्रीसवाले हमारे ही देश से विमान का नमूना अपने यहां ले गए हैं।

इस बात का पता लगाना कठिन है कि क्यों और कब से विमान का प्रचार इस देश से उठ गया। जान पड़ता है, इस देश की विद्या और इस देश के कला कौशल की अवनति होते होते मनुष्य विमान का बनाना और चलाना भूल गए। हमारे यहां की पालकी का आकार विमान से कुछ कुछ मिलता है। विमान चलाने में असमर्थ होकर शायद मनुष्यों ने उसके नमूने की पालकी बनाली हो और उसीसे काम निकाल कर उन्होंने सन्तोष किया हो।

मनुष्य के उद्योग और उसकी बुद्धि की सीमा नहीं है। उसने, नहीं जानते, कितने आश्चर्य्यकारक आविष्कार किए हैं। उसके बनाए हुए नानाप्रकार के अद्भुत अद्भुत यन्त्रों को देख कर देखनेवालों का मन चकित और चमत्कृत होता है। मनुष्य को यद्यपि विमान की विद्या अभी तक सिद्ध नहीं हुई, तथापि "बैलून" (गुब्बारा) नामक व्योम-यान द्वारा वह आकाश की यात्रा करने लगा है। इस व्योमयान में एक प्रकार का गैस, जो हायड्रोजन से भी हलका होता है, भरते हैं और उसके बलसे उसे ऊपर उड़ाते हैं। उसमें "पैराच्यूट" नामक एक छाता होता है; उसीकी सहायता से लोग नीचे उतरते हैं। परन्तु, जैसा ऊपर कहा गया है, इस व्योमयान में अनेक दुर्घटनाएं हुआ करती हैं। इस की विद्या मनुष्य को अभी तक पूरी पूरी करतलगत नहीं हुई। इसमें अनेक प्रकार के सुधार हो रहे हैं; और कोई कोई, इसके दोषों को कुछ कुछ दूर करने में भी समर्थ होने लगे हैं। आशा है, किसी दिन यह व्योम-यान-कला पूर्णता को पहुंच जावै।

व्योम-यान के सिवाय, इस समय, एक प्रकार की "एयरशिप" नामक पवन-नौका चलाने का भी उद्योग किया जा रहा है। उसमें थोड़ी बहुत सफलता भी हुई है। यदि यह पवन-नौका चल गई तो किसी दिन रेल के समान इसके द्वारा मनुष्य आकाश-मार्ग से यात्रा करने लगेंगे। रेल गाड़ी के समान इसकी भी किराचियां जोड़ कर 'ट्रेन' बनाई जावैंगी; स्टेशन खुलेंगे; और टिकिट इत्यादि भी दिए जावैंगे!

यह अल्पज्ञ और केवल साढ़े तीन हाथ का ऊंचा मनुष्य इतनाही उद्योग करके चुप नहीं रहा। व्योम-यान और पवन-नौकाओं के द्वारा आकाश-यात्रा करने के यत्न के साथ साथ पक्षियों के समान पंख लगा कर वह आकाश में स्वयं उड़ना भी चाहता है। उपन्यास और कहानियों में पंख लगा-कर उड़नेवालों के जैसे अनेक वर्णन हैं, वैसे ही पुराणों में किन्नर और गन्धर्व इत्यादिकों के भी हैं। उनके चित्र पक्षयुक्त अब भी बनाए जाते हैं। लोगों की यह भावना है कि वे उड़ते थे। ये सब प्राचीन पौराणिक बातें हैं। परन्तु अर्वाचीन काल में भी पङ्ख लगा कर उड़ने का प्रयत्न कई मनुष्यों ने किया है और उनके यत्नों को लोगों ने प्रत्यक्ष देखा है।

रेटिफ्ट डिला ब्रेटोनी नामक फरासीसी पण्डित ने व्योम-यान-सम्बन्धी एक पुस्तक लिखी है; उसमें उसने पङ्ख लगा कर उड़नेवाले एक मनुष्य का वृत्तान्त दिया है। उसका चित्र भी उसने दिया है। यह चित्र हम आगे के पृष्ठ में प्रकाशित करते हैं।

इस मनुष्य ने अपने दोनों ओर दो पंख लगाए थे; ऊपर की ओर एक छाते के आकार का "पैराच्यूट" रक्खा था; और नीचे की ओर खाने पीने के पदार्थ साथ रखने के लिए एक टोकरी लटकाई थी। वह एक ऊंची चट्टान के ऊपरसे उड़ान करता

था। यह भी कुछ पुरानी बात है; ग्रैार इस उड़नेवाले मनुष्य का विशेष वृत्तान्त भी नहीं विदित है। परन्तु, ग्रभी थोड़े दिन हुए एक मनुष्य को पङ्ख लगा कर उड़ने में सफलता हुई है। उसका नाम लिबिन्थन है। वह जर्मनी का रहनेवाला है। उसने भी पक्षियों के सदृश पङ्ख लगा कर बर्लिन के समीप स्टेग्लीज नामक नगर में उड़ने का प्रयोग दिखलाया था। वह भी अपने दोनों ग्रोर एक एक
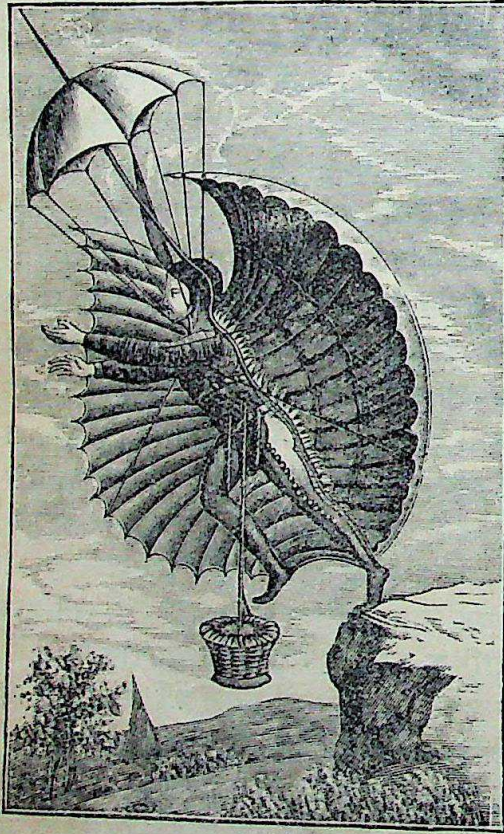
पङ्ख लगाता है। उसके प्रत्येक पङ्ख का क्षेत्रफल १८ वर्ग गज़ है। परन्तु पंखों का बोझ बहुत कम है; मनुष्य उन्हें सहजही लगा सकता है। पंखों में, पक्षियों की पूंछ के समान, पीछे एक प्रकार की पतवार भी है; उसके द्वारा मनुष्य इच्छित दिशा की ग्रोर मुड सकता है। उसके पंखों के बनाने में मोमजामे का अधिक काम पड़ता है। उनमें पतली डोरी की ज़ाली लगती है। जाली की डोरी का सिरा उसके हाथ में रहता है। डोरियों को ढील[illegible] करने से पंख फैलते हैं ग्रैार कड़ा करने से बन्द हो जाते हैं। लिबिन्थन का कथन है कि इन पंखों के लगाने से दुर्घटना का कोई भय नहीं रहता। उनके द्वारा मनुष्य ग्रानन्द-पूर्वक ग्राकाश में भ्रमण क[illegible] सकता है।

इन उदाहरणों से यह जान पड़ता है कि पाश्चात्[illegible] देशों में कला-कौशल की यदि इसी प्रकार ग्राश्चर्य[illegible] कारिणी उन्नति होती गई तो किसी दिन लाखें मनुष्य पवन-नौका ग्रैार व्योम-यानों में बैठक[illegible] निर्भयता-पूर्वक ग्राकाश की यात्रा करेंगे! य[illegible] नहीं, किन्तु लिबिन्थन के ऐसे पङ्ख लगा कर पक्षि[illegible] के समान उड़ते भी फिरेंगे!! मनुष्य के लि[illegible] उड़ना सम्भव हो जाने पर एक बात यह बड़े ग्रान[illegible] की होगी कि प्रेमीजन अपनी अपनी प्रियतमा[illegible] के पास क्षणार्द्ध ही में जा पहुंचेंगे!!!

विस्तीर्णा पृथिवी जनोऽपि विविधः
किं किं न सम्भाव्यते ?

पृथिवी बहुत विस्तीर्ण है; मनुष्य भी उसमें ना[illegible] प्रकार के रहते हैं; ग्रतएव क्या क्या होने [illegible] सम्भवना नहीं ?

ग्राँख की फ़ोटोग्राफ़ी।

ईश्वर ने मनुष्य को जितने ग्रवयव दिये [illegible] उनमें ग्राँख सबसे ग्रधिक मूल्यवा[illegible] सबसे ग्रधिक उपयोगी ग्रैार सबसे ग्रधिक कोम[illegible] है। ईश्वर से बढ़कर विज्ञानी ग्रैार ईश्वर से बढ़क[illegible] कारीगर, इस ब्रह्माण्ड में, दूसरा नहीं। ग्राँखों [illegible] कोमलता का विचार करके उनकी रक्षा के लि[illegible] पलक-रूपी एक क़िला उसने बनाया है। ग्राँ[illegible] को किञ्चित् भी भय का कारण जान पड़ा [illegible] पलक-रूपी क़िले का फाटक तत्काल बन्द हो जा[illegible] है। इस क़िले में यह विचित्रता है कि बन्द रख[illegible] भी, नाममात्र के लिए थोड़ा खोल कर, ग्राँखें स[illegible]

कुछ देख सकती हैं। सामान्य क़िले का फाटक यदि खुला रहता है तो धूल, मिट्टी, घास, फूस वायु के साथ उड़कर भीतर चले जाते हैं। परन्तु यह क़िला ऐसा नहीं है। फाटक खुला रहने पर भी प्रकाश को छोड़ और किसी पदार्थ को यह भीतर नहीं आने देता। ईश्वर की लीला तो देखिए; उसकी कारीगरी का तो विचार कीजिए! उसने आँख के भीतर एक प्रकार का पानी भी उत्पन्न किया है। यह आँख के ऊपर चमकता हुआ दिखलाई देता है। यदि आँख में कुछ पड़ जाता है तो वह तुरन्त उसे बहाकर नीचे फेंक देता है। दुःख और शोक आदि का वेग बढ़ने से जब मन क्षुब्ध हो जाता है, तब यह पानी आँसुओं के रूप में बाहर निकलने लगता है; और अपने साथ मनोविकार के वेग को भी कम कर देता है। आँखों की अनमोलता और उनकी कोमलता का विचार करके उनकी रक्षा के लिए ईश्वर ने और भी प्रबन्ध किये हैं। पलकों के आगे बरौनियां और उनके ऊपर भौंहें उसने बनाई हैं। आंखों को पीड़ा पहुंचाने की इच्छा से यदि कोई पदार्थ ऊपर, नीचे अथवा सामने से आना चाहते हैं तो उनको बरौंनियों और भौंहों से ही पहले सामना करना पड़ता है। उनको परस्पर झटापट होने का इशारा पाते ही क़िले का फाटक बन्द हो जाता है, और फिर किसी के हज़ार प्रयत्न करने पर भी, भय का कारण दूर हुए बिना, वह नहीं खुलता।

आँखों की उपमा खिड़की से भी दी जा सकती है। परन्तु साधारण खिड़कियों की अपेक्षा उनमें सभी कुछ विलक्षणता हैं। वे आपही आप बन्द हो जाती हैं और आपही आप खुल भी जाती हैं। उनके परदों को गिराने और उठाने के लिए किसी की आवश्यकता नहीं होती। इच्छा करते ही वे गिर जाते हैं और इच्छा करते ही वे उठ भी जाते हैं। इन खिड़कियों के मार्ग से बिल्ली, बन्दर इत्यादि जीवधारियों की तो कोई बातही नहीं, प्रचण्ड आंधी चलने पर भी, घास का एक तिनका तक भीतर नहीं आ सकता। समय समय पर इनको रँगने, साफ़ करने और इन पर कागज़ लगाने की भी आवश्यकता नहीं रहती। वे सर्वदा साफ़ रहती हैं। ऐसी विलक्षण खिड़कियां जिसमें लगी हैं उस देह-रूपी गृह में आत्मा-रूपी गृहस्थ सुख से वास करता है।

आँख एक विचित्र इन्द्रिय है। उसकी बनावट बहुत ही अटपटी है। डाक्टरों ने अकेली इस छोटी सी आँख के ऊपर बड़े बड़े ग्रन्थ लिख डाले हैं। उनको पढ़ने से, आँख के सम्बन्ध में, अनेक अद्भुत अद्भुत बातें जान कर, आश्चर्य्य होता है।

आँख में अनेक पटल अर्थात् परदे हैं। उनमें से रटीना नाम का अन्तिम पटल सब में प्रधान है। इस पटल के साथ प्रकाश-ग्राहक तन्तुओं का सम्बन्ध है। ये तन्तु मस्तिष्क में ज्ञानागार से जुड़े हुए हैं। रटीना पर पड़े हुए प्रकाश को यही तन्तु ज्ञानागार तक पहुंचाते हैं और जीवधारी आत्मा को उसका अनुभव कराते हैं। आँख से देखनेवाले को प्रकाश के सिवाय नाना प्रकार के रूप और रङ्गों का भी ज्ञान होता है। जो वस्तु देखी जाती है उसका चित्र रटीना पर खिंच जाता है; अतएव वही दिखलाई देता है। यदि प्रकाश की किरणें सीधी रटीना पर पड़तीं तो उस पर कोई चित्र अङ्कित न होता। इस दशा में देखने वाले को सिवाय एक साधारण प्रकाश के किसी रूप रङ्ग का ज्ञान न होता। जहां से प्रकाश आता है वहां के रङ्ग और रूप का ज्ञान होने के लिए प्रकाश की किरणों को किसी और पारदर्शक पदार्थों के बीच से होकर तिरछा निकलना चाहिए; और उन सब किरणों को एकही केन्द्र में प्रतिफलित होना चाहिए। ऐसा हुए बिना रटीना पर चित्र नहीं बनता। आगे का चित्र देखिए।

कल्पना कीजिए कि क ख एक समतल पारदर्शक पदार्थ है। मान लीजिए कि वह काँच का एक टुकड़ा है। यदि प्रकाश की समकोणपाती सीधी किरण, ग घ, उस पर पड़ेगी तो वह उसे

पार करके चली जाइगी; उसका वक्रीभवन न होगा। अतएव उसके द्वारा कोई चित्र अङ्कित नहीं हो सकता। परन्तु यदि तिरछी किरण, च छ, उस पर पड़ेगी तो वह सीधी पार न हो कर, च ज की ओर चली जावैगी। यदि च छ किरण किसी अधिक घने पदार्थ से हो कर कम घने पदार्थ में प्रवेश करैगी, तो वह च भ की ओर निकल जावैगी। तात्पर्य्य यह कि प्रकाश की किरणों के द्वारा चित्र उतरने
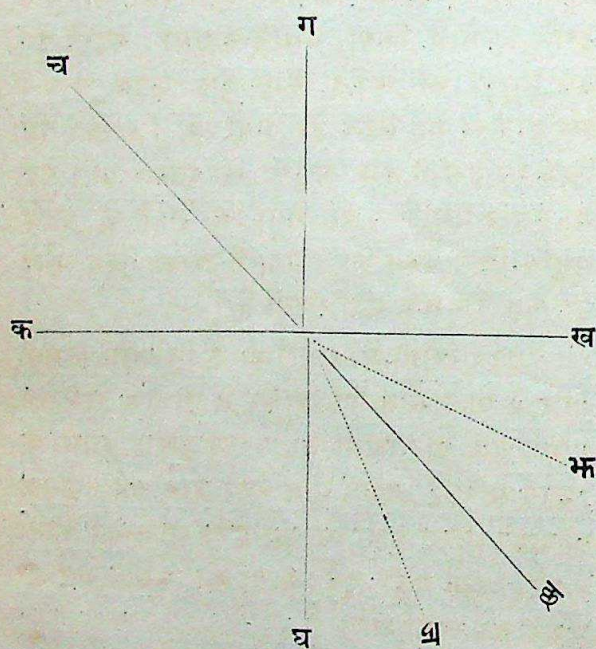
के लिए उनका वक्रीभवन होना—उनका तिरछा प्रवेश—आवश्यक है। वक्र होकर रटीनारूपी पटल के किसी केन्द्र में किरणों के एकत्र होने से, जहां से वे आती हैं, वहां के रूप रङ्ग का, उस पर चित्र बन जाता है। किरणों का वक्रीभवन होने ही के लिए ईश्वर ने आँख में अनेक पटल उत्पन्न किये हैं। ये सब पटल पारदर्शक हैं। रटीना के ऊपर ये एक पर एक जड़े हुए हैं। जितने जीवधारी हैं सबकी आँखें इसी प्रकार के पारदर्शक पटलों से बनी हुई हैं। अन्तर इतनाही है कि किसी के पटल बिन्दुरूप, किसी के मण्डलरूप, किसी के और किसी प्रकार के होते हैं।

इस ब्रह्माण्ड में 'ईथर' नामक एक अत्यन्त सूक्ष्म और पतला पदार्थ व्याप्त है। जिसे हम आकाश, व्योम अथवा अन्तरिक्ष कहते हैं वह 'ईथर' से परिपूर्ण है। इस 'ईथर' में एक प्रकार की लहरें उठा करती हैं। ये लहरें ही प्रकाश को उत्पन्न करती हैं। अथवा यों कहना चाहिए कि उन्हीं के योग से, किम्वा उन्हींकी मध्यस्थता से, प्रकाश-पूर्ण किरणें आँखों तक पहुंचती हैं। आँखों के पटल में प्रवेश करते समय किरणों का वक्रीभवन हो कर, वे रटीना नामक परदे पर आघात करती हैं। आघात होने से रटीना में स्पन्दन अर्थात् कम्प उत्पन्न होता है और देखनेवाले को प्रकाश का तत्काल ज्ञान हो जाता है। यही नहीं; किन्तु उस परदे के ऊपर जहां से प्रकाश आता है, उस पदार्थ का रूप और रङ्ग भी अंकित हो जाता है। चित्रविद्या अर्थात् आलोक-चित्रण का अंगरेज़ी नाम फ़ोटोग्राफ़ी है; और जिस यन्त्र के द्वारा चित्र निकाला जाता है उसका नाम केमरा है। इस यन्त्र के भीतर काँच का एक टुकड़ा रक्खा जाता है जिसे 'प्लेट' कहते हैं। इसी प्लेट पर चित्र निकलता है। आँख का रटीना नामक परदा वही काम देता है जो फ़ोटोग्राफ़ी में 'प्लेट' से लिया जाता है। प्लेट पर चित्र निकालने के पदार्थों को उसके सम्मुख आना पड़ता है; परन्तु रटीना के लिए यह बात आवश्यक नहीं। उस पर एक बार चित्र खिंच जाने से, स्मरण करते ही, फिर वह वहां प्रकट हो जाता है और नेत्रवान् मनुष्य को उसका अनुभव होने लगता है। पचास पचास वर्ष के अनन्तर स्मरण करते ही, पुराने चित्र नये हो जाते हैं। एक बार रटीना पर चित्र अंकित हो जाने पर, फिर चाहै आँखों का ऊपरी आकार न भी रहै, तो भी इच्छा करते ही वे देख पड़ने लगते हैं। किसी को शायद यह शङ्का हो कि इस प्रकार का स्मरण मन की क्रिया है; आँख की नहीं। परन्तु ऐसी शङ्का करनेवाले को यह न भूलना चाहिए कि रटीना पर, किसी समय, एक बार, चित्र उठे बिना उस

भावना मन के द्वारा कदापि नहीं हो सकती। अतएव रटीना पर चित्र का खचित हो जाना ही कारण का प्रधान कारण है।

ईश्वर सर्वज्ञ है। ईश्वर में सज्ञानता की पराकाष्ठा है। उसके बराबर कोई ज्ञानी नहीं। इसी लिए उसके सब काम अद्भुत होते हैं। मनुष्य, प्रतिदिन, अपनी बुद्धि के बल से, ईश्वर के निकट पहुंचने का प्रयत्न करते रहते हैं। वे ईश्वर के कामों की नक़ल करके अपनी अल्प सज्ञानता को सफल किया करते हैं। ईश्वर की दी हुई आँख बहुत ही अद्भुत है। उसकी नक़ल करके अध्यापक वसु ने, अभी थोड़े दिन हुए, अपनी सज्ञानता सफल की है। इस कृत्रिम आँख में ईश्वर की बनाई हुई आंख के सब गुण और सब लक्षण विद्यमान हैं। फ़ोटोग्राफ़ी भी ईश्वर की चित्रविद्या की एक नक़ल है। आँख के परदे पर, जिन ऐश्वर्रीय नियमों के अनुसार, पदार्थों का चित्र अंकित हो जाता है, उन्हीं नियमों के द्वारा, फ़ोटोग्राफ़ सम्बन्धी प्लेट पर भी चित्र निकल आता है; परन्तु ईश्वर की कारीगरी का पूरा ज्ञान अल्पज्ञ मनुष्य को सहजही नहीं हो सकता। उसे वह क्रम ही क्रम से थोड़ा बहुत जान सकता है।

ईश्वर ने रटीना पर सांसारिक पदार्थों के चित्र अङ्कित कर लेने की अद्भुत शक्ति दी है। यह बात सभी को विदित है। परन्तु उसमें ईश्वर ने एक और महाविलक्षण कारीगरी रक्खी है। वह यह है कि मरने के पहले रटीना पर जिन पदार्थों की छाया पड़ती है, अर्थात् जिनका चित्र उस पर उठ आता है, वे पदार्थ, चित्र के रूप में, मरने के कुछ काल पीछे तक, वहां वैसेही बने रहते हैं। इसका सबसे पहले ज्ञान अमेरिका के डाकृर सैण्डफर्ड को, इस प्रकार, हुआ कि आबवर्न नामक नगर में बेर्डस्ले नामक एक मनुष्य को किसी ने मार डाला। मरने पर इस मनुष्य की आँखें खुली हुई थीं। परीक्षा के लिए मृतक को पुलिस पूर्वोक्त डाकृर के पास लेगई। डाकृर ने उसकी आँखें खुली हुई देख कर एक आँख पर आट्रोफ़ीन नामक ओषधि लगादी। उस के लगाने से आँख की पुतली कुछ बड़ी हो गई। फिर शस्त्र से आँख के तन्तुओं को, इधर उधर, चारों ओर जब उसने छुआ, तब वह आँख आगे निकल आई। निकल आने पर उसने उसे सूक्ष्मदर्शक यन्त्र से देखा तो एक मनुष्य का आकार उसमें उसे देख पड़ा। अतएव उस आँख का उसने फोटो लिया और फोटो लेकर उसमें मनुष्य का जो आकार देख पड़ा था, उसे उसने 'यन्लार्ज' किया, अर्थात् बढ़ाया। बढ़ाने पर उस मनुष्य का सफ़ेद कोट देख पड़ने लगा। इस बात से यह सिद्ध हो गया कि जिसका वह चित्र था उसीने उस मनुष्य को मारा था। यह भी इससे प्रमाणित हो गया कि मरने के पहले मनुष्य जिस बस्तु को देखता है उसका चित्र आँख पर कुछ देर तक बना रहता है।

१८६० ईसवी में, अमेरिका के चिकागो नामक नगर में पोलाक नामक डाकृर ने भी एक ऐसाही प्रयोग एक बार किया था; परन्तु उसके प्रयोग के विषय में कोई विशेष बात नहीं जानी गई। केवल इतनाही लिखा हुआ मिलता है कि आँख का फ़ोटो लेकर, उसमें पड़ी हुई छाया की मूर्ति वह भी प्रकट कर सका था।

आँख की फ़ोटोग्राफ़ी के सम्बन्ध में अब बहुत बातें विदित हुई हैं। ख़ून के मुक़द्दमों में, इस चित्र-विद्या की सहायता से ख़ूनी मनुष्य भी पकड़े जाने लगे हैं। डाकृर खुन्ने ने इस विद्या में सबसे अधिक सफलता प्राप्त की है। उन्होंने सप्रमाण सिद्ध किया है कि मरने के अनन्तर यदि उस पर तत्काल प्रकाश पड़े तो, रटीना नामक परदे का बैंगनी रङ्ग, कुछ काल तक, यथातथ्य बना रहता है। उन्होंने अनेक प्राणी एक अँधेरे कमरे में मारे। मारकर उनकी आँखों को, दो तीन मिनट तक, कमरे की खिड़की खोलकर, प्रकाश में रहने दिया। फिर उन्होंने आँखों को निकाल कर, चित्र उत्तेजित करनेवाली ओषधियों में, उसको डाला। कुछ देर

उनमें उन्हें रख कर उन्होंने आँखों को फाड़ा और रटीना नामक परदा अलग किया। अलग करके जो उसे उन्होंने देखा तो खिड़की का चित्र उसपर स्पष्ट दिखलाई देने लगा। अर्थात् यह निःसंशय सिद्ध होगया कि मरने पर आँख के ऊपर पड़ी हुई छाया का चित्र उतारा जा सकता है।

इस नेत्र-फ़ोटोग्राफ़ी की अधिक अधिक उन्नति होती जाती है। विलायत में इस विज्ञान की सहायता से कई ख़ूनी पकड़े गये हैं। मैंचेस्टर में, एक बार, एक लड़की को किसीने मार डाला। उस की आँख का फ़ोटो उतार कर एक डाकृर ने सहज ही में उसके मारनेवाले का पता बता दिया। फ़ोटो को देखने से विदित हो गया कि ख़ूनी पुलिस का एक सिपाही था। चित्र में उसका सरकारी कोट और उसकी टोपी साफ निकल आई। उस सिपाही का नम्बर १७ था; वह नम्बर तक पढ़ लिया गया। अतएव वह पकड़ा गया और उसे अपने किये हुए कर्म्म का दण्ड मिला।

सामान्य फ़ोटोग्राफ़ी में कई रसायनें –ओषधें– दरकार होती हैं। उनका बनाना कम परिश्रम का काम नहीं है। और भी कितनी ही खटपटें करनी पड़ती हैं। परन्तु आँख का रटीना नामक परदा ईश्वर ने ऐसा बनाया है कि उस पर कोई ओषधि नहीं लगानी पड़ती। बिना ओषधि लगाये ही उस पर चित्र उतर आता है। वह स्वयंसिद्ध 'सेंसिटिव प्लेट' है। उसके लिए, साधारण फ़ोटोग्राफ़ी के समान, 'डेवेलपिङ्ग' की भी आवश्यकता नहीं होती।

आँख का रटीना नामक परदा बनी बनाई 'प्लेट' है; उसके दूसरे परदे 'केमरा' हैं; और प्रकृति अथवा ईश्वर की इच्छा फ़ोटोग्रफ़र–चित्रकार–है। जिस ईश्वर ने मनुष्य की अत्यल्प आँख में चित्रकला की सब सामग्री भर रक्खी है, उसके अद्भुत कौशल का विचार करके मन आश्चर्य्य-सागर में निमग्न हो जाता है।

कामिनी-कौतूहल।

(१)—कुमारी कारनेलिया सोहराबजी

हमारे देश में स्त्री-शिक्षा की बड़ी आवश्[यकता] है। यहां की स्त्रियां और [...] अच्छे गुणों में दूसरे देश की स्त्रियों की बराब[री] कर सकती हैं। अनेक बातों में वे उनसे बढ़ी [...] भी हैं। यहां की स्त्रियों का सा पति-प्रेम, यहां [की] स्त्रियों कैसी शालीनता, यहां की स्त्रियों का [...] ईश्वर-भक्ति और कहां है? कहीं भी नहीं! पर[न्तु] विद्या और कला-कौशल की शिक्षा की [...] निकलने पर हमको सिर नीचा करना पड़ता है[।] हमारी स्त्रियां इस शिक्षा में बहुत पीछे हैं। [इस] लिए जब किसी स्वदेशी स्त्री को, स्त्री-शिक्षा [की] पक्षपाती लिखी पढ़ी हुई देखते हैं, तब वे ह[म] से प्रसन्न होते हैं। उनको यह आशा होती है [कि] किसी समय, यहां की स्त्रियां भी दूसरे देश [की] शिक्षित स्त्रियों की बराबरी करने लगेंगी। स्वदे[शी] स्त्री, इस समय, चाहे जिस जाति की हो, चा[हे] जिस धर्म्म की हो, चाहे जिस प्रान्त की हो, य[दि] वह शिक्षित हुई तो उससे कुछ न कुछ लाभ हो[ता] ही है। यदि उसके लिखने पढ़ने से और कु[छ] लाभ न हुआ तो उसकी शिक्षा की बात सुन [कर] दूसरी स्त्रियों को भी पढ़ने लिखने का उत्[साह] तो होता है। अतएव यही क्या कम लाभ है?

कुमारी कारनेलिया सोहराबजी के पि[ता] रेवरण्ड सोहराबजी ख़ुरसैद जी हैं। आप पा[...] हैं और पूना में रहते हैं। उनका नामही कहे दे[ता] हैं कि उन्होंने पारसी माता-पिता से जन्म लि[या] है। परन्तु, इस समय, वे क्रिश्चियन धर्म्म के अ[नु]यायी हैं। बीच से उन्होंने धर्म्मान्तर ग्रहण [कर] लिया है। उनकी स्त्री पहले हिन्दू थीं; परन्तु [अब] वे भी अपने पति ही के धर्म्म में हैं। इस प्रक[ार] के माता पिता से कुमारी कारनेलिया ने जन्म पा[या] है। पादरी सोहराबजी के कई लड़कियां हैं। [...]

में से कुमारी कारनेलिया पाँचवी हैं। इनके घरमें प्रायः सभी लड़के लड़कियों ने ऊंची शिक्षा पाई है। इनकी मा भी अच्छी पढ़ी लिखी हुई हैं। उन्होंने "विक्टोरिया हाई स्कूल" नामक एक स्कूल लड़कियों के लिए पूना में खोल रक्खा है। इस स्कूल का बड़ा नाम है। उसमें, उसकी स्थिति के अनुसार, अच्छी शिक्षा दी जाती है।

कुमारी चैपमैन ने एक किताब अँगरेज़ी में लिखी है। उसमें कुमारी कारनेलिया का जीवन-चरित है। कुमारी कारनेलिया की विद्या, बुद्धि, परिश्रम और योग्यता की उसमें उन्होंने बड़ी बड़ाई की है। वे कहती हैं कि कारनेलिया जी की माता और बड़ी बहिनही की कृपा से उनको इतनी शिक्षा मिली। यदि वे प्रयत्न न करतीं तो कुमारी कारनेलिया कभी इतनी शिक्षा न प्राप्त कर सकतीं।

कुमारी कारनेलिया ने, बहुत ही थोड़ी उमर में, अँगरेज़ी में प्रवेशिका परीक्षा पास की। उसे पास करके, वे, पूना के डेकन कालेज में भरती हुईं। कालेज में उनका नम्बर सदा ऊंचा रहता था। उनकी बुद्धि और विद्या सीखने के उत्साह को देखकर कालेज के अध्यापकों को आश्चर्य्य भी होता था और साथही हर्ष भी होता था। कालेज के बड़े बड़े विद्यार्थियों के साथ बैठकर कुमारी कारनेलिया ने बड़े धैर्य और बड़ी दृढ़ता से विद्याध्ययन प्रारम्भ किया। उनकी दृढ़ता और गम्भीरता को देख कर कालेज के लड़कों को उनसे कुचेष्टा करने का विशेष साहस नहीं हुआ। यफ० ए० परीक्षा में पास होने वाले विद्यार्थियों में कुमारी कारनेलिया का बंबई के विश्वविद्यालय में पहला नम्बर रहा। अतएव उनको छात्र-वृत्ति (वज़ीफा) भी मिली और एक उत्तम पुरस्कार भी मिला। एक लड़की का अनेक युवा लड़कों के साथ बैठ कर पढ़ना और परीक्षा में उन सबसे बढ़कर पास होना कम प्रशंसा की बात नहीं। इस से यह सिद्ध है कि इस देश की स्त्रियों को यदि अवसर दिया जाय, और यदि उन के पढ़ने लिखने का ठीक प्रबन्ध हो, तो वे विद्या और कला-कौशल में भी योरप और अमेरिका की पढ़ी लिखी स्त्रियों की बराबरी कर सकती हैं।

कालेज में कुमारी कारनेलिया ने जितनी परीक्षाएं दीं सबमें वे नामवरी के साथ पास हुईं। १८८७ में जब वे बी० ए० की परीक्षा में बैठीं तब भी उनका नम्बर बहुत ऊंचा रहा। विश्व-विद्यालय भर में जितने विद्यार्थी पास हुए थे, उनमें से प्रथम चार विद्यार्थियों में से यह भी एक थीं। डेकन कालेज से पास होनेवालों में तो यही प्रथम थीं! अपने से अधिक दृढ़, अधिक साहसी, अधिक बलवान और अधिक असङ्कोची युवा लड़कों का इस कोमलाङ्गी अबला कुमारी के द्वारा परास्त किया जाना आश्चर्य्य की बात है! कुमारी कारनेलिया की इस सफलता पर उनके माता पिता को तो परमानन्द हुआ ही; उनके सिवाय स्त्री-शिक्षा के सभी पक्षपातियों को सन्तोष और आनन्द हुआ। कारनेलिया जी क्रिश्चियन हैं तो क्या हुआ! उन्होंने जन्म तो इसी देश में लिया है।

बी० ए० होने के अनन्तर कुछ दिनों में कुमारी कारनेलिया अहमदाबाद के गुजरात कालेज में अँगरेज़ी की अध्यापिका नियत हुईं। विचार करने की बात है कि एक थोड़ी उमर की अबला सबल पुरुषों को पढ़ाने बैठी! अपूर्व दृश्य! यदि क्लास में लड़कों के मध्य कुरसी पर बिराजमान कारनेलिया जी का चित्रदेखने को मिलता तो क्या ही अच्छा होता! इस काम को थोड़ेही दिन तक उन्होंने किया; परन्तु जब तक किया बहुत अच्छी तरह से किया। उनके काम से कालेज के सब अधिकारी प्रसन्न रहे।

१८८८ ईसवी में कुमारी कारनेलिया इंगलैण्ड गईं। वहां आक्सफ़र्ड के विश्व-विद्यायलय में उन्होंने क़ानून पढ़ना आरम्भ किया। यथा-समय परीक्षा में पास होकर उन्होंने बी० सी० यल० अर्थात् "बैचलर आफ सिविल लाज़" की पदवी प्राप्त की; अर्थात् क़ानून में वे बी० ए० हुईं। इस पदवी को प्राप्त करके वे लण्डन आईं। वहां पर

क़ानूनी अनुभव प्राप्त करने की इच्छा से एक प्रसिद्ध 'सालीसिटर' के यहां वे काम करने लगीं। 'सालीसिटर' उनको कहते हैं जो मुक़द्दमें के काग़ज़ात तैय्यार करके वकीलों को देते हैं। इस प्रकार, लण्डन में, कुछ काल तक रह कर, ग्रैार क़ानून-सम्बन्धी सब काररवाई समझ कर वे इस देश को लैाट ग्राईं। यहां पर उन्होंने विकालत करने की ग्राज्ञा माँगी। परन्तु स्त्रियैां को, ग्रभी, यहां, वकील बनाना ग्रधिकारियों को स्वीकार नहीं है। इस लिए उन्हें विकालत करने की ग्राज्ञा नहीं मिली। यद्यपि, इस विषय में, उन्होंने बहुत प्रयत्न किया ग्रैार ग्रनेक बड़ी बड़ी सिफारिशें कराईं तथापि, ग्रभी तक उनका मनोरथ नहीं सफल हुग्रा। एक बार वे प्रयाग भी ग्राई थीं।

विकालत करने की ग्रनुमति न मिलने से कुमारी कारनेलिया जी निराश नहीं हुईं। वे, ग्रब, एक दूसरी ही बात के लिए प्रयत्न कर रही हैं। वे कहती हैं कि परदे में रहनेवाली इस देश की स्त्रियों के लिए एक स्त्री-वकील की बड़ी ग्रावश्यकता है। ऐसे वकील के न होने से धनवान, रईस ग्रैार ज़मींदारों की स्त्रियों तथा रानियों के मुक़दमों की बड़ी दुरवस्था होती है। वे ग्रपना हाल सामने हो कर वकीलों से नहीं कह सकतीं! इसलिए ग्रैारों के द्वारा उनको ग्रपने मुक़द्दमें का वृत्तान्त कहना पड़ता है। परन्तु जिनसे वे कहती हैं वे बहुधा लालच में ग्राकर दूसरे पक्षवालों से मिल जाते हैं ग्रैार मिलकर मुक़द्दमे को बिगाड़ देते हैं। वकीलों से प्रत्यक्ष बातचीत न होने से ग्रैार भी ग्रनेक हानियां उठानी पड़ती हैं। इसलिए कारनेलिया जी स्त्री-वकील होने के लिए बड़ा बल दे रही हैं ग्रैार विलायत तक के प्रसिद्ध प्रसिद्ध समाचारपत्रों में इस विषय के लेख प्रकाशित कर रही हैं। उनका कहना है कि जिन स्त्रियों की रियासत 'कोर्ट' हो जावे, ग्रर्थात् कुछ काल के लिए सरकारी प्रबन्ध में ग्राजावे, उनकी रियासत के प्रबन्ध-सम्बन्धी दफ़्तरों में एक एक स्त्री-वकील रहै। लण्डन के प्रसिद्ध पत्र 'टाइम्स' ने कुमारी कारनेलिया का पक्ष लिया है ग्रैार हमारे गवर्नर जनरल लार्ड कर्ज़न की मेम साहबा, श्रीमती लेडी कर्ज़न, से सिफ़ारिश भी इस विषय की हुई है। सम्भव है कारनेलिया जी इसमें सफल-मनोरथ हों। स्त्रियों के लिए स्त्री-डाक्टरों का प्रबन्ध सरकार ने करही दिया है। ग्राश्चर्य नहीं जो स्त्री-वकीलों के भी वह नियत करने की, प्रजा पर, कृपा दिखावे। लेडी कर्ज़न के माता-पिता ग्रमेरिका में हैं। वे वहीं की हैं। ग्रतएव ग्रमेरिका के 'ग्रीन बैग' ग्रादि क़ाननू-विषयक समाचार पत्र भी इस विषय में बहुत कुछ लिख रहे हैं, ग्रैार कुमारी कारनेलिया की प्रार्थना स्वीकार करने के लिए लेडी कर्ज़न से सिफ़ारिश कर रहे हैं। कारनेलिया जी के उद्योग का तो विचार कीजिए; वह कितना दीर्घ है! फिर इङ्गलैण्ड गई हैं ग्रैार वहां क़ानून की ग्रैार भी ग्रधिक उच्च शिक्षा प्राप्त कर रही हैं।

कुमारी कारनेलिया, यह सब करके, चुपचाप नहीं बैठी रहतीं। उनको लिखने पढ़ने से भी बड़ा प्रेम है। उन्होंने ग्रङ्गरेज़ी में एक पुस्तक लिखी है। उसका नाम है "Love and life behind the Pardah" ग्रर्थात् "परदे के भीतर का प्रेम ग्रैार जीवन"। इस पुस्तक का उपोद्घात भारतवर्ष के भूतपूर्व गवर्नर जनरल लार्ड डफ़रिन की मेम साहबा श्रीमती लेडी डफ़रिन ने ग्रपने हाथ से लिखा है ग्रैार पुस्तक की तथा उसकी लिखनेवाली की उन्होंने बहुत प्रशंसा की है। लार्ड हाबहाउस, के॰ सी॰ यस॰ ग्राई॰, तक ने इस पुस्तक के गुण गाये हैं। इसमें ग्रनेक मनोरञ्जक कहानियां हैं। उन कहानियों ही के द्वारा कुमारी कारनेलिया ने परदे में रहनेवाली इस देश की कुलकामिनियों के जीवन-चरित सम्बन्धी विविध भांति के चित्र खींचे हैं। कुमारी जी का धर्म्म दूसरा है। वे स्वतन्त्रता से रह रही हैं; विलायत तक हो ग्राई हैं; खूब पढ़ी लिखी हैं। इसलिए कहीं कहीं उनके विचार स्त्री-शिक्षा के हितैषी साधारण लोगों के विचारों से

बहुत ही बढ़ गये हैं। जिसे हम गुण समझते हैं उसपर उन्होंने कहीं कहीं दोष-दृष्टि से कटाक्ष किया है। परन्तु उनके लिखने में रस है; उनकी भाषा मनोरञ्जक है; विषय भी उन्होंने अच्छा चुना है। अतएव उनकी कहानियों को पढ़ने में आनन्द अवश्य मिलता है।

२—गुजरातिओं में स्त्री-शिक्षा।

बङ्ग और महाराष्ट्र देश में स्त्री-शिक्षा का प्रचार और प्रान्तों की अपेक्षा बहुत अधिक है। बङ्गदेश में तो स्त्रियां कविता करती हैं; उपन्यास लिखती हैं; कालेजों में शिक्षा देती हैं; और समाचार पत्रों में अच्छे अच्छे लेख प्रकाशित करती हैं। "भारती" नामक प्रसिद्ध मासिक पुस्तक को एक विदुषी स्त्री ही निकालती हैं। यह पुस्तक बङ्गभाषा की मासिक पुस्तकों में श्रेष्ठ गिनी जाती है और कोई २६ वर्ष से बराबर निकल रही है। श्रीमती सरला देवी इसे सम्पादन करती हैं। महाराष्ट्र देश की स्त्रियां भी शिक्षा में विशेष उन्नति कर रही हैं। सौभाग्यवती रखमाबाई का चरित सरस्वती में दिया ही जा चुका है। जस्टिस चन्दावरकर की लड़की ने दिसम्बर १९०१ की समाज-संशोधनी सभा में जो वक्तृता दी थी, उसे सुन कर बड़े बड़े विद्वानों को सन्तोष के साथ साथ आश्चर्य्य भी हुआ था। अब महाराष्ट्रदेश के पड़ोसी गुजरात ने भी स्त्रीशिक्षा में अपना पैर आगे बढ़ाया है। जान पड़ता है, थोड़े ही दिनों में, गुजराती स्त्रियां बङ्ग और महाराष्ट्र-स्त्रियों की बराबरी करने लगेंगी। गतवर्ष दो गुजराती स्त्रियों ने अहमदाबाद के गुजरात कालेज से बी० ए० की परीक्षा पास की है। ये पहली गुजराती स्त्रियां हैं जिन्होंने इतनी उच्च शिक्षा प्राप्त की है। इनमें से एक का नाम विद्या रमणभाई नीलकण्ठ और दूसरी का शरद सामन्त मेहता है। दोनों विवाहिता हैं। इसीलिए उनका नाम उनके पतियों के नाम से संयुक्त है।

ये दोनों स्त्रियां परलोकवासी राव बहादुर भोलानाथ साराभाई के लड़के की लड़कियां हैं। भोलानाथ अहमदाबाद के रहनेवाले थे। उनका कुटुम्ब वहीं है और बहुत अच्छी दशा में है। वे सामाजिक-सुधार के पूरे पक्षपाती थे। स्त्री-शिक्षा की ओर उनका सबसे अधिक ध्यान था। उन्होंने अपने घर की लड़कियों को, सबसे पहले, अङ्गरेज़ी पढ़ाना आरम्भ किया। उन्हींकी कृपा और शिक्षा का यह प्रभाव है जो उनके घर की कन्यायें बम्बई के विश्व-विद्यालय में पहली बी० ए० हुईं।

विद्या रमण भाई के श्वसुर का नाम राव साहब महीपतिराम रूपराम था। वे अब नहीं रहे। उनको गवर्नमेण्ट से सी० आई० ई० की माननीय पदवी मिली थी। राव साहब भोलानाथ के समान वे भी स्त्री-शिक्षा की उन्नति के लिए दत्तचित्त हो कर प्रयत्न करते थे। श्रीमती विद्या के पति ने बी० ए० और यल० यल० बी० की परीक्षायें पास की हैं। पढ़ने लिखने में उन्होंने अपनी पत्नी की बहुत सहायता की। यदि वे सहायता न करते तो विद्या बाई कदाचित् बी० ए० पास करने में समर्थ न होतीं। उनके पति ने उनकी शिक्षा के लिए सब प्रकार की सुकरता का भी प्रबन्ध किया और यथावकाश, स्वयं शिक्षा में भी बहुत कुछ सहायता दी। विद्या बाई के कुटुम्ब में बहुत मनुष्य हैं; और अपने घर में गृहस्थी के कामकाज के देखने का भार भी उन्हीं पर है। अतएव यह और भी आश्चर्य्य और प्रशंसा की बात है कि गृहस्थी के झँझटों को सँभाल कर वे बी० ए० तक शिक्षा प्राप्त कर सकीं।

श्रीमती शरद सामन्त मेहता के श्वसुर का नाम श्रीबटुकराम है। वे महाराज गायकवाड़ के यहां एक प्रसिद्ध चिकित्सक हैं। उनके पुत्र, अर्थात् श्रीमती शरद सामन्त के पति, इस समय, विलायत में, चिकित्सा-शास्त्र (डाकृरी) पढ़ रहे हैं। इस गुजराती बाई की अवस्था अभी केवल १९ वर्ष की है। विश्व-विद्यालय की परीक्षाओं में ये बराबर पास होती आई हैं; कभी फेल (अनुत्तीर्ण) नहीं हुईं।

ये दोनों विदुषी स्त्रियां विलक्षण बुद्धिमती जान पड़ती हैं। इन्होंने, कालेज में इच्छित विषयों में से, तर्क और दर्शनशास्त्र पढ़ना स्वीकार किया और दोनों विषयों में प्रवीणता प्राप्त की। बी० ए० की परीक्षा में विद्या बाई ने अपने कालेज में पहला और शरद सामन्त ने दूसरा नम्बर पाया। विद्या बाई की सफलता से अधिकारियों को इतनी प्रसन्नता हुई कि उन्होंने बाई को गुजरात कालेज का 'फ़ेलो' नियत किया। इन दोनों ने नागर-कुल में जन्म लिया है।

इन उदाहरणों से सिद्ध है कि पुरुषों के समान, इस देश की स्त्रियां भी, सब प्रकार शिक्षा ग्रहण करने के योग्य हैं। उनके लिए केवल अवकाश, अवसर और सुकरता की आवश्यकता है।

विनोद और आख्यायिका।

इङ्गलैण्ड में ड्राइडन एक प्रसिद्ध कवि हो गया है। अपने पति की कविता की प्रशंसा सुन कर ड्राइडन की मेम साहब को भी कविता करने का शौक़ बढ़ा। इसलिए वे भी अपने मकान के एक कमरे में किवाड़े बन्द करके कविता करने के लिए बैठने लगीं। इसका यह फल हुआ कि घर के नौकर चाकर अपने अपने काम में शिथिलता करने लगे। यह शिथिलता यहां तक बढ़ी कि मकान साफ़ भी अच्छी तरह न किया जाने लगा। एक बार दो तीन बड़े आदमी ड्राइडन से मिलने आए। जिस कमरे में ड्राइडन उनसे मिला वह बहुत ही मैला था; उसमें कहीं कहीं मकड़ियों ने जाला तक लगाना आरम्भ कर दिया था। इस मैलेपन को देख कर ड्राइडन मनहीं मन बहुत लज्जित हुआ। उससे जो लोग मिलने आए थे वे जब चले गए, तब कुपित हो कर ड्राइडन अपनी मेम के कमरे की ओर गया। वहां, द्वार पर जा कर, उसने ज़ोर से किवाड़े खटखटाए। जब मेम साहब भीतर से निकल कर बाहर आईं तब उसने बहुत क्रोधित हो कर उनसे कहा—

"मैं चाहता हूं कि आज से तुम कविता लिखना बन्द कर दो; ख़बरदार जो तुमने फिर कभी एक भी पंक्ति लिखी"।

मेम साहब—"प्यारे पति ! क्यों ? क्या हुआ?" उसने बड़े प्रेम से और बहुत मीठे सुर में पूछा।

ड्राइडन—"क्यों ? क्यों क्या ? मैं देखता हूं कि जब तुम और मैं दोनों एकही साथ कविता करने लगे हैं तब तत्काल ही मकड़ियाँ जाले बीनना आरम्भ कर देती हैं" !

*

विलायत में एक गृहस्थ थे। वे यद्यपि रुपये पैसे से तङ्ग रहते थे, तथापि, अनेक कष्ट सह करके भी, उन्होंने अपने पुत्र को लिखाया पढ़ाया। लड़का विद्वान्, अच्छा बोलनेवाला और उद्योगी निकला। उसकी योग्यता देख कर गवर्नमेण्ट ने उसे एक अच्छी जगह दी। क्रम क्रम से उसकी उन्नति होने लगी, यहां तक कि कुछ दिनों में उसे लार्ड की पदवी मिली। जब वह लार्ड हो गया तब उसे घमण्ड ने आ घेरा। अपने बाप को भी वह तुच्छ समझने लगा। उसके ख़र्च के लिए जो कुछ वह देता था, वह भी उसने बन्द कर दिया। बाप ने बहुत समझाया बुझाया, परन्तु कुछ लाभ न हुआ। निराश हो कर वह औरों से सहायता मांगने लगा। लोगों ने उसकी सहायता की भी, परन्तु थोड़े ही दिन। वे लोग मन में कहने लगे कि इसका लड़का लार्ड है। यदि इसमें कोई दोष न होता तो वह इसको अवश्य सहायता करता। अन्त में जब लार्ड साहब के बापको भूखों मरने का समय आया, तब उन्होंने एक युक्ति निकाली। अपने पुत्र के महल के सामने ही एक दूकान उन्होंने किराये पर ली और उसके दरवाज़े पर एक लम्बा चौड़ा तख़ता लटकाया। उस तख़ते पर बड़े बड़े अक्षरों में लिखा था—

इस दूकान के मालिक***लार्ड के बाप हैं।
इसमें फटे हुए जूतों की मरम्मत, थोड़े ही
ख़र्च में, अच्छी होती है।

कहने की आवश्यकता नहीं कि यह तख्ता वहां बहुत दिन नहीं रहने पाया !

मनोरञ्जक श्लोक।

माघकवि-कृत सूर्योदय वर्णन—

वितपृथुवरत्रातुल्यरूपैर्मयूखैः
कलश इव गरीयान् दिग्भिराकृष्यमाणः।
कृतचपलविहङ्गालापकोलाहलाभि-
र्जलनिधिजलमध्यादेष उत्तार्यतेऽर्कः॥

बहुत मोटी और लम्बी रस्सियों के समान किरणों से बाँधकर, सबेरे जगी हुई चञ्चल चिड़ियों के कोलाहल रूप शब्द करते हुए, दिशा रूपी स्त्रियां, एक बहुत बड़े घड़े के समान इस गरुवे सूर्य को, समुद्र से खींच कर, ऊपर निकाल रहा हैं। कैसी उत्तम उत्प्रेक्षा है !

✽

इह तुरगशतैः प्रयान्तु मूर्खा
धनरहिता विबुधाः प्रयान्तु पद्भ्याम्।
गिरिशिखरगतापि काकपंक्तिः
पुलिनगतैर्न समत्वमेति हंसैः॥

मूर्ख चाहें सौ घोड़े की गाड़ी पर निकलें; और निर्धन विद्वान् पैदलही क्यों न घूमते रहैं; इसले मूर्ख क्या विद्वानों की बराबरी कर सकते हैं ? हिमालय की चोटी पर बैठे हुए कौवे, नीचे भागीरथी के रेत पर फिरनेवाले हंसों की समता नहीं कर सकते !

✽

रटन्तु कतिचिद्धठात् ख, फ, छ, ठेति वर्णच्छटा
घटः पट इतीतरे पटु रटन्तु वाक्पाटवात्।
वयं बकुलमञ्जरीगलदनल्पमाध्वीझरी-
धुरीणगणरीतिभिर्भणितिभिः प्रमोदामहे॥

ख, फ, छ, ठ इत्यादि वर्णों की छटाओं को दिन रात घोखते हुए हठपूर्वक चाहै कोई भलेही व्याकरण पढ़ैं। और घट, पट इत्यादि शब्दों को रटते हुए तर्क-शास्त्र के अध्ययन में चाहै कोई भलेही पटुता दिखलावै। परन्तु हमको यह बिलकुल पसन्द नहीं। हमैं तो, खिले हुए बकुल के फूलों के मधुर रस से भी मीठे कवियों के वचन ही अधिक प्यारे लगते हैं! हम उन्हीं को पाठ करके प्रसन्न होते हैं।

✽

एक स्त्री गेंद खेल रही थी। उस समय, उसकी वेणी में कमल का एक फूल गुंधा हुआ था। खेलने में, धक्का लगने से, उस फूल को भूमि पर गिरते देख एक कवि कहता है—

पयोधराकारधरो हि कन्दुकः
करेण रोषादभिहन्यते मुहुः।
इतीव नेत्राकृतिभीतमुत्पलं
स्त्रियः प्रसादाय पपात पादयोः॥

गेंद ने पयोधरों का आकार धारण किया है, अर्थात् उनके आकार की चोरी की है; इसलिए यह सुलोचनी क्रोध में आकर उसे अपने हाथ से तड़ातड़ मार रही है। यह दशा देख, आँखों के आकार की चोरी करने के कारण भयभीत हुआ कमल-फूल इसके पैरों पर, मानो यह कहने के लिए गिर पड़ा, कि मुझे क्षमा करना; कहीं मुझपर भी, इसी प्रकार अपना हाथ न साफ़ करने लगना !

✽

यथा यथास्याः कुचयोः समुन्नति-
स्तथा तथा लोचनमेति वक्रताम्
अहो सहन्ते बत नो परोदय
निसर्गतोऽन्तर्मलिना ह्यसाधवः॥

जैसे जैसे इसके पयोधरों की उन्नति-वृद्धि, बढ़ती-होती है, तैसे तैसे इसकी आँखें टेढ़ी होती जाती हैं। सच है; स्वभावही से मलीन अन्तःकरण वाले दुर्जन दूसरे की बढ़ती नहीं सह सकते !

साहित्य-समाचार ।
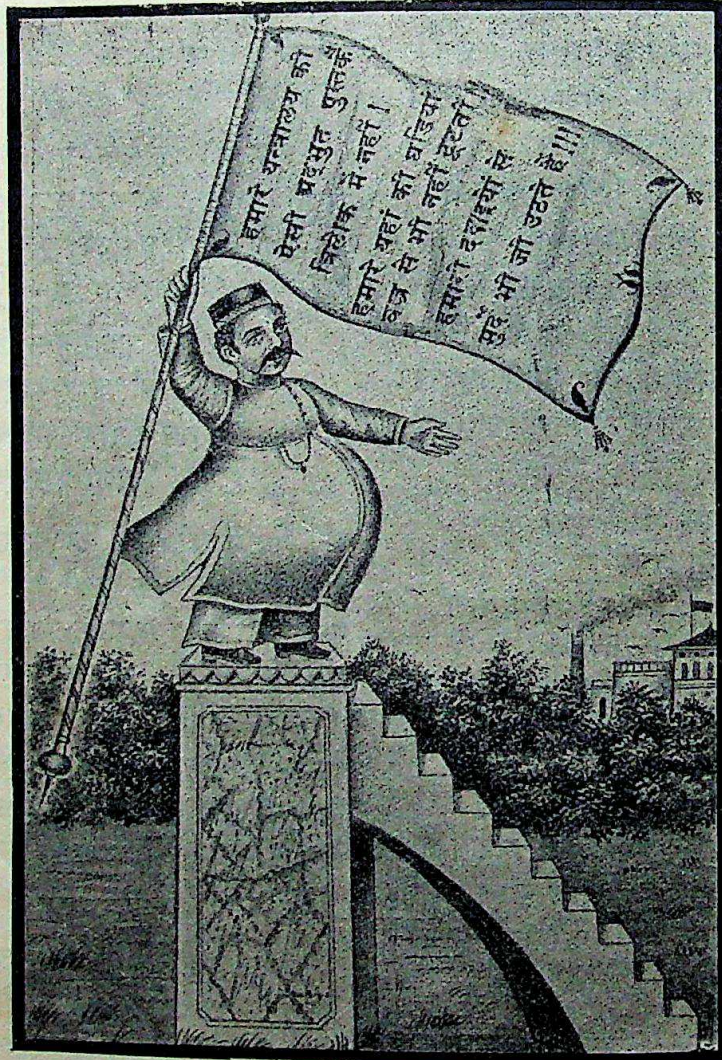
कला-सर्वज्ञ सम्पादक ।
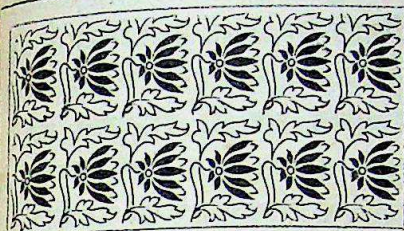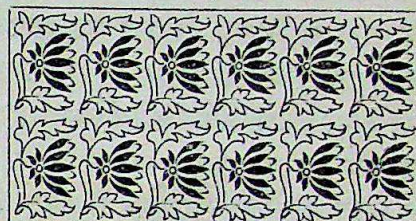
भाग ४] जून १९०३ [संख्या ६

विविध विषय।

यदि ८,००,००० पूर्णिमा के चन्द्रमाओं का प्रकाश इकट्ठा किया जाय तो कहीं वह सूर्य के प्रकाश की बराबरी कर सके।

***

सुनते हैं, अफ़ग़ानिस्तान के अमीर ने फ़ारस के शाह को हाथ से लिखी हुई कुरान की एक बहुमूल्य पुस्तक भेंट की है। इस पुस्तक की जिल्द का मूल्य ३,००,००० रुपये है। यह जिल्द सोने की है और पैाने तीन इञ्च मोटी है। इसके ऊपर बहुत ही मनोहर बेल बूटे कढ़े हुए हैं; और उनमें १०९ हीरे, १६७ मोती और १२२ मानिक जड़े हैं।

***

योरप के विद्वान् विज्ञानी फौकाल्ट साहब ने पृथ्वी के घूमने का प्रमाण लोगों को आँखों से प्रत्यक्ष दिखला दिया है। उन्होंने घड़ी का सा एक बड़ा प्यन्डुलम (लटकन) बनाया है। यह प्यन्ड्युलम यदि सावधानी से अन्तरिक्ष में लटका दिया जाता है तो एक बार हिला देने से वह बराबर हिला करता है; कभी बन्द नहीं होता। जैसे जैसे पृथ्वी उसके नीचे घूमती जाती है, वैसे ही वैसे वह भी अपने हिलने की दिशा बदलता जाता है। यह बात उसके आस पास के पदार्थों को देखने से जान पड़ती है। यदि यह प्यन्डुलम उत्तरी ध्रुव में लटका दिया जावै, तो पश्चिम से पूर्व की ओर जैसे जैसे पृथ्वी घूमैगी, वैसे ही वैसे इस प्यन्ड्युलम के हिलने की दिशा भी बदलती रहैगी; और जैसे घड़ी की सूई १२ घण्टे में अपनी पहली जगह पर आ जाती है, वैसे ही यह प्यन्डुलम भी २४ घण्टे में अपनी पहली चाल पर पहुंच जायगा। फौकाल्ट साहब का यह प्यन्डुलम-यन्त्र पेरिस में एक मन्दिर के गुम्मज़ से लटकता है। उसके गोले का वज़न कोई १६ सेर है। जिस तार से बन्धा हुआ वह लटकता है, उसकी लम्बाई ७२ गज़ है।

***

अमेरिका के एक विद्वान् ने तार द्वारा चित्र भेजने की युक्ति निकाली है। अर्थात् जिस प्रकार एक स्थान से दूसरे स्थान तक सब प्रकार के समाचार

चार तार-यन्त्र द्वारा एक पल में पहुंच जाते हैं, उसी प्रकार चित्र भी पहुंचाये जा सकते हैं। जो चित्र तार से भेजना होता है वह तार घर में एक यन्त्र के ऊपर पहले उतार लिया जाता है। वही उतरा हुआ चित्र एक विशेष क्रिया द्वारा इच्छित स्थान को तारही से भेज दिया जाता है, अर्थात्, जैसा चित्र भेजनेवाले तारघर में उठता है, वैसा ही पहुंचनेवाले में भी उठ आता है।

***

फ्रांस देश ने एक महा विलक्षण स्वभाव-सिद्ध कवि उत्पन्न किया है। वह १० वर्ष की एक लड़की है। उसका नाम अन्ट्वाइन है। उसकी स्फुट कविता को इकट्ठा करके डबल्यू ल्यमेर्रा ने अभी, थोड़े ही दिन हुए, छपाया है। परन्तु, यह बात उस लड़की को मालूम नहीं है! वह अब तक यह भी नहीं जानती कि वह एक स्वाभाविक कवि है। जब वह अपनी छोटी बहनों के साथ खेलती है तब उसे कविता करने की स्फूर्ति आती है। खेलते खेलते वह अपने खिलौने छोड़ कर चली जाती है; और जो कुछ उसे, उस समय, सूझता है, उसे वह तत्काल छन्दो-बद्ध लिख डालती है। उसकी कविता प्रायः इन विषयों पर होती है, जैसे ईश्वर की प्रार्थना, मार्टिनीक में ज्वालामुखी पर्वतों का उत्पात, ट्रांसवाल का युद्ध, इत्यादि। उसकी कविता में यद्यपि छन्दः-शास्त्र और व्याकरण सम्बन्धी अशुद्धियां रहती हैं, तथापि प्रसिद्ध प्रसिद्ध विद्वानों का कथन है कि जो कुछ उन्होंने देखा है, यदि वह अन्ट्वाइन ही का लिखा है तो वह एक अद्भुत बालिका है। शङ्कर-दिग्विजय आदि ग्रन्थों में लिखा है कि शङ्कराचार्य्य आठही वर्ष की अवस्था में कविता करते थे; पण्डितों से शास्त्रार्थ करते थे और वेदान्त की गूढ़ से गूढ़ ग्रन्थियों का उद्घातन करते थे! ऐश्वरीय लीला मनुष्य की समझ में नहीं आसकती; उसे सब कुछ करने का सामर्थ्य है।

***

एप्रिल की सरस्वती में लोलिम्बराज पर एक लेख प्रकाशित हुआ है। उसमें हमने लोलिम्बराज के केवल तीनही ग्रन्थों का नाम लिखा है। वे तीन ग्रन्थ ये हैं—वैद्यजीवन, वैद्यावतंस और हरिविलास। उस लेख में हमने यह भी संभावना की है कि लोलिम्बराज ने शायद और कोई अद्भुत ग्रन्थ बनाकर पार्वती के स्तनपान करने का कोई ज्वाज्वल्यमान प्रमाण दिया हो। आनन्द की बात है, कि उनके और चार ग्रन्थों का पता लगा है। एक जर्मन पण्डित ने प्राचीन संस्कृत ग्रन्थों की एक बहुत बड़ी सूची बनाई है। इस सूची में लोलिम्बराज के चार ग्रन्थ और भी पाये जाते हैं। उनके नाम ये हैं:— १—चमत्कार-चिन्तामणि। २—रत्नकला-चरित। ३—वैद्यविलास। ४—लोलिम्बराजीय।

डाकृर कीलहार्न, डाकृर राजेन्द्रलाल मित्र और डाकृर बूलर आदि कई विद्वानों ने इन पुस्तकों का वर्णन संस्कृत की हस्तलिखित प्राचीन पुस्तकों की खोज सम्बन्धी अपनी रिपोर्टों और सूचीपत्रों में किया है। रत्नकलाचरित में लोलिम्बराज की स्त्री रत्नकला का चरित होगा और शायद बहुत ही अच्छा हो। इनमें से कोई ग्रन्थ हमारे देखने में नहीं आया। बाबू श्यामसुन्दर दास बी० ए० ने इनका पता हमें बतलाया है। इसलिए हम उनके परम कृतज्ञ हैं।

समालोचना।

छ वर्ष से कायस्थसमाचार नामक एक मासिक पुस्तक अंगरेज़ी में प्रयाग से निकलती है। यह उत्तम पुस्तक है। इसमें बहुत उपयोगी और मनोरञ्जक लेख रहते हैं। इस पुस्तक के मार्चवाले नम्बर में लाला हरदयाल (?) माथुर का लिखा हुआ एक लेख निकला है। इस लेख का नाम है "देशी भाषायें और हमारा कर्तव्य"। लाला साहब ने देशी भाषाओं की शोचनीय अवस्था पर खेद प्रकट किया है और इन प्रान्तों के विद्वानों को हिन्दी में लेख और पुस्तकें लिखने के लिए सलाह दी है।

इसके लिए हम माथुर महाशय के परम कृतज्ञ हैं। जब तक अंगरेज़ी के पदवीधारी पण्डित हिन्दी पर कृपा न करेंगे तब तक उसकी उन्नति न होगी। उसको जगाने के लिए अंगरेज़ी में ऐसे ऐसे लेखों की बड़ीही आवश्यकता है। जहां तक हम जानते हैं, माथुर महाशय ने भी हिन्दी पर अब तक कृपा नहीं की। उनका कोई लेख हमारे देखने में नहीं आया। इस लिए, दूसरों को मार्ग दिखलाने के लिये, हम उनसे प्रार्थना करते हैं कि वेही पहले हिन्दी में "श्रीगणेशाय नमः" करें। उनके लेख का दर्शन करने के लिए "सरस्वती" उत्सुक हो रही है।

माथुर महाशय हिन्दी के पक्षपाती हैं। इस लिए हम उनको हृदय से धन्यवाद देते हैं। परन्तु, जान पड़ता है, हिन्दी के पक्षपाती होकर भी वे हिन्दी बहुतही कम जानते हैं। तथापि आपने हिन्दी साहित्य के दोष दिखलाये हैं; संस्कृत साहित्य के दोष दिखलाये हैं; और तुलसीदास के रामायण पर तो बहुत ही बड़े बड़े कटाक्ष किये हैं। चूंकि जान पड़ता है कि, वे हिन्दी और संस्कृत साहित्य का बहुतही कम ज्ञान रखते हैं, उनको इस विषय में कुछ कहने का विशेष अधिकार भी नहीं है। अनधिकारी पुरुष की बातों का सविस्तर उत्तर देने की आवश्यकता भी नहीं है। अतएव हम उनकी दोही एक बातों की आलोचना करेंगे।

माथुर महाशय कहते हैं—

Fiction as a branch of Literature was unknown to the ancient Hindoos.

अर्थात् प्राचीन हिन्दू काल्पनिक साहित्य (उपन्यास आदि) को जानते ही न थे।

मिस्टर दत्त लिखते हैं—

India was not better known to the ancient nations for her science and poetry than as the birth-place of fables and fiction.

इसका यह भावार्थ है कि, प्राचीन जातियां हिन्दुस्थान को काल्पनिक कथा और काल्पनिक साहित्य की जन्म-भूमि समझती थीं। काल्पनिक साहित्य की अपेक्षा काव्य और विज्ञान के सम्बन्ध में वे इस देश से अधिक परिचित न थीं।

माथुर महाशय को जानना चाहिए कि १२०० वर्ष की पुरानी कादम्बरी, वासवदत्ता और दशकुमार-चरित आदि पुस्तकें काल्पनिक साहित्य ही में गिनी जाती हैं। कथासरित्सागर की प्राचीनता का तो ठिकानाही नहीं; परन्तु उसे वे शायद फेबल्स् (fables) मिथ्या कथा समझें, फिक्शन (fiction) उपन्यास न मानें। इसलिए हमने उसे उपन्यासों में नहीं गिना।

तुलसीदास की रामायण को आप "universally admired but little read" कहते हैं। आपके मत में रामायण को सब कोई आश्चर्य की दृष्टि से देखते तो हैं; परन्तु पढ़ते कम हैं। उसे आश्चर्य की दृष्टि से देख कर भी, उसकी प्रशंसा करके भी, मनुष्य कम पढ़ते हैं!!! हमारी प्रार्थना यह है कि यदि कोई हिन्दी की पुस्तक सब कहीं पढ़ी जाती है तो वह रामायण ही है। स्त्री पुरुष, लड़के लड़कियां, युवा जरठ, सभी रामायण पढ़ते हैं। झोपड़ी और महलों में, दूकानों और पलटनों में रामायण का सब कहीं आदर है। आदर है कहां नहीं? केवल अङ्गरेज़ी के विद्वानों के घर! जो कोई यह कहता है कि रामायण कम पढ़ी जाती है, वह अपनी अनभिज्ञता की पराकाष्ठा दिखलाता है।

माथुर महाशय कहते हैं कि रामायण में सुन्दर भाव नहीं हैं; मनुष्यों के और घटनाओं के चमत्कारकारी वर्णन नहीं हैं; मानुषिक स्वभाव के उच्च आशय नहीं हैं; प्राकृतिक शोभा और प्रसिद्ध स्थलों के हृदयहारी वर्णन-वैचित्र्य नहीं हैं! यह कुछ भी नहीं है, तो फिर है क्या ख़ाक! आपने तुलसीदास और सूरदास को ज़ौक़ और ग़ालिब से हीन माना है! मानिये। आप हिन्दी के हितचिन्तक हैं। इसलिए हम आपसे विवाद नहीं करना चाहते। परन्तु जिस बात को आप जानते नहीं, उस बात पर आपको क़लम उठानी ही न चाहिए। आपके लिखने से जान पड़ता है, आपने रामायण को पढ़ा

नहीं, तो दूसरे के मुख से सुना तक भी नहीं। रायल एशियाटिक सोसाइटी के सामने जिस रामायण की डाकृर ग्रियर्सन ने, अभी कल, इतनी प्रशंसा की, उसे मिट्टी मोल बतलाने में आपने बड़ा साहस किया है। आपको अनधिकार चर्चा न करनी चाहिए। सीता, लक्ष्मण, भरत और दशरथ आदि का रामायण में जो वर्णन है वह क्या मनुष्य के स्वभाव का बहुत ही अच्छा चित्र नहीं है? शरद, वर्षा और वसन्त आदि का जो वर्णन है, उसे आप क्या समझते हैं? प्राकृतिक शोभा का क्या वह एक सजीव वर्णन नहीं है? भरत, केवट और अनुसूया की उक्तियों में क्या आपको कोई सुन्दर भाव नहीं मिले? लङ्का और मिथिलापुरी का वर्णन भी क्या आप स्थल-वर्णन में नहीं गिनते? धनुषयज्ञ, सीताहरण, अङ्गद और हनूमान का लङ्कागमन आदि घटनाओं का वर्णन भी आप हृदयहारी नहीं समझते? हम यही कहेंगे कि आपने रामायण को नहीं पढ़ा; यदि पढ़ते अथवा समझते तो कभी आप ऐसा न कहते।

***

लाहौर के देवसमाज के मन्त्री पण्डित देवरत्न जी ने, पण्डित सत्यानन्द अग्निहोत्रीकृत हिन्दी भाषा की चौथी पुस्तक हमारे पास समालोचना के लिए भेजी है। इस पुस्तक का नाम है "पाठ बोध—दूसरा भाग"। इस पुस्तक के ऊपर लिखा है "जातीय शिक्षा", जिससे सूचित होता है कि सरकारी पाठशालाओं के लिए नहीं, किन्तु स्वजाति-शिक्षा ही के लिए इस पुस्तक की रचना हुई है। हमको यह नहीं विदित कि किस क्लास के लिए यह पुस्तक है; और उस क्लास के विद्यार्थियों की ग्रहण-क्षमता कितनी होती है; इसलिए इसके विषय में हम विशेष नहीं कह सकते। पुस्तक को साधारण दृष्टि से देखने से जान पड़ता है कि इसमें विषय अच्छे रक्खे गये हैं, परन्तु इसकी भाषा बहुत क्लिष्ट और बेमुहाविरे है। जहां कहीं 'हीं' शब्द आया है वहां कर्ता ने उसे सब कहीं 'हिं' लिखा है। यह इस पुस्तक में विशेषता है!

मुरादाबाद-निवासी पण्डित बलदेवप्रसाद मिश्र हिन्दी भाषा के उत्तम ग्रन्थकार हैं। उन्होंने संस्कृत के भी कई ग्रन्थों का हिन्दी में अनुवाद किया है। दो चार उपन्यास जो उन्होंने लिखे हैं वे भी बहुत मनोहर, शिक्षाप्रद और सुपाठ्य हैं। देवी, विषवृक्ष और पानीपत इन्हींकी लेखनी से निकले हैं। इनमें से पहले के दो बङ्गभाषा से अनुवादित हुए हैं; और पिछला एक गुजराती पुस्तक की सहायता से लिखा गया है।

पण्डित बलदेवप्रसाद जी ने एक और बहुत अच्छा काम किया है। वह यह है कि उन्होंने प्यनल कोड अर्थात् ताज़ीरात-हिन्द का हिन्दी अनुवाद किया है। इसका नाम उन्होंने "हिन्दुस्थान का दण्डसंग्रह" रक्खा है। यह नाम बहुत उचित है। यह पुस्तक सरस्वती में समालोचना के लिए आई है। इसके अनेक स्थल हमने पढ़े और ठीक पाये। अनुवाद शुद्ध है; भाषा सरल है; भावार्थ तत्काल ध्यान में आ जाता है। इस प्रकार की पुस्तकों के लिए यही गुण अपेक्षित होते हैं। ये सब इसमें हैं। हाईकोर्ट की नज़ीरें भी इसमें शामिल हैं। यह सोने में सुगन्ध समझना चाहिए। प्यनल कोड बड़े उपयोग की पुस्तक है। इसमें जो दण्डसंग्रह संग्रहीत है, उसका थोड़ा बहुत ज्ञान होना सर्वसाधारण के लिए आवश्यक बात है। इस पुस्तक की एक एक प्रति हिन्दी जाननेवालों को अपने पास रखना चाहिए। यह बम्बई के वेङ्कटेश्वर यन्त्रालय में छपी है; और शायद वहीं से मिलती भी है। जिल्द, कागज़, छपाई सब अच्छा है।

श्रीमान् राजा कमलानन्दसिंह।

निसर्गभिन्नास्पदमेकसंस्थमस्मिन्द्वयं श्रीश्च सरस्वती च।

—कालिदास।

ऊपर का यह श्लोकार्द्ध हमने लिख तो दिया; परन्तु इच्छा होती है कि उसे निकाल कर—

कामं नृपाः सन्तु सहस्रशोऽन्ये राजन्वतीमाहुरनेन भूमिम्।

इसे उसके स्थान में रखदें। यह भी कालिदास ही की उक्ति है। इसमें कवि-कुल-शिरोमणि एक राजा की प्रशंसा में कहते हैं कि—और हज़ारहा पृथ्वीपति हों, तो हुआ करें; पृथ्वी तो इसीके जन्म से राजन्वती है! जिस पृथ्वी का राजा अच्छा होता है वह राजन्वती कहलाती है। अतएव सुराजा का होना पृथ्वी अथवा देश का सौभाग्य है। परन्तु, नहीं, हम इस श्लोकार्द्ध को यहां पर प्रधानता नहीं दे सकते। क्योंकि, विद्वान् न होकर भी अनेक पृथ्वीपति सुराजा हुए हैं। सुराजा होना विशेष आश्चर्य्य की बात नहीं है। परन्तु राजा के लिए श्रीमान् हो कर विद्वान् भी होना विशेष आश्चर्य्य की बात है। आश्चर्य की बात दूसरे देशों के लिए नहीं है। योरप, अमेरिका और जापान आदि के राजवर्ग धुरन्धर पण्डित भी हैं; और उनकी धनसम्पन्नता का तो कुछ कहना ही नहीं है। इस देश में भी वङ्ग, महाराष्ट्र और मदरास प्रदेश के लिए, यह कोई आश्चर्य्य की बात नहीं। इन प्रदेशों के पृथ्वीपतिओं में भी लक्ष्मी और सरस्वती दोनों सपत्नीभाव छोड़ कर प्रायः साथ ही साथ रहती हैं। आश्चर्य्य की बात विशेष करके उन प्रान्तों के लिए है जहां, अपने पुत्रों से परित्याग की हुई विधवा हिन्दी वास करती है। विधवा वह इसलिए है कि उसका कोई स्वामी ही नहीं। गवर्नमेण्ट को यदि हिन्दी का स्वामी मानैं तो वह स्वयं उसे न पसन्द करैगी। गवर्नमेण्ट का नाम लेते ही उर्दू-सपत्नी का स्मरण उसे आ जायगा। इस दशा में कोई स्त्री प्रसन्न नहीं रह सकती। अतएव स्वामीहीन और पुत्रहीन अभागिनी हिन्दी जहां बोली जाती है, वहां के किसी राजा, महाराजा अथवा ताल्लुक़ेदार में यदि लक्ष्मी के साथ सरस्वती भी आ रहै तो अवश्य आश्चर्य की बात है।

हिन्दी बोलनेवाले राजाओं में भी कई राजे विद्वान् हैं; परन्तु हिन्दी के नहीं। हिन्दी उनके लिए प्रायः अस्पृश्य है। कुछ ऐसे भी हैं जिनको हिन्दी से प्रेम है; परन्तु उसे लिखने पढ़ने का उनसे स्वयं श्रम नहीं होता। लिखना भी कई प्रकार का है। उन प्रकारों के बतलाने की यहां आवश्यकता नहीं है। इस देश में इस अनाथ, इस अपुत्रिणी, और इस रुग्ण हिन्दी नाम की हमारी मातृभाषा के आंसू पोंछनेवाले यदि दो एक सच्चे पुण्यात्मा पुरुष देख पड़ैं, और यदि वे लक्ष्मीवान् भी हों, तो अवश्य आश्चर्य्य की बात है; सन्तोष की बात है; और आनन्द की भी बात है। श्रीमान् राजा कमलानन्दसिंह ऐसे ही हैं। वे हिन्दी प्रचार करनेवालों की सहायता करते हैं; वे हिन्दी लिखनेवालों की सहायता करते हैं; वे स्वयं हिन्दी लिखते हैं। वे कविता करते हैं; वे पुस्तकें लिखते हैं; और पुस्तकों को छपा कर वे प्रकाशित भी करते हैं। इतना ही नहीं, वे हिन्दी लिखनेवालों को उत्साह भी देते हैं। उनके इन्हीं गुणों का विचार कर के हमने उनका संक्षिप्त चरित सरस्वती के वाचकों को सुनाना उचित समझा है।

सूबे बिहार के अन्तर्गत भागलपुर की कमिश्नरी में बनैली, हरावत और सोनबरसा आदि कई रियासतें है। उनमें से श्रीनगर भी एक है। श्रीमान् कमलानन्दसिंह वहीं के राजा हैं। श्रीनगर उनकी राजधानी है। श्रीनगर पूर्णिया ज़िले में है। पूर्णिया कलकत्ते से २६० मील है। उसके उत्तर में नैपाल और दारजिलिङ्ग; पूर्व में मालदह, दीनाजपुर और जलपाईगुड़ी; दक्षिण में गङ्गा; और पश्चिम में

* लक्ष्मी और सरस्वती में परस्पर स्वाभाविक वैर है; वे कभी पास पास नहीं रहतीं। परन्तु, इस राजा में, वे दोनों ही एकत्र हो गई हैं।

भागलपुर है। पूर्णिया २६° ३५′ रेखांश और ८८° ३३′ अक्षांश के बीच में है। अतएव श्रीनगर की स्थिति भी लग भग ऐसी ही है। इस प्रान्त की बोली हिन्दी है।

श्रीनगर उस प्रान्त में है जिसे मिथिला अर्थात् तिरहुत कहते हैं। यहां, किसी समय, राजा जनक का राज्य था। राजा भोज ने चम्पू-रामायण में मिथिला की बड़ी प्रशंसा की है। उन्होंने लिखा है कि समुद्र जिस पृथ्वी का दुकूल है; सुमेरु सिंहासन है; गङ्गा हार है; आदि वराह विष्णु की दंष्ट्रा क्रीड़ाशैल है; जानकी की जननी उसी पृथ्वी का, मिथिला-प्रदेश, सूतिकागार अर्थात् प्रसूति-घर है। पण्डित अम्बिकादत्त व्यास ने सामवत-नाटक नाम का एक ग्रन्थ, संस्कृत में, लिखा है। उसमें उन्होंने भी मिथिला की बड़ी बड़ाई की है। वे लिखते हैं—

> मित्राणां सहकारिण सहकारतरुव्रजे।
> गायन्ति रसिका यत्र गीतीर्विद्यापतेः कवेः॥

अर्थात् मित्रों के साथ, आम के वृक्षों के कुञ्ज में बैठे हुए, रसिक लोग जहां कविवर विद्यापति की कविता को प्रेम से गाते हैं।

मिथिला में पहले ही से विद्वान् होते आये हैं। मैथिलों का स्वभाव ही से विद्या की रुचि होती है। किसी समय तर्कशास्त्र में मिथिला प्रदेश अपनी समता नहीं रखता था। यहां कविता की भी अधिक चर्चा रहती है। वङ्ग-निवासियों ने विद्यापति को यद्यपि अपना कवि मान लिया है, तथापि वे शुद्ध वङ्गभाषा के कवि नहीं कहे जा सकते। उनकी वासभूमि मिथिला है, जहां की भाषा हिन्दी है; बँगला नहीं। अतएव विद्यापति पर हिन्दी बोलनेवालों का अधिकार बँगला बोलनेवालों की अपेक्षा अधिक है।

इसी तर्क-प्रिय, इसी काव्य-प्रिय और इसी पवित्र मानी गई मिथिला-भूमि के पूर्व कौशिकी नदी से १० मील, पूर्णिया ज़िले के अन्तर्गत, बनैली नामक एक स्थान है। यहां, एक समय, राजा कमलानन्दसिंह के पूर्वज निवास करते थे। उस समय यह विशेष शोभा-सम्पन्न था। अनेक विद्वान् और धनवानों ने इसका आश्रय लिया था। यहीं वत्सवंशावतंस यजुर्वेदीय मैथिल ब्राह्मण बाबू दुलारसिंह ने निवास कर अपना सुयश और सुप्रताप सर्वत्र फैलाया।

जिस समय नैपाल की सीमा के मारेङ्ग प्रदेश के लिए नैपालियों और अंगरेज़ों में विरोध उत्पन्न हुआ, उस समय बाबू दुलारसिंह ने अंगरेज़ों को बहुत सहायता दी। उन्हींके प्रबन्ध, उन्हींकी दूरदर्शिता और उन्हींकी चतुराई से शीघ्र ही सीमाबन्दी हो गई; और यथोचित हुई। यदि वे इस विषय में सहायता न देते तो शायद सन्धि भी न होती; और सन्धि न होने से रणाग्नि प्रज्वलित हुए बिना न रहती। इस सहाय, इस कार्य्यकुशलता, के उपलक्ष में अंगरेज़ी गवर्नमेण्ट ने, १८[illegible] ईसवी में, उन्हें राजा बहादुर की पदवी दी। तब से वे राजा दुलारसिंह बहादुर कहलाने लगे। उस समय से उनके प्रताप और ऐश्वर्य्य की दिनन्दिन वृद्धि होने लगी।

राजा दुलारसिंह के दो पुत्र हुए। वेदानन्दसिंह और रुद्रानन्द सिंह। इनकी सन्तति का ठीक परिचय होने के लिए नीचे की वंशमालिका देखिए—
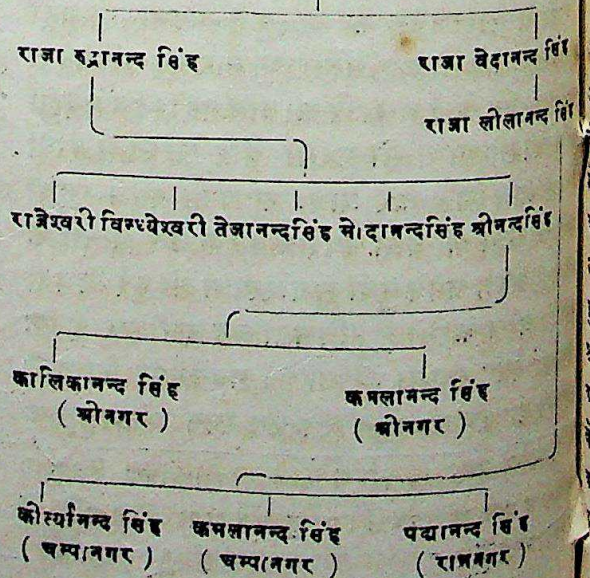
राजा दुलारसिंह के पुत्र वेदानन्दसिंह और रुद्रानन्द सिंह एक माता से न थे। परन्तु राजा दुलारसिंह के परलोकगामी होने के अनन्तर कुछ काल तक दोनों भाइयों में परस्पर प्रीतिभाव बना रहा। यह बात बहुत दिन तक नहीं रही। थोड़े दिनों में विरोध उत्पन्न हुआ, जिसका फल यह हुआ कि राज्य बँट गया; और दोनों भाई अपना अपना भाग हस्तगत करके राज्य करने लगे।

राजा वेदानन्दसिंह के एक मात्र पुत्र लीलानन्दसिंह हुए। राजा लीलानन्दसिंह के तीन पुत्र हुए—पद्मानन्दसिंह, कमलानन्दसिंह और कीर्त्यानन्दसिंह। इनमें से राजा पद्मानन्दसिंह एक माता से और शेष दो भाई दूसरी माता से हैं। विरोध ने इनका भी पीछा नहीं छोड़ा। उसने बनैली के पूर्वार्जित राज्य के पुनर्वार विभाग कराये। राजा पद्मानन्द सिंह अपने विभाग का स्वामित्व प्राप्त करके बनैली से आठ मील पश्चिम रामनगर में, इस समय, निवास करते हैं। और उनके सौतेले भाई श्रीमान् कमलानन्दसिंह और कीर्त्यानन्दसिंह रामनगर के पासही चम्पानगर में रहते हैं। दोनों विभागों के अधिकारी अपने अपने राज्य का काम दक्षतापूर्वक करते हैं। यह प्रशंसा की बात है।

राजा दुलारसिंह के दूसरे पुत्र राजा रुद्रानन्दसिंह थोड़ी ही अवस्था में अल्पायु हो गए। उनके परलोकगमन के समय उनके तीन पुत्र और दो कन्यायें थीं। उनके नाम ऊपर वंशमालिका में देखिए। ईश्वरीय कोप से, उनकी मृत्यु के अनन्तर, थोड़ेही दिनों में उनके दो बड़े लड़के भी न रहे; और दोनों लड़कियां भी परलोकवासिनी हुईं। इस डूबते हुए वंश के कर्णधार एक मात्र श्रीनन्दसिंह जी बच गये। परन्तु इन लगातार आपत्तियों की परम्परा के कारण श्रीनन्दसिंह जी के आत्मीय और कुटुम्बियों ने बनैली का रहना अच्छा न समझ उसे छोड़ देना बिचारा। इसलिए उससे थोड़ी दूर पर एक नवीन स्थान बना कर वहीं अल्पवयस्क श्रीनन्दसिंह को लेकर सब लोग रहने लगे। यह नगर श्रीनन्दसिंह ही के नाम से बसाया गया। अतएव उसका नाम श्रीनगर हुआ। यही श्रीनगर राजा कमलानन्दसिंह की राजधानी है।

राजा श्रीनन्दसिंह को यह लोक छोड़े कई वर्ष हुए; परन्तु उनकी कीर्ति अब तक विद्यमान है। उन्होंने बड़ी योग्यता से राज्य किया और अनेक लोकोपकारी काम वे कर गए। उनका सब से अच्छा काम यह है कि उन्होंने अपनी राजधानी में एक संस्कृत पाठशाला स्थापित करके उसमें सब शास्त्रों के अध्यापक रक्खे। जितने लड़के इस पाठशाला में पढ़ते थे, उन सबको वे भोजन-वस्त्र देते थे। आवश्यकता होने पर वे उनको पुस्तकें तक ले देते थे। जो विद्यार्थी वहां का अध्ययन समाप्त कर चुकते थे, उनको वे काशी अथवा नवद्वीप भेजते थे। जब वे वहां से कृतविद्य होकर लौटते थे तब उनको जीविका का प्रबन्ध भी वे कर देते थे। राजा श्रीनन्दसिंह को अपनी प्रजा के सुख दुःखों का भी सर्वदा ध्यान रहता था। उनके लाभ के लिए उन्होंने, जहां जहां आवश्यकता थी, वहां वहां, अनेक कुवें और तालाब खुदवाकर जल का कष्ट दूर कर दिया। अतिथियों के आराम के लिए एक अतिथिशाला भी उन्होंने बनवाई। एक हरिमन्दिर भी उन्होंने निर्म्माण कराया। इन बातों से उनकी धर्म्मनिष्ठा और उनकी प्रजावत्सलता भली भाँति प्रकट होती है।

राजा श्रीनन्दसिंह की तीसरी धर्म्मपत्नी से दो कुमार हुए। एक श्रीयुत् कमलानन्दसिंह, दूसरे कालिकानन्द सिंह। इस लेख में श्रीमान् कमलानन्दसिंह काही स्वल्प चरित देना हमने बिचारा है।

राजा कमलानन्दसिंह के चरित के सम्बन्ध में जो कागज़ पत्र हमारे पास हैं, उनमें उनका जन्म ज्येष्ठ शुक्ल ६ सोमवार, सम्वत् १९३२, लिखा है। यह देखने के लिए कि इस दिन कौन तारीख थी, हमने पञ्चाङ्ग निकाला तो हमें विदित हुआ कि

ज्येष्ठ शुक्ल षष्ठी (सं० १९३२) के दिन सोमवार न था। इस लिए हमने दो एक वर्ष इधर उधर के पञ्चाङ्ग देखना आरम्भ किया। ऐसा करने में सम्वत् १९३३ के ज्येष्ठ शुक्ल षष्ठी के दिन हमें सोमवार मिला। इस लिए हम समझते हैं कि राजा साहब का जन्म सम्वत् १९३३ का है; सम्वत् १९३२ का नहीं। ज्येष्ठ शुक्ल षष्ठी, सोमवार, सम्वत् १९३३ को, मई १८७६ को २९ तारीख़ थी। इसी दिन उनका जन्म हुआ। अर्थात् इस समय राजा साहब की उमर कुल २७ वर्ष की है।

राजा कमलानन्दसिंह पाँचही वर्ष के थे जब उनके पिता का देहान्त हुआ। छठे वर्ष इनका विद्याध्ययन आरम्भ हुआ। लिखने पढ़ने में थोड़ा अभ्यास हो जाने पर चाणक्य की राजनीति और अमरकोश इनको पढ़ाया गया। कालिदास ने रघुवंश में राजा रघु के विद्याध्ययन के विषय में लिखा है—

> लिपेर्यथावद्ग्रहणेन वाङ्मयं
> नदी मुखेनेव समुद्रमाविशत् ॥

अर्थात् लिपि—अक्षरमालिका—को ग्रहण करके उसकी सहायता से, नदी के मुख में पड़कर समुद्र में प्रवेश करने के समान, रघु ने वाङ्मयरूपी रत्नाकर में प्रवेश किया। यही उपमा राजा कमलानन्दसिंह के लिए भी दी जा सकती है। अक्षरज्ञान के उपरान्तही ये भी चाणक्य और अमरसिंह के वाङ्मय में प्रविष्ट हुए। इन ग्रन्थों के साथ साथ इन को फ़ारसी की भी शिक्षा दी जाती रही। ९ वर्ष की अवस्था तक ये राजभवनही में विद्याध्ययन करते रहे। तदनन्तर अंगरेज़ी के एक अध्यापक नियत किये गए। उनसे इन्होंने एक वर्ष तक अंगरेज़ी पढ़ी। जब कुछ अंगरेज़ी में ज्ञान होगया तब इन्होंने पूर्णिया के ज़िला स्कूल में अपना नाम लिखावाया। वहां ये दो वर्ष तक पढ़ते रहे।

बारहवें वर्ष इनका यज्ञोपवीत हुआ। उस समय बाबू मन्मथनाथ, बी० एल०, नामक एक विद्वान् बङ्गाली सज्जन इनके रक्षक अथवा निरीक्षक नियत किये गये। उन्हींकी अध्यक्षता में पढ़ने के लिए ये भागलपुर गये और वहां के ज़िला स्कूल में इन्होंने अध्ययन आरम्भ किया। फ़ारसी में इनको बहुत कुछ गति हो गई थी; परन्तु उससे इन्हें विशेष रुचि न थी। अतएव वहां इन्होंने अपनी दूसरी भाषा संस्कृत रक्खी।

जिस समय राजा साहब भागलपुर के ज़िला स्कूल में पढ़ते थे, उस समय पण्डित अम्बिकादत्त व्यास वहां प्रधान पण्डित थे। उनकी विद्वत्ता, उनका काव्य-कौशल और उनकी मधुमयी वक्तृता सुनकर इनको हिन्दी-कविता जानने की बलवती उत्कण्ठा हुई। यह अभिलाषा इन्होंने अपने निरीक्षक बाबू मन्मथनाथ से प्रकट की। ये महाशय बङ्गाली थे। हिन्दी काव्य से ये सर्वथा अनभिज्ञ थे। उसके गुणदोषादि का इन्हें कुछ भी ज्ञान न था। अतएव ये इस बात में सम्मत न हुए। इन्होंने राजा साहब को बँगला-काव्य पढ़ने की सम्मति दी। राजा साहब उनकी सम्मति को मान्य करके बँगला-काव्य का अभ्यास करने लगे और थोड़े ही दिनों में बहुत कुछ समझ गये। पाठशाला की पाठ्य-पुस्तकों और विषयों को यथासमय परिशीलन करके, बचे हुए समय को, काव्यालाप में लगाना रसज्ञता का लक्षण है। राजा कमलानन्दसिंह जी ने इस रसज्ञता के लक्षण लड़कपन ही से प्रकट किये थे।

राजा साहब की अनुमति से पण्डित श्रीकान्त मिश्र ने "साम्ब-कमलानन्द-कुलरत्नम्" नामक एक काव्य लिखा है। इसके पारितोषिक में उन्हें राजा साहब ने तीन हज़ार रुपए और कुछ ज़मीन दी है। यह काव्य संस्कृत में है। इसमें १५ सर्ग हैं। राजा कमलानन्दसिंह के पूर्वजों का चरित, राजा दुलारसिंह से लेकर, इसमें वर्णन किया गया है। स्वयं राजा कमलानन्दसिंह की भी कोई बीस बाईस वर्ष तक की अवस्था का चरित इसमें वर्णित है। परन्तु श्रीकान्त जी ने अपने काव्य में कहीं भी इस बात का उल्लेख नहीं किया कि पण्डित अम्बिकादत्त के सहवास से राजा साहब को

चित्त-वृत्ति में क्या परिवर्तन हुआ। राजा साहब के साहित्यानुराग के सम्बन्ध में भी कहीं कुछ नहीं कहा गया। यह आश्चर्य्य की बात है। पण्डित अम्बिकादत्त व्यास के विषय में यद्यपि श्रीकान्त जी ने कुछ नहीं कहा, तथापि, अपने काव्य के सम्बन्ध में उनसे उन्होंने एक सर्टीफ़िकेट (प्रशंसापत्र) अवश्य लिया है। उन्होंने कई प्रसिद्ध पण्डितों के सर्टीफ़िकेट अपनी पुस्तक के अन्त में छापे हैं। उनमें से आश्विन शुक्ल ८, शनिवार, सम्बत् १९५५ का लिखा हुआ व्यास जी का भी एक सर्टीफ़िकेट है; और सबसे वही विशेष सरस और मनोहर है। उसे हम यहां देना उचित समझते हैं—

श्रीकान्तमिश्ररचितं रुचिरं सुबन्ध-
श्रीकान्तमेतदतिसुन्दरमस्ति काव्यम्।
श्रीकान्तपत्तनपतिः परितोषमेतु
श्रीकान्तमेवमहमद्य निवेदयामि॥

अर्थात् श्रीकान्त मिश्र का रचा हुआ रचना-सौन्दर्य्य से सुशोभित यह रुचिर काव्य अत्यन्त सुन्दर है। हम ईश्वर से यह प्रार्थना करते हैं कि (इसे देख कर) श्रीनगर-नरेश परितुष्ट होवें। इस श्लोक की रचना में जो मनोहरता है वह तो हई है; इसमें एक व्यङ्ग भी है जो सहृदय वाचकों के ध्यान में सहज ही आ जायगा। परन्तु ऐसा अच्छा सर्टीफ़िकेट देनेवाले की कोई बात श्रीकान्त जी ने अपने काव्य में नहीं लिखी। हमने उनकी पुस्तक को बहुत ही शीघ्रता से पढ़ा है। इसलिए सम्भव है उन्होंने उस विषय में कुछ लिखा हो; परन्तु हमारे ध्यान में न आया हो। यदि यह सम्भावना सत्य निकलै तो हम श्रीकान्त जी से, पहले ही से, क्षमा माँग रखते हैं।

१६ वर्ष के वय में राजा साहब प्रवेशिका (यन्ट्रन्स) क्लास में पहुंचे। जब परीक्षा का समय निकट आया तब वे बहुत मन लगा कर, बित्त बाहर, परिश्रम करने लगे। दुर्दैव-वश इस परिश्रम का फल बुरा हुआ। इससे वे परीक्षा भी न दे सके और शरीर-सम्पत्ति भी उनकी बिगड़ गई। सिर में दर्द रहने लगा। बहुत उपाय करने पर भी पूरी पूरी आरोग्यता न हुई। इसलिए, डाक्टरों की सम्मति से, इनको जल-वायु-परिवर्तन और शीत-प्रधान स्थानों में भ्रमण के लिए निकलना पड़ा। दो वर्ष तक ये इस देश के पहाड़ी स्थानों में घूमते रहे। इस यात्रा में इन्होंने अनेक नगर देखे। इससे इनको बहुत लाभ हुआ; शिरोरोग भी जाता रहा, और अनेक महात्मा, विद्वान और शिष्ट जनों से मिल कर इन्हें अनेक प्रकार की शिक्षायें भी मिलीं। भिन्न भिन्न प्रदेशों का चालचलन, रीति भाँति और आचार व्यवहार देख कर इनको विशेष बहुदर्शिता भी प्राप्त हुई।

अब तक इनका राज्य "कोर्ट आफ़ वार्ड्स" अर्थात् सरकारी प्रबन्ध के आधीन था। १८९१ ई० में गवर्नमेण्ट ने अपना प्रबन्ध उठालिया, परन्तु इस समय राजा साहब वयस्क न थे—नाबालिग़ थे। अतएव राज्य का कामकाज इनकी माता करने लगीं। इस, अवस्था में, ज़िले के प्रधान हाकिम, राज्य-कार्य्य की देख भाल करते रहे। राजा साहब की इच्छा आगे पढ़ने की थी; परन्तु रियासत के प्रबन्ध का भार इनकी माता पर पड़ने से इनकी सहायता की आवश्यकता हुई। अतएव यथा-साध्य वे उनकी सहायता करने लगे और इच्छा होते भी अधिक दिन पाठशाला में न रह सके। उसे इन्हें छोड़ना पड़ा। यद्यपि इन्होंने पाठ-शाला छोड़ दी, तथापि विद्या का व्यासङ्ग इन्होंने नहीं छोड़ा। घर ही पर ये हिन्दी, संस्कृत और अंगरेज़ी ग्रन्थों का अवलोकन करके अपनी बहुज्ञता बढ़ाते रहे। कुछ दिनों से इनकी रुचि अंगरेज़ी साहित्य की ओर से कम हो गई है; परन्तु हिन्दी पर इनकी प्रीति प्रति दिन बढ़ती ही जाती है। पाठशाला छोड़ कर भाषा के अच्छे अच्छे कवियों को, तथा संस्कृत के भी अच्छे अच्छे शास्त्रज्ञ पण्डितों को अपने आश्रय में रख कर, यथावकाश, हिन्दी और संस्कृत काव्यों का बहुत कुछ मर्म इन्होंने जान लिया। इस प्रकार काव्य का आस्वादन

करते करते, थोड़े ही दिनों में, इन्होंने इस विषय में अच्छी योग्यता प्राप्त कर ली।

यथा-समय इनको अपने राज्य के पूरे अधिकार प्राप्त हुए। तब से राज्य के जटिल कार्यों में यद्यपि इनका बहुत समय जाता है, तथापि अपने प्रिय विषय साहित्य को ये नहीं भूलते। उसके लिए थोड़ा बहुत समय ये निकालही लेते हैं।

साहित्य में पण्डित अम्बिकादत्त व्यास से इन को बहुत सहायता मिलती थी। उनका ये आदर भी अत्यधिक करते थे। व्यास जी के गुणों पर मोहित होकर हज़ारों रुपए, बहुमूल्य आभूषण, बहुमूल्य वस्त्र और बहुमूल्य शस्त्र उन्हें देकर राजा साहब ने अपनी गुणग्राहकता की पराकाष्ठा दिखलाई है। व्यास जी को सोने के पदक भी इन्होंने दिये हैं। इतना करके भी, जान पड़ता है, इन्हें सन्तोष नहीं हुआ। क्योंकि राजा साहब ने व्यास जी को गजेन्द्र-दान तक किया है। राजा साहब की विद्याभिरुचि को धन्य! उनकी गुणग्राहकता को धन्य!! उनकी दानशीलता को धन्य!!!

व्यास जी के बनाये हुए साहित्य-विषयक संस्कृत में एक ग्रन्थ को अवलोकन कर राजा कमलानन्दसिंह जी बहुत प्रसन्न हुए। प्रसन्न क्या उसके विलक्षणता को देख स्वयं वे और उनकी सभा के सभी पण्डित चकित से हो गए। अतएव राजा साहब ने व्यास जी को, उसे हिन्दी में लिखने के लिए, सूचना की। व्यास जी ने इस बात को सहर्ष स्वीकार किया और "सुकवि-सरोज-विकाश" नामक ग्रन्थ लिखना आरम्भ कर दिया। परन्तु, उसके समाप्त होने में थोड़ाही अंश शेष था कि १९ नवम्बर १९०० ईसवी को व्यास जी ने इस संसार को सर्वदा के लिए छोड़ दिया। यह ग्रन्थ व्यास जी ने अपने और राजा साहब के नाम पर बनाया है। कविता में व्यास जी अपना नाम 'सुकवि' और राजा साहब 'सरोज' लिखते हैं। इसीलिए इसका नाम "सुकवि-सरोज-विकाश" हुआ। १९०० ई० में जब हम काशी गए थे तब व्यास जी ने इस पुस्तक की भूमिका हमको बड़े प्रेम से पढ़ कर सुनाई थी। इस भूमिका में अनेक प्राचीन कवियों की बातें थीं। सब भूमिका पद्य में थी। सुनते हैं, राजा साहब इस ग्रन्थ के शेष भाग को पूरा करने का स्वयं प्रयत्न कर रहे हैं। एवमस्तु।

व्यास जी पर राजा साहब का इतना प्रेम था, उन पर इनकी इतनी कृपा थी, कि उनके न रहने पर उनकी निःसहाय स्त्री और पुत्र के जीवन-निर्वाह के लिए इन्होंने दो सौ रुपए वार्षिक नियत कर दिये हैं। क्यों न हो—

अङ्गीकृतं सुकृतिनः परिपालयन्ति।

जिसे सत्पुरुष एक बार अङ्गीकार कर लेते हैं उसे वे फिर कदापि नहीं परित्याग करते; उसके परिपालन में वे सदैवही तत्पर रहते हैं। राजा साहब तो 'अङ्गीकृत' के अङ्गीकृतों का परिपालन करते हैं; अतएव उनके सौजन्य का क्या कहना है!

इलाहाबाद की कमिश्नरी में एक ज़िला फ़तेहपुर है। इस ज़िले में गङ्गा के तट पर, एक गाँव असनी नामक है। इसमें हिन्दी के अनेक प्रसिद्ध प्रसिद्ध कवि हो गये हैं। नरहरि और हरिनाथ इत्यादि कवि यहीं के निवासी थे। यहीं के रहनेवाले सेवक राम कवि का बनाया हुआ वाग्विलास नामक ग्रन्थ प्रायः लुप्त सा था। उसे बड़े प्रयत्न से बहुत द्रव्य व्यय करके राजा कमलानन्दसिंह जी ने प्राप्त किया है और उसे छपाया भी है। राजा साहब के साहित्य-प्रेम का यह उत्तम उदाहरण है।

महाराजा अयोध्या के यहां एक कवि हैं। उनका नाम है कविवर लछीराम जी। सुनते हैं, इन्होंने बारह वर्ष परिश्रम करके कमलानन्द कल्पतरु नामक एक ग्रन्थ बनाया। इसमें अलङ्कारों का वर्णन है। इस ग्रन्थ के नाम में "कल्पतरु" शब्द ध्यान में रखने योग्य है। कवि जी की इच्छा सफल हुई है। उनका नामकरण सार्थक हुआ है। वे इस पुस्तक को लेकर देवीपूजा के उत्सव पर श्रीनगर पधारे। वहां उन्होंने उसे राजा साहब को समर्पण किया।

अयोध्यानरेश के दरबार में प्रतिष्ठा पाये हुए कवि को राजा साहब ने अच्छा सम्मान किया। उनकी पुस्तक की कविता भी सुनी और उसे स्वीकार भी किया। स्वीकार करके आपने कवीश्वर जी को १५००) रुपए और बहुमूल्यक वस्त्राभरण देकर अपनी कल्पतरुता का परिचय दिया।

कविवर लछीराम जी ने १२ वर्ष परिश्रम किया। इतना परिश्रम उठाकर आपने पुस्तक किस विषय की लिखी? अलङ्कार-विषय की! हम प्रार्थना-पूर्वक यह पूछते हैं कि "रस-कुसुमाकर" ने काव्य-साहित्य अथवा हिन्दी-साहित्य की कितने अंगुल उन्नति की थी, और जसवन्तजसोभूषण ने उसे कितने हाथ ऊंचा उठाया था, जो लछीराम जी ने अलङ्कारशास्त्र की और थोड़ी वृद्धि की। जड़-चेतन-मय इस विश्व में इतने पदार्थ भरे पड़े हैं कि यदि करोड़ों कवीश्वर उत्पन्न हों तो भी वे सब न वर्णन किये जा सकें। फिर हम नहीं जानते कि कवीश्वर लोग अलङ्कार और नायिकाओं के क्यों इतना पीछे पड़े हैं। इन्हें और कोई विषयही नहीं मिलता! संस्कृत में सैकड़ों उत्तमोत्तम काव्य हैं। परन्तु अलङ्कार-शास्त्र-सम्बन्धी दोही चार ग्रन्थ हैं। हिन्दी में इसका उलटा है। काव्यग्रन्थों के नाम में प्रायः शून्य है। दो एक हुए भी तो कोई होना है। परन्तु अलङ्कार-विषयक ग्रन्थ अनेक! अलङ्कारों का जिस में वर्णन होता है वे लक्षण-ग्रन्थ कहलाते हैं; और काव्य, जिनमें वे अलङ्कार पाये जाते हैं, लक्ष्य-ग्रन्थ कहलाते हैं। कवियों को चाहिए कि पहिले लक्ष्य ग्रन्थ बनावें; जब ऐसे दस पाँच ग्रन्थ हो जावें तब उनके शब्द और अर्थ की रुचिरता के लक्षण और उदाहरण समझाने का परिश्रम करें। बारह बारह वर्ष तक हिमालय खोद कर और अन्त में कोई अल्पोपयोगी वस्तु निकाल कर अपना श्रम न व्यर्थ न करें। जो बड़े बड़े लक्षण ग्रन्थ बना सकता है, सम्भव है, वह लक्ष्य ग्रन्थ भी बना सकै; अत-एव उसे उचित कार्य में अपनी विद्वत्ता को लगाना चाहिए।

अलङ्कार और नायिकाभेद के ग्रन्थों को स्वीकार करने और उनकी रचना करनेवालों को पुरस्कार देने में राजा कमलानन्दसिंह पर कोई दोष नहीं आ सकता। यह उनकी उदारता का जाज्वल्य-मान प्रमाण है जो ऐसे अनुपयोगी ग्रन्थों के बनानेवालों को भी, उनके परिश्रम के उपलक्ष में, वे हज़ारों रुपये दे डालते हैं। यदि उनकी इच्छा के अनुकूल कोई उपयोगी ग्रन्थ लिख कर उन्हें भेंट करें तो, न जानें, वे उसे क्या दे डालें! उनकी विद्याभिरुचि और उनकी गुणग्रहणता हमारे राजा महाराजाओं के लिए आदर्श हो रही है।

राजा सहब ने नागरीप्रचारिणी सभा, काशी, को दो हजार रुपये दिये हैं। सभा की प्रार्थना पर आपने "ट्रस्टी" का पद भी ग्रहण किया है। आपने अपनी राजधानी श्रीनगर में एक "हिन्दी-प्रचारक साहित्य-समाज" स्थापित किया है। हम यह भी सुनते हैं कि हिन्दी के सुलेखकों को उत्साह देने के लिए, आप, उनकी समय समय पर द्रव्य से भी सहायता किया करते हैं। कई विद्यार्थी, इनकी सहायता से, काशी में विद्याध्ययन करते हैं। वहां आपने एक घर विद्यार्थियों ही के लिए ले रक्खा है।

राजा कमलानन्दसिंह हिन्दी के सिवाय अँग-रेज़ी, संस्कृत, फ़ारसी और बँगला के भी अच्छे ज्ञाता हैं। आपमें सबसे अधिक प्रशंसा की बात यह है कि हिन्दी के आप स्वयं लेखक हैं। इनकी दो एक कवितायें सरस्वती में भी छप चुकी हैं। दरभङ्गा-नरेश महाराजा लक्ष्मीश्वरसिंह के पर-लोकगामी होने के शोक में आपने "मिथिला-चन्द्रास्त" लिखा है; पण्डित अम्बिकादत्त व्यास के वियोग में "शोक-प्रकाश" लिखा है; और भारतेश्वर सप्तम एडवर्ड के राज्याभिषेक के उत्सव में "एडवर्ड-बत्तीसी" लिखा है। ये सब पुस्तकें छप कर प्रकाशित भी हो गई हैं। इस समय आप "साहित्य-सरोज-संहिता" नामक एक ग्रन्थ बना रहे हैं। आपने दो तीन उपन्यास भी लिखे हैं। इनमें से बङ्किम बाबू के आनन्दमठ नामक

उपन्यास का अनुवाद भी है। यह, आज कल, छप रहा है। आशा है दूसरे भी शीघ्रही छप जायँगे।

राजा साहब के अनुज श्री कालिकानन्दसिंह उनसे तीन वर्ष छोटे हैं। अँगरेज़ी और बँगला के अतिरिक्त ये भी संस्कृत और हिन्दी के ज्ञाता हैं। शिल्प और सङ्गीत में तो ये बहुत ही प्रवीण हैं। धनवानों में इनकी, इन दो विषयों में समानता करनेवाले, कोई बिरले ही होंगे। ये काव्य तो नहीं करते, परन्तु काव्य के अनुरागी ये भी हैं। इन्होंने श्रीनगर में, एक मिडिल इंग्लिश स्कूल स्थापित किया है। उसके अध्यापकों को वेतन और विद्यार्थियों को भोजनादिक ये अपनी ही ओर से देते हैं। इस पाठशाला के किसी विद्यार्थी से फ़ीस नहीं ली जाती। ये भी बड़े उदार और साथही बड़े दयालु हैं। अपने बड़े भाई की सहकारिता में दाहने हाथ के समान ये सर्वदा प्रस्तुत रहते हैं। इनमें और बड़े भाई में राम-लक्ष्मण का सा बन्धु-स्नेह है।

राजा कमलानन्दसिंह का समय यद्यपि काव्यालाप और विद्याव्यसन में अधिक व्यतीत होता है, तथापि वीरोचित कामों में भी आप पिछड़े हुए नहीं हैं। ऐसा कोई वर्ष नहीं जाता कि दो एक बाघों का शिकार आप न करते हों। आज तक आपने एक आरना और बीस इक्कीस बाघ मारे हैं।

राजा साहब का विवाह १८९३ ई० में हुआ। इस समय आपके दो कन्यायें और एक कुमार चिरञ्जीवि श्रीगङ्गानन्दसिंह हैं।

श्रीमान् राजा कमलानन्दसिंह जी की चरितावली का विचार करके यही कहना पड़ता है कि बिहार में इनके समान विद्यानुरागी, काव्यप्रेमी, क्षमाशील, दृढ़प्रतिज्ञ, उदार और उत्साही का नाम प्रायः सुनने में नहीं आता। हिन्दी-हितैषिता के विषय में तो ये, इस देश के भूमि-स्वामियों में, आदर्श तुल्य हैं। इनके इन्हीं गुणों के कारण, हमने इनका संक्षिप्त चरित सरस्वती के वाचकों को सुनाना उचित समझा। श्रीहर्ष ने कहा है—

वाग्जन्मवैफल्यमसह्यशल्यं
गुणाधिके वस्तुनि मौनिता चेत्।

अर्थात्—जिस वस्तु अथवा जिस व्यक्ति में गुणों की अधिकता है, उसके विषय में चुप रहना, ईश्वर की दी हुई वाणी को व्यर्थ करना है। जिस वाणी से गुणवान् के गुणों का वर्णन न किया उसका होना ही निष्फल है। निष्फल ही नहीं, किन्तु, हृदय में शल्य-बाण के अग्र भाग—के समान वेदनादायक है।

स्वर्ण* ।

रात समय हम एक बार निद्रालु हुए जब।
अति अचरज के साथ देखते हैं हम क्या तब॥
कि एक गद्देदार सुनहली कुर्सी ऊपर।
आ बैठा नर एक, गर्वयुत, रुचिर वेश-धर॥
आँखें अरुण, विशेष बङ्क भौंहें, भयकारी।
पीत-वर्ण, संकीर्ण-माथ, लम्बोदर-धारी॥
अंग अंग में विविध भाँति शोभित वर भूषण।
चमक रहे सब ओर पाग पर विमल रत्नगण॥
भृकुटी ऊपर खैंच, नयन-युग उसने खोला।
खन-खन ऐसे शब्द सहित वह मुझसे बोला॥ ५॥
"क्यों जी! क्यों, क्या मुझे नहीं तुमने पहचाना?
ऐसा कोई नहीं मुझे जिसने नहिँ माना"॥
मैंने कहा; "कृपालु! कृपा कर क्षमा कीजिए।
अपना परिचय, अजी, भला कुछ मुझे दीजिए"॥
तब बोला गम्भीर वचन वह खन-खन खन-खन।
"धातु-राज ऐश्वर्य्य-साज कञ्चन या सुवरन॥
इन नामों से, मुझे पुकारैं हैं मनुष्यवर।
सिंहासन मम महा रुचिर है भूपों का सर॥
पशु समान जो मनुज झोपड़ी अल्प बनाए।
तथा नगर रमणीय और जिन महल उठाए॥ १०॥
सभी हमारी करैं चाह जैसी; सब जानैं।
सार्वभौम मम राज्य, रङ्क औ राजा मानैं॥
जैसे ढूंढैं ईश, नाँघ गिरि, मूर्ख योगिजन।
उससे बढ़ कर मुझे ढूंढ़ते हैं सुविज्ञ-गन॥
हेरैं हैं नर मुझे हिंस्र-पशु शाला वन में।
महा अगम भयजनक ठौर जो हैं त्रिभुवन में॥

---

* इसके लिखने में कई भाव अंगरेज़ी कवि पोप से लिए गए।

यह सुन मैं ने कहा "आत्मश्लाघा को रोको।
करो न और पवित्र हमारे श्रुति-कुहरों को ॥
निर्विवेक वे लोग ! कहें तुमको जो 'सुवरन"।
"कनक" नाम उपयुक्त तुम्हारा मानैं बुध-जन ॥ १५ ॥
अशुचि वर्ण ! (१) तुम करो पीत (२) जिसके घर जाते।
प्रायः विगत विवेक, दोष निधि, प्रभुता माते ॥
तव माया से, कनक ! जगत्-रक्षा करने को।
गाड़ दिया महि-मध्य ईश ने तेरे तन को ॥
उन हतभाग्यों हेत खोदते, तदपि, अभागे।
गाड़ैं जो फिर तुझै कृपणता के रस पागे ॥
मर कर भी हो कृष्ण सर्प (३) तुझ पर ही रहते।
या जो तेरे तुझै, ठिकाने (४) पहुँचा देते ॥
रे कलिकाल पड़ाव ! (५) बुद्धि-वैभव-संहारी !!
करते कौन सुकार्य पाय तुझको नर नारी ?" ॥ २० ॥
बोला वह "नर मुझै पाय मन्दिर बनवाते।
अथवा करके दान, जगत् में नाम बढ़ाते" ॥
मैंने कहा, "स्वधर्म्म हेत नर जो बनवाते।
नहिं वे अपने नाम कभी उसपर खुदवाते ॥
वही दान है दान न चाहै कभी नाम को।
दक्षिण कर के काम न होवैं विदित वाम को" ॥
बोला कनक, "मनुष्य मुझै पा लाभ उठाते।
अनायास लै अन्न अन्य जिसको उपजाते" ॥
"रे ! यों कह वे कौर कृषक-मुख से ले जाते।
हाय ! हाय ! सब काल दुखद दुष्काल मनाते" ॥ २५ ॥
वह बोला, "नर मुझै पाय धरती क्रय करते"।
"सच ! पर कृषक लगान नित्य भरते ही मरते ॥
सबको सम अधिकार भूमि पर दिया ईशने।
धार्म्मिक स्वामी वही धरा को जोता जिसने" ॥
बोला स्वर्ण, "नरेश सैन्य रख उसके द्वारा।
रक्षण करैं स्वदेश, पाय बल अतुल हमारा" ॥
मैंने कहा, 'न सैन्य कर सकै रक्षा तिल भर।
जब तू चल, विश्वास-हन्तृ कर (६) पहुंचे जा कर ॥

तू ने इसी प्रकार राज्य समुदाय बिलाया।
बोर जाति स्वातन्त्र्य धूलि में हाय मिलाया ॥ ३० ॥
रे तव हित हो ट्रान्सवाल की प्रिय स्वतन्त्रता।
त्यों बोथाकी, गई रसातल, समर-चण्डता ७। ॥
कहैं कहां तक कुटिल कनक ! तेरी हम महिमा।
भूला जग तव देख मनो-मोहिनी लालिमा ॥
तेरे लिए मनुष्य करैं हत्या अघकारी।
सेवक बेचैं स्वामि-शीश, नर सन्तति प्यारी ॥
अपनी कारीगरी बेचते कवि औ पण्डित।
सहते बात कठोर धनी की सद्गुण-मण्डित ॥
अपना व्रत भी कभी देश के भक्त बेचते (८)।
कभी न्यायपति न्याय छोड़ तुझको ही भजते ॥ ३५ ॥
निर्दोषी पर समरजयी तलवार चलाते।
तेरा लालच पाय शीश धड़ से बिलगाते ॥
मुट्ठी में नर करैं राज्य, तेरा बल पा कर।
राजाओं को बेच मोल लेवैं रानी वर ॥
व्यसनी, लोभी, मूढ़ अहंमानी जो दुर्ज्जन।
उनको बिरले छोड़, कभीं सेवै तू सज्जन ॥
कृपापात्र तव निठुर, जगत् का रुधिर चूस कर।
ब्याज आदि जड़यंत्र लगा के होकर पीवर ॥
निष्किञ्चन को मूर्ख कहे हैं वे मदमाते (९)।
शैलाक्षों (१०) से दीन, हीन हो, पीसे जाते ॥ ४० ॥
टिकता नहीं उदार पास तू कुटिल ! नीच-तर !!
उनसे तू झट हटै कीट जैसे पर धर कर" ॥
मेरी ऐसी तीव्र उक्ति सब चुपके सुन कर।
लोप हुआ वह स्वर्ण, स आसन, सेठ-रूप-धर ॥ ४२ ॥

काशीप्रसाद।

---

(१) 'अशुचिवर्ण'—पीले रंगवाला अपवित्र गिना जाता है। "पिङ्गः शुचिर्यदि भवेत्तदाश्चर्यम्"। (२) "करो पीत जिसके घर जाते"—सोना जिसके पास जाता है उसे, प्रायः रोग आदि से पीला कर डालता है। (३) प्रचलित है कि कृपण मर जाने पर, सर्प होकर अपनी निधिपर पहरा देते हैं (४) तेरे ठिकाने—सुरालय, द्यूतशाला, वेश्यासदन आदिक। (५ कलिराज के टिकने की जगहों में से, भागवत् के अनुसार, सोना भी एक है।

(६) अर्थात् जब विश्वासघातक की जेब में तुम पहुंच गए=किसी राजकर्मचारी ने रिशवत ग्रहण किया; तब राज्य की रक्षा ज़रा भी वह सेना नहीं कर सकती। (७) जनरल बोथा की समर चण्डता सोने के सामने न जाने कहां चली गई। जब बोरों ने अपने को हारते देखा, सभों ने युद्ध की मूल कारण सोने की खानों को बारूद से उड़ा देना निश्चय किया, पर बोथा ने विरोध कर ऐसा न करने दिया। (८) विलायत के तीसरे विलियम के राज्य में एक प्रसिद्ध देश हितैषी सर सी० मसग्रेव (Sir C. Musgrave) ने अपना व्रत बेच कर राजा से एक गिनियों की थैली पाई थी जो रास्ते ही में फट गई। (९ सर गिलबर्ट आदि विदेशीय और बहुत से देशी धनी लोगों का यह मत, क्या सिद्धान्त है कि निर्धनों की विद्या बुद्धि किसी काम की नहीं। उनको ईश्वर की निर्विवेकता को सराहना चाहिए। (१०) शैलाक्ष - दुर्लभबन्धु नाटक में देखिए।

ब्याहा भला कि क्वारा ?

[पहले दोहों की भांति पढ़िए, फिर दोनों कालम पृथक् पृथक् पढ़िए]

मेरे मन यह भावना । पत्नी करना यार ।
उमर अकेले काटना ॥ होना सचमुच ख्वार ॥
बड़ा हर्ष यह रात दिन । निज नारी का ध्यान ।
जगमें रहना नारि बिन ॥ महाकष्ट-कर जान ॥
भामिनि-चिन्ता चित्तको । है अतिही सुखदाय ।
पावै कभी न मित्र! सो ॥ जो क्वारा रह जाय ॥
ब्रह्मचर्य्य जो साधता । बहुत बुरा दरसाय ।
मेरे मन को भावता ॥ ब्याहा जो बन जाय ॥

महेन्दुलाल गर्ग ।

भूतोंवाली हवेली

[२]

एक पल भर तक मैं कुछ भी आगा पीछा सोच न सका। जी में एक बार आया कि ठकुरी के साथ मैं भी भग जाऊं; परन्तु तुरन्त आत्माभिमान के कारण वहां से भाग जाने में मुझे बड़ी घृणा हुई। मैं फिर लौटा; फिर अपने कमरे में आया; और किवाड़ों को मैंने अच्छी तरह बन्द कर दिया। ठकुरी के भय का कारण वहां मुझे कुछ भी न देख पड़ा। मैंने दीवारों की फिर देखभाल की कि कोई गुप्त बात ऐसी तो वहां नहीं है जिससे मन में वृथा भय उत्पन्न होता हो। परन्तु आश्चर्य यह है कि मुझे कुछ भी नहीं देख पड़ा। तब मैंने अंगीठी की आग को चिमटे से धधका दिया और इस धुन में लगा रहा कि देखें अब कौनसी नई बात देख पड़ती है। थोड़ी देर पीछे कुत्ते की मुझे सुध आई। उसकी ओर देखा तो उसे मैंने एक कोने से चिपटा हुआ पाया। वह अपनी देह को यथासम्भव कोने में चिपका रहा था; मानो वह चाहता था कि दीवार फट जाय तो वह उसमें होकर दूसरी ओर भाग निकले। मैं उसके पास गया और उससे बोलने लगा। परन्तु वह बेचारा डर के मारे होश ही में न था। मेरी ओर मुँह फाड़कर वह घूरने लगा और यदि मैं उस समय उसे छूता तो निस्सन्देह वह मुझे काट खाता। मालूम होता था कि उसने मुझे पहचाना तक नहीं। कलकत्ते के चिड़ियाख़ाने में एक बड़ा भारी अजगर है। यदि हमारे पाठकों में से किसी ने उसके सामने डाले हुए खरगोश को कभी मन्त्रमुग्ध की नाईं पिञ्जड़े के कोने में छिपते हुए देखा हो तो वे उस रात को मेरे कुत्ते की दशा का अनुमान कर सकते हैं। मैंने देखा कि उसके भय के दूर करने की मेरी सब चेष्टाएं निष्फल हुईं। मैंने यही सोचा कि उस दशा में यदि वह मुझे काट खावे तो सम्भव है कि उसका काटना विषैला हो; इसलिए हार कर मैं अपने पलङ्ग पर आ लेटा और शस्त्रों को सम्भाल कर फिर पुस्तक उठा पढ़ने लगा। पाठकों में से शायद कोई महाशय यह समझते हों कि इतने पर मुझे डर अवश्य लगा होगा; यहां पर मैं अपने साहस को बढ़ा कर वर्णन कर रहा हूं। इसलिए उचित है कि मैं अपने विचारों को थोड़ा सा विस्तार करके प्रकट करूं। यदि इसमें मुझसे कुछ आत्म-श्लाघा का दोष हो जाय तो मैं क्षमा मांगता हूं।

मेरा यह मत है कि साहस अथवा उचित समय पर उचित बुद्धि को काम में लाने की शक्ति उसके उत्पन्न करनेवाली अवस्था ही पर अवलम्बित है। मेरी यह शक्ति पहिले कई बार काम में लाई जाचुकी थी। इसी भारतवर्ष ही में कितने ही स्थानों में ऐसी ऐसी दशाओं में मैं पड़ चुका हूं कि यदि उनका वर्णन करने लगूं तो आप पहले पहल कभी मेरी कथा पर विश्वास ही न करेंगे। मेरा यह मत है कि भौतिक, वा अलौकिक, वा अमानुषीय काम, जिसे अंगरेज़ी में सुपरनैचुरल (Supernatural) कहते हैं, सम्पूर्ण असम्भव है। और यदि हमको कभी कोई वस्तु अलौकिक ही जान पड़े तो वास्तव में वह अलौकिक नहीं है, वह कोई ऐसी वस्तु है जिसका ज्ञान आज तक हमें नहीं हुआ। इस कारण, यदि मेरे सामने कोई

प्रेत आकर खड़ा होजावे तो मुझे यह कहने का अधिकार नहीं है कि "लो अलौकिकता सम्भव हो गई"। वरन् मैं उस समय कहूंगा कि प्रेत का होना ईश्वर के अन्यान्य लौकिक नियमों ही में से एक नियम है। यह 'अलौकिक' नहीं है। आज तक मैंने इस 'अलौकिक' नाम से विख्यात जितनी घटनाएं देखी हैं, उन सभों का मुख्य कारण किसी पञ्चभूतात्मक शरीरधारी जीव को ही पाया है। वङ्गदेश के तान्त्रिकों से पूछिए तो वे कहेंगे कि मृत मनुष्य की प्रेतात्मा को साधनबल से वे वशीभूत कर सकते हैं। माना कि उनका कथन सम्भव है, परन्तु उस प्रेतात्मा को चञ्चल करने का कारण उस तान्त्रिक की जीवित आत्मा ही ठहरी।

फिर, अमेरिकानिवासियों के आत्माविर्भाव (Spirit manifestation) विषयक कथाओं को भी सत्य ही मान लीजिए। मेसमेरिज़्म् अर्थात् आध्यात्मिक क्रियायों से गीत वा दूसरे दूसरे शब्द सुनाई देते हैं; वा काग़ज़ पर अद्भुत अद्भुत समाचार लिखे जाते हैं; वा कमरे की वस्तु हटा कर दूसरी दूसरी जगहों में रखदी जाती हैं; अथवा वास्तव में कोई वहां बैठे हुए मनुष्यों को छूभी जाता है,-परन्तु इन अलौकिकवत् कार्य्यों का कर्त्ता देख नहीं पड़ता। कर्त्ता वही जीवधारी मनुष्य है जिसे मध्यस्थ वा मीडियम कहते हैं। सच तो यों है कि, यदि कोई पाखण्ड भी न हो; सब बातें सत्य ही मान ली जावें; तो भी, चाहे वे जितनी अलौकिक वा अद्भुत जान पड़ें, उन सबका कर्त्ता हमीं लोगों में से कोई होता है। यहां तक देखा गया है कि मेसमेरिज़्म् का कर्त्ता यदि लाहौर में है, और जिसपर वह अपना प्रभाव डालना चाहता है, वह मनुष्य यदि काशी में है, तौभी, कर्त्ता अपनी अद्भुत शक्ति के द्वारा उस मनुष्य को वशीभूत कर सकता है। कलकत्ते के जगदीश बाबू ने तो बेतार के समाचार भेजने की क्रिया सिद्ध कर दिखाई है। उन्होंने जिस शक्ति से काम लिया है वह बिजुली है। और मेसमेरिज़्म् वा तान्त्रिक क्रियाओं में भी वैद्युतिक शक्ति ही प्रबल रहती है।

इसीलिए उस हवेली में मैंने जो कुछ देखा था, वह चाहे जितना अद्भुत जचता हो, मेरा विश्वास था कि मेरे ही समान किसी देहधारी की मध्यस्थता से वह सब खेल मुझे दिखाई दिया। और मेरे इसी सिद्धान्त ने मेरे मन से भय को दूर हटा रक्खा था। हां, मुझे इतना ज्ञान अवश्य था कि जिस प्रकार कोई विद्वान् रसायनिक प्रयोगों में कभी कभी आपत्ति में भी पड़ जाता है, और अपनी असावधानी के कारण वह अपने शरीर के किसी अङ्ग तक को खो बैठता है, उसी प्रकार मैंने भी एक बड़ी भारी क्रिया की जांच को अपने ऊपर उठाया था। यदि मैं अपने मन में भय का संचार होने देता तो मुझसे कुछ भी न बन पड़ता। इस कारण अपने मन को स्थिर रखने के लिये मैं पुस्तक ही पढ़ता रहा।

ऐसे समय में मुझे कोई वस्तु मेरी पुस्तक के पन्ने और लम्प की शिखा के बीच में देख पड़ी। पत्र पर एक छाया दिखलाई दी। मैंने तुरन्त सिर उठा कर देखा, परन्तु जो देखा उसका वर्णन करना कुछ कठिन-कठिन क्या असम्भव-जान पड़ता है। कमरे के शून्य मार्ग में वह छाया धीरे धीरे एक रूप धारण करने लगी। रूप क्या, किसी वस्तु का एक बहुत धुँधला ढाँचा सा मेरे सामने जमने लगा। मैं यह नहीं कह सकता कि वह मनुष्य की आकृति थी। पर तौभी वह हलकी छायासी मनुष्य ही सी देख पड़ती थी। उस छायामयी मूर्त्ति का सिर छत से मिला हुआ था। उसकी ओर देखते देखते मुझे जाड़ासा लगने लगा। धीरे धीरे मुझे ऐसा ज्ञान होने लगा कि मैं नैनसन साहब के बर्फीले उत्तरी ध्रुव में चला आया हूं। नहीं, बर्फ़ का पहाड़ भी उतनी सर्दी नहीं पैदा कर सकता था। इतना मुझे निश्चय है कि यह सर्दी भय से नहीं उत्पन्न हुई थी। इसी अवस्था में मुझे जान पड़ा-परन्तु मैं ठीक ठीक नहीं कह सकता-कि उस छाया के मस्तक में दो नेत्र निकल आए और छत के नीचे से मेरी ओर

सकने लगे। एक पल भर मैंने उन्हें स्पष्ट रूप से देखा, परन्तु दूसरे ही पल वे छाया में मिल गए; तौभी दो हलकी नीली नीली शिखाएं नेत्रों के स्थानों में रह रह कर चमकने लगीं। मैंने बोलना चाहा, परन्तु मेरी शक्ति जाती रही। मैं बोल तो न सका, परन्तु मन मेरा तब भी स्थिर था। मैं सोचने लगा, "क्या मैं डर गया हूं? नहीं, नहीं, यह डर नहीं है"। मैंने उठना चाहा; परन्तु वह चेष्टा भी वृथा हुई। मुझे मालूम होता था कि किसी दुर्दमनीय शक्ति ने मुझे पलङ्ग पर जकड़ रक्खा है। वास्तव में उस समय मेरी वह अवस्था हो गई जो किसी मनुष्य की चारों ओर से प्रबल अग्नि में जलते हुए घर के बीच में रह जाने से होती है। अथवा वह दशा हुई जो आंधी के समय डूबती हुई नाव में बैठे हुए गङ्गा जी में मनुष्य की होती है। अथवा वह दशा हुई जो घने जङ्गल में शेर के सम्मुख पड़ जानेवाले की होती है। मेरी इच्छा वा शक्ति के प्रतिकूल दूसरी इच्छा वा शक्ति थी जो मेरे लिये आंधी वा शेर से भी अधिक प्रभावशालिनी थी। जब इस विचार ने मेरे मन में जड़ पकड़ लिया, तब मुझे एक कँपकँपी चढ़ी; मेरा शरीर इतने वेग से काँपने लगा कि उसकी वर्णना मेरे लिये असाध्य है। तौभी अब तक मेरे मन में गर्व वर्त्तमान रहा, और मैं सोचने लगा कि यह विस्मय है, भय कभी नहीं। जब तक मैं भय से ग्रसित न होऊं तब तक मुझे कोई हानि नहीं पहुंच सकती। मेरी बुद्धि इस घटना को स्वीकार नहीं करती। नहीं, मुझे डर नहीं सताता!

अन्त को बड़ी तीव्र चेष्टा से मैं सन्दूक पर धरे हुए शस्त्रों तक अपना हाथ फैला सका। परन्तु हाथ फैलाते समय मेरी भुजा और कन्धे पर एक प्रकार का अकथनीय झटका लगा, और मेरा हाथ बेकाम होकर रह गया। अब, मेरी दुर्दशा-वृद्धि के लिये बत्तियों की ज्योति धीरे धीरे बुझने लगी; सम्पूर्ण बुझी तो नहीं, परन्तु मानो किसी ने उसे धीरे धीरे ढक दिया। अँगीठी की आग की भी यही दशा हो गई, ईन्धन की ज्वाला को किसीने खींच लिया। क्षण भर में सारी कोठरी नरकवत् अन्धकार में डूब गई।

इसी घने अन्धेरे में, मैं वहां पर उस अन्धकार फैलानेवाली शक्ति के साथ एक ही कोठरी में रह गया। उस समय मेरे प्रत्येक अङ्गों में विद्युतशिखा की भांति एक अपूर्व शक्ति व्याप गई। या तो मेरी बुद्धि उस समय ठिकाने नहीं थी; या अन्धकार ने भयसे मुझे बड़े वेग से उस माया के बाहर उठा कर फेंक दिया था; क्योंकि, चाहे जिस रीति से हो, मैंने तुरन्त उस अद्भुत माया को अपने ऊपर से हटते हुए पाया। मेरी बोली लौट आई, नहीं मैं बोला क्या, वरन् बड़े ज़ोर से चीख उठा—"मैं नहीं डरता; मेरी आत्मा भयभीत नहीं हुई है"! कुछ ऐसे ही शब्द उस समय अकस्मात् मेरे मुख से निकल पड़े, और उसी क्षण, मेरे शरीर से जो बल बिलकुल निकल गया था, फिर धीरे धीरे लौटने लगा। मैं बड़े वेग से उठ खड़ा हुआ; उसी अन्धेरे ही में दौड़ कर एक खिड़की की ओर लपका; और एक झटके से तोड़ कर उसके किवाड़ खोल डाले। मेरी पहली चिन्ता उजियाले के लिये थी। जब मैंने देखा कि चन्द्रमा स्वच्छ शान्तरूप से आकाश-मण्डल में अपनी छटा प्रकाशित कर रहा है, तब मेरे ऊपर जो विपत्ति बीत चुकी थी, उसके सब क्लेश मेरे अन्तःकरण से प्रायः दूर हो गए। निर्मल चन्द्रमा आकाश में अपनी छटा प्रकाश कर रहा था; और नीचे, उस सुनसान गली में म्युनिसिपैलिटी की लालटेन जल रही थी। बस, मेरे हृदय का अन्धकार दूर हो गया। मैं मुख फेर कर कोठरी के भीतर फिर देखने लगा। चन्द्रमा की एक बहुत धीमी चाँदनी खिड़की में हो कर भीतर आ पड़ी थी। उस भयावने अन्धकार में उजियाला तो था; परन्तु वह अद्भुत वस्तु, वह चाहे जो कुछ रही हो, वहां पर नहीं थी। हां दीवार पर एक हलकी छाया अब तक देख पड़ती थी, और यह उस पहले कही हुई छाया की परछाईं सी जान पड़ती थी।

अब मेरी दृष्टि मेज़ पर पड़ी। उसके नीचे से धीरे धीरे एक हाथ निकला जो कलाई तक साफ़ दिख पड़ा। वह मेरे हाथ के समान रक्त-मांस ही का सा था, परन्तु किसी बुड्ढे मनुष्य के हाथ के समान सूखा और स्त्री के हाथ के समान छोटा था। मेज़ के ऊपर पूर्वकथित दोनों पत्र रक्खे हुए थे। वह हाथ धीरे धीरे उसी ओर हटने लगा और देखते ही देखते हाथ और चिट्ठियां ग़ायब हो गईं। तब फिर ज़ोर से वही तीन बार शब्द हुए जो इस अद्भुत नाटक के प्रारम्भ में सुन पड़े थे।

जब ये शब्द बन्द हो गए तब सारी कोठरी भूचाल की भांति एक बार हिल उठी और कोठरी के एक कोने में, शिखाओं की भांति उजियाला देख पड़ा। शिखाएं कई रङ्ग की थीं—हरी, पीली, अग्नि के समान लाल तथा कुछ आकाशवत् स्वच्छ नीली। ऊपर, नीचे, आगे, पीछे, इधर, उधर, छोटी छोटी शिखाएं और चिनगारियां नाना भांति से उछलने लगीं। पहले जैसा नीचेवाली कोठरी में मैं देख चुका था, उसी भांति अब एक मोढ़ा दीवार की ओर से आगे बढ़ आया और मेज़ के पास आकर रुक गया। तुरन्त ही, मोढ़े से एक मूर्त्ति निकल आई—एक स्त्री की मूर्त्ति। जीवित मूर्त्ति ही के समान यह आकार में स्पष्ट देख पड़ी; परन्तु रङ्ग मृतक का सा फीका था। मुख युवती का था, परन्तु उसकी सुन्दरता दुख से भरी हुई और बड़ी विचित्र थी। देह एक श्वेत साड़ी से ढकी थी, परन्तु गला, एक कन्धा और हाथ खुले हुए थे। अपने लम्बे केशों को वह धीरे धीरे अपनी अंगुलियों से सम्हालने लगी। उसकी दृष्टि मेरी ओर नहीं थी, परन्तु द्वार की ओर थी। वह कुछ सुनसी रही थी और ध्यान से उस ओर देखती थी; मानो वह किसी के लिये प्रतीक्षा कर रही हो। अब पीछे की ओर वह पहले की परछांई गाढ़ी हो गई, और फिर उसमें से दो नेत्र ऊपर से ताकते हुए देख पड़े। वे उस मूर्त्ति की ओर देख रहे थे। द्वार यद्यपि खुला नहीं था; परन्तु उससे एक और मूर्त्ति निकली। यह भी पहली मूर्त्ति के समान स्पष्ट थी; उसीके समान मृतक का सा रूप रखती थी; परन्तु वह एक युवा पुरुष के आकार में थी। उसके पहिराव का वर्णन कुछ कठिन है; आज कल तो वैसा कहीं देख नहीं पड़ता—बत्ती-दार एक प्रकार को पगड़ो सिर पर; लम्बा जामा शरीर पर; और पैर नंगे। जामे पर कुछ पुरानी चाल की ज़री सी टकी थी। इस पुरुष-मूर्त्ति का स्त्री के निकट पहुंचना था कि दीवारवाली घनी छाया आगे लपकी और तीनों पल भर में अन्धेरे में मिल गए। जब फिर हलका उजियाला देख पड़ा, मुझे मालूम हुआ कि छाया ने दोनों ओर दोनों स्त्री पुरुषों को दबा लिया है, और आप उनके बीच में है। स्त्री के हृदय पर रक्त का चिन्ह देख पड़ा। पुरुष अपने खड्ग को पकड़ रहा था और उसके वस्त्रों से रुधिर टपक रहा था। बीचवाली छाया ने उन्हें दबा लिया और वे सब फिर अन्धेरे में मिल गए। फिर वेही शिखाएं और चिनगारियां चमकने लगीं; और फिर वे इधर उधर घूम घूम कर उछल कूद करते हुए नाचने लगीं।

अब अंगीठी के दाहिनी ओर वाली कोठरी का द्वार खुला और उसके भीतर से एक बुढ़िया का स्वरूप निकल आया। उसके हाथ में चिट्ठियां थीं; वही चिट्ठियां जिन्हें हाथ उड़ा ले गया था। उसके पीछे पीछे किसी के पैर की आहटसी हुई। वह घूम कर सुनने लगी, और फिर पत्रों को खोल कर पढ़ने लगी। उसके कन्धे के पास एक काला फूला हुआ चेहरा निकल आया—एक ऐसे पुरुष का चेहरा, जो मानो पानी में डूब गया हो—फूला, जल से भरा हुआ, डबडबाता सा, केश बिखरे हुए।

बुढ़िया के पैरों के पास एक बालक की लोथ पड़ी थी। एक सूखा साखा अकाल का मारा बालक, जिसके गाल पंचके हुए और आंखें भय से उभड़ी हुई जान पड़ती थीं। मैंने उस बुढ़िया स्त्री के मुख की ओर देखा तो उसकी सिकुड़न और रेखाएं मिट गईं; और उस पर यौवन झलकने लगा। नेत्र

काले पथरीले थे; परन्तु तो भी युवावस्था के थे। इतने पर वही पहले की सी परछाईं फिर प्रकट हुई। उसने इन दोनों को वैसा ही आ दबाया जैसे पहिले भूतदम्पती को दबाया था। और फिर सब ओर अन्धेरा हो गया।

अब उस छाया को छोड़ और कुछ शेष न रहा और मेरे नेत्र उसी पर गड़ गए। छाया में फिर दो आंखें निकल आईं। वे साँप की आंखों के समान चमकीली, तीव्र, भयानक और कुटिलता से भरी हुई थीं। पूर्वकथित चिनगारियां फिर चमकने और कूदने लगीं, और अपनी शान्तिरहित चञ्चलता से चन्द्रमा की धुंधली चांदनी में मिलने लगीं। अब इन्हीं चिनगारियों से बड़ी भयावनी वस्तुएं निकलने लगीं और मानो एक बड़ा अण्डा फूट गया और उनमें से असंख्य बुरे बुरे कीड़े निकल पड़े। उनकी भयावनी आकृतियों को देख देख कर मेरा जी घबराने लगा। आपने कभी खुर्दबीन देखा है? जैसे इस यन्त्र की सहायता से बूंद भर जल में नेत्रों के सामने असंख्य कीड़े बिलबिलाते हुए देख पड़ते हैं—फुरतीले, दौड़ते, स्वच्छ, परस्पर लिपटते, एक दूसरे को निगलते हुए, अनेक भांति और अनेक आकार के—वैसे ही बेडौल और मैले रूप देख कर मेरा चित्त बिगड़ गया। न तो उनकी आकृति ही अच्छी थी, और न उनकी चञ्चलता ही भली लगती थी। वे कीड़े चारों ओर बड़े वेग से और भारी झुण्ड बांध बांध कर मुझे घेरने लगे। कभी मेरे सिर पर दौड़ते; कभी मेरे पैरों के नीचे लुढ़कते और कभी मेरी दाहिनी भुजा पर,—जो मेरी अनिच्छा पर भी सब बाधाओं के रोकने के लिये आगे बढ़ जाता था—रेंगने लगते थे। कभी कभी ऐसा जान पड़ता था कि कोई मुझे छू रहा है—वे कीड़े नहीं, परन्तु कोई अदृश्य हाथ। एक बार मैंने समझा कि किसी की कोमल ठंढी अंगुलियों ने मेरे गले को टटोला। अब भी मुझे इस बात का पूर्ण ज्ञान था कि यदि भय ने मुझे तनिक भी सताया तो मेरे शरीर को तुरन्त हानि पहुंचेगी। इस लिये मैंने बलपूर्वक अपने मन में प्रण किया कि मैं दबने का नहीं। और मैंने उन कुटिल छायामय नेत्रों पर से, जो अब स्पष्ट दिखाई पड़ने लगे थे, अपनी दृष्टि हटा ली क्योंकि मुझे इस बात का विश्वास हो गया था कि उनमें प्रचण्ड शक्ति है—ऐसी शक्ति जो मेरी शक्ति को कुचल कर चकनाचूर कर सकती थी।

अब कमरे का धुंधला उजियाला लाल होने लगा; मानो कहीं भारी आग लग गई हो। कीड़े-मण्डली भी लाल हो गई; मानो वे अग्नि में रहने वाले जीव हों। कमरा फिर हिलने लगा। फिर वे ही पूर्वकथित तीन खटके सुन पड़े और सारा दृश्य उसी काली छाया के अन्धकार में लीन हो गया, मानों उसी अन्धकार से सब वस्तुओं का जन्म हुआ था और अन्धकार ही में उनका लय भी हुआ।

अन्धेरा हो गया; वह छाया भी चली गई। उसी समय धीरे धीरे, फिर मेज़ पर की बत्ती में प्रकाश लौट आया और अंगीठी में आग भी फिर जलने लगी। सारा कमरा फिर धीरे धीरे शान्त देख पड़ने लगा।

दोनों द्वार अब तक बन्द ही थे। नौकर वाली कोठरी भी बन्द थी। कोने में भीत के पास कुत्ता पड़ा हुआ था। मैंने उसे पुकारा; परन्तु वह नहीं हिला। मैं उसके पास गया। जाकर मैंने देखा कि वह मरा हुआ है। उसकी आंखें निकल पड़ी थीं, उसकी जीभ मुख से बाहर लटक रही थी; जबड़ों से बहुत सा फेन निकला हुआ था। उसकी मृत्यु से मुझे बड़ा खेद हुआ। मन में बड़ी ग्लानि होने लगी। मेरे ही कारण बिचारा भयभीत हो कर मरा। परन्तु जब मैंने देखा कि किसी ने सचमुच ही उसका गला ऐंठ दिया है तब मेरे आश्चर्य की सीमा न रही। क्या यह अंधेरे में हुआ था? क्या यह काम मेरे ही समान किसी मनुष्य के द्वारा हुआ था? क्या इतने समय तक कोई मानवी शक्ति ही कमरे में ये सब खेल दिखा रही थी? मुझे कुछ अधिक अधिक सन्देह होने लगा। परन्तु मैं कुछ समझ नहीं सका। वास्तविक घटना का वर्णन छोड़

इस समय ग्रौर कुछ नहीं कह सकता कि उस समय क्या हुआ। पाठक आपही चाहे जो कुछ अनुमान करलें। दूसरी अचरज की बात यह थी कि मेरी घड़ी जो ग़ायब हो गई थी, फिर अपनी जगह पर आगई; परन्तु वह बन्द हो गई थी। मैंने उसे इलाहाबाद के नामी घड़ीसाज़ बेकलर के यहां बनवाई, पर वह ठीक नहीं हुई; अब तक सदा गड़बड़ ही चाल से वह चलती है। दो चार दिन या कभी कभी कई घण्टे चलती है, ग्रौर फिर बन्द हो जाती है। वह अब निरी निकम्मी हो गई है।

बची हुई रात में ग्रौर कुछ नहीं हुआ। न मुझे बहुत देर तक ठहरना ही पड़ा। मुसलमानों के रोज़े के दिन थे। पास की एक मसजिद से अज़ां की आवाज़ आरही थी। मुसलमान फ़क़ीर राह में भीख मांगने लगे थे। शीघ्र ही सवेरा हो गया। परन्तु जब तक सूर्य अच्छी तरह प्रकाशित न हुआ, मैं वहां से नहीं हटा। चलने से पहिले उस छोटी कोठरी को मैंने फिर देखा, जिसमें मैं अपने नैाकर के साथ कुछ देर तक क़ैद हो गया था। मेरे मन में यह धारणा जम गई थी कि इस अद्भुत नाटक का मूल कारण उसी कोठरी में कहीं पर है। ग्रौर यद्यपि इस समय वहां पर सूर्य का प्रकाश था, तो भी वहां जाते ही मुझे सर्दी लगने लगी। फिर, जैसा पहले मैं कह चुका हूं, हृदय में कुछ भयका सा संचार होने लगा। आधे मिनट से अधिक देर तक मैं वहां नहीं ठहर सका। मैं नीचे के आंगन में उतर आया। मेरे आगे आगे फिर पैरों की आहट होने लगी। ग्रौर जब मैंने गली में पांव रक्खे, मुझे स्पष्ट सुनाई पड़ा कि हवेली के भीतर कोई बहुत धीरे से हंस रहा है। [अभी ग्रौर है]

—पार्वतीनन्दन।

भानुताप।

प्राकृतिक पदार्थों के साथ साथ प्राकृतिक शक्तियों का भी उपयोग करने से संसार के बड़े बड़े काम निकलते हैं। विद्युत्–बिजुली–एक प्राकृतिक शक्ति है। उससे, इस समय, विद्वान् लोग जो जो काम ले रहे हैं वे छिपे नहीं हैं। इस बात को प्रायः सभी जानते हैं। गत संख्या में, एक जगह, हमने लिखा भी है कि विद्युत् कौन कौन अद्भुत काम करती है। अग्नि, जल, वायु, बाष्प, जितने प्राकृतिक पदार्थ अथवा तत्व हैं, सबमें ईश्वर ने कहीं गुप्त ग्रौर कहीं स्पष्ट रीति से, अपूर्व शक्ति भर रक्खी है; उसी शक्ति को, विद्या ग्रौर बुद्धि की सहायता से, विद्वान् अपने वश में करके, उससे नाना प्रकार के काम लेते हैं। यदि प्राकृतिक शक्तियों का उपयोग करना मनुष्य न जानता तो रेल, तार, धुवाँकश ग्रौर भाँति भाँति के कल कारख़ाने एक भी देखने में न आते।

ईश्वरही सर्वज्ञ है। केवल वही एक ऐसा है जिसमें सर्वज्ञता पराकाष्ठा को पहुंची है। मनुष्य की सज्ञानता ईश्वर की सर्वज्ञता के सामने कोई पदार्थ नहीं। तथापि ईश्वर ने मनुष्य को जो अत्यल्प ज्ञान दिया है उसके बल से वह ऐश्वरीय नियमों को जानकर प्राकृतिक शक्तियों से अनेक अलौकिक काम लेता है। जो मनुष्य जितना ही अधिक सज्ञान है, वह ईश्वर के उतनाही निकट भी है। क्योंकि सर्वज्ञता ही ईश्वर का लक्षण है; ग्रौर मनुष्यों में ज्ञान का होनाही ईश्वर-आत्मा का सबसे बड़ा चिन्ह है। अतएव जो जितना अधिक ज्ञानी है उसमें उतनाही अधिक ईश्वर का अंश समझना चाहिए।

जितने अद्भुत अद्भुत आविष्कार हुए हैं सब विशेष सज्ञान जनोंहीं के द्वारा हुए हैं। इस लिए उन्हें हम साधारण जनों की अपेक्षा अधिक आदर की दृष्टि से देखते हैं। यही नहीं, हम उन को सब प्रकार पूज्य भी समझते हैं। उनके आविष्कारों द्वारा जगत् का उपकार होता है; इसलिए तो वे आदरणीय हैं हीं; परन्तु सबसे अधिक आदरणीय वे इसलिए हैं कि उनमें ईश्वर का प्रधान लक्षण, सज्ञानता, अधिक जागृत रहती है।

ईश्वर पक्षपाती नहीं है। वह सब प्रकार पक्षपात रहित है। वह सबसे बड़ा न्यायी है। इस

लिए हम यह नहीं कह सकते कि योरप अथवा अमेरिकावालों हीं को उसने नये नये आविष्कार करने की शक्ति दी है। सब देश, सब जाति और सब अवस्था के मनुष्यों में ईश्वर समान रूप से स्थित है। उसका लक्षण सज्ञानता सब में बराबर विद्यमान है। अभ्यास, मनन, और शिक्षा आदि कारणों से यह सज्ञानता, किसी किसी में विशेष उद्दीप्त हो उठती है और अनेक आश्चर्यजनक काम करने लगती है। इसके उद्दीपन के जो कारण हैं वे और देशों में अधिकता से पाये जाते हैं। इसी लिये वहां के विद्वान् अनेक आविष्कारों द्वारा संसार को चकित कर रहे हैं। हर्ष का विषय है, कि हमारे देश में भी, ईश्वर की दी हुई सज्ञानता का उद्दीपन होने लगा है। यह ऐश्वरीय ज्ञानोद्दीपन ही प्रख्यात प्रख्यात कवि, ज्यौतिषी, तत्वज्ञ, कला-कुशल और आविष्कर्ता विद्वानों को उत्पन्न करता है। इसी ज्ञानोद्दीपन ने अध्यापक वसु को उस उच्च आसन पर बिठाया है जिस पर हम उन्हें, इस समय, देखते हैं। इसी ज्ञानोद्दीपन ने एक और सत्पुरुष पर भी कृपा की है। ये इन्हीं प्रान्तों के निवासी हैं। इनका नाम पण्डित श्रीकृष्ण जोशी है।

क्या ही अच्छा होता यदि पण्डित श्रीकृष्ण जी के विषय में, हम, यहां पर कुछ अधिक लिख कर पाठकों का मनोरञ्जन कर सकते। परन्तु हमको खेद है, हम उनके जीवनचरित से सर्वथा अनभिज्ञ हैं। उसके जानने का हमने प्रयत्न भी नहीं किया, क्योंकि वैसा करना हमने व्यर्थ समझा। जिस विषय पर हम यह लेख लिख रहे हैं, उस विषय की सामग्री मिल जाने ही से हमने कृतार्थता मानी। श्रीमान् जोशी जी के विषय में हम इतना ही जानते हैं कि आप अलमोड़ा के रहनेवाले हैं। गत वर्ष आप लखनऊ में, झाऊलाल के पुल पर, रहते थे। अब हम यह नहीं कह सकते कि इस वर्ष भी वे वहीं हैं अथवा नहीं। प्रयाग में, आप, शायद गवर्नमेण्ट के किसी दफ़्तर में कर्मचारी किंवा अधिकारी हैं; अथवा रह चुके हैं। दो तीन वर्ष हुए हम प्रयाग गये थे। उस समय "भारतीभवन" के समीप, आप और पण्डित मदनमोहन मालवीय पास ही पास रहते थे। "अलमोड़ा अख़बार" ने लिखा है कि जोशी जी अँगरेज़ी और संस्कृत ही के नहीं; किन्तु फ़ारसी के भी पण्डित हैं और सङ्गीत के भी आप बड़े प्रेमी हैं। जोशी जी ने 'भानुताप' नामक भोजन पकाने की एक कल बनाई है। इस कल अथवा यन्त्र के द्वारा सूर्य की किरणों से भोजन पक जाता है; आग जलाने की आवश्यकता नहीं होती।
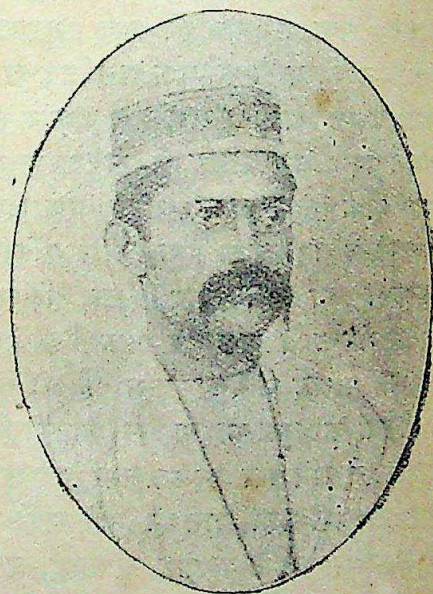
पण्डित श्रीकृष्ण जोशी।

स्टिफ़न्सन ने यञ्जिन बनाया। परन्तु उसके यञ्जिन बनाने की बात सुन कर ही मनोरञ्जन नहीं होता। जब हम सुनते हैं कि लड़कपन में वह चरवाहे का काम करता था और उस अवस्था में भी वह लकड़ी और मिट्टी के यञ्जिन बना कर खेला करता था; जब हम सुनते हैं कि वह, पहले पहल अपने बाप के साथ, एक कारख़ाने में, कोयला झोंकता था। जब हम सुनते हैं कि कई बार यञ्जिन बनाने में हतसफल हो कर भी वह निराश नहीं हुआ और बराबर परिश्रम, उद्योग और उत्साहपूर्वक

भानुताप ।
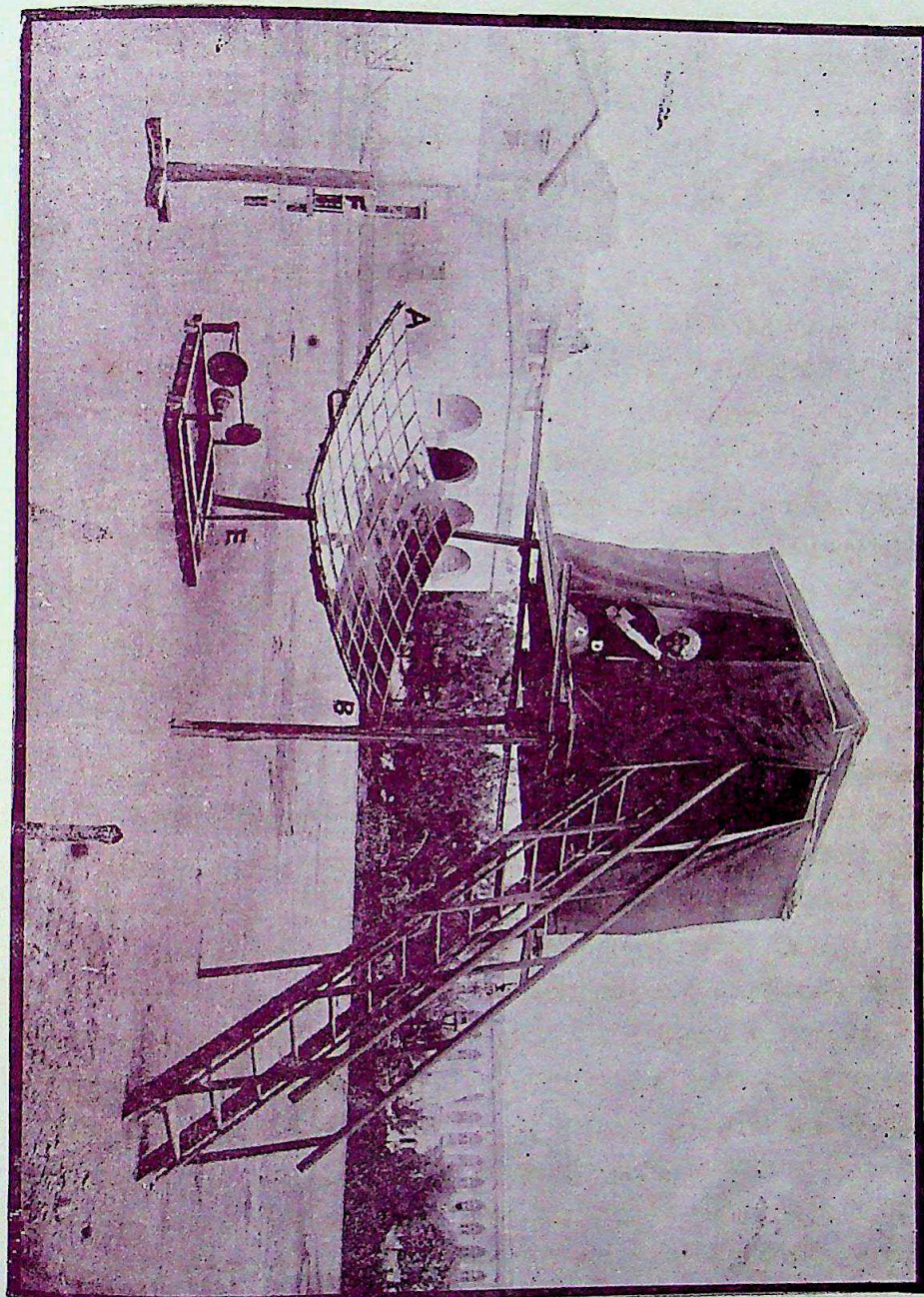
सफलमनोरथ होने तक वह यञ्जिन बनाने में लगा ही रहा; तब हमारे मनोरञ्जन की सीमा नहीं रहती। तभी हमारे हृदय में आश्चर्य्य के साथ साथ भक्तिभाव का भी उद्रेक उत्पन्न होता है। और तभी हमको उसके माहात्म्य का पूरा परिचय मिलता है। हमको खेद है, कि हमारे जोशी जी के विषय में ऐसी बातें हमें नहीं ज्ञात हुई। किस प्रकार उनके मन में भानुताप बनाने की भावना हुई; किस प्रकार उन्होंने उसे आरम्भ किया; बनाने में क्या क्या कठिनाइयां हुई; कितने दिन में यह यन्त्र मनोऽनुकूल काम देने योग्य बन गया; इन सब बातों का हम उत्तर नहीं दे सकते। अतएव इस विषय में पढ़नेवालों का कुतूहल हम नहीं निवारण कर सकते। भानुताप का चित्र, जो हमको मिला है और जिसे हम यहां पर प्रकाशित करते हैं, उससे उसकी बनावट और पुरज़ों का विशेष ज्ञान भी नहीं हो सकता। इस विषय में जो कागज़ पत्र हमारे पास आये हैं उनमें भी यन्त्र की बनावट सम्बन्धी विवरण बहुत ही कम है। अस्तु, जो कुछ है, उसीपर सन्तोष करके और श्रीमान् पण्डित श्रीकृष्ण जोशी जी को प्रणाम करके, हम उनके भानुताप के विषय में कुछ लिखते हैं।

सूर्य, जलती हुई आग का अथवा आग के समान और किसी जलते हुए पदार्थ का, गोला है। यह बात उसकी किरणों और उसके तेज से प्रकट है। गरमी के दिनों में सूर्य की किरणें बहुत उष्ण रहती हैं। उस समय उनकी दाहिका शक्ति का परिचय अधिक मिलता है। इन्हीं किरणों की उष्णता से पेड़ों पर फल पकते हैं; खेतों में सब प्रकार के अनाज पकते हैं; रेत, गड्ढे और घोसलों में जीव जन्तु तथा पक्षियों के अण्डे भी पकते हैं। इन्हीं किरणों से श्रीमान् जोशी जी ने, अब, दाल भात, रोटी, तरकारी आदि पकाने की युक्ति निकाली है। आग की छोटी छोटी अनेक चिनगारियों को इकट्ठा करने से आग का समूह हो जाता है। उसपर बड़ी से बड़ी देगची रखने से तप जाती है; पानी खौलने लगता है; और दाल, चावल डालने से यथासमय वे पक जाते हैं। सूर्य की किरणों में भी अग्नि है; परन्तु प्रत्येक किरण में, अलग अलग, बहुत ही थोड़ी है। इसलिए यदि अनेक किरणें, किसी प्रकार, एक नियत स्थान पर आकर पड़ें तो सब मिल कर निःसंशय बहुत ही अधिक उष्णता उत्पन्न कर दें। क्योंकि हम देखते हैं कि आतशी शीशे पर दो ही चार किरणों का परावर्तन होने से उसपर रक्खी हुई रुई जलने लगती है। यह आग सूर्य की किरणों के ही योग से उत्पन्न होती है। जोशी जी के भानुताप में यही अंशुमाला, यही सौर तेज, यही सूर्य की किरणों का समुदाय, एक केन्द्र में पतित हो कर–गिर कर–इतनी अधिक उष्णता उत्पन्न कर देता है कि खाने के सब पदार्थ उससे सहज ही पक जाते हैं।

भानुताप का अंगरेज़ी नाम हेलियोथर्म है। हम यह नहीं कह सकते कि कब वह निर्म्माण किया गया; परन्तु गवर्नमेण्ट के यहां उसका 'पेटण्ट' १५ मार्च १९०० को हुआ। १९०१ के दिसम्बर में जो जातीय महासभा (कांग्रेस) कलकत्ते में हुई थी, उसके साथ स्वदेशीवस्तुओं की एक प्रदर्शिनी भी हुई थी। उसमें भानुताप के भी दर्शन सबको कराये गये थे। भानुताप की उपयोगिता और अपूर्वता पर लुब्ध होकर प्रदर्शिनी के अध्यक्षों ने जोशी जी को सोने का एक पदक पुरस्कार में दिया है। गत वर्ष अहमदाबाद में होनेवाली जातीय महासभा के प्रदर्शन में भी भानुताप गये थे। यह नहीं मालूम कि, देहली के प्रदर्शन में भी आप पधारे थे या नहीं। बहुत करके वहां भी वे अवश्य गये होंगे। निकलस, यसला इत्यादि योरप और अमेरिका के विज्ञानी इस बात का बहुत दिन से प्रयत्न कर रहे थे कि कोई युक्ति वे ऐसी निकाल सकें जिससे सूर्य की किरणों से उत्पन्न हुई अग्नि से ईंधन का काम लिया जाय। परन्तु अभी तक, उनमें से किसीको भी सफलता नहीं हुई। यह हमलोगों के लिए

बहुत सन्तोष और गर्व की बात है जो जोशी जी ने इन विज्ञानियों की विज्ञता को अपनी विज्ञता से हीन सिद्ध कर दिया। उन्होंने अपने आविष्कार से अपना ही नाम उज्वल नहीं किया; किन्तु सारे भारतवर्ष का गौरव भी उन्होंने बढ़ाया है।

अब भानुताप के चित्र की ओर देखिए। उसमें A B एक ढांचा है। इस ढांचे में कांच के टुकड़े इस हिसाब से जड़े हुए हैं कि वे सब सूर्य की किरणों के प्रतिबिम्ब को एक ही केन्द्र में डालते हैं। जिस बर्तन को अथवा जिस वस्तु को गरम करना होता है उसकी पेंदी का कोई भाग केन्द्र में हो जाता है। अर्थात् किरणों का परावर्तन हो कर उनका समूह बरतन या वस्तु की पेंदी के किसी नियत बिन्दु—नियत स्थान पर—एक ही साथ गिरता है और उसे गरम कर देता है। चित्र में D चिन्ह को देखिए। वह एक बरतन की पेंदी है; और C एक ढक्कन है जो किरणग्राहक केन्द्र को वायु से बचाता है और, इस प्रकार, उसकी गरमी कम नहीं होने देता। चित्र में एक स्थान पर F चिन्ह है। यहां घड़ी के से पुर्ज़े लगे हैं। नीचे घड़ी के 'पेंडयुलम' के आकार की एक वज़नी चीज़ लटक रही है। यह 'पेंडयुलम' आप ही आप धीरे धीरे नीचे उतरा करता है। यह और उसके सहयोगी पुर्ज़े, E स्थान के चक्के और रस्सी आदि को चलाते हैं और इन सबके योग से A B ढांचा इस प्रकार फिरता रहता है कि उसमें लगे हुए कांच दिन में, सर्वदा सूर्य की ओर रहते हैं। अर्थात् जैसे जैसे सूर्य पूर्व से पश्चिम की ओर होता जाता है, वैसे ही वैसे ये काँच के टुकड़े भी फिरते जाते हैं। अतएव किरणों का केन्द्र दिन भर बना रहता है; और जिस समय चाहो, उस से, इच्छानुसार, उष्णता उत्पन्न कराके, भोजन के पदार्थ पका सकते हो। यह यन्त्र रात में काम नहीं दे सकता। इसकी सहायता से एक और क्रिया-विशेष के द्वारा बिजुली की शक्ति उत्पन्न की जा सकती है; और वह शक्ति, इकट्ठी कर रखने पर, रात को भी आग और प्रकाश का काम दे सकती है। परन्तु इस शक्ति का उत्पन्न करना सहज नहीं है। उसके लिए बड़े आडम्बर, परिश्रम और व्यय की आवश्यकता है।

भानुताप में जितने ही अधिक काँच होंगे, उतनी ही अधिक उष्णता उत्पन्न होगी; और जितने ही बड़े काँच होंगे, उतनी ही दूर तक किरणों का केन्द्र भी होगा। अतएव भानुताप केवल भोजन पकाने तथा और घर के कामों के सिवाय, यदि वह आवश्यकता के अनुसार बड़ा बनाया जाय, तो यञ्जन चलाने, भट्ठियों में लोहा ताँबा इत्यादि धातुवों को गलाने, और पलटनों के तन्दूरों में सैकड़ों मन आटे की डबल रोटियां पकाने के भी काम आ सकता है। यदि बहुत अधिक उष्णता दरकार हो तो अनेक भानुताप यन्त्रों को जोड़ कर, एक ही साथ, उनसे इच्छानुकूल उष्णता प्राप्त कर सकते हैं।

भानुताप से पकाया हुआ भोजन अधिक स्वादिष्ट होता है। ईंधन से उत्पन्न हुए धुवें का स्पर्श न होने से वह अधिक आरोग्य-वर्द्धक भी होता है। जिस कुटुम्ब में छ सात मनुष्य हैं उसके लिए ३००) का एक छोटा सा भानुताप भली भाँति काम दे सकता है। धनवान् तथा राजा महाराजों के लिए ५००) और उससे भी अधिक मूल्य के भानुताप मिल सकते हैं।

अग्नि देवता यञ्जिनों में ईंधन की जगह कहीं कहीं मिट्टी का तेल पीते पीते बावले हो रहे हैं। अतएव प्राचीन समय में हवन के बहाने, नाना प्रकार के हविष्यान्न खिलानेवालों का स्मरण उनको बारम्बार होता होगा! अब सूर्य देवता पर भी आफ़त आती जान पड़ती है। जिस समय, घर घर, रसोई घर में घुस कर उन्हें निरन्तर दाल, भात, डबलरोटी और कबाब पकाना पड़ेगा, उस समय, लम्बे लम्बे कर फैलाने का मज़ा उन्हें मालूम होगा!! भानुताप का, सब कहीं, प्रचार हो जाने पर, सन्ध्योपासन करते समय—

सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च

इस मन्त्र-भाग को—

सूर्यः सूक्तापरो जगतस्तस्थुपश्च

…से बदल देने की यदि किसीको इच्छा हो तो …क्या आश्चर्य्य है !!!

भाषा का महत्व ।

यदि पूछा जाय कि भाई, यह भाषा, जिसे रात दिन आप काम में लाते हैं, क्या है, कैसे और कहां से आई और आपने किस प्रकार सीखा; तो उत्तर इसका यही मिलैगा कि हमने अपने माता पिता से इसको सीखा। "आपके माता पिता ने किस से सीखा"? "अपने माता पिता से"। अर्थात् यह सीखना परम्परागत है। हमारे एक मित्र का तोता अब पढ़ता है। वे कह सकते हैं कि मनुष्य बाल्यावस्था में भाषा उसी तरह सीखता है जैसे दोहा, श्लोक, पुकारना आदि उनके सुए ने सीखा है। तो चलिए, तोता भी बोली बोलता है और मनुष्य भी। अतः भाषा मनुष्य के लिए कोई विशेषता नहीं है।

पर वास्तव में ऐसा नहीं है। क्योंकि तोता या मनुज जाति से भिन्न किसी जीवधारी की कोई भाषा है, यह आज तक किसी विद्वान् ने सिद्ध नहीं कर दिखाया है। यह ठीक है कि जानवर अपने अभिप्राय प्रगट कर सकते हैं कुत्ता गुर्राने या भूकने से अपना मतलब दूसरों को समझा देता है; पर भूकना या गुर्राना कोई भाषा नहीं है और न उनमें भाषा के कुछ बीज ही हैं। वे पश्चिमी विद्वान् भी जो मानवसृष्टि को एक विशेष जाति के कपि से निकली मानते हैं, यह सिद्ध करने में अब तक नितान्त असमर्थ हुए हैं कि उनके पूर्व पुरुष वे कपि, अपनी भाषा रखते थे या रखते हैं। आज तक उनसे किसी महामान्य मर्कट ने न कहा कि "विद्वन् ! मैं तुम्हारा पुरखा हूं"। * यह स्पष्ट है कि शुक की तरह बालक बोलना सीखता है; किन्तु शुक के पुरखों ने कोई भाषा नहीं गढ़ी और बालक एक ऐसे जीवधारी की संतति है जो भाषा बना सका और जिसने अपनी भाषा बनाई है। तोते का सीखना अभ्यास, लालच और डर के कारण है, प्रत्युत बालक का स्वाभाविक बिना प्रयास।

हमारे अङ्ग प्रत्यङ्ग, हमारे शरीरका ढाञ्चा पशुओं के तुल्य है, वरन् यों कहना चाहिए कि पशुओं से कहीं कहीं बहुत हेठे हैं। आहार, निद्रा, भय, बुद्धि, हिंसकता आदि उनमें भी है और हममें भी। एक पशु को दूसरे को चाब जाते देख कर हमें उसपर घृणा होती है, पर क्या हम अपने में भी ऐसा कोई नहीं पाते जो दूसरे जीवों को मार कर खा डालते हों। यदि पशु और मनुज दोनों में कोई समान बात नहीं है तो वह "भाषा" ही है। भाषा को हममें से निकाल डालिए, बस हम गूङ्गे पशु हैं—पशुओं से भी कहीं अधम हैं। पर वह शक्ति, वह अति अद्भुत ज्योति, जिससे सारा संसार दीप्त है, वही ज्योति जिसे 'भाषा' के नाम से पुकारते हैं, हम में पिरो दीजिए; तब न हम केवल सारे जीवधारियों के सिरताज हैं, वरन् हम एक नए लोक में पहुंच जाते हैं; विचारों का बांध बाँधते हैं; वचनों की लड़ी लगा देते हैं कि जिन्हें पशु तक मानते, अनुकरण करते, सिर झुकाते; पर जिन्हें न वे स्वयम् सिरज सकते और न अपने बच्चों को बता सकते हैं।

सारांश यह कि भाषा ही से मनुष्य, पशु से पहचाना जाता है, भाषा ही से मनुष्य अपने को पहचानता है, भाषाही के द्वारा वह ऐहिक और पारलौकिक कर्तव्यों का साधन करता है। भाषाही उसकी अमूल्य पैत्रिक सम्पत्ति है; भाषाही से वह समस्त सृष्टि का महाराज है; अधिक क्या, भाषाही से मनुष्य 'मनुष्य' है। सो उसी भाषा को, उसी भाषा के शास्त्र को, न जानना, उसी भाषा के मर्म्मों को न समझना, उसी भाषा की अवहेलना करना, क्या मनुष्यजाति के लिए लज्जा-शतवार, सहस्रवार

---

* यह बहुधा सुनने में आया है कि अमुक राजा चिड़ियों की बोली समझ लेते थे। इसका मूल यह मालूम होता है कि ज्योतिष में लिखे किसी पक्षी के विशेष प्रकार के शब्द से शकुन निकालना वे जानते थे। वैदिक आर्य अपने जंगली शत्रुओं को भाषा रहित कह कर घृणा प्रगट करते हुए अपना यह जानना प्रगट करते हैं कि मनुष्य को छोड़ और किसी में भाषा नहीं है।

लज्जा—का कारण नहीं है ? जन्म लेना ग्रोर भाषा के महत्व के। बिना पहचाने मर जाना, क्या जीवन में बहुत ही बड़ी भूल नहीं है ?

भट्ट मोक्षमूलर का कथन है कि "लिखने, पढ़ने ग्रोर गणित के ज्ञान बिना मनुष्य शिक्षित नहीं गिना जाता। पर हमारे लिए, वह मनुष्य कदापि ग्रपने के। शिक्षित नहीं कह सकता जो यह नहीं जानता कि भाषा क्या है ग्रोर किस भाँति वह इस दशा के। पहुंची है"।

मनुष्य का परम्परागत मा बाप से भाषा का सीखना सत्य है। पर इतने से, भाषा क्या है, यह प्रश्न हल नहीं होता। जब हम भाषा के उलट फेर का इतिहास पढ़ते हैं तब जान पड़ता है कि इसका ग्रादि ग्रवश्य है। पुराने काल में इसका ठीक पता लगता न देख कर लोगें का यह साधारण विश्वास था कि भाषा देवकृत है। उदाहरण के लिए हिन्दी लीजिए। हिन्दी प्राकृत से निकली ग्रोर प्राकृत संस्कृत से। पर संस्कृत ? संस्कृत देववाणी है। यही विश्वास सब देश में था। ग्रर्थात् भाषा स्वर्ग से ग्राई ग्रोर पृथ्वी पर मनुष्य ने उसे चुग लिया। किन्तु ध्यानपूर्वक छान की जावे तो भाषा में मानवी कारीगरी देख पड़ेगी ग्रोर यह हल हो जायगा कि यह कैसे बनी।

वास्तव में यह ग्राश्चर्य की बात है कि जो कुछ हम सोचते, कल्पना करते, समझते, ग्रनुभव करते, देखते या सुनते हैं; सब का, श्वास के विविध प्रकार निकलने से शब्दों में, भाषा द्वारा, प्रति रूप खींचा जाता है।

भाषा के लाभ ग्रनन्त हैं। भाषा की घनिष्टता ग्रद्भुत है। भाषा का संबन्ध लोकोत्तर है। लोगें की समझ में रुधिर का सम्बन्ध बड़ा घनिष्ट ग्रोर सबल है। पर हम दोनें भुजा उठाकर ललकारते हैं कि भाषा का सम्बन्ध, संसार के यावत् सम्बन्धों से कहीं ज़ोरावर है। यदि ग्राप चीन में जावें जहां लम्बी चोटीवाले पीले मनुष्य की किड़बिड़ाहट में एक ग्राप का बांधव मिले जो चीन ही में पला हो ग्रोर चीनी ही बोलता हो। ग्रोर एक दूसरा चीनी ही हो, जो टूटी फूटी भी ग्राप की भाषा बोल लेता हो ग्रोर समझ सकता हो तो बतलाइए ग्रापका मन किसकी ग्रोर झुकेगा। रुधिर की एकता, भाषा की एकता के बिना, व्यर्थ है ग्रोर भाषा की एकता रुधिर की विभिन्नता रहते भी एकता सम्पादन करनेवाली है। हमारे प्रभु ग्रंगरेज़ों की यह उन्नति कदापि न हो सकती यदि उन सभों की भाषा एक न होती। जर्मनी सा छिन्नभिन्न देश भाषा के एकतासूत्र में गठित होकर राष्ट्र के। दृढ़ करता है। भाषा की एकता सब एकताग्रों की जननी है।

भारतवर्ष ग्रोर ग्रंगरेज़ों में भाषा शास्त्र ने ऐसी कड़ी लगा कर उनके राज्य के। ऐसी दृढ़ता प्रदान की है कि जिसके सम्पादन में करोड़ों सैनिक कृतकार्य न हो सकते। जब पश्चिमी लोग यहां ग्राए, यहां वालें ने उनके। "वानराननाः" (भविष्यपुराण) कह कर पुकारा ग्रोर यह न समझ सके कि ये भी मनुष्य हैं। उनसे बढ़ कर हमारे प्रभुग्रों ने यहीं वालें के। काला जङ्गली–महा जङ्गली समझा। होरेशिग्रो हेल नामक विद्वान् ने लिखा है कि एक साधारण गोरा सिपाही भी यहां के बड़े से बड़े महाराजा के। 'कलूटा' (Nigger) कहता है। सारांश यह कि परस्पर की घृणा ग्रकथनीय थी। किन्तु एक भूकम्प ग्राया, ग्रोर सारा दुर्विचार पलटा खा गया। यह भूकम्प भाषा शास्त्र के ग्रध्ययन करनेवालें का एक ग्रद्भुत ग्राविष्कार था। उन लोगें ने सिद्ध कर दिखलाया कि इन कालें की ग्रादिम भाषा संस्कृत, पश्चिमवालें की ग्रीक, लैटिन, जर्मन ग्रादि की बहन, बड़ी बहन है। यहां की 'मातर' वहां की 'मदर' बराबर है; ग्रोर यहां का 'भ्रातर' वहां का 'ब्रदर' है। दोनें एक ठौर के भूमिप हैं। दोनें एक पिता के दो पुत्र समान हैं। ग्रतः भाषा शास्त्र ने दोनें में ग्रभूतपूर्व प्रेम उत्पन्न किया।

ऐसे उपकारी, ऐसे परमोपयोगी, ऐसे महामहिम भाषाशास्त्र के। न जानना क्या कम भूल की बात है ?

इस परम पूजनीया भाषा में क्या भेद है, क्या महत्व है, क्या मर्म है, इसके जानने की इच्छा रखने वालों के लिए "सरस्वती" की किसी अगली संख्या में "भाषा का रहस्य" शीर्षक लेख लिखने का हमारा विचार है। कार्शीप्रसाद।

जल-चिकित्सा।

३—रोगों का कारण।

[पूर्व प्रकाशित से आगे]

बहुत दिनों के तजरुबे और परीक्षा से कूने साहब ने यह सिद्धान्त निकाला है, कि निरोग मनुष्य का डील डौल रोगी मनुष्य के डील डौल से नहीं मिलता। जो मनुष्य रोग-रहित होते हैं, उनके शरीर का आकार एक और ही प्रकार का होता है। बहुधा लोग समझते हैं कि रोगी मनुष्य ही दुर्बल होते हैं, दूसरे नहीं। यह भूल है। जो लोग अत्यन्त मोटे और पुष्ट देख पड़ते हैं, वही अधिक रोगी होते हैं। मोटा होना स्वयं ही रोग का लक्षण है। अनेक मनुष्यों को साधारण रीति पर कोई कष्ट नहीं होता; वे अपने काम काज प्रसन्नता पूर्वक करते हैं; परन्तु, तिस पर भी, उनमें से कितने ही रोगी होते हैं। उनके शरीर में रोग का कारण विद्यमान रहता है। शरीर में रोग का बीज उत्पन्न होने और उसके बढ़ने से शरीर के आकार में अन्तर हो जाता है। ध्यान से देखने पर यह अन्तर स्पष्ट जान पड़ने लगता है और प्रत्येक रोगी के शरीर में पाया जाता है। यह अन्तर विशेष करके मुँह और गर्दन पर दिखाई देता है। मुँह और गर्दन के आकार के चिन्हों ही को देख कर कूने साहब ने "मुखचर्य्याविज्ञान" के सिद्धान्त निकाले हैं।

क ख

रोग के ही कारण मुँह और गरदन का आकार बदल जाता है। ये दोनों अवयव पहले की अपेक्षा अधिक भरे हुए दिखलाई देते हैं। पेट के नीचे और कमर के पीछे भी मोटापन आजाता है। तल पेट और कमर के पिछले भाग में तो मुँह और गरदन की अपेक्षा और भी अधिक पुष्टता आजाती है, क्योंकि रोग की जड़ यहीं रहती है। यहीं उस की वृद्धि होती है; और यहीं से रोग के बीज शरीर में फैलते हैं। मनुष्य के शरीर का मांस छोटे छोटे अनेक टुकड़ों में बंटा हुआ है। ये टुकड़े एक दूसरे से चिपके हुए हैं; और रबर के समान खिंच सकते हैं। रोगों के बीज इन मांस के टुकड़ों के बीच में पहुंच कर जब वहां इकट्ठे हो जाते हैं, तब वे उस स्थान के मांस को फुलाकर मोटा कर देते हैं। किसी संकुचित स्थान में, अपेक्षा से अधिक पदार्थ रख देने से, वह स्थान अवश्य कुछ खिंच जायगा और उसका आकार भी अवश्य कुछ बड़ा हो जायगा। यदि उसकी बनावट ऐसी है कि वह घट बढ़ सके, तो, उसका आकार और भी अधिक बढ़ जायगा। अतएव रोग के बीज शरीर में इकट्ठा होने से शरीर फूल उठता है। यह परिवर्तन मुँह और गरदन पर अधिक स्पष्टता से देख पड़ता है। इसका कारण है, जो आगे चल कर हम बतलावेंगे। रोग

के कारण चमड़े का रङ्ग भी बदल जाता है। वह कुछ काला हो जाता है।

ऊपर २११ पृष्ठ में हम एक मनुष्य के दो चित्र देते हैं। वह हृद्रोग और जलोदर से पीड़ित था।

जिस समय वह पहले पहल कूने साहब के पास गया, उस समय, उसका आकार क चित्र का ऐसा था। परन्तु ४ महीने तक उनकी चिकित्सा करने पर उसका वह आकार नहीं रहा। वह ख चित्र के आकार का होगया। उन दोनों चित्रों में जो अन्तर है वह स्पष्ट है। पहला चित्र यह कह रहा है कि उस मनुष्य के मुँह और गरदन में आवश्यकता से अधिक मुटाई है। वह मुटाई दूसरे चित्र में नहीं दिखलाई देती। दूसरे चित्र के समय कूने साहब की चिकित्सा ने, उसके मोटेपन को बहुत कुछ साफ़ कर दिया था और साथही उसके रोग को भी प्रायः दूर कर दिया था। यह मुटाई क्या पदार्थ है? वह एक ऐसी वस्तु है जो शरीर के लिए आवश्यक नहीं। वह एक अनावश्यक वस्तु है। वह एक वैदेशिक—बाहर की—वस्तु है। उसके न होने से शरीर में कोई हानि नहीं। उस का होना ही रोग का कारण है। इस विषय में यह शङ्का की जा सकती है कि जिसे हम अनावश्यक अथवा अनुपयोगी अतएव व्यर्थ वस्तु बतलाते हैं, वह शायद शरीर के किसी स्थानविशेष के लिए उपयोगी हो और वहां से, किसी प्रकार, हट कर मुँह, गरदन, अथवा पेट में आगई हो। इस दशा में उसे उसके नियत स्थान को पहुंचा देना ही उचित होगा। उसे अनावश्यक नहीं कह सकते। इस शङ्का का समाधान सहजही में किया जा सकता है। यह देखा जाता है कि जिसे हम अनावश्यक मुटाई कहते हैं, उसकी उत्पत्ति शरीर के एकही ओर होती है; और वहां दूसरी ओर की अपेक्षा वह अधिक रहती है। अर्थात् दाहिनी अथवा बांई ओर—जिस करवट मनुष्य अधिक सोता है—उसी ओर यह अनुपयोगी मुटाई अधिकता से बढ़ती है। इससे सूचित होता है कि यह अनावश्यक वस्तु आकर्षण शक्ति के नियमों के अनुसार नीचे खिच जाती है। यदि वह शरीर का कोई भाग होती तो वह कदापि अपना स्थान न बदलती और नीचे की ओर न झुकती। अतएव पूर्वोक्त शङ्का व्यर्थ है। यह वैदेशिक वस्तु शरीर का कोई भाग नहीं। वह एक विकारमात्र है। इसलिए हम यह बिना किसी सन्देह और शङ्का के कह सकते हैं कि शरीर में इस विकृत वस्तु का, इस वैदेशिक वस्तु का, इस अनुपयोगी वस्तु का, इस अनावश्यक वस्तु का होनाही रोग है। यही सब रोगों का आदि कारण है। इसीसे भिन्न भिन्न प्रकार के रोग उत्पन्न होते हैं। यदि किसी प्रकार, इस वैदेशिक वस्तु को हम शरीर से निकाल सकें और शरीर को अपने स्वाभाविक आकार में ला सकें तो हमें अपने शरीर को निरोग होगया समझना चाहिए।

शरीर में अनावश्यक वस्तुओं का प्रवेश दो मार्गों से होता है। एक नाक से; दूसरे मुँह से। नाक और मुँह के, घ्राण और जिह्वा, दो पहरेवाले हैं। परन्तु वे विश्वसनीय नहीं। लोभ में आकर वे अपना काम उचित रीति पर नहीं करते। कभी कभी वे बड़ाही भयङ्कर विश्वासघात करते हैं। चोर, चमार, व्यभिचारी, सभी को वे भीतर चले जाने देते हैं। घ्राण से तो कुछ कम विश्वासघातकता होती है; परन्तु जिह्वा बड़ीही नमकहराम है। अच्छे अच्छे स्वादिष्ट पदार्थों के रस लेने के लालच में आकर, शरीर के हानि-लाभ को वह बिलकुलही भूल जाती है। इस प्रकार अनुचित काम करते करते कुछ दिनों में उसे भले बुरे का ज्ञानही नहीं रहता। मांस, मदिरा, भङ्ग, अफ़ीम सभी को वह बिना रोक टोक के, शरीर के भीतर चले जाने देती है। इसका परिणाम बहुत ही बुरा होता है। अपेक्षा से अधिक, तिस पर भी बुरे बुरे पदार्थों के खाने से उन्हें पचाने के लिए आमाशय—मेदे—को आवश्यकता से अधिक शक्ति ख़र्च करनी पड़ती है। परन्तु यह शक्ति का ख़र्च एक दो दिन

के लिए थोड़े ही होता है। वह प्रति दिन हो का काम हो जाता है। अतएव कुछ दिनों में आमाशय से अपना काम ठीक ठीक नहीं हो सकता। भोजन के न पचने से विकार बढ़ने लगता है और वही विकार अनावश्यक अथवा वैदेशिक वस्तु के आकार में प्रकट होकर रोग उत्पन्न करता है। यह विकार इकट्ठा होता जाता है। दस दस बारह बारह वर्ष तक बहुधा मनुष्यों को उसका कुछ भी ज्ञान नहीं होता। परन्तु बढ़ते बढ़ते जब वह रोग का रूप धारण करता है, तब मनुष्य वैद्य, हकीम अथवा डाकृर साहब की शरण जाते हैं और उसके दूर करने की चेष्टा करते हैं। इस समय ऐसी चेष्टा व्यर्थ होती है; क्योंकि रोग दब चाहे जाय—और प्रायः दब जाता ही है—परन्तु निर्मूल नहीं होता। जब उसका कारण बना है तब वह निर्मूल हो कैसे सकता है?

मनुष्य का शरीर ईश्वर ने ऐसा बनाया है कि वह किसी अनावश्यक वस्तु को, उपाय भर, अपने भीतर नहीं रहने देता। वह उसे निकालने का सदा प्रयत्न किया करता है। फेफड़े के द्वारा वायु के रूप में, वायु के द्वारा मल के रूप में और चमड़े के द्वारा पसीने के रूप में वह विकृत वस्तुओं को सदा बाहर फेंका करता है। नाक, मुँह, आंख और कान के द्वारा भी अनावश्यक वस्तुओं को बाहर निकालने में वह कोई कसर नहीं करता। हमारा शरीर हम पर बहुत दयालु है। यदि वह इतना दयालु न होता तो एकहीं दिन में हमें अपने बुरे आचरणों का बदला मिल जाता। हमको चाहिए कि हम अपने शरीर से इतना काम लेने की कभी इच्छा न करें जितना वह सहज ही में न कर सके। बित्त बाहर काम लेने से वह कुछ दिन में थक जाता है और विकृत वस्तुओं को बाहर नहीं निकाल सकता। इस दशा में वे विकृत पदार्थ अनावश्यक हो कर शरीर के भीतर ही रह जाते हैं। जहां उनकी जड़ जमी, तहां वे बढ़ने लगते हैं, और मनुष्य को रोगी कर देते हैं। अनावश्यक, अतएव अनुपयोगी, पदार्थ पहले मेदे में इकट्ठा होते हैं। वहां से, फिर, वे शरीर के और और भागों में भी पहुंच जाते हैं। मुँह और नाक के द्वारा बाहर निकलने की इच्छा से वे ऊपर की ओर बढ़ते हैं और निकलने में असमर्थ हो कर मुँह और गर्दन के आस पास रह जाते हैं। इसीलिए वहां पर मोटापन आ जाता है।

अनावश्यक पदार्थ जब शरीर में फैल जाता है, तब आवश्यक और पुष्टि-दायक पदार्थों के रहने के लिए स्थान कम हो जाता है। शरीर के भीतरी अवयव छोटे पड़ जाते हैं। रुधिर का अभिसरण—आवागमन—ठीक ठीक नहीं होता। इन कारणों से शरीर के स्वाभाविक कामों का ठीक ठीक होना बन्द हो जाता है। अनावश्यक पदार्थ ऐसे परमाणुओं का बना होता है कि वह सहज ही घुल सकता है; पृथक् पृथक् कणों में अलग हो सकता है; नए नए परमाणुओं से मिल कर एक हो सकता है; और योग्य कारण पाकर जोश खाने लगता है। जो पदार्थ भीतर ही भीतर चञ्चल हो उठते हैं, अर्थात् जोश खाने—उबलने—लगते हैं, उनको सूक्ष्म-दर्शक यन्त्र (खुर्दबीन) से देखने पर उनमें महा छोटे छोटे अनन्त जन्तु देख पड़ते हैं। ये कभी कभी बड़े वेग से बढ़ते हैं और इनके बढ़ते ही कोई न कोई रोग अवश्य ही उत्पन्न हो जाता है।

जो पदार्थ भीतर ही भीतर आप से आप उबलने लगते हैं उनमें एक प्रकार की उष्णता आ जाती है। जितना ही जोश अधिक होता है उतनी ही उष्णता अधिक उत्पन्न हो जाती है। जोश खानेवाले पदार्थ के परमाणु आपस में एक दूसरे से टकराते हैं। उनका यह टकराना ही उष्णता उत्पन्न करता है। दो पदार्थों को रगड़ने से आग निकलने लगती है। यह सर्वव्यापी नियम है। वही नियम मनुष्य के शरीर के भीतर रहनेवाले पदार्थों से भी सम्बन्ध रखता है। जब अनावश्यक पदार्थ बढ़ जाते हैं; और ऋतुओं के परिवर्तन अथवा और

किसी योग्य कारण से उनके परमाणु शरीर के भीतर पृथक् पृथक् हो जाते हैं; तब वे उबलने लगते हैं और उसके साथ ही शरीर में उष्णता उत्पन्न हो जाती है। अतएव यह कहना चाहिए कि इन अनावश्यक पदार्थों का जोश खानाहो ज्वर है। जैसे उष्णता से बर्फ़ गल कर पानी हो जाता है और पानी भाफ हो कर उड़ जाता है; और जैसे भाफ बादल के रूप में हो कर फिर पानी हो जाता है और अधिक सरदी पाने से वही पानी फिर भी बर्फ़ हो जाता है; वैसे ही शरीर के भीतर इकट्ठा हो जानेवाले अनुपयोगी पदार्थों का भी सरदी गरमी के कारण रूपान्तर हुआ करता है। इन पदार्थों को भी युक्ति से, पानी को भाफ सा करके, शरीर से उड़ा सकते हैं; और उड़ा कर शरीर को रोग-रहित कर सकते हैं। जिस युक्ति से इन पदार्थों को शरीर से निकालते हैं वही युक्ति इस जल-चिकित्सा का आधार है।
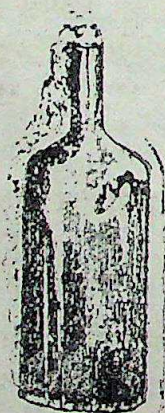
अनुपयोगी पदार्थ, मनुष्य के शरीर के भीतर, विशेष करके तलपेट–पेड़ू–में इकट्ठा होते हैं। वहीं उनमें उबाल आरम्भ होता है। जब वे उबलने लगते हैं तब शरीर उनको बाहर निकालना चाहता है। अतएव संग्रहणी हो जाती है; दस्त आने लगते हैं। इस प्रकार जो वे अनुपयोगी पदार्थ निकल गए तो शरीर स्वच्छ और हलका हो गया। परन्तु यदि कोष्ठ-बद्ध इत्यादि कारणों से वे इस प्रकार न निकल सके तो जोश खाते हुए वे ऊपर की ओर चलते हैं; क्योंकि शरीर में ऊपर और नीचे, दो ही ओर वे जा सकते हैं। भरी हुई बोतल का यहां पर एक चित्र है। उसे देखिए।

इस बोतल की पेंदी में तो छेद है नहीं जो वहां से कोई पदार्थ नीचे निकल सके। इसीलिए उसमें जो कुछ भरा है उसका विकृत भाग नीचे जम कर, हिलाने से, ऋतु-परिवर्तन से, अथवा और किसी कारण-विशेष से, अपने कणों को पृथक् पृथक् कर देता है। ऐसा होने से वे कण-परमाणु—उबलने लगते हैं और मुँह की ओर दौड़ते हैं। बोतल ही का ऐसा हाल मनुष्य के शरीर का है। अर्थात् जब शौच साफ नहीं होता; पेशाब अच्छी तरह नहीं निकलता; रोमकूप रूँध जाते हैं; और श्वासोच्छ्वास निर्बल हो जाता है, तब विकृत पदार्थ शरीर के बाहर नहीं निकल पाते। अतएव ऋतु-परिवर्तन होने और क्रोध, शोक इत्यादि मानसिक विकारों का धक्का लगने से वे पदार्थ तल-पेट में तरल हो उठते हैं और ऊपर की ओर दौड़ने लगते हैं। ऊपर पहुंचते ही सिर में पीड़ा उत्पन्न हो जाती है। इन पदार्थों के कण परस्पर टकराते हैं और चमड़े पर भी रगड़ खाते हैं। इसीलिए शरीर गरम हो उठता है। इसी गरम हो उठने को सब लोग ज्वर आना कहते हैं। ज्वर में मनुष्य के अंगों का व्यास अधिक हो जाता है; शरीर कुछ फूल उठता है। इसका यह कारण है कि शरीर का चमड़ा रबर के समान खिंच सकता है। जब विकृत पदार्थ चमड़े से टकरा कर बाहर निकलने का यत्न करता है, तब वह, जहां तक सम्भव है, खिंच जाता है। जब वह अधिक नहीं खिंच सकता तब वे पदार्थ वहीं रह जाते हैं और रगड़ खाया करते हैं। इस अवस्था में शरीर उष्ण भी अधिक हो जाता है और भय भी बहुत बढ़ जाता है।

बोतल में विकृत पदार्थों के लिए रुकावट कम रहती है; शरीर में वह बात नहीं। शरीर का

प्रत्येक अवयव उन्हें रोकता है। इसीलिए जहां वे पदार्थ पहुंचते हैं वहीं वे रोके जाते हैं; वहीं धक्के मुक्के की आवश्यकता होती है। इसी लड़ झगड़ के कारण उष्णता अधिक हो उठती हैं। जिस अवयव पर इन विकारी वस्तुओं का बल अधिक पड़ता है उन्हीं में रोग उत्पन्न हो जाता है; कभी कभी वे अवयव बिगड़ तक जाते हैं। यदि इन वस्तुओं का बल आमाशय पर पड़ा तो आमाशय रोगी हो जाता है; यदि हृदय पर पड़ा तो हृदय रोगी हो जाता है; यदि फेफड़े पर पड़ा तो फेफड़ा रोगी हो जाता है। अर्थात् कुष्ठ, गठिया, हृद्रोग, बवासीर भगन्दर, गण्डमाला इत्यादि, तथा सब प्रकार के ज्वर इन्हीं विकारी वस्तुओं के द्वारा उत्पन्न हो जाते हैं।

जो पदार्थ उबलने लगते हैं उनमें छोटे छोटे जन्तु—कृमि—आपही से आप उत्पन्न हो जाते हैं। शरीर में विकृत वस्तुओं के उबलने से भी सहस्रशः जन्तु उत्पन्न हो जाते हैं और जब तक विकारी पदार्थ दूर नहीं कर दिए जाते तब तक उनके उत्पन्न होने का सदा डर बना रहता है। जो लोग छुवा छूत के द्वारा इन जन्तुओं की उत्पत्ति मानते हैं वे भूलते हैं। शरीर में यदि विकृत पदार्थ न हों तो छुवाछूत से इन जन्तुओं की उत्पत्ति नहीं हो सकती। इन जन्तुओं का उत्पन्न होना बहुत बुरा है। उनके रहते अनेक रोग होने की संभवना रहती है। अतएव उनको समूल नाश कर देना ही मनुष्य के निरोग होने का एक मात्र उपाय है। ओषधियों के द्वारा उनको मार डालने से कदापि निरोगता नहीं प्राप्त हो सकती; क्योंकि उन जन्तुओं की उत्पत्ति का कारण तो नाश पाताही नहीं। विकृत पदार्थों से ये कृमि उत्पन्न होते हैं; अतएव उन पदार्थों का नाश करना चाहिए; न कि स्वयं कृमियों का। जिस कोठरी में कूड़ा भरा हुआ है उसमें कीड़े अवश्यही उत्पन्न होंगे; उनके मारने से कोठरी साफ नहीं हो सकती, क्योंकि एक वार उनको मारने से वे फिर फिर उत्पन्न होते रहेंगे। अतएव उस कोठरी को भली भाँति साफ करने के लिए उसके भीतर इकट्ठा हुआ कूड़ा बाहर निकाल फेंकना चाहिए। कीड़ों के समूल नाश करने का यही एक मात्र उपाय है।

जितने प्रकार के रोग हैं सब विकृत वस्तुओं के शरीर में इकट्ठा होजाने ही से होते हैं, यहां तक कि उपदंश और मूत्राघात आदि रोगों का भी यही कारण है। परीक्षा से जाना गया है कि रोगी स्त्रियों के संसर्ग से किसी को रोग हो जाता है और किसीको नहीं होता। इसका यह कारण है कि जिसके शरीर में इतना अधिक विकार इकट्ठा है जो बाहरी संसर्ग से कुपित हो उठे, उसीके शरीर में रोग उत्पन्न हो जाता है। जिसके शरीर में विकार की मात्रा कम होती है, अथवा होताही नहीं, उसे उपदंश और मूत्राघात आदि रोग भी संसर्ग से नहीं होते।

इस प्रतिपादन से यह सिद्ध हुआ कि सब रोगों का एकही कारण है। अतएव सब रोगों को दूर करने का प्रकार भी एकही होना चाहिए। एकही प्रणाली से, एकही ओषधि से, सब रोग निर्मूल होने चाहिये। [असम्पूर्ण ।

कामिनी-कौतूहल।

१—रानी दुर्गावती। *

जिस समय अकबर बादशाह की यशःपताका हिमालय से लेकर बङ्गाले की खाड़ी तक फहरा रही थी, उसी समय जबलपुर के पास, गढ़मण्डल की एक छोटी सी माण्डलिक रानी के स्वातंत्र्य की अग्निकणा दूर दूर तक

---

* पण्डित रामचन्द्र शुक्ल ने इस विषय की एक कविता, मिर्ज़ापुर से, हमारे पास भेजी है। उसे हम, टिप्पणी के रूप में नीचे देते हैं।

आइ लखहु सब वीर कहा यह परत लखाई।
बिना समय यह रेनु रही आकाश उड़ाई॥ १
ये वन के मृग डरे सकल क्यों आवत भागी?
इहां कहूं हूं लगी नहीं है देखहुं आगी॥ २

अपना प्रकाश फैला रही थी। बड़े बड़े प्रतापी राजा जिसके बल विक्रम को नहीं सह सके, उसी बल और विक्रम को गढ़मण्डल की अधीश्वरी ने निडर होकर अवहेलना की! जब यह विचार करते हैं कि गढ़मण्डल के सिंहासन पर एक कोमलांगी कामिनी विराजमान थी, तब हमारे आश्चर्य की सीमा और भी अधिक बढ़ जाती है।

कन्नौज के राजा चन्दनराय के एक कन्या थी। उसका नाम दुर्गावती था। जब वह यौवनवती हुई तब उसके पिताने उसे राजपूताना के किसी राजकुमार की अङ्कलक्ष्मी करना चाहा; परन्तु दुर्गावती ने गढ़मण्डल के स्वामी दलपतिशाह की वीरता पर मोहित होकर उसीको आत्मसमर्पण किया। पिता ने इस बात को किसी कारण-विशेष से स्वीकार न किया। दलपतिशाह ने जब यह समाचार सुना तब उसने अपने बाहुबल से उस कन्यारत्न को प्राप्त करना चाहा। चन्दनराय और दलपतिशाह में संग्राम हुआ और अन्त में विजय-लक्ष्मी के साथ लक्ष्मीस्वरूपा दुर्गावती भी दलपतिशाह की अङ्कशायिनी हुई।

गढ़मण्डल में पहुंच कर दुर्गावती और दलपतिशाह का विधिवत विवाह हुआ और वे दोनों परमानन्दपूर्वक रहने लगे। कुछ काल के अनन्तर दुर्गावती गर्भवती हुई और यथासमय उसके वीरनारायण नामक एक पुत्र उत्पन्न हुआ। जिस समय वीरनारायण केवल तीन ही वर्ष का था विकराल काल के आघात ने गढ़मण्डल का राज-सिंहासन सूना कर दिया। राजा दलपति शाह परलोकवासी हुए। पति के न रहने से दुर्गावती को परमशोक हुआ; परन्तु पुत्र के मुख की ओर

यह दुन्दुभि को शब्द सुनो, यह भीषण कलरव।
यह घोड़न की टाप शिलन पर गूंज रही अब ॥ ३
आर्य्य रुधिर हा एक बेर ही खौलत जान्यो।
अबला शासक मानि देश जीतन अनुमान्यो ॥ ४
शेष रुधिर को बूंद एक हू जब लगि तन महं।
को समर्थ पग धरन हेतु यहि रुचिर भूमि महं? ५
तुरत दूत इक आय सुनायो समाचार यह।
आसफ़ अगनित सैन लिए आवत चढ़ि पुर महं ॥ ६
छिन छिन पर रहि दृष्टि सकल वीरन दिसि धावति।
कंपन गात रिस भरी खड़ी रानी दुर्गावति ॥ ७
श्वेत बसन तन, रतन मुकुट माथे पर दमकत।
बरसत तेज मुख, नयन अनल कण होत बहिर्गत ॥ ८
सुधर बदन इमि लसत रोष की रुचिर झलक ते।
कञ्चन आभा दुगुन होत जिमि आँच दिए ते ॥ ९
चपल अश्व की पीठ वीर रमणी यह को है?
निकसि दुर्ग के द्वार खड़ी वीरन दिसि जोहै ॥ १०
बाम कंध बिच धनुष, पीठ तरकस कसि बाँधे।
कर महं असि को धरे, वीर बानक सब साधे ॥ ११
सुभत वदन सन तेज और लावण्य साथ इमि।
है मनहर संजोग वीर शृङ्गार केर जिमि ॥ १२
नगर बीच ह्वै सेन कढ़ी कोलाहल भारी।
पुरबासिन मिलि बार बार जयनाद पुकारी ॥ १३
सम्मुख गजआसीन निहारयो आसफ़ खां को।
महरानी निजअश्वन अग्रसर कियो ताहि को ॥ १४

"अरे अधम! रे नीच!! महा अभिमानी पामर!
दुर्गावति के जियत चहत गढ़ मंडल निज कर ॥ १५
म्लेच्छ! यवन की हरम केर हम अबला नाहीं।
आर्य्य नारि नहिं कबहुं शस्त्र धारत सकुचाहीं" ॥ १६
चमकि उठे पुनि शस्त्र दामिनी सम घन माहीं।
भयो घोर घननाद युद्ध को दोउ दल माहीं ॥ १७
दुर्गावत निज कर कृपान धारन यह कीने।
दुर्गावति मन मुदित फिरत वीरन संग लीने ॥ १८
सहसा शर इक आय गिरयो ग्रीवा के ऊपर।
चल्यो रुधिर बहि तुरत, मच्यो सेना बिच खरभर ॥ १९
स्रवत रुधिर इमि लसत कनक से रुचिर गात पर।
छुटत अनल परवाह मनहुं कोमल पराग पर ॥ २०
चञ्चल करि निज तुरग सकल वीरन कहं टेरी।
उन्नत करि भुज लगी कहन चारिहु दिशि हेरी ॥ २१
अरे वीर उत्साह भंग जनि होहि तुम्हारो।
जब लग तन मधि प्राण वैरन से नहिं टारो ॥ २२
लै कुमार को साथ दुर्ग की ओर सिधारहु।
गढ़ की रक्षा प्राण रहत निज धर्म्म बिचारहु ॥ २३
यवन सेन लखि निकट, लोल लोचन भरि वारी।
गढमंडल ये अंत समय की बिदा हमारी ॥ २४
यों कहि हन्यो कटार हीय बिच तुरत उठाई।
प्राण रहित शुचि देह परयो धरनीतल आई ॥ २५

दुःख और अपने कुटुम्बियों की सांत्वना को सुन कर उसे कुछ धैर्य हुआ और वह क्रम क्रम से राजकाज स्वयं देखने लगी।

रानी दुर्गावती ने बड़ी योग्यता से राज्य का काम करना आरम्भ किया। वह प्रजा के सुख दुःख का विचार रखती और राज्य को शत्रुओं से रक्षित रखने के अभिप्राय से अपनी सेना को भी सुधारती जाती थी। उसको विदित था कि किसी न किसी दिन मुसल्मान अधिकारियों की मार्जार-दृष्टि उसके छोटे से राज्य पर अवश्य पड़ेगी, इसलिए समराङ्गण में सैन्यसहित उतरने की तैयारी वह बराबर करती जाती थी; और उसके साथ ही साथ प्रजा को प्रसन्न रखने के लिए उनके मङ्गलविधान की ओर भी वह अपनी दृष्टि रखती थी। स्थान स्थान पर उसने कुयें और तालाब खुदवाये और अनाथों को आश्रय देने के लिए अनेक देवमन्दिर भी बनवाये। शिल्प और वाणिज्य की ओर भी उसने ध्यान दिया। सारांश यह कि अपनी प्रजा को सुखी करने के लिए उसने कोई उपाय बाक़ी न रक्खा।

दुर्गावती की योग्यता, उसका देशरक्षण, और उसकी प्रजा-वत्सलता आदि के विषय में अकबर के अधिकारियों ने उसे अनेक बातें सुनाईं और गढ़मण्डल को अपने आधीन कर लेने के लिए बहुत बार प्रार्थना की; किन्तु उदारहृदय अकबर ने वैसा करना उचित नहीं समझा। परन्तु कोमल रस्सी की रगड़ लगने से कठोर पत्थर भी घिस जाता है; अनेक बार परामर्श दिए जाने पर अकबर की भी लोभलिप्सा जग उठी; और उसने आसफ़ ख़ां नामक एक सरदार को गढ़मण्डल पर चढ़ाई करने के लिए आज्ञा दी। एक विधवा और अनाथ अबला का राज्य छीन लेने के लिए दिल्ली के दुर्दमनीय बादशाह का चढ़ाई करना महालज्जा की बात है। हाय, हाय, लोभ मनुष्यों का परम शत्रु है; एक सामान्य मनुष्य से लेकर सम्राट तक को भी वह नहीं छोड़ता!! इसी लोभ ही के वशीभूत हो कर एक अबला के साथ संग्रामरूपी महा निन्द्य कर्म करने के लिए अकबर के समान विचारवान् और बलशाली बादशाह ने चढ़ाई की!!!

रानी दुर्गावती को जब यह समाचार सुन पड़ा, तब दुर्बलचित्त अबला के समान वह भयभीत नहीं हुई; किन्तु सिंहिनी के समान क्षुब्ध और क्रोधित होकर उसने अपने क्षत्रियत्व का परिचय देना चाहा। वह जानती थी कि महा प्रतापशाली दिल्लीश्वर के सम्मुख वह कभी भी जयलाभ न कर सकेगी; तथापि भिन्नधर्मियों के हाथ में आत्मसमर्पण करने की अपेक्षा, अपने देश की रक्षा करने के लिए, वीरनारी के समान रणक्षेत्र में प्राण देना ही उसने उचित जाना। रानी दुर्गावती के इस सङ्कल्प को सुन कर उसकी प्रजा भी जन्मभूमि की स्वाधीनता बचाने के लिए बद्धपरिकर हुई। पुरुषमात्र, जिनके बाहुयुगल खड्गधारण में समर्थ थे, रानी की पताका के नीचे खड़े हो कर, जयलक्ष्मी की लालसा से अपने शस्त्रों को चमकाने लगे। देखते ही देखते आठ सहस्र अश्वारोही आकर वहां उपस्थित हो गए और रानी दुर्गावती, मुण्डमालिनी चामुण्डा के समान तुरगारूढ़ हो कर, अपनी सेना के सहित संग्रामभूमि में आ उतरी।

उधर आसफ़ ख़ां ने यह स्थिर कर रक्खा था कि दिल्लीश्वर के प्रचण्ड प्रताप की ज्वाला से भयभीत हो कर दुर्गावती अवश्य आत्मसमर्पण करेगी। किम्वा यदि युद्ध करेगी तो क्षणमात्र ही में उसकी सेना नष्ट हो जायगी। यही समझ कर उसने केवल पाँच सहस्र अश्वारोही सेना अपने साथ ली। रणक्षेत्र में आकर उसे अपने भ्रम का ज्ञान हुआ; परन्तु उस समय क्या हो सकता था। वीर रानी के उत्साहवाक्यों से उत्साहित हो कर गढ़मण्डल की सेना यवनों को निर्दयतापूर्वक काटने लगी। रानी के सैन्य के दुःसह तेज को न सहन करके यवनलोग भाग निकले और आसफ़ ख़ां बड़ी कठिनाई से अपने प्राण बचाने में समर्थ हुआ। विजयलक्ष्मी को साथ लेकर रानी दुर्गावती भी गढ़मण्डल को लौट आई।

आसफ़ ख़ां के पलायन करने का समाचार यथा समय अकबर को मिला। सुनकर वह बहुत लज्जित हुआ और ड़ेढ़ वर्ष के अनन्तर विपुल सैन्य के साथ आसफ़ ख़ां को उसने फिर गढ़मण्डल पर आक्रमण करने के लिए भेजा। इस बार भी रानी दुर्गावती की सेना ने पूर्ववत् ही प्रचण्ड बल विक्रम से संग्राम किया। फिर भी दुर्गावती की सेना के तेजोवन्हि में यवनसैन्य पतङ्ग के समान दग्ध हो गई। जो कुछ बची वह आसफ़ ख़ां के साथ भग निकली। आसफ़ ख़ां को इस दूसरे पराजय से बड़ी लज्जा हुई। उसने अकबर को मुंह दिखलाना उचित न समझा। उसीने लोभ दिला कर गढ़मण्डल पर आक्रमण करने के लिए अकबर को उकसाया था; अतएव उसे अब यह चिन्ता हुई कि किस प्रकार यह अपनी कलङ्क-कालिमा को प्रक्षालन करे। वह यह जानता था कि जब तक रानी दुर्गावती का एक भी योद्धा जीवित है, तब तक वह कभी भी गढ़मण्डल समर्पण न करेगा। इसलिए सरल मार्ग को छोड़ कर आसफ़ ख़ाँ ने कूटनीति का अवलम्बन किया। गढ़मण्डल में उसने विश्वासघात का बीज बोया। वह बीज लोभरूप जल के सिञ्चन से अंकुरित हो कर शीघ्र ही एक प्रचण्ड पेड़ हो गया। खेद है, इस विश्वासघातक वृक्ष को उखाड़ने में रानी समर्थ न हुई।

अपने राज्य में गृह-विवाद की भयानक मूर्ति को देख कर रानी डर उठी। उसने जान लिया कि युद्ध में अब विजय की कोई आशा नहीं। तथापि वह अन्यायी आसफ़ ख़ाँ के साथ धर्मसंग्राम करने से फिर भी नहीं डरी। जो लोग उसके साथ संग्राम में प्रसन्नता-पूर्वक उपस्थित होने को सम्मत हुए, उनको और अपने एक मात्र पुत्र वीरनारायण को लेकर, वह रणक्षेत्र की ओर इस बार भी प्रस्थानित हुई।

अन्त में महा-लोमहर्षण संग्राम हुआ, परन्तु इस बार आसफ़ ख़ाँ के सैन्य की संख्या अपरिमित थी। प्रातःकाल से सन्ध्या पर्यन्त युद्ध करके भी रानी को जयलाभ नहीं हुआ। उसने जान लिया कि उसे विजयलक्ष्मी इस बार नहीं मिल सकती। इसी समय उसने देखा कि चौदह वर्ष का उसका प्रियतम पुत्र वीरनारायण घायल हो कर घोड़े से गिरा। उसकी सेना के कोई पुरुषों ने उसे सुरक्षित स्थान में पहुंचाकर रानी से विनय किया कि इस अन्तिम समय में एक बार आप अपने पुत्र से मिल लीजिये। रानी ने उत्तर दिया, "यह समय पुत्र से मिलने का नहीं; यदि मैं रणभूमि को छोड़ गी तो यहां मुझे न देख कर सेना अस्तव्यस्त हो जायगी। यदि पुत्र का अन्तकाल उपस्थित ही है, तो मुझे हर्ष है कि उसने वीरधर्म का पालन किया; वीर के समान उसने गति पाई। वह और मैं शीघ्र ही देवलोक में फिर मिलेंगे; इस समय मिलने की आवश्यकता नहीं"। धन्य रानी की वीरता और धन्य उसकी धर्म्मिष्ठता! अन्त में युद्ध करते करते रानी की आँख में एक तीक्ष्ण बाण प्रवेश कर गया। उस बाण को रानी ने बाहर निकालना चाहा परन्तु वह सफल न हुई! तब उसने जीवन से निराश हो कर विपक्षियों को बड़ी क्रूरता से संहार करना आरम्भ किया। जब रानी ने देखा कि अब वैरियों के द्वारा पकड़ जाने का भय है तब गढ़मण्डल की ओर एक बार देख कर अपने ही खड्ग से अपने सिर को उसने धड़ से अलग कर दिया। रानी का मृतकदेह शत्रुओं के हाथ न लगे, इसलिए सेना ने उसे शीघ्रही दूसरे स्थान को पहुँचा दिया। वहां दुर्गावती और वीरनारायण का साथ ही अन्तिम क्रिया हुई। इधर गढ़मण्डल ने आसफ़ ख़ाँ के आधीन हो कर अकबर के राज्य की सीमा बढ़ाई।

यह एक भारतवर्ष ही है जहां पुरुषों की तो गिनती ही नहीं, कोमल-कलेवरा कामिनी भी ऐसी ऐसी वीरता के काम कर गई हैं कि जिनका स्मरण होते ही बड़े बड़े शूरवीरों को भी दांतों के नीचे उङ्गली दबानी पड़ती है। भारत! किसी समय वीरता में तू इस भूमण्डल में एक ही था।

विनोद और आख्यायिका।

नवद्वीप के राजा कृष्णचन्द्र के यहां गोपाल भाँड नामक एक विकट कवि था। वह एक दिन अपने पुत्र को साथ लें कर राजा कृष्णचन्द्र की सभा में गया। राजा ने उससे पूछा "यह किसका पुत्र है"? गोपाल ने कहा "मेरा"। यह सुन कर राजा ने कहा कि क्या कारण है जो इसका रूप रङ्ग मेरे रूप रङ्ग से मिलता है? गोपाल ने इसका भावार्थ समझ कर तत्काल उत्तर दिया। उसने कहा "महाराज! आपका प्रश्न बहुत ठीक है। शास्त्र में लिखा है "नराणां मातुलक्रमः" अर्थात् मनुष्य मामा के अनुरूप होता है। इसी लिए तो यह ऐसा हुआ!"

✻

सुनते हैं कालिदास बड़े ही रसिक थे। एक बार उनकी आश्चर्य्यमयी कविता से परम प्रसन्न हो कर उनकी एक विदुषी प्रियतमा ने उनको गाढालिङ्गन दिया। परन्तु, किसी उग्रगन्धवाले पदार्थ के खाने से, उस समय, उसके मुख का निकट आजाना कालिदास को सहन न हुआ। इसलिए उन्होंने अपना मुँह पीछे को फेर लिया। इस विरक्तता से असन्तुष्ट हो कर वह स्त्री उनकी निर्भर्त्सना करने लगी। उसके कुपित वचनों को सुन कर कालिदास ने उसे ही उलटा लज्जित किया। उन्होंने कहा-"नहीं, नहीं, ऐसा नहीं हो सकता। मुँह फेरने का कारण तुमने नहीं समझा। मैं पीठ की ओर मुँह करके यह देखने लगा कि तुम्हारे कठोर पयोधरों की तीक्ष्ण नोंकें हृदय को पार करके कहीं बाहर तो नहीं निकल गईं!"

✻

अंगरेज़ों के विख्यात कवि मिल्टन ने अन्धे होने पर एक महा कलहकारिणी चण्डिका रमणी के साथ विवाह किया था। एक दिन उसके एक मित्र ने कहा-"आपकी नूतन-विवाहिता स्त्री गुलाब के फूल के समान है"। मिल्टन ने धीरे से उत्तर दिया "आपका कहना ठीक जान पड़ता है; अन्धे होने के कारण गुलाब तो मुझे देख पड़ता नहीं; परन्तु, उसका काँटा प्रतिदिन अवश्य चुभता है"!

✻

विलायत में जानसन नामक एक प्रसिद्ध विद्वान् हो गया है। उसीने सबसे पहले अँगरेज़ी का अच्छा शब्द-कोश बनाया। एक दिन एक विदुषी स्त्री ने उससे कहा "मैं बहुत प्रसन्न हूं कि आपके कोश में कोई अश्लील शब्द नहीं आने पाया"। जानसन ने मुसकुराते हुए उत्तर दिया-"हां! तो आप वैसे शब्दों को ढूंढ़ती रही हैं!"

✻

ली हङ्ग चङ्ग चीन-नरेश के प्रधान मन्त्री थे। उनको मरे अभी थोड़े ही दिन हुए। कोई दो वर्ष हुए होंगे वे इङ्गलैण्ड गए थे। जिस समय वे लण्डन में थे, उनके एक अँगरेज़ मित्र ने उनको एक बहुत ही अच्छा 'बुल-डाग' कुत्ता भेजा कि वह उनके द्वार पर रक्षक का काम करे। उस कुत्ते को पा कर, सुनते हैं, ली हङ्ग चङ्ग ने अपने मित्र को यह पत्र भेजा—

"मेरे प्रिय—

आपने जो कुत्ता भेजा उसके लिए मैं आपको अनेक धन्यवाद देता हूं। मैंने बहुत दिन से इस प्रकार का पदार्थ खाना छोड़ दिया है। इसलिए आपके भेजे हुए कुत्ते को मैंने अपने सेवकों को दे डाला। वे मुझसे कहते हैं कि ऐसी स्वादिष्ट वस्तु उन्होंने आज तक कभी नहीं चखी थी!

आपका स्नेहशील

ली हङ्ग चङ्ग।"

✻

एक मनुष्य, प्रति दिन, अपने लड़के को सबेरे उठने के लिए उपदेश दिया करता था; परन्तु जब उसने देखा कि उसका उपदेश बराबर निष्फल जा रहा है, तब उसने अपने उपदेश का लाभ प्रमाण-पूर्वक दिखलाना चाहा। उसने कहा "मन्नू!

देख, कमला आज सवेरे उठा था; इसलिए, रास्ते में उसे एक बहुत ही अच्छी चित्रों की किताब पड़ी हुई मिली"। मन्नू ने हँसते हँसते उत्तर दिया—"बाबा! जिसकी वह किताब होगी वह तो कमला से भी पहले उठा होगा न"!

मनोरञ्जक श्लोक।

एक कवि कहता है—

वासः प्रधानं खलु योग्यताया
वासोविहीनं विजहाति लक्ष्मीः।
पीताम्बरं वीक्ष्य ददौ तनूजां
दिगम्बरं वीक्ष्य विषं समुद्रः॥

योग्यता के अनुसार वस्त्र पहनना ही उचित है; क्योंकि लक्ष्मी वस्त्रहीन पुरुष का आदर नहीं करती; वह उसे छोड़ कर चली जाती है। विष्णु के बहुमूल्य पीताम्बर को देख कर समुद्र ने अपनी कन्या दे दी; और शङ्कर की दिगम्बरता को देख कर उन्हें कालकूट विष दे दिया!

✽

दूसरा उत्तर देता है—

अक्षराणि परीक्ष्यन्तामम्बराडम्बरेण किम्?
दिगम्बरो महादेवः सर्वज्ञः किं न जायते?

अजी! विद्वत्ता को देखिए; कपड़े लत्ते के आडम्बर से क्या लाभ है? दिगम्बर होने के कारण क्या शङ्कर की सर्वज्ञता कहीं चली गई?

✽

को न याति वशं लोके मुखे पिण्डेन पूरितः।
मृदङ्गो मुखलेपेन करोति मधुरध्वनिम्॥

मुँह मीठा करने से (खिलाने अथवा देने से अभिप्राय है), इस जगत् में, कौन- नहीं वश हो जाता? देखिए, निर्जीव मृदङ्ग के मुख पर लेप करने से वह भी मधुर ध्वनि करने लगता है।

✽

काचं मणिं काञ्चनमेकसूत्रे
मूढा निबध्नन्ति किमत्र चित्रम्।
विशेषवित् पाणिनिरेकसूत्रे
श्वानं युवानं मघवानमाह॥

यह कोई आश्चर्य्य करने की बात नहीं जो मूढ़ लोग काच, सोना और मणि इन तीनों, को एकही साथ एकही सूत्र में पिरो कर पहनते हैं। व्याकरण के आचार्य्य महा विद्वान् पाणिनि ने तो श्वन् (कुत्ता), युवन् (युवा), और मघवन् (इन्द्र) इन तीनों को एक ही सूत्र में रख दिया! अर्थात् इन तीनों शब्दों को, जो एकही प्रकार के हैं, एकही सूत्र में कहे-हुए एकही नियम के आधीन किया।

✽

हठादाकृष्टानां कतिपयपदानां रचयिता
जनः स्पर्द्धालुश्चेदहह कविना वश्यवचसा।
भवेदद्य श्वो वा किमिह बहुना पापिनि कलौ
घटानां निर्मातुस्त्रिभुवनविधातुश्च कलहः॥

बलात्कार द्वारा, किसी प्रकार, इधर उधर से खींच खाँच कर, दो चार पदों की रचना करनेवाला मनुष्य यदि उस कवि की स्पर्द्धा करने लगै जिसने वाणी को अपने वश में कर लिया है, तो हम इतना ही कहेंगे, कि इस पापी कलिकाल में किसी दिन त्रिभुवन के बनानेवाले ब्रह्मा और मिट्टी के घड़ों के बनानेवाले कुम्हार का भी परस्पर कलह अवश्य होगा! इस श्लोक में कही गई स्पर्द्धा, इस समय, हिन्दी के कवियों और लेखकों में कभी कभी देखी जाती है।

✽

तया कवितया किम्वा किम्वा वनितया तया
पद विन्यासमात्रेण मनो नापहृतं यया॥

जो पद-स्थापना मात्र ही से मन को न हरण कर ले वह कविता भी किसी काम की नहीं और वह वनिता भी किसी काम की नहीं। इसमें 'पद' शब्द के दो अर्थ हैं। यह ध्यान में रखना चाहिए।

✽

एक पण्डित जी अपनी पण्डितानी के साथ जल-विहार कर रहे थे; उस समय उन्होंने यह कविता की—

नेयं ते मुखमण्डलप्रतिकृतिच्छाया न हारोद्भवा
वक्षोजौ प्रतिबिम्बितौ न सलिले जाने हि तथ्यं प्रिये।
अप्राप्याननसौभगं तव शशी मुक्ताञ्चितैर्दामभिः
कण्ठे हेमघटद्वयं परिदधत्पानीयमध्यं गतः ॥

जल में यह जो मुख का सा आकार देख पड़ता है वह तेरे मुख की प्रतिमा नहीं है; यह जो हार सा लटकता हुआ देख पड़ता है वह तेरे हार की छाया नहीं है; और यह जो स्तनद्वय सा जान पड़ता है वह भी तेरे स्तनों का प्रतिबिम्ब नहीं है। अच्छा है क्या? कहिए तो सही। मैंने ठीक ठीक जान लिया है कि यह सब क्या है। सुन, तेरे मुख की बराबरी करने में असमर्थ हो कर, मोतियों की लड़ी से बँधे हुए दो घड़ों को अपने गले से लटका कर, चन्द्रमा पानी में डूब मरा है! और क्या? ऐसी अवस्था में मुख दिखलाने की अपेक्षा डूब मरना ही अच्छा होता है!

———

साहित्य-समाचार ।

मातृभाषा का सत्कार ।

अङ्गरेज़ी भाषा—"डियर, डियर, देखो यह कौन आती है !"
श्रीयुत् पण्डित विद्यानिधान पाण्डेय, यम० ए०, डी. यस. सी., यल. यल-बी० (मातृभाषा से)—"ख़बरदार, जो इस तरफ़ क़दम बढ़ाया ।"
मातृभाषा—"हाय करम !"
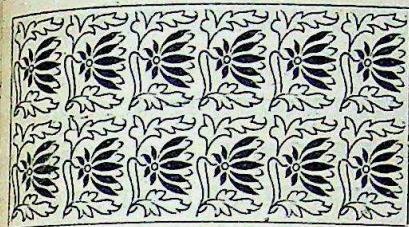
सरस्वती

सचित्र

मासिकपत्रिका
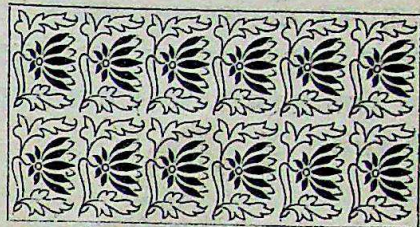
भाग ४] जुलाई १९०३ [संख्या ७

विविध विषय।

यह बात प्रायः सभी जानते हैं कि गाना सुनने से साँप और हरिण मोहित हो जाते हैं। अब यह बात सिद्ध हुई है कि गाय, भैंस आदि पशुओं, को भी गाना अच्छा लगता है। स्विज़रलैण्ड में जिन दूध दुहनेवालों का गला अच्छा होता है उनको अधिक मज़दूरी मिलती है। जो गायें और भैंसें बहुत लातें चलाती हैं और दूध नहीं निकालने देतीं, उनको गायक ग्वाला गाना गाकर मोहित कर लेते हैं। गाना सुनते सुनते वे उसमें तन्मय हो जाती हैं और लातें चलाना अथवा सींगों से मारना क्षण भर वे भूल जाती हैं। उस दशा में वे ग्वाले उनका दूध झटपट दुह लेते हैं। जो गायें भैंसें नहीं मारतीं उनको भी दुहते समय गाना सुनाने से लाभ होता है। ऐसा करने से वे अधिक दूध देतीं हैं।

* * *

मक्का के रहनेवाले अबुल्महम्मद नामक मनुष्य ने १६०५ ई० में गुजरात का एक इतिहास लिखा था। इस पुस्तक की हस्तलिखित प्रति कलकत्ता मदरसा के प्रधान अध्यापक रास साहब को मिली है। यह अरबी में है और अबुल्महम्मद के हाथ की लिखी हुई है। इसे गवर्नमेण्ट अपने खर्च से, अनुवाद सहित, प्रकाशित करना चाहती है। अबुल्महम्मद गुजरात में जनरल उलूग़खां हबशी का सेक्रेटरी था। इस में अकबर के समय तक का इतिहास है। इसके छप जाने पर आशा की जाती है, कि अनेक नई नई बातें विदित होंगीं।

* * *

दक्षिणी अफ़रीका के आल्फ्रेड बोड साहब संसार भर में सबसे अधिक धनी हैं। उनके पास ३,००,००,००,००० रुपया है। पाँच रुपये सैकड़े के हिसाब से उनको प्रति घण्टे १५,१०० रुपये की प्राप्ति है!

* * *

अमेरिका के शिकागो शहर में, राकफ़ेलर नामक करोड़पति ने, १८९० ईसवी में, एक अपना अलगही विश्वविद्यालय स्थापित किया है। उसके लिए उन्होंने बड़ी बड़ी बीस इमारतें बनवाई हैं। उनमें कोई ढाई सौ अध्यापक नियत हैं; और ढाई हज़ार से भी अधिक विद्यार्थी वहीं खाते पीते हैं; वहीं

रहते हैं और वहाँ पढ़ते हैं। प्रति वर्ष तीस लाख रुपया इस विद्यालय में ख़र्च होता है। इसमें गवर्नमेण्ट की कुछ भी सहायता नहीं है। राकफ़ेलर साहब के निज के ख़र्च से यह चलता है। वह सुदिन होगा जब ऐसे ऐसे विश्वविद्यालय इस देश में भी बनैंगे।

* * *

मे की सरस्वती में हमने एक नोट प्रारम्भिक पाठ्य-पुस्तकों की भाषा के सम्बन्ध में लिखा है। उसी विषय में २३ मे १९०३ के गवर्नमेण्ट गज़ट में लेफ़टिनेण्ट गवर्नर की एक चिट्ठी डाइरेकृर साहब के नाम छपी है। इस चिट्ठी में डाइरेकृर साहब की पसन्द की हुई भाषा की मंज़ूरी है। जो भाषा पढ़े लिखे हिन्दू और मुसलमानों के बोल चाल में आती है उसी भाषा में पाठ्य-पुस्तकें होनी चाहिए। यह डाइरेकृर साहब का मत था। इसकी पुष्टि गवर्नमेण्ट ने भी करदी। अब प्रारम्भिक पाठ्य-पुस्तकों की भाषा उर्दू और हिन्दी पढ़नेवालों के लिए एकही होगी। केवल अक्षर जुदे जुदे रहेंगे। गवर्नमेण्ट कहती है कि नई रीडर्स बन रही हैं। कौन बना रहा है, यह नहीं लिखा। जब ये रीडर्स बन जायँगी तब गवर्नमेण्ट एक कमेटी नियत करैगी। इस कमेटी में दो हिन्दू और दो मुसल्मान रहैंगे। इसके सभापति स्कूलों के एक इन्स्पेकृर होंगे; या असिस्टण्ट डाइरेकृर होंगे। चार मेम्बरों में से एक मेम्बर हिन्दू डेप्युटी कलेकृर होगा और एक मुसल्मान डेप्युटी कलेकृर। यह कमेटी इन नई रीडर्स की समालोचना करैगी, इनको शुद्ध करैगी, इनको सुधारैगी, इनमें काट छांट करके लड़कों के पढ़ने योग्य करैगी। जब तक यह काम होता रहैगा तब तक ज़रूरत पड़ने पर, इस कमेटी के मेम्बर, डेप्युटी कलेकृरों से, गवर्नमेण्ट और कोई काम न लेगी।

सुनते हैं अब पुरानी रीति की रीडर्स न पढ़ाई जायँगी। अब तक रीडर्स में नीति भी रहती थी; वस्तुवर्णन भी रहता था; साहित्य भी रहता था; काव्य भी रहता था; इतिहास भी रहता था; भूगोल और खगोल वर्णन भी रहता था; और विज्ञान भी रहता था। यह अब कुछ न रहैगा। अब केवल विज्ञान सिखलाया जायगा। इसीलिए वैज्ञानिक (science) रीडर्स बन रही हैं। अब यह न पढ़ाया जायगा कि "माँ बाप का कहना माना करो"; अब यह न सिखाया जायगा कि "सदा सच बोला करो"; अब यह भी न बतलाया जायगा कि "चोरी कभी मत करो"। अब सिखलाया जायगा केवल विज्ञान! विज्ञान! विज्ञान!!! ऐसी रीडरें बंगाल और विहार में जारी हो गई हैं। विलायत की मैकमिलन कम्पनी इन किताबों को बेंचती है। उसीकी अंगरेज़ी रीडर्स आज कल इन प्रान्तों में जारी हैं। अब ये वैज्ञानिक किताबें लिखी जा रही हैं। इन किताबों को लिखैंगे भी विलायती साहब लोग, और देखैंगे भी विलायती ही साहब लोग। मज़ा यह है कि यह विज्ञानबाज़ी अंगरेज़ी में होगी और हो चुकने पर फिर उसका भाषान्तर पढ़े लिखे हिन्दू-मुसल्मानों की बोल चाल की भाषा में होगा! प्रभुवों की प्रभुता प्रभु ही जानैं!!!

वङ्ग-कवि

माइकेल मधुसूदन दत्त।

> अभ्रंकषोन्मिषितकीर्तिसितातपत्रः
> स्तुत्यः स एव कविमण्डलचक्रवर्ती।
> यस्येच्छयैव पुरतः स्वयमुज्जिहीते
> द्राग्वाच्यवाचकमयः पृतनानिवेशः॥*
>
> —श्रीकण्ठचरित।

वङ्ग-भाषा के विख्यात ग्रन्थकार बङ्किमचन्द्र चट्टोपाध्याय ने लिखा है—

* आकाशगामिनी कीर्ति को, अपने ऊपर, छत्र के समान धारण करनेवाला वही चक्रवर्ती कवि स्तुति के योग्य है, जिसकी इच्छामात्र ही से शब्द और अर्थ-रूपी सेना, आपही आप, तत्काल उसके सम्मुख उपस्थित हो जाती है।

"कवि की कविता को जानने में लाभ है; परन्तु कविता की अपेक्षा कवि को जानने से और भी अधिक लाभ है। इसमें सन्देह नहीं। कविता कवि की कीर्ति है; वह हमारे हाथ ही में है; उसे पढ़ने ही से उसका मर्म विदित हो जाता है। परन्तु जानना चाहिए कि, जो इस कीर्ति को छोड़ गया है उसने इसे किन गुणों के द्वारा, किस प्रकार, छोड़ा है।

"जिस देश में किसी सुकवि का जन्म होता है उस देश का सौभाग्य है। जिस देश में किसी सुकवि को यश प्राप्त होता है उस देश का और भी अधिक सौभाग्य है। जिनका शरीर अब नहीं है, यश ही उनका पुरस्कार है। जिनका शरीर बना है, जो जीवित हैं—उनको यश कहां ? प्रायः देखा जाता है कि जो यश के पात्र होते हैं उनको जीते जी यश नहीं मिलता। जो यश के पात्र नहीं होते, वही जीते जी यशस्वी होते हैं। साक्रेटिस, कोपर्निकस, गैलीलिओ, दान्ते इत्यादि को जीवित दशा में कितना क्लेश उठाना पड़ा! वे यशस्वी हुए; परन्तु कब ? मरने के अनन्तर!"

बङ्किम बाबू की उक्ति से हम सहमत हैं। मनुष्य के गुणों का विकाश प्रायः मरने के अनन्तर ही होता है। जीवित दशा में ईर्षा, द्वेष और मत्सर आदि के कारण मनुष्य औरों के गुण बहुधा नहीं प्रकाशित होने देते। परन्तु मरने के अनन्तर राग, द्वेष अथवा मत्सर करना वे छोड़ देते हैं। इसीलिए मरणोत्तर ही प्रायः मनुष्यों की कीर्ति फैलती है। यदि जीते ही कोई यशस्वी हो तो उसे विशेष भाग्यशाली समझना चाहिए। जीवित-दशा में किसीके गुणों पर लुब्ध होकर उसका सम्मान जिस देश में होता है उस देश की गिनती उदार और उन्नत देशों में की जाती है। आनन्द का विषय है कि मधुसूदन दत्त के सम्बन्ध में ये दोनों बातें पाई जाती हैं। उनकी जीवित दशा ही में उनके देशवासियों ने उनका बहुत कुछ आदर करके अपनी गुणग्राहकता दिखाई। और मरने पर तो उनका जितना आदर हुआ उतना आज तक और किसी वङ्ग-कवि का नहीं हुआ।

मधुसूदन बाल्यावस्था ही से कविता करने लगे थे। परन्तु, उस समय, वे अँगरेज़ी में कविता करते थे; बँगला में नहीं। वे लड़कपनही से विलास-प्रिय और शृङ्गारिक काव्यों के प्रेमी थे। अँगरेज़ी कवि बाइरन की कविता उनको बहुत पसन्द थी। उसका जीवन-चरित भी वे बड़े प्रेम से पाठ करते थे। उनका स्वभाव भी बाइरन ही का सा उच्छृङ्खल था। स्वभाव में यद्यपि वे बाइरन से समता रखते थे, तथापि बँगला काव्य में उन्होंने मिल्टन को आदर्श माना है। अँगरेज़ लोग मिल्टन को जिस दृष्टि से देखते हैं, बङ्गाली भी मधुसूदन को उसी दृष्टि से देखते हैं। मधुसूदन के "मेघनादवध" की तुलना मिल्टन के "पाराडाइज़ लास्ट" से की जाती है।

मधुसूदन के समय तक बँगला में अमित्राक्षर छन्द नहीं लिखे जाते थे। हमारे दोहा, चौपाई, छप्पय और घनाक्षरी आदि के समान उसमें विशेष करके पयार, त्रिपदी और चतुष्पदी आदिक ही छन्द प्रयोग किये जाते थे। लोगों का यह अनुमान था कि बँगला में अमित्राक्षर छन्द हो ही नहीं सकते। इस बात को माइकेल ने निर्मूल सिद्ध कर दिया। वे कहते थे कि बँगला भाषा संस्कृत से उत्पन्न हुई है; अतएव संस्कृत में यदि इतने सरस और हृदय-ग्राही अमित्राक्षर छन्द लिखे जाते हैं तो बँगला में भी वे अवश्य लिखे जा सकते हैं। इसको उन्होंने मेघनादवध लिख कर प्रमाणित कर दिया। इस प्रकार के छन्दों में इस अपूर्व वीररसात्मक काव्य को लिख कर मधुसूदन ने वङ्ग-भाषा के काव्य-जगत् में एक नये युग का आविर्भाव कर दिया। तबसे लोग उनका अनुकरण करने लगे और आज तक बँगला में अनेक अमित्राक्षर छन्दोबद्ध काव्य हो गए। जब इस प्रकार के छन्द बँगला में लिखे जा सकते हैं, और बड़ी योग्यता से लिखे जा सकते हैं, तब उनका हिन्दी

में भी लिखा जाना सम्भव है। लिखनेवाला अच्छा और योग्य होना चाहिए। अमित्राक्षर लिखने में किसी विशेष नियम के पालन करने की आवश्यकता नहीं होती। इन छन्दों में भी यति, अर्थात् विराम, के अनुसार ही पद-विन्यास होता है। वर्णस्थान और मात्रायें भी नियत होती हैं। भेद केवल इतना ही होता है कि पादान्त में अनुप्रास नहीं आता। बँगला में पयार आदि मित्राक्षर छन्दों के अन्त में शब्दों का जैसा मेल होता है, वैसा अमित्राक्षर छन्दों में नहीं होता। एक बात और यह है कि मित्राक्षर छन्दों में जब जिस छन्द का आरम्भ होता है तब उसमें अन्त तक सम-संख्यक मात्राओं के अनुसार सब कहीं एक ही सा विराम रहता है। परन्तु मधुसूदन के अमित्राक्षर छन्दों में यह बात नहीं है। वहां सब छन्दों का भंग हो कर सबके यतिविषयक नियम यथेच्छ स्थान में रक्खे गये हैं—यति के स्थानों की एकता नहीं है। किसी पंक्ति में पयार छन्द के अनुसार आठ और चौदह मात्राओं के अनन्तर यति है; और किसीमें त्रिपदी-छन्द के अनुसार छ और आठ मात्राओं के अनन्तर यति है। इत्यादि।

मधुसूदन दत्त की मृत्यु के २० वर्ष पीछे बाबू योगेन्द्रनाथ वसु, बी० ए०, ने उनका जीवनचरित बँगला में लिख कर १८९४ ईसवी में प्रकाशित किया। उस समय तक माइकेल का इतना नाम हो गया था और उनके ग्रन्थों का इतना अधिक आदर होने लगा था कि, एक ही वर्ष में इस जीवन-चरित की १००० प्रतियां बिक गईं। अतएव दूसरी आवृत्ति निकालनी पड़ी। यह आवृत्ति १८९५ ई० में निकली। इस समय यही हमारे पास है। शायद शीघ्रही एक और आवृत्ति निकलने वाली है। यह कोई ५०० पृष्ठ की पुस्तक है। इस पुस्तक की बिक्री का विचार करके बँगला भाषा के पढ़नेवालों का विद्यानुराग और उनकी मधुसूदन पर प्रीति का अनुमान करना चाहिए। इसी पुस्तक की सहायता से हम मधुसूदन का संक्षिप्त जीवनचरित लिखना आरम्भ करते हैं।

बङ्गाल में एक यशोहर (जेसोर) नामक ज़िला है। इस ज़िले के अन्तर्गत कपोताक्ष नदी के किनारे सागरदाँड़ी नामक एक गाँव है। यही गाँव मधुसूदन की जन्मभूमि है। उनके पिता का नाम राजनारायण दत्त था। वे जाति के कायस्थ थे। राजनारायण दत्त कलकत्ते में एक प्रसिद्ध वकील थे। वे धन और जन इत्यादि सब वस्तुओं से सम्पन्न थे। उन्होंने चार विवाह किये थे। उनकी पहली पत्नी के जीतेही उन्होंने तीन बार और विवाह किया था। यह कोई आश्चर्य की बात नहीं। बहु-विवाह की रीति बंगाल में प्राचीन समय से चली आई है। अब तक कुलीन गृहस्थ दो दो चार चार विवाह करते हैं। इस कुरीति के विषय में पण्डित ईश्वरचन्द्र विद्यासागर ने एक बड़ी सी पुस्तक लिख डाली है। मधुसूदन राजनारायण दत्त की पहली स्त्री के गर्भ से उत्पन्न हुए। उनकी माता का नाम जाह्नवीदासी था। वह खुलनियां ज़िले के कटि-पाड़ा-निवासी बाबू गौरीचरण घोष की कन्या थीं। यह घोष-घराना भी दत्त-घराने के समान सम्पन्न और सम्माननीय था। मधुसूदन की माता जाह्नवी पढ़ी लिखी थीं। उनके गर्भ से, १८२४ ईसवी की २५वीं जनवरी को, मधुसूदन ने जन्म लिया।

मधुसूदन के पिता राजनारायण दत्त चार भाई थे। राजनारायण सब भाइयों में छोटे थे। मधुसूदन के पीछे दो भाई और हुए; परन्तु वे पाँच वर्ष के भीतर ही मर गये। उनके और कोई बहन भाई नहीं हुए। जिस समय मधुसूदन का जन्म हुआ, उस समय दत्त-वंश विशेष सौभाग्यशाली था। चार भाइयों में सबसे छोटे राजनारायण के मधुसूदन ही एक पुत्र थे। अतएव बड़ेही लाड़ प्यार से इनका पालन होता था। जो कुछ ये कहते थे वही होता था और जो कुछ ये माँगते थे वही मिलता था। यदि ये कोई बुरा काम भी करते अथवा करना चाहते थे तो भी कोई कुछ न कहता था। मधुसूदन की उच्छृङ्खलता का आरम्भ यहीं से—उनकी शैशव अवस्थाही से—हुआ।

मधुसूदन सात वर्ष के थे जब उनके पिता ने कलकत्ते की सदर-दीवानी अदालत में विकालत करना आरम्भ किया। मधुसूदन ने सहृदयता और बुद्धिमत्ता आदिक गुण अपने पिता की प्रकृति से और सरलता, उदारता, प्रेमपरायणता आदि अपनी माता की प्रकृति से सीखा। उनके माता पिता बड़े दानशील थे; दुःखित और दरिद्रियों के लिए वे सदा मुक्तहस्त रहते थे। यह गुण उनसे उनके पुत्र ने भी सीखा। मधुसूदन जब कभी किसी को कुछ देते थे तब गिनकर न देते थे। हाथ में जितने रुपए पैसे आ जाते उतने सब बिना गिने दे डालते थे।

राजनारायण बाबू मधुसूदन को अपने साथ कलकत्ते नहीं ले गए। उन्हें वे घरही पर छोड़ गये। वहां, अर्थात् सागरदाँड़ी की ग्राम-पाठशाला में, मधुसूदन बड़े प्रेम से पढ़ने लगे। धनियों के लड़के प्रायः पढ़ने लिखने में मन नहीं लगाते। परन्तु मधुसूदन में यह बात न थी। वे बड़े परिश्रम, बड़े प्रेम और बड़े मनोयोग से विद्याध्ययन करते थे। उनकी माता ने विवाह के अनन्तर लिखना पढ़ना सीखा था। वे बँगला में रामायण और महाभारत प्रेम से पढ़ा करती थीं और अच्छे अच्छे स्थलों को कण्ठ कर लेती थीं। मधुसूदन जब बँगला पढ़ लेने लगे, तब वे उनसे भी इन पुस्तकों को पढ़वातीं और उत्तम उत्तम स्थलों की कविता को कण्ठ करवाती थीं। मधुसूदन की काव्य-प्रियता का यहीं से सूत्रपात हुआ समझना चाहिए। उन में काव्य की वासना को उत्तेजित करने का मूल कारण उनकी माता ही हैं। क्रम क्रम से मधुसूदन का प्रेम इन पुस्तकों पर बढ़ने लगा। वह यहां तक बढ़ा कि जब वे संस्कृत, फ़ारसी, लैटिन, ग्रीक, अंगरेज़ी, फ्रेंच, जर्मन और इटालियन आदि भाषाओं में बहुत कुछ प्रवीण होगये, तब भी उन्होंने रामायण और महाभारत का पढ़ना न छोड़ा। जब वे क्रिश्चियन होगये और उन्होंने सब प्रकार अंगरेज़ी वेश-भूषा स्वीकार कर ली तब, उनके मदरास से लौट आने पर, एक बार उनके एक मित्र ने उनको काशिदासकृत बँगला महाभारत पढ़ते देखा। यह देख कर उसने मधुसूदन से व्यङ्ग-पूर्वक कहा-"यह क्या? साहब लोगों के हाथ में महाभारत?" मधुसूदन ने हँसकर उत्तर दिया—"साहब हैं, इस लिए क्या किताब भी न पढ़ने दोगे। रामायण और महाभारत हमको इतना पसन्द है कि उनको बिना पढ़े हमसे रहाही नहीं जाता"।

मधुसूदन के गाँव में जो पाठशाला थी, उसके जो अध्यापक थे वे भी कविता-प्रेमी थे। उनको फ़ारसी की कविता में अच्छा अभ्यास था। वे फ़ारसी की अच्छी अच्छी कवितायें अपने विद्यार्थियों से कण्ठ करा कर सुनते थे। मधुसूदन ने फ़ारसी की अनेक कवितायें कण्ठ की थीं। उनके काव्यानुराग का एक यह भी कारण है।

जब मधुसूदन कोई १२-१३ वर्ष के हुए, तब उनके पिता उन्हें कलकत्ते ले गए। वहां खिदिरपुर में उन्होंने एक अच्छा मकान बनवाया था। कलकत्ते में मधुसूदन पिता के पास रहने लगे। पहले कुछ दिन खिदिरपुर की किसी पाठशाला में उन्होंने पढ़ा; फिर १८३७ ईसवी में उन्होंने हिन्दूकालेज में प्रवेश किया। इस कालेज में वे १८४२ ईसवी तक रहे। जिस समय उन्होंने उसे छोड़ा, उस समय उनको अंगरेज़ी में इतनी व्युत्पत्ति हो गई थी जितनी बी० ए० परीक्षा में पास हुए विद्यार्थी को होती है। अंगरेज़ी साहित्य में तो उन्होंने बी० ए० क्लास के विद्यार्थी से भी बहुत अधिक प्रवीणता प्राप्त कर ली थी। ६ वर्ष में वर्णमाला से लेकर बी० ए० तक की शिक्षा प्राप्त कर लेना कोई साधारण बात नहीं है। आज कल ६ वर्ष अंगरेज़ी पढ़कर लड़कों को बहुधा एक शुद्ध वाक्य भी अंगरेज़ी में लिखना नहीं आता। इन छः वर्षों में मधुसूदन ने अपने से अधिक अवस्थावाले और ऊंची क्लासों में पढ़नेवाले विद्यार्थियों को भी अतिक्रम करके प्रशंसा, और उसके साथही, छात्रवृत्ति भी पाई। कालेज में अनेक ग्रन्थ पढ़ने के लिये इनका जैसा नाम था

वैसाही उत्तम अंगरेज़ी लिखने के लिए भी उनका नाम था। उनकी बराबर अच्छी अंगरेज़ी और कोई लड़का नहीं लिख सकता था। वे पहले गणित में प्रवीण न थे। उनको गणित अच्छा न लगता था। इस लिए उनको गणित-शास्त्र के अध्यापक समय समय पर, गणित में परिश्रम करने के लिए उपदेश दिया करते थे। एक बार उनके सहपाठियों में न्यूटन और शेक्सपियर के सम्बन्ध में वाद-विवाद होने लगा, और लोगों ने न्यूटन का पक्ष लिया; परन्तु काव्य-प्रेमी मधुसूदन ने शेक्सपियर ही को श्रेष्ठता दी। उन्होंने कहा कि "इच्छा करने से शेक्सपियर न्यूटन हो सकता है; परन्तु न्यूटन शेक्सपियर नहीं हो सकता"। इस दिन से वे गणित में परिश्रम करने लगे और थोड़े ही दिनों में गणित के अध्यापक के दिये हुये एक महाकठिन प्रश्न का उत्तर, जिसे क्लास में और कोई लड़का न दे सका, दे कर अपने कथन को यह कह कर पुष्ट किया कि "क्यों, चेष्टा करने से शेक्सपियर न्यूटन हो सकता है अथवा नहीं?"

मधुसूदन अपने पिता के अकेले पुत्र थे। घर में अतुल सम्पत्ति थी। अतएव लड़कपनही से उनको व्ययशीलता दोष ने घेर लिया। जैसे जैसे वे तरुण होने लगे, वैसेही वैसे उनको वेष-भूषा बनाने, अच्छे अच्छे कपड़े पहनने, अखाद्य खाने और अपेय पीने की अभिलाषा ने अपने अधीन कर लिया। वे मन मानी करने लगे। अपने सहपाठियों के साथ वे माँस-मदिरा का स्वाद लेने लगे; एक एक मोहर देकर अंगरेज़ी नाइयों से बाल कटाने लगे; और अपरिपक्व अवस्था ही में गौराङ्ग-नारियों के प्रेम की अभिलाषा करने लगे। अंगरेज़ी कवि लार्ड बाइरन के समान युवा होते ही अतृप्त प्रेम-पिपासा के साथ भोगासक्ति और रूप-लालसा ने मधुसूदन को ग्रास कर लिया। उस समय हिन्दू-कालेज के विद्यार्थी शराब और कबाब को सभ्यता में गिनते थे। इस आचरण के लिए उनके अध्यापक भी बहुत कुछ उत्तरदाता थे। कालेज के अध्यापकों में डिरोज़िओ और रिचार्डसन साहब आदि अध्यापक यद्यपि विद्या और बुद्धि में असाधारण थे तथापि नीति-परायण न थे। उनकी दुर्नीति, उनकी उच्छृङ्खलता और उनकी संयम-हीन वृत्ति का बहुत कुछ प्रभाव उनके छात्रों पर पड़ा। मधुसूदन को जो कष्ट पीछे से भोगने पड़े, उनका अंकुर कालेज ही से उनके हृदय में उगने लगा था। स्वभाव ही से वे तरल-हृदय और प्रेमपिपासु थे। बाइरन की उन्मादकारिणी शृङ्गारिक कविता ने, जिसे वे बड़े आग्रह और आदर से पाठ करते थे, उनके मस्तक को और भी घूर्णित कर दिया। बाइरन के जीवनचरित को पढ़ पढ़ कर मधुसूदन ने सुनीति और मिताचार की ओर पाठशालाही में अवज्ञा करना सीख लिया।

सागरदाँड़ी में काशीदास और कृत्तिवास के पढ़ने, ग्राम-पाठशाला में फ़ारसी की अनेक शेरों को कण्ठ करने, और हिन्दू-कालेज में रहने के समय बाइरन आदि अंगरेज़ी कवियों की कविता का आस्वादन करने से मधुसूदन को कविता लिखने की स्फूर्ति होने लगी।

बहुत हो थोड़ी अवस्था में उन्होंने कविता लिखना आरम्भ किया; परन्तु अँगरेज़ी में; बँगला में नहीं। अपने सहपाठी लड़कों के साथ बात चीत करने के समय भी वे कविता में बोलने लगे; पत्र भी कविता में कभी कभी लिखने लगे; और बाइरन का अनुकरण करके अनेक छोटी छोटी शृङ्गारिक कवितायें भी वे लिखने लगे। कालेज में उनके एक परम मित्र थे; उनका नाम था गौरदास बैशाख। उनको अपनी कवितायें मधुसूदन प्रायः भेंट करते थे। उनसे कोई किताब माँगते अथवा उनको कोई किताब लौटाते समय जो वे पत्र लिखते थे वे भी कभी कभी वे पद्यही में लिखते थे। एक नमूना लीजिए—

Gour, excuse me that in Verse
My Muse desireth to rehearse
The gratitude she oweth thee;
I thank you and most heartily.

The notion that my friend thou art
Makes me reject the flatterer's art.
Here is your book ;—my thanks too here,
That as it was, and these Sincere.
Believe me, most amiable Sir,
Your most devoted Servant,
THE POET.

Kidderpore.

इस अँगरेज़ी पद्य के नीचे मधुसूदन अपनेको अपने ही हाथ से 'कवि' लिखते हैं। इससे यह सिद्ध है कि बाल्यावस्था ही से उनको यह धारणा हो गई थी कि वे कवि हैं। उनकी अँगरेज़ी श्रृङ्गारिक कविता का भी एक उदाहरण, सरस्वती के अंगरेज़ी जाननेवाले पाठकों के मनोविनोदार्थ हम, यहां पर, देते हैं—

MY FOND SWEET BLUE-EYED MAID.

When widely comes the tempest on,
When Patience with a sigh
The dreadful thunder-storm does shun
And leave me 'lone to die ;
I dream—and see my bonny maid ;
Sudden smiling in my heart ;
And oh ! she revives my spirit dead
And bids the tempest part !
I smile—I 'gin to live again
And wonder that I live ;
O' tho' flung in an ocean of pain
I've moments to cease to grieve !
Dear one ! tho' time shall run his race,
Tho' life decay and fade,
Yet I shall love, nor love thee less,
" My fond sweet blue-eyed maid " !

KIDDERPORE.
25th *March*, 1841.

M. S. D.

युवावस्था में प्रवेश करनेवाले १७ वर्ष के नव-युवक की यह श्रृङ्गारिक कविता है। इसे मधुसूदन ने एक "अरविन्दलोचनी" को उद्देश्य करके लिखा है। इसी छोटी अवस्था में वे उस समय के अँगरेज़ी समाचारपत्र और पत्रिकाओं में भी अपनी कवितायें प्रकाशित कराते थे। यहां तक कि विलायत की पत्रिकाओं तक में छपने के लिए वे कविता भेजते थे। इस उत्साह को तो देखिए; इस योग्यता को तो देखिए; अँगरेज़ी में कविता करने की इस प्रवीणता को तो देखिए। हिन्दू-कालेज की छात्रावस्था में मधुसूदन ने लण्डन की एक प्रसिद्ध पत्रिका के सम्पादक को कुछ कवितायें छपने के लिए भेजी थीं। भेजते समय सम्पादक को जो पत्र उन्होंने लिखा था वह पढ़ने योग्य है। अतएव हम उसे यहां पर उद्धृत करते हैं। वह इस प्रकार है—

To
THE EDITOR OF BENTLEY'S MISCELLANY,
London.

SIR,

It is not without much fear that I send you the accompanying productions of my Juvinile Muse, as contribution to your Periodical. The magnanimity with which you always encourage aspirants to 'Literary Fame,' induces me to commit myself to you. 'Fame' Sir, is not my object at present ; for I am really conscious I do not deserve it ; all that I require is Encouragement. I have a strong conviction that a Public like the British—discerning, generous and magnanimous—will not damp the spirit of a poor foreignor. I am a Hindu—a native of Bengal—aud study English at the Hindu College of Calcutta. I am now in my eighteenth year,—'a child'—to use the language of a poet of your land, Cowley, " in learning but not in age."

I remain, &c.

CALCUTTA, KIDDERPORE,
October, 1842.

मधुसूदन की अँगरेज़ी में अशुद्धियां हों; उनकी कविता निर्दोष न हो; परन्तु यह सभी स्वीकार करेंगे कि अट्ठारह वर्ष के नव-युवक के लिए अँगरेज़ी में इतनी पारदर्शिता होना आश्चर्य की बात है। आज कल इलाहाबाद के विश्वविद्यालय की सर्वोच्च परीक्षा पास करनेवालों को भी बहुत प्रयत्न करने पर भी, और कवित्व-शक्ति का बीज उनके हृदय में विद्यमान होने पर भी, शायद ही मधुसूदन की ऐसी अँगरेज़ी कविता लिखना आवै। जब से मधुसूदन ने पाठशाला में प्रवेश किया तबसे अन्त तक उन्होंने बहुत ही मनोयोग से विद्याध्ययन किया। उनकी बुद्धि और धारणा-शक्ति विलक्षण थी। उनको अपने सहपाठियों का उत्कर्ष कभी सहन न होता था। क्लास में वे सबसे अच्छे रहने का यत्न करते थे और उनका स्थान प्रायः सदैव ही ऊँचा रहता था। कालेज की पुस्तकों के सिवाय वे बाहर की पुस्तकें भी पढ़ते थे; कविता भी करते थे; लेख भी लिखते थे; और

साथ ही अपनी विलास-प्रियता के लिए भी समय निकाल लेते थे। ये सब बातें उनकी असाधारण प्रतिभा और असाधारण बुद्धि का परिचय देती हैं।

कवित्व-शक्ति मनुष्य के लिए अति दुर्लभ गुण है। कठिन परिश्रम अथवा देवानुग्रह के बिना वह प्राप्त नहीं होती। किन्तु प्रकृति ने यह दुर्लभ शक्ति, मधुसूदन को, मुक्तहस्त हो कर दी थी। वे जिस समय जो भाषा पढ़ते थे, उस समय उसमें थोड़े ही परिश्रम से वे कविता कर लेते थे। उनको इस बात का विश्वास था कि वे यदि विलायत जावें तो वे अँगरेज़ी भाषा के महाकवि हुए बिना न रहें। यह बात उन्होंने अपने मित्र गौरदास को एक बार लिखी भी थी; यथा—

I am reading Tom Moor's life of my fovourite Byron. A splendid book upon my word. Oh! How should I like to see you write my life, if I happen to be a great poet, which I am almost sure, I should be if I can go to England!

उनकी इच्छा थी कि गौरदास बाबू उनका जीवनचरित लिखें; परन्तु इस इच्छा को एक दूसरे ही सज्जन ने उनके मरने के बीस वर्ष पीछे पूर्ण किया। इंगलैण्ड जाने की उन्हें लड़कपनही से अभिलाषा थी। यह अभिलाषा सफल भी हुई; परन्तु वहां जाने से उनको महाकवि का पद नहीं मिला। इसी देश में रह कर उनको महाकवि की पदवी मिली—यह पदवी अँगरेज़ी कविता के कारण नहीं, किन्तु बँगला कविता के कारण मिली। विदेशी भाषा में कविता करके महाकवि होने की अपेक्षा मातृभाषा ही में इस जगन्मान्य पदवी का पाना विशेष आदर और प्रतिष्ठा की बात है।

१८४३ ईसवी के आरम्भ में, मधुसूदन के जीवन में एक ऐसी घटना हुई जिसके कारण उनको, पीछे से, अनेक आपदायें भोगनी पड़ीं। जिस समय वे हिन्दू-कालेज में पढ़ते थे, उस समय उनके माता पिता ने उनका विवाह करना स्थिर किया। उनके लिए जो कन्या निश्चय हुई वह बहुत सुस्वरूप और गुणवती थी। वह एक धन-सम्पन्न ज़मींदार की कन्या थी। यह बात जब मधुसूदन को विदित हुई तब उन्होंने अपनी माता से साफ कह दिया कि वे विवाह न करेंगे; परन्तु उनकी बात पर किसीने ध्यान न दिया। उनके पिता राजनारायण ने समझा, लड़के ऐसा कहा ही करते हैं। जब विवाह के कोई २०-२२ दिन रह गये, तब मधुसूदन ने एक बड़ाही अनुचित काम करना विचारा। उन्होंने क्रिश्चियन धर्म्म की दीक्षा लेने का सङ्कल्प दृढ़ किया। यह करके उन्होंने अपने मित्र गौरदास बाबू को लिखा—

"बाबा ने हमारा विवाह एक काले पहाड़ के साथ करना स्थिर किया है; परन्तु हम किसी प्रकार विवाह न करेंगे। हम ऐसा काम करेंगे जिससे बाबा को चिरकाल दुःखित होना पड़ेगा"। इसी समय, अर्थात् २७ नवम्बर १८४२ ईसवी को आधी-रात को खिदिरपुर से उन्होंने गौरदास बाबू को एक और पत्र अँगरेज़ी में लिखा जिसमें उन्होंने अपने इंगलैण्ड जाने का भी सङ्कल्प बड़ी दृढ़ता से स्थिर किया; यथा—

You know my desire for leaving this Country is too firmly rooted to be removed. The sun may forget to rise, but cannot remove it from my heart. Depend upon it—in the course of a year or two more, I must either be in E-D or cease "to be" at all;—*one of these must be done!*

"सूर्य चाहे उदय होना भूल जावें; परन्तु इस देश को छोड़ने की इच्छा हमारे हृदय से अस्त नहीं हो सकती। वर्ष दो वर्ष में या तो हम इं-ड में होंगे या कहीं भी न होंगे"। मधुसूदन ने इस दृढ़ सङ्कल्प को पूरा किया; परन्तु वर्ष दो वर्ष में नहीं; कई वर्षों में।

मधुसूदन को विलायत जाने और एक गौराङ्ग रमणी का पाणिग्रहण करने की प्रबल इच्छा थी। क्रिश्चियन होने से उन्होंने इस इच्छा का पूर्ण होना सहज समझा। इसलिए अपनी परम स्नेहवती माता और पुत्रवत्सल पिता का घर सहसा परित्याग करके उन्होंने क्रिश्चियन धर्मोपदेशकों का आश्रय लिया। उन्होंने मधुसूदन को कुछ दिन फ़ोर्ट

विलियम के क़िले में बन्द रक्खा, जिसमें उनसे बात चीत करके कोई उनको उनके सङ्कल्प से विचलित न कर दे। सब बातें यथास्थित हो जाने पर १८४३ ई० की ९वीं फेब्रुअरी को उन्होंने, अपने अविचार की पराकाष्ठा करके, क्रिश्चियन धर्म्म की दीक्षा लेली। उस समय से वे मधुसूदन दत्त के माइकेल मधुसूदन दत्त हुए। दीक्षा लेते समय उन्होंने अपना ही रचा हुआ यह पद गाया—

I

Long sunk in superstitious nights,
　By sin and Satan driven,—
I saw not,—care not for the light
　That leads the Blind to Heaven.

II

I sat in darkness,—Reason's eye
　Was shut,—was closed in me;
I hasten'd to Eternity
　O'er Error's dreadful sea!

III

But now, at length, thy grace, O Lord!
　Bids all around me shine:
I drink thy sweet--thy precious word,—
　I kneel before thy shrine!

IV

I've broke Affection's tenderest ties
　For my blest Savior's Sake;
All, all I love beneath the skies,
　Lord! I for thee forsake!

यह कविता यथार्थ ही धार्मिक भावों से पूर्ण है। परन्तु हृदय का जो उच्छ्वास उन्होंने इसमें निकाला है, वही उच्छ्वास यदि उनमें स्थायी बना रहता तो क्या ही अच्छा होता। उनकी यह धर्म्म-भीरुता और ईश्वरप्रीति केवल क्षणिक थी।

क्रिश्चियन होने के अनन्तर मधुसूदन ने बिशप्स कालेज में प्रवेश किया। वहां वे कोई ४ वर्ष तक रहे। इन ४ वर्षों में उन्होंने भाषा-शिक्षा और कवितानुशीलन में अधिक उन्नति लाभ की। परन्तु उनकी विद्या और बुद्धि की उन्नति के साथ साथ उनकी उच्छृङ्खलता भी वहां बढ़ती गई। हम यह नहीं कह सकते कि क्रिश्चियन होने ही से उनमें दुर्गुणों की अधिकता हो गई और इसीलिए उनको आगे अनेक आपदायें भोग करनी पड़ीं। किसी धर्म्म की हम निन्दा नहीं करते। बात यह है कि मधुसूदन के समान तरल-मति, अपरिणामदर्शी और असंयतचित्त मनुष्य चाहे जिस समाज में रहे और चाहे जिस धर्म्म से सम्बन्ध रक्खे, वह कभी शान्तिपूर्वक जीवन निर्वाह न कर सकेगा।

मधुसूदन के क्रिश्चियन होने से उनके माता पिता को अनन्त दुःख हुआ। उनकी माता तो जीते ही मृतकसी हो गई। उसने भोजन पान तक बन्द कर दिया। इसलिए राजनारायण बाबू मधुसूदन को कभी कभी अपने घर बुलाने लगे। उन्हें देख कर उनकी माता को कुछ शान्ति मिलने लगी और वह किसी भाँति अन्न जल ग्रहण करके अपने दिन काटने लगी। मधुसूदन के धर्म्मच्युत होने पर भी उनके माता पिता ने उनको धन की सहायता से मुँह नहीं मोड़ा। वे उन्हें यथेच्छ धन देते रहे और उसे मधुसूदन पानी के समान उड़ाते रहे। कभी कभी घर आने पर मधुसूदन और उनके पिता से धर्म्मसम्बन्धी वाद विवाद भी होता था। इस विवाद में मधुसूदन अनुचित और कटूक्ति-पूर्ण उत्तर दे कर पिता को कभी कभी दुःखित करते थे। इस कारण संतप्त हो कर पिता ने धन से उनकी सहायता करना बन्द कर दिया। बिना पैसे के मधुसूदन की दुर्दशा होने लगी। उनके इष्ट मित्र, अध्यापक और धर्म्माध्यक्ष कोई भी उनके दुःखों को दूर न कर सके। कलकत्ते में उनको सब कहीं अन्धकार दिखलाई देने लगा। उनके मन की कोई अभिलाषा भी पूरी न हुई। न वे विलायत ही जा सके और जिस अँगरेज़ रमणी पर वे लुब्ध थे न वही उनको मिली। सब ओर से उनको निराशा ने आ घेरा।

मधुसूदन के साथ बिशप्स कालेज में मदरास के भी कई विद्यार्थी पढ़ते थे। उनकी सलाह से उन्होंने मदरास जाना निश्चय किया। कलकत्ता छोड़ जाने ही में उन्होंने अपना कल्याण समझा। अतएव १८४८ ईसवी में उन्होंने मदरास के लिए प्रस्थान किया। वहां जा कर धनाभाव के कारण उनको अपने नूतन-धर्म्म के अवलम्बियों से सहायता

के लिए प्रार्थना करना पड़ा। उन्होंने उनकी सहायता की। माता-पिता-हीन दरिद्र क्रिश्चियन लड़कों के लिए वहां एक पाठशाला थी, उसमें मधुसूदन शिक्षक नियत किये गये। इस प्रकार धनाभाव-सम्बन्धी उनका क्लेश कुछ कुछ दूर हो गया।

जब मधुसूदन हिन्दू कालेज में थे तभी से उनको कविता लिखने और समाचार पत्रों में उसे छपाने का अनुराग था। मदरास में यह अनुराग और भी बढ़ा। वहां के प्रसिद्ध प्रसिद्ध पत्र और पत्रिकाओं में उनकी कवितायें प्रकाशित होने लगीं। इस निमित्त समाचारपत्रवाले उनकी सहायता भी करने लगे। मदरास ही से मधुसूदन की गिनती ग्रन्थकारों में हुई। उनकी दो अँगरेज़ी कवितायें, जो पहले समाचारपत्रों में छपी थीं, यहीं पहले पहल पुस्तकाकार प्रकाशित हुईं। इनमें से एक का नाम कैपटिव लेडी (Captive Lady) और दूसरे का "विज़न्स आफ दि पास्ट" (Visions of the past) है। इन पुस्तकों के प्रकाशित होने पर मधुसूदन की गिनती अँगरेज़ी कवियों में होने लगी। केवल मदरास ही में नहीं; किन्तु विलायत तक के विद्वानों ने उनकी कविता की प्रशंसा की। परन्तु कलकत्ते के किसी किसी समाचारपत्र ने उनकी कविता की कड़ी समालोचना की। जैसा उत्साह उनको और और स्थानों से मिला, वैसा कलकत्ते से नहीं मिला। कईलोगों ने तो उनकी पुस्तकों की समालोचना करते समय उनकी दिल्लगी भी उड़ाई।

मदरास में मधुसूदन की एक इच्छा पूरी हुई। वहां, नील का व्यापार करनेवाले एक साहब की लड़की ने उनसे विवाह किया। परन्तु इस विवाह से उन्हें सुख नहीं मिला। विवाह हो जाने पर कई वर्ष पीछे उनका सम्बन्ध उनकी पत्नी से छूट गया। गृहस्थाश्रम में रह कर जो सहिष्णुता, जो आत्मसंयम और जो स्वार्थत्याग आवश्यक होता है, वह मधुसूदन से होना असम्भव था। इसीलिए, इतना शीघ्र, पति पत्नी में विच्छेद होगया। इसके अनन्तर मदरास के प्रेसीडेंसी कालेज के एक अध्यक्ष की लड़की से मधुसूदन का स्नेह हुआ और यथा समय उससे उनका विवाह भी हो गया। यही पत्नी अन्त तक उनके सुख दुःख की साथी रही।

मदरास में, मधुसूदन वहां के एक मात्र दैनिक पत्र "स्पेक्टटर" (Spectator) के सहकारी सम्पादक हो गये। पीछे से, वहां के प्रेसीडेन्सी कालेज में उनको शिक्षक का पद मिला। सुलेखक और सुकवियों में उनका नाम हो गया। सब कहीं उनका आदर होने लगा। परन्तु इतना होने पर भी उनको शान्ति और निश्चिन्तता न थी। उनका अनस्थिर-चित्त, अयोग्य व्यवहार और अपरिमित व्यय उनको सदा क्लेशित रखता था। रुपये की उनको सदा ही कमी बनी रहती थी।

मधुसूदन ने अँगरेज़ी में यद्यपि बड़ी दक्षता प्राप्त की थी, तथापि उनको बँगला में एक साधारण पत्र तक लिखना न आता था। १८ आगस्ट १८४९ को उन्होंने अपने मित्र गौरदास को मदरास से एक पत्र भेजा। उसमें आप लिखते हैं—

As soon as you get this letter write off to father to say that I have got a daughter. I do not know how to do the thing in Bengali.

"इस पत्र को पाते ही पिता को लिख भेजना कि हमारे एक लड़की हुई है। इस बात को हम बँगला में लिखना नहीं जानते।" सो मेघनादवध महाकाव्य के कर्ता को १८४९ में, अर्थात् कोई २५ वर्ष की उमर में, बँगला पत्र तक लिखना नहीं आता था।

मधुसूदन की वे दोनों अँगरेज़ी पुस्तकें, जिनका नाम हमने ऊपर लिखा है, यद्यपि अनेक विद्वानों को पसन्द आईं और उनके कारण यद्यपि मधुसूदन का बड़ा नाम हुआ, तथापि कलकत्ते में कहीं कहीं उनकी तीव्र समालोचना भी हुई। उनको देख कर मधुसूदन के मित्रों ने उनको बँगला में कविता करने की सलाह दी। उस समय कलकत्ते में शिक्षा-समाज (Education Council) के सभापति बेथून साहब थे। यह वही बेथून साहब हैं जिनके नाम का कालेज

अब भी कलकत्ते में वर्तमान है। उन्होंने मधुसूदन को एक पत्र लिखा। उसमें उन्होंने बँगला-काव्य की हीनदशा की समालोचना की; और मधुसूदन को यह सलाह दी, कि उनके समान उत्साही कवि को अपनी ही भाषा में कविता करके, उसे उन्नत करना चाहिए। यह शिक्षा किम्वा उपदेश मधुसूदन को पसन्द आया; और वे मातृभाषा के अनुशीलन के लिए तैयार हुए। उन्होंने संस्कृत, ग्रीक और लैटिन इत्यादि भाषायें सीखना आरम्भ कर दिया। यह उन्होंने इसलिए किया जिसमें उनको सहायता से वे बङ्ग-भाषा को परिमार्जित कर सकें। यह बात उन्होंने अपने एक पत्र में, जो उन्होंने गौरदास बाबू को लिखा था, स्पष्ट स्वीकार किया है। उन्होंने अपनी उस समय की दिन-चर्य्या इस प्रकार रक्खी थी--

६ से ८ बजे तक हेब्रू
८ से १२ बजे तक स्कूल
१२ से २ बजे तक ग्रीक
२ से ५ बजे तक तिलैगू और संस्कृत
५ से ७ बजे तक लैटिन
७ से १० बजे तक अँगरेज़ी

भोजन शायद वे स्कूलही में करते थे; क्योंकि उसके लिए उन्होंने कोई समय नहीं रक्खा। दिन रात में १२ घण्टे अध्ययन, ४ घण्टे स्कूल और ८ घण्टे विश्राम! ऐसा कठिन अध्ययन तो स्कूल के लड़कों में भी कोई बिरला ही करता होगा।

मधुसूदन के मदरास जाने के ३ वर्ष पीछे उनकी माता का परलोक हुआ और ७ वर्ष पीछे पिता का। पिता के मरने पर मधुसूदन की पैत्रिक सम्पत्ति उनके आत्मीयों ने अपने अधिकार में कर ली। यह सम्पत्ति, मधुसूदन के कलकत्ते लौट आने पर और न्यायालय में कई अभियोग चलाने पर, उनको मिली। उनके माता पिता की मृत्यु और उनकी स्थावर-जङ्गम सम्पत्ति की अवस्था का समाचार गौरदास बाबू ने उनको लिख भेजा। अतः मधुसूदन महाशय, महाशय क्यों साहब, कोई आठ वर्ष मदरास में रह कर १८५६ की जनवरी में कलकत्ते लौट आये। [असम्पूर्ण।

साहित्य-सभा।

सरस्वती मासिक पत्रिका की १९०३ की संख्या २-३ के पृष्ठ ११३ में "साहित्य-सभा" का चित्र दिया गया है, उसकी भाव-प्रदर्शनी कविता।

श्लोक।

(शार्दूलविक्रीड़ित)

हा! कैसे इतिहास औ चरित ये
दीखें न दोनों जने?
बैठा पर्यटन स्वधामरत हा!
हाहा! समालोचने!
कैसा रूप बना विचित्र! कहुं क्या?
क्रीड़ा उपन्यास की!
हाहा! व्याकरण व्यथाकरण हो
छाया बनी त्रास की! ॥१॥

कैसा काव्य अपूर्व तू झलकता
तारा यहां था अहा!
हाहा! नाटक! तू कृशोदर बना!
हा! कोश! तू है कहां?
हा! "साहित्य-सभा" सदा निरख मैं
रोऊं न तो क्या करूं?"
बोले हाय! सरस्वती नतमुखी
हो! शोक कैसे हरूं? ॥२॥

(वसन्ततिलका)

साहित्य की यह दशा अति शोचनीया,
चित्रस्थ दर्शित हुई अति शोभनीया!
सद्भाव देख छवि का कवि का अपार।
कैसा न मोहगत होय-सदा उदार? ॥३॥

(शालिनी)

हिन्दी भाषा मातृभाषा हमारी।
हैगी बाला भावहीना कुमारी॥
होके मान्या प्रौढ़ भाव प्रसारा।
होवो धन्या पूर्ण साहित्य सारा॥४॥

शिवचन्द्र बलदेव भरतिया।

स्वदेशी वस्त्र का स्वीकार।

[१]

क़लम को कँपी कँपी सी आ रही है;
हमारी बुद्धि चक्कर खा रही है।
लिखें हम क्या नहीं कुछ याद आता;
अजब हालत हमारी है विधाता!

[२]

विदेशी वस्त्र क्यों हम ले रहे हैं?
वृथा धन देश का क्यों दे रहे हैं?
न सूझै है अरे भारत भिखारी!
गई है हाय तेरी बुद्धि मारी!

[३]

हज़ारों लोग भूखों मर रहे हैं;
पड़े वे आज या कल कर रहे हैं।
इधर तू मञ्जु मलमल ढूँढ़ता है!
न इससे और बढ़ कर मूढ़ता है॥

[४]

महा अन्याय हा हा हो रहा है;
कहें क्या कुछ नहीं जाता कहा है।
मरें असगर, बिसेसर और काली;
भरें घर ग्राण्ट, ग्राहम और राली॥

[५]

स्वदेशी वस्त्र की हमको बड़ाई,
विदेशी लाट ने भी है सुनाई।
न तिसपर भी हमें जो लाज आवै,
किया क्या हाय हे जगदीश! जावै॥

[६]

चमकते रङ्ग हैं हमको भुलाते;
अनोखे बेल-बूटे भी लुभाते।
नहीं हम देखते हैं पायदारी;
हमारी है बड़ी यह भूल भारी॥

[७]

विदेशी धोबियों तक ने हमारी
समझ पर है कलप की ईंट मारी।
पहनते धोतियां, सबको दिखाते;
न इनकी चाल भी हम चित्त लाते॥

[८]

धराधर धार रुपयों की बही है;
विलायत ओर सीधी जा रही है।
न कश्मीरा न मख़मल छोड़ते हम;
न फ्लैनल, फ्यल्ट से मुख मोड़ते हम॥

[९]

रुई होती यहां कुछ कम नहीं है;
न इतनी और देशों में कहीं है।
उसे दे हम सड़े कपड़े मँगावैं;
जिन्हें ले एक के दो दो गँवावैं।

[१०]

न काशी और चन्देरी हमारी;
न ढाका, नागपुर नगरी बिचारी।
गई है नष्ट हो; जो देश भाई!
दया उनकी तुम्हें कुछ भी न आई।

[११]

अकेला एक लुधियाना हमारा;
चला सकता अभी है काम सारा।
फिरैं, तिस पर, भला, जो और के द्वार;
हमें, फिर, क्यों नहीं सौ बार धिक्कार!

[१२]

स्वदेशी वस्त्र का स्वीकार कीजै;
विनय इतना हमारा मान लीजै।
शपथ करके विदेशी वस्त्र त्यागो;
न जावो पास; उससे दूर भागो॥

[१३]

अरे भाई! अरे प्यारे! सुनो बात;
स्वदेशी वस्त्र से शोभित करो गात।
वृथा क्यों फूंकते हो देश का दाम;
करो मत और अपना नाम बदनाम॥

प्रचण्ड-मार्तण्ड ।

[१]

दिनकर कहिए तो क्या तुम्हें हो गया है ?
अहह ! अब नहीं हैं अंशु आनन्दकारी,
कुपित तुम हुये क्यों, क्या भला खो गया है,
निज चरित सुनाओ—है हमें खेद भारी ॥

[२]

मधुर मधुर बोली कोकिलों की निराली
प्रथम मदभरी सी जो सुनाई पड़ी थी;
नव तरुवर शोभा पत्र औ पुष्पवाली
ऋतुपति पति पाके जो यहां पै खड़ी थी;

[३]

सकल छिप गई हैं ताप के कोप से ही ,
ऋतुपति अब मानो दीन सा हो गया है।
इधर उधर उसके भागते हैं सनेही,
क्षिति पर मृदुता का नाम ही मिट गया है ॥

[४]

प्रबल तुम हुये हो ग्रीष्म के पक्षपाती,
मधुऋतु हत-आशा सा गया हो यहाँ है,
सघन सघन वृक्षों के तले छांह पाती
विकल कल करै हैं 'पी कहां' 'पी कहां' है ?

[५]

निकट कठिन सेना घूमती है तुम्हारी
सकल खग मृगों को शोक संताप देती,
निज वश महि लाके शत्रु-दर्प-प्रहारी ।
अति रिस कर मानो भाफ का टैक्स लेती ॥

[६]

अचर चर, निहारो, ताप से जल रहे हैं,
गरम गरम चारों ओर लू चल रही हैं,
सकल जन खड़े हो हाथ को मल रहे हैं,
सब दिशि विदिशायें अग्निवत् बल रही हैं ॥

[७]

नर, खग, मृग सारे धूप से छटपटाते,
सरितट विटपों के ठट्ठ सूखे खड़े हैं,
न सजल नद नाले एक भी हैं दिखाते,
सब जलथलवासी कष्ट में आ पड़े हैं ॥

[८]

अति दुखित हुये हैं रोक दो तीक्ष्ण ज्वाला,
विनय यह हमारी मानलो भानु प्यारे !
स्मरण यदि करोगे शारदी अंशु-माला,
शरद हिम सरीखे मित्र होंगे हमारे ॥

वागीश्वर मिश्र ।

भूतोंवाली हवेली ।

[३]

मैं धर्म्मशाला को लौट आया। परन्तु वहां मैंने ठकुरी को न पाया। चार दिन पीछे उसका एक पत्र मुझे मिला जिससे मैंने जाना कि वह सीधा स्टेशन पहुंच, रेलपर बैठ, घर चला गया। उसने यह भी लिखा कि उस रात का तमाशा उसके मनमें इतना बैठ गया है कि वह अब तक नींद में वैसे ही स्वप्न देख देख चौंक उठा करता है।

निदान मैं उस हवेली के स्वामी के पास गया। लाला जी अकेले ही बैठे थे। मैंने उन्हें कुंजी लौटा दी और कहा कि मैंने अपनी आकांक्षा पूरी करली और अपनी सारी कथा कहने ही को था कि उन्हों-ने मुझे रोक कर कहा "बस कीजिए, मैं उसे सुनने की इच्छा नहीं रखता"।

परन्तु जो पत्र मैंने पढ़े थे, उनकी बात लाला साहब से कह देना मैंने उचित जाना। पत्रसम्बन्धी सब बात सुना कर मैंने पूछा "क्या आपके विचार में वे पत्र उसी बुढ़िया स्त्री को तो नहीं लिखे गए थे, जो पीरी में मर गई थी ?"

लाला साहब मेरे प्रश्न को सुन कर चौंक पड़े और तनिक सोच कर कहने लगे कि उस स्त्री का हाल तो मैं कुछ नहीं जानता हूं। परन्तु, हां, मैंने सुना है कि मेरे ननिहाल के लोग उसके कुल से परिचित थे। आपकी कथा से तो यही प्रतीत

होता है कि जो मनुष्य जीवित दशा में पाप कर्म करता है, मरने के उपरान्त भी उसकी आत्मा को शान्ति नहीं मिलती। और सम्भव है कि इस मकान में पहिले बड़े अद्भुत मनुष्य रहे होंगे। आप हँसते हैं! आप क्या कहते हैं?

मैंने कहा—"मैं समझता हूं कि अब भी इसका भेद खुल सकता है। मैं समझता हूं कि यह सब मानुषी करतब ही है।"

"क्या! तो क्या यह सब कोई मनुष्य ही कर रहा है? उसे क्या लाभ? क्या भूत पलीत सब झूठ ही हैं?"

"बिलकुलही झूठ नहीं कह सकते। समझिये कि यदि मैं एकाएक गहरी नींद में अचेत हो गया हूं और आप मुझे नहीं जगा सकते;—परन्तु उस नींद की दशा में यदि मैं आपके सब प्रश्नों का ठीक ठीक उत्तर दे सकूं, और यह ठीक ठीक बता सकूं कि आपकी जेब में कै रुपए हैं, यही नहीं,—आपके मन की बातों को भी यथावत् कह दूं;—तो यह झूठ नहीं हो सकता, और न अलौकिक ही हो सकता है। अनजान मैं मेसमेरिज़म की शक्ति के वशीभूत होऊंगा। उसका चालक कोई मनुष्य ही होगा जो कहीं बैठा हुआ मुझ पर अपनी शक्ति का प्रयोग कर रहा होगा।"

"मैंने माना कि मेसमेरिज़म से यह सब होना सम्भव है। पर क्या इसमें इतनी भी शक्ति है कि जड़ पदार्थों को चला दे, या अनोखे दृश्य और शब्दों से किसी स्थान को भर दे?"

"नहीं, साधारण लोग जिसे मेसमेरिज़म कहते हैं उसमें यह शक्ति नहीं है। परन्तु मेसमेरिज़म ही के समान किसी ऐसी शक्ति का होना सम्भव है जो इससे भी बलवती हो। उसे चाहे जादू कहिए चाहे और किसी नाम से पुकारिए। मैं यह नहीं कहता कि वह शक्ति सब निर्जीव वस्तुओं पर अपना असर डाल सकती है। परन्तु यदि ऐसा ही हो तो उसे लौकिक नियमों के विपरीत नहीं समझना चाहिए; वरन् वह उन नियमों ही में से एक शक्ति है जिसका प्रयोग बहुत दिनों तक कठिन अभ्यास से होना सम्भव है। यह शक्ति मुर्दों पर भी डाली जा सकती है, अथवा यों कहिए कि मृतक द[illegible] में जो चिन्ता वा स्मृति मृतकों में बच रहती हो, [illegible] पर यह अपना प्रभाव डाल सकती है। जी[illegible] धारिओं में जो ईश्वर की सत्ता विद्यमान है, [illegible] जिसे आत्मा कहते हैं, सब धर्मवाले उसे अन[illegible] चैतन्य मानते हैं। आत्मा-पर ऊपर कही हुई श[illegible] का प्रभाव सम्भव नहीं जान पड़ता। परन्तु, [illegible] जड़ देह से आत्मा के निकल जाने पर उसकी [illegible] छाया वा स्मृति सी उस जड़ देह के साथ सा[illegible] बनी रहती है, और जिससे पृथिवी के साथ उस[illegible] का सम्बन्ध कुछ काल तक बना रहता है, उ[illegible] छाया ही को अपने वश में कर लेना उस श[illegible] का काम है। इस विषय पर बहुतेरे तर्क और म[illegible] भेद भी हैं; यहां पर मैं उनके सम्बन्ध में अधि[illegible] कहने का साहस नहीं करता। परन्तु मेरे विचा[illegible] में वह शक्ति अलौकिक नहीं है। देखिए, एक फू[illegible] कुम्हला गया। आपने उसे जलाया। फूल [illegible] जीवित दशा में जिन जिन सामग्रियों वा तत्वों [illegible] वह बना था, वे सब नष्ट हो गए। कहां चले ग[illegible] सो नहीं जाना जा सकता। आप उन्हें फिर इक[illegible] नहीं कर सकते हैं। परन्तु, रसायनविद्या [illegible] सहायता से उस फूल के भस्म से उस फूल [illegible] छायामूर्त्ति (Spectrum) आप बना सकते [illegible] ठीक वैसी ही जैसी कि उसकी जीवितदशा [illegible] थी। मनुष्य के लिये भी ठीक यही नियम सम[illegible] है। देह से आत्मा उतनी ही अलग हो जाती [illegible] जितनी कि फूल से उसे जीवित रखनेवाली साम[illegible] ग्रियां। परन्तु उसकी छायामूर्त्ति आप बना सक[illegible] हैं। और यह छायामूर्त्ति ही है जिसे साधार[illegible] लोग जीव की जीवात्मा कहते हैं। इसमें और [illegible] जीवात्मा में जो भिन्नता है उस पर अवश्य ध्या[illegible] देना चाहिये। यह मृत स्वरूप की छाया मात्र है [illegible] इसीलिये भूतों की जितनी कहानियां सुनी जाती [illegible] हैं, उनमें चैतन्य आत्मा की श्रेष्ठतर बुद्धि [illegible]

...भाव पाया जाता है। ऐसी मूर्त्तियां योंही बिना ...सी कारण के सामने आ जाती हैं; कभी बोलती ...हीं; पृथिवी पर रहनेवाले साधारण मनुष्यों से ...कुछ अधिक भावना उनसे नहीं होनी चाहिये। ...अमेरिका के प्रेतदर्शकों ने बड़े बड़े ग्रन्थ लिख डाले ...हैं जिनमें उन्होंने बहुत से लेख प्रकाशित किये हैं। ...वे कहते हैं कि इन लेखों को कथायें उन्होंने शेक्स-पीयर, बेकन आदि बड़े बड़े लेखकों की आत्माओं ...से सुन कर प्रकाशित की हैं। परन्तु अच्छी तरह विचार कर देखा जाय तो बेकन, शेक्सपीयर, प्लेटो आदि महापुरुषों के लेखों से ये प्रकाशित लेख ...कहीं निकृष्ट मिलते हैं। और यह भी सोचने की ...बात है कि उनमें कोई ऐसी घटनायें वा विचार ...नहीं देख पड़ते हैं जो इस पृथिवी पर न मिलते ...हों, वा पहिले कभी न मिले हों। इस लिये प्रेतयोनि ...का रहना यदि सच ही मान लिया जाय, तो भी ...ऐसी कोई बात नहीं जानी गई है जिससे उनकी अलौकिकता निरूपित हो सके। वे किसी रीति से (किस रीति से, हमने अब तक निर्णय नहीं कर ...पाया है) एक मनुष्य के मस्तिष्क से दूसरे मनुष्य ...के मस्तिष्क में छोड़नेवाली धारणा मात्र ही हैं। ...चाहे मेज़ कुर्सी आप ही आप चलने लगे; वा अद्भुत स्वरूप हमारे सामने आकर खड़े हो जांय; ...चाहे कोई ऐसी वस्तु निकल आवे जिससे हमारी ...देह में रुधिर जम जावे; तौभी, मेरा यही विश्वास है ...कि जैसे तारबर्क़ी के तार से एक मनुष्य की बात ...दूसरे पर विदित हो जाती है, उसी रीति से ये ...भी किसी दूसरे के मस्तिष्क से हमारे मस्तिष्क में ...पहुंचाई हुई धारणाही हैं। हां, उस मस्तिष्क में ...बड़ी भारी शक्ति है, जो जड़ को भी चैतन्यवत् कर ...सकती है, और जो संहारकारिणी भी है। ऐसी ही ...शक्ति ने मेरे कुत्ते को मार डाला है। और, जहां ...तक मुझे जान पड़ता है, यह मुझे भी मार डालती ...यदि मैं कुत्ते के समान भयभीत हो जाता, वा यदि ...मेरी बुद्धि वा आत्मा ने उस शक्ति के आक्रमण को ...रोकने की दूसरी शक्ति मुझमें न रक्खी होती।"

"क्या आपका कुत्ता मारा गया! ओः, यह तो भयङ्कर घटना है! इसी से उस मकान में कोई जीव नहीं ठहरता। अजी, मैं तो जानता था कि बिल्ली की शक्ति चूहों को भगा देती है। यह कैसी शक्ति है जिसके भय से उस हवेली में चूहे क्या, कोई पक्षी तक पलभर भी नहीं ठहरते?"

"पशुपक्षी अपनी बुद्धि से अपने से अधिक बलवान् शत्रु का अनुभव कर लेते हैं, और उनसे दूरही भागा करते हैं। मनुष्य की बुद्धि में ऐसी अनुभवशक्ति नहीं है, क्योंकि उसमें एक दूसरी अधिक बलवती शक्ति है जिससे वह अपने शत्रु का सामना कर सकता है। परन्तु, आप मेरी युक्ति को तो मानते हैं न?"

"जी हां, कुछ कुछ तो मैं समझने लग गया। मैं समझता हूं कि बचपन में हमारी पालनेवाली स्त्रियां ही भूतचुड़ैल की रचना रच देती हैं। परन्तु इस मकान का मैं क्या करूं?"

"मैं बताऊं सो कीजिए। मेरे मन में पक्की धारणा हो रही है कि हो न हो उस छोटी कोठरी ही के भीतर इन सब दृश्यों का मूल कारण होगा। मेरा बस चले तो मैं उसको दीवार गिरा कर उस की भूमि खुदवा डालूं।"

"और, आप के विचार में, यदि वह कोठरी खुदवा दी जावे—"

"तो तारबर्क़ी का तार कट जायगा। बिजुली का लगाव बन्द हो जायगा। कर देखिए। मेरा विश्वास इतना पक्का है कि मुझे जान पड़ता है कि मैं सच ही कह रहा हूं। यदि झूठ हो तो खुदवाने का ख़र्च आप दीजिए; मैं उस कोठरी को फिर ज्यों का त्यों अपने व्यय से बनवा दूंगा।"

"नहीं, ख़र्च की कोई बात नहीं। मैं आप ही सारा ख़र्च उठा सकता हूं।"

खोज खाज करके लाला साहब ने इतना पता लगा लिया कि उस मकान में जो बुढ़िया मर गई थी वह पहले भी, अपनी युवावस्था में वहां रह चुकी थी। समय के फेर से अपनी अन्तिम दशा में

उसे भिक्षा से अपना निर्वाह करना पड़ा था। परन्तु किसी समय उसके दिन अच्छे थे। किसी दुष्ट प्रकृति के मनुष्य से उसे प्रेम हो गया था, और उसीके द्वारा उसकी धन सम्पत्ति भी सब नष्ट हो गई थी। यह भी जाना गया कि बुढ़िया ने अपना धन अपनी बहिन से पाया था, जो एक बालक को छोड़ कर मर गई थी। इस बालक को बुढ़िया बड़ा दुःख देती थी, यहां तक कि उसने घबड़ा कर एक दिन छत से कूद कर भागना चाहा, और उसी क्षण आंगन में गिर कर मर गया। जो दृश्य उस रात को मेरे सामने उपस्थित हुए थे, जान पड़ता है कि इन्हीं लोगों से उनका सम्बन्ध था।

आठ दस दिन पीछे उस कोठरी के खुदवाने का काम आरम्भ हो गया। खोदने से भूमि के नीचे एक खिड़की निकल आई। उसमें से होकर एक मनुष्य नीचे जा सकता था। बड़ी बड़ी लोहे की कीलों से वह खिड़की कड़ियों से जड़ी थी। नीचे उसके एक तहख़ाना मिला जिस का पता पहिले किसी को नहीं था। हमलोगों ने लालटेन जला कर भीतर देख भाल की। कहीं कुछ नहीं मिला। कुछ और देख भाल करने से भीत में जड़ी हुई एक लोहे की अलमारी मिली। उसके एक ख़ाने में बहुत पुराने चालके कुछ वस्त्र, एक तलवार और पगड़ी के समान सिर का एक भूषण, ये सब मिले। कोई चित्रकार यदि पुराने समय का चित्र बनाना चाहता तो ये वस्तु उसके बड़े काम आती। मैं उन्हें रख लेता, परन्तु वे वस्त्र इतने गल गए थे कि छूतेही चूर हो गए। तलवार जंग खा कर इतनी कमज़ोर होगयी थी कि तनिक दबाते ही बीच से टूट गयी। कम से कम १०० वर्ष तक ये वस्तु वहां पर रक्खी रही होगीं; नहीं तो उनका इतना जीर्ण होना सम्भव नहीं जान पड़ता।

अलमारी के दूसरे खन में बिल्लौर के से कुछ बर्तन थे। वे न तो शीशी ही कहे जा सकते हैं, और न डिबिया ही। उनकी बनावट अद्भुत प्रकार की थी। उनमें से कई में कुछ जल के समान पतली ओषधियां सी थीं। खोलने पर उनसे न तो कोई गन्ध ही निकला, और न उनका रङ्ग ही साफ़ साफ़ जान पड़ा। एक कांच की नली और एक लाला डंडा भी मिले। एक छोटे से डिब्बे में एक चित्र मिला जो हाथी दांत पर खुदा हुआ, और सोने के चौकठे में जड़ा हुआ था। इतना पुराना होने पर भी वह बड़ा स्पष्ट, और उसके रङ्ग बहुत ही चटकदार थे। चित्र एक ५० वर्ष की अवस्थावाले किसी पुरुष का था। उसका मुख बड़ा अद्भुत था। देखते ही हमलोगों के मनमें एक अकथनीय भाव उत्पन्न हुआ। यदि किसी सर्प का मनुष्य के रूप में बदल जाना सम्भव हो तो आप उस चित्रवाले मनुष्य का अनुभव कर सकते हैं। फन के समान लंबा चेहरा, सांप ही का सा मुख, चमकती हुई भयावनी आंखें और, सबके ऊपर, एक निर्दय रूखी प्रकृति झलक रही थी। इस मुख का अधिकारी किसी बड़ी शक्ति को धारण करता रहा होगा। सबसे अचरज की बात यह हुई कि यह छोटा सा चित्र एक बड़े नगर के चित्रशाला में रक्षित किसी विशेष चित्र से बिलकुल मिलता है। वह चित्र किसी बड़े पदाधिकारी का है, जो राजा के नौकर ही है, और जिसने अपने समय में इस देश में बहुत गड़बड़ मचाया था। वह बड़ा धनवान था; बड़ी धूमधाम से रहता था; सरकारी कार्य में गड़बड़ करके बहुत सा धन उसने हज़म कर लिया था और जब लोग उसके कार्यों से बहुत घबड़ाने लगे तब वह अकस्मात् मर गया। मैं उसका नाम कई कारणों से, यहां नहीं बतलाना चाहता। जब मैं इस चित्र को बड़े ध्यान से देख रहा था, तब हवेली के स्वामी बोल उठे—

"हैं! यह कैसे सम्भव है? मैं तो इस मनुष्य को जानता हूं"।

"आपने इसे कहां देखा है?"

"कहां? यह तो —— के महाराजा का दीवान रह चुका है। उनपर उस का बड़ा प्रभाव था। एक बार उसने महाराजा को सरकार के खिलाफ़

उड़ा दिया था। महाराज अपना राज्य खोने से बच गये थे। वह मद्रास की ओर का रहनेवाला था। बड़ा चतुर, बड़ा ही साहसी, और पल्ले सिरे का गड़बड़ मचानेवाला था। बहुत से उपाय किए गये तब वह राज्य से निकाला गया। यह वही मनुष्य है, और कोई नहीं हो सकता। परन्तु दोनों के पहरावे में अन्तर है। यहां तो यह पुरुष विचित्र वस्त्र पहने हुए है। किसी बहुत पुराने समय का पहरावा है। और और वस्तुओं के देखने से अनुमान होता है कि यह चित्र इस दशा में यहां पर १०० वर्ष अवश्य ही रहा होगा"।

अलमारी के तीसरे खण्ड में एक छोटा सा सन्दूक़ रक्खा था। बड़ी कठिनाई से वह खोला गया। उसमें ताला नहीं था; परन्तु नहीं मालूम किस वस्तु से उसका ढक्कन जकड़ा हुआ था। उसके भीतर एक छोटी सी बिल्लौर की डिबिया मिली, जिसके भीतर कुछ जल के समान पतला पदार्थ था। उस जल पर सूई सी कोई वस्तु बड़े वेग से चारों ओर घूम रही थी। एक तीव्र गन्ध भी उस में से निकलने लगी जिससे हम सब लोगों के शरीर कुछ शिथिल से होगये। हमारे साथ दो बेलदार भी उस तहख़ाने में थे। उनको जान पड़ा कि कोई रेंगती हुई वस्तु बड़े वेग से उनके शरीर के भीतर दौड़ रही है। इससे घबड़ा कर वे लोग सीढ़ी पर चढ़कर ऊपर भाग गये। इसी गड़बड़ में मेरे हाथ से वह डिबिया हिल गई और उसमें का थोड़ासा पानी भूमि पर गिर पड़ा। पानी का गिरना ही था कि सूई बहुत जल्दी जल्दी चक्कर खाने लगी और इतने वेग से मुझे एक झंटका लगा कि कि मैं धम्म से भूमि पर गिर पड़ा; डिबिया हाथ से गिर पड़ी; उसका सब जल भी गिर गया; और आंधी में ताड़के वृक्ष जिस भांति वेग से झोखे खाते हैं उसी भांति तहख़ाने की दीवारें हिलने लगीं। मुझे जान पड़ा कि पृथिवी अब उलटनेवाली है।

जब मैं कुछ सम्हला तो देखा कि लाला जी भी एक ओर भूमि पर पड़े हांफ रहे हैं; उनकी आंखें बाहर निकल रही हैं।

अस्तु, डिबिया को मैंने फिर उठाया। अच्छी तरह देखने से उसके नीचे एक दूसरा तह मैंने पाया। उसके भीतर एक छोटा सा भोजपत्र लपेटा हुआ रक्खा था, जिसमें ये वाक्य लिखे थे—

यहां जो कोई रक्खै पाद।
जड़ हो, नर हो, वा मनुजाद॥
मुर्दा ज़िन्दा जो पग धरै।
इस सूई सा घूमा करै॥
इसमें रहनेवाले मरैं।
घोर घोर विपदा में परैं॥
ॐ अशान्तिरशान्तिरशान्तिः !!!

वहां पर और कुछ देखने में नहीं आया। हवेली के स्वामी ने उस डिबिया और उसके यन्त्र को अग्निदेव के समर्पण कर दिया; कोठरी की नीव तक खुदवा डाली; और उसपर नए सिरे से उन्होंने एक कोठा बनवाया। अब रात को भी उसमें कोई भय की बात नहीं देख पड़ती। अब उसमें मनुष्य निर्विघ्न रहते हैं; कोई अब वहां भूत का नाम तक नहीं लेता।

परन्तु यह न समझिए कि मेरी कथा सम्पूर्ण हो गई। अभी और है। [शेष अगली बार।

जल-चिकित्सा।

[पूर्व-प्रकाशित से आगे]

४—चिकित्सा।

जब रोग का कारण ज्ञात होगया तब उस की ओषधि भी सहजही में की जा सकती है। कल्पना कीजिए कि किसीके ज्वर चढ़ा है। उस ज्वर को शान्त करने के लिए, रोमकूपों के मुँह को खोल देना चाहिए। ऐसा करने से विकारवान् पदार्थ, जो चमड़े से रगड़ खाकर उष्णता बढ़ा रहे हैं, पसीने के रूप में बाहर निकल आवैंगे। अतएव कम होते होते उष्णता शीघ्रही शान्त हो जावैगी। पसीना आतेही ज्वर शान्त हो जाता है,

यह हम सदैव देखते हैं। परन्तु सब लोग यह नहीं जानते कि क्यों ऐसा होता है। ऐसा होने, अर्थात् पसीना आने पर ज्वर दूर हो जाने का—यह कारण है कि ज्वर के उत्पन्न करनेवाले बुरे परमाणु शरीर के बाहर आजाते हैं। इसीसे शरीर की बढ़ी हुई गरमी कम हो जाती है और शरीर हलका हो जाता है। पसीना उत्पन्न करने से ज्वर अवश्य शान्त हो जाता है; परन्तु रोग का बीज अर्थात् विकारवान् पदार्थ शरीर में बनेही रहते हैं। अतएव जब तक वे न निकाल बाहर किये जावें तब तक फिर फिर ज्वर आने की सम्भावना बनी ही रहती है। ज्वर के सिवाय और और रोगों को दूर करने के लिए भी शरीर के भीतर इकट्ठा होनेवाले विकृत पदार्थों को निकाल देना आवश्यक है। इसके लिए कूने साहब ने कई प्रकार के स्नानों की विधि लिखी है। उनमें से तीन मुख्य हैं—

(१) बाष्प-स्नान।
(२) उदर-स्नान।
(३) मेहन-स्नान।

इन तीनों प्रकार के स्नानों की विधि, हम, यहां पर, संक्षेप से लिखते हैं।
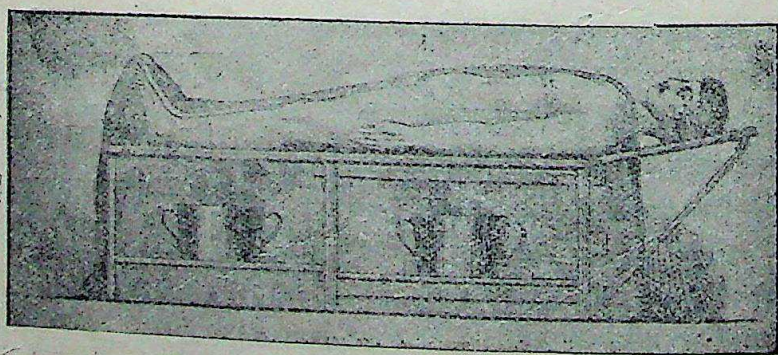
बाष्प-स्नान।

इसके लिए बेत से बुनी हुई एक व्यञ्च, अथवा मूंज के बान या सुतली से दूर दूर बुनी हुई एक चारपाई और तीन बरतन, जिनमें कोई दो दो तीन तीन सेर पानी आ सके, दरकार होते हैं। व्यञ्च अथवा चारपाई पर मनुष्य को पहले चित लेट जाना होता है। उस समय शरीर पर कोई कपड़ा न रखना चाहिए। कूने साहब ने इस प्रकार के स्नान के लिये, लकड़ी की एक व्यञ्च बनाई है। इच्छा करने से वह लपेट कर रख दी जा सकती है और फिर फैला भी दी जा सकती है। हम एक चित्र नीचे देते हैं जिस को देखने से विदित होगा कि वह व्यञ्च कैसी है, उसपर मनुष्य किस प्रकार लेटता है, और गरम पानी से भरे हुए बरतन कहां रक्खे जाते हैं।

स्नान के लिए पहले तीनों बरतनों को चूल्हे पर चढ़ा देना चाहिए। जब पानी खौलने लगे, और उससे भाफ निकलने लगे, तब मनुष्य को कपड़े उतार कर व्यञ्च अथवा चारपाई पर कम्मल, रज़ाई, दुलाई, शाल, या दोहर ओढ़ कर लेट जाना चाहिए। ओढ़ना इस प्रकार चाहिए जिसमें कपड़े के किनारे नीचे पृथ्वी तक लटकते रहें; अर्थात् कहीं खुला न रहे जहां से भाफ बाहर निकल जाय। सिर भी पहले ढक लेना चाहिए। यह हो चुकने पर, कपड़े को धीरे से उठा कर, एक मनुष्य को खौलते हुए पानी का एक बरतन लेटे हुए मनुष्य की पीठ के नीचे और दूसरा पैरों के नीचे रख देना चाहिए। बरतनों पर ढकने अवश्य होने चाहिए और इच्छानुसार कम अथवा अधिक उष्णता करने के लिए उनको कम अथवा अधिक खोल देना चाहिए। कोई दस मिनट हो जाने पर भाफ कम होने लगेगी। तब चूल्हे पर चढ़ा हुआ तीसरा

बरतन उठा कर पीठ के नीचे रख देना चाहिए और पहले बरतन को उठा कर फिर आग पर चढ़ा देना चाहिए। जब भाफ उससे फिर अच्छी भाँति निकलने लगे तब पैरों के नीचेवाला बरतन भी बदल देना चाहिए। परन्तु, बहुधा पैरों के नीचे के बरतन को बदलना नहीं पड़ता। कोई दस पन्द्रह मिनट के अनन्तर मनुष्य को पेट के बल लेट जाना चाहिए, जिसमें पेट, पेड़ू और छाती पर खूब भाफ लगै। यदि अब तक पसीना न निकला होगा तो अब अवश्य निकलैगा और पैर तथा सिर, दोनों से एकही साथ, निकलने लगैगा। जिनको पसीना शीघ्र नहीं आता उनको सिर ढका रखना चाहिए, परन्तु जिनको शीघ्र आता है उनके लिए सिर ढकना कोई विशेष आवश्यक बात नहीं है। तथापि पहले थोड़ी देर के लिए उसे अवश्य ढक लेना चाहिए।

पसीने को १५ मिनट से लेकर आध घण्टे तक निकलने देना चाहिए। पसीना निकल आने पर बरतनों का बदलना अथवा न बदलना मनुष्य की इच्छा पर अवलम्बित है। शरीर के जिन भागों में विकारवान् पदार्थ अधिक इकट्ठा रहते हैं, उन भागों में देर से पसीना निकलता है। ऐसे भागों पर भाफ का अधिक प्रयोग करना चाहिए और जहां तक उष्ण भाफ सहन हो सके, आने देना चाहिए।

जो मनुष्य बहुत निर्बल हैं अथवा जो बहुत अधिक बीमार हैं, उनको बाष्प-स्नान न करना चाहिए। उनके लिए उदर-स्नान और मेहन-स्नान ही बस होंगे। जिन मनुष्यों को स्वाभाविक रीति पर-अधिक चलने फिरने या परिश्रम करने से, पसीना आ जाता है उनके लिए बाष्प-स्नान की उतनी आवश्यकता नहीं है। वे कभी ऐसे स्नान न करें तो कोई हानि नहीं। एक अठवारे में दो बार से अधिक बाष्प-स्नान न करना चाहिए।

बाष्प-स्नान के लिए यदि किसीको पूर्वोक्त प्रकार की व्यवस्था या चारपाई, समय पर न मिल सके तो बेत से बुनी हुई कुरसी से उसका काम निकल जायगा। कुरसी पर बैठ कर नीचे गरम पानी का बरतन रख देना चाहिए और कुरसी समेत शरीर को कपड़े से ढक कर बैठना चाहिए।

बाष्प-स्नान के अनन्तर ठंढे पानी में उदर-स्नान अवश्य करना चाहिए। उदर-स्नान के पहले अथवा पीछे मनुष्य को चाहिए कि वह अपना सारा शरीर भीगे हुए अँगौछे या तौलिया से झट पट पोंछ डाले, जिसमें उदर के सिवाय शरीर के सब अवयव ठंढे होजावें। ज्वर चढ़े हुए मनुष्य के लिए भी बाष्प-स्नान बहुत लाभदायक है। उससे शीघ्र ही ज्वर उतर जाता है; परन्तु उदर-स्नान करना न भूलना चाहिए। उदर-स्नान न करने से ज्वर बहुधा नहीं उतरता और तङ्ग होना पड़ता है। गत वर्ष, एक बार, ज्वर में, बाष्प-स्थान करके हम उदर-स्नान करना भूल गए; अतएव हमको, बहुत कष्ट उठाना पड़ा। ऐसी दशा में, बाष्प-स्नान करके ठंढे पानी में उदर-स्नान करने से डरना न चाहिए। उससे कोई हानि नहीं होती; लाभ ही होता है। गरम किए हुए लोहे को पानी में बुझा कर जैसे उसे उसके पूर्व-रूप को पहुंचाते हैं, वैसे ही बाष्प-स्नान के अनन्तर ठंढे पानी से शरीर को शीतल करने से वह अपने पूर्व-रूप में आ जाता है। इससे वह निरोग और अधिक बलवान् हो जाता है।

बाष्प-स्नान के पीछे उदर-स्नान करके, सशक्त मनुष्य को बाहर स्वच्छ हवा में घूमने जाना चाहिए, जिसमें परिश्रम से शरीर गरमा उठे और कुछ पसीना भी निकलै। परन्तु जो सशक्त नहीं हैं, अथवा जो अधिक बीमार हैं, और बाहर नहीं जा सकते, उनको किसी कमरे में कपड़े ओढ़ कर, थोड़ी देर लेट कर शरीर को गरम कर लेना चाहिए। ऐसा करना बहुत ही आवश्यक है; इस लिए, इसमें भूल न करना चाहिए। परन्तु स्मरण रहे कि बीमार और बहुत अशक्त मनुष्यों को बाष्प-स्नान करना ही अनावश्यक है।

उदर-स्नान।

इस स्नान के लिए ८४° से ६८° डिगरी तक के ठंढे पानी की आवश्यकता होती है। परन्तु पानी

की शीतलता मापने की कोई आवश्यकता नहीं और न उसे किसी कृत्रिम रीति से ठंढा करने का यत्न ही करना चाहिए। स्वाभाविक रीति पर जहां जितना ठंढा पानी मिलै वहां उसेही काम में लाना चाहिए। उदर-स्नान के लिए एक 'टब' या एक ऐसे बरतन की आवश्यकता होती है जिस में मनुष्य बैठ सके। 'टब' में इतना पानी भर देना चाहिए जितने से नाभि के नीचे का भाग और जांघें डूबी रहें। नाभि के ऊपर का भाग और पैर पानी के बाहर रहें। नीचे के चित्र को देखने से यह समझ में आजावैगा कि इस स्नान के लिए मनुष्य को किस प्रकार 'टब' में बैठना चाहिए।
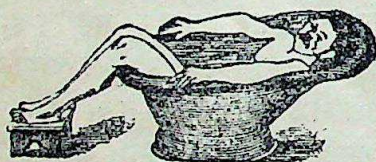
इस चित्र में पैरों को रखने के लिए एक छोटी सी चौकी रक्खी है; परन्तु उसके न रखने से भी काम चल सकता है। चौकी न होने से पैरों को मनुष्य नीचे लटका सकता है; अथवा यदि 'टब' बड़ा हुआ तो उसके दोनों किनारों पर उन्हें रख सकता है।

ठंढे पानी से भरे हुए 'टब' में बैठकर मनुष्य को गाढ़े का एक छोटा सा अंगोछा अथवा एक मोटी तौलिया लेकर उसे पानी में डुबा कर नाभि के नीचे का भाग—तलपेट, पेड़ू, जांघों की जड़ इत्यादि—और कमर का पिछला भाग भी शीघ्रता के साथ, रगड़ना चाहिए। रगड़ने के समय हाथ बन्द कर देना अच्छा नहीं। पहले पहल ५ मिनट से लेकर १० मिनट तक उदर-स्नान करै;—फिर उसे क्रम क्रम से बढ़ा दे। अभ्यास बढ़ जाने पर आध घंटे से लेकर पूरा एक घंटे तक यह स्नान किया जाता है। जो लोग बहुत निर्बल हैं, अथवा बीमार हैं, वे दोही चार मिनट उदर-स्नान करें। इस प्रकार के स्नान में पैर और शरीर का ऊपरी भाग कभी न भिगोना चाहिए। उनको गरम रखनाही अच्छा होता है। यदि उनको कम्मल, गुलूबन्द अथवा फलालैन से लपेट रक्खे तो और भी अच्छा है। उदर-स्नान, के अनन्तर, शरीर को परिश्रम से गरम करने के लिए, बाहर स्वच्छ हवा में घूमना बहुत उपयोगी है। इसलिए स्नान करके बाहर घूमने अवश्य निकल जाना चाहिए। जो लोग निर्बल अथवा बीमार हैं और बाहर चल फिर नहीं सकते, वे ओढ़कर लेट रहें, जिसमें थोड़ी देर में शरीर गरम हो जावै।

उदर-स्नान, दिन में, एक बार से लेकर तीन बार तक, करना चाहिए। जो जितना बल रखता है और जितनी देर तक पानी में बैठ सकता हो, वह उसीके अनुसार इस प्रकार का स्नान करै। दोही चार दिन में मनुष्य को यह ज्ञात हो जाता है कि दिन में कितने बार और कितनी देर तक वह पानी में बैठ सकता है। किसी किसीके लिए उदर-स्नान की अपेक्षा मेहन-स्नान अधिक लाभदायक होता है। परन्तु सब से अच्छा यह होगा कि मनुष्य दिन में एक बार उदर-स्नान और एक बार मेहन-स्नान करै।

उदर-स्नान का ठीक नाम घर्षण-स्नान होना चाहिए। परन्तु 'घर्षण' शब्द कान को अच्छा नहीं लगता; इसलिए हमने उसके स्थान में 'उदर' शब्द लिखा है।

बाष्प-स्नान में विकृत पदार्थ पसीने के रूप में बाहर निकल जाते हैं। उदर-स्नान में भी वे बाहर आते हैं। विकृत पदार्थ पेट ही के आस पास अधिकता से इकट्ठा रहते हैं। इस लिए जब पेट और पीठ के नीचे के भाग को पानी में कपड़े से रगड़ते हैं तब रोम-कूपों का मुँह खुल जाता है और उन्हीं के मार्ग से विकारवान् पदार्थ धीरे धीरे बाहर निकल आते हैं। शरीर के और और अवयवों में भी यदि वहां विकृत पदार्थ होते हैं तो वे पेट की ओर खिंच आते हैं और स्नान के समय रोमकूपों

बाहर निकल पड़ते हैं। प्रवाही पदार्थों निकलने के लिए जिस ओर मार्ग मिलता है उसी ओर वे बहने लगते हैं। यह स्वाभाविक नियम है। इसी नियम के अनुसार रोग-कारक पदार्थ, सब कहीं से पेट के नीचे आ जाते हैं और वहां स्नान करने में निकल जाते हैं। इस प्रकार कुछ दिनों में, जब रोग की जड़ निर्मूल हो जाती है, तब शरीर स्वच्छ, निरोग और बलिष्ठ हो जाता है।

[असम्पूर्ण।

मनुष्येतर जीवों का अन्तर्ज्ञान।

मनुष्येतर, अर्थात् मनुष्यों के सिवाय और दूसरे पशु, पक्षी आदिक जो जीव हैं, उनको भी परमात्मा ने ज्ञान दिया है। वे सज्ञान हैं, परन्तु उनको इतना ज्ञान नहीं है जितना मनुष्य को होता है। उनको भूख प्यास निवारण करने का ज्ञान है; उनको अपने शत्रु-मित्र के पहचानने का ज्ञान है; उनको चोट लगने अथवा मारे जाने से उत्पन्न हुई पीड़ा का ज्ञान है। ऐसेही और भी कई प्रकार के ज्ञान पशु-पक्षियों को हैं। परन्तु उनके ज्ञान की सीमा नियत है। ज्ञान के साथ साथ ईश्वर ने उन्हें एक प्रकार की साङ्केतिक भाषा भी दी है। हम देखते हैं कि जब बिल्ली अपने बच्चे बुलाती है; तब वह एक प्रकार की बोली बोलती है, जब उसको कोई प्यार करने अथवा उस पर हाथ फेरने लगता है, तब वह दूसरे प्रकार की बोली बोलती है, और जब वह क्रोध में आती है, अथवा किसी दूसरी बिल्ली को देखती है तब वह एक तीसरीही प्रकार का शब्द करती है। पक्षियों में भी प्रायः यह बात पाई जाती है। वे भी भिन्न-भिन्न समय में भिन्न भिन्न प्रकार का शब्द करते हैं।

योरप और अमेरिका के शोधक विद्वानों ने पशु-पक्षियों के सम्बन्ध में बहुत ज्ञान प्राप्त किया है। किसी किसीने मछलियों के विषय में; किसी किसीने पक्षियों के विषय में; और किसी किसी ने जङ्गली जीवों के विषय में ज्ञान सम्पादन करने में अपना सारा आयुष्य व्यतीत किया है; यहां तक कि चींटी, जो अत्यन्त ही छोटा जीव है, उस पर भी किसी किसीने बड़े बड़े ग्रन्थ लिख कर अनेक अद्भुत अद्भुत बातें प्रकट की हैं। चींटियां घर बनाती हैं और वर्षा आने के पहले ही तीन चार महीने के लिए वे चारा सञ्चित कर रखती हैं। यह हमलोग प्रत्यक्ष देखते हैं। परन्तु शोधक विद्वानों ने देखा है कि चींटियों में भी धनी और निर्धन होते हैं; दास और दासियां होती हैं; गाय और भैंसें होती हैं; और विरुद्ध दलों में कभी कभी घोर संग्राम तक भी होते हैं। यह दास दासियां और गाय भैंसें सब चींटियां हीं होती हैं। यही नहीं, वे बोलती भी हैं और अपनी बोली में सुख दुःख, हर्ष विमर्ष भी प्रकट करती हैं। अतएव मनुष्येतर जीवों की सज्ञानता के सम्बन्ध में कोई संशय नहीं है। जो लोग समाचारपत्र पढ़ते हैं उन्होंने पढ़ा होगा कि एक योरोपीय विद्वान्, इस समय, बन्दरों की बोली समझने का प्रयत्न कर रहे हैं। कई वर्ष वे अफ़रीक़ा के अगम्य जङ्गलों में गरीला, शिम्पैञ्जी इत्यादि बन्दरों के बीच में रहे हैं; उनकी बोली, उनकी चेष्टा और उनके आचरण को ध्यान से उन्होंने देखा है; उनकी बोली को शब्द-ग्राहक यन्त्र में भरकर उसकी परीक्षा भी उन्होंने की है। यदि ऐसे ही प्रयत्न होते रहे तो कोई दिन शायद ऐसा आवेगा जब यह अथवा और कोई विद्वान्, पशु पक्षियों के साथ बात चीत करने में समर्थ होंगे। इस देशके पुराणादिक में पशु पक्षियों की शब्द-ज्ञान सम्बन्धी बातों का कहीं कहीं उल्लेख पाया जाता है। पञ्चपक्षी इत्यादि पुस्तकें भी, कुछ कुछ, इसी विषय से सम्बन्ध रखनेवाली विद्यमान हैं। सम्भव है, भारतवर्ष के प्राचीन विद्वानों ने मनुष्येतर प्राणियों की भाषा का मर्म्म जाना हो।

जैसे मनुष्यों में ज्ञान सम्पादन करने की पाँच इन्द्रियां हैं, वैसेही मनुष्येतर जीवों में भी हैं। परन्तु दूसरे जीवों की कोई कोई ज्ञानेन्द्रियां मनुष्यों की

इन्द्रियों से प्रबल होती हैं। उदाहरण के लिए गृद्ध की दृष्टि का विचार कीजिए। वह मनुष्यों की अपेक्षा बहुत दूर की वस्तु देख सकता है। बिल्ली की घ्राणशक्ति भी प्रबल होती है। चाहै जैसी अवघड़ जगह में ढका हुआ दूध रक्खा हो, वह वहां शीघ्रही पहुंच जाती है। घ्राण की विशेष-शक्ति प्रायः सभी पशुओं में देखी जाती है। परन्तु इन पाँच इन्द्रियों के अतिरिक्त, जान पड़ता है, पशुओं में और भी कोई इन्द्रिय है। यदि नहीं है तो क्यों सिकरे के आने के पहलेही चिड़ियाँ सशंक होकर इधर उधर भागने लगती हैं। जंगल में शेर के कोसों दूर होने पर भी उस ओर पशु नहीं जाते। विद्वानों ने परीक्षा करके देखा है कि ऐसे अवसर में जीवों की घ्राण-शक्ति काम नहीं देती। एक एक दो दो मील पर की वस्तु का ज्ञान घ्राण द्वारा होना असम्भव है। परन्तु पशुओं को हिंस्र जीवों के होने का ज्ञान बहुत दूर से हो जाता है। ललितपुर से होती हुई जो सड़क झांसी को आई है, उस पर कई बार इक्केवालों के घोड़े शेर का शिकार होगये हैं। जो इक्केवाले जीते बचे, उन्होंने बतलाया है कि जहां पर शेर था, उसके एक मील इधरही से घोड़े ने आगे बढ़ना अस्वीकार किया। परन्तु हण्टरों की मार ने, बड़ी कठिनाई से, उसे, किसी प्रकार आगे बढ़ाया और दोही चार मिनट में शेर ने आकर घोड़े पर आक्रमण किया। इससे क्या सिद्ध होता है? इससे यह सिद्ध होता है कि मनुष्येतर जीवों को ईश्वरने एक प्रकार का अन्तर्ज्ञान दिया है; अथवा उनको कोई ऐसी इन्द्रियदी है जिससे भावी विपत्ति की उन्हें पहले ही से सूचना हो जाती है और वे अपना जीव बचाने का उपाय करने लगते हैं। परमात्मन्! तेरी दयालुता की सीमा नहीं! हमारे देश के ज्योतिष-ग्रन्थों में जहां उत्पातों का वर्णन है, वहां कहीं कहीं लिखा है कि यदि कुत्ते ऐसा शब्द करने लग जावें, अथवा गिदड़ इस प्रकार बोलने लगें, अथवा उलूक यों चिल्लावें, तो अमुक अमुक उत्पात होने की सूचना समझनी चाहिये। आश्चर्य नहीं कि प्राचीन ऋषियों ने सूक्ष्म परीक्षा द्वारा पशु-पक्षियों की शरीरेन्द्रियों का पूर्ण ज्ञान प्राप्त करके अनुभव-पूर्वक ऐसा लिखा हो।

मनुष्येतर जीवों में कोई बात ऐसी अवश्य है उनमें कोई ऐसी इन्द्रिय अवश्य है—जिससे भावी भय का ज्ञान उन्हें हो जाता है। इस विषय में अब, योरप और अमेरिका के विद्वानों को कोई शङ्का नहीं रही। इस संशयहीनता का एक कारण हुआ। वह एक ऐसा कारण है, जिससे यह सिद्धान्त निकलता है कि, अनन्त-जीवनाशक अनर्थों से ईश्वर अल्पज्ञ मनुष्यों को कोई न कोई शिक्षा देता है। इस कारण का उल्लेख हम नीचे करते हैं।

अमेरिका के पास अटलांटिक महासागर में द्वीपों का एक समूह है। उसमें छोटे बड़े सैकड़ों द्वीप हैं। उनमें से क्यूबा, जमाइका, ट्रीनीडाड, हाण्डूरास, हयाटी, बहामा, इत्यादि मुख्य हैं। द्वीपों में से कुछ अङ्गरेज़ों के, कुछ स्पेनवालों के, कुछ फ़रासीसियों के और कुछ हालेण्डवालों के आधीन हैं। कुछ स्वतन्त्र हैं और कुछ उजाड़ पड़े हैं। इन द्वीपों का नाम "व्यस्ट इण्डीज़" है। "इण्डीज़" का अर्थ हिन्दोस्थान है। कोलम्बस जब इस द्वीपसमूह में पहले पहल पहुंचा, तब उसने समझा कि ये द्वीप हिन्दोस्थान के मार्ग में हैं। वह शीघ्रही वहां से हिन्दोस्थान पहुंच जावेगा। इसीलिए उसने इन द्वीपों का नाम "व्यस्ट इण्डीज़" अर्थात् पश्चिमी हिन्दोस्थान रक्खा; परन्तु, पीछे से, अपनी भूल उसकी समझ में आई। इन द्वीपों में मारटिनीक नामक एक छोटा सा द्वीप फ़रासीसियों का है। उसका क्षेत्रफल ३[illegible] वर्ग मील है। उसमें १६९,२३० मनुष्य रहते हैं। वह ४५ मील लम्बा और १५ मील चौड़ा है। उसकी पहली राजधानी "फोर्ट डी फ़्रांस" नामक नगर था; परन्तु कुछ दिनोंसे "सेण्ट पीरी" नामक नगर राजधानी बनाया गया था। सेण्ट पीरी के उत्तर और दक्षिण दोनों ओर ज्वालामुखी पर्वत हैं। इन पर्वतों में मौण्ट पीरी सबसे बड़ा

की उंचाई ४४३० फ़ुट है। ये ज्वाला-वर्षी बड़े ही विकराल हैं। परन्तु बहुत समय से निद्रित थे। किसीको यह शङ्का न थी कि फिर कभी ये पर्वत ज्वाला उगलने लगेंगे। मनुष्यों का यह अनुमान झूठ निकला। गत वर्ष मई के महीने में, एक दिन, प्रातःकाल, मौण्ट पीरी ने अपना विकराल मुख, सहसा, खोल दिया। बड़े वेग से उसका स्फोट हुआ और राख, पत्थर, तप्त धातु इत्यादि की अखण्ड वृष्टि होने लगी। एक ऐसा भयानक धुवाँ उसके भीतर से निकलना आरम्भ हुआ कि उसके फैलते ही कोई पन्द्रह ही बीस मिनट में सेण्ट पीरी मनुष्यहीन हो गया। लगभग ३०,००० मनुष्य थोड़ी ही देर में भूमिशायी हो गये। जो जहां था वह वहां ही रह गया। फ़्रांस का गवर्नर और उसकी स्त्री भी मृत्यु के मुख में पड़े। अमेरिका और इङ्गलैण्ड के वकील भी न बचे। बचा एक हबशी अपराधी ! उसने मनुष्य-हत्या की थी; इसलिए उसे प्राणदण्ड की आज्ञा हुई थी। दो ही चार दिनों में उसे फांसी होने वाली थी। वह भूगर्भ में एक कोठरी के भीतर बन्द था। अतएव वहीं अकेला जीता बचा। इस उत्पात की कुछ भी सूचना लोगों को पहले से न थी। सब लोग निश्चिन्त थे कि सहसा उनपर ईश्वरीय कोप हुआ और थोड़ी ही देर में सबके सब इस लोक से प्रस्थान कर गये। यह ऐसा भयङ्कर स्फोट था कि तप्त-धातुओं की नदियाँ बहती हुई समुद्र तक पहुंच गईं। कई जहाज़ जो किनारे पर थे, जल गए और समुद्र दूर तक अङ्गार के समान लाल दिखलाई पड़ने लगा।

इस उत्पात की सूचना यद्यपि मनुष्यों को न थी; परन्तु पशुपक्षियों को अवश्य थी। ज्वालामुखी का स्फोट होने के महीनों पहले सेण्ट पीरी के आसपासवर्ती जीव जन्तु और पशु पक्षी घबड़ाए से देख पड़ते थे। उनके मुख पर विकलता और भय के चिन्ह स्पष्ट जान पड़ते थे। वे एक विचित्र प्रकार की करुणोत्पादक बोली बोलते थे। जब ज्वालामुखी के जागृत होने का समय निकट आ गया, तब ये जीव क्रम क्रम से सेण्ट पीरी को छोड़ कर भगने लगे और थोड़े ही दिनों में उस नगर के आस पास का प्रदेश जङ्गली जीवों से प्रायः शून्य हो गया। मौण्टपीरी में हज़ारों सर्प और अजगर थे; वे भी न जानें कहां चले गये। उस पर्वत के ऊपर पेड़ों पर बैठ कर नाना प्रकार के मनोरम पक्षी कर्णमधुर गान किया करते थे। वे सब उस पर्वत को छोड़ कर कहीं के कहीं उड़ गये। इससे यह निर्भ्रान्त सिद्ध होता है कि मारटिनीक द्वीप के मनुष्येतर प्राणियों को इस भावी अनर्थ के लक्षण दिखलाई देने लगे थे। यदि ऐसा न होता तो वे कदापि स्थलान्तर को न चले जाते। जहां पर जो जन्म से रहता है, वह बिना किसी प्रबल कारण के उस स्थान को नहीं छोड़ता। मौण्ट पीरी के ज्वाला उगलने के लक्षण इन जीवों को चाहे किसी स्वाभाविक रीति पर विदित हो गए हों; चाहे उनकी किसी ज्ञानेन्द्रिय के योग से विदित हो गए हों; चाहे साधारण इन्द्रियों के अतिरिक्त उनके और कोई इन्द्रिय हो जिसके द्वारा विदित हो गए हों; परन्तु विदित अवश्य हो गए थे। भावी बातों को जान लेना अन्तर्ज्ञान के बिना सम्भव नहीं। अतएव यह सिद्धान्त निकलता है कि ईश्वर ने पशुओं को, अपनी रक्षा करने भर के लिए, यह अन्तर्ज्ञान अवश्य दिया है। यदि इस प्रकार का अन्तर्ज्ञान किसी स्वाभाविक रीति पर, अथवा किसी इन्द्रिय द्वारा हो सकता हो और उसे मनुष्य साध्य कर सके तो लोक का कितना कल्याण हो। नदियों के सहसा बढ़ने, भूकम्प होने और ज्वालागर्भ पर्वतों से आग, पत्थर इत्यादि के निकलने से जो अनन्त मनुष्यों की बलि होती है वह न हो। भावी उत्पात के लक्षण देख पड़ते ही, मनुष्य, दूसरे स्थलों को जा कर, अपनी रक्षा सहजही कर सकें।

कर्वी और स्वेन्स इत्यादि पण्डितों ने पशु-पक्षियों के जीवन-शास्त्र-सम्बन्धी अनेक ग्रन्थ लिखे हैं; और उनमें इन जीवों के ज्ञान; इनकी बुद्धि, इनकी

भाषा, इनके स्वभाव और इनके वर्तन-क्रम इत्यादि का उन्होंने बहुतही मनोरञ्जक वर्णन किया है। सर जान लबाक नामक एक शास्त्रज्ञ विद्वान, इस समय भी, पशु, पक्षी, कीट, पतङ्ग इत्यादि जीवों को रख कर तत्सम्बन्धी ज्ञान प्राप्त कर रहे हैं। परन्तु, जबसे पूर्वोक्त घटना मारटिनीक में हुई, तबसे योरप और अमेरिका के विद्वानों का ध्यान इस शास्त्र की ओर और भी अधिक खिंचा है। वे, इस समय, बड़ी बड़ी परीक्षाओं के द्वारा यह जानने का यत्न कर रहे हैं कि मनुष्येतर जीवों को किस प्रकार भावी अपत्तियों की सूचना हो जाती है। लोगों को आशा है, कि किसी समय, वे इस कार्य में अवश्य सफलकाम होंगे और निश्चित सिद्धान्तों के द्वारा मनुष्यों को नैसर्गिक अनर्थों से बचाने की कोई युक्ति निकालने में भी वे समर्थ होंगे। तथास्तु, तथास्तु, तथास्तु।

कवि-कल्पना।

जिस प्रकार इस ब्रह्माण्ड की रचना करने वाले ब्रह्मा हैं, नाना प्रकार की नई नई कलों के बनाने वाले मिष्टर इंगलिश हैं, तरह तरह के आईन क़ानून बना कर भारत को जकड़ने वाले हिज़ एक्सीलेन्सी के मन्त्रीमण्डल हैं, अनेक स्रोतों से भारत के धन आकर्षण करनेवाले लण्डन और मैन्चेष्टर के श्वेतकाय सौदागर हैं, उसी प्रकार सहृदय रसिक मार्मिक जनों के मन को लुभाने, रुलाने, हंसाने और न जाने क्या क्या करने वाले कविजन हैं! 'कवि' यह दो अक्षर क्या मधुर हैं? संसार का सम्पूर्ण सौन्दर्य्य इसमें कूट कूट कर भर दिया है। जिसको संसार 'कवि' कह कर पुकारता है; उसकी प्रतिष्ठा चक्रवर्ती से अधिक है। विक्रमादित्य का राज्य कभी का उलट गया, अकबर कभी का समाधि में सो गया, परन्तु कालिदास और तुलसीदास का आज भी राज्य है और अनन्तकाल तक रहैगा। इनका राजही नहीं, धन भी है, कीर्त्ति भी है, और इनके मानस पुत्र भी हैं। आहा! कवि की महिमा कवि भी नहीं कह सकते। श्रीव्यासजी ने सकल-विद्या-प्रवर्त्तक ब्रह्मा को श्रीभागवत के आदि श्लोक में 'तेने ब्रह्महृदा आदिकवये' कह कर 'आदि-कवि' उपाधि दी है।

> जाते जगति वाल्मीकौ 'कवि'रित्यगमत् प्रथाम्।
> 'कवी' इति ततो व्यासे 'कवय'स्त्वयि दण्डिनि॥

इस पद्यसे 'कवि' का गौरव प्रत्यक्ष है। 'अ... कवयः कपयः', 'अब के कवि खद्योत सम' इत्यादि से कुकविनिन्दा भी साक्षात् है। कवि की इतनी प्रशंसा क्यों है? कवि की गौरव-सामग्री क्या है? वह अघटित-घटना-पटीयसी कल्पना है। कवि की कल्पना से विधि की कल्पना भी हार मान गई! ब्रह्मा की सृष्टि में एक मुख के मनुष्य हैं; कवि की कल्पना ने रावण को दशमुख बना दिया! वैज्ञानिक पृथ्वी को निराधार बतलाते हैं; कवि ने पृथ्वी को सहस्र शीर्षा भगवान् के सिर पर सर्षप के समान रख दी। दार्शनिक आकाश को शून्य बतलाते हैं; कवि ने उसमें सप्त स्वर्ग बनाकर इन्द्र, ऐरावत, आकाश गङ्गा, उर्वशी, नन्दनवन, अमरावती आदि भर दिये। कवि ने भगवान् के अवतारों को भी चैन नहीं लेने दिया। भवभूति श्रीरामचन्द्र जी से क्या कहलाते हैं:—

> दलति हृदयङ्गाढोद्वेगो द्विधा न तु भिद्यते,
> वहति विकलः कायो मोहन्न मुञ्चति चेतनाम्।
> ज्वलयति तनूमन्तर्दाहः करोति न भस्मसात्,
> प्रहरति विधिर्मर्मच्छेदी न कृन्तति जीवितम्॥

श्रीकृष्ण तो कवियों के जीवनहीं हैं; उनकी तो बड़ी बड़ी लीला की है—

> सङ्केतीकृतकोकिलादिनिनदङ्कंसद्विषः कुर्वतो,
> द्वारोन्मोचनलोलशङ्खवलयक्वाणम्मुहुः शृण्वतः।
> कोयङ्कोयमिति प्रगल्भजरतीवाक्येन दूनात्मनो,
> राधा प्रांगण-कोण-कोल-विटप-क्रोडे गता शर्वरी॥

कवियों की भगवद्विषयिणी कल्पना कल्पनामात्र ही नहीं है। वरञ्च भगवान् उसे सत्य भी करते हैं।

यद्यद्धिया त उरुगाय! विभावयन्ति, तत्तद्वपुः प्रणयसे सदनुग्रहाय

ग्रैार देश की ता जानते नहीं; परन्तु भारतवर्ष ग्राब्रह्म-तृण-पर्यन्त कवि-कल्पना से ग्राबद्ध है। यदि दिव्य दृष्टि से देखा जाय तो भारत कवि कल्पना की जन्मभूमि, रङ्गभूमि ग्रैार शेष में श्मशान-भूमि भी होना चाहती है! 'मानिषाद प्रतिष्ठाः' से ग्रारम्भ होकर देखें कवि-वाणी कहां मैाना-वलम्बन करती है? सर्वशक्तिमान् जगदीश्वर भारत में फिर किसी ग्रमर कवि को उत्पन्न करे कि जिसकी वीणाध्वनि से मृतप्राय देश जागृत हो।

श्रीराधाचरण गोस्वामी।

जलगामिनी पैरगाड़ी ग्रैार तैरने का यन्त्र।

जैसे जैसे विद्या की वृद्धि होती जाती है ग्रैार जैसे जैसे मनुष्यों की प्रवृत्ति कला-कैाशल की ग्रोर बढ़ती जाती है, तैसे ही तैसे ग्राश्चर्यमयी बातें सुनाई पड़ती हैं। कोई कोई यन्त्रसम्बन्धी ग्राविष्कारों ने मानवजाति को ग्रपरिमेय लाभ पहुंचाया है। उनको देखकर उनके निर्म्माणकर्त्ताग्रों के चातुर्य्य की प्रशंसा किए बिना नहीं रहा जाता। पहले ता किसी नूतन वस्तु को खोज निकालने की ग्रोर मनुष्यों का, विशेष करके भारतवासियों का, ध्यान ही नहीं जाता; ग्रैार यदि जाता भी है तो उसको सिद्ध करके दिखलाते ग्रथवा यन्त्र-निर्म्माण द्वारा उसको सुलभ करने में ग्रनेक कठिनाइयां उपस्थित होती हैं। ग्रतएव विशेष प्रतिभाशाली, विशेष परिश्रमी ग्रैार विशेष बुद्धि-मान् मनुष्य ही इन बातों में कृतकार्य होते हैं।

कोई कोई यन्त्र बनावट में सीधे सादे ग्रैार कम मूल्य के होने पर भी मनुष्यों के बहुत काम ग्राते हैं। उदाहरण के प्रकार पर सीने की कल ग्रैार पैरगाड़ी को देखिए। यद्यपि इनमें पुरज़ों की ग्रधिकता नहीं होती है ग्रैार यद्यपि इनको साधारणतया थोड़ी प्राप्ति के लोग भी ले सकते हैं, तथापि इनसे बहुत काम निकलता है। ग्राज कल इन कलों का ग्रत्यधिक प्रचार है। कोई नगर ग्रैार कोई क़सबा ऐसा नहीं, जहां ये न दिखलाई पड़ती हों।
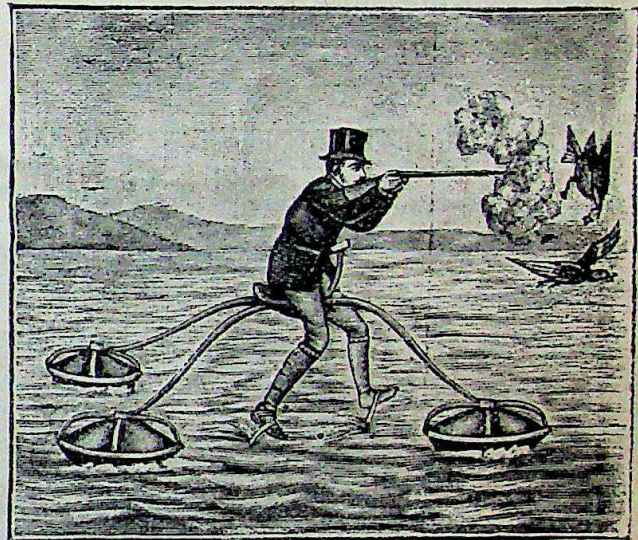
दो पहिए ग्रैार तीन पहिए की पैर गाड़ी ग्रभी तक भूमिही पर चलती थी; परन्तु ग्रमेरिका के कला-कुशल विद्वानों ने ग्रब पानी पर भी चलनेवाली पैरगाड़ी बनाई है। ऊपर जो चित्र दिया गया है वह पानी पर चलनेवाली पैरगाड़ी ही का है।

रबर के, ग्रथवा ऐसी वस्तु के जो पानी में न डूबती हो, तीन ढके हुए पोले तसले से बनाए जाते हैं। उनमें तीन नलियां लगा कर, ऊपर, एक स्थान पर, वे सब जोड़ दी जाती हैं। जोड़ के ऊपर बैठने के लिए एक बैठक बनाई जाती है। उसीपर बैठनेवाला बैठता है। बैठनेवाले के जूतों में कांटेदार रकाबें होती हैं; उनमें एक प्रकार के पंख पतवार से लटका दिए जाते हैं। बैठ कर पैर हिलाते ही गाड़ी पानी पर दैाड़ने लगती है। इस गाड़ी पर बैठ कर बहुधा लोग चिड़ियों का शिकार खेलते हैं। पानी पर चलनेवाली किसी किसी पैरगाड़ी में चक्के होते हैं। उन चक्कों में ग्रग्निबोट के ऐसे पतवार लगे रहते हैं। इस

प्रकार की गाड़ियाँ पानी पर और भी अधिक वेग से दौड़ती हैं। जलगामिनी पैरगाड़ियाँ अभी इस देश में नहीं दिखलाई पड़तीं। पृथ्वी पर चलनेवाली पैर गाड़ियों के समान कुछ दिन में, आशा है, वे भी यहां प्रचलित हो जावेंगी।

अमेरिका और जर्मनी, आज कल, कलाकौशल में, भूमण्डल के और और देशों से बहुत बढ़ रहे हैं। अमेरिका के विद्वान् जलगामिनी पैरगाड़ी ही बनाकर चुप नहीं रहे; उन्होंने तैरने का भी यन्त्र बनाया है। इस यन्त्र का चित्र यहां पर दिया जाता है।

इसका निर्म्माणकर्त्ता अमेरिका के अन्तर्गत अलबामा नगर का एक कारीगर है। इस यन्त्र में लम्बी लम्बी तीन छड़ें होती हैं। उन छड़ों पर, ऊपर की ओर, ढोलक के आकार की एक वस्तु लगी रहती है; तैरनेवाला, उसीपर, अपने शरीर का अगला भाग रख लेता है और सिर पानी के ऊपर उठाए रहता है। इस यन्त्र के आगे और पीछे दो पहिए रहते हैं। तैरनेवाला अगले पहिए को हाथों से और पिछले को पैरों से चलाता रहता है। तैरने वाले के पैरों के पीछे छाते के मुठिए के आकार के चार पँच से इकट्ठा लगे रहते हैं; वे पतवार का काम देते हैं। ढोलक के आकार की जो वस्तु है वह तैरनेवाले को ऊपर उठाए रहती है; तैरनेवाले का भार उसीपर रहता है; और अगले पिछले दोनों पहिए पतवार की सहायता से, आगे बढ़ते जाते हैं। इस यन्त्र पर तैरनेसे तैरनेवाला थकता नहीं और घण्टे में पाँच मील के हिसाब से तैर सकता है। जो मनुष्य अधिक सशक्त होते हैं और अधिक शीघ्रता के साथ पहियों को चला सकते हैं, वे एक घण्टे में पाँच मील से अधिक दूर तक तैरते हुए जा सकते हैं।

कामिनी-कौतूहल।

१—कुमारी यफ़० पी० कॉब।

इनका पूरा नाम फ़्रान्सिस पावर काब है। ये आजन्म कुमारी हैं। इन्होंने अपना विवाह नहीं किया। इनकी उमर इस समय ८० वर्ष की है। विद्या, दया, सुशीलता और समाज संशोधन में, इनके समान, इस समय, शायद ही कोई दूसरी स्त्री हो। बड़े बड़े विद्वान, विद्वानों और अधिक

अधिकारी और राजा महाराजा तक इनका आदर करते हैं।

कुमारी काब का जन्म आयरलैण्ड में डब्लिन के पास न्यूब्रिज नामक शहर में १८२९ ईसवी में हुआ। पहले ये अपने ही शहर की पाठशाला में पढ़ती रहीं। फिर इनके पिता ने इनको लण्डन भेज दिया। वहां ये १८३३ ईसवी में आईं और एक प्रसिद्ध पाठशाला में विद्याभ्यास करने लगीं। इनके पिता धनी थे। वे इनको लण्डन में कोई पाँच हज़ार रुपए साल पढ़ने के लिए देते थे। वहां भली भांति पढ़ लिख कर कुमारी काब अपने घर लौट आईं। घर पर इन्होंने इतिहास, ग्रीक भाषा और प्राचीन काव्यों को बहुत मन लगा कर पढ़ा। इससे इनको बड़ा लाभ हुआ। अनेक विषयों का ज्ञान इनको हो गया और इनकी मानसिक शक्तियां भी विकसित हो उठीं।

कुमारी काब पहले पहल धर्म्मिक विषयों की ओर अधिक मन लगाती थीं। कुछ दिन में उनको यह संशय हुआ कि ईश्वर है अथवा नहीं। परन्तु पीछे से उनका यह संशय जाता रहा। वे एकेश्वर-वादी हो गईं और अब तक वैसी ही बनी हैं।

जब इनके पिता का देहान्त हुआ तब इनकी उमर तीस वर्ष के ऊपर थी। पिता की सम्पत्ति से कोई दो हज़ार रुपए साल की प्राप्ति इनको थी। उसीपर अपना जीवननिर्वाह करके ये परोपकार में प्रवृत्त हुईं। पहले पहल इन्होंने विलायत के उन स्कूलों की सहायता की जिनको "रैगेड" स्कूल कहते हैं। इनमें ग़रीब आदमियों के लड़के पढ़ते हैं। काब ने इन स्कूलों में अनेक सुधार करके इनमें पढ़नेवाले लड़कों को बहुत लाभ पहुंचाया। इसके अनन्तर उन्होंने वहां के अनाथालयों की ओर दृष्टि दी। जो लोग काम करने में असमर्थ थे वे भी इन अनाथालयों में रक्खे जाते थे और जो काम कर सकते थे वे भी रक्खे जाते थे। जो लोग काम कर सकते थे उनसे काम भी लिया जाता था। यहां के अनाथ स्त्री, पुरुष और लँगड़े लूले मनुष्यों की बड़ी दुर्दशा होती थी। उस दुर्दशा को कुमारी काब ने दिन रात परिश्रम करके बहुत कुछ कम कर दिया। इस काम के लिए उन्होंने व्याख्यान दे कर, पुस्तकें लिख कर, अख़बारों में लेख लिख कर और चन्दा करके रुपया इकट्ठा किया। उस रुपये से इन्होंने इन अनाथालयों की दशा बहुत कुछ सुधारी।

ये काम करके कुमारी काब ने स्त्रियों की उन्नति के लिए प्रयत्न आरम्भ किया। पारलियामेंट में सभासद होनेवालों को जिस प्रकार पुरुष अपना मत देते हैं वैसा ही स्त्रियों को भी मत देने का अधिकार प्राप्त करने के लिए इन्होंने बहुत परिश्रम किया है। यद्यपि इस काम में अभी तक इनको सफलता नहीं हुई, तथापि ये निराश नहीं हुई हैं। इनका उद्योग, इस विषय में, बराबर जारी है। विलायत में जो लोग अपनी स्त्रियों को निर्दयता से मारते पीटते थे और उन्हें नाना प्रकार के दुःख देते थे, उनसे विवाह सम्बन्ध तोड़ने का अधिकार स्त्रियों को पहले न

था। इससे उन स्त्रियों की बड़ी दुर्दशा होती थी। परन्तु कुमारी काब के उद्योग से पारलियामेण्ट ने अब यह नियम कर दिया है कि ऐसी स्त्रियां अपने पतियों से अलग हो सकती हैं। अतएव हरसाल सैकड़ों सुशील स्त्रियां अपने मद्यप दुर्व्यसनी और दुष्ट पतियों के हाथ से छूट कर नीतिमार्ग का अवलम्बन करते हुए अपना समय बिताती हैं।

कुमारी काब का मत है कि गृहस्थाश्रम में पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियों की योग्यता अधिक है। घर को घर करना, अर्थात् उसे प्रेम, विश्राम और आनन्द का मन्दिर बनाना, स्त्रियों ही का काम है। पुरुष बड़ी बड़ी लड़ाइयों में वीरता दिखा सकते हैं; बड़े बड़े व्याख्यान दे सकते हैं; बड़े बड़े नगर और क़िले बना सकते हैं; परन्तु घर को सुख और समाधान का स्थान वे नहीं बना सकते। यह काम स्त्रियोंही का है। इन्होंने इस बात का भी पहले पहल उद्योग किया कि विश्वविद्यालय में स्त्रियों को भी सब प्रकार की उच्च शिक्षा दी जावे; और परीक्षाओं में पास होने पर, पुरुषों के से प्रशंसापत्र आदि भी उन्हें दिये जावें।

काब ने पशुओं को भी अपनी दया का अधिकारी बनाया है। जीवधारियों को सताना वे पाप समझती हैं। विज्ञान-सम्बन्धी परीक्षा करने के लिए भी पशुओं का मारा जाना उनको असह्य है। पशु हिंसा के प्रतिकूल उन्होंने बहुत प्रयत्न किया है। वे चाहती हैं कि जीवों का जीते ही छिन्न भिन्न होना एकदम बन्द हो जाय। इस एकही विषय पर उन्होंने अनेक निबन्ध और पुस्तकें लिखी हैं। इन सबकी गिनती २०० के लग भग है।

बड़े बड़े विद्वान् और अधिकारियों से इनका परिचय है। जान् स्टुअर्ट मिल, कार्लाइल, टेनिसन और डार्विन इत्यादि प्रख्यात पुरुष इनसे विशेष परिचित थे। लिखने और व्याख्यान देने में ये बड़ी पटु हैं। इन्होंने अपनी लेखनी के बल से कोई एक लाख रुपया पैदा किया है। इनकी दया, उदारता और देशसेवा पर मोहित होकर लिवरपूल की कुमारी एट्स नामक एक धनवती स्त्री ने, मरने के पहले, अपनी सारी सम्पत्ति इनको देदी। अपनी निज की पैदा की हुई तथा कुमारी एट्स की सम्पत्ति से इन्होंने स्त्रियों की उन्नति के सम्बन्ध में ऐसे ऐसे काम किये हैं जिनका विचार करके लोग सहस्रमुख से इनकी प्रशंसा करते हैं।

कुमारी काब ने छोटी बड़ी अनेक पुस्तकें लिखी हैं। विलायत में गवर्नमेण्ट का जो सबसे बड़ा पुस्तकालय है, उसके लम्बे चौड़े सूची पत्र का पन्ना का पन्ना इनकी पुस्तकों की नामावली से भरा हुआ है। योरप और अमेरिका के प्रायः सभी प्रसिद्ध पुरुष इनको जानते हैं। उन सबसे इनका पत्रव्यवहार रहता है। अकेले लार्ड शैफ्ट्सबरी के कोई तीन सौ पत्र इनके पास १० वर्ष में आये हैं।

४ दिसम्बर १९०२ को कुमारी काब की बरसगाँठ थी। ८० वर्ष की हो कर उस दिन उन्होंने ८१वें वर्ष में प्रवेश किया। इस अवसर पर योरप और अमेरिका के लोकमान्य पुरुषों ने मिल कर उनको एक अभिनन्दन-पत्र दिया। इस अभिनन्दन-पत्र पर हस्ताक्षर करनेवालों में से अमेरिका के भूत-पूर्व प्रसीडेण्ट—सभापति—क्लीवलैण्ड के समान बड़े बड़े प्रख्यात पुरुष हैं। इस पत्र में कुमारी काब के गुणों का वर्णन करके उनकी स्तुति की गई है; और सर्व-साधारण के लिये उन्होंने जो जो उपकार किये हैं, उनके लिये कृतज्ञता भी प्रकट की गई है।

कुमारी काब स्त्रियों में देवी के समान हैं। यद्यपि वे इस समय बहुत वृद्ध हैं, तथापि लोक के कल्याण के लिये वे अब तक प्रयत्न करती जाती हैं। इस अवस्था में भी वे अपना समय वृथा नहीं खोतीं।

२—गर्भ-सञ्चार।

स्त्रियों के शरीर में बादाम के आकार के दो अण्डाशय होते हैं। ये दोनों पिण्ड—अण्डाशय—पेट के नीचे के भाग में, गर्भाशय के दोनों ओर उससे बँधे रहते हैं। गर्भाशय और अण्डाशय

बीच, पेट के दोनों ओर, दो नलियां रहती हैं। इन्हीं नलियों के द्वारा अण्डाशय से बीजधारक पिण्ड गर्भाशय में प्रवेश करते हैं। इन अवयवों का स्पष्ट ज्ञान होने के लिए नीचे का चित्र देखिए—

इस चित्र में १ गर्भाशय है। २ जननेन्द्रिय है। ३ जननेन्द्रिय का भीतरी भाग है। ४ एक झिल्लीदार चौड़ी पट्टी अर्थात् बन्धन है; उसीके भीतर दाहिनी ओर का अण्डाशय छिपा है। ५ अण्डाशय है। ६ पिण्ड-वाहक नलियां हैं। ७ दोनों ओर एक एक बन्धन हैं जो गर्भाशय को थाँभे हुए है।

स्त्रियों के अण्डाशय में बीजरूपी अत्यन्त छोटे छोटे पिण्ड (अण्डे) होते हैं। ये इतने छोटे होते हैं कि सूक्ष्मदर्शक यन्त्र की सहायता के बिना नहीं दिखलाई देते। ये सजीव होते हैं; और परिपक्क होने पर, रजोदर्शन के लगभग—दो चार दिन इधर अथवा उधर—अपने स्थान अर्थात् अण्डाशय को छोड़ते हैं। उसे छोड़कर वे पिण्डवाहक नलियों के मुँह में प्रवेश करते हैं और धीरे धीरे गर्भाशय की ओर आने लगते हैं। परिपक्क होकर जब उनके निकलने का समय होता है तब यदि स्त्री-पुरुष का संयोग होगया और पुरुष के वीर्य में रहनेवाले एक प्रकार के सजीव, परन्तु अत्यन्त सूक्ष्म, जन्तुओं का, गर्भाशय में, या पिण्डवाहक नलियों में, या स्वयं अण्डाशय में उन बीजरूपी स्त्री के पिण्डों से मिलाप हो गया तो, और सब बातें अनुकूल होने पर, गर्भ-सञ्चार हो जाता है।

पुरुष के वीर्य में जो जीव अर्थात् सूक्ष्म कीटक होते हैं उनका आकार केंचुवे कासा होता है। वे लम्बे लम्बे पुच्छमय होते हैं। उनका सिर प्रायः गोल होता है। वे इतने छोटे होते हैं कि एक इञ्च में कोई ६०० आजाते हैं और सूक्ष्मदर्शक यन्त्र के बिना नहीं दिखाई देते। इन कीटकों का चित्र यहां पर देखिये—
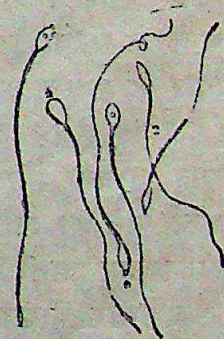
ये कीटक यदि वीर्य के साथ बाहर रक्खे जावें तो कोई २४ घण्टे तक जीवित रह सकते हैं;

परन्तु स्त्री की जननेन्द्रिय में सात आठ दिन तक सजीव बने रहते हैं। इनमें जल अथवा किसी खारी या खट्टी वस्तु का स्पर्श होने से ये तत्काल मर जाते हैं। ये कीटक ही मनुष्य की उत्पत्ति के प्रधान बीज हैं। यदि ये वीर्य से निकाल डाले जावें तो फिर गर्भ का सञ्चार नहीं हो सकता। यदि वीर्य शुद्ध हुआ तो वह यदि किसी नली के द्वारा भी गर्भाशय, अण्डाशय, अथवा पिण्डवाहक नलियों में पहुंचा दिया जाय और वहां यदि उससे स्त्री के पिण्ड–अण्डे–से संयोग हो जाय तो गर्भ-सञ्चार हो सकता है। ऐसी कृत्रिम रीति के व्यवहार करने के समय यदि स्त्री होश में भी न हो तो भी, और बातों के अनुकूल होने से, गर्भ-सञ्चार हो सकता है। यह बात डाकृरों ने अनुभव से सिद्ध की है। स्त्री का एक अण्डा और पुरुष का एक कीटक गर्भ-सञ्चार के लिए बस होते हैं। अर्थात् यदि दोहों का संयोग हुआ तो भी गर्भ धारण हो जाता है।
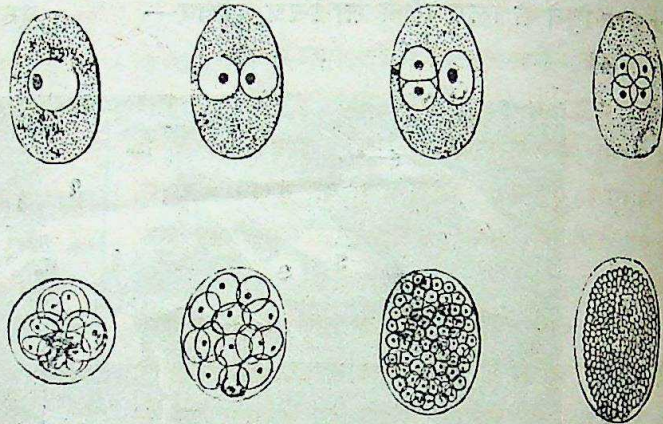
जब पुरुष के वीर्य के कीटकों का स्त्री के पिण्डाशय में उत्पन्न होनेवाले अण्डों से संयोग होता है तब उनको अनेकत्व प्राप्त हो जाता है, अर्थात् एक एक के वे अनेक हो जाते हैं। किस चमत्कारिक व्यापार के कारण उनमें यह अनेकत्व शक्ति आ जाती है, यह केवल ईश्वर ही जानता होगा! उसका भेद जानना मनुष्य की शक्ति के बाहर है। अनेकत्व पाने की शक्ति प्राप्त होते ही उन पिण्डों की संख्या बढ़ जाती है और क्रम क्रम से उन सबका रूपान्तर होकर त्वचा, इन्द्रिय, रक्तवाहिनी नाड़ी और मज्जातन्तु आदि उत्पन्न हो जाते हैं। अर्थात् रूपान्तर होते होते गर्भ की उत्पत्ति हो जाती है। गर्भाशय में मूल बीज को अनेकत्व प्राप्त करने की शक्ति आने पर उसकी जैसी वृद्धि होती है उसका अनुमान यहां पर दिये गये ८ चित्रों से कुछ कुछ हो सकैगा—

पुरुष के वीर्य में जो सजीव कीटक होते हैं वे उसमें सदैव ही पाये जाते हैं; परन्तु स्त्री के अण्डाशय में जो पिण्ड होते हैं वे कुछ ही दिन पहले उत्पन्न होकर रजोदर्शन के समय—दो चार दिन इधर अथवा उधर–परिपक्वता को पहुंचते हैं। जब वे पक जाते हैं तब पिण्डवाहक नलियों के मार्ग से वे गर्भाशय में आते हैं; और वहां से हर महीने जननेन्द्रिय द्वारा बाहर निकल जाते हैं। उनके बाहर आने के पहले यदि संयोग होता है तभी गर्भ-सञ्चार सम्भव है; अन्यथा नहीं।

स्त्री के पिण्ड और पुरुष के सजीव कीटकों का संयोग हो जाने पर भी कभी कभी गर्भ नहीं रहता। अशक्तता, प्रदर आदि रोग, मानसिक क्षोभ और शक्ति के बाहर काम काज आदि करने के कारण संयुक्त हुआ पिण्ड अपने स्थान को छोड़ कर बाहर आ जाता है; गर्भाशय में नहीं ठहरता। इसी लिए गर्भ-धारणा नहीं होती।

अनेक विद्वानों का मत है कि पुरुष की सहायता के बिना स्त्री के अण्डाशय में उत्पन्न होनेवाले पिण्डों में गर्भ उत्पन्न करने को शक्ति नहीं है।

परन्तु हमारे आयुर्वेद के आचार्य्यों में किसी किसी का मत है कि स्त्री के आर्तव—ऋतुकाल सम्बन्धी स्राव—से भी गर्भ रह सकता है और ऐसे गर्भ से बालक भी उत्पन्न हो सकता है। परन्तु ऐसा बालक बिना हड्डी का होता है और जी नहीं सकता। कुछ भी हो, ईश्वर का उद्देश्य स्त्री और पुरुष दोनों को मिलकर सन्तति उत्पन्न करने का है। अतएव दो का काम एक के द्वारा कदापि नहीं हो सकता; और यदि होगा भी तो बुरा अपूर्ण होगा।

विशुद्ध वीर्य और विशुद्ध आर्तव के संयोग से जो गर्भ रहता है उसी गर्भ से उत्पन्न हुई सन्तति पुष्ट, पूर्णाङ्ग और नीरोग होती है। दूषित होने से सन्तति विकृत और रोगी हो जाती है। लोक में यह देखते हैं कि जैसा बीज होता है वैसा ही पेड़ भी होता है। यदि बीज दूषित है तो पहले तो उसमें अंकुरही नहीं निकलता; और निकला भी तो छोटा और अशक्त निकलता है और बहुत दिन तक नहीं बचता। यही दशा मनुष्य के बीज की है। सन्तान का शरीर, मन, सौन्दर्य्य और परमायु आदि माता पिता की निरोगता पर अवलम्बित रहता है। माता पिता के स्वास्थ्य और उनकी मानसिक अवस्था का पूरा पूरा प्रभाव सन्तान पर पड़ता है। सन्तान का स्वास्थ्य और सद्गुण सब प्रकार उसके उत्पन्न करनेवालों ही के आधीन रहते हैं। अतएव यदि निरोग और बलवान सन्तान की इच्छा हो तो जिनका शुक्र और आर्तव दूषित हो उन्हें विवाह ही न करना चाहिए। जो माता पिता ईश्वर के नियमों का उल्लंघन करके अपने वीर्य और आर्तव को दूषित करते हैं वे पापभागी होते हैं और अपनी सन्तति के आपही शत्रु बनते हैं। कुष्ट और उपदंश आदि रोगों से पीड़ित मनुष्यों की सन्तति भी वैसीही होती है। अतएव वे अपने सन्तान के शत्रु नहीं हैं तो क्या हैं? किसी को यह अधिकार नहीं कि वह दूसरों को भी कोढ़ी बनावै! अबोध मनुष्य यह नहीं जानता कि दूषित वीर्य और आर्तव से सन्तान उत्पन्न कर के वह कैसा भयानक अत्याचार कर रहा है!

जो मनुष्य सब प्रकार स्वस्थ हैं उन्हींको सन्तान उत्पन्न करना चाहिए। गर्भ-संस्कार के समय भी खेद, शोक और मन की मलीनता आदि विकारों से दूर रहना चाहिए। गर्भ रह जाने पर गर्भवती की निरोगता पर भली भांति दृष्टि रखना चाहिए और उसे सब प्रकार प्रसन्न रखकर उसकी इच्छाओं को पूर्ण करना चाहिए। सन्तान निरोग और बलवान् होने के लिए यह सब अत्यन्त आवश्यक है।

पुस्तक-परीक्षा।

श्रीसीताराम-चरितायण—बाबू जयप्रकाशसिंह ने यह पुस्तक हमारे पास समालोचना के लिये भेजी है और यथार्थ गुणदोष दिखलाने के लिये आग्रह किया है। उनकी इच्छा को पूर्ण करने के लिये हम यहां पर कुछ लिखते हैं; अधिक लिखने के लिये स्थान नहीं है।

इस पुस्तक के कर्ता बाबू शीतलप्रशादसिंह गहरवार हैं। इसमें सीता और रामचन्द्र का चरित है। यह तुलसीकृत रामायण के ढंग का काव्य है। पुस्तक कोई ३५० पृष्ठ में समाप्त हुई है। "सीता-राम-चरितायण" का यह उत्तरकाण्ड है। पहले के ६ काण्डों का छपना "गुणग्राही सज्जन महाशयों की कृपा" पर छोड़ा गया है। इस प्रकार की पुस्तकों पर सर्व साधारण की श्रद्धा उत्पन्न होने के लिये प्रायः दो बातें हो आवश्यक होती हैं। एक तो यह कि इनका कर्ता प्रसिद्ध भक्त और तपस्वी हो; और दूसरी यह कि यदि वह भक्त अथवा तपस्वी न हो तो प्रसिद्ध विद्वान् हो। इन बातों में से, पुस्तक-कर्ता के सम्बन्ध में, पहली बात के विषय में हम कुछ नहीं जानते। रही दूसरी बात, सो उसका कुछ कुछ पता उनकी पुस्तक से मिलता है। इस पुस्तक में प्रत्येक सर्ग की समाप्ति संस्कृत में की गई है। यथा—

"इति श्रीसीतारामचरितायणे अद्भुतोत्तर काण्डे
गहरवार क्षत्रियवंशावतंस श्रीमन्नृपति
बिहारीसिंहात्मज शीतल सिंह
विरचिते प्रथमः सर्गः"।

इसकी रचना तो ठीक है; परन्तु शब्दों का विभाग ठीक नहीं हुआ। "गहरवार" से लेकर "विरचिते" तक एक समास है। उसे मिलाकर एकत्र रखना चाहिये था। परन्तु उसके आठ खण्ड हुये हैं। "अद्भुतोत्तर-काण्डे" में भी व्यर्थ छेद हुआ है; सन्धि के नियम का भी पालन नहीं किया गया। इस संस्कृतरचना को देखने से सूचित हुआ कि पुस्तककर्ता संस्कृतज्ञ हैं। परन्तु जब और बातों की ओर हम ध्यान देते हैं तब इस विषय में संशय उत्पन्न होता है। और बातें ये हैं, कि हमारी अल्पबुद्धि में इस पुस्तक का नामही ठीक नहीं। "श्रीसीतारामचरितायण" में णत्व का कोई कारण नहीं जान पड़ता। नारायण पारायण और चान्द्रायण आदि शब्दों में 'न' का 'ण' एक विशेष कारण से होता है। वह कारण यहां विद्यमान नहीं है। इस लिये हम नहीं कह सकते कि किस आधार पर बाबू शीतलप्रसादसिंह ने चरितायन का "चरितायण" कर दिया। फिर, नामनिर्देशपत्र (टाइटिल पेज) पर वाल्मीकि का बाल्मीक, अध्यात्म का अधयात्म, कृत्तिवास का कृतिवाश और जैमिनि का यैमिनि छपा है। ये शायद छापे की भूलें हों। परन्तु इतनी! "ग्रन्थ कर्ता" की जो डेढ़ पन्ने की गद्यात्मक प्रार्थना आरम्भ में है उसमें भी अनेक त्रुटियां हैं। पुस्तक में जहां कहीं त्रिभुवन शब्द आया है वहां वह "तृभुवन" लिखा गया है। 'देखो' इत्यादि शब्दों में 'ख' के स्थान में प्रायः सर्वत्र 'ष' रक्खा गया है। इन सब बातों का विचार करके नीचे दिये गये दोहे को पढ़िये—

समुझि सकल निगमागमन्हि, सद ग्रन्थन्हि सुपुरान।
दम्पति चरितायण कथा, शीतल कीन्ह बखान॥

स्मरण रखिए कि जिन निगमागमों के समक्ष कर यह पुस्तक लिखी गई है वे सब संस्कृत में हैं।

(१) निरषि कपिन्ह पराक्रम करत,
श्रुति शत मुख निशिचारि। (दोहा)

(२) ऋषि मुनि सहित पितृ गन सर्वा
(३) पितृ सहित जइहैं दिबि सोई } चौपाई

ये छन्द पढ़ते नहीं बनते। क्या छन्दोभङ्ग है! (२) और (३) में 'पितृ' को पुस्तककर्ता ने शायद 'पित्र' उच्चारण किया है।

इस पुस्तक में पुस्तककर्ता ने भाषा भी मनमानी लिखी है। जिस शब्द को जैसा चाहा वैसाही रूप उन्होंने दिया है। यथा—

(१) पुनै शुभै बैन कहे महाशये।
कहौ अवै तात निजै अनामये॥
रहै तुम्हारो प्रभु जो कृपा जहां।
सुखै सबै कोउ दुखै कहां तहां॥
(२) परस्परै अंक गहैं लगावैं।
हृदै परा प्रेम सुखै जगावैं॥
* * * * *
पुनै पुनै राम जनै सम्हारैं।
शिरै मुखै घ्राण करैं दुलारैं॥

इस पुस्तक के साथ बाबू जयप्रकाशसिंह का एक निवेदन छपा है। उसमें आप कहते हैं—

सबसे विशेषता इस ग्रन्थ में यह है कि श्रीमद्गोस्वामी तुलसीदास कृत रामायण की कथा से कोई भी कथा इस ग्रन्थ की नहीं मिलती। यह अपने रंग ढंग का एक अद्वितीय और स्वतन्त्र रामायण ग्रन्थ है।

यदि तुलसीदास के रामायण की कथा से इस पुस्तक की कथा मिलती तो क्या कोई कलंक की बात थी? कथा चाहे न मिले; परन्तु तुलसीदास के भाव कहीं कहीं अवश्य मिलते हैं। देखिये—

(१) चरितायण–गिरा अर्थ जल बीचि इव,
कुण्डल भुजग समान।

तुलसीदास–गिरा अर्थ जल बीचि सम,
कहियत भिन्न न भिन्न ।
(२) चरितायण–यह प्रण सत्य वचन मैं भाषौं ।
राम शपथ कछु बीच न राखौं ॥
तुलसीदास–कीन्ह प्रीति कछु बीच न राखा ।
लक्ष्मण राम चरित सब भाखा ॥

सच तो यह है कि तुलसीदास और कृत्तिवास के रामायण के रहते उस प्रकार की दूसरी पुस्तक बनाकर शायद ही किसीको सफलता हो। यों तो रामचरित के प्रमियों को सभी रामायण प्रिय हैं और आशा है रामचरितायण को भी वे आदर और प्रीतिपूर्वक पढ़ेंगे।

* *
*

कर्नल जेम्स टाड का जीवनचरित–जिसने राजस्थान पढ़ा है वह टाड साहब से भली भाँति परिचित होगा। यह पुस्तक लिखकर पण्डित गौरीशङ्कर हीराचन्द जी ने बहुत अच्छा काम किया है। टाड साहब का चरित बड़ाही मनोरञ्जक और उपदेशप्रद है। इस छोटी सी पुस्तक में चरित लेखक ने टाड साहब के चरित के सिवाय ठौर ठौर पर अनेक उपयोगी ऐतिहासिक टिप्पणियां भी दी हैं। भाषा और रचना आदि सभी बातें अच्छी हैं। छपाई भी बुरी नहीं है। इस पुस्तक से सूचित होता है कि पण्डित गौरीशङ्कर जी राजपूताने के इतिहास में विशेष विज्ञता रखते हैं। उनकी यह पुस्तक उत्तम और संग्रहणीय है।

* *
*

पाकप्रकाश–यह पुस्तक पाण्डेय रामशरणलाल की बनाई है और दूसरी बार इण्डियन प्रेस इलाहाबाद में छपी है। वहीं से =) में मिलती है। सरस्वती के पढ़नेवालों से इस प्रेस की छपाई इत्यादि की उत्तमता के विषय में कुछ कहने की आवश्यकता ही नहीं है। इसमें कोई पौने दो सौ प्रकार के खाद्य वस्तुओं के बनाने की रीति सरल भाषा में दी गई है। अनेक प्रकार की तरकारी, खटाई, मिठाई, चटनी, पक्वान्न आदि का इसमें वर्णन है। अन्त में खाने की वस्तुओं के गुणदोष भी हैं। पुस्तक काम की है। लड़कियों के लिये यह विशेष उपयोगी है। इसकी अगली आवृत्ति में यदि एक सूचीपत्र भी लगा दिया जाय तो और भी अच्छा हो।

* *
*

विनोद और आख्यायिका ।

असनी में अनेक कवि हुये हैं। उनमें से मानी भी एक कवि थे। इनको मरे कोई पन्द्रह बीस वर्ष हुए। ये बहुत जल्दी अल्पायु हो गये। इनकी विमाता (सौतेली मा) इनको बहुत तंग किया करती थी। एक दिन उससे पीड़ित होकर मानी कवि कन्धे पर लोटा-डोरी डाल विदेश जाने के लिए अपने घर से निकले। घर से निकलतेही उनको एक गली में गाँव का तेली मिला। यात्रा के समय तेली का मिलना अशुभ माना गया है। उसे देखकर मानी तो कुछ न बोले; परन्तु उस तेली से न रहा गया। उसने अपनी ग्रामीण भाषा में कहा—"मानी भाई! अब घरै लौटि चलौ"। इसे सुनकर मानी ने कहा—

"इक तेली कहा करिहै तिहि को
सौ तेली बसैं जेहि के घरमाहीं"।

और जहां जाने के लिये निकले थे वहां धड़ाके से चलेहो गये।

✲

एक स्वदेशी पण्डित और एक अँगरेज़ विद्वान् में परस्पर इस जगत् के विषय में बात चीत चली। पण्डित ने कहा कि यह जगत् अनेक आपदाओं का घर है; युद्ध, अकाल और प्लेग आदि से उजाड़ होता जाता है। प्रतिदिन मनुष्यों को नई नई विपत्तियों से सामना करना पड़ता है। इसमें अब रहना कण्टकमय हो गया है। यह सुनकर अँगरेज़ विद्वान् ने धीरे से कहा–Yes, you are right; the world is not worth living except after

11 P. M. in the night ! अर्थात् रात के ११ बजे के पहले यह संसार रहने के योग्य नहीं !

❋

सुनते हैं, कालिदास को जो समस्या दी जाती थी उसकी पूर्ति करने में वे सदा शृङ्गाररस ही का अवलम्बन करते थे। उनकी बुद्धि की परीक्षा करने के लिए, एक बार, सब पण्डितों ने उनको "अणोरणीयान्महतो महीयान्" यह वेदान्त सम्बन्धिनी समस्या दी। यह ईश्वर के विषय में है। इसका अर्थ है कि परमात्मा छोटे से भी छोटा और बड़े से भी बड़ा है। इसकी भी पूर्त्ति उन्होंने शृङ्गार रसात्मकही की। यथा—

यज्ञोपवीतं परमं पवित्रं
सखे गृहीत्वा शपथं करोमि।
योगे वियोगे दिवसोऽङ्गनाया
अणोरणीयान्महतो महीयान् ॥

अर्थात् हे मित्र ! मैं इस परम पवित्र यज्ञोपवीत को उठा कर शपथ पूर्वक कहता हूं कि संयोग में कामिनी का दिन "अणोरणीयान्" अर्थात् छोटे से भी छोटा, और वियोग में "महतो महीयान्" अर्थात् बड़े से भी बड़ा हो जाता है।

❋

एक धनी मनुष्य को ईश्वर पर विश्वास न था। एक बार एक विद्वान् पण्डित ने कागज़ के एक टुकड़े पर "ईश्वर" शब्द लिख कर उसे उसको दिखलाया और पूछा—"क्या आप इसे देख सकते हैं?" उत्तर मिला—"हां"। इस पर उस विद्वान् ने "ईश्वर" शब्द के ऊपर एक रुपया रखकर उसे ढक दिया और फिर पूछा—"क्या अब भी आप इसे देख सकते हैं ?" इस युक्ति का जैसा विलक्षण असर उस मनुष्य पर हुआ उसके कहने की आवश्यकता नहीं।

—

मनोरञ्जक श्लोक।

विदुषां वदनाद्वाचः सहसा यान्ति नो बहिः।
याताश्चेन्न पराञ्चन्ति द्विरदानां रदा इव ॥

विद्वानों के मुख से कोई बात सहसा बाहर नहीं निकलती; और यदि निकल गई तो हाथी के दांतों के समान फिर वह पीछे नहीं जाती। अर्थात् विद्वान् जो बात एक बार कह देते हैं उसे वे पूराही करके छोड़ते हैं।

❋

ईशे पदप्रणयभाजि मुहूर्तमात्रं
प्राणप्रियेऽपि कुरु मानिनि ! मा प्रसादम्।
जानातु मत्प्रभुरसौ पदयोर्नतानाम-
समत्दशामिव मनोरथभङ्गदुःखम् ॥

एक कवि पार्वती से कहता है—हे मानिनि ! तेरे प्राणप्रिय पति जब तुझे प्रसन्न करने के लिए तेरे पैरों पर अपना मस्तक रक्खें, तब ज़रा देर के लिये तू वैसाही कोप धारण किए रह। ऐसा करने से हमारे प्रभु को यह तो विदित हो जायगा कि हमारे समान भक्तजनों का मनोरथ भङ्ग होने से कितना दुःख होता है।

❋

हे हेमकार ! परदुःखविचारमूढ़ !
किं मां मुहुः क्षिपसि वारशतानि वन्हौ।
दग्धे पुनर्मयि भवन्ति गुणातिरेका
लाभः परं खलु मुखे तव भस्मपातः ॥

एक ग्रन्थकार, सोने को अन्योक्ति द्वारा, किसी अविवेकी समालोचक की निन्दा करता है—हे सुवर्णकार ! तुझे दूसरे के दुःख का निःसंशय कुछ भी विचार नहीं है। क्यों भला मुझे तू बार बार आग में डालता है ? तपाने से उलटा मेरे गुणों का विकाश होता है। परन्तु तुझे क्या लाभ होता है ? तेरे मुँह में केवल खाक़ जाती है।

❋

शूली जातः कदशनवशाद्भैक्ष्ययोगात्कपाली
वस्त्राभावाद्गगनवसनः स्नेहशून्याज्जटावान्।

इत्थं राजन् तव परिचयादीश्वरत्वं मयाप्तं
तस्मान्मह्यं किमिति कृपया नार्द्धचन्द्रं ददासि॥

एक कवि ने किसी राजा से अपनी दीनता वर्णन करके उससे सहायता माँगी। राजा ने उसे कुछ दिया तो नहीं; उलटा उसे गरदन में हाथ लगवाकर निकलवा दिया। इस पर वह कवि कहता है—"बुरा अन्न खाने से मैं शूली (शूलरोगी और त्रिशूलधारी) हो गया हूं; भिक्षा मांगने से कपाली (कपालधारी साधारण भिक्षुक और कपाली=शिव) हो गया हूं; पहनने के लिए वस्त्र न होने से दिगम्बर हो गया हूं; स्नेह (तेल) के न होने से जटाधारी हो गया हूं; इस प्रकार हे राजन्! तेरे परिचय से ईश्वरत्व (शिवत्व, शिवरूपता) पाने पर यदि तूने कृपापूर्वक मुझे अर्द्धचन्द्र (गलहस्त) दिया तो ठीकही किया। तेरे अर्द्धचन्द्रदान से अब मैं पूरा शिव हो गया!"

*

उडुराजमुखी मृगराजकटि-
गंजराजविराजितमन्दगतिः।
यदि सा वनिता हृदये निहिता
क जपः क तपः क समाधिगतिः॥

उडुराज (चन्द्रमा) के समान मुखवाली, मृगराज (सिंह) के समान कटिवाली और गजराज (हाथी) के समान गमनवाली रमणी को यदि हृदय में स्थान मिला तो कहां का जप, कहां का तप और कहां की समाधि!
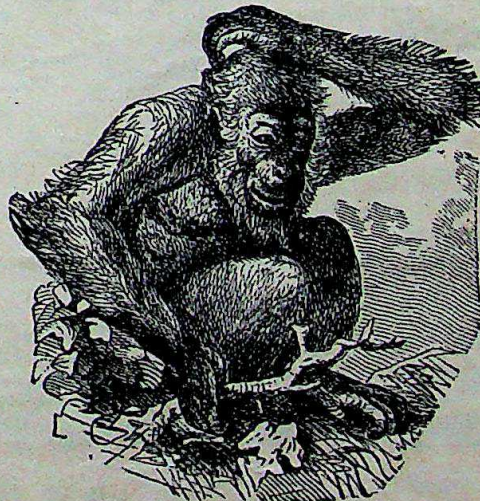
साहित्य-समाचार ।

काशी का साहित्य वृक्ष ।
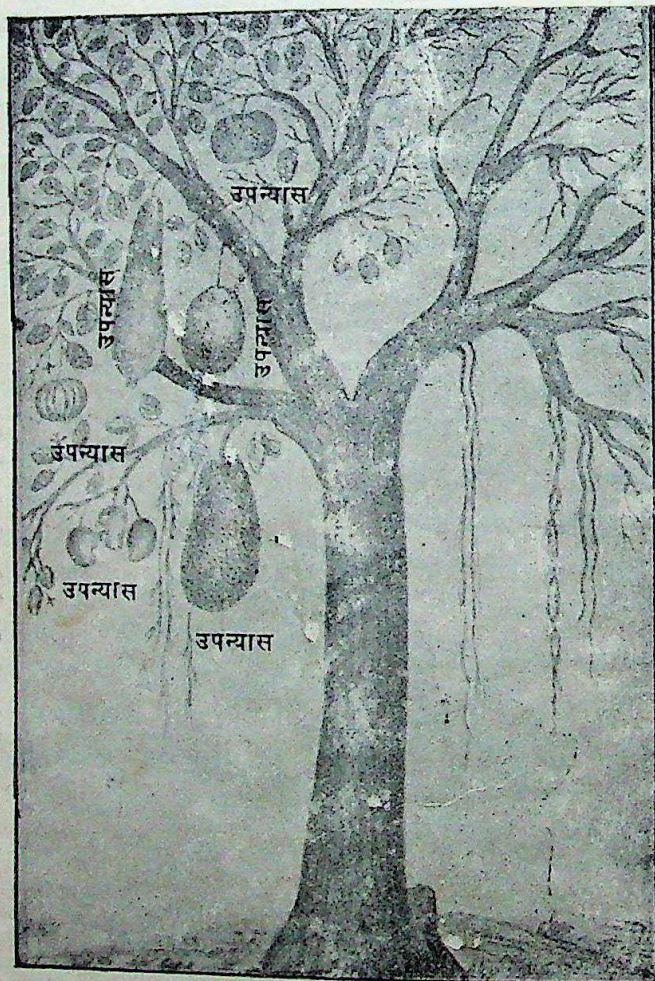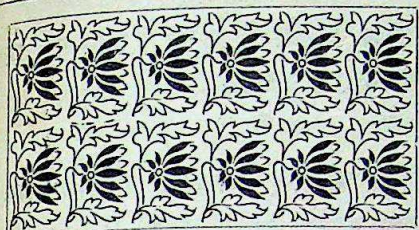
सरस्वती

सचित्र

मासिकपत्रिका
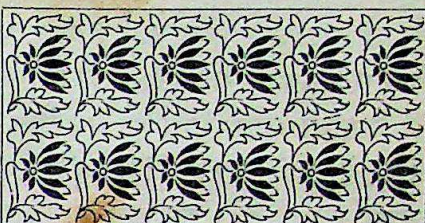
भाग ४] अगस्त १९०३ [संख्या ८

विविध विषय।

मुम्बई के वेंकटेश्वर प्रेस के स्वामी ने "विक्टोरिया का चरित्र" नामक पुस्तक हमारे पास समालोचना के लिये भेजी है। हिन्दी में अच्छी पुस्तकें प्रायः कम देखने में आती हैं; विशेष करके ऊट पटाँग और अनुपयोगी नाटक और उपन्यासही हिन्दी में अधिक निकलते हैं। विक्टोरिया का चरित्र ऐसा नहीं है। यह बहुत उपयोगी, मनोरञ्जक और प्रशंसनीय पुस्तक है। श्रीवेंकटेश्वरसमाचार के सम्पादक महता लज्जाराम जी ने इसे लिखा है। इसमें महारानी विक्टोरिया का विस्तृत चरित है। यह कोई सवा तीन सौ पृष्ठ की पुस्तक है। इसकी छपाई की, इसके रूपरंग की, इसके कागज़ की प्रशंसा हम यहाँ पर नहीं करते; क्योंकि इनकी उत्तमत्ता की गवाही वेंकटेश्वरसमाचार और वेंकटेश्वर प्रेस की छपी पुस्तकें बहुत दिन से दे रही हैं। हां, हम, यहां पर इसके चित्रों की प्रशंसा अवश्य करेंगे। इसमें महारानी और उनके कुटुम्ब आदि के सब मिलाकर २६ चित्र हैं। इन चित्रों को देखकर चित्त बहुत प्रसन्न होता है। इनके कारण पुस्तक की शोभा और उपयोगिता दूनी होगई है। वासन्तिक कुसुम आदि और कई पुस्तकें हिन्दी में हैं, जिनमें महारानी विक्टोरिया का जीवनचरित है; परन्तु पण्डित लज्जाराम जी का लिखा हुआ यह चरित उन सबसे अच्छा है। अनेक अँगरेज़ी पुस्तकों की सहायता से यह चरित लिखा गया है। इसके चार भाग हैं। पहले भाग में महारानी का जीवन-चरित है। दूसरे भाग में महारानी के राज्य की मुख्य मुख्य घटनाओं का वर्णन है। तीसरे भाग में उनके राज्य में जो जो उन्नतियां हुईं उनका वर्णन है। और चौथे भाग में राजराजेश्वर सप्तम यडवर्ड का चरित है। पुस्तक की भाषा, विषयों की विवेचना, लिखने की प्रणाली सभी प्रशंसनीय हैं। हिन्दी के साहित्य में यह एक रत्न है। हिन्दी से जिनको कुछ भी प्रेम है उनको इसे एक बार अवश्य पढ़ना चाहिए और इसकी एक एक प्रति अपने संग्रह में भी रखना चाहिए।

अमेरिका में एक वृक्ष है उसे जलवृक्ष कहना चाहिए। उसका वैज्ञानिक नाम निपेथीस दिस-तिला है। उसमें फल नहीं होते। परन्तु उसके पत्तों में एक प्रकार के लोटे से लटकते रहते हैं। इन लोटों में पानी भरा रहता है। यह पानी स्वच्छ और रुचिकर होता है। इन लोटों का मुँह एक पतले पत्ते से ढका रहता है। इस कारण यह पानी टपकने नहीं पाता। इस को प्रवासी बड़े प्रेम से पीते हैं।

***

फ़ोटोग्राफ़ी, अर्थात् चित्र-विद्या, की दिन दिन उन्नति होती जाती है। अमेरिका में फ़ाफ़ साहब ने रात को ग्रह और तारात्रों के प्रकाश से भी चित्र उतारने की युक्ति निकाली है। शुक्र के प्रकाश से उतारे गये कई चित्र अमेरिका के समाचार पत्रों में छपे भी हैं। इस प्रकार, रात को, चित्र उतर तो आते हैं; परन्तु उतरने में समय अधिक लगता है। कभी कभी ३६ मिनट तक लग जाते हैं।

***

भूमध्य-समुद्र में, एशिया माइनर के पास, एक छोटा सा द्वीप है। इस द्वीप में कोस नामक एक नगर है। इस नगर में, संसार में सबसे पुराना एक वृक्ष है। यह कोई २४०० वर्ष का पुराना है! इसके धड़ की परिधि ३० फुट है!!

***

आकाश से जो उल्कायें गिरती हैं वे एक प्रकार के पत्थर हैं। ऐसा एक सबसे बड़ा पत्थर ब्रेज़ील में मिला है। वह एक लम्बी चौड़ी पत्थर की चट्टान है। वह ८५ फुट लम्बी और ५५ फुट मोटी है।

***

अमेरिका में व्यवसायी स्त्रियों की संख्या, सब देशों की अपेक्षा, अधिक है और प्रतिदिन बढ़ती जाती है। इस समय वहां ४,५५५ स्त्रियाँ डाकृरी करती हैं; १,२३९ व्याख्यान देती हैं; ८८८ समाचारपत्र और सामयिक पुस्तकें लिखती हैं; २०८ विका-लत करती हैं; १२७ यञ्जीनियरी करती हैं; और ३३७ वैज्ञानिक कामों में लगी रहती हैं! इसीसे अमेरिका की इतनी उन्नति है।

***

बाबीलोन, अर्थात् बाबुल, प्राचीन समय में बहुत प्रसिद्ध राज्य था। कोई ४,३०० वर्ष हुए वहां हामुरअबी नामक राजा राज्य करता था। उसने ७ फुट ऊँची पत्थर की एक शिला पर राजनीति-सम्बन्धी कुछ नियम खुदवा कर गड़ा दिये थे। यह शिला सुसा नामक नगर के खँडहरों को खुदाते समय डी मोरगन नाम के फ़रासीसी विद्वान को मिली है। इसमें जो कुछ लिखा है उसका अनुवाद किया गया है। इसमें सब मिलाकर २८२ आज्ञायें किम्बा नियम हैं। योरप के विद्वानों का मत है कि ये नियम, संसार में, सबसे पुराने हैं। इन नियमों के कोई कोई दण्डविधान बड़े ही कड़े हैं। अपरा-धियों को जला देना; डुबा देना; उनके हाथ, नाक, कान और जीभ काट लेना; उनके लड़के लड़कियों को मार डालना और उनकी आँखें तक निकाल लेना इन दण्डों में शामिल है। शायद उस समय ऐसे कठोर दण्डों की आवश्यकता रही हो।

वङ्ग-कवि

माइकेल मधुसूदन दत्त।

[२]

मधुसूदन के कलकत्ते लौट आने पर थोड़े ही दिनों में उनको श्रीहर्षरचित रत्ना-वली नाटक का अँगरेज़ी अनुवाद करना पड़ा। उस समय कलकत्ते के सभ्यसमाज को पहले पहल नाटक देखने का चाव हुआ। इस लिए पाइक-पाड़ा के राजा प्रतापचन्द्रसिंह और ईश्वरचन्द्रसिंह ने बेलगाछिया में एक नाट्यशाला बनवाई। उस में खेलने के लिये इन दोनों राजाओं की आज्ञा से

पण्डित रामनारायण ने रत्नावली का बँगला अनुवाद किया; परन्तु यह समझकर कि बँगला में खेल होने से अँगरेज़ दर्शकों को बहुत ही कम आनन्द आवेगा, उन्होंने इस नाटक का अनुवाद अँगरेज़ीमें किये जाने की इच्छा प्रकट की। उस समय के सभ्य समाज में गौरदास बाबू भी थे। उनकी सलाह से यह काम मधुसूदन को दिया गया। मधुसूदन ने इस काम को बड़ी योग्यता से किया। थोड़े ही दिनों में उन्होंने रत्नावली का अँगरेज़ी अनुवाद समाप्त करके पूर्वोक्त राजयुग्म को दिखलाया। उन्होंने तथा महाराजा यतीन्द्रमोहन ठाकुर आदि और भी कृतविद्य लोगों ने उसे बहुत पसन्द किया। राजाओं ने उसे अपने व्यय से छपाया और मधुसूदन को उनके परिश्रम के बदले ५००) रुपए पुरस्कार दिया।

इस प्रकार सब तैयारी हो जाने पर १८५८ ई० को ३१ जुलाई को बेलगाछिया की नाट्यशाला में रत्नावली का खेल हुआ। खेल के समय और और धनी, मानी, अधिकारी और राजपुरुषों के सिवाय बँगाले के छोटे लाट भी उपस्थित थे। नाटक का अभिनय बहुतही उत्तम हुआ। वह इतना सुन्दर और हृदयग्राही हुआ कि उसका वर्णन नहीं हो सकता। उसे देखकर सब सामाजिक मोहित हो गए। तब से मधुसूदन की प्रतिष्ठा का कलकत्ते में सूत्रपात हुआ। वे प्रसिद्ध कवि और प्रसिद्ध नाटककार गिने जाने लगे।

एक बार मधुसूदन के मित्रों ने यह कहा कि बँगला में कोई समयानुकूल अच्छा नाटक नहीं है; यदि होता तो रत्नावली के खेलने की आवश्यकता न थी। इस पर मधुसूदन ने एक बँगला नाटक लिखने की इच्छा प्रदर्शित की, जिसे सुनकर सबको आश्चर्य्य और कुतूहल, दोनों, हुए। यह वे जानते थे कि बँगला में एक पत्र लिखते जिसका सिर दर्द करने लगता था वह कहाँ तक बँगला नाटक लिखने में समर्थ होगा! परन्तु, उस समय, उन्होंने इतनाही कहा कि "प्रयत्न कीजिए"। मधुसूदन ने जान लिया कि उनके मित्रों को इस बात का विश्वास नहीं है, कि वे बँगला में नाटक लिख सकेंगे। अतएव उनके संशय को निवृत्त करने के लिए वे चुपचाप "शर्म्मिष्ठा नाटक" नाम की एक पुस्तक लिखने लगे। इस पुस्तक को उन्होंने थोड़े ही दिनों में समाप्त करके अपने मित्रों को दिखलाया। उसे देखकर सब चकित हो गये। जो मधुसूदन 'पृथ्वी' को प्र-थि-वी लिखते थे, उनके इस रचना-कौशल को देखकर सबने दाँतों के नीचे उँगली दबाई। "शर्म्मिष्ठा नाटक" में पण्डित रामनारायण इत्यादि प्राचीन-नाटक-प्रणाली के अनुयायियों ने अनेक दोष दिखलाये। उन्होंने उसे नाटक ही में नहीं गिना। परन्तु नवीन प्रथावालों ने उसे बहुत पसन्द किया। पाइकपाड़ा के राजयुग्म और महाराजा यतीन्द्रमोहन ने उसे अभिनय के बहुतही योग्य समझा। महाराजा यतीन्द्रमोहन ने तो, उसमें अभिनय के समय, गाने के लिए कई गीत स्वयं बनाये। पाइकपाड़ा के दोनो राजपुरुषों ने इसे भी अपने व्यय से छपाया और इस बार भी उन्होंने मधुसूदन को योग्य पुरस्कार दिया। १८५८ ईसवी में शर्म्मिष्ठा नाटक प्रकाशित हुआ और १८५९ के सेप्टेम्बर में वह बेलगाछिया नाट्यशाला में खेला गया। इसका भी अभिनय देखकर दर्शकवृन्द मोहित हुए और उन्होंने मधुसूदन की सहस्रमुख से प्रशंसा की।

मधुसूदन की शर्म्मिष्ठा पण्डित रामनारायण के पास समालोचना के लिए भेजी गई थी। रामनारायण ने उसमें बहुत कुछ फेरफार करना चाहा। इस विषय में मधुसूदन, गौरदास बाबू को लिखते हैं—

I have no objection to allow a few alterations and so forth, but recast all my sentences—the Devil! I would sooner burn the thing.

"यदि दो चार फेरफार किये जावें तो कोई चिन्ता नहीं; परन्तु, हमारे सभी वाक्यों को नये सिरे से लिखना! कदापि नहीं; ऐसा होने देने की अपेक्षा हम उसे जला देना ही अच्छा समझते हैं"। मधुसूदन के समान उद्दण्ड और स्वतन्त्र स्वभाववाले

को दूसरे की की हुई काटकूट भला कब पसन्द आने लगी !

मधुसूदन का दूसरा नाटक "पद्मावती" है। यह नाटक उन्होंने ग्रीक लोगों के पौराणिक इतिहास के आधार पर लिखा है। घटना-वैचित्र्य में शर्मिष्ठा की अपेक्षा पद्मावती श्रेष्ठ है; परन्तु नाटकीय-चरित्र-चित्रण-सम्बन्ध में शर्मिष्ठा की अपेक्षा इसमें मधुसूदन अधिकतर निपुणता दिखलाने में कृतकार्य नहीं हुए। पद्मावतीही में पहले पहल उन्होंने अमित्राक्षर छन्दों का प्रयोग किया।

पाइकपाड़ा के राजा प्रतापचन्द्र और ईश्वरचन्द्र जिस प्रकार मधुसूदन के गुणों पर मोहित थे, उसी प्रकार महाराजा यतीन्द्रमोहन ठाकुर भी मोहित थे। इन तीनों सत्पुरुषों ने मधुसूदन को अनेक प्रकार से सहाय और उत्साह दिया। एक दिन महाराजा यतीन्द्रमोहन और मधुसूदन में, परस्पर, इस प्रकार साहित्य-सम्बन्धी बात चीत हुई—

मधुसूदन—जब तक बँगला में अमित्राक्षर छन्दों का प्रयोग न होगा, तब तक काव्य और नाटक ग्रन्थों की विशेष उन्नति न होगी।

महाराजा—बँगला की जैसी अवस्था है उसे देखने से उसमें ऐसे छन्दों के होने की बहुत कम सम्भावना है।

मधुसूदन—हमारा मत आपके मत से नहीं मिलता। चेष्टा करने से हमारी भाषा में भी अमित्राक्षर छन्दें लाई जा सकती हैं।

महाराजा—फ्रेञ्च भाषा बँगला की अपेक्षा अधिक उन्नत है; उसमें भी जब ऐसे छन्द नहीं हैं तब बँगला में उनका होना प्रायः असम्भव है।

मधुसूदन—यह सत्य है; परन्तु बँगला भाषा संस्कृत से उत्पन्न हुई है; संस्कृत में जब अमित्राक्षर छन्द हैं, तब वे बँगला में भी हो सकते हैं।

इस प्रकार कुछ देर तक वाद प्रतिवाद हुआ। अन्त में मधुसूदन ने कहा—"यदि हम स्वयं एक ग्रन्थ अमित्रच्छन्दों में लिखकर आपको बतलावें तो आप क्या करेंगे ?" इस पर महाराजा ने उत्तर दिया—"यदि ऐसा होगा तो हम पराजय स्वीकार करेंगे और अमित्राक्षर छन्दों में रचित आपके ग्रन्थ को हम अपने व्यय से छपवावेंगे"। यह बात मधुसूदन ने स्वीकार की और वे अपने घर आये।

मधुसूदन ने अपने पद्मावती नाटक में ऐसे छन्दों का व्यवहार किया ही था। अब वे एक स्वतन्त्र ग्रन्थ ऐसे छन्दों में, लिखने लगे। इसका नाम उन्होंने "तिलोत्तमासम्भव काव्य" रक्खा। थोड़े ही दिनों में मधुसूदन ने इसे समाप्त करके महाराजा यतीन्द्रमोहन ठाकुर, डाकृर राजेन्द्रलाल मित्र और बाबू राजनारायण बसु आदि को दिखलाया। देखते ही सब लोग चकित हो गए; मधुसूदन को सहर्ष धन्यवाद देने लगे; और सबने एक वाक्य से स्वीकार किया कि इस काव्य में अमित्राक्षर छन्दों की योजना करके मधुसूदन पूर्ण रीति से कृतकार्य हुए हैं। महाराजा यतीन्द्रमोहन ने अपने वचन का पालन किया और १८६० ईसवी के मे महीने में उन्होंने तिलोत्तमासम्भव को अपने व्यय से प्रकाशित कराया। इस काव्य को मधुसूदन ने महाराजा यतीन्द्रमोहन ही को अर्पण किया। अर्पण करने के समय का एक फोटो (चित्र) भी लिया गया। मधुसूदन के हाथ का लिखा हुआ यह काव्य अब तक महाराजा के पुस्तकालय में सुरक्षित है। इसी समय से, मधुसूदन के द्वारा, बँगला में एक नवीन छन्द का प्रचार हुआ। इसी समय से बँगला भाषा का कवितास्रोत एक नवीन मार्ग से प्रवाहित होने लगा।

तिलोत्तमासम्भव काव्य सुन्द उपसुन्द के पौराणिक आख्यान का अवलम्बन करके रचा गया है। इसके कुछ अंश का अनुवाद मधुसूदन ने अँगरेज़ी में भी किया है। किसी नई बात के होते देख लोग प्रायः कुचेष्टायें करने लगते हैं और भाँति भाँति से भली बुरी उक्तियों के द्वारा अपने मन की मलीनता प्रकट करते हैं। मधुसूदन भी इससे नहीं बचे। अमित्राक्षर छन्दोबद्ध तिलोत्तमासम्भव के प्रकाशित होने पर उनको अनेक कटूक्तियाँ

पती पड़ीं। लोगों ने उनपर हास्यरसमयी कवितायें बनाईं। परन्तु मधुसूदन ने इन नीच अन्तःकरणवालों की ओर भ्रूक्षेप तक नहीं किया। उनके काव्य की डाकृर राजेन्द्रलाल मित्र और बाबू राजनारायण वसु आदि ने बहुत प्रशंसा की जिसे पढ़कर अनेक रसिक जनों का चित्त उसकी ओर आकृष्ट हो गया।

शर्म्मिष्ठा नाटक की रचना के अनन्तर और तिलोत्तमासम्भव के प्रकाशित होने के पहले मधुसूदन ने दो प्रहसन भी लिखे। इनकी रचना उन्होंने १८५९ और १८६० ईसवी में की। इन प्रहसनों में एक का नाम "एकेई कि बलें सभ्यता"—(क्या इसीको सभ्यता कहते हैं?) और दूसरे का "बूड़ शालिकेर घाड़े रोंया" (बुड्ढे शालिक* पक्षी की गरदन में रोयें) है। पहले में एक धनी वैष्णव के अँगरेज़ी-शिक्षित पुत्र की उपहासास्पद सभ्यता का वर्णन है; और दूसरे में भक्तप्रसाद नामक एक तिलक और मालाधारी वृद्ध वक-धार्म्मिक का एक मुसल्मान तरुणी पर अनुराग और तज्जनित उसका उपहास वर्णन किया गया है।

इन दोनों प्रहसनों का अनुवाद हिन्दी में होगया है। मधुसूदन के दो नाटकों का भी अनुवाद हिन्दी में हुआ है। उनकी और पुस्तकों का भी चाहै अनुवाद हुआ हो; परन्तु हमने इतनेहीं को देखा है। जिन नाटकों का अनुवाद हमने देखा है उनके नाम हैं "कृष्णकुमारी" और "पद्मावती"। कृष्णकुमारी के विषय में हम आगे चल कर कुछ और कहेंगे। पद्मावती का उल्लेख पहलेही हो चुका है। इन नाटक और प्रहसनों के अनुवाद बनारस के भारतजीवन प्रेस में छपे हैं। कृष्णकुमारी के अनुवादक ने पुस्तक के नाम-निर्देशपत्र (Title Page) पर मधुसूदन का नाम नहीं दिया; केवल इतनाही लिखा है कि "वङ्गभाषा से शुद्ध आर्य्यभाषा में अनुवाद"। परन्तु, भीतर, भूमिका और नाटक की प्रस्तावना में, मधुसूदन का नाम उन्होंने दिया है।

* शालिक = गलगल, गलगलिया, गलार।

पद्मावती नाटक के अनुवादक वही हैं जो कृष्णकुमारी के हैं; परन्तु पद्मावती की प्रस्तावना में मधुसूदन का नाम उन्होंने नहीं लिखा और न टाइटिल पेजही पर लिखा। टाइटिल पेज पर वही पूर्वोक्त वाक्य हैं—"वङ्ग भाषा से शुद्ध आर्य्य भाषा में अनुवाद"। यह नाटकों के अनुवाद की बात हुई।

"क्या इसी को सभ्यता कहते हैं?" इस नाम के प्रहसन में भी पद्मावती नाटक के समान मधुसूदन का कहीं भी नाम नहीं है। उसके नाम-निर्देशपत्र पर अनुवादक महाशय ने, केवल "वङ्गभाषा से अनुवाद किया" इतनाही लिखा है। पात्रों के नाम जो मूल बँगला पुस्तक में हैं वही उन्होंने अनुवाद में भी रक्खे हैं। "बुड्ढे शालिक की गरदन में रोयें" नामक प्रहसन के अनुवाद में विशेषता है। उसका नाम रक्खा गया है "बूढ़े मुँह मुँहासे लोग देखैं तमासे"। इस अनुवाद में न कहीं मधुसूदन ही का नाम है, और न कहीं यही लिखा है, कि वह बँगला से अनुवादित हुआ है। नामनिर्देशपत्र पर उलटा यह लिखा है कि, अमुक अमुक की "हास्यमयी लेखनी से लिखित"। इसमें मूल पुस्तक के पात्रों के नाम भी बदल दिये गये हैं। भक्तप्रसाद के स्थान में नारायणदास; हनीफ़ गाज़ी के स्थान में मौला; गदाधर के स्थान में कलुआ आदि इस प्रान्त के अनुकूल नाम रक्खे गये हैं। जान पड़ता है, ये सब बातें भूल से अथवा भ्रम से हुई हैं; क्योंकि, जिनको सब लोग हिन्दी लेखकों में आचार्य्य समझते हैं; और दूसरों को धर्म्मोपदेश देना ही जिनके घर का बनिज है; वे जान बूझ कर दूसरे की वस्तु को कदापि अपनी न कहेंगे।

१८६१ ईसवी के लगभग मधुसूदन ने चार ग्रन्थ लिखे। मेघनादवध, कृष्णकुमारी, व्रजाङ्गना और वीराङ्गना। इस समय मधुसूदन की प्रतिभा का पूर्ण विकाश समझना चाहिए। भाषा का लालित्य, भाव का उत्कर्ष और गाम्भीर्य्य तथा ग्रन्थगत चरित्र-समूह की पूर्णता आदि गुणों का विचार करने पर यही कहना पड़ता है कि मधुसूदन के लिखे

हुए इसी समय के ग्रन्थ उनकी ग्रन्थावली में सब से श्रेष्ठ हैं। व्रजाङ्गना, कृष्णकुमारी ग्रैार मेघनादवध, ये तीनों ग्रन्थ मधुसूदन ने प्रायः एकही साथ ग्रारम्भ किये ग्रैार प्रायः एकही साथ समाप्त भी किये।

मधुसूदन के ग्रन्थों में मेघनादवध सबसे श्रेष्ठ है। यह काव्य रामायण की पौराणिक कथा के ग्राधार पर लिखा गया है। इसमें वीरकेशरी मेघनाद की मृत्यु का प्रतिपादन हुग्रा है। इस काव्य के राक्षस प्राचीन राक्षसों के से नहीं हैं। वे हमारेही समान मनुष्य हैं। भेद इतनाहीं है कि मनुष्यों की ग्रपेक्षा वीरत्व, गैारव, ऐश्वर्य्य ग्रैार शारीरिक बल ग्रादि में वे कुछ ग्रधिक हैं। मेघनादवध के कपि भी लम्बी लम्बी पूँछ ग्रैार बड़े बड़े बालोंवाले पशु नहीं हैं; वे भी साधारण मनुष्य ही हैं। राम ग्रैार सीता भी ईश्वरावतार नहीं माने गये; वे भी साधारण नर-नारी-गण के समान सुख-दुःख-भागी ग्रैार कर्म्मानुसार फल के भोग करनेवाले कल्पित किये गये हैं। उनमें ग्रैार मनुष्य में इतनाहीं ग्रन्तर रक्खा गया है कि वे ग्रपने तपोबल से देवताग्रों को प्रत्यक्ष कर सकते थे।

मेघनादवध में मधुसूदन ने ग्रपनी कविता-शक्ति की चरम-सीमा दिखलाई है। इसमें उन्होंने ग्रमित्राक्षर छन्दों की योजना की है। इस काव्य में सब ९ सर्ग हैं; ग्रैार उनमें तीन दिन दो रात की घटनाग्रों का वर्णन है। यह वीररसप्रधान काव्य है। इसकी कविता में कहीं कहीं वीररस का इतना उत्कर्ष हुग्रा है कि पढ़ते पढ़ते भीरुग्रों के भी मन में उस रस का सञ्चार हो ग्राता है। ऐसी विलक्षण रचना, ऐसा उद्धत भाव, ऐसा रस-परिपाक शायद ही ग्रैार किसी ग्रर्वाचीन काव्य में हो। इस काव्य में मेघनाद की पत्नी प्रमिला का चरित बड़ा ही मनोहर है। मधुसूदन के कल्पनाकानन का वह सर्वोत्कृष्ट कुसुम है। प्रमिला की कुलवधूचित कोमलता; पति के लिए उसका ग्रात्मत्याग ग्रैार वीरनारी को शोभा देनेवाला उसका शैार्य्य ग्रप्रतिम रीति से चित्रित किया गया है। इस काव्य के नवम सर्ग में मधुसूदन ने करुण रस की भी पराकाष्ठा दिखाई है। जिस प्रकार उनके वीर-रसात्मक वर्णन में पढ़ते समय पढ़नेवाले की भुजा फड़कने लगती है, उसी प्रकार उनकी करुण-रसात्मक उक्तियों को पढ़ते समय ग्राँसू निकलने लगते हैं। ग्रशोक-वनमें बैठी हुई मूर्तिमती विरह-व्यथा-रूपिणी जानकी का ग्रैार श्मशान-शय्या के ऊपर स्वामी के पैरों के पास बैठी हुई नवीन विधवा प्रमिला का चित्र देख कर कैान ऐसा पाषाण-हृदय है जिसके नेत्रों से ग्रश्रुधारा न निकलने लगै। बाबू रमेशचन्द्र दत्त ने इस काव्य के सम्बन्ध में मधुसूदन की जो प्रशंसा की है वह यथार्थ है। वे कहते हैं—

The reader who can feel and appreciate the sublime, w[ill] rise from a study of this great work with mixed sensation[s of] veneration and awe, with which few poets can inspire h[im] and will candidly pronounce the bold auther to be indeed [a] genius of a very high order, second only to the highest a[nd] greatest that have ever lived, like Vyas, Valmiki or Kalid[as,] Homer, Dante or Shakespeare. —*Literature of Bengal, page* 1[..]

रमेश बाबू कहते हैं कि स्वदेशियों में व्यास, वाल्मीकि ग्रथवा कालिदास ग्रैार विदेशियों में होमर, दान्ते ग्रथवा शेक्सपियर ही के समान विख्यात ग्रन्थकारों का स्थान मधुसूदन से ऊंचा है, ग्रर्थात् ग्रैार कवि उनकी बराबरी नहीं कर सकते; सब उनके नीचे हैं। उचित था कि हम, यहां पर, मेघनादवध के दो चार उत्तमोत्तम स्थलों की कविता के नमूने उद्धृत करते; परन्तु ऐसा करना प्रायः निष्फल होगा; क्योंकि सरस्वती के ग्राहकों में ग्रँगरेज़ी जाननेवाले तो बहुत होंगे परन्तु बँगला जाननेवाले बहुत हीकम होंगे। इसीलिए हमने ऐसा नहीं किया।

संसार का नियम है कि प्रायः कोई वस्तु निर्दोष नहीं होती। सबमें कोई न कोई दोष होता ही है। कालिदास ने कुमारसम्भव में ठीक कहा है—

प्रायेण सामग्र्यविधौ गुणानां
पराङ्मुखी विश्वसृजः प्रवृत्तिः।

ग्रर्थात्—सम्पूर्णता गुणों की प्रायः कहीं न पायी जाती है।

मेघनादवध भी निर्दोष नहीं है। उसमें यह …ा है कि रामचन्द्र और लक्ष्मण के चरित की अपेक्षा मेघनाद के चरित का अधिक उत्कर्ष वर्णन किया गया है। राम और लक्ष्मण के कथन और कार्य में कहीं कहीं भीरुता तक का उदाहरण पाया जाता है। मधुसूदन ने आर्य्यवंशियों की अपेक्षा अनार्य्य राक्षसों का कई स्थलों में पक्षपात किया है; उनके साथ उन्होंने अधिक सहानुभूति दिखलाई है। सम्भव है, आज कल के समय का विचार करके, उन्होंने बुद्धिपुरःसर ऐसा किया हो।

प्रकाशित होते ही मेघनादवध का बङ्गदेश में बड़ा आदर हुआ। बाबू कालीप्रसन्नसिंह, राजा प्रतापचन्द्र, राजा ईश्वरचन्द्र, राजा दिगम्बर मित्र, महाराजा यतीन्द्रमोहन आदि ने मिल कर मधुसूदन का अभिनन्दन करने के लिए उनको अभ्यर्थना की। नियत समय पर एक सभा हुई जिसमें मधुसूदन को एक अभिनन्दन पत्र और एक चाँदी का मूल्यवान् पात्र उपहार दिया गया। अभी तक मधुसूदन का प्रकाश्य रूप में सम्मान नहीं हुआ था; परन्तु आज वह भी उन्हें प्राप्त हुआ।

मेघनादवध की पहली आवृत्ति एकही वर्ष में बिक गई। उसे लोगों ने इतना पसन्द किया कि शीघ्रही उसकी दूसरी आवृत्ति निकालनी पड़ी। इस आवृत्ति में, कविवर बाबू हेमचन्द्र वन्द्योपाध्याय ने एक सुदीर्घ समालोचना लिखकर, ग्रन्थ के साथ प्रकाशित की। उसके अतिरिक्त बाबू राजनारायण वसु और डाक्टर राजेन्द्रलाल मित्र आदि ने उसकी समालोचना समाचारपत्रों में प्रकाशित कर के मधुसूदन का बहुत कुछ गौरव किया। इसलिये मधुसूदन, उस समय से, बँगला के परम प्रतिष्ठित कवि हुए।

मधुसूदन का व्रजाङ्गना-काव्य शृङ्गार-रस-प्रधान है। उसमें १८ कवितायें हैं। इन कविताओं में प्रायः राधिका का विरहवर्णन है। कृष्णकुमारी नाटक की कथा मधुसूदन ने टाड साहब के राजस्थान से ली है। इस नाटक में कवि की शोकोद्दीपक शक्ति का अच्छा परिचय मिलता है। यह बँगला भाषा में पहला विषादान्त नाटक है। संस्कृत के नाट्याचार्यों ने इस प्रकार के नाटक की रचना का निषेध किया है। परन्तु मधुसूदन किसी विधि-निषेध के अनुसार चलनेवाले कवि न थे। और, कोई कारण भी नहीं कि विषादान्त नाटक क्यों न हों? यदि प्रकृति-विशेष का चित्र दिखलाना ही नाटक का मुख्य उद्देश्य है तो उसका अन्त सुख में भी हो सकता है और दुःख में भी। बुरी प्रकृतिवालों को अन्त में अवश्यही दुःख मिलता है। अतएव नाटकों की रचना विषादान्त भी हो सकती है।

मदरास से कलकत्ते लौट आने पर मधुसूदन पुलिस की कचेहरी में एक पद पर नियुक्त हो गये थे। वहीं वे अब तक बराबर काम करते थे। उनके परिवार में कोई लिखने योग्य घटना नहीं हुई। उनकी दूसरी स्त्री से उनको एक पुत्र था और एक कन्या। राजकार्य्य से, पुस्तकों की प्राप्ति से, और उनकी पैत्रिक सम्पत्ति से जो कुछ अर्थागम होता था उससे, एक मध्यवित्त गृहस्थ के समान, उनके दिन व्यतीत होते थे। इस समय वे बँगला भाषा के अद्वितीय लेखक समझे जाते थे। यद्यपि पारिवारिक जीवन सुख से बिताने के लिए उनको किसी बात का अभाव न था; परन्तु तिसपर भी, अभाग्यवश, वे सुखी न थे। सुख, सांसारिक सामग्री पर अवलम्बित नहीं रहता। वह मन और आत्मसंयम ही पर विशेष करके अवलम्बित रहता है; परन्तु मन को संयत करना—उसे अपने आधीन रखना—मधुसूदन जानते ही न थे। अतएव मन की उच्छृङ्खलता के कारण धन, जन और यश इत्यादि किसी बात ने उनको आनन्दित नहीं किया। उनका जीवन अशान्ति ही में बीतता रहा। उनकी "आत्म-विलाप" नामक कविता इस बात की गवाही देती है कि उनका जीवन गम्भीर यन्त्रणाओं में पड़ कर चक्कर खाता रहता था। ग्रन्थरचना में लगे रहने से मधुसूदन को उनकी मर्म-कृन्तक व्यथायें कम सताती थीं।

"वीराङ्गना" काव्य को यद्यपि मधुसूदन ने मेघनादवध इत्यादि पहले के तीन ग्रन्थों के साथही लिखना आरम्भ किया था; परन्तु उसकी समाप्ति उन्होंने १८६२ ईसवी में की। "वीराङ्गना" गीति-काव्य है। प्रसिद्ध रोमन कवि ओविद (Ovid) रचित वीरपत्रावली (Heroic Epistles) को आदर्श मानकर मधुसूदन ने यह काव्य लिखा है। इसमें प्रसिद्ध पौराणिक महिलाओं के पत्र हैं; अर्थात् यह पुस्तक मधुसूदन की पत्राकार काव्य रचना है। इसमें इतने पत्र अथवा विषय हैं—

१–दुष्यन्त के प्रति शकुन्तला।
२–चन्द्र के प्रति तारा।
३–कृष्ण के प्रति रुक्मिणी।
४–दशरथ के प्रति कैकेयी।
५–लक्ष्मण के प्रति शूर्पनखा।
६–अर्जुन के प्रति द्रौपदी।
७–दुर्योधन के प्रति भानुमती।
८–जयद्रथ के प्रति दुःशला।
९–शन्तनु के प्रति जान्हवी।
१०–पुरुरवा के प्रति उर्वशी।
११–नीलध्वज के प्रति जना।

यही इस काव्य के ११ सर्ग हैं। इनमें से कोई सर्ग प्रेमपत्रिकामय है; कोई प्रत्याख्यान-पत्रिकामय है; कोई स्मरणार्थपत्रिकामय है; और कोई अनुयोगपत्रिकामय है। इस पुस्तक में तारा और शूर्पनखा आदि की प्रेम-भिक्षा जैसी हृदयद्रावक है, जान्हवी की प्रत्याख्यानपत्रिका भी वैसी ही कठोर है। "वीराङ्गना" में भी मधुसूदन की प्रतिभा का पूर्ण विकाश देखा जाता है; यह काव्य भी उनके उत्कृष्ट ग्रन्थों में है। परन्तु इसके आगे मधुसूदन की प्रतिभा का ह्रास आरम्भ हुआ। इत उत्तर वे कोई अच्छा ग्रन्थ लिखने में समर्थ नहीं हुए। बाबू राजनारायण वसु के अनुरोध से मधुसूदन सिंहल विजय नामक एक और काव्य लिखने लगे थे; परन्तु उसका आरम्भ ही करके वे रह गये।

अपने मित्रों की सलाह से मधुसूदन ने पहले ही से क़ानून की किताबें देखना आरम्भ कर दिया था। अब, अर्थात् जून १८६२ ई० में–उन्होंने बैरिस्टर होने की इच्छा से विलायत जाना निश्चय किया। एक विश्वस्त पुरुष को उन्होंने अपनी पैत्रिक सम्पत्ति का प्रबन्धकर्ता नियत किया। उससे उन्होंने यह स्थिर कर लिया कि कुछ रुपया वह प्रतिमास उनकी पत्नी को दे और कुछ उनके ख़र्च के लिये वह विलायत भेजे। यह सब प्रबन्ध ठीक करके ९ जून १८६२ को उन्होंने कलकत्ते से प्रस्थान किया। चलने के पहले, ४ जून को, उन्होंने अपने मित्र राजनारायण बाबू को एक पत्र लिखा। इस पत्र में उन्होंने यह वचन दिया कि विलायत जा कर भी वे अपनी स्वदेशीय कविता को न भूलेंगे; और प्रमाण की भाँति चलते चलते पत्र के साथही उन्होंने एक कविता भी भेजी। यह कविता उन्होंने अँगरेज़ी कवि लार्ड बाइरन की—

My Native Land Good-Night!

इस पंक्ति को सूत्रमान कर मधुसूदन ने रची। इसका का नाम है "वङ्गभूमि के प्रति"। यह बहुत ही ललित और हृदयग्राहिणी कविता है। यह लिख कर पत्र को समाप्त करने के पहले राजनारायण बाबू को मधुसूदन लिखते हैं

Here you are, old Raj!—All that I can say is—"मधुहीन करो ना गो तव मनः कोकनदे"

Praying God to bless you and yours and wishing you all success in life,

I remain,
Ever your affectionate friend
Michæl M. S. Dutt.

इस अवतरण में बँगला की जो एक उक्ति उद्धृत है वह बहुतही मनोरम और सामयिक है। उसके द्वारा मधुसूदन अपने मित्र राजनारायण से कहते हैं कि अपने मनोरूपी कमल में मधु की हीनता न होने देना; अथवा अपने मनोमय कमल को मधुहीन न करना। इस उक्ति में 'मधु' शब्द के दो अर्थ हैं।

मधु=पुष्परस तथा मधुसूदन के नाम का पूर्वार्द्ध। इसके द्वारा मधुसूदन ने राजनारायण से यह प्रार्थना की कि "तुम हमें भूल मत जाना"।

१८६२ ईसवी के जुलाई महीने के अन्त में मधुसूदन इंगलैण्ड में उपस्थित हुए और बैरिस्टरी का व्यवसाय सीखने के लिए "ग्रेज़ इन" (Grey's Inn) नामक संस्था में उन्होंने प्रवेश किया। जिस व्यवसाय में वे प्रवृत्त हुए वह उनके योग्य न था। उसमें उनका आन्तरिक अनुराग न था। बिना अनुराग किसी काम में प्रवृत्त होने से जो फल होता है, वही फल मधुसूदन को भी मिला। किसी प्रकार बैरिस्टर होकर, दो वर्ष के स्थान में चार पाँच वर्ष विलायत में रहकर, वे कलकत्ते लौट आये; परन्तु बैरिस्टरी के व्यवसाय में उनको सफलता नहीं हुई। विलायत जाने में मधुसूदन का एक और उद्देश्य यह था कि वहां कुछ काल रह कर वे विदेशी भाषायें सीखैं। यह उद्देश्य उनका बहुत कुछ सफल हुआ। अंग्रेज़ी तो उनकी मातृभाषा के समान हो गई थी। उसके अतिरिक्त उन्होंने जर्मन, फ़्रेंच, इटालियन, लैटिन, ग्रीक और पोर्चुगीज़ भाषाओं में विशेष विज्ञता प्राप्त की। इनमें ये बिना किसी क्लेश के बातचीत करने और पत्र आदि लिख सकने लगे। फ़्रेंच और इटालियन में तो वे कविता तक करने लगे। इन छः भाषाओं के सिवाय संस्कृत, फ़ारसी, हेब्रू, तामील, तिलैगू और हिन्दी में भी उनको अल्पाधिक विज्ञता थी। बंगला तो उनकी मातृभाषा ही थी। इस प्रकार इंगलैण्ड जाने से उनकी बहुभाषा-विज्ञता बढ़ गई। अनेक विदेशी भाषाओं में उन्होंने लिखने पढ़ने की योग्यता प्राप्त कर ली। इस देश के विद्वानों में, जहां तक हम जानते हैं, किसी दूसरे ने इतनी भाषायें नहीं सीखीं।

इंगलैण्ड जाने से उनका भाषा-ज्ञान अवश्य बढ़ गया। परन्तु उसके साथही उनकी आपदायें भी बढ़ गईं। उनके ग्रन्थों के समान उनका जीवन भी एक विषादान्त काव्य समझना चाहिए। कलकत्ते में, मदरास में, विलायत में, सब कहीं, उनको दुःख और परिताप के सिवाय सुख और समाधान नहीं मिले।

मधुसूदन का इंगलैण्ड जानाही उनकी भावी आपत्तियों का मूल कारण हुआ। जिन लोगों पर उन्होंने अपनी सम्पत्ति के प्रबन्ध आदि का भार अर्पण किया था, वे महीने ही दो महीने में अपने कर्तव्य-पालन से पराङ्मुख हो गए। न उन्होंने मधुसूदन ही को कुछ भेजा और न उनके कुटुम्ब के पालने के लिए उनकी स्त्री ही को कुछ दिया। अतएव उनकी स्त्री की बुरी दशा होने लगी; निरन्न रहने तक की उसे नौबत आगई। जब उसने पेट पालने का और कोई उपाय न देखा तब लाचार होकर वह भी मधुसूदन के पास इंगलैण्ड जाने के लिए तैयार हुई। किसी प्रकार मार्ग के खर्च का प्रबन्ध करके अपने पुत्र और अपनी कन्या को लेकर, मधुसूदन के जाने के एक वर्ष पीछे, वह भी उन्हींकी अनुगामिनी हुई। वह भी इंगलैण्ड में मधुसूदन के पास जा पहुंची। मधुसूदन पहले ही से रुपए पैसे से तंग थे; स्त्री के जाने से उनकी दुर्दशा का ठिकाना न रहा। वह दुर्दशा प्रतिदिन बढ़ने लगी; बढ़ने क्या लगी, "पाञ्चालों की चोर" हो गई। विलायत का वास; चार मनुष्यों का खर्च; प्राप्ति एक पैसे की नहीं! मधुसूदन ने कुछ रुपये बाबू मनोमोहन घोष से उधार लिए—ये भी उस समय बैरिस्टरी सीखने इंगलैण्ड गये थे; कुछ "ग्रेज़ इन" के अधिकारियों से लिए; कुछ किसी से; कुछ किसी से। किसी प्रकार कुछ दिन उन्होंने वहां और काटे। कलकत्ते को उन्होंने अनेक करुणोत्पादक पत्र लिखे; परन्तु वहां से एक पैसा भी न आया। उस समय उनको कोई ४,००० रुपए अपने प्रबन्धकर्ताओं से पाने थे; और उनको पैत्रिक सम्पत्ति से कोई १,५०० रुपए साल की प्राप्ति थी। तिस पर भी मधुसूदन को विलायत में "भिक्षां देहि" करना पड़ा! "ग्रेज़ इन" के अधिकारियों ने उनको, उनके ऋण और निर्धनता के कारण,

अपनी संस्था में आना रोक दिया। कुछ काल के लिए मधुसूदन फ़्रांस चले गये; वहाँ उनको जेल तक की हवा खानी पड़ी और उनकी स्त्री और लड़कों को अनाथालय का आश्रय लेना पड़ा !!!

जब मधुसूदन को सब ओर अन्धकार ही अन्धकार दिखाई देने लगा, और जब उन्होंने अपने और अपने कुटुम्ब के बचने का और कोई मार्ग न देखा, तब उन्होंने विद्यासागर का स्मरण किया। उनको उन्होंने एक बड़ाही हृदयद्रावक पत्र लिखकर अपने ऊपर दया उत्पन्न करने की उनसे प्रार्थना की और धन की सहायता माँगी। अपनी सब सम्पत्ति को बेंच कर १५,००० रुपए भेजने के लिए पण्डित ईश्वरचन्द्र विद्यासागर को उन्होंने लिखा और अपने पत्र को इस प्रकार समाप्त किया—

I hope you will write to me in France and that I shall live to go back to India and tell my countrymen that you are not only Vidyasagar but Karunasagar also.

मधुसूदन की प्रार्थना सफल हुई। विद्यासागर ने करुणासागर होने का परिचय दिया; उन्होंने मधुसूदन को यथेच्छ द्रव्य भेजकर उनकी अकाल-मृत्यु को टाला। मधुसूदन ने किसी प्रकार बैरिस्टरी के व्यवसाय का आज्ञापत्र लेकर, स्वदेश के लिए प्रस्थान किया।

१८६७ ईसवी के मार्च महीने में मधुसूदन कलकत्ते लौट आये और हाईकोर्ट में बैरिस्टरी करने लगे। परन्तु इस व्यवसाय में उनको सफलता नहीं हुई। शुष्क क़ानूनी वाद प्रतिवाद में उनका चित्त नहीं लगा। कार्य के उद्धार करने का कौशल, जैसा चाहिए वैसा, उन्होंने नहीं दिखलाया। न्यायाधीशों को उनके भाषण से सन्तोष नहीं हुआ। उनके कण्ठ का स्वर भी अच्छा न था। इन्हीं कारणों से वे बैरिस्टरी में कृतकार्य न हुए। उधर पैत्रिक सम्पत्ति के बिकजाने से उससे जो प्राप्ति थी वह बन्द हो गई; और इधर बैरिस्टरी न चलने से प्राप्ति का दूसरा मार्ग भी बन्द हो गया। पुस्तकों की बिक्री से जो कुछ मिलता था उससे मधुसूदन के समान व्ययी मनुष्य का क्या हो सक[ता] था। क्रम क्रम से उनका जीवन कंटकमय होता गया।

योरप से लौट आने पर ६ वर्ष तक मधुसूद[न] जीवित रहे। इस मध्यान्तर में वे कोई विशे[ष] साहित्यसेवा नहीं कर सके। उनका समय प्राय[ः] पेट को पालने ही के उद्योग में गया। परन्तु [वे] आजन्म कवि थे; अतएव इस दुरवस्था के समय [में] भी, कुछ न कुछ, उन्होंने लिखा हो। एकतो उन्हों[ने] अँगरेज़ी "ईसाप्स फेबल्स" की मुख्य मुख्य कथाओं के आधार पर कई नीतिमूलक कवितायें लिखीं [।] उनकी रचना उन्होंने १८७० ई० में की। [इस] पुस्तक को समाप्त करके उसे पाठशालाओं में प्रचलि[त] कराने की उनकी इच्छा थी। यदि पुस्तक पूर्ण [हो] जाती और उसका प्रचार पाठशालाओं में होजाता [तो] मधुसूदन का धनकष्ट कुछ कम हो जाता; पर[न्तु] दुर्दैववश पुस्तक ही नहीं समाप्त हुई। ग्रीक क[वि] होमर-कृत इलियड नामक काव्य को आदर्श मा[न]कर मधुसूदन ने "हेकृरवध" नामक एक काव्य [भी] आरम्भ किया था; परन्तु इलियड के १२ सर्गों तक की कथा का समावेश वे अपने काव्य में [कर] सके; शेष भाग असमाप्त ही रह गया। "माय[ा] कानन" नामक एक नाटक भी उन्होंने लिखना आर[म्भ] किया था; वह भी वे समाप्त नहीं कर सके। उ[स] का जितना अंश खण्डित था उसे वङ्गदेश की नाट्य[-]शाला के अध्यक्षों ने पूर्ण करके मधुसूदन की मृ[त्यु] के पीछे उसे प्रकाशित किया।

पाँच वर्ष तक मधुसूदन ने हाईकोर्ट में बैरि[-]स्टरी की। परन्तु यथेच्छ प्राप्ति न होने से उन[का] ऋण बढ़ता गया। ऋण के साथ ही साथ उन[के] क्लेश की सीमा भी बढ़ती गई। जब ऋण दे[ने] वालों ने उनको बहुत तंग करना आरम्भ किया तब मानसिक यन्त्रणाओं से बचने के लिए मधु[-]सूदन मद्य पीने लगे। क्रम क्रम से मद्य की मा[त्रा] बढ़ने लगी। वह यहांतक बढ़ी कि उनको अने[क] रोग होगये। उनके मित्रों ने यथासम्भव उन[की] सहायता की; परन्तु दूसरों के दान पर मधुसूद[न]

का काम कितने दिन चल सकता था। उनको भोजन तक का कष्ट मिलने लगा। किसी किसी दिन निराहार रहने तक की नौबत आने लगी। इस अवस्था को पहुँच कर भी मधुसूदन ने अपनी उदारता और व्ययशीलता नहीं छोड़ी। एक दिन उनका एक मित्र अपने एक परिचित को उनके पास कुछ क़ानूनी राय पूछने के लिए लाया। मधुसूदन ने राय दी; परन्तु फ़ीस लेने से इनकार किया। मित्र के मित्र से फ़ीस कैसी! इस समय मधुसूदन के घर में एक पैसा भी न था। उन्होंने उस मनुष्य से फ़ीस तो न ली; परन्तु अपने मित्र से पाँच रुपए अपनी स्त्री के लिए उधार माँगे! यह उनकी उदारता का जाज्वल्यमान प्रमाण है!!! उदार तो वे इतने थे; परन्तु किसी से ऋण लेकर उसे देना नहीं जानते थे; और ऋण लेकर भी रुपए को पानी के समान बहाते थे! जब उनके नौकर और ऋणदाता पैसे के लिए उनके द्वार पर, और कभी कभी घर के भीतर भी, कुलाहल करते थे, तब वे अपने कमरे में जाकर जर्मन और इटालियन कवियों की कविता का स्वाद लेते थे!

कुछ काल में मधुसूदन के रोग ने असाध्य रूप धारण किया। उनकी स्त्री भी, घर की विपन्न अवस्था और रोग आदि कारणों से, निर्बल और व्यथित हो चली। पथ्य पानी का मिलना भी कठिन होगया। जिस मधुसूदन ने लड़कपन में राजसी ठाठ से अपने दिन काटे, उसका वस्त्र आभूषण और बर्तन आदि गृहस्थी का सामान सब धीरे २ बिक गया। मधुसूदन की स्त्री का भी रोग बढ़ चला और उनका तो पहलेही से बढ़ा हुआ था। जब मधुसूदन के मित्रों ने देखा कि उनके पास एक पाई भी नहीं है और घर में उनके मुँह में पानी डालनेवाला भी कोई नहीं है, तब उन्होंने उनको अलीपुर के अस्पताल में पहुँचाया। वहाँ पहुँचने के दो तीन दिन पीछे मधुसूदन की स्त्री ने इस लोक से प्रस्थान किया। उसकी मृत्यु का सम्वाद सुनकर मधुसूदन को जो कष्ट हुआ उसका वर्णन नहीं हो सकता। उनकी जो दुर्दशा हो रही थी वह मानो उनकी अविवेकता का पूरा प्रायश्चित्त न थी; इसी लिए ईश्वर ने शायद उनको यह पत्नी-वियोग-रूपी दारुण दुःख मरने के समय दिया। इस दुःख को उन्हें बहुत दिन नहीं सहना पड़ा। १८७३ ई० को २९वीं जून को मधुसूदन ने भी प्राण-परित्याग किया। ऐसे अद्वितीय बँगला कवि का विषादान्त जीवन समाप्त हो गया!

जिस समय मधुसूदन की मृत्यु हुई, उनके दो पुत्र और एक कन्या थी। ज्येष्ठ पुत्र मिल्टन और कन्या शर्मिष्ठा ने परलोक-गमन किया। परन्तु उनके कनिष्ठ पुत्र, अलबर्ट नेपोलियन, इस समय, अफ़ीम के मोहकमे में कहीं काम करते हैं। मधुसूदन के अनन्तर उनके मित्रों ने उनकी सन्तान के पालन पोषण तथा शिक्षण इत्यादि का यथोचित प्रबन्ध किया। उसमें कोई त्रुटि नहीं होने पाई।

मधुसूदन के मरने पर, १५ वर्ष तक, उनकी समाधि इत्यादि का कोई अच्छा प्रबन्ध नहीं हुआ। परन्तु १८८८ ईसवी की पहली दिसम्बर को उनकी समाधि का संस्कार हो कर उसपर एक स्तम्भ खड़ा किया गया। इस कार्य के लिए वङ्गदेश के अनेक कृतविद्य लोगों ने सहायता की। उस स्तम्भ पर मधुसूदन ही की रची हुई कविता खोदी गई। यह कविता, मरने के दो तीन वर्ष पहले, मधुसूदन ने लिखी थी। इस समाधिस्तम्भ और कविता का चित्र हम, २७० पृष्ठ में देते हैं। स्तम्भ पर जो बँगला कविता खुदी, है उसे हम नागरी अक्षरों में नीचे उद्धृत करते हैं—

"दाँड़ाओ, पथिक-वर, जन्म यदि तव
वङ्गे ! तिष्ठ क्षणकाल ! ए समाधि-स्थले
(जननीर कोले शिशु लभये येमति
विराम) महीर पदे महानिद्रावृत
दत्तकुलोद्भव कवि श्रीमधुसूदन !
यशोरे सागरदाँड़ी कवतक्ष तीरे
जन्मभूमि, जन्मदाता दत्त महामति
राजनारायण नामे, जननी जान्हवी !

माइकेल मधुसूदन दत्त।"

माइकेल का समाधिस्तम्भ।

इसका शब्दार्थ हिन्दी में, पंक्ति प्रति पंक्ति, इस प्रकार होगा—

"खड़े हो, पथिक-वर, जन्म यदि तव
वङ्ग में, ठहरो थोड़ी देर ! इस समाधिस्थल पर
(माता के गोद में शिशु प्राप्त करता है जिस प्रकार
विश्राम) पृथ्वी के पद में (है) महानिद्रावृत—
दत्तकुलोद्भव कवि श्रीमधुसूदन !
यशोर में सागरदाँड़ी कवतक्ष-तीर
जन्मभूमि, जन्मदाता दत्त महामति-
राजनारायण नाम, जननी जान्हवी !"

मधुसूदन का समाधिस्तम्भ स्थापन करके उनके देशवासियों ने अपनी कृतज्ञता प्रकट की है। जिसने बङ्गभाषा को अपनी अप्रतिम कविता से इतना अलंकृत किया, उसका, इस प्रकार, मरणोत्तर आदर होना, बहुत ही उचित हुआ। यों तो, जब तक बँगला भाषा का अस्तित्व है तब तक मधुसूदन की यशःपताका, सब काल, वङ्ग देश में फहराती रहेगी। उनके लिए समाधिस्तम्भ आदि की विशेष आवश्यकता नहीं। उनका समाधिस्तम्भ और उनकी प्रतिमा (Statue) उनके ग्रन्थ ही हैं।

आशीर्वाद।

[अंगरेज़ी कवि बाइरन की "फ़ेयर दी व्यल"—नामक कविता का भावार्थ]

[१]

फिर मिलना हम दोनों का
हे प्रिये ! कठिन दिखलाता है;
चिरंजीव तुम रहो, यही अब
मन मुझ से कहलाता है।
यद्यपि तुमने क्षमा न करने
का प्रण किया दुःखकारी,
तदपि हृदय यह मेरा तुम से
अलग नहीं होता प्यारी !

[२]

मैं चहता हूं कि इस हृदय को
निज शरीर से बाहर कर,
दशा दिखाऊं तुमको उसकी
जिसपर रखती थी तुम सर।
जब आती थी नींद तुम्हे वह
मेरा दुख हरनेवाली,
जैसी कभी और तुमको अब
नहीं हाय मिलनेवाली ॥

[३]

ईश्वर करै प्रिये ! मेरे पर
एक बार तुम ध्यान करो;

निज देखे इस मेरे जी की
रग रग की पहचान करो।
तब तुमको अवश्य यह निश्चय
होगा जान लिया हमने,
बुरा किया जो इस प्रकार से
मुझको त्याग दिया तुमने ॥

[४]

यद्यपि सारी पृथ्वी तुमको
बहुत सराहै इस मारे;
और हमारी व्यथा देख कर
खुशी मनावैं जन सारे।
तुमको वह सराहना उनकी
कभी नहीं भानेवाली;
कष्ट दूसरों का सज्जन के
मुख पर लाता है लाली ॥

[५]

माना यह शरीर मेरा था
अपराधी औ अति पापी;
कोई और उपाय न था पर
जग में क्या सोचो आपी ?
क्या यह घाव लगाने को बस
भुजा वही थी सुकुमारी,
जिसने गले लगा कर पहले
लिपटाया था, हे प्यारी ?

[६]

इतने पर भी प्राणपियारी
देखो धोखा मत खाना;
क्योंकि सनातन से सुनते हैं
प्रेम का क्रम क्रम घट जाना।
अनायास दो दिलों का मिलना
नहीं आज तक देखा है;
कभी नहीं ऐसा हो सकता
हमने किया परेखा है ॥

[७]

चित्त तुमारा अति कोमल है
वह सदैव सब सुख पावै;
मेरा ज़ख़मी हो कर चाहे
तड़प तड़प कर रह जावै।
पर सबसे विशेष दुखदायी
केवल मुझे एक है ताप;
कि अब हाय हम दोनों का इस
जन्म कभी होगा न मिलाप ॥

[८]

अन्तकाल के समय जिस तरह
दुखसे सब जन रोते हैं;
उससे अधिक बचन ये मेरे
बीज रंज का बोते हैं।
मरने से तो हो जाता है
मरनेवाले का तारन;
हम दोनों जीते ही मरते
एक दूसरे के कारन ॥

[९]

सुन अपने बालक के तुतले
टूटे फूटे मीठे बैन,
आवैगा जब तोष तुम्हारे
जी को, और चित्त को चैन।
प्रिये ! सत्य कहना क्या उससे
पिता शब्द कहलाओगी,
अथवा उसे स्मरण मेरा तुम
भूल न कभी कराओगी ?

[१०]

जब कि तुम्हारे तन को कोमल
छोटे हाथ दबावैंगे।
लाल कपोल मनोहर प्यारे
सुधा सलिल बरसावैंगे।
प्यारी ! ज़रा देर को उसदम मन में
उसको ले आना,
जिससे प्रथम प्रेम करके अब
चहती हो तुम बिसराना ॥

[११]

यदि उस बालक के तन में कुछ
मेरे अंगों का सा हो,

तो वह तेरी कोमल छाती
धड़क उठैगी; सच मानो।
क्योंकि अंग मेरा तुम प्यारी!
नहीं देखने पाओगी;
महा दुःख में अपना सारा
जीवन शेष गवांओगी।

[१२]

तुम ने सब अपराध हमारे
यद्यपि भली विध जान लिया;
तदपि मेरे प्रबल प्रेम पर
तुम ने कुछ नहिँ ध्यान दिया।
इस अनीति से मेरी सारी
आस हाय मुरझाय गई;
पर वह साथ रहैगी तेरे;
लेगी कभी न राह नई।

[१३]

दुसह दुःख ने मेरे सारे
अरमानों को अस्त किया;
मेरे अहङ्कार को प्यारी!
केवल तुमने पस्त किया।
चरण कमल की धूल तुम्हारी
सिर पर रखता हूं मैं हाय;
तुमको दया तनिक नहिँ आती
इसका कीजै कौन उपाय

[१४]

तुम ने मुझे मंजु मृगनैनी!
हाय हाय बिसराय दिया;
अच्छा नहीं किया जो तुम ने
मुझको यह सन्ताप दिया।
पर इसमें क्या दोष तुम्हारा
प्यारी जब मेरा यह मन,
बन बैठा अपना ही बैरी
मुझको दुख के अर्थ अर्पन।

[१५]

निष्फल है सब कथन हमारा;
नहीं ज़रा भी तुमको ध्यान;
व्यर्थ हमारा है यह रोना,
यदि तुम पर कुछ असर हुआ न।
पर यह विकल हुआ मन मेरा
बेबस हो कर रोता है;
निज कर ही से घाव लगा कर
मुख आंसू से धोता है।

[१६]

सुखी रहो प्यारी! यह मेरी
अन्तिम विनती सुन लीजे;
त्याग दिया तो दिया प्रिये! पर
दयादृष्टि इतनी कीजै।
एक बार मेरी सुधि करना
और न अधिक सताऊंगा;
चोट लगाई है जो तुम ने
उससे मैं मर जाऊं गा॥

गौरीदत्त बाजपेयी।

रहिमन विलास।

[पूर्व प्रकाशित के आगे]

साधु सराहैं साधुता जती जोखिता जान।
रहिमन साँचे सूर को बैरी करै बखान॥
बैरी करै बखान सुजस सुरपुर लौं छावै।
साँचो गुण बरबसहु शत्रु मुख वाह कढ़ावै।
साँचहिं आँच न कहूं साँच की जय जु सदा हैं।
खलहु आदरैं अचरज कह जौ साधु सराहैं॥

रहिमन ओछ प्रसङ्ग तेँ नित प्रति लाभ विकार।
नीर चुरावत संपुटी मार सहत घरियार॥
मार सहत घरियार जगत मैं प्रगट सुनावै।
गङ्गोदक मद सङ्ग मिलत निज नाम गँवावै।
गेहूं सँग घुन पिसैँ बुरे सँग दुखित भले जन।
भूलि न ओछे सङ्ग करौ कहि दासजु रहिमन॥

अमिय पियावत मान बिनु रहिमन मोहि न सुहाय।
मान सहित मरिबो भलो जौ विष देइ बुलाय*॥

---

* यह दोहा सोरठा के रूप में अहमद के नाम से प्रसिद्ध है।

जौ विष देइ बुलाय अमिय गनि पान कोजिए।
आधे पेटहि खाइ नमक रोटिही जीजिए॥
धिक जीवन बिनु मान मिलैकिन राज अमर तिय
मान सहित विष दास लाख अम्मियसों अम्मिय।

सर सूखे पंछी उड़ैं औरै सरन समाहिँ।
दीन मीन बिनु पच्छ के कहु रहीम कहँ जाहिँ॥
कहु रहीम कहँ जाहिँ जिन्हें आसरो तुम्हारो।
तुम बिनु रहैं न प्रान छनक जौ नाथ बिसारो॥
कहो कौन पैं छोड़ि होत हम पैं तुम रूखे।
दास दया जिय धरहु मरत जिमि झख सर सूखे

कहु रहीम कैसे निभै केर बेर को संग।
वे डोलत रस आपुने इनके फारत अंग॥
इनके फारत अंग रङ्ग वह अपुने डोलै।
चना चबावन सँग कैसे सहनाई बोलै॥
खल सज्जन को संग निभत नाहिन छन एकहु।
गाय व्याघ्र को संग निभै कै घरी दास कहु॥३५

जो विषया संतन तजी मूढ़ ताहि लपटात।
ज्यों नर डारत बमन करि स्वान स्वाद सों खात॥
स्वान स्वाद सों खात ज्ञान बिनु बुरो न बूझै।
तू ताहू तें मूढ़ पाइ नर तन नहिँ सूझै॥
देखि जगत व्यवहार तऊ लावत नहिं हृदया।
वचिकै रहु तासों अनर्थ को जड़ जो विषया॥३६

अमी* हलाहल मद भरे स्वेत स्याम रतनार।
जियत मरत झुकि झुकि परत जेहि चितवत इकबार
जेहि चितवत इकबार करत तिनको नाना गति
सत तम राजस साथ धरत यह परम प्रबल मति
बङ्क सहज मुसक्याइ, निरखि गति पलटत पलपल
परम अनूपम नैन ऐन मद अमी हला हल॥३७

जो रहीम उत्तम प्रकृति का करि सकत कुसंग।
चन्दन विष व्यापै नहीं लपटे रहत भुजंग॥
लपटे रहत भुजंग होइ विषहीन सु आपै।
लाख सुन्दरिन मध्य साधु मन नेकु न काँपै॥

* इस दोहे को कोई कोई रसलीन का कहते हैं।

जो नर सत्यप्रतिज्ञ छार है रतन ढेर तो।
लाखन मैं नहिँ मुरैं अहैं जग सत्य सूर जो॥३८

*बसि कुसङ्ग चाहत कुसल रहिमन मन अफसोस।
महिमा घटी समुद्र की रावन बसे परोस॥
रावन बसे परोस सिन्धु पै सेतु बँधायो।
पाइ कुसङ्गति साधु जनन हू धर्म भुलायो॥
हीँग सङ्ग परि कस्तूरिहु की गन्ध जाइ नसि।
दृढ़ करि राखौ हिए कुसल नाहिन कुसङ्ग बसि३९

रहिमन सूधी चाल सों प्यादो होत उजीर।
फरजी मीर न ह्वै सकै टेढ़े की तासीर॥
टेढ़े की तासीर मीर फरजी नहिँ होवै।
परं कुदाँवन प्रान पियादे हाथहिँ खोवै॥
सूधी चालहिँ गहै। बनावत जो सब काजन।
दास कुटिलता तजौ लहौ सुख सम्पति रहिमन४०

जो रहीम दीपक दसा तिय राखति पट ओट†।
समय परे पर होति है वाही पट की चोट॥
वाही पट की चोट दीप छन माहिँ बुझावै।
जोइ रच्छक सोइ भच्छक यह प्रत्यच्छ दिखावै॥
समय फिरे पर बनैं सत्रु जो रहैं मीत सो।
समय फेर नहिँ फिरै सहौ सो आनि परै जो॥४१

अनुचित उचित रहीम लघु करैं बड़ेन के जोर।
ज्यों ससि के संकोच सोँ पचवत आग चकोर॥
पचवत आग चकोर चन्द्रमा के बल ही सोँ।
हनै शिखण्डी भीष्म एक अर्जुन के छल सोँ॥
कहा धनिक नहिँ करैं पाइ कमला को निज हित।
हाकिम को बल पाइ करैं अमला बहु अनुचित४२

काम कछू आवै नहीं मोल न कोऊ लेय।
बाजू टूटे बाज कों साहब चारा देय॥

* यह दोहा तुलसीदास जी के नाम से प्रसिद्ध है।

† इस दोहे का भाव नीचे दिये गये प्राचीन पद्य से मिलता है—

येनाञ्चलेन सरसीरुहलोचनाया-
त्रातः प्रभूतपवनादुदये प्रदीपः।
तेनैव सोऽस्तसमयेऽस्तमयं विनीतः
क्रुद्धे विधौ भजति मित्रममित्रभावम्॥—स. स.

साहब चारा देय जाहि कोउ बात न पूछै।
परम गरीबनेवाज भरत जेहि देखत छूछै॥
देइ गजहिँ मन चिउटिन कन अजगरहू को भछु।
तिनके दाताराम जौन नहिँ जोग काम कछु॥४३

धनि रहीम जल पङ्क को लघु जिय पियत अघाय।
उदधि बड़ाई कौन है जगत पियासो जाय॥
जगत पियासो जाय तृषित लखि जल ललचावै।
जद्यपि सब कछु भरो काम कोउ के नहिँ आवै॥
ह्वै सब लायक दीनदया नहिँ धिक तिन कहँ गनि।
लघु पूँजी उपकार सने मन नर तेइ धनि धनि ४४

माँगे घटत रहीम पद किता करो बढ़ि काम।
तीन पेग बसुधा करी तऊ बावनै नाम॥
तऊ बावनै नाम काम बलि द्वारे ठाढ़े।
कर फैलाए कहत सदा दाता को बाढ़े॥
सब परतिष्ठा दास दूर ताही छिन भागे।
आँखिन मैं घटि जाय जाय पर द्वारे माँगे ४५॥

नाद रीझि तन देत मृग नर धन हेत समेत।
ते रहीम पसु तेँ अधिक रीझेहु कछू न देत॥
रीझेहु कछू न देत वाह वाहिहु मैं टोटा।
कबहुँ कियो जो वाह दियो मनु कञ्चन कोटा॥
सहि कलेस निज गुन दिखरायो बड़ो साध मन।
रुच्यो न तातेँ धन्य देत मृग नाद रीझि तन॥४६

रहिमन कबहूं बड़न कोँ नाहिँ गर्व को लेस।
भार धरे संसार को तऊ कहावत सेस॥
तऊ कहावत सेस अटल गति रहत सदाहीँ
सरसोँ सम तेहि जानि नाहिँ कबहूं अनखाहीँ॥
ओछे जौ कछु बढ़ैँ धरत धरनी पर पैर न।
भूलि आपनो रूप जगत तृन लखत रहीमन॥४७

रहिमन नीचन सङ्ग बसि लगत कलङ्क न काहि।
दूध कलारिन हाथ लखि मद समुझहिँ सब ताहि॥
मद समुझहिँ सब ताहि घृणा सोँ ताको पेखैं॥
जैसी सङ्गति लखैं ताहि तैसाही लेखैं॥
दुष्ट सङ्ग मैं बैठि बचौ बरु दुष्ट कर्म सन।
पै जग के उपहास बचौ नहिँ दास रहीमन॥४८

मद समुझहिँ सब ताहि सङ्ग बस संसय पैठ्यो
परम सुन्दरी साथ युवक इकलोही बैठ्यो॥
घरियन अवसर पाइ सकत रखि मन के वेगन
पै कलङ्क जग कबौं रोकि नहिँ सकत रहीमन॥४९

रहिमन अब वे बिरछ कहँ जाकी छांह गँभीर।
बागन बिच बिच देखियत सेंहुड़ कञ्ज करीर॥
सेँहुड़ कञ्ज करीर जहाँ तहँ देखि परत अब।
अनमोलक हय जहाँ तहाँ खर बँधे लखौ सब।
जिन सोँ सब सुख लहत पाइ फल फूल सुछांहन
तहँ बबूल दुख देइ काल बस हाय रहीमन॥५०
सेँहुड़ कञ्ज करीर रहे सोभा बिनसाई।
बालमीक शुक व्यास जहाँ छवि रहे बढ़ाई।
अर्जुन करन ययाति भीष्म सोहत जो देसन
तहँ दिखात हम सरिस अधम कायर नर रहिमन

बिगरी बात बनै नहीं लाख करौ किनि कोय।
रहिमन बिगरे दूध को मथे न माखन होय॥
मथे न माखन होय जतन चाहे जो कीजै।
एक बेर मन फटे सुरस नहिँ फेरि लहीजै॥
चूके एकहि बूंद फेर ढरकाए गगरी;
बनै न कोटि उपाय दास बिगरी सो बिगरी॥५१

मथत मथत माखन रहे दही मही बिलगाय।
रहिमन सोई मीत है भीर परे ठहराय॥
भीर परे ठहराय मीता तेहि साँचो जाने।
सम्पति मैं सब सगे बिपति सब ही बिलगाने।
प्रिय हितनि ताही सबै त्यागि निज स्वार्थ मनोरथ
ऐसे निज हित सने मीत कोँ दास लेहु मथ॥५२

श्रीराधाकृष्णदास।

भूतोंवाली हवेली।

[४]

पहले पहल कुछ दिनों पीछे हवेली के स्वामी आप ही उसमें आकर रहे थे। मैं उनसे कभी कभी जाकर मिला करता था। एक दिन मैं उनके साथ, गलीवाली खिड़की के सामने बड़ा

...कर कुछ बातें कर रहा था। लाला जी का ...बाब लेकर एक गाड़ी द्वार पर गली में खड़ी ...। लाला जी पूछ रहे थे कि क्या यह भी सम्भव ...कि मेसमेरिज़म के द्वारा शक्ति का चालक अपनी ...त्यु के उपरान्त भी उस शक्ति को चला सकता ..., क्योंकि इस हवेली के विषय में तो योंही विचार ...सकता है कि चालक अब तक जीवित नहीं ...सकता। लगभग ७०।८० वर्ष हुए होंगे कि वह ...जगत् से चल बसा होगा। लालाजी यह ...ही रहे थे कि मैंने उनका हाथ पकड़ कर ...हर गली की ओर उन्हें देखने को कहा।

एक मनुष्य, सुन्दर वस्त्र पहने, गली की दूसरी ...र से आया और गाड़ीवाले से इसी हवेली की ...र अंगुली उठा कर कुछ पूछने लगा। उसका ...ख हमारे सामने, खिड़की की ओर ही था। उस ...न तहख़ाने में चित्र में जो मुख देखा था, यह ...ही मुख था। यह वही मुख था जिसका चित्र ...नुमान से लगभग सौ सवासौ वर्ष पहले खींचा ...या होगा!

लाला जी बोल उठे, "अरे, यह तो वही—है, ...—के महाराजा के यहां से निकाला गया था! मैंने ...पनी युवावस्था में जैसा देखा था, यह अब भी ...साही बना है!" हमलोग—दोनों—झटपट बाहर ...कल आये। पहले मैंने ही गली में पांव रक्खा। ...न्तु वह मनुष्य इतनी देर में वहां से चला गया ...। दूर से उसे देख कर मैं उसकी ओर बढ़ा, ...र थोड़ी ही देर में उसके पास पहुंच गया।

मैं उससे बोलना चाहता था; परन्तु जब मैंने ...सके मुख पर अपनी दृष्टि डाली, मेरी वाक्शक्ति ...न्द हो गई। वे नेत्र—वे सर्पनेत्र—मुझ पर ताकने ...गे और मुझे मन्त्रमुग्ध की नाईं उन्होंने बांध ...लिया। उसके मुख पर एक प्रकार का रोब सा ...था; चाल भी उसकी बड़े पदाधिकारियों की सी ..., जिसके कारण चाहे कोई हो, उससे यकायक ...बातचीत करते समय वह कुछ हिचकने लगता। यदि ...कुछ कहता तो मेरा बर्ताव असभ्य जचता। और मैं कहता ही क्या? मैं क्या पूछता? इसलिये अपने मन में आप ही लज्जित हो मैं दो चार क़दम पीछे हट गया। तौभी उस मनुष्य का पीछा मैंने नहीं छोड़ा। इतने में हमलोग गली से निकल सड़क पर जा पहुंचे। वहां पर एक ब्रूहम गाड़ी खड़ी थी। वर्दी पहिन कर एक कोचमैन बड़े ठाठ से बक्स पर बैठा था, और वर्दी पहिने हुए एक दूसरा मनुष्य गाड़ी के द्वार पर खड़ा था। इस पुरुष के पहुंचते ही, उसने बड़े सम्मान से द्वार खोल दिया। देखते ही देखते गाड़ी घड़घड़ा कर आगे बढ़ी। मैं चित्त की शान्ति को सड़क पर की धूलि के साथ वायु में उड़ा कर हवेली को लौट आया। लाला साहब द्वार पर खड़े थे। जो गाड़ीवाला उनका असबाब ढो रहा था, उससे उन्होंने पूछा कि वह मनुष्य तुमसे क्या कह रहा था। गाड़ीवाला बोला "कुछ तो नहीं; वह पूछते थे कि यह मकान अब किसका है।"

इस बात के दो दिन पीछे कम्पनीबाग़ में मेला हुआ। बड़े दिन का समय था; नित्य ही दिन भर वहां धूमधाम हुआ करती थी। किसी दिन मेमों का नाच; किसी दिन आतशबाज़ी; किसी दिन घुड़दौड़; किसी दिन जिमनास्टिक;—आठ दस दिन तक यही तार लगा रहा। नगर के छोटे बड़े, सभी लोग कौतुक देखने जाते थे। मैं भी एक दिन सन्ध्या को आतशबाज़ी देखने गया। गोरों का बैंड बज रहा था। लोग इधर उधर घूम रहे थे। कोई वृक्षों की शीतल छाया में, लम्बी लम्बी तिपाइयों पर, बैठे जी बहला रहे थे। उन्हीं पर मैंने देखा कि एक जगह, मेरे एक पुराने मित्र के साथ बैठा हुआ, वही मनुष्य बातें कर रहा है जिसकी आकृति मैंने पहले कहे हुए उस छोटे चित्र में देखी थी। चित्र के मुख से उसका मुख ठीक मिलता था। परन्तु वह इस समय बोल रहा था; इससे उसकी गम्भीरता कुछ कम देख पड़ती थी। एक बार वह तनिक मुसकाया भी; परन्तु यह मुसक्यान भी गम्भीरता ही से भरी हुई थी।

जब मेरा मित्र वहां से उठ गया; मैंने उसे अलग बुला कर उस अद्भुत मनुष्य का परिचय पूछा। मित्र ने उत्तर दिया, "कौन? वह! वास्तव ही में वह बड़े बिलक्षण पुरुष हैं। मेरा इनसे एक बार दारजिलिङ्ग के पहाड़ पर परिचय हुआ था। फिर एक बार उड़ीसा में भुवनेश्वर के मन्दिर के पास ये मिले थे। वह कई भाषाएं जानते हैं। भारत की आज कल की भाषाओं की तो कुछ बात ही नहीं, पुरानी मरी मिटी भाषाएं भी वह बहुत भली प्रकार से जानते हैं। भुवनेश्वर के पास, एक पहाड़ पर से उतरते समय, कई डाकुओं ने हमलोगों को आ घेरा। इन्होंने उस समय इतना भारी साहस और पराक्रम दिखाया कि उसीसे हम सबों के प्राण बच गये। वह कभी कभी जापान, मिश्र आदि दूर देशों की यात्रा भी किया करते हैं। मैं समझता हूं कि वह भारत के, अथवा सम्भव है कहीं के, प्रचलित धर्म्म पर विश्वास नहीं रखते। धन अवश्य ही इनके पास बहुत है। सब बातों में वे बड़े ही अद्भुत हैं। विशेषता यह है कि मेसमेरिज़्म में यह बहुत बढ़े चढ़े हैं। एक बार जड़ वस्तुओं को मेरे सामने ही इन्होंने चैतन्य कर दिया था। आप अपनी जेब से एक पत्र को उठा कर कहीं एक ओर फेंक दीजिए; ये कहेंगे, चल, चल, आ, आ, और वह पत्र सजीव की भांति चलता हुआ उनके पास आ जायगा। अजी, मैंने अपनी आंखों से यहां तक देखा है कि कहीं आकाश में बादल का नाम तक नहीं, और इन्होंने एक कांच की नली सा कोई यन्त्र हाथ में लेकर, घन घोर घटा से आकाश आच्छादित कर दिया। पर अनजान मनुष्यों से वह इन बातों पर कुछ कहना नहीं चाहते। वह हाल में अमेरिका से लौटे हैं। कहते हैं कि बहुत वर्षों के पीछे वे फिर यहां आये हैं। आइए, आपसे भी हम उनका परिचय करा दें।"

"तो वह भारतवासी ही हैं? वेष से तो यह साफ़ नहीं जाना जाता। आज कल बहुत से लोग, विलायत न जाने पर भी, पूरे साहब बन कर फिरा करते हैं।"

"और आपने—को नहीं देखा? वाः, वे कभी पूरे दिल्ली के लाला बन कर निकलते हैं। पैर में कामदार जूता, ढीला लहङ्गा सा पायजामा, चप-कन, और दोपलिया टोपी,—यही उनके साज होते हैं। फिर कभी देखिए तो हैट, कोट, नेकटाई लगा कर स्काटलैण्ड के लोगों को भी मात करते हैं और कभी बङ्गाली महाशय बन जाते हैं। बस उन्हें पूरे बहुरूपिया समझ लीजिए। इनके कुछ ऐसे ही ढंग हैं?"

"मैंने तो इन्हें पारसी समझा था। इनका नाम क्या है?"

"नाम पूछने का कोई अवसर ही नहीं मिला। कोई इन्हें राव साहब कहता है, कोई राय साहब। भगवान् जाने इनका क्या नाम है। कारण यह कि इनका स्वभाव इतना रूखा है; और लोगों से ये इतना कम मिलते हैं; कि किसीसे इनका अब तक अच्छी तरह मेल नहीं हुआ"।

अस्तु, मेरी भी राव साहब से जान पहचान हो गई। उनमें आव भगत इतनी भरी थी; तथा साथ ही इतना अधिक रूखापन भी था कि कोई उनके मन की बात को भली भांति नहीं समझ पाता। फिर आव भगत भी एक निराले ढंग की थी। सम्भव है कि पौराणिक समय के लोग कुछ कुछ इस भांति से परस्पर मिलते रहे हों। नई चाल में आज कल की रीति कुछ और ही देख पड़ती है। बोली उनकी यद्यपि हिन्दी ही थी; परन्तु वह बहुत ही पुराने भावों से सुगन्धित थी. वे अद्भुत हिन्दी बोलते थे। किसी भारतवासी के मुख से, रावसाहब के मुखको छोड़, ऐसी हिन्दी मैंने आज तक नहीं सुनी। जान पड़ता था कि वे किसी बहुत पुराने समय के मनुष्य थे; आज कल की बोली उन्हें लिये नई सी हो रही थी। नाना विषयों पर हम लोगों की बात छिड़ी। जान पड़ा कि उन्हें साहित्य से कुछ भी प्रेम नहीं है। भारतवर्ष के प्राचीन तथा अर्वाचीन लेखकों, राजाओं, देश की अवस्था के हेरफेर आदि, किसी विषय में उन्हें

...नहीं थीं। मेरे मित्र ने उनसे पूछा कि आप ...वार के कांग्रेस में गये थे? सुनते ही वह कुछ ...से दिए। अद्भुत हास्य था,—भीतरी, जिसका ...विकास न हो, अरुचि, व्यङ्ग तथा कुछ नक-...हाव से मिला हुआ।

मैंने कहा, मैंने आपका एक छोटासा चित्र देखा ...अमुक मुहल्ले में एक हवेली है, जिसको सम्भव ...किसी समय आपही ने बनवाया होगा वा जिसमें ...आप रहे होंगे। पिछले बुध को सवेरे आप उस ...हवेली के द्वार पर गये भी थे।'

मैंने यह कह तो डाला; परन्तु बोलते समय ...के मुख पर दृष्टि डालने का साहस मुझे नहीं ...था। जब मैंने उन्हें देखा, वह बड़ी ही तीव्र दृष्टि ...मुझे देख रहे थे। मुझे ज्ञान हुआ कि कोई सांप ...टकी बांध कर अपने शिकार को मोह रहा है। ...के वाक्यों के साथ ही साथ अकस्मात् आप ही ...आप मेरे मुख से यह भी निकल पड़ा—"मैंने भी ...प्रकृति के बहुत से गुप्त विषयों की आलोचना ...की है। आपसे इस भांति बोलने का अधिकार ...मुझे है"।

"उंः, तुम क्या चाहते हो?"

"मैं पूछता हूं कि मानवी इच्छा की दौड़ कहां ...तक है?"

"चिन्ता कहां तक दौड़ सकती है? विचारो, ...र सांस बदलने के पहले तुम चीन में पहुंच ...जाओगे"।

"सत्य! परन्तु मेरी चिन्ता की शक्ति चीन पर ...क्या होगी?"

"इसे कह डालो और वह आप शक्तिशालिनी ...हो जायगी। अपनी चिन्ता को लिख डालो; एक ...एक दिन उससे चीन की सारी दशा तक पलट ...जायगी। नियम ही क्या है? चिन्ता ही है। इस-...लिये चिन्ता असीम है; इसीलिये चिन्ता में शक्ति ...है। बुरी चिन्ता से बुरे नियम उत्पन्न होवेंगे; अच्छी ...से अच्छे"।

"हां; आपका कथन मेरे विश्वास के अनुसार है। अदृश्य मानसिक भावों की सहायता से एक मस्तिष्क के विचार दूसरे मस्तिष्क में उतने ही वेग से चलाये जा सकते हैं जितने वेग से प्रकाश्य उपायों से वे चलाये जा सकते हैं। और जब चिन्ता का अन्त ही नहीं; जब यह उस समय भी अपनी छाया पीछे छोड़ जाती है, जब इसका कर्त्ता इस लोक से चला जाता है—तब, इसी रीति से, मरे हुए जीवों की चिन्ताओं को चञ्चल करने की शक्ति भी मानवी चिन्ता में है; मानो वे चिन्ताएं जीवों की जीवित दशा ही में हो रही हों। हां, मर जाने के बाद, यदि जीवों को कुछ चिन्ता होती हो तो उसपर जीवित मनुष्यों की चिन्ता कुछ प्रभाव नहीं दिखा सकती। ऐसा ही है न?"

"यदि तुम चिन्ता की इस भांति से सीमा बांधना चाहो तो मैं तुम्हारे प्रश्नों का उत्तर नहीं दे सकता। पर कहो, तुम कुछ और भी कहना चाहते हो"।

"तीव्र इच्छा में यदि तीव्र हानि भरी हो, अर्थात् वह इच्छा यदि हानिकारक हो, और उस इच्छा को लौकिक रसायनशास्त्र के उपायों से सहायता मिल सके, तो वह जादू का सा प्रभाव दिखा सकती है। इसके द्वारा मनुष्यों के रहने के स्थानों में भयावनी छायाएं उत्पन्न हो सकती हैं, जिनमें उन्हीं स्थानों में किये गये भयङ्कर पापकर्मों का फिर प्रत्यक्षवत् प्रकाश हो सकता है। वर्षों पहले उन्हीं स्थानों में मनुष्यों ने जो जो खेल खेले हों, वे ही सब फिर नाटक के समान अपूर्ण, अशृ-ङ्खल, असंलग्न रूपसे आंखों के सामने देख पड़ते हैं। चिन्ताएं जो इस भांति एक दूसरे से भिड़ जाती हैं, अनोखे अनोखे रूप धर लेती हैं और उनसे अद्भुत अद्भुत शब्द भी सुनाई पड़ने लगते हैं। इसका यह कारण नहीं है कि ये रूप और ये शब्द किसी दूसरे लोक से आते हैं। वरं यह कि कोई मानवी चिन्ता ही इन चिन्ताओं को उभाड़ कर यह खेल दिखाने लगती है। ये चिन्ताएं यहां तक

शक्तिमती हो जाती हैं कि जिस देखनेवाले मनुष्य को वे आक्रमण करती हैं, और जिसपर बिजुली के वेग के समान झटका देने लगती हैं, यदि वह मनुष्य इन चिन्ताओं के कर्त्ता से ऊंची पदवी का न हो, या अधिक अच्छी भावनाओं को न रखता हो तो, वे उसके प्राण तक को हानि पहुंचा सकती हैं। मनुष्य, शरीर का चाहे जितना दुबला पतला हो, यदि मन उसका पक्का रहे, यदि वह निर्भय हो, तो उन पहले कही हुई चिन्ताओं से उत्पन्न हुई शक्ति उसका कुछ भी नहीं कर सकती। ऐसा भी असम्भव नहीं कि कभी कभी ये शक्तियां इतना ज़ोर पकड़ सकें कि उनका उत्पन्न करनेवाला ही उन्हें देख कर डर जाय, और डरते ही उसका भी नाश हो जाय। बहुधा देखा गया है कि नए तान्त्रिक लोग अपनी ही क्रिया से एक भारी शक्ति बनालेते हैं; परन्तु उसके चलाने का सामर्थ्य न रखने के कारण वज्राहत की नांई वे गिर जाते हैं; अपनी ही क्रिया के वेग में फँस कर वे अपना नाश कर डालते हैं"।

राव साहब ने सुन कर कहा—"इस गुप्तलीला का आभासमात्र तुमने जान पाया है। तुम्हारा मत है कि यदि कोई मनुष्य तुम्हारी वर्णित शक्ति को पा ले तो वह बुरे काम कर सकेगा और उन्हींके कारण वह बुरा कहलावेगा"।

"जैसा मैंने कहा, ऐसा मनुष्य अपनी ऐसी शक्ति से बहुधा बुराही फल पाता है। परन्तु शुद्ध आत्मावाले जीवों को वह कुछ हानि नहीं पहुंचा सकता।"

परन्तु उसी समय किसीने बहुतही मीठे स्वर से मेरे कान में कहा—

"गत १५० वर्षों से मैं तुम्हारे समान जीव की खोज में फिर रहा हूं। अब मैंने तुमको पाया है, और जब तक अपनी कामना पूरी न कर लूं, तुम्हें नहीं छोड़ूंगा। जो भूतकाल की घटनाओं को देखती है; भविष्यत् के पर्दे को उठाने की चेष्टा करती है; वह भावना इस समय तुममें वर्त्तमान है। वह आज तक तुममें नहीं आई थी। वह किसी डरपोक स्त्री की भावना नहीं है; किसी क्षीण स्वप्नदर्शी आत्मा की भावना नहीं है; परन्तु एक हृष्ट पुष्ट तीक्ष्ण मस्तिष्कवाले पुरुष की भावना है। इसीसे मेरा प्रयोजन निकलेगा। ऊपर चढ़ जाओ और देखो!"

मेरे कानों में यह शब्द जाते ही मैं मानो अपनी देह से बाहर निकल आया; मुझे गरुड़ के समान वेगवान पङ्ख मिल गए; बड़ी शीघ्रता से मैं आकाश-मण्डल में चढ़ने लगा। वायु में मानो बोझ ही न रहा; वह बहुत ही हलका होगया; आकाश में ऊपर की ओर मैं चढ़ता ही गया; वहां छत के समान कोई वस्तु मेरी गति रोकने के लिये नहीं मिली। मैं अपने शरीर में नहीं था। मैं नहीं जानता मैं कहां चलने लगा—ऊपर, ऊपर, और ऊपर; समय और पृथिवी सबसे ऊपर ही मैं चढ़ता गया!!

फिर वही मधुर स्वर मेरे कान में कहने लगा—"तुम ठीक कहते हो। इच्छा की शक्ति से मैंने बड़े बड़े गुप्त तत्वों को अपने अधीन कर लिया है; अपनी इच्छा और विज्ञान की सहायता से मैं समय तक को दूर हटा सकता हूं; समय ही अकेला मेरे पास मृत्यु को नहीं ला सकता। जिन घटनाओं से जीव काल के मुख में जा पड़ता है, क्या मैं उन्हें रोकने की शक्ति रखता हूं?"

"नहीं। वह घटना ईश्वर की शक्ति के आधीन है। मानवी शक्ति उस के सामने कुछ भी नहीं है। ईश्वर की इच्छा के सामने मानवी इच्छा बहुत ही क्षीण है।"

"तो क्या मैं अन्त में मर सकता हूं? क्या समय धीरे धीरे, युग युगान्तर के बीतने पर, अवश्य ही मुझे दबा सकता है, वा, जिसे मैं 'घटना' कहता हूं, वह समय पाकर मुझ पर भी अपना प्रभाव डाल सकता है?"

"हां, वही घटना तुम्हारा अन्त कर सकती है।"

"तो क्या मेरा अन्त अभी तक दूर है?"

"जिस रीति से मैं समय की जांच करता हूं, उसके अनुसार अन्त अभी बहुतही दूर है"।

"और क्या मैं, उस अन्त के पहले, फिर संसार में लोगों के साथ उसी भांति मिलूंगा जैसे मैं इन गुप्त नियमों की जानकारी के पहले मिलता था? क्या मैं फिर संसार के झगड़े बखेड़े में लीन हो जाउंगा, और अपनी अभिलाषा पूरी करने के लिये अपनी शक्ति को काम में लाउंगा, जिससे बड़े बड़े राजाओं की शक्ति भी हिल जायगी?"

"हां, तुम भविष्यत् में ऐसे ऐसे अभिनय करोगे जिससे चारों ओर हल चल पड़ जायगी; छोटे बड़े सब आंखें फाड़ फाड़ अवाक् होकर देखते ही रह जायंगे। क्योंकि तुम स्वयं आश्चर्यमय हो; तुम्हारी कल्पनाएं आश्चर्यजनक हैं; तुम कई सौ वर्ष से इन खेलों को खेल रहे हो। जिन जिन गुप्त शक्तियों को तुमने पाया है, उन सबोंसे काम लोगे, उनकी सहायता से तुम इस जगत के स्वामी बन जाओगे। तुम प्रलय के नायक बनोगे, और साथ ही साथ फिर नई सृष्टि भी तुम्हारे ही कारण होगी"।

"यह सब घटनाएं कब होंगी?"

"अभी इनके होने में बहुत दिन—दिन नहीं शताब्दियां बाक़ी हैं। जब वह समय आजाय, तुम समझ लेना कि तुम्हारा अन्तकाल भी आगया"।

मेरे मनमें आपही आप प्रश्न उठने लगे। मैं प्रश्नों का योंही उत्तर देता रहा। वह मधुर स्वर फिर बोल उठा, "बस, चुपरहो; मैंने अपना कार्य कर लिया"। प्रश्न बन्द हो गये। मेरे नेत्रों के सामने सारा जगत चक्कर के समान घूमने लगा; मेरी चेतना जाती रही। जब मैं फिर जागा, मैंने देखा कि मेरा मित्र मुझे पकड़े हुए बैठा है। मुझे सचेत देख कर उसने लम्बी सांस खींची, और तनिक मुसकुरा कर वह बोला, "तुम तो कहा करते थे कि कोई तुम्हारे ऊपर तान्त्रिक प्रयोग करही नहीं सकता। आज तुम्हें इतनी दुर्बलता कहां से आई। तुम राव साहब की इच्छा के वशीभूत हो गए?"

"ऐं, राव साहब? वह कहां गये?"

"चले गये। जब तुम अचेत होगये, उन्होंने कहा, मैं जाता हूं; तुम्हारे मित्र अभी घड़ी भर सचेत नहीं होंगे"।

मैंने पूछा राव साहब कहां रहते हैं? मेरे मित्र ने कहा "दरभङ्गावाली कोठी में"।

मैंने कहा, मैं बहुत दुर्बल हो गया हूं। मुझे थाम लो। आओ एक बार फिर उनके पास चलें"।

परन्तु दरभङ्गा की कोठी में जाकर पूछा तो जान पड़ा कि आध घण्टा हुआ, राव साहब वहां से चले गये, और तब तक रेल पर बैठ कर नगर छोड़ गये होंगे। उनका नौकर उनकी सब चोज़ वस्तु बांध रहा था; उससे वे कलम्बो जाने को कह गये थे। नौकर ने मेरा नाम पूछा, और एक पत्र मेरे हाथ में देकर कहा "वे आपके लिये यह पत्र छोड़ गये हैं"।

पत्र में लिखा था "तुम्हारे मन में जो भावना थी उसे जानने की मुझे इच्छा हुई। तुमने मेरी इच्छा पूर्ण कर दी। इसले तुममें मेरी शक्ति व्याप्त हो गई। आज से चालीस दिन के भीतर आज की घटना तुम किसी जीवित मनुष्य से न कहना; इस पत्र को भी अपने मित्र तक को न दिखाना। चालीस दिन तक मेरे विषय में पूरा मौन धारण करो। क्या मेरी शक्ति पर अब भी तुम्हें विश्वास नहीं है? अच्छा, चाहो तो मौनता को छोड़ो। तुम्हारे चाहने पर भी वह न टूटैगी। करके देखलो। चालीस दिन के अन्त में मेरी शक्ति तुम पर से हट जायगी। मैं फिर तुमसे एक दिन मिलूंगा। अर्थात्, तुम्हारी मृत्यु के चालीस दिन पीछे तुम्हारी चिताभूमि पर फिर तुम्हारी मेरी भेंट होगी"।

मेरी कथा इस भांति पूर्ण हुई। चाहे आप इसका विश्वास कीजिए चाहे न कीजिए, यह आप की इच्छा है। उस घटना के ठीक चालीस दिन पीछे मैं अपनी कथा लिखता हूं। मैंने बारबार चाहा कि बीच में मैं इसे प्रकाश करूं; परन्तु मुझसे न हुआ। मेरे मित्र ने मुझसे कई बार वह पत्र देखना

चाहा और मैंने भी उसे दिखाना चाहा; परन्तु नहीं मालूम किसने बार बार मेरा हाथ नहीं उठने दिया। मेरी इच्छा मेरे वश में नहीं रही।

पार्वतीनन्दन।

दीप्ति-मण्डल और सूर्य्याभास।

ईश्वर की सृष्टि में अनेक आश्चर्य्यमयी लीलायें देखने में आती हैं। समुद्र में, पृथ्वी में, आकाश में—सब कहीं—ऐसी अनेक घटनायें हुआ करती हैं जिनको देख कर आश्चर्य्य होता है और जब तक उसका कारण ठीक ठीक समझ में नहीं आता तब तक मनुष्य उनके विषय में नाना प्रकार की सम्भव और असम्भव कल्पनायें किया करते हैं। सूर्य्य और चन्द्रमा के चारो ओर कभी एक और कभी दो दो तीन तीन घेरे देख पड़ते हैं। ये घेरे बहुधा दिखलाई देते हैं; अतएव उनको देख कर मनुष्यों को विशेष आश्चर्य्य नहीं होता। परन्तु कहीं कहीं दो दो चार चार झूठे सूर्य्य एकही साथ देख पड़ते हैं। उनको देख कर मनुष्यों को महान् आश्चर्य्य होता है। कहीं कहीं के अशिक्षित मनुष्य तो प्रलय निकट आई जान भयभीत हो जाते हैं। वे समझते हैं कि ईश्वर अनेक सूर्य्यों का उदय करके प्राणियों को भस्म कर डालना चाहता है। ये झूठे सूर्य, अर्थात् सूर्य्याभास, विशेष करके उत्तरी देशों ही में देखे जाते हैं; परन्तु प्रकाशमान घेरे, अर्थात् दीप्ति-मण्डल, तो इस देश में भी बहुधा दिखलाई देते हैं।

दीप्ति-मण्डल साधारण रीति पर, एक अथवा दो दिखलाई पड़ते हैं; परन्तु कभी कभी तीन तीन चार चार तक देखे जाते हैं। बहुत दूर, आकाश में, पतले पतले बादलों के बीच ये तेजोवलय अर्थात् मण्डल बनते हैं और सूर्य-चन्द्रमादिक को घेरे रहते हैं। आकाश-स्थित छोटे छोटे आर्द्र परमाणुओं में प्रकाश की किरणों का सब ओर वक्रीभवन होने से ये मण्डल बनते हैं। इन मण्डलाकार प्रकाशों की नक़ल मनुष्य भी कर सकता है; और कई प्रकार से कर सकता है। भाफ में जलती हुई मोमबत्ती रख कर, अथवा जाड़े में, खिड़की के काँचदार किवाड़ों पर मुँह से फूंक कर, कुछ दूर पर रक्खी हुई किसी जलती हुई वस्तु को, उसके भीतर से देखने पर, दीप्तिमान् मण्डल बने हुए स्पष्ट देख पड़ते हैं। तेजोमय मण्डलों के उत्पन्न करने की यह सबसे सरल रीति है।

सर डेविड ब्रूस्टर नामक वैज्ञानिक ने कृत्रिम दीप्ति-मण्डलों को उत्पन्न करने की और एक युक्ति निकाली है। रासायनिक निमकों को काँच पर रगड़ कर उसे स्फटिक के समान कर लेना चाहिए और उसको आंख के सामने रख कर सूर्य अथवा जलती हुई मोमबत्ती की ओर देखना चाहिए। ऐसा करने से भी दीप्ति-मण्डल उत्पन्न हुए देख पड़ते हैं। उदाहरण के लिए घुली हुई फिटकिरी को काँच की चद्दर पर इस प्रकार रक्खो जिसमें वह शीघ्रही स्फटिक के समान हो जावै और चद्दर के ऊपर उसकी सूक्ष्म और बिरल पपड़ी सी पड़ जावै। इस पपड़ी में अत्यन्त छोटे अष्टकोणाकृति परमाणु जम जावेंगे, जो आँख से कठिनतापूर्वक दिखलाई देंगे। जिस ओर फिटकिरी नहीं लगी है, उस ओर काँच की चद्दर को आँख के पास लाकर किसी प्रकाशवान वस्तु को देखो। देखने पर तुमको तीन मण्डल देख पड़ेंगे। ये तीनों मण्डल उस प्रकाशवान् वस्तु को घेरे रहेंगे और एक दूसरे से पृथक् पृथक् अन्तर पर होंगे। इनमें से पहले मण्डल का रङ्ग सफ़ेद होगा; दूसरे का रङ्ग बाहर नीला और भीतर लाल होगा; और तीसरे का रङ्ग कई प्रकार का, परन्तु बहुत चमकीला होगा।

यह साधारण दीप्ति-मण्डलों की बात हुई। कभी कभी सूर्य के इर्द गिर्द असाधारण और अद्भुत मण्डल देख पड़ते हैं। इन मण्डलों का केन्द्र एकही होता है; परन्तु स्वयम् मण्डल अनेक होते हैं। इन मण्डलों में कभी कभी सूर्य्याभास, अर्थात् झूठे सूर्य अथवा झूठे चन्द्रमा, बन जाते हैं।

सूर्य्याभास वा दीप्ति-मण्डल।
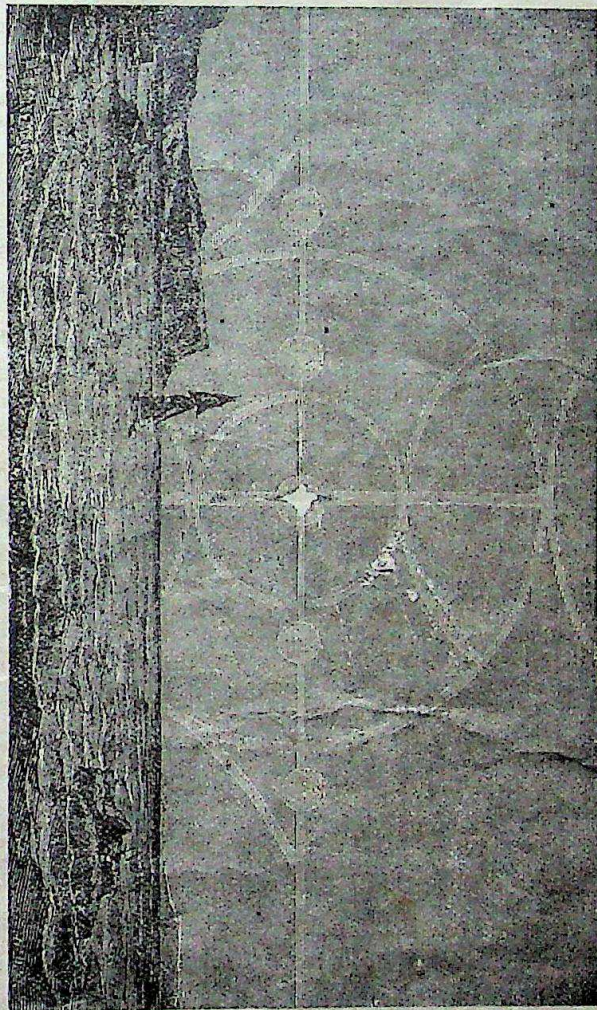
सूर्य्याभास जाड़े के दिनों में होता है और प्रायः उत्तरी ध्रुव के निकटवाले देशों में देखा जाता है। उन देशों में बर्फ़ के टुकड़े वायुमण्डल में तैरा करते हैं। सूर्य की किरणें बर्फ़ के परमाणुओं पर पड़ती हैं और पारदर्शक होने के कारण वे वक्र होकर उनको पार कर जाती हैं। किरणों का वक्रीभवन होना ही सूर्य्याभास का प्रधान कारण है। पाश्चात्य देशों के तत्ववेत्ताओं को बहुत पहले सूर्य्याभास का ज्ञान हुआ था। प्लिनी और सेनेका आदि ने इसका वर्णन किया है और यह भी लिखा है कि उनके पूर्वज भी इस बात को जानते थे।

१६१५ ईसवी में, आइसलैण्ड में बहुत अधिक जाड़ा पड़ा। उस समय, दो, चार, पाँच और नौ तक सूर्य्याभास—झूठे सूर्य—सूर्य के इधर उधर दिखलाई दिये थे। १६२९ में, इटली के रोम नगर में भी कई सूर्य्याभास देख पड़े थे। उनमें से चार सूर्य्याभ्यास प्रायः उतने ही प्रकाशवान् थे जितना स्वयम् सूर्य था। उनके किनारों का रङ्ग इन्द्रधनुष का सा था। उनमें से एक कँप सा रहा था और चारों ओर से अग्नि के समान लाल लाल किरणों का पुञ्ज फेंक रहा था। १८०२ ईसवी में सर हेनरी एंगिलफील्ड ने रिचमण्ड नगर में एक बड़ा ही अद्भुत सूर्य्याभास देखा था। उसका वर्णन रायल इन्स्टीट्यूशन के जरनल में दिया हुआ है। उस समय क्षितिज के ऊपर सूर्य कोई १४ अंश पर था। सूर्य्याभास के साथ दो दीप्तिमण्डल भी थे। उनमें से एक मण्डल सूर्य से २४ अंश पर था; और दूसरा ४८ अंश पर। इन तेजोवलयों अर्थात् दीप्ति-मण्डलों के साथ जो सूर्य्याभास था वह बड़ा ही कौतूहलजनक था। उसका रङ्ग स्वच्छ मोती का सा था; उस समय वह सूर्य से भी अधिक दीप्तिमान् था। उसके प्रान्तभाग—किनारे—सम न थे; कोई बाहर को निकले थे; कोई टेढ़े थे; कोई कैसे, कोई कैसे। उसे देख कर यह जान पड़ता था कि एक बहुत बड़ा तेजोमय पक्षी सूर्य के ऊपर घूम रहा है।

कैप्टन पारी ने बहुत दिनों तक उत्तरी ध्रुव में भ्रमण किया है। एक बार उन्होंने वहां बहुत ही मनोरम दृश्य देखा। इस दृश्य का चित्र हम इस लेख के साथ प्रकाशित करते हैं। इसमें दो पूरे दीप्तिमण्डल एकही साथ दिखाई पड़े—एक छोटा था और एक बड़ा। छोटा मण्डल बड़े के भीतर था। इन दोनों के बीच से, उत्तर-दक्षिण और पूर्व-पश्चिम-गामिनी दो प्रकाशमयी रेखायें निकली हुई थीं। ये रेखायें सच्चे सूर्य को भेद करती हुई चली गई थीं। पूर्व-पश्चिम-गामिनी रेखा ने जिस स्थान पर दीप्ति-मण्डलों को काटा था उसके पास दो एक, ओर और दो दूसरी ओर, ऐसे चार सूर्य्याभास थे। इस दृश्य में जो दो दीप्तिमण्डल थे उन दोनों के ऊपर भी मण्डल थे; परन्तु वे पूर्ण न थे, आधे ही थे। जो छोटा दीप्ति-मण्डल था उसके नीचे भी एक अर्धाकृति मण्डल दिखाई देता था। बड़े दीप्ति-मण्डल के बाहर जो दो सूर्य्याभास थे उनके पास भी एक मण्डल का कुछ भाग देख पड़ता था। पूर्ण और अपूर्ण मण्डलों को मिला कर सब ७ दीप्ति-मण्डल उदित थे। इस प्राकृतिक खेल में सूर्य की उंचाई क्षितिज से २३ अंश पर थी। पहले मण्डल की त्रिज्या उससे २३½ अंश पर और दूसरे की ४५ अंश पर थी।

१८५१ ईसवी में भी यह प्राकृतिक घटना दिखाई दी थी। उस समय इटली के जेनीवा नगर में, सेप्टेम्बर के महीने में, ४ सूर्य्याभास एकही साथ उदित हुए थे। उसको देख कर अशिक्षित और भोलेभाले मनुष्य मारे डर के भयभीत हो उठे। उन्होंने समझा कि पृथ्वी का अन्त निकट आगया और अनेक सूर्य उत्पन्न हो कर इस स्थावर-जङ्गम जगत् को भस्म कर देंगे। इस प्रकार कँपते हुए वे "न्याय के दिन" की प्रतीक्षा कर ही रहे थे कि चारों सूर्याभास धीरे धीरे लोप हो गये!

जल-चिकित्सा ।

[पूर्व-प्रकाशित से आगे]

मेहन-स्नान ।

"सरस्वती" में प्रकाशित हुआ मेहन-स्नान का वर्णन शायद किसी को उद्वेग-जनक हो इसलिए हम उसे यहां पर नहीं देते। जल-चिकित्सा सम्बन्धी यह पूरा लेख पुस्तकाकार अलग छप रहा है। उसमें मेहन-स्नान का भी वर्णन है। जिसकी इच्छा उसे पढ़ने की हो वह इस लेख को इण्डियन प्रेस, प्रयाग, से—मंगा सकता है।

जिसकी इच्छा कूने साहब की चिकित्सा करने की हो उसे नीचे लिखे अनुसार अपनी दिन-चर्य्या रखनी चाहिए—

६ बजे सवेरे—(क) १५ मिनट से लेकर एक घंटे तक, स्नान करनेवाले की शक्ति और ऋतु अनुसार, उदरस्नान।
(ख) स्नान करके बाहर स्वच्छ हवा में घूमने जाना।

९ बजे सवेरे—जो लोग बीमार नहीं हैं वे पूरा स्नान, जैसा रोज़ करते रहे हों, करें। बीमारों के लिए इस स्नान की आवश्यकता नहीं है।

१० बजे सवेरे—(क) भोजन,-बिना छाने हुए गेहूं के आटे की रोटी, फल और दूध, अथवा, (ख) दूध के साथ दलिया; जी चाहै तो तरकारी भी।

२ बजे-दिन—१५ से ३० मिनट तक मेहनस्नान। यदि २ बजे किसीको समय न मिलै तो वह ५ बजे स्नान करै।

५ बजे-दिन—शक्ति के अनुसार बाहर घूमने जाय और घर आकर १५ मिनट से ३० मिनट तक मेहनस्नान करै।

७ या ८ बजे-रात—भोजन—
(क) बीमारों के लिए केवल दलिया।
(ख) जो बीमार नहीं हैं उनके लिए बिना घी के चपाती, दाल, तरकारी और फल।

९ या १० बजे-रात—निद्रा। और सबेरे ५ या ६ बजे फिर उठना।

इस दिनचर्य्या में अपनी अपनी सुकरता के अनुसार मनुष्य फेर फार भी कर सकता है।

किसीको यह न समझना चाहिए कि इस चिकित्सा से सभी रोगी निरोग हो सकते हैं। इससे सब रोग अवश्य अच्छे हो सकते हैं; परन्तु सब रोगी नहीं। जिसके शरीर की सजीवता रोगों के जीर्ण हो जाने से बहुत कम हो जाती है, वह नहीं निरोग हो सकता। परन्तु, हां, और चिकित्साओं की अपेक्षा उसे इससे कुछ न कुछ लाभ होता ही है।

यदि कोई इस चिकित्सा को आरम्भ करै तो उसे दोही चार दिन करके न छोड देना चाहिए। जब तक शरीर निरोग न हो जावे तब तक उसे करते ही जाना चाहिए। यदि चिकित्सा के बीच में कोई रोग खड़ा हो जावै तो उससे डरना न चाहिए, वह दोही चार दिन में शान्त हो जाता है। रोग के आने से स्नान बन्द करना उचित नहीं। यदि तुम कोई औषधि करने लगोगे तो चिकित्सा का क्रम भङ्ग हो जावैगा। औषधियों से रोग केवल दब जाता है; उसकी जड़ नहीं जाती। कारण आते ही वह रोग फिर हो जाता है। परन्तु इस स्वाभाविक जल-चिकित्सा से रोग की जड़ जाती रहती है; और शरीर रोग-रहित, स्वच्छ और हलका हो जाता है। यह चिकित्सा करने में घबड़ाना न चाहिए। धैर्य्य रखना चाहिए। शरीर का निरोग होना एक दिन का काम नहीं है। शरीर से विकारवान् पदार्थों को दूर करने में, किसी किसी को, दो दो चार चार वर्ष लग जाते हैं। जिसके शरीर में जितना ही अधिक विकृत पदार्थ होता है उसे उतना ही अधिक समय उसके निकालने में लगता है।

खाने पीने का विचार।

भोजन के ठीक ठीक न पचने ही से रोग उत्पन्न होता है। इस लिए हमको यह जानना चाहिए कि किस पदार्थ का खाना हमारे लिए लाभदायक है और किसका नहीं। कोई कोई बहुत थोड़ा खाते हैं; परन्तु तिस पर भी वे मोटे ताज़े देख पड़ते हैं और कोई कोई दो दो सेर भोजन करके भी दुबले पतले बने रहते हैं। जिसे क्षयी रोग है वह अनेक पौष्टिक पदार्थ खाकर भी पुष्ट नहीं होता; और जो देखने में मोटा ताज़ा है वह थोड़ा भी अधिक खा जाने से, हिंग्वादि बटी ढूंढ़ता फिरता है। इससे यह सिद्ध होता है कि दोनों प्रकार के मनुष्यों के शरीर में भोजन का ठीक उपयोग नहीं होता। अतएव हमको ऐसे पदार्थ खाने चाहिए और इतने खाने चाहिए जिसमें वे भली भाँति पच जावें और शरीर को उनसे यथोचित लाभ पहुंचे। अर्थात् न तो वे चरबी के साथ विकारवान् पदार्थों को बढ़ा कर शरीर को मोटा ही करें और न बिना पचे मल होकर शरीर से निकलही जावें।

मनुष्य के लिए बहुत मोटा होना अच्छा नहीं। मुटाई, विकारवान् पदार्थों के शरीर में होने का चिन्ह है। शरीर में विशेष बल और सजीवता लाने के लिए खूब घी, दूध, मांस, मछली और मोहन-भोग खाना भूल है; क्योंकि ये पदार्थ भली भाँति नहीं पचते; अतएव उनसे तादृश लाभ नहीं होता। जो पदार्थ सहजही में और शीघ्रही पच जाते हैं वही शरीर को अधिक बली करते हैं। घी, दूध और मांस आदि विशेष पौष्टिक पदार्थों को पचाने के लिए विशेष शक्ति और विशेष परिश्रम दरकार है। बिना परिश्रम के और बिना विशेष शक्ति के वे नहीं पचते; अतएव रोग उत्पन्न करने के वे कारण होते हैं। जितनी ही शीघ्रता से हम खाए हुए पदार्थों को हज़म कर सकैंगे उतनाहीं अधिक वे शरीर को उपयोगी होंगे; और उतनाहीं अधिक वे बल और वीर्य को बढ़ावेंगे। अतएव शरीर का बल, वीर्य और सजीवता पदार्थों के पौष्टिक गुण पर नहीं, किन्तु मनुष्य की पाचन-शक्ति और पदार्थों की पाचकता पर अवलम्बित है।

जो प्रदार्थ जितना अधिक जड़ है उसके पचने में उतनीही अधिक देरी लगती है। इस बात का विचार न करके हम लोग अच्छे अच्छे स्वादिष्ट पदार्थ खा कर स्थूल होते हैं और नाना प्रकार के रोगों से पीड़ित होकर शीघ्र ही इस लोक से प्रस्थान करते हैं।

मनुष्य का स्वाभाविक भोजन फल, फूल और कन्द आदि है। इस बात को हम, यहां पर सप्रमाण सिद्ध करना चाहते हैं; क्योंकि स्वाभाविक भोजन के छोड़ने ही से हमलोग विविध भाँति के रोगों से पीड़ित हो रहे हैं। अभ्यास से मनुष्यों ने अपनी इन्द्रियों की स्वाभाविक शक्ति को ऐसा बिगाड़ डाला है कि जिस वस्तु को देख कर हमें घृणा होनी चाहिए उसेही हम प्रसन्नता-पूर्वक खाते हैं। इस विषय में पशु भी हमसे अच्छे हैं। जो पशु घास खाते हैं वे मांस की ओर देखते तक नहीं; और जो मांस खाते हैं वे घास की ओर दृक्पात नहीं करते। इसी प्रकार फल और कन्द आदि के खाने वाले जीव उन पदार्थों को छोड़ कर घास पात नहीं खाते। प्यास लगने पर भी पशु 'सोडा वाटर' और मद्य नहीं पीते। परन्तु मनुष्य एक विलक्षण पशु है। वह घास पात, फल फूल, मांस मदिरा सभी उदरस्थ कर जाता है। फिर, भला, उसका शरीर क्यों न रोगों का घर हो जावे ?

भोजन के अनुसार थल-चर पशुओं के तीन भेद हैं। मांस-भक्षी, वनस्पति-भक्षी और फल-भक्षी। बिल्ली, कुत्ता और सिंह आदि जितने हिंस्र जीव हैं सब मांस-भक्षी हैं। उनका स्वाभाविक भोजन मांस ही है। इसी लिए उनके दाँत लम्बे, नुकीले और दूर दूर होते हैं। इस प्रकार के दाँतों से ये जीव मांस को फाड़ कर निगले जाते हैं। उन

के दाँतों की रचना से यह स्पष्ट सूचित होता है कि ईश्वरने उन्हें माँस खाने ही के लिए वैसे दाँत दिये हैं। गाय, बैल, घोड़ा, बकरी इत्यादि जीव बनस्पति-भक्षी हैं। इसलिए ईश्वर ने उनके दाँत ऐसे बनाए हैं जिसमें उनसे वे घास को सहज ही काट सकें। उनके दाँतों की रचना ही उनके वनस्पति भक्षी होने का प्रमाण है।

मनुष्य के दाँत न तो मांस-भक्षी पशुओं से मिलते हैं और न घास-भक्षी ही पशुओं से। उनकी बनावट ठीक वैसी ही है जैसी बन्दर आदि फल-भक्षी जीवों के दाँतों की होती है। अतएव यह बात निर्विवाद है, निर्भ्रान्त है, निःसंशय है कि ईश्वर ने मनुष्यों के दाँत फल खाने ही के लिए बनाए हैं। परन्तु हमलोग अब उनसे मांस और मछली काटने लगे हैं; बिस्कुट चबाने लगे हैं; आगरे की दालमोठ और लखनऊ की रेवड़ी तोड़ने लगे हैं ? इस पर भी कोई निरोग होने का दावा कर सकता है ?

मांस-भक्षी जीवों का मेदा छोटा और गोल होता है। उनके शरीर से उनकी अंतड़ियां ३ से लेकर ५ गुना तक अधिक लम्बी होती हैं। वनस्पति-भक्षी पशुओं का मेदा बहुत बड़ा होता है; वे खाते भी अधिक हैं। उनकी अंतड़ियां उनके शरीर से २० से लेकर २८ गुना तक अधिक लम्बी होती हैं। अब रहे फलभक्षी जीव। उनका मेदा मांस-भक्षी जीवों के मेदे से अधिक चौड़ा होता है; और उन की अंतड़ियां उनके शरीर से १० से लेकर १२ गुना तक अधिक लम्बी होती हैं। अब इन तीनों प्रकार के जीवों से मनुष्य का मिलान कीजिए। सिर से लेकर रीढ़ की हड्डी के छोर तक मनुष्य की लम्बाई १½ से २½ फुट तक होती है। और मनुष्य की अंतड़ियों की लम्बाई १६ से लेकर २८ फुट तक होती है। अर्थात् उनकी लम्बाई शरीर (सिर से लेकर रीढ़ के छोर तक) की लम्बाई से १०-१२ गुना अधिक हुई। यहां भी फल-भक्षी पशुओं से मनुष्य की समता मिली। शरीर के अनुसार मनुष्य की अंतड़ियां फल खानेवाले पशुओं ही की सी निकलीं। अतएव मनुष्य के फल-भक्षी होने का यह दूसरा प्रमाण हुआ।

जिस वस्तु को, उसकी स्वाभाविक दशा में, देखकर खाने को जी चाहै वही मनुष्य के खाने योग्य है। उबालने, भूनने और मसाला लगाने से किसी वस्तु की स्वाभाविक अवस्था नहीं बदल सकती। भेड़ बकरे अथवा मछली आदि को देख कर किसका मन उन पर दाँत मारने को होता है? कच्चा साग और कच्ची तरकारी खाने की किसे इच्छा होती है ? फिर उनमें चाहै कितनहीं घी खर्च करैं और चाहैं कितनाही माल मसाला लगावैं, उनकी आन्तरिक दशा वैसीही बनी रहैगी; उसमें कदापि अन्तर न होगा। अतएव जिस वस्तु को उसकी स्वाभाविक अवस्था में देखकर, जी मचलने लगे अथवा घृणा हो वह मनुष्य के खाने योग्य नहीं।

जो वस्तु स्वभाव से जैसी है उसे वैसी ही खाने से वह शीघ्र पच जाती है और शरीर में बल बढ़ाती है। परन्तु हज़ारों वर्ष से हमलोग अस्वाभाविक भोजन कर रहे हैं; अतएव कच्चे अन्न को उसके स्वाभाविक रूप में हम नहीं चाब सकते। क्योंकि हमारे दाँत और हमारा मेदा अशक्त हो गया है। इस लिए जब तक वे बलवान् न हो जावें तब तक अन्न को नरम करके खाना चाहिए। उत्तम यह होगा कि मनुष्य चोकर समेत—बिना छाने हुए—आटे की रोटी खावै। चोकर में एक विशेष प्रकार की पाचक-शक्ति है। अतएव यह न समझना चाहिए कि उससे कोई लाभ नहीं होता। पेट में जाकर चाहै उसका रूप न बदलै और चाहै वह अपने पहले ही रूप में बाहर आजाय; तथापि उसका खाना निष्फल नहीं होता। पेट में पहुंच कर वह अपना काम किए बिना रहता ही नहीं।

जैसा ऊपर कहा गया, मनुष्य फल-भक्षी है। खेत, बाग़ और जङ्गल में होनेवाले फल और कन्द (मूल-जड़) मनुष्य का स्वाभाविक भोजन है। इन पदार्थों में से, जिनको देखने, सूंघने अथवा

स्वाद लेने से, घृणा हो, जी मचलाने लगे, दुर्गन्ध दें अथवा कड़ुवे लगें, उनको न खाना चाहिए। कन्द अर्थात् जड़ की अपेक्षा फल खाना अधिक लाभ-दायक है। कन्द कभी कभी खाना चाहिए। चौराई, पालक, मेथी आदि साग मनुष्य के लिए उपयोगी नहीं। उनको वनस्पति-भक्षी जीवों के लिए छोड़ देना चाहिए। जो पदार्थ अपने स्वाभाविक रूप में खाये जाने से अच्छे लगते हैं; अथवा जिनको, स्वाभाविक रूप में देख कर, खाने को जी चाहता है, वे शीघ्र पच जाते हैं; और वेही सबसे अधिक बल-वर्द्धक होते हैं। जिनको कूटना, पीसना उबालना, भूनना, मसाला या नमक लगाना, और घी या सिरके में डालना पड़ता है, उनकी पाचकता जाती रहती है; अतएव स्वाभाविक पदार्थों की अपेक्षा वे कम बल-वर्द्धक होते हैं। जिन पदार्थों को उनके स्वाभाविक रूप में देख कर घृणा हो अथवा जी मचलाने लगे वे, तलने, भूनने और मसाला लगाने पर चाहे जितने स्वादिष्ट क्यों न हों, हानिही करेंगे; क्योंकि वे मनुष्य के खाने के लिए बनाए ही नहीं गए।

पीने के लिए मनुष्य को स्वच्छ जल काम में लाना चाहिए। बर्फ, सोडा वाटर, शरबत इत्यादि प्रवाही पदार्थ अस्वाभाविक हैं। विचार-पूर्वक देखने से उनसे लाभ की अपेक्षा हानिही अधिक होती है। जो पदार्थ जल के समान पतले और प्रवाही हैं वे अप्रवाही पदार्थों की अपेक्षा अधिक देर में हज़म होते हैं अतएव उनको पीना अच्छा नहीं।

तरकारी इत्यादि बनाने में, जहां तक हो सके पानी कम डालना चाहिए। पकाते समय पानी को तरकारी के साथ ही रहने देना चाहिए; उसके फेंकने से उसके साथ उस पदार्थ का बल-वर्द्धक अंश भी जाता रहता है। दाल के साथ उसका छिलका भी रहने देना चाहिए।

पके हुए फलों की अपेक्षा कम पके और कच्चे फल शीघ्र पच जाते हैं। इस लिए जो बीमार हों अथवा जिनकी पाचन-शक्ति क्षीण हो गई हो उनको कच्चे अथवा कम पके हुए फल खाने चाहिए।

बीमार को चाहिए कि वह खाने पीने का बहुत विचार रक्खै; कोई वस्तु ऐसी न खाय जो शीघ्र ही न पचती हो। जब तक एक बार का खाया हुआ भोजन हज़म न हो जाय तब तक दुबारा न खाना चाहिए। घी बिलकुल ही न खाना चाहिए। नमक भी बहुत ही कम खाना चाहिए; न खाय तो और भी अच्छा है। जिनको रोटी पचाने की शक्ति न हो वे गेहूं का दलिया पानी में पका कर और थोड़े से किसमिस के दाने उसमें डाल कर खायँ। किसमिस डालने से दलिया में मीठापन आ जाता है; और खाने में वह स्वादिष्ट लगती है।

जल-चिकित्सा के समय शरीर के भीतर के सब अवयव अपना अपना काम बड़े परिश्रम से करते हैं; वे अनुपयोगी पदार्थों को शरीर से बाहर निकालने में लगे रहते हैं। इसलिए कठोर पदार्थ खाकर, उनके पचाने में, उनसे अधिक परिश्रम न लेना चाहिए। जब तक खाने पीने की मन से इच्छा न हो तब तक कुछ न खाना चाहिए। इच्छा होने पर रोटी, दलिया, कच्चे, कम पके अथवा पके हुए फल खाना लाभदायक होता है। कभी कभी ताज़ा दूध—बिना गरम किया हुआ—दलिया के साथ खाना चाहिए। इच्छा हो तो अठवारे में दो एक बार दाल भी दलिया के साथ मनुष्य खा सकता है। भोजन का पदार्थ ठंढा हो जाने पर खाना चाहिए और उसे मुँह में भली भाँति दाँत और डाढ़ों से कुचल कर निगलना चाहिए। खुली जगह में भोजन करने से खाया हुआ पदार्थ शीघ्र पच जाता है, क्योंकि बाहर बैठने से अन्न के साथ वायु का संयोग होता है। घर के भीतर बन्द जगह में भोजन करने से अन्न देर में पचता है।

कूने साहब का मत है कि ताज़ा दूध, बिना गरम किया हुआ, पीना चाहिए। वे कहते हैं कि यदि दूध में कोई रोगकारक परमाणु होंगे तो वे

गरम करने से भी नहीं जायँगे। परमाणुओं का क्या कभी नाश होता है? किसी न किसी रूप में वे बने ही रहते हैं। अतएव दूध, उसके स्वाभाविक रूप ही में, पीना चाहिए।

सबसे अधिक बल-वर्द्धक वही पदार्थ है जो शीघ्र पच जावै। यदि हम इसका विचार न करें और मन माना भोजन करें तो जब तक वह भली भाँति न पच जाय, तब तक और कुछ न खाना चाहिए। हमलोग इसका विचार नहीं करते; इसीलिए रोगी बने रहते हैं। दिन में दो बार भोजन करना बस है। एक बार १० बजे सवेरे; दूसरी बार ८-९ बजे शाम को। बीच में कुछ न खाना चाहिए। कभी कभी एक आध उपवास कर डालना अच्छा है। एकादशी का व्रत, जिसे हमलोग प्रति पन्द्रहवें दिन करते हैं, इसलिए बहुत अच्छा है, और कूने साहब के मत के अनुकूल है। अनुकूल नहीं; उनके मत का पोषक है। हमलोग अनन्त काल से उसे रखते आते हैं। एकादशी का फलाहार, हमको हमारे अरण्यवासी पूर्वजों के कन्द मूल और फल फूल पर निर्वाह करने की वृत्ति का स्मरण दिलाता है। चिरकाल से नाना प्रकार के स्वादिष्ट पदार्थों का सेवन करते रहने के कारण, अब, इस समय, सहसा हम फलाहार ही पर जीवन निर्वाह नहीं कर सकते। इसलिए क्रम क्रम से यदि मनुष्य उसका अभ्यास करने लगें और किसी समय केवल फलाहारी हो जावें तो क्या ही अच्छी बात हो। जिस प्रकार हमारे प्राचीन ऋषि, मुनि महात्मा और तपस्वी फलादिक ही से अपनी क्षुधा शान्त करके सदैव ही शान्तशील और सात्विक जीवन निर्वाह करते थे वैसे ही हमलोग भी करने लगें तो हमारा कल्याण होने में देर न लगै। इसमें कोई संशय नहीं कि मनुष्य जैसा भोजन करता है वैसा ही उसका आचरण भी हो जाता है। जो योगसाधन करते हैं; अथवा जो सात्विक वृत्ति की इच्छा रखते हैं, उनके लिए फलाहार से अधिक लाभ-दायक दूसरा पदार्थ पृथ्वी पर नहीं है। अतएव यदि, किसी समय, हमलोग केवल फल मूल पर निर्वाह करने लगें तो हम वैसे ही सात्विकशील, वैसे ही सत्य-धन, वैसे ही नीरोग, वैसे हो पुण्यात्मा और वैसे ही सुखी हो जावें जैसे ३००० वर्ष पहले हमारे अरण्यवासी पूर्वज थे। यदि कभी ऐसा मङ्गलमय समय आवै तो आधि, व्याधि, दुःख, दरिद्र, रोग और वेदना का समूल नाश हो कर उनका नामही शेष रह जावै!

कई हज़ार वर्ष पहले होनेवाले हमारे फलाहारी ऋषि लिखते हैं—

> एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म।

अर्थात् ब्रह्म एक ही है। गत उन्नीसवीं शताब्दी में कूने साहब कहते हैं, रोगों का कारण एक ही है; और उनको चिकित्सा भी एकही है। ब्रह्म भी अद्वितीय; रोगों का कारण भी अद्वितीय; और उनकी चिकित्सा भी अद्वितीय! हमारे शास्त्र भी हिंसा का निषेध करते हैं; कूने साहब भी हिंसा का निषेध करते हैं!! यदि मानव-जाति हमारे वेदान्त-शास्त्र का अध्ययन और कूने साहब की चिकित्सा का अनुकरण करें तो निर्दयता संसार से उठ जावै; जीवों के साथ दया का बर्ताव होने लगै; और सब कहीं सुख और शान्ति ही देखने में आवै!!!

कामिनी-कौतूहल।

१—श्रीमती निर्म्मलाबाला सोम, यम० ए०।

आज हम "लेडीज़ मैगेज़ीन" से एक देशी स्त्री का संक्षिप्त चरित लिखते हैं जो स्वदेशी स्त्रियों में, जहां तक अँगरेज़ी विद्या से सम्बन्ध है, सबसे अधिक विदुषी-विद्यावती है। पिताहीन होकर और अनाथ के समान एक पाठशाला में रह कर उसने विद्या पढ़ी। विद्या प्राप्ति में उसे अनेक मानसिक और शारीरिक कष्ट

मिले; परन्तु उसने बड़े साहस और बड़े धैर्य्य से सबको सहन किया, और पूर्ण शिक्षिता होने तक पाठशाला को नहीं छोड़ा। इस विद्या-प्रिय नारी का नाम निर्म्मलाबाला सोम है।

निर्म्मलाबाला का जन्म २३ एप्रिल १८६६ ईसवी को हुआ। उनके पिता का नाम उमेशचन्द्र मुकुर्जी था। जब वे एक वर्ष की हुईं तब उनको हैज़ा होगया; परन्तु ईश्वरने उससे उनकी रक्षा की। क्यों न रक्षा करता? निर्म्मलाबाला को उसे शिक्षित-समाज में प्रसिद्ध और सम्मान्य करना था न। निर्म्मलाबाला की बुद्धि बड़ी तीक्ष्ण—तीक्ष्ण क्या आश्चर्य्यकारिणी थी। सातही महीने की अवस्था में वे अस्पष्ट बोलने लगी थीं; एक वर्ष की होने पर तो वे प्रत्येक शब्द साफ़ साफ़ उच्चारण कर सकती थीं। जहां निर्म्मलाबाला के माता पिता रहते थे वहां छोटे छोटे बच्चों के पढ़ने के लिए एक पाठशाला थी। एक दिन उस पाठशाला के शिक्षक की स्त्री निर्म्मलाबाला की माता के पास आई। उसने निर्म्मला को पाठशाला में ले जाने की आज्ञा माँगी और कहा कि उसका पति उसे पाठशाला में केवल इस लिए बिठाले रहैगा जिसमें उसे देख कर दूसरे बच्चे भी वहां प्रसन्नता से जांय। उसने यह भी कहा कि उसका पति निर्म्मला को कुछ पढ़ावैगा नहीं; और जब तक वह पाठशाला में रहैगी तब तक वह उसे बहुत अच्छी तरह रक्खैगा। निर्म्मला के माता पिता ने यह बात स्वीकार की; और उस दिन से वह प्रति दिन पाठशाला को जाने लगी।

जो बालिका एकही वर्ष की उमर में शब्दोच्चारण करने लगी थी, वह पाठशाला में चुपचाप भला कैसे बैठती? उसने पाठशाला के शिक्षक से प्रार्थना करके बँगला की प्रथम पुस्तक माँगली और उसे बहुत शीघ्र उसने समाप्त कर डाली। परन्तु यह बात उसने अपने माता पिता से नहीं कही। वह अपनी किताबैं भी घर न लाती थी। यह बात बहुत दिन तक छिपी न रह सकी। जब निर्म्मला के माता पिता घर पर उसे पढ़ने न देने लगे, और उसकी पुस्तकैं तक छीन लेने लगे, तब लाचार होकर वह घर छाने के खपरों—नरियों—पर ईंट के छोटे छोटे टुकड़ों से अपना पाठ लिख लिख कर उसे सीखने लगी। इसीको विद्याभिरुचि कहते हैं।

५ जून १८७३ ईसवी को बाबू उमेशचन्द्र का देहान्त हुआ। उस समय निर्म्मलाबाला की अवस्था केवल ७ वर्ष की थी। उनके पालन पोषण का भार उनकी माता पर पड़ा। पढ़ने लिखने के लाभ उस समय तक माता को भली भाँति विदित हो गये थे। इसलिए बालिका निर्म्मला के अध्ययन में बाधा डालना उन्होंने बन्द कर दिया था। वे उसे उसकी रुचि के अनुसार पढ़ने देती थीं; कोई प्रतिकूलता अथवा प्रतिबन्धकता न करती थीं। पिता के मरने पर डेढ़ वर्ष तक निर्म्मला बाला लड़कियों के दूसरे स्कूल में जाती रहीं। वहां उन्होंने अपनी पहली परीक्षा दी। उसमें वे बड़ी योग्यता से पास हुईं। पास होने वाली लड़कियों में उनका बहुत ऊंचा नम्बर आया। उनको २ रुपए मासिक छात्रवृत्ति भी मिलने लगी। तब वे यफ० सी० नार्मल स्कूल में भेजी गईं। वहां उनके भोजन वस्त्र का भी प्रम्बन्ध होगया। उस पाठशाला के छात्रालय में वे माता-पिता-हीन अनाथ बालिकाओं के प्रकार पर रहने लगीं। वहां वे दस वर्ष तक रहीं; और विवाह होने के केवल २० दिन पहले उन्होंने उसे छोड़ा।

इस नार्मल स्कूल में निर्म्मलाबाला को अनेक कष्ट उठाने पड़े। वे स्वभाव ही से बहुत अशक्त और सुकुमार थीं। बहुधा वे बीमार भी हो जाया करती थीं। अनाथ बालिकाओं के लिए जिस प्रकार का भोजन दिया जाता था उससे उनकी तृप्ति न होती थी। वह उन्हें अच्छा न लगता था। उनकी विधवा माता उनके दैनिक ख़र्च का भी प्रबन्ध न कर सकती थीं। इन कारणों से कभी कभी उनको भूखा रहना पड़ता था। परन्तु उन्होंने यह सब बड़े धैर्य से सहन किया।

एक सुकुमार बालिका की इस सहिष्णुता का विचार करके आश्चर्य्य होता है। ऐसी दुरवस्था में पड़ कर भी निर्म्मलाबाला ने उस पाठशाला में बड़ा नाम किया। वे सदैव अपने क्लास में सबसे ऊंची रहीं। हर साल हर परीक्षा में उनका पहला नम्बर रहा। यही नहीं, हर विषय में भी वही श्रेष्ठ रहीं; किसी दूसरी लड़की ने उनसे पार नहीं पाया। हर साल, हर विषय में पहला पारितोषिक सदा उन्हींको मिला। उनको हर साल, इस प्रकार, पारितोषिक पाते देख लोगों को आश्चर्य्य, आनन्द और कुतूहल, सब साथ ही होते थे।

केवल १५ वर्ष की अवस्था में, निर्म्मलाबाला ने १८८१ ईसवी में प्रवेशिका परीक्षा पास की। यह परीक्षा उन्होंने ऐसी योग्यता से पास की कि १० रुपये मासिक छात्रवृत्ति (वज़ीफ़ा) उन्हें मिला। उनकी इस सफलता पर प्रसन्न होकर महाराजा बनारस ने उन्हें एक सुन्दर साड़ी पारितोषिक दी। १८८३ ईसवी में उन्होंने यफ़० ए० की परीक्षा पास की। इस परीक्षा में उन्होंने और भी अधिक योग्यता दिखलाई, जिसका यह फल हुआ कि, २५ रुपए मासिक छात्रवृत्ति तो उन्हें गवर्नमेण्ट से और १० रुपये मासिक की उनके स्कूल से मिली। इस प्रकार ३५ रुपए की मासिक वृत्ति उनको मिलने लगी। १८८५ ईसवी में वे बी० ए० की परीक्षा के लिए सब प्रकार तैयार थीं, परन्तु अपने भावी पति को साथ लेने की इच्छा से वे उसमें शामिल न हुईं। बाबू जे० यन० सोम के साथ उनका विवाह होनेवाला था। वे भी बी० ए० क्लास में थे; परन्तु परीक्षा के लिए तैय्यार न थे। इस कारण निर्म्मलाबाला ने अपने पति से पहले परीक्षा देकर बी० ए० होना उचित न समझा। धन्य उनकी पति-प्रीति!

१८८५ ईसवी में श्रीमती निर्म्मला बाला का विवाह बाबू जे० यन० सोम के साथ हुआ। तब से उनके पढ़ने लिखने में विघ्न होने लगा। उस समय उन्होंने लड़कियों का एक छोटा सा स्कूल भी खोला था। उसमें भी उनका बहुत सा समय जाता था। तथापि उनको विद्या की ऐसी रुचि थी कि स्कूल और घर के काम काज निपटा कर अध्ययन के लिए भी वे थोड़ा बहुत समय निकाल ही लेती थीं।

१८८७ ई० में श्रीमती निर्म्मलाबाला ने अपने पति के साथ बी० ए० की परीक्षा दी; और दोनों ने उसे साथ ही पास किया। इस जोड़ी की सफलता पर कलकत्ते के प्रायः सभी समाचार पत्रों ने प्रसन्नता प्रकट की और उनके पास करने के समाचार को बड़ी प्रशंसा के साथ उन्होंने प्रकाशित किया। अमेरिका को छोड़ कर शायद यही एक ऐसा देश है जहां स्त्री और पुरुष दोनों ने एकही साथ विद्यालय की एक उच्च परीक्षा में अभिनन्दन-पत्र पाया। यम० ए० और बी० ए० आदि उच्च परीक्षाओं में पास होनेवाले विद्यार्थियों को सनदें देने के लिए जब कलकत्ते के विश्वविद्यालय ने सभा की, तब श्रीमती निर्म्मलाबाला अपने पति के साथ वहां उपस्थित हुईं। उस समय प्रायः सब की दृष्टि इन्हींकी ओर थी। सभा की समाप्ति होने पर लाट साहब (वाइसराय) अपने स्थान से उठकर श्रीमती निर्म्मला के पास आये और आकर उनसे हाथ मिलाया।

१८९१ ई० में इन्होंने अँगरेज़ी-साहित्य में यम० ए० पास किया। उसी वर्ष वे जातीय महा-सभा अर्थात् कांग्रेस में जाने के लिए प्रतिनिधि चुनी गईं। इसके ३ वर्ष पीछे इन्होंने दर्शन-शास्त्र में भी यम० ए० पास किया। अतएव वे अँगरेज़ी के साहित्य में भी आचार्य्य और दर्शन में भी आचार्य्य हुईं। यह उनके लिए बड़े गौरव की बात है; उन्हींके लिए नहीं, समग्र स्त्री-जाति के लिए गौरव की बात है; और इस देश के लिए तो और भी अधिक गौरव की बात है। १८९५ में कलकत्ता विश्वविद्यालय के व्हितीय अध्यक्ष, सर आलफ़्रड क्राफ़्ट ने, अपनी वक्तृता में निर्म्मलाबाला की बड़ी बड़ाई की। उन्होंने कहा कि भारतवर्ष में यह पहली नारी हैं जिन्होंने दो

विषयों में यम० ए० पास करके आचार्य्यता प्राप्त की। विश्व-विद्यालय के अधिकारियों की ओर से सर आल्फ़्रेड ने बहुत प्रसन्नता प्रकट की और अनेक उत्साह-बर्द्धक वाक्यों से उनकी विद्याभिरुचि, योग्यता और उनके परिश्रम की स्तुति की।

श्रीमती निर्म्मलाबाला को स्कूल और घर के कामों से यद्यपि बहुत ही कम अवकाश मिलता है, तथापि उनको विद्या का ऐसा व्यसन हो गया है कि उसके लिए वे कुछ न कुछ समय निकाल ही लेती हैं। उन्होंने और अध्यापक यस० सी० मुकुर्जी, यम०ए०, बी०यल०, ने मिल कर कविवर स्काट की "लेडी आफ दि लेक" और कविवर ट्यनिसन की "चुनी हुई कविता" की टीका लिखी है। इन पुस्तकों को विद्वानों ने बहुत पसन्द किया। उनकी बिक्री भी ख़ूब हुई।

१८९९ में विश्व-विद्यालय के अधिकारियों ने श्रीमती निर्म्मलाबाला की विद्वत्ता पर प्रसन्न हो कर उनको प्रवेशिका परीक्षा में अँगरेज़ी का परीक्षक नियत किया। इस काम को श्रीमती ने ऐसी योग्यता से किया कि तबसे वे बराबर प्रवेशिका परीक्षा में परीक्षक नियत होती हैं।

अमेरिका-निवासिनी कुमारी गार्डनर नामक एक विद्वान् स्त्री की सहायता से १८८७ ईसवी में श्रीमती निर्म्मलाबाला ने केवल ५ लड़कियां इकट्ठा करके लड़कियों का एक "हाई" स्कूल खोला। इस स्कूल को उन्होंने ऐसी उत्तमता से चलाया कि १८९१ में इसमें प्रवेशिका परीक्षा तक की पढ़ाई होने लगी। गत वर्ष से यह स्कूल कालेज होगया है और श्रीमती निर्म्मला उसकी सफलता के लिए परिश्रमपूर्वक प्रयत्न कर रही हैं।

श्रीमती निर्म्मलाबाला के आचार, व्यवहार और धर्म्मसम्बन्धी विचार चाहे जैसे हों, उनकी विद्या-प्रीति इस देश की स्त्रियों के लिए नमूना है। जिस दशा में उन्होंने विद्या पढ़ी है उस दशा में रह कर स्त्रियों की तो जाने दीजिए, पुरुष भी शायद ही कोई उनके समान उच्च परीक्षायें पास कर सकेगा। हमारे देश की स्त्रियों को सुशिक्षित करने की आवश्यकता है। सुशिक्षा द्वारा उन की शारीरिक और मानसिक दशा को सुधारना देश के हितचिन्तकों का परम धर्म्म है। श्रीमती नर्म्मलाबाला आदि के उदाहरणों से यह सिद्ध है, कि इस देश की स्त्रियों में शिक्षा की ग्रहणपात्रता और देश की स्त्रियों से किसी प्रकार कम नहीं है। अतएव उनको सुशिक्षा देने का यदि हम लोग प्रबन्ध न करें तो यह सर्वथा हमारा ही दोष है।

२—गर्भ के आकार और परिमाण।

बहुत लोग—विशेष करके स्त्रियां—यह समझती हैं कि गर्भ उत्पन्न करना ईश्वर के आधीन है। यों तो ईश्वर सभी बातों का प्रेरक है; कोई काम उसकी आज्ञा बिना नहीं हो सकता; यहां तक कि उसकी इच्छा बिना पेड़ की एक पत्ती तक नहीं हिल सकती। परन्तु जैसे खाने पीने, पढ़ने लिखने, उठने बैठने और उद्योग धन्धा करने आदि में, प्रत्यक्षरूप से ईश्वर का कर्तृत्व नहीं पाया जाता, वैसेही गर्भसञ्चार होने में भी उसकी प्रत्यक्ष सहायता नहीं देखी जाती। गर्भ-सञ्चार होना कुछ नियमों के आधीन है; नियम के अनुसार एक विशेष प्रकार की घटना होने ही से गर्भ का सञ्चार हो जाता है।

स्त्री के गर्भाशय के दोनों ओर बादाम के समान छोटे छोटे दो अण्डाशय होते हैं। उनमें हर महीने एक प्रकार के महा-सूक्ष्म अण्डे उत्पन्न होते हैं। जब वे पक जाते हैं तब एक नली के भीतर से होकर वे गर्भाशय में पहुंचते हैं। वे सजीव होते हैं। पुरुष के वीर्य में भी एक प्रकार के अत्यन्त छोटे जन्तु होते हैं। जब स्त्री के अण्डे गर्भाशय की ओर चलते हैं तब यदि पुरुष के इन जीवधारी जन्तुओं से उनका समागम, गर्भाशय में अथवा वहां पहुंचने के पहलेही, हो जाय तो और और बातों के अनुकूल होने से, तुरन्तही गर्भ-धारण हो जाती है। इस बात का वर्णन सरस्वती की गत संख्या में हो चुका है।

जो लोग यह समझते हैं कि गर्भ कई महीने का हो जाने पर सजीव होता है वे भूलते हैं। गर्भाशय में गर्भ का सञ्चार होने के समय भी गर्भ सजीव ही रहता है। गर्भ के मूल बीज जब सजीव रहते हैं तब स्वयं गर्भ के सजीव होने में क्या सन्देह? हमारे वैद्यक-शास्त्र के अनुसार भी स्त्री-पुरुष के बीज का संयोग होते ही जीव का गर्भ में प्रवेश करना लिखा है। देखिए—

शुक्रार्तवसमाश्लेषो यदैव खलु जायते।
जीवस्तदैव विशति गर्भे शुक्रार्तवान्तरम्॥

अर्थात् मनुष्य के शुक्र (वीर्य) और स्त्री के आर्तव (मासिक स्राव) का योग होते ही गर्भ में जीव प्रवेश करता है। अतएव गर्भ की सजीवता के सम्बन्ध में कोई संशय नहीं है। जब तक गर्भ कुछ बड़ा नहीं होता तब तक उसके बहुत छोटे होने के कारण, उसका स्फुरण होना अर्थात् उसका चलन वलन स्त्री को नहीं जान पड़ता। इसीलिए शायद स्त्रियां समझती हैं कि जब गर्भ कुछ महीने का हो जाता है तब उसमें सजीवता आती है; क्योंकि चार पाँच महीने का होने के पहले उसके स्फुरण का ज्ञान उनको नहीं होता।

यह बात बहुधा ठीक ठीक समझ में नहीं आती कि किस दिन गर्भ का सञ्चार हुआ। अन्त के मासिकधर्म के दो एक दिन पहले, अथवा नौ दस दिन पीछे, विशेष करके गर्भ की धारणा होती है। परन्तु इस बीच में यदि एक से अधिक बार स्त्री-पुरुष का योग हुआ तो गर्भ-सञ्चार का ठीक दिन जानने में नहीं आता। इसी लिए, डाकृर लोग गर्भ के आकार और परिमाण को ठीक ठीक नहीं बतला सकते। तथापि जहां तक जाना गया है १४ दिन के अनन्तर गर्भ का आकार एक छोटे चावल के बराबर हो जाता है। उस समय उसकी लम्बाई एक इंच के बारहवें हिस्से से कभी थोड़ी कम और कभी थोड़ी अधिक होती है। जब २१ दिन हो जाते हैं तब गर्भ का आकार बढ़कर बड़े चींटे के बराबर हो जाता है। इस आकार को नीचे के चित्रों में देखिए—
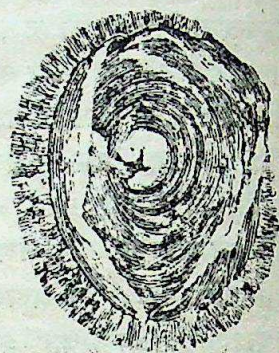
२१ दिन का गर्भ।

इस चित्र के ठीक बीच में जो कुछ देख पड़ता है वही गर्भ है। जब गर्भ ३० दिन का हो जाता है तब यह जान पड़ने लगता है कि सिर किधर है और पैर किधर। उस समय उसकी लम्बाई एक इञ्च के तीसरे हिस्से के बराबर हो जाती है और हाथ, पैर, मुँह आदि मुख्य मुख्य अवयवों के चिन्ह भी दिखाई देने लगते हैं। और बड़ा होने से वे अवयव बन जाते हैं और साफ़ साफ़ देख पड़ने लगते हैं। नीचे का चित्र देखिए—

डेढ़ महीने का गर्भ। दो महीने का गर्भ।

पहिले चित्र से जान पड़ेगा, कि शरीर के परिमाण को देखते, सिर बहुत बड़ा है; धड़ लम्बा और नुकीला है; हाथ पैरों का आकार आम के अँकुर के समान है; काले काले चिन्ह आँख, नाक और मुँह का स्थान सूचित करते हैं। इस समय गर्भ की लम्बाई एक इञ्च के लगभग होती है।

जब गर्भ दो महीने का हो जाता है तब शरीर के प्रायः सब अवयव साफ़ साफ़ देख पड़ने लगते

हैं। पलकें भी हो आती हैं; उस समय वे काँच के समान चमकती हुई देख पड़ती हैं। नाक नीचे को बढ़ आती हैं; मुँह बड़ा हो जाता है; और उँगलियां और अँगूठे भी निकल आते हैं। ऊपर चित्र देखिए।

तीसरे महीने पलकें अधिक साफ़ हो जाती हैं; परन्तु दृढ़ता से बन्द रहती हैं। नाक के दोनों किनारे देख पड़ने लगते हैं; ओठ भी हो आते हैं। परन्तु मुँह बन्द रहता है। इस महीने में प्रजोत्पादक अङ्ग (जननेन्द्रियां) बहुत शीघ्रता से बढ़ते हैं। सिर में भेजा भी हो आता है; परन्तु पानी के समान पिचपिचा रहता है। रीढ़ की हड्डी भी उत्पन्न हो जाती है; परन्तु उसमें भी पिचपिचापन रहता है। फेफड़ा अर्थात् सांस लेने की नलियां बहुतही छोटी रहती हैं; परन्तु उनकी अपेक्षा कलेजा बड़ा होता है। दिल का धड़कना साफ़ जान पड़ता है। ऊपर और नीचे के सब अंग खूब बढ़ आते हैं। इस समय गर्भ की लम्बाई साढ़े तीन इञ्च हो जाती है। तौल में वह कोई डेढ़ छटांक होता है।

चौथे महीने सिर और कलेजे की बाढ़ कम हो जाती है; परन्तु और और अवयव अधिक बढ़ते हैं। इस समय गर्भ में इतनी शक्ति आ जाती है कि वह हिलने डुलने लगै; इसलिए उसका स्फुरण होना कभी कभी जान पड़ने लगता है। साढ़े चार महीने का होने पर उसकी लम्बाई पांच या छ इञ्च हो जाती है। तौल में वह कोई दो ढ़ाई छटांक होता है।

पांचवें महीने गर्भ के पट्ठे अच्छी भांति देख पड़ने लगते हैं, और पेट के भीतर उसका स्फुरण होना पहले से अधिक जान पड़ता है। इस समय तक भी सिर बहुत बड़ा रहता है। रेशम के समान पतले चिकने बाल सिर पर निकलने आरम्भ होते हैं। लम्बाई सात से नौ इञ्च तक होती है; और वज़न ३ छटांक से लेकर पाव भर तक।

छठे महीने त्वचा (चमड़ा) हो आती है। उसका रङ्ग कुछ बैंगनी होता है। वह बहुत चिकनी और कमज़ोर होती है। देखने से जान पड़ता है कि वह कहीं कहीं सिकुड़ी सी है। गर्भ की लम्बाई इस समय, दस बारह इञ्च होती है; और उसका वज़न कोई सेर भर होता है। छ महीने के गर्भ से उत्पन्न हुआ बालक सांस ले सकता है, और दो चार मिनट रोता भी है; परन्तु जी नहीं सकता।

सातवें महीने गर्भ के सब अवयव प्रायः अपनी स्वाभाविक अवस्था को पहुंच जाते हैं। सिर नीचे की ओर हो जाता है। पलकें अलग अलग हो जाती हैं और उनके ऊपर की झिल्ली जाती रहती है। इस समय गर्भ का आकार कुछ अधिक गोल हो जाता है और चमड़े में एक प्रकार की अरुणता आजाती है। लम्बाई चौदह इञ्च के लगभग हो जाती है; और वज़न कोई डेढ़ सेर।

आठवें महीने गर्भ की लम्बाई चौड़ाई बढ़ जाती है। हाथ पैर और सिर की हड्डियां तथा पसुली दृढ़ हो जाती हैं। नँह भी भली भांति बन जाते हैं। इस समय लम्बाई सोलह इञ्च और वज़न दो सेर होता है।

नौ महीने हो जाने पर गर्भ के बालक की लम्बाई १८ से २० इञ्च तक होती है और वज़न ३ से ४ सेर तक होता है। इस समय वह पूर्ण अवस्था को पहुंच जाता है और सब प्रकार उत्पन्न होने के योग्य हो जाता है, क्योंकि प्रायः २८० दिन में प्रसूति होती है।

गर्भ के जो आकार और परिमाण यहां दिये गये हैं, वे साधारण नियमों के अनुसार हैं। परन्तु डाक्टरों को ऐसे अनेक उदाहरण मिले हैं जिनमें गर्भ का आकार और परिमाण पूर्वोक्त हिसाब से अधिक था। जन्म होने पर किसी किसी बालक की लम्बाई २४ इञ्च अर्थात् दो फुट तक देखी गई है। किसी किसी का वज़न जन्म के समय पाँच सेर से लेकर सात सेर तक पाया गया है! दो एक उदाहरण तो ऐसे देखने में आये हैं जिनमें तत्काल जन्मे हुए बालक का वज़न नौ सेर के लगभग था! यदि दो लड़के एकही साथ होते हैं तो उनमें से प्रत्येक का वज़न कम रहता है; परन्तु दोनों का मिलाकर अकेले होनेवाले बालक से अधिक होता है। फ्रांस

के प्रसिद्ध नगर पेरिस के एक डाकृर ने १४४ यमजों (जोड़ों) को तौल कर उनका औसत वज़न २ सेर निश्चय किया है। इस हिसाब में कम से कम वज़न डेढ़ सेर और अधिक से अधिक चार सेर था।

इस विषय में अभी तक डाकृरों का मत-भेद चला जाता कि पेट में गर्भ किस स्थिति में रहता है। किसी किसी का यह मत है कि आकर्षण-शक्ति के नियमों के अनुसार, और अवयवों की
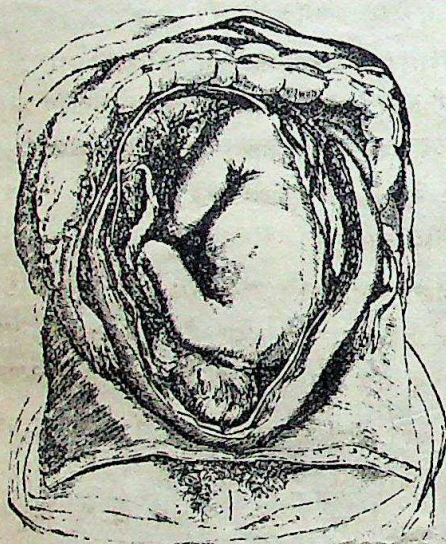
अपेक्षा अधिक भारी होने के कारण, सिर नीचे को हो जाता है। परन्तु यह केवल कहने को बात है; प्रमाण-पूर्वक इसे किसीने नहीं सिद्ध किया। अध्यापक सिम्सन आदि विद्वानों का कहना यह है कि छ महीने तक गर्भ का सिर ऊपर की ओर रहता है। छ महीने के लग भग, गर्भ के हिलने डुलने से, उसका सिर नीचे हो जाता है। सिर नीचे होने ही से प्रसूति में सुबिधा होती हैं; इसी लिए, ईश्वर अथवा प्रकृति की भावना से पांच छ महीने के अनन्तर गर्भ का अगला भाग आगे को और पिछला पीछे को हो जाता है। गर्भ की यही स्थिति स्वाभाविक जान पड़ती है। इसका चित्र ऊपर देखिए।

जैसा ऊपर चित्र में दिखलाया गया है, शरीर आगे की ओर झुका हुआ है। ठोढ़ी छाती के ऊपर रक्खो है। दोनौं हाथ मुँह पर हैं। जांघें पेट से लगी हुई हैं। घुटने अलग अलग हैं। पैर ऊपर को ओर एक पर एक रक्खा है। सब शरीर अण्डे के आकार का है, जिसका व्यास कोई दस इञ्च से अधिक नहीं है। जब दो बच्चे एकही साथ गर्भ में रहते हैं, तब उनकी स्थिति उत्पन्न होने के समय, ऐसी नहीं रहती। उस दशा में कभी कभी दोनों का सिर ऊपर को होता है; कभी कभी दोनों का नीचे; और कभी कभी एक का नीचे और एक का ऊपर। पिछली स्थिति का चित्र नीचे दिया जाता है।
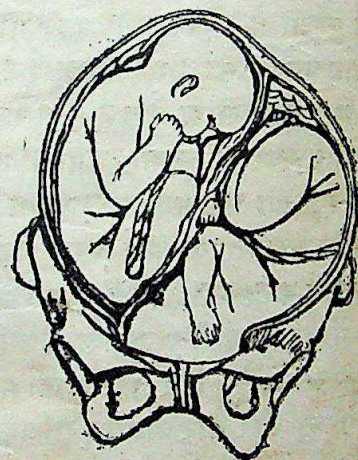
जैसा हमने ऊपर लिखा है; गर्भावस्था का काल २८० दिन, अर्थात्, रजोदर्शन के हिसाब से २८ दिन का महीना मानने से, १० महीना है। इस काल में कभी कभी चार पाँच दिन कम हो जाते हैं; और कभी कभी बढ़ भी जाते हैं। मनुष्य-जाति में आज तक, ३०० दिन से अधिक गर्भावस्था रहने का पता नहीं लगा। रोग आदि के कारण इससे भी अधिक दिन लग सकते हैं; परन्तु सब बातें स्वाभाविक होने से ३०० दिन से अधिक गर्भावस्था नहीं रहती। हमारे वैद्यक शास्त्र में भी ऐसाही लिखा है:—

नवमे दशमे मासि नारी गर्भं प्रसूयते।
एकादशे द्वादशे वा ततोऽन्यत्र विकारतः॥

अर्थात्—नव दस महीने में स्त्री प्रसूत होती है। ग्यारहवें अथवा बारहवें महीने भी कभी कभी प्रसूति

लिखी गई है। इसके सिवाय ग्रैार देर से जो प्रसूति हो तो उसे रोग ग्रथवा विकार के कारण हुई समझना चाहिए।

ऊपर लिखा गया है कि छ महीने के गर्भ से हुआ बालक साँस ले सकता है ग्रैार कुछ देर रोता भी है। परन्तु एक ग्राध उदाहरण ऐसे भी देखने में ग्राये हैं जिनमें १५० दिन का गर्भ भी, उत्पन्न हो कर, कुछ देर जीवित रहा है। ग्राज कल के विद्वान् डाक्टरों का यह मत है कि २८० दिन के दो महीने पहले उत्पन्न हुए बच्चे, पूरा समय हो चुकने पर उत्पन्न हुए बच्चों के समान, बड़े होकर संसार के सब काम काज कर सकते हैं। परन्तु वे ठिंगने होते हैं ग्रैार शरीर भी उनका दुबला पतला होता है। तीन महीने पहले के उत्पन्न हुए बच्चे भी जी सकते हैं ग्रैार बढ़ कर काम काज करने योग्य हो सकते हैं; परन्तु उनका पालन पोषण करने में बहुत परिश्रम ग्रैार यत्न करना पड़ता है। ऐसे बच्चे बहुत दुर्बल ग्रैार ग्रशक्त होते हैं।

विनोद ग्रैार ग्राख्यायिका।

स्कूल के लड़के प्रायः बड़े ही नटखट होते हैं। यह बात इसी देश में नहीं किन्तु सभी देशों में पाई जाती है। एक बार विलायत के ग्राक्सफर्ड कालेज के दो तीन लड़के बाहर घूमने निकले। शहर से दो तीन मील निकल जाने पर उन्हें लदा हुग्रा एक ख़च्चर मिला। वह एक पेड़ से बँधा हुग्रा था ग्रैार वहीं उसका मालिक पड़ा सो रहा था। ख़च्चर एक फेरीवाले का था। सौदा बेंचने के लिए दिन भर घूमते घूमते वह थक गया था; इसलिए थकावट के मारे वहां पर वह लेट गया ग्रैार लेटते ही सो गया। यह दशा देख जेम्स नामक लड़के ने कहा—

जेम्स—मैं कुछ कहना चाहता हूं; यदि सुनो तो कहूं।

बर्टी—कहोगे भी?

जेम्स—मैंने रुपए पैदा करने की एक सहज युक्ति निकाली है।

स्मिथ—कहते क्यों नहीं, कौन युक्ति निकाली है?

जेम्स—मेरे ऊपर इस ख़च्चर पर का सामान लाद दो। मैं यहां हाथ पैरों के बल खड़ा रहूंगा। तुम इस ख़च्चर को ले कर बाज़ार में बेच दो ग्रैार जो कुछ मिलै उसके बराबर तीन हिस्से करके हमलोग परस्पर में बाँट लें।

बर्टी—ग्रैार यह फेरीवाला तुमको ख़च्चर बनावै, तो?

जेम्स—उसकी तुम कुछ भी परवाह न करो; मैं उससे निपट लूंगा।

इस प्रकार सलाह दृढ़ हो जाने पर जेम्स के ऊपर ख़च्चर पर लदा हुग्रा सामान रख दिया गया। वह वहीं लद कर खड़ा रहा। उसके साथियों ने ख़च्चर को लेकर बाज़ार का रास्ता लिया ग्रैार वहां उसे बेच डाला।

यहां फेरीवाला जब जगा तब उसने जेम्स में ख़च्चर का रूपान्तर हुग्रा देखा। उसने जेम्स से पूछा कि यह क्या मामला है? जेम्स ने कहा—

"मेरा बाप जादूगर है। मैं उसे बहुत तंग करता था; इस लिये क्रोध में ग्राकर उसने मुझे गधा बना दिया। गधे के रूप में मैं बहुत दिन तक रहा। ग्रब मेरे बाप के हृदय में दया का सञ्चार हुग्रा है; इस लिए उसने, मेरे ग्रपराधों का प्रायश्चित कराके, ग्रब फिर मुझे मनुष्य बना दिया है। ग्राप भी ग्रब दया करके यदि मुझे छोड़ दें, तो मैं ग्रपने बाप के पास जाकर ग्रपनी कृतज्ञता प्रकट करूं ग्रैार ग्रपने ग्रपराधों की क्षमा मांगूं"।

यह सुनकर फेरीवाला ग्राश्चर्य से चकित हो गया। जादू का गधा कौन रखना चाहैगा? ग्रतएव उसने जेम्स को छोड़ दिया ग्रैार वह जाकर हँसते हुए ग्रपने साथियों से मिला। कुछ दिनों में उस फेरीवाले को दूसरे ख़च्चर की ग्रावश्यकता हुई। इस लिए वह बाज़ार गया। वहां जाकर उसने देखा कि वही उसका पहला ख़च्चर, एक मनुष्य, बेचने के लिए, लिए खड़ा है। उसे देख कर फ़ेरीवाले ने कहा—

"हाय ! हाय !! क्या इतने में फिर तेरा और तेरे बाप का झगड़ा हो गया ? तू महा अभागी है"।

यद्यपि मालिक ने अपने खच्चर की बहुत बड़ाई की, तथापि जो कुछ हो चुका था उसका स्मरण करके उस फेरीवाले को वह खच्चर लेने का फिर साहस नहीं हुआ।

मनोरञ्जक श्लोक।

मूर्खस्य पञ्च चिन्हानि गर्वी दुर्वचनी तथा।
हठी चाप्रियवादी च परोक्तं नैव मन्यते ॥

मूर्ख के पाँच चिन्ह हैं। यथा—घमण्ड करना; दुर्वचन कहना; हठ करना; कठोर बोलना और दूसरे का कहना न मानना।

यस्मै किञ्चिन्न देयं स्यात्तस्मै देयं किमुत्तरम्।
अद्य सायं पुनः प्रातः सायं प्रातः पुनः पुनः ॥

जिसको कुछ न देना हो उसको उत्तर क्या देना चाहिए ? आज; शाम को; सबेरे; फिर शाम को; फिर सबेरे—यही उत्तर है।

* *
*

कालिदासकविता, नवं वयो,
माहिषं दधि सशर्करं पयः।
शारदेन्दुवदना विलासिनी,
प्राप्यते सुकृतिनैव भूतले ॥

कालिदास की कविता; नई उमर; भैंस का दही; चीनी डाला हुआ दूध; और शरत्काल के चन्द्रमा के समान मुखवाली कामिनी—यह सब संसार में पुण्यवान ही पुरुष को प्राप्त होता है।

* *
*

सत्यं सन्ति गृहे गृहे सुकवयो येषां वचश्चातुरी,
स्वे हर्म्ये कुलकन्यकेव लभते जाता गुणैर्गौरवम्।
दुष्प्रापः स तु कोऽपि कोविदपतिर्यद्वाग्रसग्राहिणी
पण्यस्त्रीव कला-कलाप-कुशला चेतांसि हर्तुं क्षमा ॥

ऐसे कवि तो सच मुच, घर घर में हैं जिनके वचनों की चतुरता को, कुल-कन्या के समान, घर ही के घेरे में गौरव प्राप्त होता है। परन्तु ऐसे कवि बहुत ही कम देखने में आते हैं जिनकी रसग्राहिणी वाणी, कलाकुशल वाराङ्गना के समान, चित्त को हरण कर सकती हो।

* *
*

नाहूतापि पुरः पदं रचयति प्राप्तोपकण्ठं हठात्
पृष्टा न प्रतिवक्ति कम्पमयते स्तम्भं समालम्बते।
वैवर्ण्यं स्वरभङ्गमञ्चतितमां मन्दाक्षमन्दानना,
कष्टं भोः प्रतिभावतोऽप्यधिसभं वाणी नवोढायते।

बुलाने पर भी वह पद-रचना नहीं करती (पैर नहीं बढ़ाती); हठ-पूर्वक कण्ठ के निकट (उपकण्ठ-पास) प्राप्त होने पर पूछने से भी उत्तर नहीं देती-कुछ नहीं कहती; काँपने लगती है; स्तम्भित हो जाती है; विवर्ण और स्वरभङ्ग को प्राप्त होती है; लज्जा से सिर झुका लेती है; किम्वा मुख में मन्दभाव को धारण कर लेती है। कैसे कष्ट की बात है कि सभा में प्रतिभावानों की भी वाणी नवोढ़ा स्त्री के समान आचरण करने लगती है!

* *
*

कोशद्वन्द्वमियं दधाति नलिनी कादम्बचञ्चुक्षतं
धत्ते चूतलता नवं किसलयं पुंस्कोकिलास्वादितम्।
इत्याकर्ण्य मिथः सखीजनवचः सा दीर्घिकायास्तटे
चेलान्तेन तिरोदधे स्तनतटं बिम्बाधरं पाणिना।

यह कमलिनी ऐसी दो कलिकाओं को धारण किये हुए है जिन पर हंसकी चोंच का निशान है अथवा जिन पर हंसकी चोंच ने घाव कर दिया है। और यह आम की लता ऐसे नवीन पल्लवों को धारण किये है जिन का स्वाद पुरुष-जाति के कोकिल ने लिया है। कुयें पर, सखियों की, इस प्रकार, परस्पर बातें सुन कर उसने अपने स्तनतटों को अञ्चल से और बिम्बाधर को हाथ से छिपा लिया।

* *
*

सत्यमेव गदितं त्वया विभो,
जीव एक इति यत्पुरावयोः !
अन्यदारनिहिता नख व्रणा—
स्तावके वपुषि पीडयन्ति माम् ॥

हे प्रिय ! तुमने जो यह पहले कहा था कि तुम्हारा और मेरा जीव एक ही है सो बहुत ठीक कहा था। उसका प्रमाण आज मिल गया। देखिए अन्य स्त्री ने यद्यपि तुम्हारे शरीर पर नखों के निशान लगाये हैं, किम्वा घाव किये हैं; तथापि पीड़ा वे मुझे पहुंचा रहे हैं ! यदि तुम्हारा और मेरा जीव एक न होता तो यह बात कभी न होती !!!

साहित्य-समाचार ।

शूरवीर-समालोचक ।

कवि नाटक-कार ग्रन्थकार धार्म्मिक
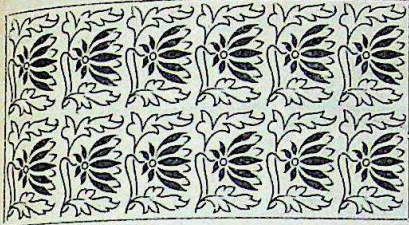
सरस्वती

सचित्र

मासिकपत्रिका
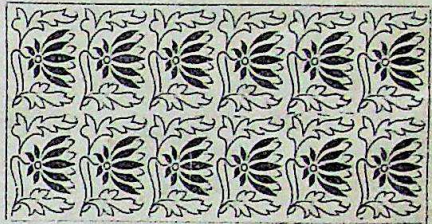
भाग ४] सितम्बर १९०३ [संख्या ९

विविध विषय।

अजमेर-निवासी पण्डित चन्द्रिकाप्रसाद तिवारी को जल-चिकित्सा में हम आचार्यवत् मानते हैं। सरस्वती की गत कई संख्याओं में इस विषय का जो लेख निकला है उसके सम्बन्ध में पण्डित जी ने एक टिप्पणी हमारे पास भेजी है। उसे हम धन्यवादपूर्वक नीचे प्रकाशित करते हैं—

"उदर-स्नान भरे हुये पेट पर करना अच्छा नहीं है क्योंकि इस स्नान से पेट के अन्दर आंतों तक शीतलता पहुंचती है और ऐसी शीतलता से खाये हुये पदार्थों के हज़म होने में विघ्न पड़ने की सम्भावना है। इसविचार से ख़ाली ही पेट पर उदर-स्नान करना उत्तम है।

"उदरस्नान सर्वशरीर की गर्मी को शांत करता है और शरीर के समस्त अंगों से विकारों को खींच कर उदर की ओर लाता है और अंत में उन विकारों को पसीने द्वारा, मूत्र द्वारा अथवा दस्तों की राह से बाहर निकाल कर शरीर को निर्मल कर देता है। साधारण जन इस कथन पर आश्चर्य मानेंगे, परन्तु किञ्चित विचार से यह सिद्धान्त स्पष्ट हो जायगा। विज्ञानवादी अच्छी तरह से जानते हैं कि Heat expands, cold contracts–अर्थात् गर्मी से पदार्थ पिघलते हैं वा फैल जाते हैं, उस के विरुद्ध शीत से खिंचकर सिकुड़ जाते हैं। जैसे विकृत वस्तु उदर में उष्णता से उबल कर समस्त शरीर में फैल जाती है तैसे ही उदर में उदर-स्नान की शीतलता से वह विकार शरीर के अङ्गों से खिंच-कर, पीछे उदर में आ जाते हैं। अर्थात् जहां से वे गये थे वहीं फिर आजाते हैं और शरीर के नवों दरवाज़ों और छिद्रों द्वारा बाहर निकल जाते हैं। इस उदर-स्नान का यही विशेष गुण है और इसी हेतु से यह साधारण (सर्व शरीर के) स्नान से विशेष लाभदायक है। साधारण शीतलता पूर्ण स्नान से भी होती है; परन्तु मल मूत्र के विशेष दरवाज़ों की ओर मल की खिचावट इस विशेष उदर-स्नान से ही होती है। यह लाभ पूर्ण शरीर को स्नान कराने से नहीं हो सकता है, किन्तु पूर्ण शरीर को शीतल पानी लगाने से इस के विपरीत असर होता है॥"

महामहोपाध्याय बापूदेव शास्त्री, सी० आई० ई० ।

कस्यापि कोप्यतिशयोऽस्ति स तेन लोके
ख्यातिं प्रयाति; नहि सर्वविदस्तु सर्वे ॥ बिल्हण

इस संसार में प्रथम तो प्रसिद्ध होना ही कठिन है; फिर विद्या और सत्कीर्ति के साथ प्रसिद्ध होना और भी कठिन है। हम उस प्रसिद्धि की बात कहते हैं कि जिसके लिए कोई उद्योग न किया जाय; किन्तु वह स्वतः केतकी पुष्प के सैारभ की तरह फैल जाय। प्रसिद्ध होने की इच्छा सब को होती है; यहां तक कि सौ में निन्नानवे मनुष्यों को तो वह अवश्य ही होती है; और वे इसके लिए अनेक प्रकार के उपाय, चाहे भले कर्म द्वारा हों चाहे बुरे, करने में किसी प्रकार कमी नहीं करते। पर हम देखते हैं उनमें किसी एक का उद्योग सफल होता है। सभी कृतकार्य नहीं होते हैं। और भी देखने में आता है कि बड़े बड़े महात्मा और विद्वान् पुरुष पड़े हैं, पर उनको कोई नहीं जानता। और भी जो ख़ाले मूसरचन्द हैं वे विद्वान् और परोपकारी कहे जाते हैं; और माने दाने भी जाते हैं। यह भी देखने में आता है कि जिन लोगों ने प्रसिद्धि के लिए कुछ भी उपाय नहीं किया उनकी ख्याति भारतवर्ष क्या, सात समुद्र के पार तक, पहुंच गई। इसके उदाहरण सुप्रसिद्ध स्वामी भास्करानन्द ही थे। कुछ भी हो हमारी समझ में विशेष विद्याध्ययन करने किंवा ढोंग रचने से कोई प्रसिद्ध नहीं होता; किन्तु इस लेख के ऊपर जो महाकवि के अनुभवसिद्ध श्लोक का टुकड़ा लिखा है, वही प्रसिद्धि का मुख्य कारण है। हमारे चरित्रनायक ने वास्तव में कोई बड़ा पुण्य किया था जिससे उनकी इतनी प्रसिद्धि हुई। इसमें किसी प्रकार का संदेह नहीं कि वर्तमान समय में शास्त्री जी को जितनी सुख्याति हुई उतनी किसी दूसरे विद्वान् की नहीं। विलायत तथा इस देश के पठित समाज में इनकी विद्या, बुद्धि, ईश्वर-भक्ति, सत्यप्रियता और स्वदेशानुराग सर्वत्र विदित हैं। आज हम पाठकों को इनका वन्दनीय चरित सुनाते हैं।

शास्त्री जी का जन्म सन् १८१९ ई० के नवम्बर को हुआ। उस दिन संवत् १८७६ का कार्तिक शुक्ल ६ रविवार था। इनके पिता का नाम सीताराम देव और माता का सत्यभामा था। यह महाराष्ट्रों में चित्तपावन ब्राह्मण थे। इनका गोत्र विष्णुवृद्ध था। शास्त्रीजी के पूर्वज दक्षिण देश में रत्नागिरि ज़िले के अन्तर्गत वेल्लणेश्वर नामक ग्राम के निवासी थे। इस ग्राम में वेल्लणेश्वर नामक महादेव का एक अति प्राचीन मन्दिर भी था जो अब तक वर्तमान है। इस ग्राम के निवासी प्रायः इन्हीं महादेव के उपासक भी होते आए हैं। शास्त्री जी के पूर्वज भी इन्हींके उपासक थे। वहां शिव जी की प्रतिमा कभी कभी पालकी में रख कर बड़ी धूमधाम से नगर में घुमाई जाती है। पालकी के उठानेवाले जो नियत हैं वे ही उसको उठाते हैं; सब कोई उसे नहीं छू सकता। इस पालकी-वाहक मण्डली में एक परांजपे उपनाम के महाराष्ट्र ब्राह्मण भी थे। वे रात दिन देवपूजन और वेदपाठ में मग्न रहते थे। इसलिए वे सर्वत्र परांजपे देव कहे जाते थे। वे शास्त्रीजी के पूर्वजों में सबसे प्रधान हैं। इनसे जो वंश चला वह "देववंश" नाम से प्रायः प्रसिद्ध हुआ। इस वंश में उत्पन्न चिन्तामणि देव उक्त स्थान को छोड़ अहमदनगर ज़िले के अन्तर्गत टोँका नामक ग्राम में रहने लगे। उनके पुत्र सदाशिव देव और सदाशिव के सीताराम देव हुए। यही शास्त्रीजी के पिता हैं। इनका विवाह टोँकाही में चिन्तामणि भट्ट जोशी की कन्या से हुआ। उसका नाम सत्यभामा था। यह शास्त्री जी की माता हैं। सीताराम देव वैदिक होने के अतिरिक्त आयुर्वेद में भी निपुण थे। उन के

* किसी में कोई एक गुण विशेष होता है, जिससे वह लोक में प्रसिद्धि को पा जाता है। सब सर्वज्ञ नहीं होते।

व्यापारों में लेन देन का व्यापार मुख्य था। व्यापार के लिए, टोंका छोड़ पूना और नागपुर में रहा करते थे। उनके उपास्य देव नृसिंह थे। सुनते हैं सीताराम देव के कई पुत्रों के नष्ट हो जाने से शास्त्री जी की माता सदा उनके जीवन में शङ्कित रहा करती थीं। नृसिंह की पूजा आदि से उनके दीर्घजीवी होने की वे सदा प्रार्थना किया करती थीं। बहुत दिनों बाद नृसिंह ने प्रसन्न होकर एक दिन रात को उनसे स्वप्न में कहा कि "जा तेरा पुत्र यशस्वी और दीर्घजीवी होगा"। यह स्वप्न तारीख १ नवम्बर सन् १८२१ ई० (संवत् १८७८, कार्तिक शुक्ला ६, गुरुवार) को हुआ। इस स्वप्न से माता को बड़ा आनन्द हुआ। इसी दिन शास्त्री जी का जन्मदिन मान कर वे जन्मोत्सव किया करती थीं। वास्तव में यह जन्मदिन नहीं है; किन्तु स्वप्न का दिन है। शास्त्रीजी का नाम भी इसी स्वप्नानुसार नृसिंह देव रक्खा गया था। पर दुलार से लोग उन्हें बापू कहकर पुकारा करते थे। अतः होते होते बापूदेव नाम ही प्रसिद्ध हुआ। नृसिंह देव नाम माता पिता के सिवाय सब भूल गए।

बालक अवस्था में शास्त्री जी को शिक्षा, अष्टाध्यायी, अमरकोष आदि कई ग्रन्थ पढ़ाए गए। उपनयन के बाद पांच छ वर्ष तक उन्हें ऋग्वेद भी पढ़ाया गया। पर उनका स्वास्थ्य ठीक न रहने से पढ़ा वे पढ़ा समान हो जाता था। सीताराम देव को, यह दशा देखकर, खेद हुआ। तब वेद पढ़ाना छुड़ा कर व्याकरण तथा रघुवंशादि काव्य पढ़ाने में वे प्रवृत्त हुए। परन्तु जैसा अभ्यास शास्त्र में होना चाहिए वैसा न हुआ। हां, कुछ बोध हो गया। इस समय सकुटुम्ब सीताराम देव नागपुर में थे। फिर वे पूना को गए। उनके साथ शास्त्री जी भी गए।

पूनामें, इनके घर पर, प्रति रविवार को एक विद्यार्थी भोजन के लिए आया करता था, और यदि भोजन में देर देखता था तो पुस्तक खोलकर पढ़ने बैठ जाता था। वह मराठी पाठशाला में गणित पढ़ता था। एक दिन शास्त्री जीने उस को पढ़ते देखकर अपनी इच्छा भी पढ़ने के लिए प्रकट की। उनकी उत्कण्ठा इतनी बढ़ी कि उसी दिन उस विद्यार्थी के साथ वे पाण्डुरङ्ग तात्या दिवेकर की पाठशाला में पढ़ने गए और पढ़ना आरम्भ भी कर दिया। अब इनका चित्त ख़ूब लगने लगा, यहां तक कि थोड़ेही दिनों में इन्होंने गणित में अच्छी योग्यता सम्पादन करली। जब देखो सदा स्लेट पेन्सिल ही इनके हाथ में दिखलाई देती थी; और कुछ नहीं।

शास्त्री जी के घर के लोग फिर किसी कार्य-वश नागपुर गए। शास्त्री जी भी उनके साथ गए और वहां उन्होंने कान्यकुब्ज पं० ढुण्ढिराज मिश्र के पास भास्करीय लीलावती तथा बीजगणित पढ़ना आरम्भ किया। अब वे प्रति दिन उन्नति के पथ पर अग्रसर होने लगे। उन्होंने सुयोग्य छात्रों में प्रसिद्धि पाई।

इन दिनों सिहोर के पोलिटिकल एजण्ट यल० विलकिन्सन (L. Wilkinson) साहब, जो शास्त्री जी के पिता के मित्र थे, किसी कार्य से नागपुर आए। शास्त्री जी की गणित में योग्यता सुनकर उन्होंने उनको बुलाया और उनसे कई एक प्रश्न पूछे। शास्त्री जी ने सबका यथार्थ उत्तर दिया। इस परीक्षा से साहब बहुत सन्तुष्ट हुए और शास्त्री जी को तीक्ष्णबुद्धि देखकर मोहित हो गए। साहब ने उनके पिता से कहा कि "यदि इसको सिद्धान्त ग्रन्थ पढ़ाए जांय तो यह जैसा गणित में निपुण है, सिद्धान्त में भी वैसाही निपुण हो जायगा। मैं इसको अपने साथ ले जाऊंगा और पढ़ने लिखने का प्रबन्ध ठीक कर दूंगा"। इस बात को सुन कर शास्त्री जी के पिताने साहब के साथ शास्त्री जी को सिहोर रवाना किया। वहां जाकर शास्त्री जी ने १८४० ईसवी की जनवरी से पाठशाला में, पं० सेवाराम सिद्धान्ती के पास, सिद्धान्तशिरोमणि पढ़ना प्रारम्भ किया। और वहां पर साहब की स्थापित की हुई जो हिन्दी

की पाठशाला थी, उसमें व्यक्तगणित आदि पढ़ाने के लिए २०) रु० मासिक पर अध्यापक भी नियुक्त होगये। स्वयं साहब भी इनको क्षेत्रमिति आदि गणितशास्त्र के पञ्चग्रन्थ पढ़ाया करते थे।

शास्त्री जी ने थोड़ेही समय में सिद्धान्त क्या, अन्यान्य विषयों में भी, बहुत कुछ ज्ञान प्राप्त कर लिया। गणित में तो वे पहिले ही से सिद्ध हो चुके थे। एक दिन विल्किन्सन साहब ने 'ब्रज्राभ्यासौ ज्येष्ठलघ्वोस्तदैक्यं ह्रस्वं लघ्वोराहतिश्च प्रकृत्या'—इत्यादि बीजगणित के सूत्रों की उपपत्ति करने के लिए उनसे कहा। शास्त्री जी ने बड़े परिश्रम से सूत्रों की उपपत्ति बनाकर साहब को दिखलाई। इस कठिन कार्य के सम्पादन से साहब अति प्रसन्न हुए; और प्रतिष्ठित तथा पठित लोगों में शास्त्री जी की विशेष प्रशंसा करने लगे। वास्तव में वे प्रशंसा के पात्र ही थे।

१८४० की १६ वीं दिसम्बर को कलकत्ते में एक जनरल कमेटी हुई। उसके आज्ञानुसार फ़ोर्ट विलियम कालेज के सेक्रेटरी कप्तान जी० टी० मार्शल साहब और प्रसिद्ध विद्वान पं० जयनारायण तर्कपञ्चानन काशी की पाठशाला देखने को गए। काशी की पाठशाला की व्यवस्था तब और ढङ्ग की थी। वह केवल एक प्रबन्धकारिणी कमेटी तथा अन्यान्य प्रतिष्ठित सभ्य पुरुषों के प्रबन्ध में थी। अब से और तब से आकश पाताल का अन्तर है। दोनों महाशयों ने शाला को देख भाल करके जनरल कमेटी के सेक्रेटरी डाक्टर टी० ए० वाइज़ के पास अपनी रिपोर्ट भेजी और उसमें नैचुरेल फ़िलासफ़ी तथा गणित के एक अध्यापक की आवश्यकता उन्होंने सूचित की। यह हाल जब विल्किन्सन साहब को विदित हुआ तब उन्होंने कलकत्ते को लिखा कि काशी की पाठशाला में शास्त्री जी गणिताध्यापक होने के योग्य हैं। उक्त साहब ने शास्त्री जी की जो प्रशंसा की है वह उनके पत्र से ही ज्ञात हो सकता है। यह पत्र उन दिनों श्रीरामपुर के "फ़्रेण्ड आफ़ इण्डिया" नामक पत्र में प्रकाशित हुआ था। साहब का लिखना कमेटी ने स्वीकार किया और शास्त्री जी को पाठशालाध्यापक नियत कर दिया। तब साहब ने शास्त्री जी को काशी जाने के लिए आज्ञा दी। शास्त्री जी भी नागपुर होकर काशी जाने के अभिप्राय से वहां गए। इधर १८४१ की १३ वीं नवम्बर को विल्किन्सन साहब की अकालमृत्यु हुई। इससे शास्त्री जी अति दुःखित हुए। इन्हीं साहब की कृपा से शास्त्री जी को इतनी विद्या प्राप्त हुई थी। नागपुर में शास्त्री जी ने थोड़े दिन दुःख से बिताये। ख़ैर, एक दिन शास्त्री जी मृत साहब के भाई मेजर टी० विल्किन्सन के पास गये। ये साहब उस समय में नागपुर के रेसीडेण्ट थे। उन्होंने शास्त्री जी से कहा कि आपके लिए सब प्रबन्ध हो चुका है; आप काशी जाइए। नौकरी मिल जायगी। इन्हीं दिनों, रेसीडेण्ट साहब के पास पत्थर पर एक पुराने अक्षरों में खुदा हुआ एक बीजक आया था। उसके अक्षरों को ज्यों का त्यों काग़ज़ पर नकल करने के लिए एक चतुर मनुष्य की खोज हुई। रेसीडेन्ट ने राजा के पास लिख भेजा कि आप किसीको भेजें। खोजने पर उस काम के योग्य शास्त्री जी ही निकले और राजा की तरफ़ से वे साहब के पास गए। साहब इनको देख कर ख़ूब हंसे, क्योंकि यह पूर्वपरिचित थे। अस्तु, शास्त्री जी ने उन अक्षरों को जैसा का तैसा काग़ज़ पर लिख कर साहब को दिया। साहब ने प्रसन्न हो कर २००) रु० शास्त्री जी को पारितोषिक दिए।

१८४२ ई० की फ़ेब्रुअरी में शास्त्री जी काशी पहुंचे और उसी महीने की १५वीं तारीख़ से संस्कृत पाठशाला में अध्यापक हुए। इस समय पाठशाला एक कमेटी के प्रबन्ध में थी। इस कमेटी के प्रेसिडेन्ट रिवाज़ साहब थे और सेक्रेटरी लॉक साहब थे।

यद्यपि शास्त्री जी नैचुरल फ़िलासफ़ी और गणित पढ़ाने को नियुक्त हुए थे तोभी उस समय इस विषय के ग्रन्थों का हिन्दी में अभाव होने से उन्होंने रेखागणित पढ़ाना आरम्भ किया। महाराज

जयसिंह की आज्ञा से यह रेखागणित शाके १६४० में पण्डित जगन्नाथ सम्राट ने अरबी भाषा के युक्लिद नामक ग्रन्थ का अनुवाद रूप बनाया था। उन्होंने स्वयं उसका नाम रेखागणित रक्खा। इसके पहले रेखागणित नाम नहीं पाया जाता। यह जगन्नाथ सम्राट ने ही प्रसिद्ध किया। अतः सम्राट का समय ही इस नाम का समय समझना चाहिए। यद्यपि यह विषय हमारे यहां वैदिक समय में ही आविष्कृत हुआ था और ऋग्वेद में कई जगह इसका प्रमाण भी है, तौभी सर्वजनगम्य नहीं था। सम्राट के समय से ही इसका विशेष प्रचार हुआ। वेद में यह विषय कहां है और किस अवसर पर प्राप्त हुआ, इसको, जयपुर संस्कृत पाठशाला के ज्योतिषाध्यापक पं० दुर्गाप्रसाद द्विवेदीजी ने अपनी क्षेत्रमिति की भूमिका में अच्छी भाँति दिखलाया है। इस रेखागणित की लेखप्रणाली बड़ी जटिल और दुर्बोध है। संस्कृत भाषा भी इसकी बड़ी विचित्र है। शास्त्रीजी स्वयं क्षेत्र लिखकर उपपत्ति बताते थे। इस ग्रन्थ पर से उन्होंने कभी नहीं पढ़ाया।

पाठशाला के कार्य के बाद शास्त्रीजी भी अन्यान्य विषयों के विचार में दत्तचित्त रहा करते थे। अंगरेज़ी भी उन्होंने यहां सीखना आरम्भ किया और उसमें अच्छी योग्यता संपादन कर ली। अंग्रेज़ी में गणित के जो अशेष विशेष हैं उन सबको भी उन्होंने अच्छी तरह समझ लिया।

१८४६ ई० में डाकृर जेम्स् आर बालण्टाइन, एल. एल. डी., बनारस कालेज के प्रिन्सिपल होकर आए। इनसे शास्त्रीजी का अच्छा परिचय हुआ। "गुणिनि गुणज्ञो रमते" के अनुसार शास्त्रीजी की अप्रतिम विद्वत्ता पर प्रिन्सिपल साहब आप ही रीझ गए। इसमें विशेष ही क्या है। बालण्टाइन साहब ने विलायत के ज्योतिषियों को शास्त्रीजी की बुद्धि और विद्वत्ता पर बहुत कुछ लिखा था। तब वहां के विद्वानों ने शास्त्रीजी से कई शङ्काएं पूंछीं। उन्होंने यथोचित उत्तर देकर उन सबको खूब सन्तुष्ट किया।

एक बार लण्डन के किसी ज्योतिषी ने "चन्द्र का स्वाङ्ग-भ्रम नहीं होता" यह सिद्धकर लण्डन के 'इंग्लिश जर्नल आफ् एजूकेशन' (English journal of Education) नामक पत्र में छपवाया और उसकी एक कापी श्रीमान् बालण्टाइन साहब के पास भेजी। साहब ने उसे शास्त्रीजी को दिखलाया। शास्त्रीजी ने देखते ही कह दिया कि यह सब कल्पना और युक्ति अशुद्ध है। फिर बहुत दिनों तक शास्त्रीजी का उक्त विषय के लेखक से विवाद होता रहा। अन्त में शास्त्रीजी का पक्ष ही उसको स्वीकार करना पड़ा। इसी तरह और भी कई बार शास्त्रीजी से लेख-द्वारा शास्त्र-चर्चा हुई। इन सब बातों से विलायत में शास्त्रीजी की विशेष ख्याति हुई। प्राचीन तत्वानुसान्धान में शास्त्रीजी अधिक दत्तचित्त थे। काशी में पञ्चक्रोशी यात्रा विशेष प्रसिद्ध है। इसके यात्रा-मार्ग में कई साल से गड़बड़ मचगई थी। लोग भिन्न भिन्न मार्ग से यात्रा किया करते थे। काशीनरेश तथा और और प्रतिष्ठित पुरुषों की सहायता से शास्त्रीजी ने शुद्धमार्ग का निर्णय करके लोगों में प्रसिद्ध किया। यह मार्ग भीमचण्डी से रामेश्वर तक बना हुआ है। इस विषय पर शास्त्रीजी ने एक लेख भी लिखा था, जिसको काशी के भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्रजी ने प्रकाशित किया।

एक बार मेजर ईल को राजा जनमेजय का, खग्रास सूर्यग्रहण सम्बन्धी भूमिदान का ताम्रपत्र मिला। वह ताम्रपत्र साहब ने बंगाल की एशियाटिक सोसायटी को भेजा और स्वयं पीकाक् के ज्योतिषसिद्धान्तानुसार गणित करके यह सिद्ध किया कि जिस सूर्यग्रहण में यह भूमिदान किया गया है वह सन् ८८९ की ३ एप्रिल को होना चाहिए, अर्थात् राजा जनमेजय का समय सन् ८८९ ई० है और यही महाभारत का भी। सोसायटी में इस बात का बहुत विचार हुआ। वहां से बड़े बड़े गणितज्ञों के पास मेजर ईल का गणित भेजा गया। शास्त्रीजी के पास भी एक पत्र आया। प्रथमही शास्त्रीजी ने गणित किया तो साहब का

गणित अशुद्ध निकला। फिर शास्त्रीजी ने अंग्रेज़ी गणित के अनुसार साहब के विचार में अशुद्धियां दिखाकर यह लिखा कि साहब के गणितानुसार यह खग्रसाही नहीं आता और न उस ग्रहण के दिन रविवार ही आता है, जैसा कि ताम्रपत्र में लिखा है; किन्तु शुक्रवार आता है। और सन् ८८९ में यदि ऐसा ग्रहण आभी जाय तो वह राजा जनमेजय का समय क्यों कर हो सकता है? क्योंकि यह नियम नहीं है कि जनमेजय के समय में जैसा सूर्यग्रहण हुआ था वैसा आगे कभी न होगा। ऐसे योग बार बार आया ही करते हैं। यह सब शास्त्रीजी का लिखना स्वीकृत हुआ।

सन् १८५२ ई० में बनारस के मैजिस्ट्रेट श्रीमान् मेकलोड् साहब की आज्ञा से शास्त्रीजी ने हिन्दी बीजगणित योरोपियन रीति के अनुसार बनाया। इसके पारितोषिक में पश्चिमोत्तर प्रदेश की गवर्नमेण्ट ने दो हज़ार रुपया शास्त्रीजी को दिया।

सन् १८५६ ई० में शास्त्रीजी ने संस्कृत में व्यक्तगणित आदि कई ग्रन्थ लिखे जो अब नहीं प्राप्त होते। हां, हिन्दी का व्यक्तगणित अब भी मिलता है। शास्त्रीजी ने सिद्धान्तशिरोमणि के कुछ प्रकारों को चलगणित से सिद्ध करके यह दिखलाया कि प्राचीन लोग भी चलगणित को जानते थे। यह लेख बङ्गाल की एशियाटिक सोसायटी के सन् १८५८ के जरनल में छपा है। इस विषय पर योरोप के विद्वानों ने भी ग्रेटब्रिटेन और आयरलैण्ड के रायल एशियाटिक सोसायटी के जरनल में बहुत कुछ लिखा है।

सन् १८६४ की ४ जुलाई को लण्डन के विद्वानों ने शास्त्रीजी को लण्डन की रायल एशियाटिक सोसायटी (Royal Asiatic Society of Great Britain and Ireland) का आनरेरी सभासद नियत किया।

१८६१ ई० में शास्त्रीजी ने बङ्गाल की एशियाटिक सोसायटी की पुस्तकमाला (Bibliotheca Indica) में सूर्यसिद्धान्त और सिद्धान्तशिरोमणि के गोलाध्याय का अंग्रेज़ी अनुवाद टिप्पणी सहित छपवाया। इन्हीं दिनों में शास्त्रीजी ने कई एक व्याख्यान भी दिये, जैसे फलित विचार, सायनवाद, मानमन्दिर के यन्त्रों का वर्णन, इत्यादि। ये सब मुद्रित होगये हैं। इनके सिवाय ज्योतिषाचार्याशय वर्णन, तत्वविवेकपरीक्षा, विचित्रप्रश्नसंग्रह आदि कई छोटे बड़े ग्रन्थ भी उन्होंने बनाए जो प्रायः सब छप चुके हैं। शास्त्रीजी के व्याख्यान भाषा में हैं। मानमन्दिर यन्त्रालय का वर्णन संस्कृत और अंग्रेज़ी दोनों में है।

शास्त्रीजी ने भास्कराचार्य के सिद्धान्तशिरोमणि का उत्तम संशोधन करके, सन् १८६६ ई० में काशी के मेडिकल हाल प्रेस में उसे मुद्रित करवाया। इसके पहले सिद्धान्तशिरोमणि कहीं ठीक ठीक प्राप्त नहीं होता था। संशोधन के सिवाय शास्त्रीजी ने इसमें बहुत जगह टिप्पणियां दी हैं और कई एक बातें नवीन लिखी हैं। यह सब शास्त्रीजी की विशाल बुद्धि और प्रतिभा का परिचय देती हैं। इन दिनों में शास्त्रीजी पाठशाला में प्रधान ज्योतिषाध्यापक हो गए थे।

इन्होंने एक यन्त्र भी बनाया है, जिसका नाम अतुलयन्त्र है। इससे जो विषय ज्ञात होते हैं वे नीचे लिखे श्लोक में उन्होंने बतलाये हैं।

> दिनमितिमयाभीष्टं कालं नतं च समुन्नतम्।
> नियणतनुं सांशां भानोश्चरायमदिग्लवान्॥
> सपदि नरभाग्रे क्षामाभाद्वेति नरो यत-
> स्तदिद्मतुलं यन्त्रं काश्यां जयत्यनिशं स्फुटम्॥*

खेद है, यह यन्त्र कहीं स्थापित न हुआ; नहीं तो इस एकही यन्त्र से सब आवश्यक विषय ज्ञात हो जाते। बहुत से छोटे बड़े यन्त्रों से जयपुर आदि के यन्त्रालय भरे पड़े हैं; पर विचारदृष्टि से देखने से थोड़ेही यन्त्रों से सब कार्य चल जाता है; बाक़ी विनोदमात्र ही हैं। कुछ भी हो, हमारे

* लेखक यदि कृपा करके इसका अर्थ भी लिख देते तो उत्तम होता। — सम्पादक।

यहां के यन्त्रों से सूक्ष्म काल-ज्ञान किसी से नहीं होता; किन्तु सब स्थूल होता है। विकलान्त अवयव तक ग्रह का हमारे यहां स्वीकृत है। यदि इन यन्त्रों से अंश का भी यथार्थ ज्ञान न हो तो क्या समझना चाहिये; सूक्ष्म या स्थूल? पूर्वाचार्यों के लेख से तथा हमारे विचार से यह सब स्थूल काल के ज्ञापक ही हैं; सूक्ष्म के किसी प्रकार नहीं हो सकते। अस्तु।

सन् १८६८ ई० में परम प्रसिद्ध डाकृर राजेन्द्रलाल मित्र, सी. आई. ई०. के प्रस्ताव से शास्त्री जी बंगाल की एशियाटिक सोसायटी (Asiatic Society of Bengal)के आनरेरी सभासद नियत हुए।

इसी समय शास्त्रीजी के बीजगणित की दूसरी आवृत्ति बड़े परिष्कार के साथ प्रकाशित हुई। उसे देखकर पश्चिमोत्तर देशाधिपति श्रीमान् सर विलियम् म्युअर साहब ने अति सन्तुष्ट होकर स्वर्गवासिनी महाराणी विकृोरिया के जन्मोत्सव पर शास्त्रीजी को इलाहाबाद बुलाकर एक हज़ार रुपया और एक दुशाला पारितोषिक दिया। और साहब ने स्वयं हिन्दी में बड़ी भारी वक्तृता दी जिसमें शास्त्रीजी के अलौकिक गुणों का उन्होंने वर्णन किया। यह वक्तृता सन् १८७६ में छपकर प्रसिद्ध हुई थी। सन् १८७० में श्रीमान् बड़े लाट ने स्वयं शास्त्रीजी को कलकत्ता युनिवर्सिटी का फ़ेलो (fellow) नियत किया।

सन् १८७३ में सूर्यग्रहण और चन्द्रग्रहण का गणित करके शास्त्रीजी ने महाराज काश्मीर के पास भेजा। महाराज ने दोनों गणितों को मिलाया तो ठीक मिला। इससे संतुष्ट होकर शास्त्रीजी को एक हज़ार रुपए और पांच सौ का दुशाला उन्होंने पारितोषिक में भेजा। आज कल हमारे यहां के गणितानुसार ग्रहण का ठीक ठीक संवाद नहीं होता। अंग्रेज़ी रीति से यथार्थ होता है। इस समय के नवीन सभ्यों में ये सब आकाश के चमत्कार केवल आंखों से देख लेने में ही काम आते हैं; किन्तु हमारे ऋषियों ने इन समयों में धर्मानुष्ठान करना लिखा है; मुह बाए आकाश की ओर देखने को नहीं आज्ञा दी।

संवत् १९३२ में श्रीमान् काशीनरेश ने शास्त्रीजी से कहा कि आप प्रति वर्ष शुद्ध पञ्चाङ्ग बनाया कीजिए, जिसमें ग्रहण, उदयास्त आदि ठीक ठीक मिलें। अतएव शास्त्रीजी ने संवत् १९३३ से नाटिकल आलमनाक (Nautical Almanac) नामक युरोपियन पञ्चाङ्ग की रीति से पञ्चाङ्ग बनाना आरम्भ किया। प्रतिवर्ष काशीनरेश से इस कार्य के लिए शास्त्रीजी को २००) रु० मिलते रहे। सांप्रत में हमारे यहां पञ्चाङ्गों की बड़ी दुर्व्यवस्था है। इसके कई कारण हैं। उनमें से कई एक करण ग्रन्थ हो जाना और अयोग्यों का इस कार्य में हस्तक्षेप और हठ करना मुख्य कारण है। कई एक करण ग्रन्थों से अपना पराया कुछ नहीं सूझता। कौन धर्मकृत्य में ग्राह्य है, कौन अग्राह्य है, इसकी तरफ़ कोई नहीं देखता। कोई सौर पक्ष से, कोई आर्य से, कोई ब्रह्म से, कोई और किसी चौथे ही से मनमानी करने में प्रवृत्त होते हैं। फिर भी यदि कोई भले बुरे का उपदेश करे तो उसे मानते नहीं। वे कहते हैं, हमलोग ऐसे ही करते आए हैं; तुम न मालूम क्या नई रीति चलाते हो; इत्यादि। जब शास्त्रीजी का पञ्चाङ्ग बना तब कई लोगों ने मानने न मानने का विवाद उठाया। इसकी शान्ति के लिए एक सभा भी हुई। "पञ्चाङ्गोपपादन" नामक एक शास्त्रीजी का व्याख्यान भी हुआ। इस व्याख्यान में शास्त्रीजी ने अपने मन्तव्यों को प्रकाशित किया है। तो भी कई लोगों ने अपना आग्रह नहीं छोड़ा। शास्त्रीजी की मृत्यु के पीछे यह पञ्चाङ्ग अब तक उनके काशीस्थ शिष्यों द्वारा रचा जाता है।

सन् १८७६ में श्रीमती स्वर्गवासिनी विकृोरिया के पुत्र प्रिंस आफ़ वेल्स, जो अब श्रीमान् सप्तम एडवर्ड हैं, भारत में आए। तब वे काशी भी पधारे और वहां श्रीकाशीनरेश के रामनगर में दर्बार हुआ। उसमें श्रीकाशीनरेश ने सबसे प्रथम शास्त्रीजी की मुलाकात प्रिंस आफ़ वेल्स से कराई

ग्रैार उनकी विशेष प्रशंसा भी की। सन् १८७७ को पहिली जनवरी को दिल्ली में वैसा ही दरबार हुआ जैसा अभी हुआ है। उसमें भी सब देश के राजा, रईस ग्रैार प्रतिष्ठित पुरुषों को निमन्त्रण था। उन दिनों में लार्ड लिटन गवर्नर जनरल थे। आज कल लार्ड कर्ज़न हैं। अब ग्रैार तब की राजनीति में भी बहुत अन्तर है। उस अवसर में शास्त्रीजी को भी निमन्त्रण आया था। पर ये भीड़ के भय से नहीं गये। सन् १८७८ को पहिली जनवरी को इस उत्सव के स्मरण में सरकार से बड़े बड़े लोगों को उपाधियां मिलीं। उसमें हमारे शास्त्रीजी को सी० आई० ई० की उपाधि प्राप्त हुई। इन दिनों में शास्त्रीजी ने संस्कृत में त्रिकोणमिति नामक गणित ग्रन्थ बनाया यह बहुत ही उत्तम ग्रन्थ हुआ। संस्कृतवालों को इसके पहले इस विषय का ठीक ठीक ज्ञान नहीं था। यह बनारस कालेज में तथा जयपुर में भी पढ़ाया जाता है। यह बहुत कठिन है। कभी कभी घण्टों तक चक्कर खाने से भी कठिनता से समीकरण बैठते हैं। यह सन् १८८१ में काशी के मेडिकल हाल प्रेस में मुद्रित हुआ है। आगे सन् १८८७ ई० में महारानी विक्टोरिया के जुबली महोत्सव पर शास्त्रीजी को महामहोपाध्याय की पदवी मिली। ग्रैार इसी वर्ष की १५ नवम्बर को इलाहाबाद युनिवर्सिटी स्थापित हुई। उसमें सरकार की तरफ़ से शास्त्रीजी फेलो (Fellow) नियत हुए।

शास्त्रीजी ज्योतिषशास्त्र में जैसे प्रवीण थे वैसे ही काव्य-साहित्य में भी योग्यता रखते थे। उनके संस्कृत गद्य लेख बहुत ही रमणीय होते थे। श्लोक बनाने की भी उनमें शक्ति थी। एक बार 'अणोरणीयान् महतो महीयान्" इस समस्या की पूर्ति उन्होंने यों की थी—

> शून्याल्लघीयान् ऋणरूपराशिर्महाननन्ताद् गणितेन यस्मात्।
> सिध्यत्यतः शेषमिवास्तिनून-मणोरणीयान् महतो महीयान्॥

ग्रैार भी उत्तम कविताएं उन्होंने की हैं।

शास्त्रीजी का स्वभाव बहुत सीधा था। वे सर्वदा अपने को तुच्छ ही कहा करते थे; यहां तक कि उन्होंने अपने को "हम" कभी नहीं कहा; किन्तु वे "मैं" ही कहा करते थे। विद्यार्थियों से भी वे "आप" कहके सर्वदा व्यवहार करते थे। शास्त्रीजी का आचरण अनुकरण करने योग्य था। उनकी धर्म पर इतनी भक्ति थी कि जो कार्य जिस समय करने को लिखा है उसको वे उसी समय करते थे। मरने तक उनका ३ बजे प्रातः गंगास्नान ग्रैार सायङ्काल मणिकर्णिका पर सन्ध्या करना कभी नहीं छूटा।

सन् १८८९ में शास्त्रीजी ने पाठशाला की नौकरी छोड़ कर पेन्शन ली। पेन्शन के समय उनको २००) रुपए मासिक मिलते थे। उन्होंने कुल ४७ वर्ष सरकार की नौकरी की। विचारदृष्टि से यह मासिक उनके लिए कुछ न था। पर वे सर्वदा इसीसे सन्तुष्ट रहा करते थे। एक बार महाराज काश्मीर ने उनसे कहा कि आप यहां आवें तो हज़ार रुपए मासिक मिला करैगा। शास्त्रीजी ने कहा आप मेरा काशीवास द्रव्य के लोभ से छुड़ाना चाहते हैं। अन्त में वे नहीं गए; कई बार प्रोफ़ेसर केरो लक्ष्मण छत्रे ने भी उन्हें बुलाया; पर शास्त्रीजी वहां भी न गए। उनका सिद्धान्त यह था कि चाहे जो हो पर विश्वनाथपुरी न छोड़ूंगा। ईश्वर ने उनका प्रण ख़ूब निबाह दिया। पेन्शन लेने पर वे बीमार रहा करते थे। कुछ दिनों में बीमारी बढ़ गई। यों बढ़ते घटते एक साल व्यतीत हुआ। अन्त में सन् १८९० ईसवी को ता० ६ जून को रात्रि के ११ बजे वे इस संसार को छोड़ स्वर्ग सिधारे। शास्त्रीजी के दो पुत्र इस समय काशी में पढ़ रहे हैं; माता के सिवाय उनका कोई आश्रय नहीं है।

शास्त्रीजी जो महा विद्वान् पुरुष थे। उनके अनन्तर विश्वनाथ नगरी उनके समान नरभूषण से अब तक ख़ाली है। उनके बहुत से कार्य खण्डित रह गए हैं, जिनकी पूर्ति की कोई आशा नहीं है।

गिरिजाप्रसाद द्विवेदी।

अन्योक्ति-दशक ।

सानुवाद ।

[१]—भ्रमर ।

ये वर्द्धिताः करिकपोलमदेन भृङ्गाः,
प्रोत्फुल्लपङ्कजरजःसुरभीकृताङ्गाः ।
ते साम्प्रतं प्रतिदिनं क्षपयन्ति कालं,
निम्बेषु चार्ककुसुमेषु च दैवयोगात् ॥

*

जो भृङ्ग मत्तगज के मद से बढ़े थे;
उत्फुल्ल-कञ्ज-रज-सौरभ में बसे थे ।
काटैं वही दिवस हा ! अब दैवमारे;
निम्बादि-वृक्ष-वन-बीच छिपे बिचारे ॥

[२]

रात्रिर्गमिष्यति भविष्यति सुप्रभातम्,
भास्वानुदेष्यति हसिष्यति पङ्कजश्रीः ।
इत्थं विचिन्तयति कोशगते द्विरेफे,
हा हन्त हन्त नलिनीं गज उज्जहार ॥

*

बीते निशा समय भोर अवश्य होगा;
आदित्य देख बन पङ्कज का खिलैगा ।
यों कोश-भीतर मधुव्रत सोचता था;
कि प्रात मत्त गजने नलिनी उखाड़ी ॥

[३]—कोकिल ।

तावत्कोकिलविरसान्यापय दिवसान्वनान्तरेनिवसन्
यावन्मिलदलिमालः कोऽपि रसालः समुल्लसति ॥

*

दिवस नीरस तू तबलों कहीं,
पिक ! किसी बनमें बस काट दे ।
मधुप-गुञ्जित मञ्जु रसाल ये,
अयि सखे ! जब लों न रसाल हो ॥

[४]

अस्यां सखे बधिरलोकनिवासभूमौ,
किं कूजितेन खलु कोकिल कोमलेन ।
एते हि दैवहतकास्तदभिन्नवर्णं,
त्वां काकमेव कलयन्ति कलानभिज्ञाः ॥

हे मित्र ! हैं जन सभी बहरे यहां पै,
इससे करै पिक ! वृथा मृदुकूज क्यों तू ?
ये मूर्ख हैं; गुण नहीं पहचानते हैं;
श्यामाङ्ग देख शठ काक बखानते हैं ।

[५]—हंस ।

पुरा सरसि मानसे विकचसारसालिस्खल-
त्परागसुरभीकृते पयसि यस्य यातं वयः ।
स पल्वलजलेऽधुना मिलदनेकभेकाकुले,
मरालकुलनायकः कथय रे कथं वर्ततताम् ॥

*

शुचि सुगन्धित मानस में सदा,
वय गई जिस हंस किशोर की ।
मिलित शैवल भेक तड़ाग में,
अब वही किस भाँति अरे ! गया ?

[६]

भुक्ता मृणालपटली भवता निपीता-
न्यम्बूनि यत्र नलिनानि निषेवितानि ।
रे राजहंस वद तस्य सरोवरस्य
कृत्येन केन भवितासि कृतोपकारः ॥

*

खाया जहां मृदु मृणाल; पिया सुवारि;
पाया प्रमोद नलिनी-दल-बीच बैठ ।
रे राजहंस ! कह तू किस कृत्य द्वारा,
उद्धार हाय ! उससे, इस जन्म, होगा ?

[७]

ये वर्द्धिताः कनकपङ्कजरेणुमध्ये,
मन्दाकिनी विमलनीरतरङ्गभङ्गैः ।
ते साम्प्रतं विधिवशात् खलु राजहंसाः,
शैवालजालजटिलं जलमाश्रयन्ति ॥

*

जो थे बढ़े कनक-पङ्कज-धूल बीच,
मन्दाकिनी विमल-वारितरङ्ग से वा ।
वे राजहंस विधि वाम हुये विचारे,
शैवाल-जाल-युत ताल-तटी पधारे ॥

[८]—हाथी।

दानार्थिनो मधुकरा यदि कर्णतालै-
दूरीकृताः करिवरेण मदान्धबुद्ध्या।
तस्यैव गण्डयुगमण्डनहानिरेषा,
भृङ्गाः पुनर्विकचपद्मवने वसन्ति॥

*

जो दानलोलुप मधु-वृत-वृन्द आया,
उसको मदान्ध गज ने यदि हा! हटाया।
शोभाविहीन सब शीश हुआ उसीका,
वे भृङ्ग तो कमलकानन में बसे जा॥

[९]—काक।

कर्णारुन्तुदमन्तरेण रणितं गाहस्व काक स्वयं,
माकन्दं मकरन्दशालिनमिह त्वां मन्महे कोकिलम्।
धन्यानि स्थलवैभवेन कतिचिद्वस्तूनि कस्तूरिकां,
नेपालक्षितिपालभालपतितां पङ्के न शङ्केत कः॥

*

अरे कर्ण कटुशब्द किये बिन काक! मोदयुत बैठ तहां,
आमलता मकरन्द पानकर पिक समझेंगे तुझे वहां।
स्थल-वैभव से कोई कोई वस्तु धन्य होजाती है;
नृपललाट पर पङ्कविन्दु मृगमदही जानीजाती है॥

[१०]—मलयाचल।

किं ते न हेमगिरिणा रजताद्रिणा वा,
यत्राश्रिता हि तरवस्तरवस्तएव।
मन्यामहे मलयमेव यदाश्रयेण,
कङ्कोलनिम्बकुटजा अपि चन्दना स्युः॥

*

कनक और चाँदी का पर्वत होने से कुछ काम नहीं,
आश्रित होकर भी वृक्षों का रहता जहां स्वरूप वही।
मान्य एक मलयाचलही; जब उसका आश्रय पाते हैं;
कुटज, निम्ब, कंकोल आदि तरु सब चन्दन होजाते हैं।

कन्हैयालाल पोद्दार।

चातक-सन्ताप।

[अन्योक्ति]

[१]

"सीरी भई छाती ताती, देखि देखि स्वाती घन,
जान्यो जानहारो सब साल को कसाला है।
रटत 'पियासो हौं' 'पियासो हौं' झुरानी जीह,
सोऊ, उरजानी, होन चाहत निहाला है।
औचक ही बैरिन समीरन में लागी आगी,"
चातक अभागी रोय टेरत बिहाला है।
"सुधा सम पानी जिन्दगानी की निसानी लाय,
हायरे बिलानी जात मेघन की माला है"॥

[२]

"बनमें कछारन में बागन पहारन में,
भयो ठौर ठौरन हो धुवाँधार झाला है।
भरि गये बापी कुण्ड कूप, ना समानो जल,
परै उफनानो [illegible] प्रतेक नद नाला है।
मेरी भई बारी तब बैरिन बयारी भई,
आसा पर मेरे राम! परो जात पाला है।
सुधा-सम पानी जिन्दगानी की निसानी लाय,
हायरे बिलानी जात मेघन की माला है"!

अविवेकी मेघ।

[अन्योक्ति]

[१]

धान के खेतन पै न परैं, जल पाहन रेतन पै ढरकावैं
बागबगीचनसींचनछाँड़िकैसिन्धुपैनीरउलीचनधावैं
संपत पूरे अधूरे विवेक के दानके रूरे विधान भुलावैं
मूसरचन्द ये मूसरधार धराधर ऊसर पै बरसावैं

वर्षा का आगमन।

[१]

सुखद सीतल सुचि सुगन्धित पवन लागी बहन,
सलिल बरसन लगो वसुधा लगी सुखमा लहन।
लहलही लहरान लागीं सुमन बेलीं मृदुल,
हरित कुसुमित लगे झूमन वृच्छ मञ्जुल विपुल।

[२]

हरित मनिके रङ्ग लागी भूमि मन को हरन,
लसति इन्द्रवधून अवली छटा मानिक बरन।
बिमल बगुलन पाँति मनहुं बिसाल मुक्तावली,
चन्द्रहास समान चमकति चञ्चला त्यों भली॥

[३]

नील नीरद सुभग सुरधनु बलित सोभाधाम,
लसत मनु बन माल धारे ललित श्रीघनस्याम।
कूप कुण्ड गँभीर सरवर नीर लाग्यो भरन,
नदीं नद उफनान लागे लगे झरना झरन॥

[४]

रटत दादुर त्रिबिध लागे रुचन चातक बचन,
कूक छावत मुदित कानन लगे केकी नचन।
मेघ गरजत मनहुं पावस भूप को दल सबल,
विजय दुन्दुभि हनत जग में छीनि ग्रीसम अमल॥

राय देवीप्रसाद (पूर्ण)

गान-विद्या।

[१]

है गान-विद्या जग में प्रधान,
दुःखी सुखी को सबको समान।
प्यारी लगै; मोद करै; रिझावै;
आनंदकंद प्रभु को रमावै॥

[२]

श्री गानविद्या अतिमोदकारी,
श्री शैलजा-नायक ने सुधारी।
श्रीपाणिनी को डमरू बजा के;
श्रीसूत्र दीन्हे बहु तोष पा के॥

[३]

पाई प्रतिष्ठा कर गान-विद्या,
हरी स्वयं नारद ने अविद्या।
ले हाथ वीणा कितने हि काम,
किये सुधारे परिपूर्ण-काम॥

[४]

हुआ बड़ा गायक तानसेन,
है कौन ऐसा जगमें उसे न
जानें भला जो कर गान-तान,
कीन्हे सभी के मन एक-तान॥

[५]

सुगायकों का अतिमान पाना,
निदान है सुस्वर एक गाना;
हैं नृत्य-वाद्य-प्रिय हावभाव
जानों उसीके सब ये प्रभाव॥

[६]

हुई यहां नाट्य-कला प्रधान;
है गान-विद्या उसमें निधान।
गाना यदि सुस्वर राग-युक्त,
बनैं विरागी सुन राग-युक्त॥

[७]

आश्चर्य क्या मानव मोह जाना?
मोहैं पशु श्वापद पक्षि नाना।
प्रतीति आई इसको सभीको
शङ्का नहीं है इसमें किसीको॥

[८]

गायें हज़ारों हरिने संभाली
वंशी बजा के वन बीच पाली।
मोहा सभी को मुरली बजा के,
नई नई तान सुना सुना के॥

[९]

श्रीकृष्ण-लीला जग में पवित्र,
हुई रसीली रमणीय चित्र।
प्रभाव ऐसा इसका अपार;
है गान-विद्या रस-सर्व-सार॥

[१०]

हैं वेद, वेदांग, पुराण नाना,
काव्यादि, पद्यात्मक सर्व गाना।
गाया सभी ने स्वमनोऽनुसार;
आनंद पाया अतिहो अपार॥

[११]

गाना गया हा ! अब छोड़ देश;
रहा कहीं ना उसका प्रवेश।
कुशीलव प्रेम भरे विशेष
हुए उसीके सह नाम-शेष ॥

[१२]

वाल्मीकि ! हा व्यास ! यशोविशाल !
हा कालिदास ! प्रिय सर्वकाल।
हा बाण ! दंडी ! जयदेव ! प्यारे !
क्या गान-विद्या सह ले सिधारे ?

[१३]

होता न गाना जग जो प्रधान,
पाते न कोई रस-सन्निधान।
काव्येतिहास प्रभु-चित्र-लीला-
होती प्रजा शोक-गता कुशीला ॥

[१४]

सरस्वति ! प्रेयसि ! तू कहां थी ?
प्रच्छन्न-रूपा जग में अहा ! थी।
हुई अभी तू अवतीर्ण बाला;
है गान-विद्या तुझ में विशाला ॥

[१५]

मयूर-पत्रा कर में सितार,
तेरे सदा हैं, कर सज्ज तार।
गाना सुना के प्रिय छोड़ तान,
दुःखी जनों को कर एक-तान ॥

[१६]

आई यहां सुंदर रूप धार,
सदा हमारा कर तू सुधार।
मीठे सदा सुस्वर गीत गाय,
अज्ञान सारा हर; हो सहाय ॥

[१७]

प्रभुवर तुझको दे साह्य; तेरा प्रसार
प्रति-दिन जगमें हो; हो सदा सर्वसार।
मधुर मधुर गाना तू सुना बार बार
श्रम हर, न कभी तू पात्र कोई विकार ॥

अग्रवंशी—शिवचन्द्र बलदेव भरतिया।

ग्यारह वर्ष का समय।

दिन भर बैठे बैठे मेरे सिर में पीड़ा उत्पन्न हुई; मैं अपने स्थान से उठा और अपने एक नए एकान्तवासी मित्र के यहां मैंने जाना विचारा। जाकर मैंने देखा तो वे ध्यानमग्न सिर नीचा किए हुए कुछ सोच रहे थे। मुझे यह देख कर कुछ आश्चर्य्य नहीं हुआ; क्योंकि, यह कोई नई बात न थी। उन्हें थोड़े ही दिन पूरब से इस देश में आए हुआ है। नगर में उनसे मेरे सिवाय और किसीसे विशेष जान पहिचान नहीं है; और न वह विशेषतः किसीसे मिलते जुलते ही हैं। केवल मुझ से, मेरे भाग्य से, वे मित्रभाव रखते हैं। उदास तो वे हर समय रहा करते हैं। कई बेर उनसे मैंने इस उदासीनता का कारण पूछा भी; किन्तु मैंने देखा कि उसके प्रगट करने में उन्हें एक प्रकार का दुःख सा होता है; इसी कारण मैं विशेष पूछपाछ नहीं करता।

मैंने पास जाकर कहा "मित्र ! आज तुम बहुत उदास जान पड़ते हो। चलो थोड़ी दूर तक घूम आवें। चित्त बहल जायगा"।

वे तुरन्त खड़े हो गए और कहा "चलो मित्र मेरा भी यही जी चाहता है। मैं तो तुम्हारे यहां जानेवाला था"।

हम दोनों उठे और नगर से पूर्व की ओर का मार्ग लिया। मार्ग के दोनों ओर की कृषिसम्पन्न भूमि की शोभा का अनुभव करते और हरियाली के विस्तृत राज्य का अवलोकन करते हमलोग चले। दिन का अधिकांश अभी शेष था, इससे चित्त को स्थिरता थी। पावस की जरावस्था थी इससे ऊपर से भी किसी प्रकार के अत्याचार की संभावना न थी। प्रस्तुत ऋतु की प्रशंसा भी हम दोनों बीच बीच में करते जाते थे।

अहा ! ऋतुओं में उदारता का अभिमान यही कर सकता है। दीन कृषकों को अन्नदान और सूर्य्यातप-तप्त पृथिवी को वस्त्रदान देकर यश का

...गी यही होता है। इसे तो कवियों की "कौंसिल" ..."रायबहादुर" की उपाधि मिलनी चाहिए। यद्यपि पावस की युवावस्था का समय नहीं है; किन्तु उसके यश की ध्वजा फहरा रही है। स्थान स्थान पर प्रसन्न-सलिल-पूर्ण ताल अद्यापि उसकी पूर्व उदारता का परिचय दे रहे हैं।

एतादृश भावों की उलझन में पड़कर हमलोगों का ध्यान मार्ग की शुद्धता की ओर न रहा। हमलोग नगर से बहुत दूर निकल गए। देखा तो शनैः शनैः भूमि में परिवर्त्तन लक्षित होने लगा; अरुणता-मिश्रित पहाड़ी रेतीली भूमि, जङ्गली बैर मकोय की छोटी छोटी कण्टकमय झाड़ियां, दृष्टि के अन्तर्गत होने लगीं। अब हमलोगों को जान पड़ा कि हम दक्षिण की ओर झुके जा रहे हैं। सन्ध्या भी हो चली। दिवाकर की डूबती हुई किरणों की अरुण आभा झाड़ियों पर पड़ने लगी। इधर प्राची की ओर दृष्टि गई; देखा तो चन्द्रदेव पहले ही से सिंहासनारूढ होकर एक पहाड़ी के पीछे से झांक रहे थे।

अब हमलोग नहीं कह सकते कि किस स्थान पर हैं। एक पगडण्डी के आश्रय अब तक हमलोग चल रहे थे, जिस पर उगी हुई घास इस बात को शपथ खा के साक्षी दे रही थी कि वर्षों से मनुष्यों के चरण इस ओर नहीं पड़े हैं। कुछ दूर चलकर यह मार्ग भी तृणसागर में लुप्त हो गया। "इस समय क्या कर्त्तव्य है?" चित्त इसीके उत्तर की प्रतीक्षा में लगा। अन्त में यह विचार स्थिर हुआ कि किसी किसी खुले स्थान से चारों ओर देखकर यह ज्ञान प्राप्त हो सकता है कि हमलोग अमुक स्थान पर हैं।

दैवात् सम्मुख ही एक ऊंची पहाड़ी देख पड़ी, उसीको इस कार्य्य के उपयुक्त स्थान हमलोगों ने विचारा। ज्यों त्यों करके पहाड़ी के शिखर तक हम लोग गए। ऊपर आते ही भगवती जह्नुनन्दिनी के दर्शन हुए। नेत्र तो सफल हुए। इतने में चारु-हासिनी चन्द्रिका भी अट्टहास करके खिल पड़ी। उत्तर-पूर्व की ओर दृष्टि गई। विचित्र दृश्य सम्मुख उपस्थित हुआ! जाह्नवी के तट से कुछ अन्तर पर नीचे मैदान में, बहुत दूर, गिरे हुए मकानों के ढेर स्वच्छ चन्द्रिका में स्पष्ट रूप से दिखाई दिए!

मैं सहसा चौंक पड़ा और ये शब्द मेरे मुख से निकल पड़े "क्या यह वही खंड़हर है जिसके विषय में यहां अनेक दन्तकथाएं प्रचलित हैं?" चारों ओर दृष्टि उठा कर देखने से मुझे पूर्णरूप से निश्चय हो गया कि हो न हो यह वही स्थान है जिसके सम्बन्ध में मैंने बहुत कुछ सुना है। मेरे मित्र मेरी ओर ताकने लगे। मैंने संक्षेप से उस खड़हर के विषय में जो कुछ सुना था उनसे कह सुनाया। हमलोगों के चित्त में कौतूहल की उत्पत्ति हुई; उसको निकट से देखने की प्रबल इच्छा ने मार्गज्ञान की व्यग्रता को हृदय से बहिर्गत कर दिया। उत्तर की ओर उतरना बड़ा दुष्कर प्रतीत हुआ, क्योंकि जंगली वृक्षों और कंटकमय झाड़ियों से पहाड़ी का वह भाग आच्छादित था। पूर्व की ओर से हम लोग सुगमता पूर्वक नीचे उतरे। यहां से खड़हर लगभग डेढ़ मील के प्रतीत होता था। हमलोगों ने पैरों को उसी ओर मोड़ा; मार्ग में घुटनों तक उगी हुई घास पग पग पर बाधा उपस्थित करने लगी; किन्तु अधिक बिलम्ब तक यह कष्ट हमलोगों को भोगना न पड़ा; क्योंकि आगे चल कर फूटे हुए खपड़ेलों की सिटकियां, मिलने लगीं; इधर उधर गिरी हुई दीवारें और मिट्टी के ढूह प्रत्यक्ष होने लगे। हम लोगों ने जाना कि अब यहीं से खंड़हर का आरम्भ है। दीवारों की मिट्टी से स्थान क्रमशः ऊंचा होता जाता था, जिस पर से होकर हमलोग निर्भय जा रहे थे। इस निर्भयता के लिए हम लोग चन्द्रमा के प्रकाश के भी अनुगृहीत हैं। सम्मुख ही एक देवमन्दिर पर दृष्टि जा पड़ी जिसका कुछ भाग तो नष्ट हो गया था; किन्तु शेष प्रस्तरविनिर्मित होने के कारण अब तक क्रूर काल के आक्रमण को सहन करता आया था। मन्दिर का द्वार ज्यों का त्यों खड़ा था।

किवाड़ सट गए थे। भीतर भगवान भवानीपति बैठे निर्जन कैलाश का आनन्द ले रहे थे; द्वार पर उनका नन्दी भी बैठा था। मैं तो प्रणाम करके वहां से हटा; किन्तु देखा तो हमारे मित्र बड़े ध्यान से खड़े हो उस मन्दिर की ओर देख रहे हैं और मन हो मन कुछ सोच रहे हैं। मैंने मार्ग में भी कई बेर लक्ष्य किया था कि वे कभी कभी ठिठक जाते और किसी वस्तु को बड़ी स्थिर दृष्टि से देखने लगते। मैं खड़ा हो गया और पुकार कर मैंने कहा, "कहो मित्र! क्या है? क्या देख रहे हो?"

मेरी बोली सुनते ही वे झट मेरे पास दौड़ आए और कहा "कुछ नहीं, यों हीं मैं मन्दिर देखने लग गया था"। मैंने फिर तो कुछ न पूछा, किन्तु अपने मित्र के मुख की ओर देखता जाता था, जिस पर कि विस्मय-युक्त एक अद्भुतभाव लक्षित होता था। इस समय खंड़हर के मध्य भाग में हमलोग खड़े थे। मेरा हृदय इस स्थान को इस अवस्था में देख विदीर्ण होने लगा। प्रत्येक वस्तु से उदासी बरस रही थी; इस संसार की अनित्यता की सूचना मिल रही थी। इस करुणोत्पादक दृश्य का प्रभाव मेरे हृदय पर किस सीमा तक हुआ, शब्दों द्वारा अनुभव कराना असम्भव है।

कहीं सड़े हुए किवाड़ भूमि पर पड़े प्रचण्ड काल को साष्टांग दण्डवत कर रहे हैं। जिन घरों में किसी अपरिचित की परछांई पड़ने से कुल की मर्य्यादा भङ्ग होती थी, वे भीतर से बाहर तक खुले पड़े हैं। रङ्ग विरङ्गी चूड़ियों के टुकड़े इधर उधर पड़े काल की महिमा गारहे हैं। मैंने इन से एक को हाथ में उठाया, उठातेही यह प्रश्न उपस्थित हुआ कि "वे कोमल हाथ कहां हैं जो इन्हे धारण करते थे?"

हा! यही स्थान किसी समय नर नारियों के आमोद प्रमोद से पूर्ण रहा होगा और बालकों के कल्लोल को ध्वनि चारो ओर से आती रही होगी। वहीं आज कराल काल के कठोर दाँतों के तले पिस कर चकनाचूर हो गया है। तृणों से आच्छादित गिरी हुई दीवारें, मिट्टी और ईंटों के ढूह, टूटेफूटे चौकठे और किवाड़ इधर उधर पड़े एक स्वर से मानो पुकार के कह रहे थे-"दिनन को फेर होत, मेरु होत माटी को"; प्रत्येक पार्श्व से मानों यही ध्वनि आ रही थी। मेरे हृदय में करुणा का एक समुद्र उमड़ा जिसमें मेरे विचार सब मग्न होने लगे।

मैं एक स्वच्छ शिला पर, जिसका कुछ भाग तो पृथ्वीतल में धंसा था और शेषांश बाहर था, बैठ गया। मेरे मित्र भी आकर मेरे पास बैठे। मैं तो बैठे बैठे काल चक्र की गति पर विचार करने लगा; मेरे मित्र भी किसी विचार ही में डूबे थे; किन्तु मैं नहीं कह सकता कि वह क्या था। यह सुन्दर स्थान इस शोचनीय और पतित दशा को क्यों कर प्राप्त हुआ, मेरे चित्त में तो यही प्रश्न बार बार उठने लगा; किन्तु उसका सन्तोषदायक उत्तर प्रदान करनेवाला वहां कौन था? अनुमान ने यथासाध्य प्रयत्न किया, परन्तु कुछ फल न हुआ; माथा घूमने लगा। न जानें कितने और किस किस प्रकार के विचार मेरे मस्तिष्क से हो कर दौड़ गए।

हमलोग अधिक विलम्ब तक इस अवस्था में न रहने पाए। यह क्या? मधुसूदन! यह कौन सा दृश्य है? जो कुछ देखा उससे अवाक् रह गया! कुछ दूर पर एक श्वेत वस्तु इसी खंड़हर की ओर आती देख पड़ी! मुझे रोमाञ्च हो आया; शरीर काँपने लगा। मैंने अपने मित्र को उस ओर आकर्षित किया और उंगली उठाके दिखाया। परन्तु कहीं कुछ न देख पड़ा; मैं स्थापित मूर्त्ति की भांति बैठा रहा। पुनः वही दृश्य!! अब की बार ज्योत्स्नालोक में स्पष्टरूप से हमलोगों ने देखा कि एक श्वेत-परिच्छद-धारिणी स्त्री एक जल का पात्र लिए खंड़हर के एक पार्श्व से होकर दूसरी ओर वेग से निकल गई और उन्हीं खंड़हरों के बीच फिर न जाने कहां अन्तर्धान हो गई। इस अद्भुत पूर्व व्यापार को देख मेरे मस्तक में पसीना आ गया और कई प्रकार के भ्रम उत्पन्न होने लगे। विधाता! तेरी सृष्टि में न जानै कितनी अद्भुत

अद्भुत वस्तु मनुष्य, को सूक्ष्म विचारदृष्टि से दिखाई पड़ी हैं। यद्यपि मैंने इस स्थान विशेष के सम्बन्ध में अनेक भयानक वार्ताएं सुन रक्खी थीं, किन्तु मेरे हृदय पर भय का विशेष सञ्चार न हुआ। हमलोगों को प्रेतों पर भी इतना दृढ़ विश्वास न था; नहीं तो हम दोनों का एक क्षण भी उस स्थान पर ठहरना दुष्कर हो जाता। रात्रि भी अधिक व्यतीत होती जाती थी। हम दोनों को अब यह चिन्ता हुई कि यह स्त्री कौन है? इसका उचित परिशोध अवश्य लगाना चाहिये।

हम दोनो अपने स्थान से उठे, और जिस ओर वह स्त्री जाती हुई देख पड़ी थी उसी ओर चले। अपने चारों ओर प्रत्येक स्थान को भली प्रकार देखते, हमलोग गिरे हुए मकानों के भीतर जा जा के शृगालों के स्वच्छन्द विहार में बाधा डालने लगे। अभी तक तो कुछ ज्ञात न हुआ। यह बात तो हमलोगों के मन में निश्चय हो गई थी कि हो न हो वह स्त्री खंड़हर के किसी गुप्त भाग में गई है। गिरी हुई दीवारों की मिट्टी और ईंटों के ढेर से इस समय हमलोग परिवृत थे; बाह्य जगत की कोई वस्तु दृष्टि के अन्तर्गत न थी। हमलोगों को जान पड़ता था कि किसी दूसरे संसार में खड़े हैं। वास्तव में खंड़हर के एक बड़े भयानक भाग में इस समय हमलोग खड़े थे। सामने एक बड़ी ईंटों की दीवार देख पड़ी जो औरों की अपेक्षा अच्छी दशा में थी। इसमें एक खुला हुआ द्वार था। इसी द्वार से हम दोनों ने इसमें प्रवेश किया। भीतर एक विस्तृत आंगन था जिसमें बेर और बबूल के पेड़ स्वच्छन्दता पूर्व्वक पेड़ उस स्थान को मनुष्य-जाति-सम्बन्ध से मुक्त सूचित करते थे। इसमें पैर धरते ही मेरे मित्र की दशा कुछ और हो गई और वे चट बोल उठे "मित्र! मुझे ऐसा जान पड़ता है कि जैसे मैंने इस स्थान को और कभी देखा हो—यह नहीं कह सकता कब। प्रत्येक वस्तु यहां की पूर्व परिचित सी जान पड़ती है"। मैं अपने मित्र की ओर ताकने लगा। उन्होंने आगे कुछ न कहा। मेरा चित्त इस स्थान के अनुसन्धान करने को मुझे बाध्य करने लगा। इधर उधर देखा तो एक ओर मिट्टी पड़ते पड़ते दीवार की उँचाई के अर्द्धभाग तक वह पहुंच गई थी। इस पर से हो कर हम दोनों दीवार पर चढ़ गए। दीवार के नीचे दूसरे किनारे में चतुर्दिक-वेष्टित एक कोठरी दिखाई दी; मैं इसमें उतरने का यत्न करने लगा। बड़ी सावधानी से एक उभड़ी हुई ईंट पर पैर रख कर हम दोनों नीचे उत्तर गए। यह कोठरी ऊपर से बिलकुल खुली थी, इसलिए चन्द्रमा का प्रकाश इसमें बेरोक टोक आ रहा था। कोठरी की दहिनी ओर एक द्वार दिखाई दिया, जिसमें एक जीर्ण किवाड़ लगा हुआ था। हमलोगों ने निकट जाकर किवाड़ों को पीछे की ओर धीरे से ढकेला तो जान पड़ा कि वे भीतर से बन्द हैं!

मेरे तो पैर काँपने लगे। पुनः साहस को धारण कर हमलोगों ने किवाड़ के छोटे छोटे रन्ध्रों से झांका तो एक प्रशस्त कोठरी देख पड़ी। एक कोने में मन्द मन्द एक प्रदीप जल रहा था जिसका प्रकाश द्वार तक न पहुंचता था। यदि यह प्रदीप उसमें न होता तो अन्धकार के अतिरिक्त हमलोग और कुछ न देख पाते।

हमलोग कुछ काल तक स्थिर दृष्टि से उसी ओर देखते रहे। इतने में एक स्त्री की आकृति देख पड़ी जो हाथ में कई छोटे पात्र लिए उस कोठरी के प्रकाशित भाग में आई! अब तो किसी प्रकार का सन्देह न रहा। एक बेर इच्छा हुई कि किवाड़ खटखटाएं; किन्तु कई बातों का विचार करके हमलोग ठहर गए। जिस प्रकार से हमलोग कोठरी में आए थे, धीरे धीरे उसी प्रकार निःशब्द दीवार पर से होकर फिर आंगन में आए। मेरे मित्र ने कहा "इसका शोध अवश्य लगाओ कि यह स्त्री कौन है"। अन्त में हम दोनों आड़ में, इस आशा से कि कदाचित् वह फिर बाहर निकले, बैठ रहे। पौन घंटे के लगभग हमलोग इसी प्रकार बैठे रहे। इतने में वही श्वेतवसनधारिणी

स्त्री आंगन में सहसा आकर खड़ी हो गई। हमलोगों को यह देखने का समय न मिला कि वह किस ओर से आई!

उसका अपूर्व्व सौन्दर्य्य देख कर हमलोग स्तम्भित व चकित रह गये। चन्द्रिका में उसके सर्वाङ्ग की सुन्दरता स्पष्ट जान पड़ती थी। गौर वर्ण, शरीर किञ्चित क्षीण और आभूषणों से सर्वथा रहित; मुख उसका, यद्यपि उसपर उदासीनता और शोक का स्थायी निवास लक्षित होता था, एक अलौकिक प्रशान्त कान्ति से देदीप्यमान हो रहा था। सौम्यता उसके अंग अंग से प्रदर्शित होती थी। वह साक्षात देवी जान पड़ती थी।

कुछ काल तक किंकर्तव्यविमूढ़ होकर स्तब्ध लोचनों से उसी ओर हमलोग देखते रहे; अन्त में हमने अपने को सम्भाला और इसी अवसर को अपने कार्य्योपयुक्त विचारा। हमलोग अपने स्थान से उठे और तुरन्त उस देवीरूपिणी के सम्मुख हुए। वह देखते ही बड़े वेग से पीछे हटी। मेरे मित्र ने गिड़गिड़ा के कहा, "देवि! ढिठाई क्षमा करो। मेरे भ्रमों को निवारण करो"। वह स्त्री क्षण भर तक चुप रही, फिर स्निग्ध और गम्भीर स्वर से बोली, "तुम कौन हो और क्यों मुझे व्यर्थ कष्ट देते हो?" इसका उत्तर ही क्या था? मेरे मित्र ने फिर विनीत भाव से कहा, "देवि! मुझे बड़ा कौतूहल है—दया करके यहां का सब रहस्य कहो"।

इसपर उसने उदास स्वर से कहा, "तुम हमारा परिचय लेके क्या करोगे? इतना जान लो कि मेरे समान अभागिनी इस समय इस पृथ्वीमण्डल में कोई नहीं है"।

मेरे मित्र से न रहा गया; हाथ जोड़ कर उन्होंने फिर निवेदन किया, "देवि! अपने वृत्तान्त से मुझे परिचित करो। इसी हेतु हमलोगों ने इतना साहस किया है। मैं भी तुम्हारे ही समान दुखिया हूं। मेरा इस संसार में कोई नहीं है"। मैं अपने मित्र का यह भाव देख कर चकित रह गया।

स्त्री ने करुणस्वर से कहा, "तुम मेरे नेत्रों के सम्मुख भूला भुलाया मेरा दुःख फिर उपस्थित करने का आग्रह कर रहे हो। अच्छा बैठो"।

मेरे मित्र निकट के एक पत्थर पर बैठ गये। मैं भी उन्हींके पास जा बैठा। कुछ काल तक सब लोग चुप रहे, अन्त में वह स्त्री बोली,—

"इसके प्रथम कि मैं अपने वृत्तान्त से तुम्हें परिचित करूं, तुम्हें शपथ पूर्व्वक यह प्रतिज्ञा करनी होगी कि तुम्हारे सिवाय यह रहस्य संसार में और किसीके कानों तक न पहुंचे, नहीं तो मेरा इस स्थान पर रहना दुष्कर हो जायगा और आत्महत्या ही मेरे लिए एकमात्र उपाय शेष रह जायगा"।

हमलोगों के नेत्र गीले हो आए। मेरे मित्र ने कहा, "देवि! मुझसे तुम किसी प्रकार का भय न करो; ईश्वर मेरा साक्षी है"।

स्त्री ने तब इस प्रकार कहना आरम्भ किया—

"यह खंड़हर जो तुम देखते हो, आज से १[illegible] वर्ष पूर्व एक सुन्दर ग्राम था। अधिकांश ब्राह्मण [illegible] क्षत्रियों की इसमें बस्ती थी। यह घर जिसमें हमलोग बैठे हैं, चन्द्रशेखर मिश्र नामी एक प्रतिष्ठित और कुलीन ब्राह्मण का निवासस्थान था। घर में उनकी स्त्री और एक पुत्र था; इस पुत्र के सिवाय उन्हें और कोई सन्तान न थी। आज ११ वर्ष हुए कि मेरा विवाह इसी चन्द्रशेखर मिश्र के पुत्र के साथ हुआ था"।

इतना सुनते ही मेरे मित्र सहसा चौंक पड़े! "हे परमेश्वर! यह सब स्वप्न है या प्रत्यक्ष?" ये शब्द उनके मुख से निकले ही थे कि उनकी दशा विचित्र हो गई। उन्होंने अपने को बहुत सम्भाला—और फिर से सम्भल कर बैठे। वह स्त्री उनका यह भाव देख कर विस्मित हुई और उसने पूछा, "क्यों, क्या है?"

मेरे मित्र ने विनीतभाव से उत्तर दिया, "कुछ नहीं, यों हीं मुझे एक बात का स्मरण आया। कृपा करके आगे कहो"। स्त्री ने फिर कहना आरम्भ किया—

"मेरे पिता का घर काशी में... ... महल्ले में था। विवाह के एक वर्ष पश्चात् ही इस ग्राम में

एक भयानक दुर्घटना उपस्थित हुई। यहीं से मेरे दमनीय दुःख का जन्म हुआ। सन्ध्या को सब ग्रामीण अपने अपने कार्य्य से निश्चिन्त हो कर अपने अपने घरों को लौटे। बालकों का कोलाहल बन्द हुआ। निद्रादेवी ने ग्रामीणों के चिन्ता-शून्य हृदयों में अपना डेरा जमाया। आधी रात से अधिक बीत चुकी थी; कुत्ते भी थोड़ी देर तक भूंक कर अन्त में चुप हो रहे। प्रकृति निस्तब्ध हुई; सहसा ग्राम में कोलाहल मचा और धमाके के कई शब्द हुए। लोग आंखें मीजते उठे। चारपाई के नीचे पैर देते हैं तो घुटने भर पानी में खड़े!! कोलाहल सुनकर बच्चे भी जगे। एक दूसरे का नाम ले ले कर लोग चिल्लाने लगे। अपने अपने घरों में से लोग बाहर निकल कर खड़े हुए। भगवती जाह्नवी को द्वार पर बहते हुए पाया! भयानक विपत्ति! कोई उपाय नहीं। जल का वेग क्रमशः अधिक बढ़ने लगा। पैर कठिनता से ठहरते थे। जिधर दृष्टि उठा कर देखा जल ही जल दिखाई दिया। एक एक करके सब सामग्रियां बहने लगीं। संयोग-वश एक नाव कुछ दूर पर आती देख पड़ी। आशा! आशा!! आशा!!!

नौका आई। लोग टूट पड़े और बलपूर्व्वक चढ़ने का यत्न करने लगे। मल्लाहों ने भारी विपत्ति सम्मुख देखी; नाव पर अधिक बोझ होने के भय से उन्होंने तुरन्त अपनी नाव बढ़ा दी। बहुत से लोग रह गये। नौका पवनगति से गमन करने लगी। नौका दूसरे किनारे पर लगी। लोग उतरे। चन्द्रशेखर मिश्र भी नाव पर से उतरे और अपने पुत्र का नाम ले के पुकारा। कोई उत्तर न मिला। उन्होंने अपने साथ ही उसे नाव पर चढ़ाया था। किन्तु भीड़भाड़ नाव पर अधिक होने के कारण वह उनसे पृथक् हो गया था; मिश्रजी बहुत घबड़ाए और तुरन्त नाव लेकर लौटे। देखा, बहुत से लोग रह गये थे; उनसे पूछ पाछ किया। किसीने कुछ पता न दिया। निराशा भयङ्कर रूप धारण करके उनके सामने उपस्थित हुई।

सन्ध्या का समय था; मेरे पिता दरवाजे पर बैठे थे। सहसा मिश्रजी घबड़ाए हुए आते देख पड़े। उन्होंने आकर आद्योपान्त पूर्वोल्लिखित घटना कह सुनाई, और तुरन्त उन्मत्त की भांति वहां से चल दिये। लोग पुकारते ही रह गये; वे एक क्षण भी वहां न ठहरे। तबसे फिर कभी वे दिखाई न दिये। ईश्वर जाने वे कहां गये। मेरे पिता भी दत्तचित्त होकर अनुसन्धान करने लगे। उन्होंने सुना कि ग्राम के बहुत से लोग नाव पर चढ़ चढ़ कर इधर उधर भाग गए हैं। इसलिये उन्हें आशा थी। इस प्रकार ढूंढ़ते ढांढ़ते कई मास व्यतीत हो गए। अब तक वे समाचार की प्रतीक्षा में थे और उन्हें आशा थी; किन्तु अब उन्हें भी चिन्ता हुई। चन्द्रशेखर मिश्र का भी तब से कहीं कुछ समाचार न मिला। जहां जहां मिश्रजी का सम्बन्ध था मेरे पिता स्वयं गए; किन्तु चारो ओर से निराश लौटे; किसीका कुछ अनुसन्धान न लगा। एक वर्ष बीता, दो वर्ष बीते, तीसरा वर्ष आरम्भ हुआ। पिता बहुत इधर उधर दौड़े, अन्त में ईश्वर और भाग्य के ऊपर छोड़ कर बैठ रहे। तीसरा वर्ष भी व्यतीत हो गया।

मेरी अवस्था उस समय १४ वर्ष की हो चुकी थी; अब तक तो मैं निर्बोध बालिका थी। अब क्रमशः मुझे अपनी वास्तविक दशा का ज्ञान होने लगा। मेरा समय भी अहर्निश इसी चिन्ता में अब व्यतीत होने लगा। शरीर दिन पर दिन क्षीण होने लगा। मेरे देवतुल्य पिता ने यह बात जानी। वे सदा मेरे दुःख भुलाने का यत्न करते रहते थे। अपने पास बैठा कर रामायण आदि की कथा सुनाया करते थे। पिता अब वृद्ध होने लगे; दिवा-रात्रि की चिन्ता ने उन्हें और भी वृद्ध बना दिया। घर के समस्त कार्य्यसम्पादन का भार मेरे बड़े भाई के ऊपर पड़ा। उनकी स्त्री का स्वभाव बड़ा क्रूर था; कुछ दिन तक तो किसी प्रकार चला। अन्त में वह मुझसे डाह करने लगी और कष्ट देना प्रारम्भ किया। मैं चुपचाप सब सहन करती थी। धीरे धीरे आश्वासवाक्य के स्थान पर वह तीक्ष्ण वचनों

से मेरे चित्त अधिक दुखाने लगी। यदि कभी मैं अपने भाई से निवेदन करती ते वे भी कुछ न बोलते; अनाकानी कर जाते। और मेरे पिता की, वृद्धावस्था के कारण, कुछ चल नहीं सकती थी। मेरे दुःख का समझनेवाला वहां कोई नहीं देख पड़ता था। मेरी माता का पहिलेही परलोकवास होचुका था। मुझे अपनी दशा पर बड़ा दुःख हुआ। हा! मेरा स्वामी यदि इस समय होता ते क्या मेरी यही दशा होती? पिता के घर क्या इन्हीं वचनों द्वारा मेरा सत्कार किया जाता। यहीं सब विचार करके मेरा हृदय फटने लगता था। अब क्रमशः मेरा हृदय मेघाच्छन्न होने लगा। मुझे संसार शून्य दिखाई देने लगा। एकान्त में बैठ कर अपनी अवस्था पर अश्रुवर्षण करती। उसमें भी यह भय लगा रहता कि कहीं भौजाई न पहुंच जाय। एक दिन उसने मुझे इसी अवस्था में पाया ते तुरन्त व्यङ्ग वचनों द्वारा मुझे आश्वासन देने लगी। मेरा शोकार्त्त हृदय अग्निशिखा की भांति प्रज्वलित हो उठा; किन्तु मौनावलम्बन के सिवाय अन्य उपाय ही क्या था? दिन दिन मुझे यह दुःख असह्य होने लगा। एक रात्रि को मैं उठी; किसीसे कुछ न कहा; और सूर्योदय के प्रथम ही अपने पिता का गृह मैंने परित्याग किया।

"मैं अब यह नहीं कह सकती कि उस समय मेरा क्या विचार था? मुझे एक वेर अपने पति के स्थान के देखने की लालसा हुई। दुःख और शोक से मेरी दशा उन्मत्त की सी हो गई थी। संसार में मैंने दृष्टि उठा के देखा ते मुझे और कुछ न दिखलाई दिया; केवल चारो ओर दुःख! सैकड़ों कठिनाइयां झेलकर अन्त में मैं इस स्थान तक आ पहुंची। उस समय मेरी अवस्था केवल १६ वर्ष की थी। मैंने इस स्थान को उस समय भी प्रायः इसी दशा में पाया था। यहां आने पर मुझे कई चिह्न ऐसे मिले जिनसे मुझे यह निश्चय हो गया कि चन्द्रशेखर मिश्र का घर यही है। इस स्थान के देखकर मेरे आर्त्त हृदय पर बड़ा कठोर आघात पहुंचा"।

इतना कहते कहते हृदय के आवेग ने शब्दों के उसके हृदय ही में बन्दी कर रक्खा; बाहर प्रगट होने न दिया। क्षणैक पर्य्यन्त वह चुप रही; सिर नीचा किये भूमि की ओर देखती रही। इधर मेरे मित्र की दशा कुछ और ही हो रही थी; लिखित चित्र की भांति बैठे वे इकटक ताक रहे थे; इन्द्रियां अपना कार्य्य उस समय भूल गई थीं। स्त्री ने फिर कहना आरम्भ किया--

"इस स्थान को देख मेरा चित्त बहुत दग्ध हुआ। हा! यदि ईश्वर चाहता ते किसी दिन मैं इसी गृह की स्वामिनी होती। आज ईश्वर ने मुझको उसे इस अवस्था में दिखलाया। उसके आगे किसका वश है? अनुसन्धान करने पर मुझे दो कोठरियां मिलीं जो सर्वप्रकार से रक्षित और मनुष्य की दृष्टि के दुर्भेद्य थीं। लगभग चारों ओर मिट्टी पड़ जाने के कारण किसीको उनकी स्थिति का सन्देह नहीं हो सकता था। मुझे बहुतसी सामग्रियां भी इनमें प्राप्त हुईं जो मेरी तुच्छ आवश्यकतानुसार बहुत थीं। मुझे यह निर्जन स्थान अपने पिता के कष्टागार से प्रियतर प्रतीत हुआ। यहीं मेरे पति के बाल्यावस्था के दिन व्यतीत हुए थे। यही स्थान मुझे प्रिय है। यहीं मैं अपने दुःखमय जीवन का शेष भाग, उसी करुणालय जगदीश्वर की, जिसने मुझे इस अवस्था में डाला, आराधना में बिताऊंगी। यही विचार मैंने स्थिर किया। ईश्वर के मैंने धन्यवाद दिया जिसने ऐसा उपयुक्त स्थान मेरे लिये ढूंढ़ कर निकाला। कदाचित् तुम पूछोगे कि इस अभागिनी ने अपने लिये इस प्रकार का जीवन क्यों उपयुक्त विचारा? ते उसका उत्तर है कि यह दुष्ट संसार भांति भांति की वासनाओं से पूर्ण है, जो मनुष्य को उसके सत्य पथ से विचलित कर देती हैं; दुष्ट और कुमार्गी लोगों के अत्याचार से वञ्चित रहना भी कठिन कार्य्य है"।

इतना कह के वह स्त्री ठहर गई। मेरे मित्र की ओर उसने देखा। वे कुछ मिनट तक काष्ठपुत्तलिका की भांति बैठे रहे; अन्त में एक लम्बी ठंढी सांस

...र के उन्होंने कहा "ईश्वर! यह स्वप्न है या प्रत्यक्ष?" ...उनका यह भाव देख देख कर विस्मित हो रही ...। उसने पूछा, "क्यों! कैसा चित्त है?" मेरे ...मित्र ने अपने को सम्भाला और उत्तर दिया, ...तुम्हारी कथा का प्रभाव मेरे चित्त पर बहुत हुआ ...है, कृपा करके आगे कहो"।

स्त्री ने कहा, "मुझे अब कुछ कहना शेष नहीं है। आज पांच वर्ष मुझे इस स्थान पर आए हुए; संसार में किसी मनुष्य को आज तक यह प्रगट नहीं हुआ। यहां प्रेतों के भय से कोई पदार्पण नहीं करता। इसलिये मुझे अपने को गोपन रखने में विशेष कठिनता नहीं पड़ती। संयोगवश रात्रि ...किसीकी दृष्टि यदि मुझ पर पड़ी भी तो ...चुडैल के भ्रम से मेरे निकट तक आने का किसीको साहस न हुआ। यह आज प्रथम ऐसा संयोग उपस्थित हुआ है; तुम्हारे साहस को मैं सराहती ...और प्रार्थना करती हूं कि तुम अपने शपथ पर दृढ़ रहोगे। संसार में अब मैं प्रगट होना नहीं चाहती; प्रकट होने से मेरी बड़ी दुर्दशा होगी। ...यहीं अपने पति के स्थान पर अपना जीवन शेष करना चाहती हूं। इस संसार में मैं अब बहुत दिन ...रहूंगी"।

मैंने देखा मेरे मित्र का चित्त भीतर ही भीतर व्याकुल और संतप्त हो रहा था; हृदय का वेग रोक ...कर उन्होंने प्रश्न किया, "क्यों! तुम्हें अपने पति ...का कुछ स्मरण है?"

स्त्री के नेत्रों से अनर्गल वारिधारा प्रवाहित ...हुई। बड़ी कठिनतापूर्व्वक उसने उत्तर दिया "मैं उस समय बालिका थी। विवाह के समय मैंने उन्हें देखा था। वह मूर्त्ति अद्यापि मेरे हृदयमन्दिर में ...विराजमान है; प्रचण्ड काल भी उसको वहां से हटाने ...में असमर्थ है"।

मेरे मित्र ने कहा, "देवि! तुमने बहुत कुछ रहस्य प्रगट किया; जो कुछ शेष है उसका वर्णन ...कर अब मैं इस कथा की पूर्त्ति करता हूं"।

स्त्री विस्मयोत्फुल्ल लोचनों से मेरे मित्रकी ओर निहारने लगी। मैं भी आश्चर्य्य से उन्होंको ओर देखने लगा। उन्होंने कहना आरम्भ किया—

"इस आख्यायिका में यही ज्ञात होना शेष है कि चन्द्रशेखर मिश्र के पुत्र की क्या दशा हुई। चन्द्रशेखर मिश्र और उनकी पत्नी क्या हुए। सुनो, नाव पर मिश्रजी ने अपने पुत्र को अपने साथ ही बैठाया। नाव पर भीड़ अधिक हो जाने के कारण वह उनसे पृथक् होगया। उन्होंने समझा कि वह नाव ही पर है; कोई चिन्ता नहीं। इधर मनुष्यों की धक्का मुक्की से वह लड़का नाव पर से नीचे जारहा। ठीक उसी समय मल्लाह ने नाव खोल दी। उसने कई बेर अपने पिता को पुकारा; किन्तु लोगों के कोलाहल में उन्हें कुछ सुनाई न दिया। नाव चली गई। बालक वहीं खड़ा रह गया। और लोग किसी प्रकार अपना अपना प्राण लेके इधर उधर भागे। नीचे भयानक जलप्रवाह, ऊपर अनन्त आकाश। लड़के ने एक छप्पर को बहते हुए अपनी ओर आते देखा; तुरन्त वह उसीपर बैठगया। इतने में जल का एक बहुत ऊंचा प्रबल झोंका आया। छप्पर लड़के सहित शीघ्र गति से बहने लगा। वह चुपचाप मूर्त्तिवत् उसीपर बैठा रहा। उसे यह ध्यान नहीं कि इस प्रकार के दिन तक वह बहता गया। वह भय और दुबिधा से संज्ञाहीन हो गया था। संयोगवश एक ब्यापारी की नाव जिस पर रूई लदी थी पूरब की ओर जा रही थी। नौका का स्वामी भी बजरे ही पर था। उसकी दृष्टि उस लड़के पर पड़ी। वह उसे नाव पर लेगया। लड़के की अवस्था उस समय मृतप्राय थी। अनेक यत्न के उपरान्त वह होश में लाया गया। उस सज्जन ने लड़के की नाव पर बड़ी सेवा की। नौका बराबर चलती रही, बीच में कहीं न रुकी; कई दिनों के उपरान्त वह कलकत्ते पहुंची।

वह बङ्गाली सज्जन उस लड़के को अपने घर पर ले गया और उसे उसने अपने परिवार में

सम्मिलित किया। बालक ने अपने माता पिता के देखने की इच्छा प्रगट की। उसने उसे बहुत समझाया और शीघ्र अनुसन्धान करने का वचन दिया। लड़का चुप हो रहा।

इसी प्रकार कई मास व्यतीत हो गए। क्रमशः वह अपने पास के लोगों में हिलमिल गया। बङ्गाली महाशय के एक पुत्र था–दोनों में भ्रातृस्नेह स्थापित हो गया। वह सज्जन उस लड़के के भावी हित की चेष्टा में तत्पर हुआ। ईस्ट इण्डिया कम्पनी के स्थापित किये हुए एक अंग्रेज़ी स्कूल में, अपने पुत्र के साथ साथ उसे भी वह शिक्षा देने लगा। क्रमशः उसे अपने घर का ध्यान कम होने लगा। वह दत्तचित्त होकर शिक्षा में अपना सारा समय देने लगा। इसी प्रकार कई वर्ष व्यतीत हो गये। उसके चित्त में अब अन्य प्रकार के विचारों ने निवास किया। अब पूर्वपरिचित लोगों के ध्यान के लिये उसके मन में कम स्थान शेष रहा। मनुष्य का स्वभाव ही इस प्रकार का है। ९ वर्ष का समय निकल गया।

इसी बीच में एक बड़ी चित्ताकर्षक घटना उपस्थित हुई। बङ्गदेशी सज्जन के उस पुत्र का विवाह हुआ। चन्द्रशेखर का पुत्र भी उस समय वहां उपस्थित था। उसने सब देखा; दीर्घकाल की निद्रा भङ्ग हुई। सहसा उसे ध्यान हो आया "मेरा भी विवाह हुआ है; अवश्य हुआ है"। उसे अपने विवाह का बारम्बार ध्यान आने लगा। अपनी पाणिग्रहीता भार्य्या का भी उसे स्मरण हुआ। स्वदेश में लौटने को उसका चित्त आकुल होने लगा। रात्रि दिन इसी चिन्ता में व्यतीत होने लगे"।

हमारे कतिपय पाठक हमपर दोषारोपण करेंगे कि "हैं! न कभी साक्षात् हुआ, न वार्तालाप हुआ, न लम्बी लम्बी कोर्टशिप हुई; यह प्रेम कैसा?" महाशय! रुष्ट न हूजिए। इस अदृष्ट प्रेम का धर्म्म और कर्त्तव्य से घनिष्ट सम्बन्ध है। इसकी उत्पत्ति केवल सदाशय और निःस्वार्थ हृदय में ही हो सकती है। इसकी जड़ संसार के और प्रकार के प्रचलित प्रेमों से दृढ़तर और अधिक प्रशस्त है। आपको सन्तुष्ट करने को मैं इतना और कहे देता हूं कि इङ्गलेण्ड के भूतपूर्व प्रधान मन्त्री लार्ड बेकन्सफील्ड (Earl of Baconsfield) का भी यही मत था।

"युवक का चित्त अधिक डांवाडोल होने लगा। एक दिन उसने उस देवतुल्य सज्जनपुरुष से अपने चित्त की अवस्था प्रगट की और बहुत विनय के साथ बिदा मांगी। आज्ञा पाकर उसने स्वदेश की ओर यात्रा की। देश में आने पर उसे विदित हुआ कि ग्राम में अब कोई नहीं है। उसने लोगों से अपने पिता माता के विषय में पूछ पाछ किया। कुछ लोगों ने कहा कि थोड़े दिन हुए वे दोनों इस नगर में थे और अब वे तीर्थस्थानों में देशाटन कर रहे हैं। अपनी धर्म्मपत्नी के दर्शनों की अभिलाषा से वह काशी गया। वहां तुम्हारे पिता के घर का वह अनुसन्धान करने लगा। बहुत दिनों के पश्चात् तुम्हारे ज्येष्ठभ्राता से उससे साक्षात् हुआ, जिससे तुम्हारे संसार से सहसा लोप हो जाने की बात ज्ञात हुई। वह निराश होकर संसार में घूमने लगा"।

इतना कह कर मेरे मित्र चुप हो रहे। इस शेष भाग सुनने को हमलोगों का चित्त ऊब रहा था; आश्चर्य से उन्हींकी ओर हम ताक रहे थे। उन्होंने फिर उस स्त्री की ओर देखकर कहा, "कदाचित् तुम पूछोगी, कि इस समय अब वह कहां है? यह वही अभागा मनुष्य तुम्हारे सम्मुख बैठा है!"

हम दोनों के शरीर में बिजुलीसी दौड़ गई; वह स्त्री भूमि पर गिरने लगी; मेरे मित्रने दौड़ कर उसको संभाला। वह किसी प्रकार उन्हींके सहारे बैठी। कुछ क्षण के उपरान्त उसने बहुत धीमे स्वर से मेरे मित्र से कहा, "अपना हाथ दिखाओ"।

उन्होंने चट अपना हाथ फैला दिया, जिसपर एक काला तिल दिखाई दिया। स्त्री कुछ काल तक उसीकी ओर देखती रही; फिर मुख ढांप कर सिर नीचा करके बैठ रही। लज्जा का प्रवेश हुआ; क्योंकि यह एक हिन्दू-रमणी का उसके पति के साथ प्रथम संयोग था।

आज इतने दिनों के उपरान्त मेरे मित्र का गुप्त-रहस्य प्रकाशित हुआ। उस रात्रि को मैं अपने मित्र का खँड़हर में अतिथि रहा। सवेरा होते ही हम सब लोग प्रसन्नचित्त नगर में आये।

रामचन्द्र शुक्ल।

पृथ्वी।

हमारे प्राचीन ऋषियों ने सूर्य को संसार की आत्मा माना है। उनका यह कहना असङ्गत नहीं जान पड़ता। आज कल के वैज्ञानिक भी इस बात को यदि मान लें तो कोई दोष नहीं। जिस प्रकार शरीर में आत्मा सबसे अधिक श्रेष्ठ है और उसके बिना शरीर मिट्टी के पिण्ड से भी बुरा हो जाता है, उसी प्रकार पृथ्वी, चन्द्र, बुध, शुक्र आदि प्राकृतिक पिण्डों में सूर्य सबसे श्रेष्ठ है। यदि वह न हो तो इन सब प्राकृतिक पिण्डों में अनर्थ हुए बिना न रहे। बुध, शुक्र और शनि आदि के समान पृथ्वी भी एक ग्रह है। दूसरे ग्रहों के समान वह भी सूर्य की प्रदक्षिणा करती है। लोक में भी अपने से अधिक प्रभुतावान् ही की प्रदक्षिणा अथवा पूजा की जाती है। अतएव इस हिसाब से भी सूर्य ही की महिमा अधिक हुई। उसीकी शक्ति से अनेक प्रचण्ड पिण्ड आकाश में निरन्तर घूमते रहने पर भी एक दूसरे से टकरा कर चूर नहीं हो जाते। अतएव सूर्य को यदि जगत् का आत्मा न भी मानें तो इतना तो अवश्य मानना ही पड़ेगा कि वह इस विस्तृत ब्रह्माण्ड में सबसे अधिक शक्तिमान् और तेजोमय प्रकाण्ड पिण्ड है। जितने पिण्ड अथवा लोक हैं सब अन्तरिक्ष में लटके से हैं। हमारे ऊपर और दाहिने बाँए, अन्तरिक्ष आकाश किम्वा शून्य तो प्रत्यक्ष ही दिखलाई पड़ता है; हमारे नीचे अर्थात् पाताल के उस पार भी अन्तरिक्ष ही है। नीचे का चित्र देखिये।

देखिए, किस प्रकार अन्तरिक्ष में, ग्रह और नक्षत्रों के बीच, पृथ्वी लटकी हुई है। अन्तरिक्ष में रह कर वह स्थिर नहीं है; वह चलती भी है, और इतने वेग से चलती है, कि उसकी गति का हिसाब सुन कर आश्चर्य्य होता है। जिस ईश्वर की यह करामात है; जिसने इस अनन्त आकाश में
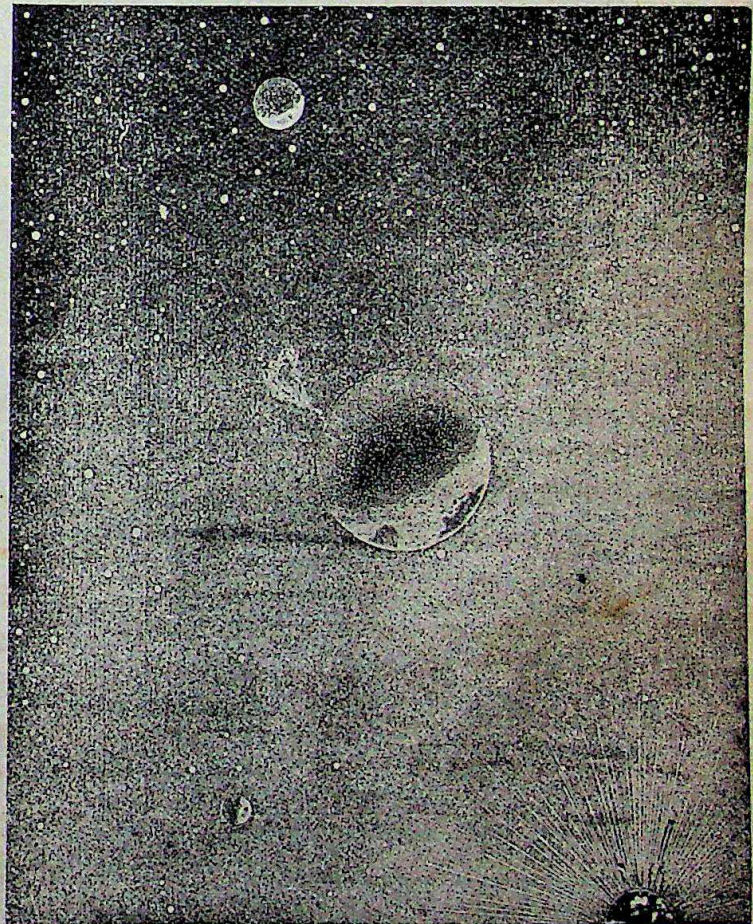
अनन्त ग्रह और अनन्त नक्षत्रों को लटका रक्खा है; और जिसकी कृपा से ये सब यथासमय अपनी अपनी कक्षा में निरन्तर घूमा करते हैं—उसकी लीला को यह अल्पज्ञ मनुष्य किस प्रकार जान सकता है। उसके विषय में विशेष ज्ञान होना तो असम्भव है ही; उसके बनाये हुए पदार्थों का भी पूरा पूरा ज्ञान होना सर्वथा असम्भव है। तथापि उसीकी दी हुई बुद्धि के बल से विद्वान् लोग आकाशगामिनी ग्रह-मालिका के सम्बन्ध में अनेक बातें जानने में समर्थ हुए हैं। हमारी पृथ्वी भी इस ग्रहमालिका ही के अन्तर्गत है। अतएव आज हम उसके विषय में कुछ लिखते हैं।

पृथ्वी गोल है। उसके गोल होने के कई प्रमाण हैं। ये प्रमाण, इस समय, गवर्नमेण्ट की कृपा से, पाठशाला के छोटे छोटे लड़कों तक को मालूम हैं। तथापि, हम, यहां पर भी, उनका दिग्दर्शन, कराते हैं।

जब हम किसी मैदान में खड़े होकर एक ओर देखते हैं तब कुछ दूर पर पृथ्वी और आकाश मिला हुआ दिखलाई देता है। जहां पर ये दोनों मिले हुए से जान पड़ते हैं उसे क्षितिज कहते हैं। यह क्षितिज सदैव गोल-अर्द्धवृत्ताकार-होता है। यदि मैदान में खड़े न होकर किसी टीले अथवा पहाड़ी अथवा पर्वत पर खड़े होकर एक ओर हम देखें तो पहले की अपेक्षा क्रम क्रम से और अधिक दूर तक हमारी दृष्टि जावैगी। परन्तु फिर भी एक न एक जगह पर क्षितिज अवश्य ही दिखलाई देगा।

यदि पृथ्वी गोल न होती तो ये गोल क्षितिज कदापि न दिखलाई देते।

पृथ्वी के गोल होने का दूसरा प्रमाण समुद्र के किनारे खड़े होने पर मिलता है। समुद्र भी इस गोल पृथ्वीही के अन्तर्गत है। जब समुद्र में किनारे की ओर आते हुए जहाज़ दिखलाई देते हैं, तब पहले उनके मस्तूल पर दृष्टि पड़ती है; उसके और भाग छिपे रहते हैं। परन्तु जैसे जैसे वह निकट आता जाता है तैसे तैसे उसके नीचे का भाग क्रम क्रम से दिखलाई देता जाता है। कुछ देर में वह जहाज़ पूरा निकल आता है। यदि समुद्र गोल न होता, किम्वा यह कहिए कि जिस पृथ्वी पर समुद्र भरा

हुआ है वह यदि गोल न होती, तो दूर से आता हुआ जहाज़ इकबारगी पूरा दिखलाई देता। परन्तु ऐसा नहीं होता।

देखिए ऊपर चित्र में किनारे के जहाज़ पूरे दिखलाई देते हैं; परन्तु वे जितनाही दूर हैं उनको नीचे का भाग उतनाही कम दिखाई देता है। कल्पना कीजिए कि एक जहाज़ समुद्र में किनारे की ओर आ रहा है और हम उसकी ओर देखते हैं। तो इस दशा में, हमारी दृष्टि उस जहाज़ पर, ऊंचे नीचे भिन्न भिन्न दो स्थानों से देखने पर, इस प्रकार पड़ेगी।

इस चित्र को देखने से विदित होगा कि यदि पृथ्वी गोल न होती तो जहाज़ पर हमारी दृष्टि, किसी स्थान पर, पड़ती।
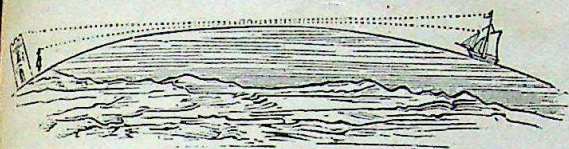
पृथ्वी के गोल होने के और कई प्रमाण हैं। जो लोग जहाज़ में सवार हो कर पृथ्वी की प्रदक्षिणा के लिये निकलते हैं वे कुछ दिनों में फिर उसी स्थान पर आ जाते हैं जहां से वे चले थे। यदि पृथ्वी गोल न होती तो न जानें वे कहां चले जाते; लौट कर फिर उस स्थान को न आते। ध्रुव तारा भी पृथ्वी के गोल होने का प्रमाण है। यदि हम उत्तर की ओर जाते हैं तो वह ऊपर उठता हुआ जान पड़ता है; और यदि दक्षिण की ओर जाते हैं तो वह क्रम क्रम से क्षितिज पर पहुँचता हुआ देख पड़ता है।

पृथ्वी गोल तो है; परन्तु बिलकुल गोल नहीं है। उसका ऊपरी भाग अर्थात् सिरा कुछ चिपटा है; और उसी प्रकार नीचे का भाग भी कुछ चिपटा है। इन दोनों भागों को ध्रुव कहते हैं। ऊपरी भाग उत्तरी ध्रुव कहलाता है और नीचे का भाग दक्षिणी ध्रुव कहलाता है। पृथ्वी के दोनों ध्रुव चिपटे हैं और उसका मध्य भाग बाहर की ओर कुछ उभड़ा हुआ है। यह उभड़ा हुआ भाग पृथ्वी के ठीक बीच में है। विद्वानों का मत है कि उत्पत्ति के समय पृथ्वी गले हुए सोने अथवा लोहे के समान तरल थी। वह जलती थी और एक प्रचण्ड बूँद के आकार में थी। अपनी तरलता ही के कारण वह बीच में उभड़ी और नीचे ऊपर कुछ चिपटी हो गई है। क्योंकि, लोक में हम देखते हैं, कि जब पानी अथवा ओस का बूंद किसी फूल किम्वा पत्ते पर पड़ता है अथवा जब तेल का एक बड़ा बूँद पानी पर पड़ता है, तब वह नीचे-ऊपर चिपटा हो कर बीच में कुछ फैल सा जाता है। वही दशा पृथ्वी की हुई जान पड़ती है। सर आर० यस० बाल, यल० यल० डी० विलायत के प्रसिद्ध ज्योतिषी हैं। उन्होंने इस विषय में बहुत कुछ लिखा है। वे कहते हैं कि पृथ्वी की उष्णता क्रम क्रम से कम हुई है और अब तक होती जाती है। उसके गर्भ में अब तक ज्वाला भरी हुई है। यह ज्वाला कभी कभी ज्वालामुखी पर्वतों का स्फोट होकर बाहर निकलती है! उष्ण पानी के झरने कहीं कहीं पृथ्वी पर देखे जाते हैं। वे भी पृथ्वी के भीतर उष्णता होने के प्रमाण हैं।

पृथ्वी का व्यास कोई ८००० मील है। वह बहुत बड़ी है। अतएव हिमालय के समान बड़े बड़े पर्वत भी उसकी गोलाई में बाधा नहीं डाल सकते। नारंगी पर अनेक छोटे छोटे कण से उठे होते हैं। पृथ्वी के विस्तार का विचार करके बड़े से बड़े पर्वत उन कणों में से एक छोटे कण के भी बराबर नहीं हैं।

यद्यपि पृथ्वी बहुत विस्तृत है; परन्तु सूर्य से वह बहुत छोटी है। सूर्य के सम्मुख वह कोई वस्तु ही नहीं। यदि वह सजीव होती और बराबरी करने के लिये सूर्य के सामने खड़ी की जाती तो मारे लज्जा के वह अपना मुँह तक न दिखा सकती।
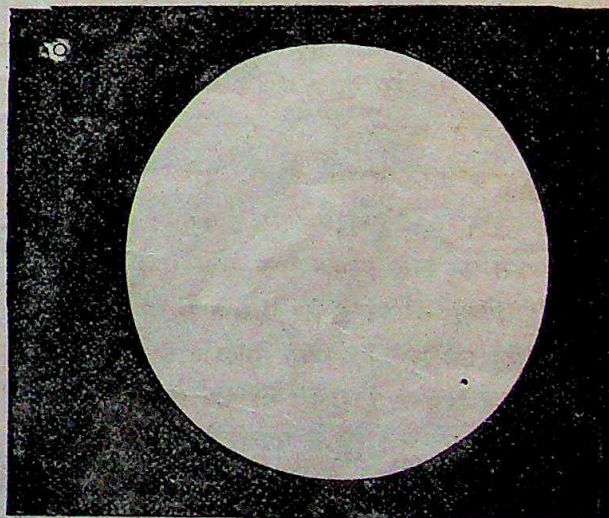
ऊपर के चित्र में सूर्य और पृथ्वी दिखाये गये हैं। सूर्य एक बहुत बड़ी थाली के समान है; परन्तु

बिचारी पृथ्वी एक अनुस्वार-बिन्दु-से भी छोटी है! यदि सूर्य के दस लाख टुकड़े किये जाँय तौभी उसका एक टुकड़ा पृथ्वी से बड़ा निकलैगा!! अथवा यदि एक विशाल तराज़ू बनाकर उसके एक पलड़े में सूर्य का बिम्ब रक्खा जावै और दूसरे पलड़े में हमारी पृथ्वी के समान पाँच लाख पृथ्वी के पिण्ड रक्खे जावैं तौभी सूर्य का पलड़ा नीचेही रक्खा रहै!!!

सूर्य से पृथ्वी कोई ९,२७,००,००० मील दूर है। यह कह देने ही से पृथ्वी की दूरी का ठीक ठीक ज्ञान नहीं होता। ९,२७,००,००० अवश्य बहुत बड़ा अङ्क है। यदि कोई मनुष्य, शीघ्रता के साथ, दस लाख की गिनती करै तो उसे गिनने में तीन दिन और तीन रातैं लगैं। सूर्य से पृथ्वी की दूरी मीलों में गिनने के लिए, इस दस लाख को कोई ९३ बार गिनना पड़ैगा। अर्थात् ९,२७,००,००० को गिनने में ९ महीने लगैंगे!

परिमाण में पृथ्वी और सूर्य से जो सम्बन्ध है वह हम नीचे देते हैं—

परिमाण	पृथ्वी	सूर्य	सूर्य और पृथ्वी का परस्पर सम्बन्ध	
			पृथ्वी	सूर्य
व्यास ... ... मील	७, ९२६	८, ८७, ८५०	१	११२
धरातल(पृष्ठ)...वर्ग मील	१२, ७३, ३६, ५९५	२२, २८, ०८, ००, ००, ०००	१	१२, ५७७
मात्रा ... ... घन मील	२,६०, ६२, २१, ७७, ९२५	३९, १८, १५, ३५, ५०, ००, ०००	१	१४,१०,०००

विस्तार का विचार करके मनुष्य को अपनी और अपने कामों की ओर देखना चाहिये। मनुष्य एक क्षुद्रातिक्षुद्र जीव है। पृथ्वी के विस्तार से यदि उसका सम्बन्ध जानने का कोई यत्न करै तो व्यर्थ है। यदि बालू के एक कण के करोड़ों टुकड़े किये जावैं तो भी मनुष्य का सम्बन्ध पृथ्वी से न बतलाते बनै! इस पृथ्वी से भी बहुत बड़े अनेक और ग्रह हैं। सूर्य के सामने तो वह एक बिन्दु के ही बराबर है। अतएव सूर्य, चन्द्र और पृथ्वी आदि पिण्डों से परिपूर्ण ब्रह्माण्ड का उत्पन्न करनेवाला ईश्वर कितना विशाल, कितना ज्ञानवान् और कितना प्रभुताशाली होगा!!!

जिस पृथ्वी के विस्तार का वर्णन ऊपर हुआ वह इतनी बड़ी होकर भी चलती है। वह असीम वेग से सूर्य के चारों ओर घूमती रहती है। उसका यह घूमना हम को प्रत्यक्ष नहीं देख पड़ता। जो वस्तु चलती है उसपर बैठ कर प्रायः उसकी चाल का ठीक ठीक ज्ञान नहीं होता। हम देखते हैं कि जब हम रेल अथवा नाव पर सवार होते हैं तब

जल से पृथ्वी ५½ गुना अधिक भारी है। अर्थात् यदि पृथ्वी के बराबर जल का पिण्ड तौला जावै तो पृथ्वी उससे ५½ गुना अधिक भारी निकलै। इस हिसाब से विद्वानों ने पृथ्वी के वज़न का परिमाण लगाया है और यह सिद्ध किया है कि वह ६,०६९,०००,०००,०००,०००,०००,००० टन तौल में है! एक टन २७ मन का होता है! ऐसी यह पृथ्वी है जिसपर हम लोग रहते हैं! पृथ्वी के

रेल और नाव चलती हुई नहीं जान पड़ती; किन्तु आस पास के वृक्ष और घर आदि चलते हुए जान पड़ते हैं। इसी प्रकार पृथ्वी की चाल भी दूसरे पदार्थों को देख कर जानी जाती है। सन्ध्या समय पूर्व की ओर जब हम ध्यान से देखते हैं तब यह पहिले स्पष्ट देख पड़ता है कि आकाश में अनेक तारे क्षितिज के पास निकलते हैं और फिर कम कम से वे ऊंचे उठते जाते हैं। इसी प्रकार पश्चिम के तारे

क्रम क्रम से क्षितिज् के नीचे लोप होते जाते हैं। चन्द्रमा की भी यही दशा है। दिन में हम देखते हैं कि प्रातःकाल सूर्य पूर्व में उदय होता है और सन्ध्या-समय पश्चिम में अस्त हो जाता है। इससे यह जान पड़ता है कि पृथ्वी के ऊपर उगे हुए वृक्ष आदि तो नहीं चलते, किन्तु सूर्य, चन्द्रमा और नक्षत्र, जो पृथ्वी पर नहीं हैं, चलते हैं। परन्तु जो वे चलते से दिखाई देते हैं उसका कारण पृथ्वी ही है। उनका उदय और अस्त पृथ्वी ही की चाल पर अवलम्बित है। पृथ्वी पर जहां से हम उन्हें देखते हैं वहां से कभी वे ऊपर देख पड़ते हैं; कभी नीचे; कभी दाहने; कभी बाँयें। अर्थात् जैसे जैसे पृथ्वी चलती जाती है तैसे तैसे उनका स्थान बदलता हुआ दिखलाई देता है। इतनी बड़ी पृथ्वी के ऊपर यदि साढ़े तीन हाथ के क्षुद्र मनुष्य को उसका चलना न देख पड़े तो आश्चर्य ही क्या है? यदि एक विशाल गेंद पर एक छोटीसी चींटी को बिठला कर गेंद को घुमावें तो चींटी को इस बात का कदापि ज्ञान न होगा कि गेंद घूम रहा है।
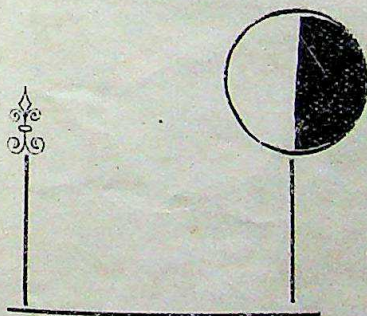
ऊपर दिये हुए प्रमाणों से सिद्ध है कि पृथ्वी स्थिर नहीं है। वह घूमती है। उसकी दो गतियां हैं—एक दैनिक, दूसरी वार्षिक। दैनिक गति ही के अनुसार दिन रात होते हैं। पृथ्वी की गति वैसी है जैसी लट्टू की होती है। उसकी दैनिक गति का प्रमाण दिन और रात है। मेज़ पर मोमबत्ती को जला कर उसका थोड़ा सा पिघला हुआ मोम मेज़ पर डालो। उस मोम पर मोज़े बीनने की एक सूई गाड़ दो। उस सूई पर एक नारंगी रक्खो। सूई की नोक को नारंगी के भीतर थोड़ी दूर तक प्रवेश कर दो। नारंगी के ऊपर भी एक छोटीसी सूई चुभावो। यह करके मेज़ के दूसरे किनारे पर एक लैम्प (दीपक) जलाओ। ऊपर हम उसका चित्र देते हैं।

लैम्प जलाने पर तुम देखोगे कि नारंगी का जो भाग सूर्य के सामने है वह प्रकाशित है और जो सामने नहीं है वह प्रकाशित नहीं है। अब इस नारंगी को धीरे धीरे घुमावो। घुमाने से प्रकाशित भाग क्रम क्रम से अँधेरे में और अँधेरा भाग प्रकाश में आता जायगा। पृथ्वी और सूर्य का वैसा ही सम्बन्ध है जैसा, यहां पर, नारंगी और लैम्प का है। पृथ्वी का जो भाग सूर्य के सामने होता है वहां दिन और जो सामने नहीं होता वहां रात रहती है। दिन और रात के वही वही अंश प्रति २४ घण्टे में आते हैं। इसलिए यह सिद्धान्त निकला कि पृथ्वी प्रति २४ घण्टे में लट्टू के समान, एक बार, घूम जाती है।

पृथ्वी की दूसरी, अर्थात् वार्षिक, गति का प्रमाण नक्षत्र हैं। आधी रात के समय जब हम आकाश की ओर देखते हैं तब अनेक छोटे बड़े नक्षत्र चमकते हुए दिखाई देते हैं। यदि इन नक्षत्रों को कई महीने तक बराबर ध्यान से हम देखते हैं तो यह निर्भ्रान्त विदित हो जाता है कि वही नक्षत्र सदैव एक स्थल पर नहीं दिखाई देते। वे क्रम क्रम से पश्चिम की ओर जाते हैं और कुछ दिनों में अस्त हो जाते हैं। परन्तु आज हम जिस नक्षत्र को आकाश में जिस स्थान पर देखते हैं वर्ष दिन के अनन्तर वही नक्षत्र फिर उसी स्थान पर दिखलाई देता है। इससे यह प्रमाणित है कि एक वर्ष में पृथ्वी फिर उसी स्थान पर आ जाती है जहां वह पहले थी।

पूर्वोक्त प्रमाणों से सिद्ध है कि पृथ्वी की दो चालें हैं। पहली चाल में वह लट्टू के समान अपनी कल्पित कील पर २४ घण्टे में एक बार घूम जाती है। इन्हीं २४ घण्टों की गिनती दिन-रात में है। और दूसरी चाल में वह सूर्य के चारों ओर चक्कर लगाती

है। यह दूसरी चाल ३६५ दिन में एक वार समाप्त होती है। इन्हीं ३६५ दिनों की गिनती वर्ष में है।

इन ग्रहों में से ग्रैारों की अपेक्षा बुध, सूर्य के सबसे अधिक निकट है; ग्रैार नेपच्यून सबसे अधिक
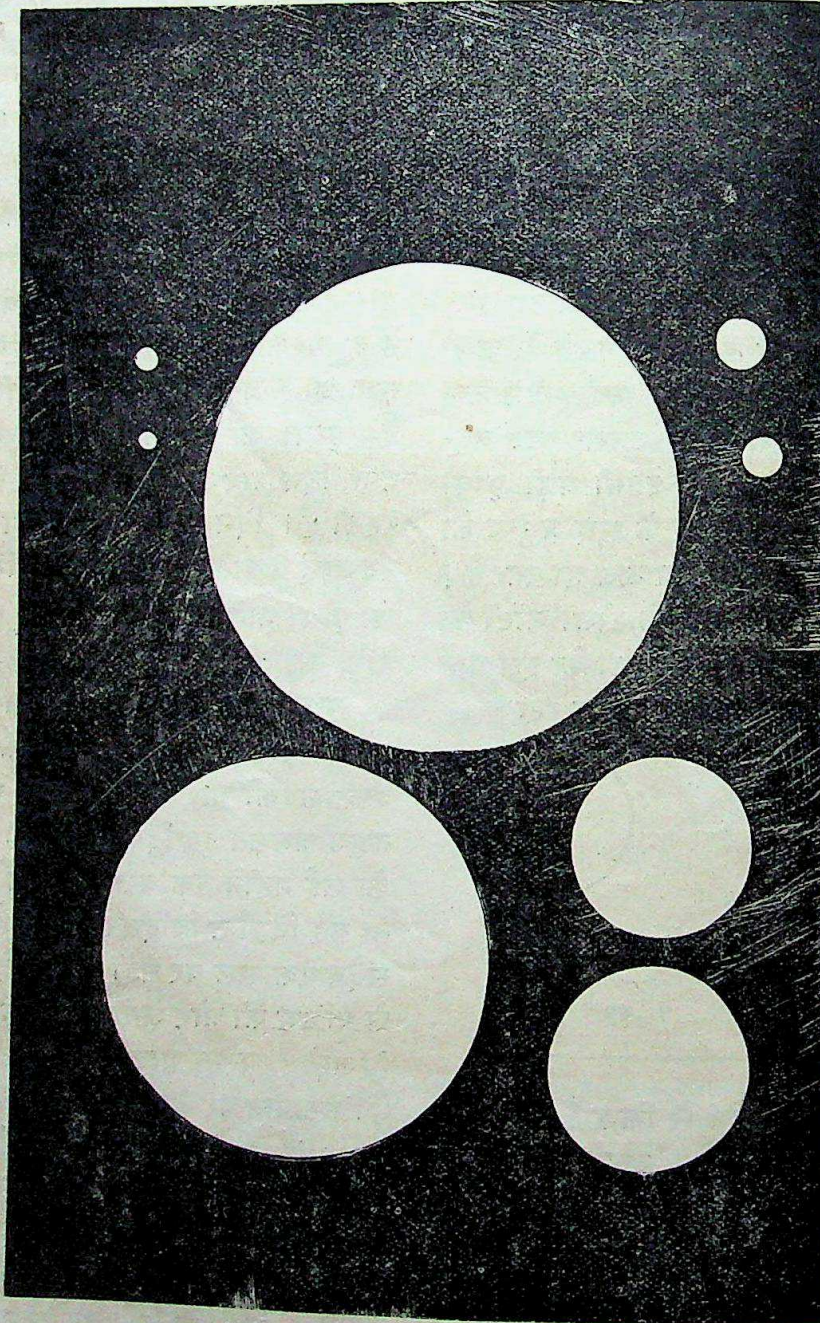
मङ्गल
बुध
पृथ्वी
शुक्र
वृहस्पति
शनि
युरेनस वा वरुण
नेपच्यून

पृथ्वी ही अकेली सूर्य की प्रदक्षिणा नहीं करती; दूसरे ग्रह भी, उसीके समान, सूर्य के चारों ग्रोर घूमते हैं।

दूर है। बहुत दूर होनेही के कारण नेपच्यून को सूर्य की एक परिक्रमा करने में १६५ वर्ष लगते हैं। इन ग्रहों में वृहस्पति सबसे बड़ा है। ग्रहों की

बड़ाई छुटाई का ज्ञान, उनकी माप मीलों में देने से, कम होता है। अतएव पहिले पृष्ठ के चित्र द्वारा हम उनके आकार, अर्थात् छुटाई-बड़ाई का परस्पर सम्बन्ध, दिखलाते हैं।

इसको देखने से यह स्पष्ट है कि हमारी पृथ्वी, शनि और वृहस्पति की अपेक्षा बहुत ही छोटी है। नेपच्यून और यूरेनस भी उससे बड़े हैं। केवल बुध और मङ्गल ही उससे छोटे हैं। पृथ्वी और शुक्र के आकार में थोड़ा ही अन्तर है।

हमारी पृथ्वी बड़ी सौभाग्यवती है। जिस प्रकार वह सूर्य की परिक्रमा करती है उसी प्रकार चन्द्रमा उसकी परिक्रमा करता है। इसलिए चन्द्रमा

चन्द्रमा पृथ्वी

पृथ्वी का उपग्रह कहलाता है। चन्द्रमा अत्यन्त छोटा उपग्रह है। हज़ारों तारागण जो आकाश में देख पड़ते हैं; उनसे भी वह छोटा है। वह पृथ्वी से केवल २,४०,००० मील दूर है; इसीलिए वह इतना बड़ा दिखलाई देता है। पृथ्वी का व्यास ७,९८६ मील है और चन्द्रमा का केवल २,१६० मील। अर्थात् पृथ्वी का व्यास चन्द्रमा के व्यास से लगभग चौगुना बड़ा है। यदि पृथ्वी के बराबर बराबर ५० टुकड़े किये जावें तो उसका एक टुकड़ा चन्द्रमा के बराबर हो। चन्द्रमा और पृथ्वी के आकार का सम्बन्ध नीचे के चित्र में देखिए।

अब देखिए पृथ्वी के सामने चन्द्रमा कितना छोटा है। चन्द्रमा २७ दिन और कुछ घण्टों में पृथ्वी की एक प्रदक्षिणा कर आता है।

ऊपर हम यह कह आये हैं कि पृथ्वी सूर्य की प्रदक्षिणा करती है अर्थात् उसके चारों ओर घूमती रहती है। इस एक बार घूमने में उसे ३६५ दिन और कुछ घण्टे लगते हैं। पृथ्वी के घूमने का मार्ग कक्षा कहलाता है। सूर्य के सब ओर घूमी हुई इस कक्षा को क्रान्ति-वृत्त कहते हैं। इस कक्षा किम्वा क्रान्ति-वृत्त को पिटी हुई सड़क न समझना चाहिए। यह एक कल्पित सड़क है। यह एक ऐसा कल्पित मार्ग है जिसपर होकर पृथ्वी सूर्य की परिक्रमा करती है। वह मार्ग एक अण्डे अथवा नहाने के 'टब' के आकार का है। वह पूरा पूरा वृत्त नहीं है। इसे वृत्ताभ कहते हैं। जितने वृत्त होते हैं उनकी परिधि उनके व्यास से कोई ३$\frac{1}{7}$ गुना बड़ी होती है। सूर्य से पृथ्वी की दूरी

९,२७,००,००० मील है। अतएव पृथ्वी के क्रान्ति-वृत्त का व्यास १८,५४, ००,००० मील हुआ। इस हिसाब से पृथ्वी के विशाल क्रान्तिवृत्त नामक मार्ग की परिधि ५८,३०,००,००० मील हुई। अर्थात् सूर्य की प्रदक्षिणा करने में पृथ्वी को ३६५ दिन में ५८,३०,००,००० मील चलना पड़ता है। इस इतनी बड़ी यात्रा को वर्ष दिन में समाप्त करने के लिये पृथ्वी को एक सेकण्ड में १८ मील दौड़ना पड़ता है। ईस्ट इण्डियन रेलवे की डाक गाड़ी सबसे अधिक वेग से चलती है। कल्पना कीजिए

कि वह एक मिनिट में एक मील, अर्थात् प्रति घण्टा ६० मील के हिसाब से चलती है। यदि यह गाड़ी एक मिनिट में १०८० मील चले तो उसका वेग पृथ्वी के वेग के बराबर हो! डाक गाड़ी का यह वेग प्रति घण्टा ६४,८०० मील के बराबर हुआ! कुछ ठिकाना है? इसका यह अर्थ हुआ कि पृथ्वी के साथ हमलोग एक घण्टे में कोई पैंसठ हज़ार मील की दौड़ लगाते हैं!!! इससे

जान पड़ता है कि एक घण्टे में ६० मील चलनेवाली रेल गाड़ी का वेग पृथ्वी के वेग के हज़ारवें हिस्से से भी कम है!!!

पृथ्वी अपनी कक्षा में कुछ झुकी हुई चलती है। इसीलिए सब कहीं दिन और रात बराबर नहीं होते। ऋतुओं का परिवर्तन भी इसी कारण होता है।

ऊपर एक जगह पर हमने नारंगी और लैम्प का चित्र दिया है। कृपा करके उस चित्र को एक बार और देखिए। लैम्प और नारंगी को बराबर उंचाई पर रखिये और नारंगी को, थोड़ा सा, जिस

ओर लैम्प है उसके दूसरी ओर, झुका दीजिए। ऐसा करने पर आप देखेंगे कि लैम्प का प्रकाश नारंगी के ऊपरी सिरे पर बिलकुल नहीं पड़ता। नारंगी के इस ऊपरी सिरे को पृथ्वी का उत्तरी ध्रुव समझिए। इस प्रकार नारंगी को घुमाने से उसका ऊपरी सिरा अँधेरे में और नीचे का सिरा प्रकाश में रहैगा। और पृथ्वी का मध्य भाग आधी देर तक अँधेरे और आधी देर तक उजेले में रहैगा। बीच से पृथ्वी के दो भाग कल्पना किये गये हैं।

जहां से ये दो भाग माने जाते हैं उस स्थान को विषुववृत्त, किम्वा भूमध्यरेखा, कहते हैं। नारंगी का मध्य-भाग पृथ्वी का विषुववृत्त हुआ। इस परीक्षा से यह अर्थ निकला कि, इस दशा में, पृथ्वी के उत्तरी ध्रुव में सर्वदा रात रहेगी; दक्षिणी ध्रुव में सर्वदा दिन रहेगा; और विषुववृत्त के आस पास वाले देशों में १२ घण्टे रात और १२ घण्टे दिन रहेगा। इससे यह भी सिद्ध है कि उत्तरी ध्रुव और विषुव वृत्त के बीचवाले देशों में रात बड़ी और दिन छोटा होता है; और दक्षिणी ध्रुव और विषुव वृत्त के बीचवाले देशों में रात छोटी और दिन बड़ा होता है। अर्थात् जो देश उत्तरी ध्रुव के जितना ही निकट हैं उतनाहीं अधिक वे अँधेरे में रहते हैं; और जो देश दक्षिणी ध्रुव के जितनाहीं निकट हैं उतनाहीं अधिक वे उजेले में रहते हैं।

अच्छा, नारंगी और लैम्प को अभी मत हटाइए। परन्तु नारंगी को कुछ और अधिक झुका दीजिए। इस झुकाने का यह फल होगा कि विषुववृत्त के पासवाले भाग को छोड़कर और सब कहीं दिन रात की छुटाई बड़ाई में और भी अधिक अन्तर आ जायगा। जितनाहीं कम नारंगी झुकी रहेगी दिन रात की छुटाई बड़ाई भी उतनी ही कम होगी और जितनाहीं वह अधिक झुकी रहेगी उतना ही अधिक दिन रात की छुटाई बड़ाई में अन्तर होगा।

पीछले पृष्ठ के चित्र को देखने से विदित हो जायगा कि वर्ष के चार समभागों में पृथ्वी का सूर्य से कैसा सम्बन्ध रहता है। इसके बीच में सूर्य है और चारों ओर पृथ्वी के चित्र हैं। पृथ्वी की झुकी हुई चाल ही के कारण दिन रात की छुटाई बड़ाई होती है और उसीके कारण ऋतुओं का परिवर्तन भी होता है। २२ मार्च को दिन और रात बराबर होते हैं। इसका नाम वासन्तिक अहोरात्र-समता है। यहां से वसन्त ऋतु का आरम्भ होता है। इसके आगे दिन बड़ा होता जाता है और रात छोटी। दिन की यह वृद्धि २१ जून के लगभग अपनी सीमा को पहुंच जाती है। इसीको दक्षिणायन कहते हैं। यह ग्रीष्म का आरम्भ है। दक्षिणायन सूर्य होने पर क्रम क्रम से दिन कम होने लगता है और २२ सेप्टेम्बर के लग भग फिर दिन रात बराबर हो जाते हैं। दिन-रात की इस बराबरी का नाम शारदीय अहोरात्र-समता है। इसके आगे शरद ऋतु आती है। इस अहोरात्र-समता के अनन्तर दिन छोटा होने लगता है और रात बड़ी। रात की यह वृद्धि २१ दिसम्बर के लगभग अपनी सीमा को पहुँच जाती है। तब उत्तरायण होता है और शिशिर ऋतु लगती है। इसके आगे क्रम क्रम से रात छोटी होने लगती है और २२ मार्च को, जैसा ऊपर कहा जा चुका है, फिर दिन रात बराबर हो जाते हैं। यही क्रम सदा चला जाता है।

हमारे यहां छ ऋतु मानी गई हैं। उनमें से शिशिर और हेमन्त में विशेष अन्तर नहीं है। दोनों ही में जाड़ा होता है। रही वर्षा ऋतु; सो वर्षा का कारण पृथ्वी की चाल नहीं है। ग्रीष्म ऋतु में गरमी अधिक होने के कारण पृथ्वी के ऊपर का पानी भाफ हो कर आकाश में चला जाता है। वही मेघ होकर बरसता है।

ऋतुवों का चाहे जो नाम रख लिया जाय, उनके होने का कारण पृथ्वी की चालही है। पृथ्वी की चाल के ऋतु-सम्बन्धी केवल चार क्रम हैं। यथा–

(१) बढ़ते बढ़ते दिन की सर्वाधिकवृद्धि होना।
(२) घटते घटते दिन का रात के बराबर हो जाना।
(३) बढ़ते बढ़ते रात की सर्वाधिक वृद्धि होना।
(४) घटते घटते रात का दिन के बराबर हो जाना।

इसी क्रम के अनुसार स्वाभाविक ऋतुओं का विभाग होता है। अतएव ग्रीष्म ऋतु की गणना २२ जून से २१ सेप्टेम्बर तक करने में अनौचित्य दोष नहीं है। यही बात दूसरी ऋतुओं के विषय में भी चरितार्थ है। इस विभाग से और हमारी अनुभूत ऋतुवों में जो अन्तर हम देखते हैं उसके हज़ारों कारण हैं। उन कारणों में से हमारे देश की स्थिति सबसे प्रधान है। ज्योतिष-विद्या, किम्वा पृथ्वी

की चाल, से सम्बन्ध रखनेवाले जो कारण हैं उनके अनुसार ऋतुओं का वही क्रम होना चाहिए जिसका वर्णन हमने यहां पर किया है। इस देश की स्थिति के कारण ऋतुओं पर जो प्रभाव पड़ता है वह गौण है। इस देश के दक्षिण में समुद्र है, और उत्तर में विशाल हिमालय है। पृथ्वी के ऊपर इसकी स्थिति विषुववृत्त से कुछ ऊपर है। इन कारणों ने पृथ्वी की चाल के अनुसार बाँधी गई ऋतुओं में कुछ कुछ अन्तर डाल दिया है।

ग्रीष्म ऋतु में, उत्तरी ध्रुव के आस पास सूर्य सदा क्षितिज के ऊपर दिखलाई दिया करता है। पश्चिम में अस्त न होकर वह उत्तर से पूर्व की ओर फिर क्षितिज के ऊपर जाता हुआ जान पड़ता है। शिशिर ऋतु में वह सब काल क्षितिज के नीचे देख पड़ता है; उसका उदय होना कभी नहीं दिखलाई देता। यही दशा दक्षिणी ध्रुव के आस पास भी होती है। इसीलिए उत्तरी और दक्षिणी ध्रुवों में छ महीने की रात और छ महीने का दिन होता है।

जिन महीनों में सूर्य अधिक समय तक प्रकाशित रहता है उनमें उसकी उष्णता अधिक इकट्ठा होजाती है। इसीलिये अधिक गरमी पड़ती है। और जिन महीनों में रात बड़ी होनेके कारण सूर्य कम समय तक प्रकाशित रहता है उनमें जाड़ा अधिक पड़ता है।

पुस्तक-परीक्षा।

विहार के विज्ञान-पाठ।

सरस्वती के पढ़नेवालों को मालूम होगा कि आज कल इन प्रान्तों की गवर्नमेण्ट और डाइरेक्टर साहब की आज्ञा से मदरसों में जारी होने के लिए विज्ञान-विवरण की किताबें अँगरेज़ी में लिखी जा रही हैं। साहब लोग इन किताबों को लिख रहे हैं। दो तरह की किताबें लिखी जा रही हैं। एक तरह की कलकत्ते की मैकमिलन कम्पनी लिखा रही है; दूसरी तरह की स्वदेशी लोग लिख वा लिखा रहे हैं। मैकमिलन कम्पनी के मुक़ाबिले में औरों को सफलता की कहां तक आशा है यह तो वही जानें; परन्तु किताबें बन ज़रूर रही हैं। शिक्षा-विभाग के अधिकारी जब इनमें से किसीकी किताबों को पसन्द कर लेंगे तब उनके उर्दू और हिन्दी अनुवाद होंगे। वेही अनुवाद हमारे लड़के पढ़ कर पण्डित बनेंगे। यह द्राविड़ी प्राणायाम बहुतही आवश्यक समझा गया है। शिक्षा-विभागवाले विज्ञान-विवरण का अँगरेज़ी मसविदा पसन्द करके निश्चिन्त हो जायँगे। फिर उस मसविदे की चाहै जितनी निंद्य, उपहासास्पद, जघन्य और घृणित हिन्दी बनै। विहार में तो ही दशा हुई है; परन्तु इन प्रान्तों में, जो कमिटी किताबें शोधने के लिए नियत की जानेवाली है, वह शायद ऐसा न होने दे।

२—विहार में विज्ञान-पाठ जारी हो गये; और वेही पुस्तकें यहां के नार्मल स्कूलों में भी पढ़ाई जाने लगीं वहां के ये विज्ञान-पाठ मैकमिलन कम्पनी ही की कृपा का फल है। पहले वे अँगरेज़ी में बने; फिर उनको हिन्दी में अवतार लेना पड़ा। यही प्रणाली इन प्रान्तों के लिए भी स्वीकार की गई है। इसलिए हम इन विज्ञानपाठों की स्वल्प आलोचना आवश्यक समझते हैं। विहार में कितनेहीं पण्डित, बाल की खाल खींचनेवाले समालोचक, अख़बारनवीस और मासिक-पुस्तककार हैं। उनका ध्यान यदि इस ओर जाता तो हमारे लिखने की कोई आवश्यकता न थी। परन्तु जहां तक हम जानते हैं, इस विषय में, किसी ने कुछ नहीं कहा। अतएव, लाचार होकर, हमी को यह लेख लिखने में प्रवृत्त होना पड़ा।

३—विहार के विज्ञान-पाठ तीन भागों में विभक्त हैं। तीनों भाग सचित्र हैं। चित्रों की बहुत अधिकता है। यह इनमें उत्तमता है। पहला भाग "लोवर प्राइमरी" क्लासों के लिए है; दूसरा "अपर प्राइमरी" क्लासों के लिए; और तीसरा "मध्य

[दी" अर्थात् मिडिल वर्नाकुलर के लिए है। [ती]नों भागों के ऊपर लिखा है—

[बंग]ाले के साधारण शिक्षा विभाग के डाइरेक्टर स्विकृत।

[अत]ः सा ये "स्विकृत" पुस्तकें कोई एक वर्ष से [बि]हार के लड़कों को विज्ञान सीखने में सहायता [दे] रही हैं। पहले भाग में कुल १५५ पन्ने हैं। [प]रन्तु हम कोई ७२ पन्ने से आगे नहीं पढ़ सके। [इ]तनाही पढ़ कर हमको ऐसा सन्ताप हुआ कि [ह]म उसका बयान नहीं कर सकते। इसलिए दूसरे [औ]र तीसरे भागों को पढ़ने की तो बात ही गई; [त]थापि प्रथम भाग की कविता के नमूने देखना [ह]मने बहुत ही आवश्यक समझा। अतएव इस [भा]ग के १३४ से लेकर १४६ पन्ने तक छपी हुई [क]वितायें हमने किसी प्रकार पढ़ डालीं। पढ़ने [प]र जो जो भावनायें हमारे मन में हुईं उनको हम, [क]ई कारणों से, यहां पर नहीं लिख सकते। स्थूल-[त]या इतना ही लिखना बस है कि, जहां तक भाषा [से] सम्बन्ध है, ये पुस्तकें लिखनेवालों की, बेचनेवालों [की] और स्वीकार करनेवालों की, सभी की, कलङ्क [रू]प हैं। यदि शीघ्र ही इन किताबों में फेर फार न [हु]आ, तो ये इन लोगों की इतनी भारी अपकीर्ति का [का]रण होंगी कि वह अपकीर्ति फिर चिरकाल तक [मि]टाये नहीं मिटैगी। हम नहीं जानते, बिहार के [अ]ध्यापक और डेप्यूटी इन्स्पेक्टर आदि इन किताबों [को] देख देख कर क्या कहते होंगे!

४—इस विज्ञान-पाठ के प्रथम भाग में ये विषय हैं—

१—उद्भिद विद्या
२—प्राकृतिक-इतिहास
३—खेती
४—पदार्थ-विद्या
५—रसायन
६—स्वास्थ्य-रक्षा
७—गार्हस्थ्य-विधान
८—अङ्कन
९—पद्य
१०—अपने हाथ से द्रव्य (?) बनाने की शिक्षा

यह नामावली हम ने विज्ञापन-पाठ से यथा तथ्य नक़ल की है। इसके दसवें नम्बर में 'द्रव्य' शब्द को तो देखिए। हमारे यहां दर्शन-शास्त्रों में द्रव्य जिस अर्थ में व्यवहार किया जाता है उसी अर्थ में वह यहां व्यवहार किया गया है! जिसका टाइटिल पेज तक ग़लत, जिसका सूचीपत्र तक ग़लत, जिसके प्रूफ शोधन करने तक में एक नहीं, अनेक ग़लतियां उसकी भाषा की योग्यता अथवा अयोग्यता, शुद्धता अथवा अशुद्धता का अनुमान सहजही हो सकता है। परन्तु इससे क्या? मैकमिलन कम्पनी की किताबें बेचने से काम और डाइरेक्टर साहब को स्वीकार करने से!

५—ऊपर हमने जो नामावली दी उसमें से किसी किसी विषय की कोई कोई ऐसी गहन बातें इस भाग में लिखी गई हैं कि ज़रा ज़रा से लड़के उन्हें हरगिज़ हरगिज़ नहीं समझ सकेंगे। वे सर्वथा उनकी समझ के बाहर हैं। यह हम विश्वासपूर्वक कहते हैं; यह हम दृढ़ता पूर्वक कहते हैं। हमीं क्या कोई भी समञ्जस मनुष्य जो इस पुस्तक को पढ़ेगा, वह यही कहैगा। जब पहले भाग की यह दशा है, तब दूसरे भागों का न मालूम क्या हाल हो? फिर ये विज्ञान की बातें ऐसी बे सिर पैर की ऊटपटाँग भाषा में लिखी गई हैं कि उनका समझना और भी अधिक मुश्किल हो गया है? परन्तु हम विषयों की कठिनता और उनके दूसरे दोषों के विषय में कुछ नहीं कहना चाहते। कहैं भी तो हमारा कहना व्यर्थ होगा। हमारे कहने से मैकमिलन कम्पनी अथवा बंगाल के डाइरेक्टर साहब विषयों में क्यों परिवर्तन करने लगे? उनकी दृष्टि में हमारा कहना भला क्यों प्रामाणिक जँचैगा? फिर जब इन विज्ञान-पाठों का अँगरेज़ी मसविदा पास कर दिया जा चुका है? अतएव विषयों में, हमारे कहने से, फेरफार होना असम्भव जान कर हम उस सम्बन्ध में कुछ विशेष नहीं कहते। परन्तु

भाषा के सम्बन्ध में हम कुछ लिखना चाहते हैं। अनुवादक महाशय ने भाषासम्बन्धिनी इतनी ग़लतियां की हैं कि वे यदि कुछ दिन हिन्दी सीख कर फिर अपने विज्ञान-पाठों को पढ़ें तो हमें विश्वास है कि मारे लज्जा के उनको अपना मुंह ढक लेना पड़े! उस समय उनको यह मालूम हो जाय कि लड़कों को विज्ञान सिखाने के लिए जिस समय उन्होंने ये किताबें लिखी थीं उस समय हिन्दी के वे कितने बड़े पण्डित थे!!!

६—विज्ञान पाठ के एकही दो पन्ने पढ़ कर पढ़नेवाला यह यकदम कह सकता है, कि उसका लिखनेवाला बंगाली है, और उसे हिन्दी लिखने में बिलकुल अभ्यास नहीं; कुछ भी अभ्यास नहीं; ज़रा भी अभ्यास नहीं। किताब के एक सिरे से दूसरे सिरे तक लेखक अथवा अनुवादक महाशय ने ऐसी बेमुहाविरे की ऊटपटांग हिन्दी लिखी है कि, औरों की जाने दीजिए; मदरसों के लड़के तक पढ़ते समय हंसते होंगे। महाविराही भाषा का जीव है; उसीका यदि सर्वनाश होगया तो फिर रह क्या गया? वङ्गदेशवालों का हिन्दी-लिङ्ग-ज्ञान प्रसिद्ध ही है। परन्तु विज्ञान-पाठ में लेखक ने लिङ्ग ही का नहीं, किन्तु व्याकरण के जितने अङ्ग हैं सबके नियमों पर लत्ता-प्रहार किया है। फिर आपने कोई कोई ऐसे वैदेशिक और अप्रसिद्ध शब्द लिखे हैं जो हिन्दी में आज तक कभी प्रयुक्त नहीं हुए। पाठक बतलावें "भनसा घर" क्या चीज़ है? तरुवाची "गाछ" बँगला शब्द है। परन्तु उसका सार्वदेशिक प्रयोग इस पुस्तक में हुआ है। कहीं कहीं "हँड़धोयन" के समान महा ग्राम्य शब्द रक्खे गये हैं; और कहीं कहीं "आयतन" "सञ्चालन", "वायवीय" के समान क्लिष्ट शब्द! लेखक ने सब कहीं विधि-निषेध-हीन स्वतन्त्रता दिखलाई है। विज्ञान-पाठ में साद्यन्त मनमाना व्याकरण, मनमाना महाविरा और मनमानी लेख-प्रणाली है। कर्ता है तो कर्म्म नहीं; कर्म्म है तो कर्ता नहीं। वाक्य-रचना का कोई नियम ही नहीं। और तो जो कुछ है सो है, किताब के "प्रूफ" तक अच्छी तरह नहीं जांचे गये। इस कारण से भी अनेक ग़लतियां रह गई हैं। इससे अधिक बेपरवाही और क्या हो सकती है? शायद यही देश ऐसा है जहां ये सब बातें सम्भव हैं। जो पुस्तकें सबसे अधिक योग्य पुरुषों के द्वारा बनाई जानी चाहिएं; जिनके बनाने और शोधने में सबसे अधिक सावधानता दरकार होती है; उन्हींकी यह दुर्दशा! यह सब हिन्दी का दुर्भाग्य है। क्या बँगाल में कोई टेक्स्टबुक कमिटी नहीं? क्या कमिटी का एक भी मेम्बर हिन्दी नहीं जानता? क्या विहार में, शिक्षा-विभाग के अधिकारियों में से भी किसीको इस निःसहाय हिन्दी पर दया नहीं आई?

"महा अन्याय हा हा हो रहा है;
कहें क्या कुछ नहीं जाता कहा है!"

विज्ञान-पाठ की यदि हम अच्छी तरह समालोचना करने बैठें तो जितनी बड़ी वह किताब है उससे दूनी तिगुनी बड़ी समालोचना हो जावे। जो पुस्तक दोषमय ही है उसकी समालोचना ही क्या? तथापि कुछ बानगी बतलाये बिना यह लेख पूरा न होगा। इस लिए, विज्ञान-पाठ के प्रथम भाग की हिन्दी के कुछ नमूने हम यहां पर दिखलाते हैं। पहले, महाविरों के दो चार उदाहरण सुनिए—

(१) शिक्षक—इस थाली में थोड़ा सा जल रक्खा, इस ब्लाटिङ्ग कागज को थाली के पानी में रख दिया; तुम क्या देखते हो?

(२) शिक्षक—हम बलसे ब्लाटिङ्ग कागज को दबाया, तो तुम क्या देखते हो?

(३) शिष्य—कुछ जल गिर पड़ा, कागज में पहिले जो जल सोख गया था उसका कुछ अंश गिर पड़ा है

पृष्ठ, ४२

लेखक ने विराम के चिन्ह तक ठीक ठीक नहीं दिये। उसको यह भी नहीं मालूम कि "दबाना"

या के लिए "हम" के आगे कर्ता का चिन्ह "ने" ना चाहिए।

(४) एक लम्बा सामिज पहन कर कपड़ा पहना अच्छा है।

(५) महीन कपड़ा पहनना लाना बहुत अच्छा ख पड़ता है। पृष्ठ ६७

"पहनना लाना" शायद लेखक के घर का प्रयोग है; और सामिज भी शायद वे अथवा उन्हीं के घरवाले बोलते होंगे।

(६) अनेक प्रकार के घातक रोग से पिल्लू का नाश कम हो गया है।

(७) मालदह इत्यादि ज़िलों में थोड़े ही दिन रेशम की आबादी बहुत बढ़ चढ़ गई है।

(८) बैंगन, परवल, झिंगा, कोंहड़ा, कद्दू, कच्चू इत्यादि बनस्पति हमलोग तरकारी बनाकर खाते हैं। पृष्ठ ८८

"अनेक" बहुवचन; परन्तु "रोग" एकही वचन! नं० (७) उदाहरण में "दिन" भी एकही वचन! "पिल्लू का नाश", 'रेशम की आबादी' और "कच्चू", "झिंगा" का अर्थ समझाने के लिए लेखक महाशय अथवा उनका कोई बँगाली भाई दरकार होगा। दूसरे का काम नहीं!

(९) तीसरे (गिलास) में कुछ खली बूक कर छोड़ दो, और लकड़ी से सबको मिला दे डालो। पृष्ठ ४८

(१०) धरती में पानी न पटाने से मूल अपना कार्य्य पूर्ण रूप से नहीं कर सक्ता है और गाछ भी अच्छा नहीं होता है। पृष्ठ ३१

(११) देखो, काक का पतला मुख बोतल में जाते ही थोड़ा सा जल उछल कर गिर पड़ा तब जब काक का मोटा अंश आ कर मुख को बन्द करेगा तब और काक दबाया नहीं जा सक्ता है। पृष्ठ ४७

"मिला दे डालो", "पानी न पटाने से", और "तब जब * * * तब" लेखक के भाषाज्ञान के कीर्ति-स्तम्भ हैं! आपने समझा कि पेड़ को हम "गाछ" कहते हैं तो सारी दुनियां ही गाछ कहती होगी। "गिर पड़ा" एक काल; "बन्द करैगा" दूसरा काल; "दबाया नहीं जा सक्ता है" तीसरा ही काल!

८ (क) कुछ व्याकरण-विज्ञान सुनिए—

(१) अब भी यहां बहुतेरे दुर्ग का खंडहर पड़ा है। पृष्ठ ५६

(२) धर्ती के स्वाभाविक अवस्था पर उर्व्वरता निर्भर है। पृष्ठ ३१

(३) उसमें मटर अच्छा हो सक्ता है। पृष्ठ ३२

(ख) शब्द शुद्धि के उदाहरण लीजिए—

(४) बूट, मसूर आदि रबि फसिल। पृष्ठ ३३

(५) स्वांस के साथ दुर्गन्ध बाष्प और देह का मैला बहुत छोटे छोटे कण रूप से बाहर निकलता है। पृष्ठ ६०

(६) १२३ तो मर गये हैं जो शेष हैं वे भी प्रायः मृत्युवत् हो रहे हैं। पृष्ठ ६१

"बाष्प" शब्द की क्लिष्टता और उसको यहां पर अयोग्यता भी ध्यान में रखने लायक है। लेखक ने भाफ शब्द को शायद अच्छा नहीं समझा। "मृतवत्" के स्थान में "मृत्युवत्" हो गया! कहां लोग मरते थे कहां मृत्यु का रूप हो गये!!! दूसरी ग़लतियों पर टिप्पणी दरकार नहीं।

९-प्रूफ अच्छी तरह न जांचने के उदाहरण—

(१) इसी छे (द ?) से पानी बाहर निकल आता है। पृष्ठ ४३

(२) किन किन उपायों के द्वारा अन्न और बनस्पति आदि उपजा भली भाँति उपजाई जा सकती हैं। पृष्ठ २९

(३) सब जाति के मनुष्य नाना प्रकार के खाद्य द्रव्य खाय करते हैं। पृष्ठ ५५

१०-एक जगह लिखा है—

(१) हम लोग भात, दाल, तरकारी, दूध, मछली, तेल, घी और नाना प्रकार के मीठे फल खाते रहते हैं। पृष्ठ ५५

लेखक महाशय "रोटी" तो लिखना भूल गये, परन्तु " मछली " नहीं भूले !

दूसरी जगह लिखा है—

(२) हम लोगों के देश में प्रति दिन भनसा घर का चौका एक बार झाड़ बोहार कर लीपा जाता है। पृष्ठ ६९।

चाहे दिन में तीन बार "भनसा घर" में मछलियां भुनें, मगर चौका एकही बार लीपा जायगा!

११ (क)–विज्ञान-पाठ के प्रथम भाग से जो हमने ये उदाहरण ऊपर उद्धृत किये वे समुद्र में दस पांच बूंदों के समान; अथवा आफ़रीक़ा के रेगिस्तान में दस पाँच रेत के कणों के समान समझने चाहिएं ! इस पुस्तक के गद्य की भाषा जैसी निंद्य है, पद्य की उससे भी अधिक है। ऐसे नीरस, दोषदग्ध और निकम्मे पद्य हिन्दी-साहित्य में शायद और न निकलें। देखिए—

(१) बाध्यता, आज्ञापालन, वशीभूत।
पृष्ठ १३७।

यह एक कविता का हेडिङ्ग है। इसमें "बाध्यता" और "आज्ञापालन" के साथ "वशीभूत" शब्द यह सूचित करता है कि लेखक व्याकरण के प्रारम्भिक नियमों से भी परिचित नहीं। ऐसे ऐसी भद्दी ग़लतियां करना शिक्षा-विभाग को लोगों की दृष्टि में बहुत ही हीन कर देना है। इस हेडिङ्ग के नीचे जो कविता है उसकी दो पंक्तियां सुनिए—

(२) देह कान्ति सुन्दर दिखलावे,
नियत पाठ सहजही आवे। पृष्ठ १३७

लेखक को छन्दों में सबसे सीधी चौपाई की रचना का भी ज्ञान नहीं। दूसरी पंक्ति में छन्दोभङ्ग हो गया। यही एक छन्दोभङ्ग नहीं, और भी कितने ही हैं।

(३) * जे हिते होय सदा कल्याना,
संतत तेहि करहु सवधाना। पृष्ठ १४०

खैर, छन्दोभङ्ग है सो तो है ही; "सवधाना" का क्या अर्थ हुआ ? जिससे कल्याण होता है उसे सावधान करने से क्या अभिप्राय ?

(४) शोभा फूल और फल की देखो
झुकी डाल है फल से पेखो। पृष्ठ १४१

(५) शक्तिमान सम दृष्टि राखे,
मङ्गल मूल वेद अस भाषे। पृष्ठ १३४

(६) क्षिप्र दग्ध देह जिमि करई,
बुरी बात से हिय जिमि जरई। १४०

विज्ञान-पाठ के कवि जी के छन्दःशास्त्र सम्बन्धी अगाध ज्ञान की ये छन्दोभङ्ग गवाही देते हैं।

(ख) १३६ वें पृष्ठ में एकता पर कुछ पद्य हैं। उनमें लिखा है—

(७) दृढ़ बन्धन ढीला हो जबहीं,
कोठा अटा पतित हो तबहीं।

इसमें दूसरी पंक्ति का अर्थ बिलकुल समझ में नहीं आया। हम नहीं जानते बिहार के मुदर्रिस इसपर क्या भाष्य रचते होंगे ?

१४४वें पृष्ठ में एक दोहा है—

(८) जौं मणिभूषित साँप हो; है विषधर सुनु मीत।
ताके निकट न जाइए, है निश्चय भयभीत ॥

अर्थात् साँप के पास जानेवाला भयभीत नहीं—डरा नहीं; डरा कौन ? खुद साँप! "भयभीत" का और क्या अर्थ होगा ? इससे सिद्ध है कि इन पद्यों के बनानेवाले को साधारण शब्दों के अर्थ तक का ज्ञान नहीं।

इसी प्रकार की ऊटपटाँग भाषा में इस पुस्तक का गद्य और पद्य लिखा गया है। ऐसी ही घृणित भाषा लड़कों को सिखलाई जाती है। इसेही पढ़ कर लड़के भाषा में प्रवीणता प्राप्त करेंगे ? विज्ञान सिखलाइए; परन्तु ऐसी गर्हित भाषा में न सिखलाइए। क्या बङ्गाल और बिहार में मैकमिलन कम्पनी अथवा डाइरेक्टर साहब को कोई अच्छा हिन्दी का ज्ञाता नहीं मिला ? हमको आशा है यदि वे कृपा करके ढूंढेंगे तो एक नहीं अनेक हिन्दी

* "जेहि ते" का "जे हिते" छप गया है। यह प्रूफ़-संशोधन की महिमा का फल है।

सुलेखक उनको मिलेंगे। शिक्षाविभाग के अधिकारियों को उचित है कि इन पुस्तकों का शीघ्रही वे संशोधन करावें। जिस दशा में ये पुस्तकें हैं उस दशा में वे बिलकुल पढ़ाने के लायक़ नहीं। ऐसी पुस्तकें जारी रखने से पढ़नेवालों की जो हानि होती है सो तो होती ही है; परन्तु साथही उसके शिक्षा-विभाग के अधिकारियों की इससे बड़ी भारी बदनामी है।

जैसे बिहार के विज्ञान-पाठ हैं वैसेही पाठ, जैसा इस लेख के आदि में कहा गया है, इन प्रान्तों के लिए भी, इस समय, अँगरेज़ी में बन रहे हैं। अँगरेज़ी का मसविदा पास हो जाने पर उसकी हिन्दी की जायगी। हिन्दी हो जाने पर गवर्नमेण्ट की नियत की हुई एक कमेटी उसका संशोधन करेगी। हमें भय है कि कहीं बिहार के विज्ञान-पाठों की सी दशा यहां भी न हो। परमेश्वर! पाहि!

देशव्यापक भाषा।

विषय-प्रवेश।

कुछ दिनों से दो एक सज्जनों का मन देश में एक भाषा करने की ओर आकर्षित हुआ है। पहले पहल पण्डित वामन राव पेठे ने एक लेख, इस विषय पर, मराठी में लिखकर प्रकाशित किया। इसपर दक्षिण के अनेक विद्वानों और समाचारपत्रों ने अनुकूल सम्मति दी। पण्डित गङ्गाप्रसाद अग्निहोत्री ने इस लेख का हिन्दी में अनुवाद किया। यह अनुवाद नागरीप्रचारिणी-पत्रिका के तीसरे भाग में छपा है। यह लेख पढ़ने योग्य है। इस लेख ने कुछ लोगों के हृदय में देश में एक भाषा होने की आवश्यकता का बीज अंकुरित कर दिया। मराठी और गुजराती समाचारपत्रों में, कभी कभी, इस विषय पर लेख निकलने लगे। एक आध मराठी और गुजराती समाचारपत्रने तो मराठी और गुजराती के साथ साथ हिन्दी के लेख भी प्रकाशित करना स्वीकार किया। ये सब शुभ लक्षण हैं। परन्तु ये शुभ लक्षण केवल महाराष्ट्र और गुजरात के ही विद्वानों ने दिखलाये हैं। विद्यानुराग में बढ़ा हुआ वङ्गदेश अभी तक बिलकुल चुप है। जहां तक हम जानते हैं, इस सम्बन्ध में, किसी वङ्गवासी ने चकार तक नहीं लिखी। आशा है, वे, इस मौनावलम्बन को छोड़ कर, वङ्गदेश में भी, देश में एक भाषा होने के लाभालाभ का विचार लोगों के मन में जागृत करेंगे।

बरौदा से "श्रीसयाजी-विजय" नामक एक समाचारपत्र निकलता है। इसकी भाषा मराठी है। यह मराठी के अच्छे समाचारपत्रों में से है। कुछ काल हुआ इसमें "हिन्दुस्थान की राष्ट्र-भाषा" नामक एक लम्बा लेख कई अङ्कों में निकला था। इसे पण्डित भास्कर विष्णु फड़के ने जयपुर से लिखा है। यह लेख पढ़ने योग्य है; विचार करने योग्य है। वामनराव पेठे के समान भास्करराव फड़के ने भी इस देश में एक भाषा होने की बड़ी आवश्यकता दिखाई है। देश-व्यापी भाषा होने के योग्य उन्होंने अपनी मातृभाषा मराठी को नहीं बतलाया; और न गुजराती ही को बतलाया। बङ्गभाषा को भी उन्होंने इस योग्य नहीं समझा! स्मरण रखिये, ये तीनों भाषायें इस देश में, इस समय, बहुत अच्छी अवस्था में हैं; उन्नत हैं; प्रति दिन अधिक अधिक उन्नत होती जाती हैं; और यथाक्रम एक दूसरे से अधिक ऊर्जित दशा में हैं। यद्यपि ये भाषायें इतनी उन्नत हैं, तथापि पूर्वोक्त पण्डितों ने इनको देश भर की भाषा होने की योग्यता से ख़ाली पाया है! देशव्यापक भाषा होने की योग्यता उन्होंने पाई किस में है? हिन्दी में! वही हिन्दी, जिसे इन प्रान्तों के प्रवीण पण्डित और विद्वान् बाबूलोग निरादर की दृष्टि से देखते हैं; जिसमें छपे हुए समाचार पत्र को पढ़ना वे पातक समझते हैं; जिसमें अपना नाम लिखने की बहुत ही बड़ी आवश्यकता पड़ने पर वे "बशेशर-परशाद" और 'किसन-सरूप' आदि लिखकर अपनी

मातृ-भाषा के प्रेम की पराकाष्ठा दिखलाते हैं! जिनकी मातृ-भाषा हिन्दी है; जो अपनी माता से, जो अपनी स्त्री से, जो अपने लड़के लड़कियों से हिन्दी बोलते हैं; और जो हिन्दी ही में स्वप्न देखते हैं, उनको मानो लज्जित करने ही के लिए अथवा धिक्कारने ही के लिए, आगरा इलाहाबाद और बनारस से सैकड़ों कोस दूर दूर बसनेवाले महाराष्ट्र और गुजरात के पण्डितों ने हिन्दी की महिमा गाई है! धन्य उनकी सत्यप्रीति और उदारता! और धिक् हिन्दीबोलनेवालों की कृतघ्नता!

पण्डित भास्कर विष्णु फड़के का लेख बहुत उपयोगी है। जिनकी भाषा हिन्दी है उनके लिए वह विशेष उपयोगी है; पढ़ने योग्य है; मनन करने योग्य है। इस लिए, हम, भास्करराव के लेख के आधार पर, यह लेख लिखते हैं।

देश-व्यापक भाषा की आवश्यकता।

वाणी और अर्थ का जो सम्बन्ध है; जल और तरङ्ग का जो सम्बन्ध है; शरीर और आत्मा का जो सम्बन्ध है—देश और देशत्व का वही सम्बन्ध है। देश का जो धर्म्म है, देश का जो गुण है, देश का जो भाव है उसीको देशत्व कहते हैं। जिसके बिना देश कोई चीज़ ही नहीं रह जाता वही देशत्व है। आत्मा के बिना शरीर मिट्टी है; अर्थ के बिना वाणी मिट्टी है। देशत्व के बिना देश भी मिट्टी है। जिस देश से देशत्व निकाल लिया गया है वह देश केवल देखने अथवा केवल कहने के लिए देश है। उसमें सार नहीं। आत्माहीन शरीर प्रेत कहलाता है। देशत्वहीन देश भी प्रेत-तुल्य है। जिस शरीर में चेतना है; जिसमें नाना प्रकार के विकार अपनी अपनी सत्ता चला रहे हैं; जिसे सुख दुःख का ज्ञान है—अर्थात् जो सजीव है—उसीको शरीर की संज्ञा दी जा सकती है। इसी प्रकार जिस देश में देशाभिमान है, देशप्रीति है, देशभक्ति है, देशसेवा है, उसीका नाम देश है। जिसमें देशाभिमान नहीं है; जिसमें आत्माभिमान नहीं है; जिसमें रहनेवाले स्वार्थत्याग के बिलकुल ही भूल गये हैं और अपने पूजनीय पूर्वजों का आदर करना जानते ही नहीं; जहां ऐक्य नहीं; जहां प्रेम नहीं; जहां एक भाषा नहीं; जहां एक धर्म्म नहीं; वह देश चाहे जितना विस्तीर्ण हो; उसकी लोक-संख्या चाहे जितनी अधिक हो; वह देशत्व-युक्त देश कदापि नहीं कहलाया जा सकता। वह देशत्व-पद को त्रिकाल में भी नहीं प्राप्त कर सकता। वह चेतनाहीन शरीर के समान निश्चेष्ट, निष्क्रिय, हेय और घृणा का पात्र है।

देश को देशत्व प्राप्त होने के लिए विशेष करके दो बातें दरकार होती हैं। एक भाषा और दूसरा धर्म्म। अर्थात् जिस देश में सर्वत्र एकही भाषा और एकही धर्म्म प्रचलित है, वही देश देशत्वयुक्त है। अर्थात् देश को सजीव करने के लिए एक भाषा और एक धर्म्म की प्रधान आवश्यकता रहती है। इन दो बातों की सहायता से देश में देशत्व उत्पन्न करने के लिए अच्छे अच्छे कवि, लेखक, धार्म्मिक तत्ववेत्ता, वक्ता, और विज्ञानी आदि विद्वानों की आवश्यकता होती है। क्योंकि विना इनके देश में देशत्व नहीं आ सकता। करोड़ों स्वाभिमान-हीन, निरुद्यमी, मूर्ख और अशिक्षित लोगों की अपेक्षा दस पाँच विद्वान्, चतुर, देशभक्त और आत्माभिमानपूर्ण पुरुषों ही से देश में अधिक सजीवता आती है! अंगरेज़ी-राज्य-रूपी छत्र की छाया में, सुख से रह कर, ऐसे ही पुरुषों को अपने देश का देशत्व सजीव रखने का प्रयत्न उचित उपायों द्वारा करना चाहिए।

देश में चेतनता और एका बना रखने किम्बा उत्पन्न करने के लिए परस्पर प्रीति और सहानुभूति की बड़ी आवश्यकता होती है। देशप्रीति को जागृत और सहानुभूति को उत्पन्न करने के लिए, जैसा ऊपर कहा गया है, एक भाषा और एक धर्म्म

होने की बड़ी ज़रूरत है। इस विस्तीर्ण भारत-[वर्ष] में एक धर्म्म होने की आशा नहीं। सब का [ए]क धर्म्म हो जाना बिलकुल असम्भव जान पड़ता है। हिन्दू, मुसल्मान, पारसी, क्रिश्चियन, जैन आदि धर्मों को मेट कर एक धर्म्म कर देना महाकठिन काम है। इस समय तो ऐसाही जान पड़ता है। आगे की ईश्वर जानै। परन्तु सब की भाषा एक हो जाना असम्भव नहीं। भाषा एक हो सकती है। उसके एक हो जाने से देश का परम कल्याण हो सकता है। अतएव धर्म्म की बात छोड़ कर भाषाही की बात हम इस लेख में कहना चाहते हैं

इस देश के उत्तर में दो भाषायें प्रधान हैं—हिन्दी और बँगला। उर्दू, हिन्दी ही की एक शाखा है। दक्षिण में चार भाषायें प्रधान हैं—मराठी, गुजराती, कनारी और तामील। इनके सिवाय और भी कई भाषायें हैं, परन्तु उनमें परस्पर कम भेद है। उन्हें इन्हीं भाषाओं के अन्तर्गत समझना चाहिए। यों तो थोड़ी थोड़ी दूर पर भाषा-बोली-बदल गई है। बुन्देलखण्ड की हिन्दी एक प्रकार की है; बिहार की दूसरे प्रकार की; और अवध की एक तीसरे ही प्रकार की है। ये भेद कोई भेद नहीं हैं। इन्हें भाषा के भेद न कह कर बोली के भेद कहना चहिए। यह बात इसी देशमें नहीं; और देशों में भी पाई जाती है। ग्रेट ब्रिटेन की भाषा अँगरेज़ी है। परन्तु इंगलैण्ड, स्काटलैण्ड और आयरलैण्ड में बोली जानेवाली भाषा में थोड़ा बहुत अन्तर अवश्य है। यह अन्तर कोई अन्तर नहीं। आचार, विचार और स्थिति में अन्तर पड़ने से भाषा में भी अन्तर पड़ जाता है। परन्तु यह समझ करही हमको चुप न रहना चाहिए। हमको इसका विचार करना चाहिए कि एक भाषा होने से देश को अधिक लाभ है अथवा अनेक भाषा होने से अधिक लाभ है।

देश में एक भाषा न होने से सब लोगों में परस्पर प्रीति कभी नहीं उत्पन्न हो सकती। भिन्न भिन्न भाषा बोलनेवाले अपने विचार और अपनी सुख दुःख की बातें दूसरों से नहीं कह सकते। बँगालियों को मराठी नहीं समझती; पञ्जाबियों को तामील नहीं समझती; गुजरातियों को कनारी नहीं समझती; और महाराष्ट्रों को बँगलाभाषा नहीं समझती। इस लिए ये लोग परस्पर के विचार परस्पर को नहीं समझा सकते; और अपने सुख-दुःख की बातें नहीं कह सकते। और जब तक ऐसा न होगा तब तक महाराष्ट्रों को बँगालियों पर प्रेम न होगा और बँगालियों को महाराष्ट्र अथवा गुजराती अथवा इन प्रान्तों के निवासियों पर प्रेम न होगा। प्रेम और सहानुभूति उत्पन्न होने के लिए एक दूसरे की बात समझने की सबसे बड़ी आवश्यकता है। एक देश में रह कर भी भाषा भिन्न होने के कारण हम लोग एक दूसरे से अपरिचित हो रहे हैं। एक मदरासी जब प्रयाग आता है तब वह समझता है कि वह किसी दूसरी विलायत को पहुंच गया। इसी प्रकार जब कोई इधर का निवासी रामेश्वर की यात्रा के निमित्त वहां जाता है, तो मदूरा में प्रायः वही कठिनाइयां उठानी पड़ती हैं जो अमेरिका अथवा जापान जाने से उसे उठानी पड़तीं। इसका क्या कारण है? इसका यही कारण है कि हम सब की भाषा एक नहीं है।

भरतखण्ड रूपी शरीर के बँगाली, मदरासी, महाराष्ट्र, गुजराती, पञ्जाबी और राजपूत आदि अवयव हैं। जैसे शरीर का बल, तेज और आरोग्य अवयवों की सुस्थता पर अवलम्बित रहता है, वैसे ही देश का देशत्व उसमें रहनेवालों की परस्पर सहानुभूति और प्रीति पर अवलम्बित रहता है। एक अवयव पर यदि कोई संकट आता है तो सब अवयव उसे टालने का यत्न करते हैं; क्योंकि वे सब एकही शरीर से सम्बन्ध रखते हैं। इसी नियमानुसार हम सबको चाहिए कि यदि अपने किसी देश-बान्धव पर कोई कष्ट आवै तो हम सब उस के निवारण के लिए एकत्र होकर प्रयत्न करैं। इस एकत्र होने ही, इस एका करने ही, में देश

का बल है; इसीमें देश का उत्कर्ष है; इसीमें देश का कल्याण है। शेख़ सादी ने क्या ही अच्छा कहा है—

बनी आदम आज़ाय यक दीगरन्द।
के दर आफ़रीनिश ज़ियक जौहरन्द॥
चु अज़वे बदरद आवरद रोज़गार।
दिगर अज़वहारा न मानद क़रार॥
तु गर मेहनते दीगरां बेग़मी।
न शायद के नामत नेहन्द आदमी॥

अर्थात् ब्रह्मा की सारी सृष्टि परस्पर अवयव के समान है; क्योंकि सब की उत्पत्ति एकही तत्व से है। यदि एक अवयव को पीड़ा पहुंचती है तो दूसरे अवयव भी घबड़ा उठते हैं। इस लिए यदि तू दूसरे के दुःख से दुःखित न हुआ तो तू मनुष्य कहलाये जाने के योग्यही नहीं। इसमें 'आदम' और 'आदमी' ये दो शब्द ध्यान में रखने योग्य हैं।

देश के काम काज भाषाही के द्वारा होते हैं। यदि भाषा न हो तो सहसा सब व्यापार बन्द हो जावें। यञ्जिन चलाने के लिए जैसे भाफ की आवश्यकता है; देश के काम काज चलाने के लिए वैसेही भाषा की आवश्यकता है। भाषाही देश के कर्मकलाप चलाने की प्रधान शक्ति है। भारतवर्ष के भिन्न भिन्न प्रान्तों में रहनेवाले, जब एक सर्व-साधारण भाषा के द्वारा अपने विचार एक दूसरे पर प्रकट कर सकेंगे तभी देश की दशा सुधरैगी। अन्यथा नहीं। देश में देशत्व उत्पन्न करने के लिए एक भाषा का होनाही प्रधान साधन समझना चाहिए।

जो भाषा गांव में, नगर में, घर में, सभा समाज में और राज-दरबार में, सब कहीं, काम आती है वही देश-व्यापक भाषा है। हिमालय से लेकर कन्या-कुमारी तक एक ऐसी भाषा नहीं है जिसके द्वारा सब लोगों के विचार प्रकट किये जा सकें; जो देश की सञ्चालक शक्ति हो; जिसकी सहायता से प्रजामात्र के व्यवहार चलैं। इस अभाव के कारण हमारी बड़ी हानि हो रही है। यदि यथा-समय योग्य उपायों के द्वारा यह प्रभाव न मेट दिया गया तो हमारी हानि होती ही चली जावैगी; और बहुत हानि होगी। एक भाषा होने का विलक्षण प्रभाव होता है। बहुत भारी असर होता है। उस से मनुष्यों के हृदय में यह वासना जागृत हो उठती है कि हम सब एक हैं; यह देश हमाराही है; इस की उन्नति के लिए प्रयत्न करना हमारा धर्म है; देश का हित ही हमारा हित है। देश के हित को केन्द्र समझ कर जब सब लोग अपने हित की चिन्तना करते हैं तभी देश का कल्याण होता है और तभी प्रजा का भी कल्याण होता है। एक भाषा न होने से सच्चा देशाभिमान कभी नहीं उत्पन्न हो सकता। परस्पर एका कभी नहीं उत्पन्न हो सकता; परस्पर प्रेमभाव भी कभी नहीं उत्पन्न हो सकता। इसीलिए एक देशव्यापक भाषा की परम आवश्यकता है।

व्यापक भाषा होने के लिए हिन्दी की योग्यता

इस देश की भाषायें दो भागों में विभक्त हैं। एक आर्य्य भाषा, दूसरी द्राविड़ भाषा। आर्य्य भाषाओं की उत्पत्ति संस्कृत से है; परन्तु द्राविड़ भाषाओं की उत्पत्ति संस्कृत से नहीं है। जिस समय आर्य्यों ने इस देश में पैर रक्खा और क्रम क्रम से इसे पादाक्रान्त करते हुए और यहां के प्राचीन निवासियों को हटाते हुए वे गङ्गा यमुना के मध्यवर्ती देश में पहुंचे, उस समय उनकी भाषा संस्कृत थी। उसके बहुत काल पीछे तक भी उनकी भाषा संस्कृत ही रही। परन्तु ज्यों ज्यों वे आगे बढ़ते गये, और ज्यों ज्यों वे परस्पर एक दूसरे वृन्द से दूर होते गये, त्यों त्यों देश और काल के अनुसार उनके व्यवहार में अन्तर होता गया और भाषा भी उनकी बदलती गई। यह अन्तर धीरे धीरे बढ़ता गया। यहां तक कि कुछ दिनों में प्रत्येक वृन्द की भाषा और व्यवहार ने एक नया ही रूप धारण किया। एक दूसरे की भाषा में इतना भेद

गय कि उसकी एकरूपता बिलकुल ही नष्ट गई। साधारण रीति पर देखने से यह न जान पड़ने लगा कि भिन्न भिन्न लोगों की भाषाओं का मूल एकही है। परन्तु प्रकृति, प्रत्यय, संज्ञा और क्रिया आदि का विचार करने से यह बात तत्काल ध्यान में आ जाती है कि यद्यपि, प्रत्येक प्रान्त में, इस समय भिन्न भिन्न भाषायें बोली जाती हैं, तथापि सारी आर्य्य भाषायें संस्कृतही से निकली हैं। किसी का अधिक रूपान्तर हो गया है, किसी का कम; परन्तु सबका उद्भव एकही स्थान से है। जिनकी मूल भाषा संस्कृत थी उन आर्य्यों का प्रधान वृन्द चिरकाल तक उस प्रदेश में रहा जिसमें हमलोग इस समय रहते हैं। वह प्रदेश जो गङ्गा और यमुना के बीच में है। जैसे जैसे आर्य्यों की वृद्धि होती गई तैसे तैसे उन्होंने इसी प्रदेश से आगे पैर बढ़ाया। अतएव यह कहना चाहिए कि इस प्रदेश के निवासियों की भाषा आर्य्यों की मूल भाषा संस्कृत से अधिक निकट सम्बन्ध रक्खैगी। और मूल भाषा से विशेष सम्बन्ध होने के कारण दूसरी भाषाओं से भी वह थोड़ी बहुत साम्यता भी, अवश्य ही रक्खैगी। यह कौन भाषा है? यह वही भाषा है जिसे इन प्रान्तों के निवासी प्रायः निरादर की दृष्टि से देखते हैं! इसीका नाम "हिन्दी" है। अतएव यदि इस देश में, कोई देशव्यापक भाषा हो सकती है तो हिन्दी ही हो सकती है।

[और आगे।

विज्ञप्ति।

जगह की कमी के कारण कामिनी-कौतूहल, विनोद और आख्यायिका, और मनोरञ्जक श्लोक इस बार नहीं छाप सके। पाठक क्षमा करें।

साहित्य-समाचार ।

मदरसों में प्रचलित-पुस्तक-प्रणेता और हिन्दी ।
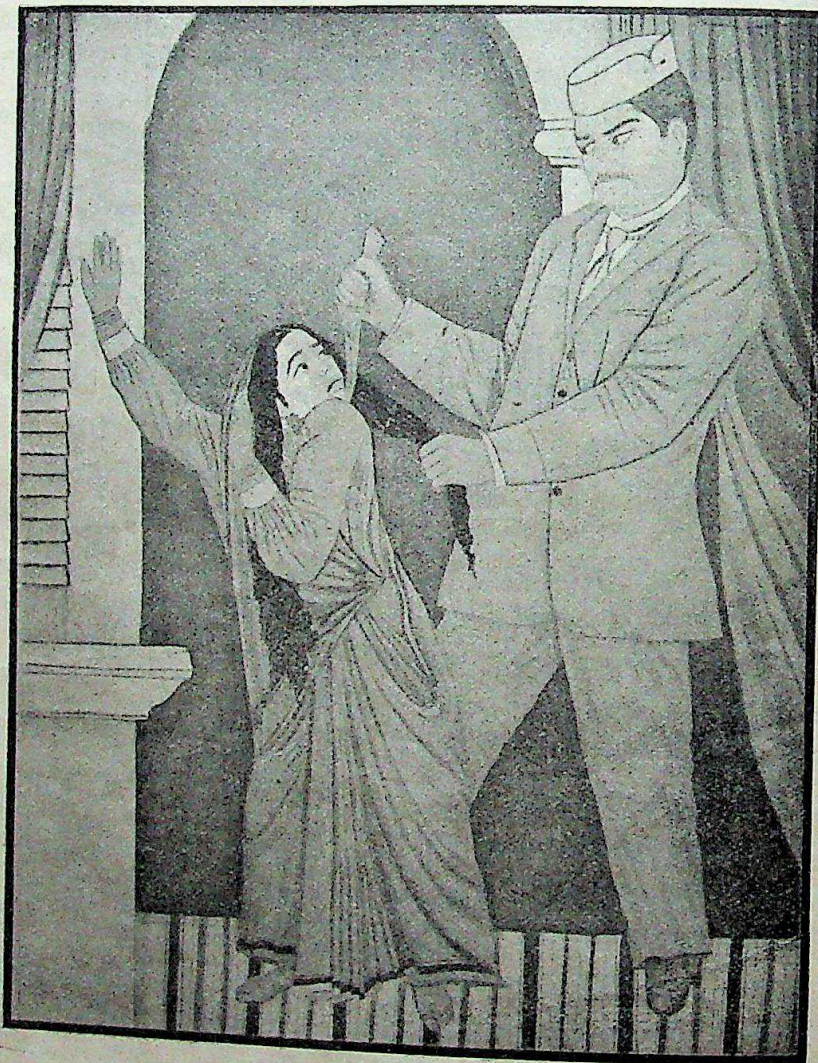
सरस्वती

सचित्र
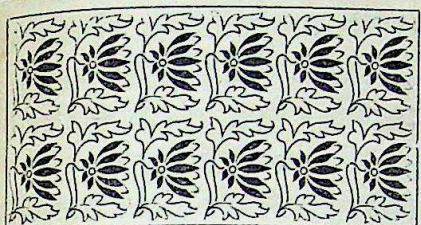
मासिकपत्रिका
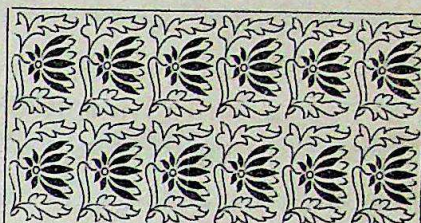
भाग ४]   अक्तूबर १९०३   [संख्या १०

पण्डितवर डाक्टर ए० एफ़० रुडल्फ हॉर्नली, सी० आई०ई।

मातेव रक्षति; पितेव हिते नियुंक्ते ;
कान्तेव चापि रमयत्यपनीय खेदम् ।
लक्ष्मीं तनोति; वितनोति च दिक्षु कीर्त्तिं ;
किं किं न साधयति कल्पलतेव विद्या ?*

सुभाषितरत्नाकर ।

सरस्वती पत्रिका में, आज तक, बड़े बड़े विद्वानों के और महामहिम हिन्दीभाषा के पारदर्शियों के चरित छप चुके हैं। पर आज एक ऐसे यशोधन विद्वद्रत्न का संक्षिप्त चरित पाठकों के सम्मुख उपस्थित किया जाता है जिसे उन सब प्रकाशित जीवनियों के ऊपर स्थान मिलना चाहिए। सरस्वती हिन्दी साहित्य की पत्रिका है; उसका सम्बन्ध हिन्दी भाषा से घनिष्टतम है। अतः वह हिन्दी के उत्पादकों के चरित को सर्वश्रेष्ठ मानती है। ऐसे महानुभावों में अग्रगण्य—बाबू हरिश्चन्द्र, राजा लक्ष्मणसिंह आदिक के जीवनचरित यह पत्रिका छाप चुकी है। पर हम उनके भी ऊपर इस चरित को क्यों मानते हैं, इसका कारण यह है कि यदि हम, जिनकी मातृभाषा हिन्दी है, हिन्दी के लिए कुछ करें तो हम अपना धर्म ही पालन करते हैं—अपनी कृतज्ञता को दिखलाते हुए मातृभाषा के उपकार-भार को हलका करते हैं। किन्तु जब ऐसे लोगों में से जिनका घर सात समुद्र पार है, जिनको अपनी यशःपताका फहराने के लिए संस्कृत, अरबी, चीनी, हिब्रू आदि महाभाषाओं के चौड़े मैदान पड़े हुए हैं, कोई वीर, अपनी उस विजय-लालसा को छोड़ जिसके प्राप्त करने में वह पूर्ण समर्थ है और जिसके प्राप्त करने से उनकी कीर्त्ति-ध्वजा और भी ऊंची उड्डीयमान होती हमारी दीन-हीन मातृभाषा के लालन में संलग्न होते हैं, तो उन्हींका शुभ्रचरित हिन्दीभाषी-जन-समुदाय के

* विद्या माता के समान रक्षा करती है; पिता के समान हित में तत्पर रहती है; कान्ता के समान खिन्नचित्त को प्रसन्न करके सुख देती है; सम्पत्ति को बढ़ाती है; कीर्ति को सब ओर फैलाती है; कल्पलता के समान विद्या क्या क्या नहीं देती? अर्थात् सब कुछ देती है।

लिए माननीय ठहरता है, और हिन्दी उन्होंको भक्ति और कृतज्ञतापूर्वक सिर झुकावैगी। और फिर ऐसे पुण्यश्लोकों की भी गणना के शिरोभाग पर जिनका सुनाम अङ्कित है उनके चरित को सर्वश्रेष्ठ कहने में क्या तिलमात्र भी अत्युक्ति है? अस्तु, सुगृहीतनामा डा० ए० एफ़० रुडल्फ हार्नली का संक्षिप्त चरित और उनका पूजनीय चित्र पाठकों को भेंट करते हुए हम परम आह्लादित होते हैं।

डाकृर साहब की कीर्ति दिगन्तव्यापिनी है।* जहां विद्वानों की कीर्तिचन्द्रिका छिटकनी चाहिए वहां, अर्थात् योरप-देश में, डा० साहब प्रथम श्रेणी के विद्वानों में गिने जाते हैं। और यहां भी इस तरह के कृतविद्यों में आप प्रमाण-स्वरूप माने जाते हैं। पर खेद है कि डा० साहब ने जिस विषय में सभों से बढ़ कर और विशेषतर कार्य किया, उस विषय से प्रेम रखनेवाले, अर्थात् हिन्दी-सेवियों में, उनकी जैसी होनी चाहिए उससे बहुत कम प्रसिद्धि है। इसे सोचकर प्रत्येक हिन्दी-हितैषी का मन पश्चात्ताप सहित अत्यन्त दुःखित होगा। इस दुखःदायिनी परिचय-हीनता का मुख्य कारण हमें अपना दुर्भाग्य ही जान पड़ता है। अपने उपकर्त्ता को न जानना अभागापन नहीं तो क्या है। इस अपरिचय का दूसरा कारण डा० साहब की अपने वास्तविक और गुरुतम कार्य के लिए नाम की अनिच्छा भी मालूम पड़ती है। अस्तु। हिन्दीवालों को उनका परिचय कराना ही इस लेख का उद्देश्य है।

श्रीयुत आगस्टस् फ्रेडरिक रुडल्फ हार्नली (Augustus Frederick Rudolf Hoernle) का जन्म १९ अक्तूबर, स० १८४१, को आगरे के पास सिकन्दरा में हुआ। उनके भाग्यशाली पिता पादरी रेवरेण्ड सी०.टी० हार्नली (C. T. Hoernle) थे। वे महाशय बहुत काल तक भारत-वर्ष में पादरी थे और एक बहुत प्राचीन जर्मन घराने से थे, जिस के पूर्वपुरुष का लिपिबद्ध पता १५वीं शताब्दी (ईस्वी) तक लगता है। यद्यपि हमारे चरित्रनायक पण्डितों की खानि जर्मनजाति को मण्डित करते हैं, पर आप बृटिश राज्य की प्रजा हैं। सात वर्ष के वय (सन् १८४८) में रुडल्फ हार्नली साहब शिक्षा के लिए जर्मनी भेजे गए, जहां पहले घर पर एक शिक्षक द्वारा पढ़ाए जाने लगे। और फिर क्रमशः पेडागोगियम् (Pædagogium in Esslingen), जिमनेशियम (Gymnasium in Stuttgart) और क्लोस्टर स्क्यूल (Kloster schule in Schonthal)* नामक स्थानों में ये पढ़ते रहे। १७ वर्ष की अवस्था (सं० १८५८) में, ये, अध्यापक स्टिफेन्सन (Professor Steffenson) से, बैसेल (Basel) युनिवर्सिटी में, दर्शन शास्त्र (Phylosophy) अध्ययन करने गए। इन्हीं अ० स्टिफेन्सन् को हमारे चरित्रनायक ने बाईस वर्ष बाद अपना सुविख्यात गौड़ीयभाषा समुदाय का व्याकरण सस्नेह समर्पित किया। सन् १८६० अर्थात् १९ वर्ष के वय में, प्रसिद्ध अध्यापक गोल्डस्टुकर (Prof. Goldstucker) से संस्कृत पढ़ने के लिए यह लण्डन नगर को गए। और पांच वर्ष बाद सन् ६५ में, काशीस्थ जयनारायण कालेज के अध्यापक नियत होकर भारतवर्ष को लौट आए। जयनारायण कालेज में संस्कृत और दर्शनशास्त्र के अध्यापकत्वकाल में, इन्होंने (Essays in aid of a Comparative Grammar of Gowdian languages) "गौड़ीयभाषा समुदाय के एक सर्वसाधरण व्याकरण की सहायता में लेख"† तैयार किया जो बंगाल एशियाटिक

* बंगाल की एशियाटिक सोसाइटी ने उनकी जीवनी छापने में उन्हें "a Scholar of world-wide reputation" कहा है।

* ये तीनों स्थान उर्टेम्बर्ग (Wurtemberg) प्रान्त में हैं।

† गौड़ीय भाषासमूह।—हिन्दी, बंगला, उड़िया, मराठी, गुजराती, सिन्धी, काश्मीरी के लिए डा० साहब ने इसे एक सामुदायिक नाम रक्खा था, जैसे कालवेल ने संस्कृत से न निकली हुई, तामील आदि दक्षिण की भाषाओं के लिए "द्राविड़ी" (Dravedian) नाम का प्रयोग अपने Comparative Grammar में किया था। पर अब डा० हार्नली 'गौड़ीय" शब्द प्रयोग नहीं करते। इसका कारण

सोसाइटी नाम्नी सभा की पत्रिका (जरनल) में, हार्नली साहब के सभासद् चुने जाने के पूर्वही, प्रकाशित हुए।

यह लेखमाला विद्वन्मण्डली को बहुत ही चमत्कारिणी जान पड़ी। यह हार्नली साहब की पहली लिखावट होने पर भी नामाङ्कित पण्डितों के मत को चक्कर देनेवाली ओर साहब को पण्डितों में गिना देनेवाली हुई। उन दिनों भाषापण्डितों का एक वृन्द यह सिद्ध कर रहा था कि हिन्दी-भाषा के व्याकरण की जड़ विदेशी (किसीके मत से द्राविड़ी ओर किसीके मत से सिमेटिक) हैं; अतः हिन्दी अनार्य है–अर्थात् संस्कृत से न निकली हुई है। प्रत्युत, संस्कृत के विद्वान् मेक्स-म्यूलर, म्योर, डी० ट्यासी, ट्म्प प्रभृति नामी लोग ज़ोर मार रहे थे कि नहीं, हिन्दी संस्कृत से ही है*। विपक्षी पण्डितों के सिद्धान्त का सबसे अधिक अवलम्बन सम्बन्ध की विभक्ति (का, के, को) पर था ओर लाख प्रयत्न करने पर भी संस्कृत से इसकी उत्पत्ति का ठीक ठीक प्रमाण संस्कृत वाले नहीं दे सके। आर्यभाषा (संस्कृत, ग्रीक, लैटिन, जर्मन, पारसी आदि) के तत्वज्ञों में बाप्प (Bopp) महोदय एक अद्वितीय पण्डित हो गए हैं। उन्होंने, संस्कृत, ग्रीक, लैटिन, पारसी, जर्मन आदि समस्त आर्यभाषाओं का एक ही सर्वसाधारण व्याकरण बनाया है। बाप्पने इस (का, को, के) के गोरखधन्धे को 'युष्माकम्' 'अस्माकम्' के "क" ओर किसी किसीने 'कीय' के "क" से सुरझाने का प्रयत्न किया। पर इनकी युक्तियां निर्बल सिद्ध हुई। विपक्षियों को ठीक उत्तर नहीं मिल सका। अन्ततः डा० हार्नली ने इसको लिया। उन्होंने अपनी उक्त लेखमाला में पहला प्रकरण षष्ठी विभक्ति ही का रक्खा जिसमें उन्होंने ऐतिहासिक रीति पर इसके मर्मों का पता लगाया। जिस तरह इस विभक्ति के रूप संस्कृत शब्दों से प्राकृत में पहले प्रत्यय ओर फिर विभक्ति दशा को पहुंचे ओर तदनन्तर प्राकृत से हिन्दी के—न केवल हिन्दी के, वरन् उसी हिन्दी के उद्भवस्थल से सिन्धी, मराठी, गुजराती, बंगला, उड़िया, कश्मीरी के भी—साम्प्रत रूप में आए। यह सारा इतिहास उदाहरणों सहित डा० साहब ने सम्मुख रख दिया। यह प्रकृत, मनोहर ओर पाण्डित्यपूर्ण आविष्कार, विपक्षी विद्वानों को भी माननीय हुआ; क्योंकि इस लेखमाला के बहुत दिनों बाद डा० साहब का व्याकरण प्रकाशित हुआ, सो न उसमें ओर न ओर कहीं विपक्षीदल को किसी नई विरुद्ध युक्ति का उल्लेख मिलता है। उक्त लेखमाला के एतद्विषयक खण्ड का संक्षेप नागरीप्रचारिणी पत्रिका की गत संख्या में "हिन्दी व्याकरण के कुछ अंशों पर विचार" शीर्षक नोट के अन्तर्गत 'सम्बन्ध-चिन्ह' नाम से छप चुका है*।

यह है कि ओर विद्वानों ने यह नाम स्वीकृत नहीं किया। अब वह "उत्तर-भारत का आधुनिक आर्यभाषा समूह" (Modern Aryan languages of Northern India) ऐसा लिखते हैं।

* इन सबका पता डा० राजेन्द्रलाल के हिन्दीभाषा सम्बन्धी लेख (Indo-Aryan) से लगता है।

* हालही में डा० ग्रियर्सन जीने हमारे डा० साहब के आविष्कार को परिमार्जित ओर परिवर्द्धित किया है। डा० हार्नली ने रायल एशियाइटिक सोसायटी की पत्रिका में, डा० ग्रियर्सन कृत परिवर्त्तनों की प्रशंसा की है। धन्य हैं ये मत्सरहीन उदार विद्वद्दल!

जो लोग इस विषय से प्रेम रखते हैं उनके लिए हम यहां पर बहुत संक्षेप से डा० ग्रियर्सन द्वारा परिमार्जित सिद्धान्तों को दे देते हैं।

साम्प्रत भारत की आर्यभाषाओं की षष्ठी विभक्ति के तीन विभाग हो सकते हैं।

प्रथम —(अ) कै, को, का, कु, के, क
(आ) रो, एर, अर, र
(इ) दा
(ई) जो
(उ) चा

द्वितीय—तणो, नो, नू
तृतीय—संदो, सन्दु, नन्दो, नन्दु

तृतीय विभाग के रूप काश्मीरी ओर सिन्धी में पाए जाते हैं। द्वितीय के गुजराती में। प्रथम के हिन्दी, नैपाली, बंगला,

इस लेखमाला के विषय में दो चार शब्द और लिखकर हम आगे बढ़ेंगे। क्या कारण था कि यह आविष्कार दूसरे भाषातत्वज्ञ विद्वानों से नहीं हो सका ? हमारी समझ में, भेद इतना ही था कि और लोगों ने इसे संस्कृत में ढूँढ़ना चाहा और सो भी अटकल ही अटकल। परन्तु डाक्टर साहब ने, ऐतिहासिक रीति से पहले गँवारी और हिन्दी काव्य में, फिर पुरानी हिन्दी में, तदनन्तर, वहां जहां हिन्दी की जड़ ढूँढनी चाहिए—अर्थात् प्राकृत में,-इसकी खोज की। हिन्दी की (तथा अन्य प्रचलित उत्तरीय भाषाओं की) उत्पत्ति संस्कृत से नहीं वरन् प्राकृत से है। अतः वे भूलते हैं जो अपनी मातृभाषा का मूल संस्कृत में ढूँढ़ते हैं। हिन्दीभाषा के प्रायः सभी रहस्यों की कुञ्जी प्राकृत में ही मिलती है, जिसके देखने में, डाक्टर साहब जैसे विद्वानों की कृपा से, हम जैसे अज्ञ भी समर्थ होते हैं। यही लेखमाला डा० साहब के प्रसिद्ध गौड़ीय-भाषा समुदाय-सर्वसाधारण व्याकरण की, जिसका आगे ज़िक्र किया जायगा, नीव है। एशियाटिक सोसाइटी, बंगाल, के जरनल, भाग प्रथम, सन् १८७२ के पृष्ठ १२० से १७४ में इस लेखमाला के लेख नं० १ से ३ तक प्रकाशित हुए। बाद उसी सन के दिसम्बर की मीटिङ्ग में डाक्टर साहब उक्त सभा के सभासद् चुने गए। सन् १८७३ के जरनल के प्रथम भाग में (पृष्ठ ५९ से १०६ तक) इस माला का चतुर्थ और अन्तिम लेख समाप्त हुआ।

डाक्टर साहब कृत व्याकरण।

सन् ७३ में हमारे चरितनायक स्वदेश (इंगलैण्ड) को चले गए और १८७३ से ७७ तक अपने व्याकरण की रचना में तेज़ी के साथ संलग्न थे। सन् १८७८-८० में यह व्याकरण, A Comparative Grammar of the Gaudian Languages के नाम से छप कर प्रकाशित हुआ। बंगाल की एशिआइटिक सोसाइटी लिखती है कि इस ग्रन्थ के द्वारा, सर्वोच्च श्रेणी के भाषातत्वज्ञ (Philologist)

पञ्जाबी, सिन्धी, काश्मीरी, मराठी आदि शेष भाषाओं में। प्रथम विभाग के ही रूपों में मुख्यतः लगभग समस्त भारतीय आधुनिक आर्यभाषाएं आ जाती हैं। प्रथम विभाग के सभी रूप संस्कृत 'कृ' धातु के 'कृत' और 'कार्य' (या 'कृत्य') से बने हुए हैं। यथा

(१) कृत से प्राकृत—'कओ' (या किओ) अथवा 'किदो' एवं स्वार्थे 'क' लगकर कअओ' 'किदओ' होंगे।

(२) कार्य से प्राकृत में कज्जो, कज्जओ होंगे। कृत्य से—कच्चो या कच्चओ (कृत्यकः)। कओ से— कौ, को, का, कु, के, क की उत्पत्ति हुई। ये रूप साधु हिन्दी, व्रज, पंजाबी, नैपाली काश्मीरी और विहारी में प्रचलित हैं।

किदओ से—पंजाबी 'दा' है।

कज्जो से—सिन्धी 'जो' है।

कच्चओ से—मराठी 'चा' है।

संस्कृत 'कार्य' से प्राकृत में 'केरो' (कारिओ) और 'केरओ' (कार्यकः) हैं। 'केरो' और 'केरओ' से प्राचीन हिन्दी, विहारी, पूर्वी हिन्दी और गुजराती के 'केर' 'केरो' और 'कर' हैं और बंगला के 'एर' और 'र' तथा उड़िया का 'अर' और माड़वाड़ी का 'रो' है।

ये विविध रूप प्रायः एकही शब्द से दो प्रकार बने हुए हैं। कहीं पर आदिम 'क' बचा रहा और कहीं पर प्राकृत नियमानुसार उसका लोप होकर सन्धि हो गई। यथा—

संस्कृत—घोटकस्य कृतः=

प्राकृत—घोटआह कओ अथवा घोडआह कउ=

हिन्दी आदि—घोड़ा को, घोड़ा का, घोड़ा कु

पुनः, घोटकस्य कार्यः=घोड़आह केरो. घोडआह करो=घोडआ करो=

माड़वारी=घोड़ा-रो

बंग=घोड़ा-र

इसी तरह 'दा' 'जो' 'चा' भी हैं।

[हिन्दी में, विभक्ति शब्द से अलग लिखना चाहिए या एक में मिलाकर, इसी पर एक वार बड़ा विवाद हुआ था। पाठक समझ सकते हैं कि घोड आह कओ" (घोड़ा का) में 'कओ' अलग है। हिन्दी 'घोड़ा का' में घोड़ा' के साथ उसकी वास्तविक षष्ठी मिली है और का प्राकृत से ही अलग है। और जहां सन्धि हो कर 'घोड़ार' (हमार, हमारा) हो गया, वहां एक में लिखना लाचारी है।]

द्वितीय विभाग के षष्ठीरूप संस्कृत 'तन', प्राकृत 'तणो', 'तणओ' से हैं। और तृतीय विभाग की उत्पत्ति अभी सन्दिग्ध है। 'अन्तो' से उसकी उत्पत्ति का अनुमान किया जाता है।

पण्डित कहे जाकर, डा० साहब की विद्वत्ता की कीर्त्ति एक वार ही योरप भर में प्रतिष्ठित हो गई*। सन्१८८२ में Institut de France नाम्नी फ्रांस की सभा से ग्रन्थकार के वालनी पुरस्कार (Volney prize) प्राप्त हुआ। यह पुरस्कार एक स्वर्णपदक था जो पेरिस राजधानी में, पूर्वीय भाषाओं पर वर्ष भर में सर्वोत्तम ग्रन्थ के लिए दिया जाता था। यह व्याकरण लगभग ४२० पृष्ठ का है और इसकी छपाई ऐसी संक्षिप्त है कि यदि पूर्णतः मुद्रित हो तो ग्रन्थ उसी नन्हे ही टाइप में दुगुने आकार का हो जावै। पहले हमारी इच्छा थी कि व्याकरण से भी यहां पर कुछ ख़ास ख़ास बातों को दे दें; पर ग्रन्थ में सभी बातें ऐसी अद्भुत, मनोहारिणी, और चमत्कारिणी हैं कि किसको चुनें और किसको छोड़ें। हिन्दी व्याकरण के जिस विषय के मूल को खोजना चाहै इसमें मिल सकैगा। आदि में लगभग ६५ पृष्ठों में, प्राकृत से हिन्दी होने में, अक्षर आदि के परिवर्त्तन के नियम उदाहरणों समेत दिखलाए गए हैं। यथा–"फ" को "ह" हो जाता है। गुहैं = गुहइ, गुभइ (प्रा०) = गुफति (सं०); सगा = सगहा = सगव्भए (प्रा०) = सगभकः (सं०)। "भ" से "ह"–दुर्लभकः = दुलहए (मागधी) = दुलहे, दुलहा। ऐसी शंका बहुतों को हुआ करती है कि संस्कृत और प्राकृत में तो क्रिया का लिङ्ग परिवर्त्तन नहीं होता, तो फिर हिन्दी में "करता है" को "करती है" क्यों होता है ?† ऐसी ऐसी सारी बातों का समाधान इस ग्रन्थ से होता है। समस्त गौड़ भाषाओं के व्याकरण के सूक्ष्म एवं स्थूल मर्मों का उद्घाटन है, तथा उन सब भाषाओं में एक के साथ दूसरे का सम्बन्ध इसमें दिखलाया गया है। इस ग्रन्थ में इतने विषय हैं—

स्मरण रहै कि आज कल के हिन्दी व्याकरणों की तरह इसमें संस्कृत के समास, सन्धि, अव्यय, आदि कुछ भी नहीं है, जो कुछ है सब केवल विशुद्ध देशी भाषाओं की ही चर्चा है।

कई एक स्वरों की नागरी अक्षरों में कमी है, जैसे पूर्वी "वेटवा" में जो "ए" है वह जैसे हमने लिखा है ठीक उच्चारित नहीं होता। "ए" दीर्घ है ! पर पूर्वी उच्चारण ह्रस्व है। ऐसे कई एक स्वरों के लिए भी डा० साहब ने नए चिन्ह बनाए हैं।

प्राकृत व्यैयाकरणों के मत से तीन तरह के शब्द होते हैं। संस्कृत-सम, संस्कृत-भव, और देश्य। जिनका पता संस्कृत से न लग सका देख पड़ा वे देश्य कहे गए। पर डा० साहब का मत है कि देश्य की गिनती पता लगाने पर बहुत ही कम हो जाती है, और जो शेष रह जाते हैं वे भी प्रायः संस्कृत ही से हैं।

इस ग्रन्थ की रचना में, मुख्य सहायता, प्राकृत के इन व्याकरणों से ली गई है–हेमचन्द्र कृत प्राकृत व्याकरण, वररुचिकृत प्राकृतप्रकाश, क्रमदीश्वरकृत प्राकृत व्याकरण, मार्कण्डेयकृत प्राकृत व्याकरण,

---

* "It (the Grammar) at once established his fame throughout Europe, as a philologist of the first rank." (From the Proceedings, Asiatic Soceity of Bengal, for January, 1899).

† 'करता है' में 'करता' मुख्य क्रिया नहीं है, वरन् विशेषण कृदन्त, है। 'है' ही मुख्य क्रिया है जो 'भवति' से (भवति = हइ = है) बनता है। 'है' सर्वदा समान रहैगा।

'स्त्री को' से 'स्त्रियों को' क्यों होता है इत्यादि का बड़ा विस्तृत विवरण दिया है।

त्रिविक्रमकृत प्राकृत व्याकरण, सिंहराजकृत प्राकृत व्याकरण, शुभचन्द्रकृत प्राकृत व्याकरण। प्रथम दो को छोड़ उस समय तक सब अमुद्रित थे। पण्डित गोपाल भट्ट, (जयनारायण कालेज) से भी डा० साहब को सहायता मिली थी क्योंकि पण्डित जी को देशभाषाओं का बहुत अच्छा ज्ञान था।*

खेद है कि यह व्याकरण अब नहीं मिलता है। कुछ दिन पहले कलकत्ते की न्युमन कम्पनी के यहां बहुत ही थोड़ी कापियां थीं, और जरमनी के Leipzig (14, Querstrasse) नगरस्थ Mr. O. Harrassowite की दूकान में अब भी कुछ प्रतियां होंगी। मूल्य ८) या १०) के आस पास है।

इसी व्याकरण के सिलसिले में, डा० साहब ने ५८२ हिन्दी भाषा के धातुओं का एक संग्रह तैयार किया था, जो बंगाल की एशियाटिक सोसाइटी के सन् १८८० के जरनल (Part I, vol. XLIX, No. II) में प्रकाशित हुआ। इनमें से ३९३ धातु आदिम हैं। जैसे, उखाड़् † = सं० उत् + कृष्, उत्कर्षति। प्राकृत-उक्कड्ढइ (हेमचन्द्र ४। १८७); हिन्दी-उखाड़ै। उथल् = सं० उड़ + शल्, उच्छलति ; प्रा० उत्थल्लइ (हे० च० ४। १७४)—हिन्दी उथलै।

जल् = ज्वलति। प्रा० जलइ (हे० च० ४। ३६५)। हिं० जलै।

खैँच् = कृष्, कृष्यति (कर्मवाच्य)। प्रा० कच्छइ, कंछइ हिं० खैँचै।

भेज् = अभि + अज् = अभ्यज्यते। प्रा० अब्भिज्जइ। हिं० भेजै। आदि।

आदिम धातुओं में जहां तहां उच्चारण सम्बन्धी थोड़ा बहुत फेर फार हो गया है। परन्तु हैं वे संस्कृत के ही धातु।

शेष धातु ऐसे हैं जो संज्ञा से, एक कर्म और एक क्रिया के योग से, अथवा आदिम धातुओं से निकले किसी शब्द से नए बने हुए हैं। यथा—चौंक् = चमत्क्रियते, चमक्केइ, चवँकइ, चौंकै। इसी प्रकार छीन् = छिन्न से। चोराव् = चौर से आदि।

डाक्टर साहब के लेखनविषयक और कार्य।

सन् १८७८ ई० में डाक्टर साहब, स्वदेश से भारतवर्ष को, कैथेड्रल मिशन कालेज के प्रधान (प्रिंसिपल) हो कर, लौट आए।

सन् ८० में चण्डकृत "प्राकृतलक्षण", जो प्राकृत भाषा के एक प्राचीन रूप का व्याकरण है, डा० साहब द्वारा एशियाटिक सोसाइटी के बिब्लियाथिका इण्डिका में सम्पादित हुआ।

यहां पर यह कह देना उचित होगा कि डा० साहब के वैज्ञानिक (Scientific) लेख और पुस्तकें दस बीस नहीं—अनगिनत—हैं। इण्डियन ऐण्टिक्वेरी और एशियाटिक सोसाइटी (बंगाल) के जरनल जो लोग पढ़ते होंगे वेही अनुमान कर सकते हैं कि वे कितने होंगे। यहां पर उनमें मुख्य मुख्य में से भी कुछ ही का उल्लेख किया जायगा।

प्राकृत लक्षण के अनन्तर, "बिहारी भाषा का तारतम्यबोधक कोश" (A Comparative Dictionary of the Bihari Language), डा० ग्रियर्सन के साथ, डा० साहब ने, सन् १८८५ में, सम्पादित

---

* "Among the former it gives me geat pleasure to acknowledge the very efficient help rendered me by the kindness of Pandit Gopal Bhatta, Professor of Sanskrit at the Jay Naraïn's College in Benares, who to scholarly knowledge of Sanskrit adds an intimate acquaintance of the Vernaculars as spoken by the people, representatives of whom, from every part of India, may be met with in Benares."—Preface to the Gaudian Grammar.

† कोई कोई 'करना, धरना, बोलना' आदि को धातु कहते हैं। धातु से हमारा अभिप्राय क्रियापद के उस रूप से है जिससे सब रूपों की उत्पत्ति होती है, और जो सब दशाओं में एक ही सा बना रहता है—जैसे 'बोल्' यह धातु है न कि 'बोलना'। बोल् + ई = बोली, बोल् + आहट = बोलाहट, बोल् + आ = बोला, बोल् + ऐ = बोलै, बोल् + अना = बोलना आदि। वर्त्तमान काल के प्रथम पुरुष के एक वचन के रूप से 'ऐ' निकाल देने से धातु लब्ध होता है।

करना आरम्भ किया, जिसको बंगाल की गवर्नमेण्ट सहायता देती थी। इस कोश के दो ही नम्बर, समयाभाव के कारण, निकल कर रह गए।

पृथ्वीराज रासौ।

पृथ्वीराज रासौ क्या है, इसकी व्याख्या करने की ज़रूरत नहीं, क्योंकि हिन्दी पठित समाज में इसकी बड़ी चर्चा है। यदि डा० हार्नली ने इसका अध्ययन और प्रकाशन न किया होता तो आज इसकी इतनी प्रसिद्धि हम लोगों में न होती। प्रथमतः, डा० साहब और स्वर्गीय मि० बीम्स ने मिलकर इसके सम्पादन करने का विचार किया था। किन्तु सन् १८७३ में बीम्स महाशय के सम्पादन में एक ही नम्बर (आदि पर्व) छप कर रह गया। सन् १८८६ में डा० साहब ने "देवगिरि समय" अर्थात् २६वें प्रस्ताव से ३४ तक, बिब्लिओथिका इण्डिका में, प्रकाशित किए। इस आवृत्ति में डा० साहब ने कहीं कहीं फुटनोट भी दिए, हैं। २७वें प्रस्ताव का अंग्रेज़ी अनुवाद भी उन्होंने छपवाया था। आगे यह काम न चल सका।* इसके न चलने का क्या कारण हुआ? इसके उत्तर में हम डा० साहब के पत्र से अवतारण करते हैं। आशा है कि वह रासौ से सम्बन्ध रखनेवालों के काम का होगा, क्योंकि रासौ के विषय में हमारे डा० साहब सबसे बड़े प्रमाण हैं और उसमें इस ग्रन्थ के विषय में उनकी सम्मति का भी पता मिलैगा।

'I stopped the edition partly for want of leisure, partly because I felt doubts regarding the genuineness of the work. "Genuineness"—I mean with reference to its being really the work of Chand Bardai * * * The work, for many reasons, deservnes a publication, even though it is now certain, that *as it stands*, it is not the work of the celebrated poet Chand; but probably it contains a nucleus traceable to that poet.'

भावार्थ—हमने इसका सम्पादन, कुछ तो समय की सङ्कीर्णता से, और कुछ इस लिए बन्द कर दिया कि हमको इस ग्रन्थ की सचाई के विषय में सन्देह हुए। "सचाई" से हमारा अभिप्राय, वास्तव में इसके चन्दबर्दाई कृत ग्रन्थ होने के बारे में, है। * * * यह ग्रन्थ कई कारणों से छपने योग्य है; यदि च यह अब निश्चित है कि जिस अवस्था में यह वर्त्तमान है, यह विख्यात कवि चन्द का रचित ग्रन्थ नहीं है; पर हां, इसमें शायद उस कवि की कृति के कुछ मूल-तत्वों का पता लग सकता है।

उवासग-दसाओ।

सन् १८८८-९० में, श्वेताम्बर जैनों के धर्म-ग्रन्थ "अंग" के सातवें भाग "उवासगदसाओ" को सतिलक डा० साहब ने Bibliotheca Indica में प्रकाशित किया और उसका अंग्रेज़ी अनुवाद भी छपवाया। "उवासग दसाओ" (उपासक-दशाः) अर्थात् जैन गृहस्थ उपासकों के कर्म्म दस व्याख्यानों में। इसके प्रकाशन से डा० साहब, जैनधर्म-विषयक विद्वानों में प्रमाणीभूत हुए*।

अब एक और पुस्तक का, जो कि डा० साहब की अगाध विद्वत्ता का, प्रकाश्यमान प्रमाण है, उल्लेख करके हम, आगे बढ़ेंगे।

बावर की पोथी।

Bower Manuscript.

मध्य एशिया में, पूर्वी तुरकिस्तान के कचार नामक नगर के समीप यह पोथी कप्तान बावर (Captain Bower) को मिली थी। यह पोथी संस्कृत की हस्तलिखित पोथियों में सबसे पुरानी है। भोज-पत्र पर, सन् ४५० ई० के आस पास, और शायद कहीं काश्मीर में की लिखी हुई है। लिखनेवाला,

* कई वर्ष हुए डा० साहब से शिक्षाप्राप्त, पण्डित मोहनलाल विष्णुलाल पण्ड्या ने इसके सम्पादन को शुरू से प्रारम्भ किया था। पर उन्होंने भी इसे पूरा नहीं किया। अब, कुछ दिनों से, काशीनागरीप्रचारिणी सभा इसके प्रकाशन में दत्तचित्त हुई है। देखैं वह कहां तक इस काम में सफलमनोरथ होती है।

* "In 1888—90 appeared the two volumes of his edition and translation of the seventh Anga of the Jains entitled the *Uvasaga-dasao*, in which he first appeared as an authority on the religion of that important sect."—Proceedings, Asiatic Society, Bengal, for January, 1899.

जान पड़ता है, बैाद्ध था जो अपनी पोथी को तुर्किस्तान में लेता गया, जहां वह कुछ दिन रहा और मर गया और एक "स्तूप" में गाड़ा गया। कहते हैं कि स्तूप के भीतर समाधि की कोठरी (Relic-chamber) में से यह पोथी निकाली गई थी। सब मिला कर यह बहुत ही सुरक्षित है। इसमें तीन ग्रन्थ वैद्यक के हैं और कई छोटी छोटी पुस्तकें ईश्वर-विषयक हैं।

सन् १८९२ ई० में, गवर्नमेण्ट आफ़ इण्डिया ने, डा० साहब को, मध्यएशिया से प्राप्त संस्कृत-साहित्य की जांच के लिए नियुक्त किया। इसका फल यह हुआ कि इस ग्रन्थ का परम विशद सम्पादन डा० साहब द्वारा, सन् ९५ में, प्रारम्भ हुआ। समस्त ग्रन्थ को डा० साहब ने गवर्नमेण्ट के लिए प्रकाशित किया। अपने संस्करण में, मूल पोथी की लिखावट की छापें भी, उन्होंने दीं और सतिलक अंग्रेज़ी अनुवाद भी सन्निवेशित किया। यह ग्रन्थ, सुपरिन्टेण्डेण्ट, गवर्नमेण्ट प्रिंटिङ्ग कलकत्ता से मिल सकता है। इस पोथी के आविष्कार आदि का पूरा विवरण डा० साहब ने, बं० एशि० सो० के जरनल, भाग ६६ के पृष्ठ २३८ में और सोसाइटी के सन् १८९८ के प्रोसीडिङ्गस् में प्रकाशित किया है।

बंगाल एशियाटिक सोसाइटी और डाक्तर साहब।

ऊपर कहा जा चुका है कि डाक्तर साहब इस सभा में सन् ७२ में शामिल हुए। सन् ७९ में वे इसके आनरेरी फिलालाजिकल् (Philological) अर्थात् भाषातत्व-सम्बन्धी सेक्रेटरी चुने गए। उक्त सभा का कथन है कि जिस योग्यता और पाण्डित्य से उन्होंने लगातार १२ वर्षों तक सभा की पत्रिका का सम्पादन करके, सभा का उपकार किया उसको शब्दों में प्रगट करना कठिन है। सन् ९१ के दिसम्बर में वे इस पद से अलग हुए। पर इसके बाद भी कौंसिल के मेम्बर रह कर सभा को अपनी योग्यता और अनुभव से लाभ पहुंचाते रहे। सन् १८९७ में वे इस सभा के सभापति चुने गए। सुतरां डा० साहब ने इस सभा की, जैसी हो सकती है, हर तरह सेवा की। साधारण मेम्बर रह कर इन्होंने इसकी पत्रिका को लेखरत्नों से भूषित करके योरोपियन विद्वानों में सभा का नाम बनाए रक्खा। जब प्रथम भाग जरनल के सम्पादक थे, उसकी शैली को ठीक रक्खा और अपने सस्नेह उत्साह और उपदेश के वचनों से युवक विद्याध्यायियों को पत्रिका से संलग्न किया; जो युवकगण स्वयं ही तब से सभा की कीर्त्ति को बनाए रखने में सहायता कर रहे हैं। जब आप सभापति थे, सभा ने आपको अध्यक्षता में अपना एक कठिन वर्ष सफलता पूर्वक व्यतीत किया।* सन् ९९ में इस सभा ने डा० साहब को आनरेरी मेम्बर चुना, अर्थात् अपने यहाँ के उच्चतम पद से सम्मानित किया।

परिशेष।

ऊपर लिखा जा चुका है कि सन् ७८ में हमारे चरित्रनायक भारतवर्ष को लौटे। सन् ८१ तक वे कैथेड्रल मिशन कालेज के अध्यक्ष रहे। बाद, कलकत्ता मदर्सा कालेज † के अध्यक्ष और प्रेसीडेन्सी

* "He has thus served the society in nearly every possible capacity. As an ordinary member, he enriched its journal with essays which upheld its reputation among European scholars; as the Editor of Part 1 of that journal, he maintained its character, and with kindly words of encouragement and advice introduced to its pages younger students who have since themselves helped to maintain the high repute of the Society; and as President, he successfully guided the society through a year of no common difficulty."—Proceedings, A. S. of Bengal, for January, 1899.

† मदरसा कालेज—भारतवर्ष में सबसे प्राचीन सर्कारी विद्यालय है। यह केवल मुसलमान लोगों के ही निमित्त स्थापित है। इसके स्थापक लार्ड हेस्टिङ्गस् थे। इसके दो विभाग हैं—अंग्रेज़ी और अरबी। पहले विभाग में, सर्कारी विद्यालयों की रीति पर शिक्षा दी जाती है। दूसरे में, अरबी फ़ारसी साहित्य, शास्त्र और व्यवस्था (Law) की शिक्षा दी जाती है। दोनों विभागों पर एक एक शीर्षाध्यापक हैं जो दोनों प्रिन्सिपल के अधीनस्थ हैं।

कालेज के अध्यापक सन् ९९ तक बने रहे। एक बार सर्कार की तरफ़ से ये मध्य एशिया को, पुरातत्व-सम्बन्धी अनुसन्धान के लिए भी भेजे गए थे। सन् ९९ में उधर की पुरातत्व सम्बन्धी सर्कारी संग्रहों पर रिपोर्ट लिखने के लिए सर्कार से नियोजित हुए। सन् १८९७ में, स्वर्गीया महारानी ने, डा० साहब के उच्च वैज्ञानिक परिज्ञान को पहचान कर उनको "भारतीय साम्राज्य के साथी" (सी० आई० ई०) की पदवी प्रदत्त की।

सन् १८९९ ई० में डाकृर साहब भारतबर्ष से—जो कि जन्मग्रहण और चिर-निवास से उनका स्वदेश सा हो गया था—अपने मित्रों * और जाननेवालों को अत्यन्त दुःखित करते हुए विलायत को सदैव के लिए चले गए। जो लोग डाकृर साहब को जानते थे उन सबके डाकृर साहब प्यारे हो गए थे। इस समय आप आक्सफ़ोर्ड में, जो इङ्गलेण्ड के विद्यापीठों में है, विराजमान हैं। वहां उनका पता, नं० १ नार्थ मूर रोड (North Moor Road) है। जहां तक हम जानते हैं, आप वहां भी चुप नहीं है; वहां रायल एशियाटिक सोसाइटी की पत्रिका में लिखते हैं।

डा० साहब का बहुकार्य्यकर जीवन सार्थक है, शिक्षाप्रद है। मनुष्य होकर उसीका जन्म सफल है जिसका नाम गुणियों की गणना के आरम्भ में लिखा जाय। डा० साहब की भाषातत्वोद्घाटिनी, प्राचीन-मुद्रा-रहस्य-भेदिनी, प्राचीन-निर्माणवर्णन-कारिणी और पुरातत्व-ज्ञान-दायिनी कलाओं से उनकी कीर्त्तिचन्द्रिका आज कल के वैज्ञानिक लोक को आलोक प्रदान कर रही है। इन विषयों के उनके अगणित लेख, सर्वश्रेष्ठ, सारमय और लोकस्वीकृत हैं *।

यद्यपि डाकृर महोदय इस समय इस देश में नहीं हैं, तथापि यहां से चले जाने पर भी हिन्द और विशेषतः हिन्दी पर उनका वही पुराना स्नेह तद्वत् अब भी बना हुआ है। "Though now absent from India, my old interest in India, and in Hindi specially, is still alive." उनके ये स्नेहनिर्भर वचन स्वर्णाक्षरों में लिखे जाने योग्य हैं। जिन महानुभाव की हमारी मातृभाषा पर एतादृशी कृपा हो, यदि हम उनको न जानें तो हमारे अभाग्य और हमारी अज्ञानता का कहीं ठिकाना है? हमको फिर भी सखेद कहना पड़ता है कि हिन्दी के लिए डाकृर साहब के इतना करने पर भी, हम लोगों ने अब तक यथोचित रूप से उनको नहीं पहिचाना है। विगत वर्ष, इस लेख के लेखक की सम्मति पर, काशी की नागरीप्रचारिणी सभा ने डाकृर साहब को आनरेरी मेम्बर चुनकर ऐसे सभासदों की तालिका को मण्डित किया है।

अब हम इस लेख को समाप्त करते हैं और डाकृर साहब से बद्धाञ्जलि निवेदन करते हैं कि किसी न किसी तरह निज अङ्गीकृत हिन्दी का पोषण करते जाइए। वह आप ही ऐसे पण्डितों की दया की अपेक्षा करती है। अन्त में, जगन्नायक से प्रार्थना है कि वह डाकृर साहब की सुखसमृद्धि, सम्मान और कीर्त्ति को उत्तरोत्तर बढ़ाता रहे!

काशीप्रसाद।

---

* डा० साहब के देशी मित्रों में, काशी संस्कृत कालेज के महामहोपाध्याय पण्डित श्री राममिश्र शास्त्री, कलकत्ता संस्कृत कालेज के प्रधान महामहोपाध्याय प० श्री हरप्रसाद शास्त्री, एम० ए०, और श्रीयुत पण्डित मोहनलाल विष्णुलाल जी पण्ड्या मुख्य हैं। म० म० पण्डित राममिश्र जी सबसे प्राचीन मित्रों में हैं।

* "It is as a numismatist, as an archæologist and as an epigraphist that Dr. Hoernle has been best known to the scientific world of late years, and his numerous papers on these subjects in our Journal and in the Indian Antiquary are accepted universally as of the greatest and most material value"—Proceedings, Asiatic Society, Bengal, for January 1899

श्रीहार्नली-पञ्चक ।

[१]

विद्या-निधान, वर, विज्ञ-जन-प्रधान ;
शोभायमान जगमें सविता-समान।
वाणी न जासु मुख तें क्षणहू टली है ;
सोई गुणी-गण-शिरोमणि हार्नली है ॥

[२]

भाषा न एकहु भली विधि लोक माहीं ,
जानें मनुष्य तउ गर्व वहें वृथाहीं ।
भाषा अनन्त मुख जासु बसैं सदाहीं ,
माहात्म्य तासु कहि को कवि पार जाहीं ॥

[३]

शेषावतार परिपूर्ण मही-मझार ?
किम्वा गणेश गुणि-नायक कोऽवतार ?
विद्या-विभुत्व इस भाँति महा-विशाल ,
पाया गया न पृथिवी-तल पै त्रिकाल ॥

[४]

हेमेन्दु* औ वररुचि प्रति जो अपारा
श्रद्धा-प्रकार सुपवित्र अहै हमारा ।
तातें विशेष तव ऊपर भक्ति-भाव;
हे हार्नली ! इमि कहैं सब सत्स्वभाव ॥

[५]

सौजन्य-सिन्धु, बुध-बन्धु, मनोज्ञ-रूप;
विज्ञात-तत्व यह पण्डित है अनूप ।
विद्या-समृद्धि सन ही सुमहा धनी है ;
औ शब्द-शास्त्र महं सम्प्रति पाणिनी है ।

कमल ।

अहो मित्र प्रिय कमल, निरखि तव सुन्दरता वर
अरुण नील वर वरण, होय नहिं मोहित को नर।
चिन्ताहीन निशंक, रहत विकसित निर्मल जल
सरल रूप अवलोकि, होत प्रमुदित सज्जन खल ॥१

नील वरण तव मित्र, कृष्ण मूरति सम मोहत
मनहुं नाल वसुदेव, लिये यमुना बिच सोहत।
शीतल मन्द बयारि, वारि बिच बीचि बढ़ावति
चरण धूरि हित मनहुं, यमुन निज ऊर्मि उठावति॥२

वनज विशद वर वरण, सुशोभित नीलनीर इमि
असित गगन महँ उदित, शरद पूरणहिमकर जिमि।
बुधजन कहिहहिँ अवशि, दीन्ह उपमा अति अनुचित
अहैं चन्द्र सकलङ्क, रहित दूषण पङ्कज सित ॥३

पङ्कज मध्य परन्तु, श्याम सोहत इमि मधुकर
जिमि कलङ्क को अंक, विराजत है मयंक पर।
उदित गगन लखि चन्द्र, चहत निज दोष दुरावन
करि पल्लव सम्पुटित, चहत गुरुता जनु पावन॥४

दोष रहित पै वस्तु, सृजत नहिं कोउ विधात
अवगुण यह बड एक; अहै विधिमें जल जाता।
कियो कल्पतरु रूख, रच्यो पशु कामधेनु पुनि
सोइ चतुरानन वृद्ध, कियो सागर खारो सुनि॥५

दोष सहित जो स्वयं, सकै किमि विरचि दोषबिन
यहि कारण तुम मित्र, सहित अवगुण विरचेउ तिन
कियो पङ्क ते हाय ! वृथा सम्बन्ध तिहारो
तुमहिँ पङ्कसुत सुनत, होत हिय क्षुभित हमारो॥६

वसत मित्र जल बीच, रहत संतत तेहि ऊपर
निज उपकारी वारि, सकहु नहिँ देखि दलनपर।
जो कहुं आवै भूलि, ढारि तुम देत तुरत ही
बिना विचारे जलज, करत अस अनुचित नितही॥७

समुझि परत मोहिँ मित्र, नहीं कछु दोष तिहारो
अग्नि सदृश तव पत्र, कहो पानी किमि धारो
सोइ वरण आकार, निरखि वारिहि भ्रम होई
सहसा ह्वै भयभीत, मिलत जल महँ तजि सोई॥८

पुनि शोभा दिखराय, वनज मधुकरहिँ लुभावत
करि छल भांति अनेक, ताहि निज बन्दि बनावत।
पै याहू में मित्र, तोर कछु दोष न दीखत
भानु रहित लखि गगन, सहजही तव मुख छीजत॥९

करत द्वेष क्यों जलज, चन्द्रसन भ्रात सहोदर
क्यों तव होत मलीन, वदन लखि तासु चारुकर

---

* हेमचन्द्र सूरि—प्राकृत वैय्याकरण।

निरखि दिवाकर किरन, मुदित क्यों होत मित्र वद
चन्द्रबीच सोइ* किरन, होत क्यों तुमहिं दुःखप्रद १०

करत भ्रातसन वैर, आन सन करत मिताई
सत्य कहहु तजि लाज, कहा तुम्हरे मन आई।
चाहिय जासन प्यार, ताहि सन करत लराई
जानत जाकहँ नाहिँ, करत तुम तासु बड़ाई ॥ ११

सत्य सत्य कवि वचन†, गरल प्रियबन्धु सोमकर
तेहि हित कारण दीन्ह, वास निज हृदय निशाकर
सहज सुखद रवि किरन, करत विष संयुत शशधर
विष युत किरन पसारि, जरावत तोर वदनवर॥ १२

सबहि भांति तुम अहौ, रहित दूषण हे पङ्कज
सुभग तिहारी छटा, तिहारी अद्भुत सज धज।
तो क्यों मिथ्या अहो, भूलि तोहिँ दोष लगायो
वृद्ध विधातहि कहा, वादि दूषित ठहरायो? १३॥

नहीं नहीं धरि ध्यान, सुनहु इक अचरज भारी
विधि ते पहिले भई, जलज उत्पत्ति तिहारी।
विष्णुनाभिसन प्रथम, भये उतपत जलजाता
तो यह संभव कहां, रचै तोहिँ सोइ विधाता ॥ १४

याही कारण अहहु, मित्र तुम रहित दोष सब
बहुत देर पश्चात्, खबरि सांची पाई अब।
जो दूषणमय स्वयं, रच्यो नहिँ तोहिँ सो धाता
यों दूषण बिनु रहे, भाग्यभाजन जलजाता ॥ १५

लोकमणि।

भरत-वाक्य।

[राय देवीप्रसाद जी ने **चन्द्रकला-भानुकुमार** नामक एक बहुतही मनोरञ्जक नाटक लिखा है। उसके अन्त में कई मुनियों और नाटक के अन्य कई पात्रों के मुख से, एकही साथ, भरतवाक्यों का गान जो उन्होंने कराया है वह बड़ाही मधुर और मनोहर है। अतएव उन छन्दोबद्ध वाक्यों को हम, यहां पर, नीचे प्रकाशित करते हैं। सम्पादक, सरस्वती]

[१]

लक्ष्मी दीजै; लोक में मान दीजै;
विद्या दीजै; सभ्य सन्तान दीजै।
हे हे स्वामी प्रार्थना कान कीजै;
कीजै कीजै देश कल्यान कीजै॥

[२]

सुमति सुखद दीजै फूट को लोग त्यागैं
कुमतिहरन कीजै द्वेष के भाव भागैं।
तजि कुसमय निद्रा चित्त सों चेति जागैं;
विषम कुपथ त्यागैं नीति के पंथ लागैं॥

[३]

तन्द्रा त्यागैं लहि कुशलता होहिँ व्यापार नेमी
सीखैं नीकी नव नव कला होहिं उद्योगप्रेमी।
पूरे रूरे नियम विधि सों स्वस्थता के निबाहैं
उत्कण्ठा सों दिवस निसहूँ देश की वृद्धि चाहैं॥

[४]

पावैं पूरी प्रतिष्ठा कविवर जग के शुद्ध साहित्य ज्ञानी
होवैं आसीन ऊँचे सुजन विदित जे देशसेवाभिमानी
पीड़ा दुर्भिक्षवारी जुग जुग कबहूँ प्रान्त कोऊ न पावै
दीर्घायू लोग होवैं तिन ढिग कबहूँ रोग कोऊ न आवै

[५]

सत्सङ्ग, सन्त-सुर-पूजन, धेनु-प्रेम
श्री-राम-कृष्ण-चरितामृत-पान-नेम।
सौजन्य, भाव, गुरुसेवन आदि प्यारे
सम्पूर्ण शील शुभ पावहिँ देशवारे॥

[६]

अन्याय को अङ्कु कहूँ रहैना
दुर्नीति की शङ्क कहूँ रहैना।
होवै सदा मोदविनोदकारी
राजा प्रजा में अनुराग भारी॥

[७]

समस्त-वर्णाश्रम धर्म-मानैं
सदाहि कर्त्तव्य प्रधान जानैं।
जसो तपस्वी बुध धीर होवैं
बली प्रतापी रणधीर होवैं॥

---

* चन्द्रमा में सूर्य से प्रकाश आता है।
† श्रीगोस्वामी तुलसीदास जी।

[८]

लक्ष्मी दीजै; लोक में मान दीजै;
विद्या दीजै; सभ्य सन्तान दीजै ।
हे हे स्वामी ! प्रार्थना कान कीजै;
कीजै कीजै देश कल्यान कीजै ॥

राय देवीप्रसाद (पूर्ण)

विज्ञापनों की धूम ।

आज कल समाचारपत्रों में, प्रचलित पुस्तकों के टाइटिल पेज तथा उनकी पुश्त पर, एवं दो एक पृष्ठ इधर उधर, नोटिस बोर्डों पर, सड़क के किनारेवाले मकानों पर, प्रसिद्ध दवाओं की बोतलों के आस पास लपेटे हुए, मनोहर भेंट-चित्रों एवं डायरियों पर, बिना मूल्य वितरित सूचीपत्रों और जंत्रियों तथा पञ्चांगों पर, समालोचनाओं द्वारा, और अन्यान्य रीतियों पर—जहाँ देखिए वहां विज्ञापनों की भरमार मच रही है। हम विज्ञापनों के एक दम विरोधी नहीं हैं; परन्तु "अति सर्वत्र वर्जयेत्" का सिद्धान्त भी तो किसी बड़ेही चतुर और अनुभवी व्यक्ति ने स्थिर किया है।

फिर यदि ये विज्ञापन अधिकांश में ठीक भी होते तो उनसे कोई हानि न थी। पर अनुभव करने से उनमें अधिकांश तो बिलकुल झूठे पाए जाते हैं और शेष में सैकड़े पीछे ९९ अतिशयोक्ति के एक से बढ़कर एक उदाहरण बन रहे हैं ! इनकी चड़क-भड़क देखकर यही जान पड़ता है कि मानवी दुःखों का अब अन्त आगया !! परन्तु व्यवहार करने पर वही तीन काने !!!

१-कहीं देखिए दो चित्र बने हैं-एक महाकृश-गात्र, मृतकप्राय, अस्थिपंजरावशेष मनुष्य का और दूसरा एक हृष्ट पुष्ट पहलवान का, जिनपर यथा स्थान यह लिखा है कि "दवा सेवन के पहले की दशा" और "पश्चात् की दशा"। इसके बाद लगी होने किसी वाहियात दवा की महा प्रशंसा !

२-कहीं पाँच सात "बालक, युवा, जरठ, नर, नारी" चित्रित हैं जिनके हाथ में किसी दवा विशेष की एक एक बोतल है। कोई दवा पी रहा है; कोई बोतल से प्याले में उफल रहा है; कोई अपनी पीकर दूसरे की लिए माँगता है और कोई ऐसेही और अनेक रंग मचाए है। सबका तात्पर्य यह कि बड़ी गुणकारी होने के अतिरिक्त दवा स्वादिष्ट भी बहुत है।

३-कहीं आराम न होने पर दाम फेर देने की प्रतिज्ञा बड़े मोटे अक्षरों में छपी है और नीचे "गोरे और ख़ूबसूरत होने की औषधि" लिखी है, जिसमें कहा गया है कि "काली चुड़ैल काला भूत" भी इस दवा के बरतने से "गुलफ़ाम सा गोरा गुलाबी रंग बहुत जल्द हासिल करे और ज़िन्दगी भर वैसाही प्यारा प्यारा गुलाब सा रंग बना रहे"!!! बस, अन्त हो गया ! यदि ऐसी कोई वास्तव में दवा निकल आवे तो पृथ्वी को गुलफ़ामों का अजीर्ण होजाय और कोई "काला आदमी" कहीं देखने में भी न आवे। ऐसे विज्ञापन देनेवाले धूर्त्तों पर तो फ़ौरन धोखेबाज़ी का अभियोग चला देना चाहिए।

४-कहीं सीधे छोड़कर बेंड़े अथवा उलटे अक्षरों में विज्ञापनदेवता छपे हुए हैं जिसमें अवश्यही पाठक की निगाह उनपर पड़े।

५-कहीं डङ्का पीटता हुआ मनुष्य कोई बड़ासा झण्डा फहरा कर किसी दवा का गुण गान कर रहा है।

६-कहीं काली ज़मीन देकर सफ़ेद अक्षरों में कोई विज्ञापन छपा है।

७-किसी नोटिस के अक्षरों से सूर्य की सी किरणें फूट रही हैं।

८-कहीं "ऑंशि देखिए देखन जोगू" का सिरनामा दिया है।

९-कहीं "आश्चर्य्य ! आश्चर्य्य !! आश्चर्य्य !!!" बड़े मोटे टाइप में छपा है।

१०-कहीं लोगों ने अपनेही चित्र उड़ा दिए हैं और साथही साथ बीसों समाचारपत्रों में दो दो और तीन तीन कालम अपनी एकही वस्तु के विज्ञापन प्रति सप्ताह अथवा प्रतिदिन काले कराते हैं। दाम क्या देना पड़ता होगा सो वही जानें! पर बाँट कर सब जायगा तो अनजान ग्राहकही के मत्थे!

११-कहीं कोई "कौड़ियों में" अशरफ़ियों का माल दिए डालते हैं! न जानें इतनी उदारता उनमें क्यों और कहां से आ गई!!

१२-कहीं "लूट! लूट!! लूट!!!" छपाकर लोग गङ्गा यमुना तैरे जा रहे हैं कि वास्तव में उनके ग्राहकों को इतना सस्ता माल मिलैगा कि मानों उन्होंने उसे कहीं बेदाम दिए लूट में पाया हो। वाहवा! आँखों में धूल झोंक कर लूटें तो आप औरों को, और उलटी शपथ करें कि हमी औरों को अपना माल लुटाते हैं!!

१३-कहीं "तीनही चार रुपए में पानी ठंढा करने का कल" बेंचते हुए कोई महाशय हज़ारों रुपए की मूल्यवाली हिमकलों की आवश्यकता दूर किए देते हैं। पर जब आप की "कल" मँगा कर देखिए तो ज्ञात होगा कि जो तीन चार रुपए व्यय हुए वे व्यर्थ ही गए, क्योंकि एक गिलास ठंढा पानी बनाने में प्रायः दो पैसे लग जाते हैं; परन्तु दो पैसे की बरफ़ में चार गिलास पानी उससे अधिक ठंढा बन सकता है।

१४-कहीं कोई पाठकों को प्रचार कर रहा है कि "क्यों न पढ़िएगा?" और कहता है कि "कठिन से कठिन तथा वैद्य डाकृरों से जवाब पाए हुए रोगियों का भी व्यवरेवार हाल लिखने पर हम इलाज करैंगे"। क्यों न हो! इसीसे तो किसी कवि ने कहा है कि—

> है पुरिया दस बीसक मारि पचासक आसव प्रेरि सँहारे।
> त्यों रस के बस कै बहुतेरन गोलिन सों सत साठिक मारे॥
> चूरन सों किए चूर अनेक जुलाब के जोर सों लाखन मारे।
> वैद भए हरि गोबिँदजू तब ते यमदूत फिरैं सरतारे॥

हम नहीं जानते कि ऐसे लोगों को लोक परलोक किसीका भी कुछ भय है या नहीं?

१५-कहीं देखिए लिखा है "हाय! जवानी ने धोखा दिया!" और उस धोखे को हटाने और "पुष्ट, बलवान, और फुर्तीला और जवान" बनाने एवं सैंडो, गुलाम, तथा किक्कड़सिंह से भी बढ़ जाने को धन्वन्तरि को भी चकित करनेवाली कोई "औषध" लिखी है।

१६-कहीं "सवा रुपए में १२५ पुस्तकें" लुटाई जा रही हैं; परन्तु हमें भय है कि "लुटाने" वाले महाशय ने कहीं आपही न लूट मचा रक्खा हो। ऐसी पुस्तकों में एक एक और आधे आधे पृष्ठ तक की "पुस्तकें" देखी गई हैं और प्रायः सभी पुस्तकें रद्दीख़ाने के काम की होती हैं।

१७-कोई केवल २ या २॥ रुपए की एकही पुस्तक के ख़रीदार को उपहार में ५) की पुस्तकें देने को प्रस्तुत हैं!!! झूँठ का तो अन्त होगया। "दमड़ी की बुलबुल टका हुसकाई"।

१८-कहीं इन शीर्षकों के भी विज्ञापन देखे गए हैं कि "मत पढ़िए" अथवा "इसे न पढ़िएगा" इत्यादि-जिसमें कौतूहलवश लोग उसे अवश्य पढ़ें। वास्तव में इन विज्ञापनवालों को नित्य नये ढकोसले ख़ूबही सूझते हैं।

१९-कोई "इस लोक व परलोक के साधन की पुस्तकें" बेंचता है। उनमें से एक पुस्तक का नाम सुन लीजिए, "सपेरा-साँपों के खेल जादू का नाटक"। इससे हमें एक अटल नियम यह ज्ञात हो गया कि सँपेरों, नटों और कञ्जड़ों का "लोक परलोक" अवश्यही सदा सुधरता है!

२०-कोई महाशय लोगों को "धोखा देनेवालों" तथा "धूर्त लोगों से" बचने को चेतावनी देते हुए अपना ज्योतिषसम्बन्धी विज्ञापन फटकार रहे हैं। कहीं अपने ही से बचने को तो वह लोगों को चेतावनी नहीं देते? इसपर भी जो मनुष्य उनके जाल में फँस जाय तो मूर्खता की पराकाष्ठा ही

समझिए। स्वयं ज्योतिष (फलित) शास्त्र को तो हम नहीं कहते, पर उसके वास्तविक जाननेवालों के विषय में अवश्य ही बड़ा संशय है। महामहोपाध्याय पं० सुधाकर जी द्विवेदी से हमने इस विषय पर एक बार बात चीत की तो उन्होंने कहा कि हम फलितज्योतिष की बात बहुत कम कहते हैं; क्योंकि जिससे हम कुछ कहें कदाचित् उसका पुरोहित जो उसके यहाँ की सब बातें जानता हो, हम से कहीं अच्छी तरह उसे सन्तुष्ट कर सकेगा। कहना न होगा कि आज पं० सुधाकर जी से बढ़कर ज्योतिषशास्त्र का ज्ञाता ढूँढ़ना कठिन है।

२१–कहीं लोग ऐसा भी करने लगे हैं कि अपने विज्ञापन समाचारपत्रों में ऐसी रीति पर समाचारों ही की भाँति और उन्हीं के बीच में छपवा देते हैं कि तीन चौथाई पढ़ जाने के पश्चात् पाठक को ज्ञात होता है कि यह तो समाचार नहीं विज्ञापन है! *

ऐसेही अनेक प्रकार और नित नूतन युक्तियों से लोग अपने अपने विज्ञापन छपवाते हैं जिन सबका वर्णन करना अनावश्यक और कई अंशों में असम्भव है। इन सभों में झूठ इतना अधिक भरा रहता है कि सच्चे विज्ञापनों पर भी विचारवान लोग सहसा विश्वास नहीं कर सकते। यदि कहिये कि इतने विज्ञापन छपते ही क्यों हैं? इसका उत्तर यह है कि "चु अहमक़ दर जहाँ बाक़ीस्त कस बेज़र नमी मानद" अर्थात् जब कि मूर्ख लोग पृथ्वी पर वर्तमान हैं तो कोई भी (सदा) दरिद्री नहीं रह सकता। सो उन्हीं मूर्ख लोगों पर ऐसे विज्ञापनदाताओं का भी अवश्यही स्वत्व रहता है।

एक अनुभवी वणिक् जो किसी कारण दरिद्री होगया था कहा करता था, कि यदि मेरे पास १००) हो जावें तो मैं फिर वैसा ही धनी हो जाऊँ जैसा पहले था। लोगों ने पूंछा कि केवल एक सौ रुपए से यह कैसे हो सकता है? उसने उत्तर दिया कि "एक रुपए की कोई वस्तु विक्री के लिये रख लूँ और शेष ९९) से उसका विज्ञापन वितरण करूँ; बस इसी भाँति हज़ारों रुपए पैदा कर लूँ और कुछ ही काल में लखपती हो जाऊँ"। सुनते हैं कि कुछ समय में ऐसाही हुआ और वह वणिक् लक्ष्मीवान् हो गया।

यह भी देखा गया है कि बड़े शहरों में ऐसे भी धूर्त होते हैं कि जिनके पास कुछ भी माल नहीं, पर जो समाचार पत्रों में बड़े लम्बे चौड़े विज्ञापन दिये रहते हैं, जिनके देखने से जान पड़ता है कि वे महाशय जगतसेठ ही होंगे और उनकी दूकान में सभी पदार्थ विद्यमान होंगे। ऐसे लोग अपना ठीक ठीक पता न लिखकर केवल "कलकत्ता या बम्बई" लिख देते हैं जिससे दो काम सिद्ध होते हैं। एक तो विज्ञापन पढ़नेवाले लोग समझते हैं कि यह कोई बड़ा नामी सौदागर है और दूसरे यदि कोई उनके शहर में पहुंच गया और उनकी "दूकान" पर, जिसका कहीं चिन्ह तक वर्तमान नहीं है, जाना चाहा तो उसका कहीं पता नहीं और यों "सौदागर" महाशय की इज्ज़त बची। बाद को उस ग्राहक की चिट्ठी पाने पर कुछ बहाना कर देना बाएँ हाथ का काम है। ऐसे धूर्त लोग डाक घर से अपनी चिट्ठियाँ अपनेही कल्पित नामवाले कल्पित सौदागर के चपरासी बनकर ले आते हैं। यथा मान लीजिये कि रामनाथ नामक एक धूर्त ने "राबर्टसन ऐंड कम्पनी" के कल्पित नाम से समाचार पत्रों में बड़े चड़कीले भड़कीले विज्ञापन दे दिये। यद्यपि उक्त "राबर्टसन ऐंड कम्पनी" कोई वास्तविक कम्पनी है ही नहीं और न उसकी कहीं कोई भी दूकान है, परन्तु उस रामनाथ ने "मैनेजर, राबर्टसन ऐंड कम्पनी" के नाम से एक पत्र डाक बाबू के नाम लिखा कि "कृपया हमारे पत्र इत्यादि हमारे इस चपरासी को दे दिया करिए"। अब चपरासी तो कोई है नहीं; स्वयं रामनाथ जी चपरासी बनकर

* कुछ काल से झाँसी में भी दो विज्ञापनबाज़ आकाश-पाताल एक कर रहे हैं। हम यहां कोई १६ वर्ष से हैं; परन्तु इन लोगों हके मकोआन तक दर्शन भी नहीं हुए। इन विज्ञापनबाज़ों में कोकशास्त्र बेचनेवाले कोई बाबू बृजवासीलाल मुख्य हैं-स० सं०।

ये पत्र डाक बाबू के पास ले गये और प्रतिदिन एक घर "राबर्टसन ऐंड कम्पनी" की डाक लेने लगे। उधर मूर्ख लोग उनके विज्ञापन समाचार पत्रों में पढ़ पढ़ उनसे अनेक "अद्भुत पदार्थ एवं मरे हुए लोगों को पुनर्जीवित करनेवाली ओषधियाँ" धड़ाधड़ मँगाने लगे। अब रामनाथजी उन लोगों के पत्र "राबर्टसन ऐंड कम्पनी" के चपरासी बनकर डाकख़ाने से प्रतिदिन लाने लगे और उनमें जिस वस्तु की माँग हुई वही बाज़ार से ख़रीदकर उन्होंने वी० पी० द्वारा अपने "अनुग्राहक ग्राहकों" के नाम चलती की और बीच में गुरु का भला चङ्गा लाभ उठाया, क्योंकि जो वस्तु बाज़ार में एक रुपए को मिली, उसे उन्होंने पाँच रुपए की कहकर अपने ग्राहकों को "कौड़ियों में अशर्फ़ियों का माल लुटाते" ही हैं!!! न जाने कितने भोले आदमी इसी भाँति प्रति दिन ठगे जाते हैं! कुछ दिन हुए कलकत्ते की पुलिस ने ऐसे अनेक विज्ञापन देनेवालों का पता लगाया है जिनकी कोई दूकान नहीं; परन्तु जो बड़ी बड़ी दूकानें रखने के विज्ञापन देकर, बाज़ार से सामान ख़रीद करके ड्योढ़े दूने दामों पर उसे बाहर भेजकर लोगों को ठगते हैं।

ऐसेही कुछ लोग अपनी "अमूल्य दवाओं की बिक्री के लिए एजेण्टों की आवश्यकता" के विज्ञापन दे देते हैं। जब किसी आदमी ने उन्हें एजेण्ट बनने का प्रार्थना पत्र भेजा तो उन्होंने उसे लिख भेजा कि "दो सौ रुपए की नक़द ज़मानत आपको देनी होगी और तब तीन चार सौ तक का माल आपके पास कमीशन सेल पर भेज दिया जायगा। १०) मासिक और बिक्री पर दस सैकड़ा कमीशन आपको दिया जायगा"। उस होनहार "एजेण्ट" ने देखा कि यह तो अच्छा रोज़गार हाथ लगा। बस, जैसे हो सका २००) उस बेचारे ने विज्ञापन देनेवाले महाशय के पास भेज दिये और उन्होंने उसको "बाज़ाब्ता रसीद" छपे फ़ारम पर भेज दी और उसे एजेण्टी का परवाना भी भेज दिया और दवाओं एवं अन्य "अमूल्य पदार्थों",* का एक बकस भी उसके पास आ पहुँचा; पर इसके पश्चात् जब एजेण्ट महाशय अपने मालिक के नाम अपने वेतन अथवा और किसी बात के लिये चिट्ठी लिखते हैं तो जवाब नदारद! एक चिट्ठी लिखी, फिर दूसरी; और फिर तीसरी; पर कुछ भी पता नहीं कि चिट्ठियाँ कहाँ चली जाती हैं!! अब तो एजेण्ट साहब घबराए और यदि बड़ा साहस कर ये कलकत्ता अथवा बम्बई, जहाँ उनके "मालिक" रहते हुए, पहुंचे, तो "मालिक," अथवा उनके सुप्रसिद्ध "कार्य्यालय" का कहीं पता भी नहीं। रो पीट कर "एजेण्ट" महाशय अपने घर लौटे और अपनी बड़ी भाग्य (मूर्खता को नहीं) सराहते हुए सिर पीट कर बैठ रहे!!!

विज्ञापन देनेवाले लोग मूर्खों को ठगने के लिये ऐसी ऐसी बातें बना लेते हैं कि जिन्हें सुनते हँसी आती है। एक "सचित्र रतिशास्त्र" का विज्ञापन हमने देखा है जिसके अन्त में यह लिखा है "जो नर नारी इस ग्रन्थ की रीति से संस्कार करें वह दीर्घजीवी होकर इस लोक में सुख भोगता है; और अन्तकाल में परमगति प्राप्त होता है। यह शङ्कर जी ने कहा है"!!! वाहवा! शाबाश!! रतिशास्त्र की रीति से संस्कार करना क्या मानो सत्यनारायण की कथा सुनना और व्रत करना हो गया कि "इह लोके सुखं भुंक्त्वा चान्ते सत्यपुरं ययौ"। भला इस विज्ञापन में लिखी हुई से भी बढ़कर कोई वाहियात बात सम्भव है? ऐसे ही किसी दवाख़ाने का नाम तो है भारतोद्धारक कार्य्यालय; परन्तु उसमें बिकता क्या है? "जवानी का आनन्द बढ़ानेवाली" और ऐसीही अन्य दवाइयां! इसीमें भारत का उद्धार होगा?

अनेक महाशय "दवा के फ़ायदा न करने पर दाम फेर देने अथवा सैकड़ों मुद्रा जुरमाना देने" के

* अवश्यही वे पदार्थ "अमूल्य" अर्थात् जिनका कुछ भी मूल्य न हो, होते हैं, क्योंकि प्रायः वे सबके सब कूड़ा करकट मात्र हुआ करते हैं।

विज्ञापन प्रकाशित करा देते हैं। वे यह सोचते हैं कि इस भाँति विश्वास मानकर लोग उनकी दवाएं खूब खरीदेंगे; पर नालिश करनेवाला कोई विरला ही उठ खड़ा होगा। और वास्तव में ऐसाही होता है। जिससे उन धूर्त्तों को सैकड़ों हज़ारों रुपए मुफ़्त में हाथ लग जाते हैं। यदि कोई आदमी ऐसा "झगड़ालू" हुआ कि उनपर नालिश करही दी तो इन बातों का साबित करना उसे कठिन हो जायगा कि (१) दवा का अनुपान ठीक ठीक हुआ; (२) पथ्यापथ्य का अच्छा विचार रक्खा गया; (३) अन्य प्रकार का कोई गड़बड़ नहीं होने पाया। इत्यादि। इत्यादि। फिर यदि पाँच हज़ार मुद्रा ठगने के पश्चात् विज्ञापनदाता महाशय को सौ दो सौ मुद्रा किसी को देना ही पड़ गया तो क्या कोई बड़ी बात हो गई ?

एक समाचार पत्र में हमने एक बड़ा ही विचित्र विज्ञापन देखा जिसे पूरी जालसाज़ी कहनी चाहिये। उसमें लिखा था "१००) रुपया नगद, २५) को आठ-रोज़ा चाँदी की घड़ी, रिस्टवाच, वी टाइम पीस, इत्यादि इनाम में देंगे। नियम के लिये एक आने का टिकट भेजिये"। इसे देखते ही हम जान गए कि इसके प्रकाशक ने अवश्यही बड़ी चालाकी खेली है और -) का टिकट पाकर वह अपनी दूकान का सूचीपत्र भेज देने के अतिरिक्त कुछ न करेगा और सूचीपत्र में लिखा होगा कि "यदि हमारे माल में कोई कुछ गड़बड़ साबित कर दे तो उसे पूर्वोक्त वस्तुएँ इनाम दी जायँगी"; अथवा ऐसीही कोई और बात। इस लेख में परिणाम लिखने के ही निमित्त हमने आध आने के लिफ़ाफ़े में -) के टिकट भेजे, पर उसका हमें कुछ उत्तर तक न मिला। कदाचित् विज्ञापन-प्रकाशक महाशय ने इसी चालाकी से उसको प्रकाशित कराया हो कि योंही सैकड़ों हज़ारों आने हाथ लग जायँगे। सुनते हैं ऐसेही किसी महापुरुष जी ने एक बार ऐसा विज्ञापन प्रकाशित कराया था कि "आध आने का टिकट भेजनेवाले को हम रुपया कमाने की युक्ति मुफ़्त में लिख भेजेंगे"। फिर क्या था, हज़ारों आदमियों ने उनके पास आध आध आने के टिकट भेजे; अन्त में धूर्तशिरोमणि जी ने उसी समाचार पत्र में प्रकाशित करा दिया कि "मैंने जो विज्ञापन दिया था सो भी रुपया कमाने की ही एक युक्ति थी"। बस, सबको उन्होंने रुपया पैदा करने की तरकीब "मुफ़्त में" बता दी ! इस कथा पर विश्वास तो नहीं आता; पर सम्भव है कि अँगरेज़ी के आरम्भ काल में ऐसा हुआ हो।

समाचार पत्रों में विज्ञापनों के प्रकाशित होने से सर्वसाधारण को एक लाभ अवश्य होता है कि समाचार पत्रों को इनके द्वारा अच्छी आय हो जाती है जिससे वे ग्राहकों को बहुत कम मूल्य पर दिये जा सकते हैं; नहीं तो बड़े बड़े साप्ताहिक पत्र दो दो ढाई ढाई रुपये साल में कदापि न मिल सकते; न कि पाँच सात सौ पृष्ठों की पुस्तकों के ऊपर से उपहार भी ! पर इसमें भी सन्देह नहीं कि विज्ञापनोंही की बदौलत अपढ़ों और कुपढ़ों में यह बात प्रसिद्ध है कि "अख़बार तो निरे झूँठि होति हैं"। वे लोग विज्ञापनों को भी समाचार ही समझते हैं।

बड़ी लज्जा की बात है कि बहुधा अश्लील* विषयों के ही विज्ञापन अधिक देखने में आते हैं। दो प्रतिष्ठित साप्ताहिक हिन्दी समाचारपत्रों की एक एक प्रति हमने बिना किसी हिसाब के पुरानी फ़ाइल में से अचानक उठाली तो गणना करने पर उनमें विज्ञापनों की व्यवस्था यों निकली—

(१) "एक अन्वेषण", (२) आढ़त, व (३) कलों के दो दो विज्ञापन। (४) बाजा, (५) गानविद्या, (६) रुद्राक्ष की माला व (७) "आवश्यकता" के तीन तीन। (८) सर्व रोग व (९) असबाब के चार चार। (१०) घड़ी के पाँच। (११) मञ्जन, (१२) पान का मसाला व (१३) तम्बाकू के चौदह। (१४) फलित ज्योतिष, (१५) तन्त्र व (१६) जादू के उन्नीस।

* 'सरस्वती' में हमलोग अश्लील विज्ञापन नहीं छापते। इसीलिये इस पत्रिका में विज्ञापनों की कमी है। सैकड़ों अश्लील विज्ञापन हमने, घाटा सहकर भी, लौटा दिये हैं।— मे० स०

(१७) धर्म ग्रन्थों के तीस । (१८) स्फुट पुस्तकों के तीस । (१९) पन्द्रह प्रकार के भिन्न भिन्न रोगों की औषधियों के सत्तावन । और (२०) अश्लील विषयों के आप जानते हैं कितने ? न दो, न चार, न दस, न बीस, वरन् इकसठ !!! सब मिलाकर १५ प्रकार के रोगों की दवाओं के विज्ञापन जोड़ कर भी एकमात्र गुप्त (अश्लील) विज्ञापनों से कम ठहरते हैं; और जो धर्म हिन्दुओं का जीवन से भी बढ़कर अमूल्य पदार्थ कहा जाता है, जिसपर हमारे साप्ताहिक पत्र अपना प्रायः आधे से अधिक आकार प्रति सप्ताह अर्पण करते हैं और जिसके सामने हिन्दू और किसी चीज़ की लेश मात्र भी परवा नहीं करते, उस (धर्म) से अश्लीलता का नम्बर दूने से भी बढ़ा हुआ है !!! बस, इसीसे देश की दशा और सभ्यता पर विचार कर लीजिये ।

जो हम लोगों की दशा है उसपर यहां कुछ विशेष लिखने की आवश्यकता नहीं । यहां पर यही कहना है कि विज्ञापनों की केवल चड़क भड़क में पड़ उनपर विश्वास कर बैठना और इस भाँति अपना धन वृथा फूँकना बड़ी भूल की बात है । इस समय ठगविद्या की भरमार मची है; मिथ्या बोलने में लोगों को प्रायः बहुत कम आना कानी होती है । चार पैसे के लिए संसार को धोखा देना बुद्धिमानी का लक्षण समझा जाता है । सो विज्ञापन रूपी अगियाबैताल के पीछे उसकी चमक देखकर कदापि न दौड़ना चाहिए; पूरी जाँच किये बिना किसी वस्तु में अपना धन न फेंकना चाहिये । मुख्यतः हम दवाओं के विषय में कहते हैं कि जब रोगी को देखकर उसका सब हाल जानकर पूर्ण विचार करने पर भी वैद्य, हकीम, एवं डाकृर अनेक रोगियों को आराम नहीं कर पाते, तब एक दवा-विशेष से किसी रोगविशेषवाले सभी रोगी कैसे अच्छे हो सकते हैं ? बुख़ार अथवा खाँसी अथवा अन्य किसी रोग पर विचारिये कि वे के प्रकार के होते हैं ? देश, काल, व स्वभाव के प्रत्येक रोगी-पर क्या क्या प्रभाव पड़ते हैं ? किन किन कारणों से रोग उत्पन्न होते हैं ? तब किसी रोग विशेष के सभी रोगियों को एकही दवा कैसे लाभ पहुंचा सकती है ? अतः इस विषय पर लोगों को बड़ी सावधानता से काम करना चाहिये । यहाँ पर हमें नवयुवकों को विशेष रूप से चेतावनी देना है कि अश्लील विज्ञापनों के फन्दे में फँसकर वे अपना धन न फूँकें और (जैसा कि कभी कभी हो जाता है) आजन्म के लिये कोई विपत्ति अपने सिरपर न बुला लें, क्योंकि बिना किसी वास्तविक आवश्यकता के दवाएं लाभ के ठौर उलटी हानि अधिक करती हैं । "स्तम्भन बटी" इत्यादि के फेर में पड़ना मूर्खता की पराकाष्ठा समझनी चाहिये । आवश्यकता होने पर भी विज्ञापन देखकर छिप के औषधियाँ मँगाने की अपेक्षा किसी अच्छे वैद्य या डाकृर का इलाज करनाही उचित है । ऐसी दशा में लज्जावश विज्ञापनों के फेर में पड़ जाना मानो जले पर नमक छिड़कना है । विज्ञापनों में जैसी लम्बी लोग तानते हैं, प्रायः उसका दशमांश भी गुण उत्तम से उत्तम दवाओं में नहीं होता और ठगों की झूठी दवाइयों को सेवन करने से तो प्रायः लोगों को सिवाय हाय हाय करने और सिर पीटने के और कुछ भी हाथ नहीं लगता । हम यह नहीं कहते कि सभी विज्ञापन झूठे होते हैं । पर इसमें सन्देह नहीं कि उनमें से अधिकांश ऐसे अवश्य होते हैं और उनसे लोगों को बहुत बचना चाहिये ।

श्यामविहारी मिश्र और
शुकदेवविहारी मिश्र ।

कर और सिरमयी मछली ।

रत्नाकर-समुद्र-जिस प्रकार अनेक रत्नों का घर है, उसी प्रकार वह अनेक अद्भुत अद्भुत जीवों का भी घर है । ह्वेल के समान भयङ्कर और विशाल-शरीरधारी जीव भी उसमें पाये जाते हैं और मोती के समान मनोहर रत्न भी उसमें पाये जाते हैं । समुद्र में अनन्त जीव वास करते हैं । कोई कोई उनमें से ऐसे आश्चर्यजनक और डरावने

आकार के होते हैं कि केवल उनका चित्र ही देखकर डर लगता है। अगले पृष्ठ पर जो चित्र आप देख रहे हैं वह एक अत्यन्त भयानक और कुरूप मछली का है। उसका शरीर विशेष करके सिर और पैरों ही में विभक्त है; आँख और मुख को छोड़ उसके और कोई अवयव नहीं दिखलाई देते। चित्र के नीचे का भाग उसका सिर और हाथी की सूंड़ के समान ऊपर का भाग उसके पैर हैं। पैर गिनती में आठ हैं। इन पैरों के बल समुद्र के तल में वह चलती भी है और इनसे वह अपना शिकार भी पकड़ती है। परन्तु इन शुण्डाकार अवयवों से यह पैरों का काम कम और भुजाओं का अधिक लेती है; इसी-लिए उसे कर (हाथ) और सिरमयी मछली कहना
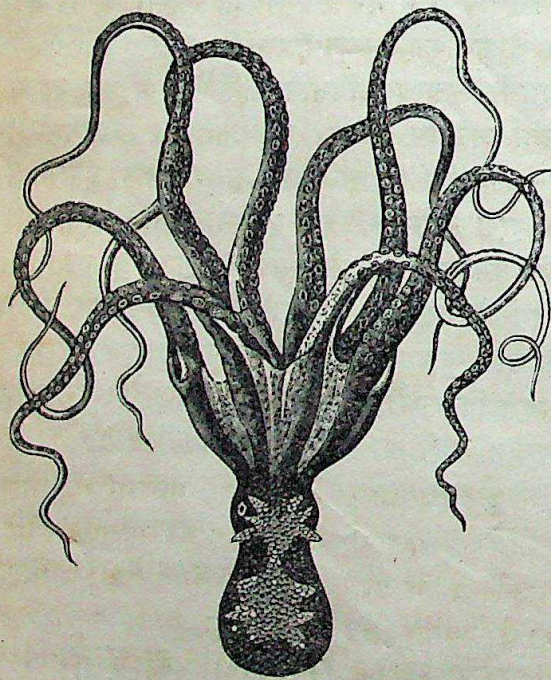
ही उचित है। किसी किसी समुद्र में ये मछलियाँ बहुतही विशाल आकार धारण करती हैं; वे इतनी बड़ी हो जाती हैं कि उनके मृतक देह तक के पास किसीको जाने का साहस नहीं होता।

इस मछली की भुजाओं में प्राणनाशक शस्त्र तो देखिए। ये शस्त्र प्याले के आकार के हैं; इनको दूसरे जीवों के शरीर में बलपूर्वक चिपका कर, यह मछली, उन्हें दृढ़ता से पकड़ लेती है। इन शस्त्रों से वह पकड़े हुए जीव का रुधिर नहीं चूसती; परन्तु ये चूषक ही कहलाते हैं। इनकी सहायता से वह शिकार के ऊपर अपनी भुजायें इतना निकट चिपका देती है कि फिर वे किसी प्रकार वहां से नहीं हिल सकतीं। जब यह मछली किसी दूसरी मछली अथवा किसी दूसरे जीव को पकड़ कर उसपर अपनी भुजायें लगा देती है तब हज़ार प्रयत्न करने पर भी, वह उसे नहीं छोड़ती। ऐसी अवस्था में उसकी भुजायें चाहै काट कोई भले ही डालै; परन्तु अपने मन से वह उनको कदापि ढीली न करैगी। इसलिए, इस मछली की भुजाओं का आलिङ्गन पाकर फिर कोई जीव किसी प्रकार जीता नहीं बच सकता।

किसी किसी मछली की दो भुजायें औरों की अपेक्षा कुछ अधिक लम्बी होती हैं। इसके प्रत्येक चूषक के बीच में एक एक टेढ़ा काँटा होता है। इन काँटों को चिकने शरीरवाले जीवों का देह में प्रवेश करके वह उन्हें अपनी भुजाओं से दृढ़ता के साथ पकड़ लेती है और तत्कालही उसे अपने विकराल मुख तक पहुंचा देती है। इसके मुख में तोते की चोंच के आकार की एक कठिन चोंच सी होती है। पकड़े हुए जीव के ऊपर यदि कछुए का सा कड़ा छिलका होता है तो वह उसे इस प्रचण्ड चोंच से चूर चूर कर डालती है। इसका जबड़ा मांस में छिपा रहता है; परन्तु शिकार मुख में पड़ते ही वह शीघ्र शीघ्र खुलने और बन्द होने लगता है। चाहै जितना बड़ा जीव हो, इसके विकराल मुख में पड़तेही एक पल भर में, वह भीतर चला जाता है। इसकी जिह्वा की एक ओर बहुत से काँटे होते हैं; वे पीछे को झुके रहते हैं। जब यह कुछ खाने लगती है तब ये काँटे इसके भक्ष्य के टुकड़ों को भीतर की ओर ले जाने में सहायता देते हैं। इसके दो आँखें होती हैं; उनकी बनावट ऐसी बुरी होती है कि उनकी ओर देखा नहीं जाता। इन आँखों से यह मछली एकही साथ, एकही बेर में सब ओर देख सकती है।

इस मछली के शरीर में हड्डियां नहीं होतीं। एक प्रकार के निर्जीव छिलके होते हैं। ग्रैार जीवों की हड्डियों के समान, उनमें बढ़ने की शक्ति नहीं होती। उनका शरीर से कोई सम्बन्ध नहीं रहता। जैसे ग्रैार मछलियां फेफड़े के द्वारा साँस लेती हैं वैसे ही यह भी लेती है। सांस लेने के लिए इसके शरीर में एक प्रकार की नली होती है; यह नली इसके देह में छिपी रहती है; दिखलाई नहीं देती। मनुष्य के फेफड़े के समान यह नली भी प्रसृत ग्रैार ग्राकुञ्चित होती है। इसके दो भाग होते हैं; एक से पानी भीतर जाता है ग्रैार दूसरे से बाहर निकलता है। कभी कभी यह मछली, श्वासोच्छ्वास लेते समय, बड़े वेग से, पानी को इस नली से बाहर फेंकती है। ऐसा करते समय, कभी कभी, वह तीर के समान, समुद्र के ऊपर, दैाड़ती है। यही नहीं; कभी कभी, वह ऊपर की ग्रोर, कुछ दूर तक उड़ भी जाती है, ग्रैार फिर पानी में गिर पड़ती है।

इस मछली की एक जाति बड़ीही भयङ्कर होती है। इसे करिकराकार मछली कहते हैं। इसकी भुजायें हाथी की सूंड के समान बहुत लम्बी ग्रैार भयानक होती हैं। ये मछलियां प्रायः सब समुद्रों में पाई जाती हैं। वे ग्रकेली नहीं रहतीं; उनके झुण्ड के झुण्ड समुद्र में दैाड़ा करते हैं। परन्तु करिकराकार मछली में यह विशेषता है कि उसे एकान्त ग्रधिक प्रिय है; उसे ग्रैारों का साथ ग्रच्छा नहीं लगता। समुद्र के किसी पार्वतीय किनारे, चट्टानों के बीच में, यह ग्रकेली पड़ी रहती है ग्रैार ग्रपनी भुजाग्रों को, चारों ग्रोर, शिकार पकड़ने के लिए, फैलाए रखती है। दोनों प्रकार की ये मछलियां बड़ी खादक होती हैं। उनसे समुद्र का कोई भी जीव नहीं बचता। जब वे किनारे पर ग्रा जाती हैं तब वे किनारे की सब मछलियों को खा जाती हैं; कछुवों के लिए एक भी शेष नहीं रहने देतीं। ये ग्रत्यन्त निर्दयी भी होती हैं; बिना भूख भी ग्रनेक जीवों को मार डालती हैं ग्रैार मार कर ग्रपनी हिंस्र-वृत्ति को तृप्त करती हैं।

जितने जीव हैं सबके लिए ईश्वर ने शत्रुग्रों से बचने के उपाय की योजना की है। लम्बी भुजाग्रों के ग्रतिरिक्त, इस मछली को, ग्रपनी रक्षा करने के लिए, ईश्वर ने, एक प्रकार का काला रंग दिया है। इस काले रंग की एक थैली इसके शरीर में सर्वदा प्रस्तुत रहती है। जब कोई प्रबल शत्रु इसपर ग्राक्रमण करता है तब यह इस रंग को पानी पर फेंक फेंककर उसे इतना काला कर देती है कि उसके भीतर इसे कोई देखही नहीं सकता। इस काले पानी के भीतर से वह झटपट भग जाती है ग्रैार उसके शत्रु ग्रपनासा मुँह लिए रह जाते हैं। यह काला रंग चित्रकारी में बहुत काम ग्राता है। यह कभी फीका नहीं पड़ता।

यह मछली ग्रनन्त ग्रण्डे देती है। ग्रण्डों के गुच्छे होते हैं ग्रैार सामुद्रिक लताग्रों से वे लटका करते हैं। ग्रण्डों से सैकड़ों मछलियां निकलती हैं ग्रैार निकलते ही लूट मार करना ग्रारम्भ कर देती हैं। उनको सिखलाने की ग्रवश्यकता नहीं होती।

देशव्यापक भाषा।

[२]

संयुक्त प्रान्त, मध्यप्रदेश, मध्यभारत, राजपूताना ग्रैार बिहार की भाषा हिन्दी है। पञ्जाब में जो भाषा बोली जाती है वह भी हिन्दी ही है; क्योंकि उर्दू कोई भिन्न भाषा नहीं। वह हिन्दी ही की एक शाखा है। हिन्दी का ग्रैार उर्दू का व्याकरण एकही है। फ़ारसी ग्रैार ग्ररबी के शब्दों की प्रचुरता होने से उर्दू उनलोगों की समझ में ग्रच्छी तरह नहीं ग्रा सकती जिनको इन दो भाषाग्रों के शब्दों का थोड़ा बहुत ज्ञान नहीं है। उर्दू की यदि यह कठिनता निकाल दी जावे तो उसमें ग्रैार बोलचाल की साधारण हिन्दी में कुछ भी ग्रन्तर न रहे। इस लिए उर्दू को हिन्दी ही

समझना चाहिए। मुसल्मान नागरी अक्षरों के विरोधी हैं; परन्तु यदि वे इस देश को अपना देश समझते हैं और इसमें सजीवता लाकर हिन्दुओं के साथ साथ अपना भी कल्याण करना चाहते हैं, तो उनको विरोध छोड़ देना चाहिए। दसही पन्द्रह दिन में वे नागरी अक्षर सीख सकते हैं और उन अक्षरों में छपी हुई सरल पुस्तकें और समाचार पत्र पढ़ सकते हैं। इन प्रान्तों के मदरसों में तो गवर्नमेण्ट ने फ़ारसी अक्षरों के साथ नागरी अक्षर भी सिखलाये जाने का नियम कर दिया है। अतएव मुसल्मानों को नागरी अक्षर पढ़ने और शुद्ध हिन्दी बोलने तथा लिखने में अब बहुत ही कम कठिनाई पड़ेगी।

हिन्दोस्तान के उत्तर में केवल दोही भाषायें प्रधान हैं। एक हिन्दी, दूसरी बँगला। बँगला भाषा बंगाल के निवासी बोलते हैं। यह भाषा मैथिल भाषा से मिलती है; और मैथिल भाषा हिन्दी ही है; कोई पृथक भाषा नहीं। बँगला में संस्कृत शब्दों का प्राचुर्य्य है। इस लिए हिन्दी जाननेवालों को उसे सीखने में कम प्रयास पड़ता है। बँगला के क्रियापद और विशेष विशेष संज्ञायें जान लेने ही से हिन्दीवाले उसे भली भांति समझ सकते हैं। अतएव जब हिन्दी जाननेवालों के लिए बँगला इतना सरल है तो बंगालियों के लिए हिन्दी और भी सरल होनी चाहिए। और वह हैही सरल। बंगाल के निवासी मध्यप्रान्त, मध्यभारत, विहार और पञ्जाब आदि में भरे पड़े हैं। उनको सर्वदा हिन्दी बोलनेवालों से काम पड़ता है। वे ख़ूब हिन्दी बोल सकते हैं। जो लोग बंगाल से बाहर नहीं आये उनकी भी समझ में हिन्दी आजाती है। क्योंकि क्रियापदों को छोड़ कर हिन्दी और बँगला में और कोई विशेष भेदही नहीं। उड़ीसा की भाषा उड़िया कहलाती है। वह बँगला ही की एक शाखा है। इसलिए उसके विषय में अलग विचार करने की आवश्यकता नहीं। यदि कोई उड़िया दूसरे प्रान्तों में यात्रा के लिए निकलता है तो उसे हिन्दीही से काम पड़ता है। वह चाहे हिन्दी न बोल सकै; परन्तु दूसरे प्रान्तवाले उससे हिन्दीही में बातचीत करते हैं। उड़िया ही को नहीं, और प्रान्तवालों की भी परित्राता हिन्दीही है। महाराष्ट्र, गुजरात, तैलङ्ग और द्रविड़ आदि प्रदेशों के रहनेवाले जब भिन्न भाषा बोलने वाले प्रान्तों को जाते हैं तब उनको हिन्दीही से काम पड़ता है। हिन्दी ही उनकी सहायक होती है। अतएव सबको सहायता देनेवाली यह दयामयी हिन्दीही देशव्यापक भाषा होने के योग्य है। उसे दस करोड़ लोग बोलते हैं और कोई दसही करोड़ समझ सकते हैं। शेष दस करोड़ उसे थोड़ेही प्रयास में सीख सकते हैं। जिस भाषा को इस विस्तृत देश के दो तिहाई लोग समझ सकें उसके देशव्यापक होने की योग्यता के विषय में और अधिक प्रमाण की आवश्यकता ही क्या है?

हिन्दोस्तान के दक्षिण में चार भाषाओं की प्रधानता है—मराठी, गुजराती, कनारी और तामील। इनमें से मराठी भाषा हिन्दी से बहुत कुछ मिलती है। सबसे बड़ी साम्यता-साम्यता क्यों तद्रूपता-तो यह है कि मराठी भी देवनागरी ही लिपि में लिखी जाती है; इस लिये मराठी बोलनेवाले बिना प्रयास हिन्दी की पुस्तकें पढ़ सकते हैं; और हिन्दी बोलनेवाले मराठी की पुस्तकें पढ़ सकते हैं। बँगला की तरह मराठी में भी क्रियापदों और विशेष विशेष संज्ञाओं को छोड़ कर शेष संस्कृत ही के शब्द रहते हैं। अतएव थोड़ेही प्रयास में महाराष्ट्र, हिन्दी, और हिन्दी बोलनेवाले मराठी सीख सकते हैं। महाराष्ट्रों को हिन्दी सीखने के लिए चार पांच महीने काफ़ी समझना चाहिए। सीखने की विशेष आवश्यकता भी नहीं है। दो चार महीने हिन्दी के समाचार पत्र और पुस्तकें धीरे धीरे पढ़ते रहने ही से वे हिन्दी का अच्छा ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं। महाराष्ट्रों को हिन्दी बोलने और सुनने का बहुत अवसर मिलता है। उनमें गानेवाले बहुधा हिन्दी के गीत गाते हैं। हिन्दी के पद और हिन्दी की ठुमरी

उनको बहुत पसंन्द हैं। हरिदास लोग महाराष्ट्रों में कथा कहते हैं; वे भी बहुधा हिन्दी के दोहे, पद और घनाक्षरी कथा में बीच बीच कहते हैं। इसके सिवाय महाराष्ट्रों को हिन्दी में व्याख्यान भी कभी कभी सुनने को मिलते हैं। हिन्दी, महाराष्ट्रों के लिए नई नहीं है। उससे उनका सम्पर्क सदैव बना रहता है। अतएव यदि वे हिन्दी को अपनी भाषा बनालें तो उनको किसी ऐसी कठिनाई से न सामना करना पड़े जो सहजही में हल न हो सके। हिन्दी और मराठी की वाक्य-रचना की एकही रीति है। व्याकरण में भी कोई विशेष अन्तर नहीं; अन्तर इतनाही है कि महाराष्ट्र तीन लिङ्ग मानते हैं और हमलोग केवल दो—स्त्री लिङ्ग और पुल्लिङ्ग; नपुंसक लिङ्ग हम नहीं मानते। परन्तु यह अन्तर कोई अन्तर है? जिस महाराष्ट्र ने कभी हिन्दी नहीं पढ़ी, उससे यदि किसी हिन्दी समाचार पत्र का एक कालम (स्तम्भ) पढ़ाया जावै तो वह भी उसका भावार्थ अवश्य समझ जायगा।

महाराष्ट्रों की तरह गुजराती भी सहजही में हिन्दी सीख सकते हैं। यद्यपि गुजराती लिपि देवनागरी लिपि से कुछ भिन्न है; तथापि उसकी भिन्नता बहुतही थोड़ी है। देवनागरी लिपि जानने वाले दोही तीन दिन में गुजराती लिपि सीख कर उसे अच्छी तरह पढ़ सकते हैं। गुजराती अक्षरों का सिर खुला रहता है; उनमें ऊपर लकीर नहीं रहती। गुजरात राजपूताने से लगा हुआ है। इस लिए गुजरातियों को हिन्दी बोलनेवालों से बहुत काम पड़ा करता है। उनमें से लिखे पढ़े लोग तो हिन्दी समझते ही हैं; बेपढ़े भी थोड़ा बहुत समझ लेते हैं।

जिसमें हिन्दी लिखी जाती है उस देवनागरी लिपि से, गुजराती के समान, बँगला लिपि से भी बहुत कम अन्तर है। बंगाल और गुजरात में धर्म्म-सम्बन्धी प्रायः सभी संस्कृत ग्रन्थ देवनागरी लिपि में हैं। संस्कृत का प्रचार भी इन प्रान्तों में कम नहीं है। सभी लिखे पढ़े लोगों को देवनागरी लिपि का बहुधा बोध होता है। अतएव यदि गुजरात और वङ्गदेश में गुजराती और बँगला के स्थान में देवनागरी लिपि काम में लाई जावै तो क्या ही अच्छी बात हो; थोड़ेही दिनों में हिन्दी की ओर मनुष्यों की अधिक प्रवृत्ति हो जावै और हिन्दी के प्रचार में बड़ी सुविधा हो। वङ्गदेश के निवासियों को हिन्दी समझने में कोई कठिनाई नहीं पड़ती और न गुजरातियों ही को पड़े। और यदि गुजरातियों को कुछ कठिनाई पड़े भी तो महीने पन्द्रह दिन हिन्दी के पत्र और पुस्तकें पढ़नेही से वह कठिनाई दूर हो सकती है। अतएव यदि महाराष्ट्र, गुजराती और बंगाली अपने अपने प्रान्त में हिन्दी का प्रचार करदें तो इस विस्तीर्ण देश के ¾ भाग में हिन्दी प्रचलित हो जावै। इससे देश का परम कल्याण हो; शीघ्रही देश में सचेतनता आजावै; ऐक्य की वृद्धि हो; और परस्पर सहानुभूति जागृत हो उठै। बंगवासियों में विद्या का अधिक प्रचार है। उनमें बड़े बड़े विद्वान, बड़े बड़े देशहितैषी और बड़े बड़े महानुभाव विद्यमान हैं। क्या वे इस बात का विचार न करेंगे? करना तो चाहिए। उन्हींको, इस विषय में, अग्रणी होना चाहिए। यदि वे सचमुच महानुभाव हैं; यदि सचमुचही विद्या से उनके अन्तःकरण परिमार्जित हो गये हैं; यदि देशहितचिन्तन की एक भी कणा सचमुचही उनके हृदय में प्रज्वलित है; तो अवश्यमेव उनको इस कल्याणकारी कार्य में शीघ्र अग्रगामी होना चाहिए।

ऊपर हमने लिखा है, कि इस देश की भाषायें दो स्थूल विभागों में विभक्त हैं; एक आर्य, दूसरी द्राविड़। आर्यभाषाओं का विचार हो चुका; अब द्राविड़ अर्थात् अनार्य्य भाषाओं के सम्बन्ध में हमें कुछ कहना है।

अनार्य्य भाषाओं में कनारी और तामील मुख्य हैं। ये दोनों भाषायें संस्कृत से कोई समता नहीं रखतीं। ये बिलकुलही भिन्न भाषायें हैं। इनकी लिपि भी संस्कृत, अर्थात् देवनागरी, लिपि से भिन्न

है। इनमें से कनारी का प्रचार बहुत कम है। वह विशेष करके माइसोर ग्रैार उसके ग्रास पास के ज़िलें में बोली जाती है। परन्तु तामील बोलने वालें की संख्या ग्रधिक है। यह भाषा मदरास हाते में बहुत ग्रधिकता से बोली जाती है। भारत-वर्ष के एक ग्रष्टमांश में तामील का प्रचार है। किसी का मत है कि मदरास प्रान्त के निवासी ग्रार्य्यों की सन्तान नहीं है; इस लिए उनकी भाषा ग्रैार उनकी लिपि ग्रार्य्यों की भाषा ग्रैार लिपि से नहीं मिलती। किसी किसी का मत है कि वे ग्रार्य्यों ही की सन्तान हैं; परन्तु ग्रनार्य्यों के हटाते हटाते वे दक्षिण में बहुत दूर तक चले गये, ग्रैार वहां से ग्रागे ग्रनार्य्यों के कहीं जाने का मार्ग न रहने के कारण, ग्रार्य ग्रैार ग्रनार्य पास पास रहने लगे। इस सतत सहवास के कारण ग्रार्यों में ग्रनार्य्यों की भाषा का प्रचार हो गया।

ग्रैार प्रान्तों की ग्रपेक्षा मदरास में धार्म्मिक शिक्षा का ग्रधिक प्रचार है। शङ्कर, वल्लभ, रामानुज ग्रादि के ग्रनुयायी उस तरफ़ ग्रधिक हैं। ये तीनों महात्मा उस प्रान्त में बहुत काल तक रहे भी हैं। इस कारण वहां पहलेही से धार्म्मिक शिक्षा की ग्रोर लोगों की प्रवृत्ति ग्रधिक है। हमारे वेद, पुराण, शास्त्र, उपनिषद् सब संस्कृतही में हैं। इसलिये संस्कृत पढ़े बिना उनका ज्ञान नहीं हो सकता। इन्हीं कारणों से मदरास में संस्कृत का पठन पाठन पहले से चला ग्राता है। इसके सिवाय ग्रब गवर्नमेण्ट कालेजों में ग्रंगरेज़ी के साथ संस्कृत की भी शिक्षा दी जाती है। ग्रतएव ग्रंगरेज़ी के विद्वान् नये चाल के मनुष्य, ग्रैार हिन्दू शास्त्रों से परिचय रखनेवाले पुरानी चाल के पण्डित, सभी थोड़ी बहुत संस्कृत भाषा ग्रवश्य जानते हैं। मद-रास की ग्रोर संस्कृत के ग्रनेक बड़े बड़े विद्वान् हुए हैं; ग्रैार ग्रब भी हैं। संस्कृत में समाचार पत्र तक वहां से निकलते हैं। संस्कृत ग्रैार हिन्दी की लिपि एकही है। हिन्दी में संस्कृत के शब्द भी ग्रनेक हैं। ग्रतएव यदि मदरास में हिन्दी भाषा का प्रचार किया जाय तो उसकी लिपि के पढ़ने में बहुत ही कम कठिनाई मनुष्यों के उठानी पड़े। रहा भाषा का ज्ञान; सो वह भी वर्ष ही छ महीने के ग्रभ्यास से हो सकैगा। दो चार वर्ष न लगेंगे। इसलिये वर्ष छ महीने के परिश्रम से ही यदि देश का कल्याण होता हो तो कैान ऐसा ग्रधम होगा, जो उस परिश्रम के उठाना न स्वीकार करेगा?

मराठी की लिपि वही है जो हिन्दी की है। गुजराती ग्रैार बँगला की लिपि भी हिन्दी की लिपि से बहुत कुछ मिलती है। थोड़े ही प्रयत्न से बँगला ग्रैार गुजराती पढ़नेवाले हिन्दी लिख पढ़ सकेंगे। रही तामील ग्रैार कनारी। सो मदरास में संस्कृत का ग्रधिक प्रचार होने के कारण, यदि सर्व साधा-रण के नहीं तो शिक्षित लोगों के तो हिन्दी थोड़े ही समय में साध्य हो सकती है। इससे यह स्पष्ट है कि हिन्दी के देश-व्यापक भाषा बनाना सर्वथा सम्भव है। एक भाषा होने से जो एकता, जो प्रीति ग्रैार जो सहानुभूति उत्पन्न हो सकती है, वह ग्रैार किसी दूसरे साधन से नहीं हो सकती। ग्रतएव हमारे देश-हित-चिन्तक सज्जनों के उचित है कि वे इस विषय का चिन्तन करें; ग्रैारों का चित्त इस ग्रोर ग्राकर्षित करें; ग्रैार हिन्दी के देश-व्यापक भाषा करने के लिये यथासाध्य प्रयत्न करें। यदि देश भर में एक बारही एक भाषा न हो सके तो एक लिपि होने में तो कोई विशेष, ग्रनुल्लंघनीय, कठिनाई नहीं जान पड़ती। एक लिपि हो जाने से हिन्दी के ज्ञाता बँगला पुस्तकों में भरे हुए ज्ञान भाण्डार का ग्रास्वादन कर सकेंगे ग्रैार वङ्गदेश के रहनेवाले महाराष्ट्रभाषा के साहित्य से लाभ उठासकैंगे। इसी प्रकार गुजराती, तामील ग्रैार कनारी ग्रादि भाषाग्रों के ज्ञाता भी परस्पर एक दूसरे के साहित्य से ग्रपने ज्ञान की सहजही में वृद्धि कर सकेंगे। एक लिपि हो जाने से भाषा सम्बन्धी कठिनाइयां बहुत कम हो जाती हैं। यदि दस पाँच शब्दों का ग्रर्थ न भी समझ में ग्राया तो

विषय और सन्दर्भ का विचार करके वाक्य का अथवा लेख का भावार्थ ध्यान में आ जाता है। एक लिपि हो जाने से दूसरे प्रान्तों की भाषायें सीखने में बहुत दिन नहीं लगते। योरप में एकही लिपि है। यही कारण है जो थोड़े ही परिश्रम से वहां वाले फ़्रेञ्च, इटालियन, पोर्चुगीज़, इंगलिश और जर्मन आदि भाषायें सीख लेते हैं। यदि हमारे देश में भी एक लिपि हो जाय और पढ़े लिखे लोग मुख्य मुख्य भाषाओं का ज्ञान प्राप्त करके एक भाषा होने का प्रयत्न करें तो सफलता होने में कोई सन्देह नहीं है। एक भाषा होना सारे देश का कार्य है। इसमें सारे देश की भलाई है। यह समझ कर प्रत्येक देश-भक्त का धर्म्म है कि वह काया-वाचा-मनसा इस विषय में उद्योग करे। उद्योग करने से क्या नहीं होता। उद्योगी पुरुष आल्प्स् और हिमालय की चोटियों पर चढ़ जाते हैं; उत्तरी ध्रुव की यात्रा कर आते हैं; स्वेज़ के समान प्रचण्ड नहर खोद लेते हैं और लङ्का को हिन्दोस्तान से रेल-द्वारा जोड़ देने का भी प्रयत्न सोचते हैं। उद्योगी पुरुष की सहायता ईश्वर भी करता है। उसे किसी न किसी दिन अवश्य यश मिलता है। ईश्वर से हमारी प्रार्थना है कि वह हमलोगों को इस सम्बन्ध में उद्योग करने की बुद्धि और उत्तेजना दे!

[असम्पूर्ण।

माणिक।

पाठकों ने मोती और हीरे का विवरण 'सरस्वती' के गत अङ्कों में पढ़ा होगा। आज हम माणिक का संक्षेप वृत्तान्त आप लोगों के सम्मुख उपस्थित करते हैं।

माणिक भी एक अमूल्य रत्नों में है। इसका रङ्ग लाल होता है। सर्वसाधारण लोग इसे 'मानिक' वा 'मानक' कहते हैं, और उर्दू में 'याक़ूत' और अंगरेज़ी में 'रूबी' (ruby) कहते हैं। इसका स्वच्छ और निर्मल बड़ा नग बहुत ही कम प्राप्त होता है। यदि मिलता भी है तो प्रायः कुछ न कुछ ऐब उसमें रहता है। इस कारण इसका मूल्य बहुत होता है और इसका आदर और माँग भी बहुत है। यदि ५ रत्ती का माणिक स्वच्छ और रङ्गीन हो तो उसी तौल के उत्तम हीरे से उसका मूल्य दसगुण अधिक होगा। छोटे नग तो प्रायः बहुत मिलते हैं पर मान बड़े नग का है। एक रत्ती से कम तौल के नग "चुन्नी" कहलाते हैं और इससे अधिक को माणिक कहते हैं। लालटी और नरम भी इसीके भेद हैं; पर वे कम मूल्य के होते हैं। कोरण्ड के तीक्ष्ण नोक से इन दोनों पर लकीर पड़ जायगी; पर असल माणिक पर न पड़ेगी; यही मुख्य पहचान है। ज्ञात रहे कि कोरण्ड एक प्रकार का कठोर पत्थर है जिसके चूरे से 'हक्काक' लोग रत्नों को खरादते हैं। हीरे से उतर कर यही कठोर पदार्थ है।

उत्पत्तिस्थान।

माणिक की मुख्य और प्रसिद्ध खान ब्रह्मा (Burmah) में है। उत्तम माणिक वहीं के खानों से निकलते हैं। माणिक भी अपनी प्राथमिक अवस्था में, जब तक खरादा न जाय, 'खड' कहलाता है। इसके 'खड' में भी चमक दमक गुप्त रहती है जो खरादने और बनाने पर प्रगट होती है। उक्त देश में २५ वा ३० वर्ग मील एक भूमि है जहां पर माणिक की कई खानें हैं। इनमें भी तीन खान प्रसिद्ध हैं-(१) मोगोक (Mogok), (२) कप्यून (Kapyun or Kyat-pyen) और (३) कल्हे (Kalhe)। ये सब पहाड़ी स्थान हैं जहां एक प्रकार के चूने के पत्थर (limestone) की पहाड़ियां हैं। ये पहाड़ियां २२° ५५″ अक्षांश उत्तर (latitude) और ९६° ३०″ रेखांश पूर्व (longitude) पर स्थित हैं; और समुद्र से ४१०० से ५००० फुट ऊंची पहाड़ियों पर खान हैं जहां से रत्न निकाले जाते हैं। इन पहाड़ियों के किनारे कङ्कड़ों और रोडों में से भी माणिक के खड प्राप्त होते हैं जो चुन चुन कर

अलग सञ्चित कर लिये जाते हैं। मण्डले से १६ मील उत्तर 'सगीम' (Sagym) नामक सङ्गमर्मर की एक पहाड़ी है, उसमें से भी माणिक निकलते हैं; पर वे हलके रङ्ग के होते हैं।

माणिक के साथ नीलम प्रायः बहुत निकलता है और अन्य रत्न जैसे पन्ना, पुखराज इत्यादि भी इन खानों से प्राप्त होते हैं। इनके वर्णन क्रमानुसार अलग अलग लिखे जांयगे।

ब्रह्मा में जहां उक्त खानें हैं, वहां के राजा की ओर से पहले बड़ा पहरा चौकी था। कोई अंगरेज़ वा विदेशी कदापि नहीं जाने पाता था। इन खानों में से जो माणिक निकलते थे उनमें से एक विशेष तौल के माणिक राजा की सम्पत्ति वा स्वत्व गिने जाते थे; और वे राज्यकोष में भेज दिये जाते थे। शेष के माणिक से व्यापार होता था। अब तो इस देश को हमारी सरकार ने अपने अधिकार में लेलिया है। इन खानों का शासन भी सरकार के हाथ में है जिसका ठेका एक कम्पनी को दे दिया गया है। इस कम्पनी को बड़ा लाभ है। यह सौभाग्य हमारे देश भाइयों को कहां प्राप्त हो सकता है?

कहा जाता है कि निर्मल और स्वच्छ माणिक के बड़े नग बहुत ही दुष्प्राप्य हैं; वे कभी कहीं मिल जाते हैं। पर छोटे माणिक तो बहुत निकलते हैं। १० वा १५ रत्ती के निर्दोष और सुरङ्ग माणिक दुर्लभ हैं। वे कदाचित ही देखने में आते हैं। ब्रह्मा देश के माणिक प्रायः उत्तम होते हैं।

सिंहलद्वीप (Ceylon) में भी नीलम के साथ माणिक मिलते हैं; परन्तु इनके रङ्ग मन्द होते हैं। इस द्वीप को तो विधना ने समस्त रत्नों की खानि बनाया है।

हिन्दुस्तान के दक्षिण प्रान्त में जहां कोरण्ड (Corundum) की खान है वहां कभी कभी माणिक के खंड मिल जाते हैं। मदरास के सलेम ज़िला में, मैसूर में और टेनासरिम नदी के तट पर भी माणिक पाये जाते हैं; पर ये सब बहुधा नरम वा लालड़ी होते हैं।

अफ़गानिस्तान में गण्डमक नदी से भी माणिक मिलते हैं। काबुल के आस पास भी कई खानें हैं जहां अब तक अमीर काबुल की ओर से काम होता है; परन्तु तामड़ा इत्यादि प्रायः अधिक निकलते हैं।

इनके अतिरिक्त विदेश अर्थात् आस्ट्रेलिया और उत्तरीय केरोलिना (North Carolina) में भी कोरण्ड की खान से माणिक निकलते हैं। ये छोटे होते हैं और रङ्ग-विहीन होने से निकृष्ट गिने जाते हैं। इनके निकालने की रीति यह है कि खानों में से खोद खोदकर वा पहाड़ी के इधर उधर के कङ्कड़ों को बटोर कर धोते जाते हैं और खड़ों को छांट छांट कर अलग कर लेते हैं।

रासायनिक।

रासायनिक लोग कहते हैं कि माणिक भी एक प्रकार का लाल कोरण्ड वा देशी अलूमिना (alumina) है जो बहुत दुष्प्राप्य है अर्थात् कोरण्ड और माणिक सजातीय हैं। माणिक पारदर्शक और लाल रङ्ग का होता है; और कोरण्ड अपारदर्शक और मैला होता है। यही लाल रङ्ग होने से माणिक कहाता है और नीला रङ्ग होने से नीलम कहाता है। यद्यपि नीलम माणिक से कुछ अधिक कठोर होता है; तथापि वास्तव में ये दोनो एकही पदार्थ हैं। माणिक में जो लाल रङ्ग है वह दग्ध क्रोमक (oxide of chromium) का रङ्ग है जिसका न्यूनाधिक अंश माणिक में रहता है, जिससे गहरे वा हलके रङ्ग का माणिक देखने में आता है। जब माणिक ख़ूब तपाया जाता है तब तो उसका रङ्ग हरा हो जाता है और फिर ठण्ढा होने पर अपना पहला रङ्ग ग्रहण करलेता है, जो दग्ध क्रोमक का धर्म्म है। इससे सिद्ध होता है कि इसमें दग्ध क्रोमक का अंश है। बनावटी और झूठे नग बनाने में यही धातु देकर लाल रङ्ग देते हैं।

रंग।

इसका रङ्ग किर्मिजी, लाल से पीत-रक्त वा गुलाबी तक होता है। कभी कभी नील-रक्त रङ्ग

भी होता है; पर सब से उत्तम रङ्ग इसका वह है जो कबूतर के लोहू सदृश लाल हो। जिसमें स्याही अधिक होती है उसे 'स्याम का माणिक' कहते हैं; क्योंकि स्याम (Siam) में जो माणिक निकलता है वह प्रायः अधिक श्यामता लिये रहता है।

हमारे हिन्दुस्तान के जौहरियों ने और शास्त्रकारों ने इसके १६ छाया वा रङ्ग माने हैं—

(१) वीरवहूटीवत् लाल, (२) अग्नि अङ्गारवत्, (३) अनारदाना, (४) गुञ्जासमान, (५) सिन्धुरिया, (६) पलाशपुष्पवत्, (७) कनेरपुष्पवत्, (८) बन्धूकपुष्पवत्, (९) अबरट, (१०) रुधिरवत्, (११) लाखी, (१२) लोध्रपुष्पवत्, (१३) सारस-नेत्रवत्, (१४) कबूतर के नेत्र समान, (१५ चकोर, (१६) कोयल के नेत्र सदृश लाल।

जो कुछ हो, जितना ही निर्मल और गहरा लाल रङ्ग इसका होगा, उतनाही उत्तम माणिक गिना जायगा और इसी अनुसार उसका मूल्य बढ़ता जायगा। उत्तम माणिक वही है जो (१) निर्मल, (२) सुरङ्ग (३) चिकना, (४) गुरु अर्थात् भारी वा बड़ा हो। जिनमें ये चारो गुण हों और कोई दोष न हो वही माणिक अमूल्य होता है।

वर्ण और दोष।

शास्त्रकारों ने जैसे और रत्नों के चार वर्ण माने हैं इसके भी ४ वर्ण माने है। यद्यपि इनका कोई विशेष फल नहीं है तथापि लिख दिये जाते हैं।

(१) विप्र-जो नीम रङ्ग का सपेदी सहित हो। (२) क्षत्रिय-जो ख़ूब लाल हो। यही रङ्ग अति उत्तम गिना जाता है। इसीको 'रमानी' कहते हैं। (३) वैश्य-जिसमें पीलापन हो। (४) शूद्र-जिसमें कुछ श्यामता हो। माणिक में ८ प्रकार की त्रुटियां होती हैं जिससे उसकी उत्तमता में दूषण आजाता है। इनका जान लेना आवश्यक है; इसलिये पाठकों के सूचनार्थ यहां लिख देना उचित है।

(१) जठर वा बन्द-जो निर्मल और पारदर्शक न हो अर्थात् जिसके पेटे में मल हो। उसे गुम भी कहते हैं।

(२) दूधक-जिसके पेटे में गहरा बादल सा वा दूधसा मैल दीख पड़े।

(३) धूम्र-जिसके पेटे में धूआं सा वा हलका बादल सा मल हो।

(४) कोकिल वा कङ्करहा—जिसमें मधुवत् छीटा हो।

(५) सम्भेद वा भिन्नक-जो टूटा सा वा चटखा सा दीख पड़े।

(६) कर्कर-जिसमें चुरचुरी सा टूटा दिखाई दे।

(७) दुर्पद-जिसके अन्दर श्यामता वा स्याहीहो

(८) विकृत छाया-जिसमें दो रङ्ग हों। इनमें भी ३ दोष ऐसे हैं जो मालिक वा पहननेवाले के विनाश करनेवाले होते हैं। अर्थात् (१) कर्कर, (२) दुरंगा और (३) चीरवाला; ये तीनो निषिद्ध और अशुभ गिने जाते हैं।

बड़े नग।

जो माणिक २४ रत्ती का होता है उसे लाल कहते हैं। शाहजहां बादशाह के पास मुर्गी के छोटे अण्डे के बराबर एक लाल था जिसका वर्णन टेवर्रानियर (Tavernier) ने अपने सफ़रनामे में लिखा है। यह बात प्रसिद्ध है और अब तक पुराने लोगों से सुनने में आती है कि शाहजहां के पास जो लाल था वह जब तैाला गया तब लाल के तोल-परिमाण से कुछ बिस्वे कम हुआ। कुछ बिस्वे कम होने के कारण वह लाल नहीं कहा जा सकता था और उससे बड़ा माणिक कहीं प्राप्त न था; इसलिये शाहजहां ने उसीको परिमाण मानकर अपने यहां के जौहरियों के बाँट सुधरवाए और वही फिर बाज़ार की प्रामाणिक तैाल मानी गई जो अब तक देहली में प्रचलित है। इसीसे वहां के जवाहिरात की तैाल और स्थानों से. बिस्वे में कम होती है। दाना (Dana) साहब लिखते हैं कि अराकान के. राजा के पास दो माणिक वा लाल रङ्ग के नग इतने बड़े हैं कि जिसका व्यास एक एक इञ्च का है। पर इसका कोई प्रमाण नहीं मिलता। यूरोप में सबसे बड़ा माणिक जो मुर्गी के अण्डे के

बराबर है, उसको गस्टेवस तृतीय (Gustavus III) ने रूस की मलिका को भेट दिया था। इङ्गलिस्तान (England) के शाह के मुकुट में जो एक बड़ा माणिक लगा है, जिसको सन् १३६७ ई० में नजेरा (Najera) विजय करने पर केस्टाइल (Castile) के शाह पेण्डरो (Pendro) ने एडवर्ड दि ब्लाक प्रिन्स (Edward the Black Prince) को भेट दिया था, लालडी जाति का ज्ञात होता है। हां, हाल में हमारे शाहन्शाह को एक बड़ा माणिक मिला है जिसको तौल १४० ग्रेन, अर्थात् ४४ केरात, से कुछ ऊपर है जो हिन्दुस्तानी तौल से लगभग ६४ रत्ती का होता है, और यह अमूल्य और प्रसिद्ध रत्न गिना जाता है।

मैं ऊपर लिख चुका हूं कि यह रत्न जितना बड़ा और निर्मल होता है उतनाही अमूल्य और दुर्लभ होता है। इसीका बड़ा मान है। यह देखने में बड़ा सुन्दर रत्न होता है।

परीक्षा।

इसकी परीक्षा अभ्यास से होती है। इसके अतिरिक्त यह अपने सजातीय लालडी और नरम माणिक से सख्त होता है और अङ्गरेज़ी जौहरी लोग इसकी परीक्षा Dichroiscopic यन्त्र से देखकर करते हैं। इसमें माणिक का रंग लाल वा नारङ्गी सा दीखता है; परन्तु लालडी वा नरम वा तामड़ा का रङ्ग नहीं दिखाई देता। जल में डालने से भी झूठे और सच्चे रत्नों की परीक्षा हो जाती है। जल में सच्चे नग की चमक बढ़ैगी और झूठे नग की दमक जाती रहेगी। परीक्षा की एक और रीति भी है। यदि किसी सच्चे रत्न पर सूई से जल की बून्द रक्खें तो वह बून्द न फैलेगी; परन्तु कांच पर फैल जायगी।

बनावट।

माणिक यदि बिना घाट का है तो उसे 'मथैला' कहते हैं और जिसमें घाट आदि बने होते हैं उसे सर्वसाधारण में 'तावडा' बोलते हैं।

खोटा माणिक।

दो प्रकार के नग खोटे माणिक कहाते हैं। यद्यपि ये खनिज और निकृष्ट नग वा रत्न हैं, पर माणिक की तुलना नहीं कर सकते।

(१) सँगलो—इसका रङ्ग किर्मिजी होता है; पर कान्तिहीन और खुश्क होता है; परन्तु खनिज है और ८४ सङ्गों में से है।

(२) नरम—इसका रङ्ग लाल स्याही मायल ज़र्दी लिए हुए और खुश्क होता है। यह भी मध्यम प्रकार का माणिक है। कभी कभी व्यवहार में लाया जाता है।

(३) कांच का बना हुआ भी खोटा और झूठा मानिक होता है जो विलायती झूठी अँगूठियों में वा बाज़ार में हक्काक के दुकानों पर सस्ते दाम पर बिका करता है। विलायती झूठे नग तो कभी कभी ऐसे अच्छे बने होते हैं कि धोखा हो जाता है। कुछ दिनों उपरान्त मैला होने पर इसकी दमक जाती रहती है। फिर भी झूठा झूठा ही है।

ठाकुरप्रसाद।

कामिनी-कौतूहल।

महारानी माइसोर की कन्या-पाठशाला।

महारानी माइसोर की कन्या-पाठशाला बड़ी सफलता के साथ अपना काम कर रही है। १९०२ की बी० ए० परीक्षा में, इस पाठशाला की दो युवा स्त्रियां पास हुई हैं। जब से यह समाचार समाचार-पत्रों में प्रकाशित हुआ है तब से इस पाठशाला का और भी अधिक नाम हो गया है। अगले पृष्ठ में हम एक चित्र "लेडीज़ मैगेज़ीन" से लेकर देते हैं, जिसमें इस पाठशाला की बी० ए० और यफ० ए० क्लास की स्त्रियों के चित्र हैं। इन छात्रों को हम कन्या न कह कर स्त्रियां कहते हैं, क्योंकि ये सब विवाहिता हैं। इनमें से किसी किसी के लड़के

वाले भी हैं। उनका लालन पालन करके और गृहस्थी के काम निपटाकर ये स्त्रियां इस पाठशाला में पढ़ती हैं और पढ़ कर बी० ए० के समान ऊंची परीक्षायें पास करती हैं। चित्र में जो तीन स्त्रियां बाईं ओर हैं, वे बी० ए० क्लास की हैं। बाईं ओर
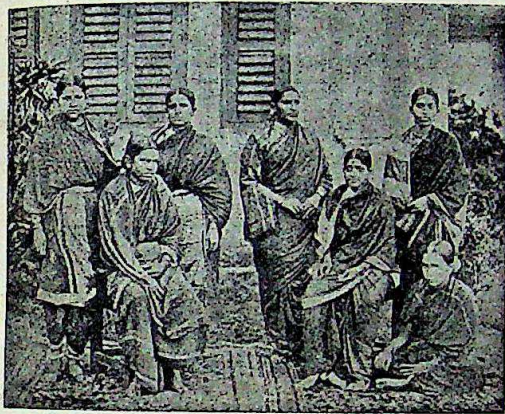
से उनके नाम यथाक्रम ये हैं—सुब्बा अम्मा, रुक्मिणी अम्मा और श्रीरङ्ग अम्मा। सुब्बा अम्मा बीमारी के कारण बी० ए० परीक्षा में नहीं बैठ सकीं। रुक्मिणी अम्मा ने अंगरेज़ी और कनारी, दोनों, में बी० ए० पास किया है और बड़ी योग्यता से पास किया है। श्रीरङ्ग अम्मा, अर्थात् जो बैठी हैं, उन्होंने केवल अंगरेज़ी में बी ए० पास किया है। चित्र में दाहिनी ओर जो चार स्त्रियां हैं वे यफ़० ए० क्लास में पढ़ती हैं।

माइसोर दरबार के बख़्शी पण्डित नरसिंह आइयंगर के प्रयत्न से यह पाठशाला १८८१ ईसवी में खोली गई थी। इसके खोलने में माइसोर के अनेक विद्वान्, धनवान् और योग्य पुरुषों ने सहायता की है। महाराजा और महारानी माइसोर ने स्वयं सहायता ही नहीं की; किन्तु उन्होंने उस का पालक और पोषक होना भी स्वीकार किया। वर्तमान महाराजा भी इस पाठशाला के सहायक हैं। इसमें प्रायः ब्राह्मणों ही की लड़कियां और स्त्रियां शिक्षा पाती हैं। माइसोर की महारानी ने, बड़ी प्रसन्नता से, इसके नाम के साथ अपना नाम दिया है। महाराजा माइसोर और उनके दीवान ने, समय समय पर, अपनी वक्तृताओं में, इस पाठशाला की प्रशंसा की है। माइसोर के वर्तमान महाराजा की माता का नाम वाणी है। वाणी सरस्वती को कहते हैं। वे सचमुच सरस्वती हैं। विद्या से उन्हें बड़ा प्रेम है। इसी लिए वे इस पाठशाला की मन से उन्नति चाहती हैं। पाठशाला के भीतर सरस्वती का एक बहुत ही मनोहर चित्र लगा है। इस चित्र को देख कर, महारानी माइसोर का भी नाम इस पाठशाला में पढ़नेवालियों को स्मरण आया करता है। क्योंकि वाणी होने के कारण वे भी तो सरस्वती ही हैं।

पहले पहल, इस पाठशाला में, केवल पुराने आचार-विचार-वाले संस्कृत के अच्छे अच्छे पण्डित पढ़ाने के लिए रक्खे गये थे। परन्तु लोगों की रुचि स्त्री-शिक्षा में क्रम क्रम से बढ़ जाने से अब अंगरेज़ी और कनारी आदि भाषाओं के ऐसे भी दो एक ज्ञाता रक्खे गये हैं जो सामाजिक सुधार के पक्षपाती हैं। और तो, विशेष करके स्त्रियां ही इसमें अध्यापक का काम करती हैं। बड़ी अवस्था की लड़कियां अब इसमें बेधड़क पढ़ने आती हैं। अच्छे अच्छे अधिकारियों और गृहस्थों की स्त्रियां भी इसमें पढ़ती हैं। जो परदे में रहना चाहती हैं उनके लिए परदे का भी प्रबन्ध हो जाता है। और जो पाठशाला में, किसी कारण से, नहीं आ सकतीं उनके घर पर भी पढ़ाने का प्रबन्ध कर दिया जाता है।

दस वर्ष तक इस पाठशाला का प्रबन्ध एक कमेटी के द्वारा होता रहा। परन्तु, इसकी सफलता पर प्रसन्न होकर, १८९१ ईसवी में, माइसोर की गवर्नमेण्ट ने इसे अपने आधीन कर लिया; तब से गवर्नमेण्ट इसकी देख भाल करती है। जब यह पाठशाला पहले पहल खुली थी तब इसमें केवल २८ लड़कियां थीं। एक वर्ष इनकी संख्या बढ़ कर १६१ हो गई और बढ़ते बढ़ते गये वर्ष तक

३७८ तक पहुंची। इन ३७८ लड़कियों का हिसाब, वर्ण के अनुसार, इस प्रकार है—

ब्राह्मण	३२१
क्षत्रिय	९
वैश्य	२
लिङ्गायत	९
दूसरे सम्प्रदाय को	३७
कुल	३७८

यह पाठशाला विशेष करके हिन्दुओं ही के लिए है; इस कारण दूसरी जाति की लड़कियां इसमें नहीं भरती की जातीं। यह बात और जाति वालों को अच्छी नहीं लगती। परन्तु इस पाठशाला के प्रबन्ध में हिन्दुओं को विश्वास हो गया है; वे अपनी लड़कियों और स्त्रियों को इसमें पढ़ने के लिए भेजते नहीं सकुचते। अतएव और जाति की लड़कियों को भरती करने में, डर है कि, कहीं हिन्दुओं का विश्वास इससे न उठ जाय। इसी लिए इस पाठशाला के प्रबन्धकर्ता पुराने नियमों में फेर फार नहीं करना चाहते। यह पाठशाला यद्यपि माइसोर की गवर्नमेण्ट के आधीन है, तथापि, इसकी एक कमेटी भी है। इस कमेटी में नगर के प्रतिष्ठित प्रतिष्ठित मनुष्य शामिल हैं। उनकी सलाह के बिना गवर्नमेण्ट कोई काम नहीं करती।

इस पाठशाला में जो शिक्षा दी जाती है वह सब प्रकार हिन्दुओं के अनुकूल है। और और बातों के सिवाय इसमें सङ्गीत, अर्थात् गाने बजाने की, विद्या भी पढ़ाई जाती है। जो लोग इस पाठशाला को देखने जाते हैं उनको, इसमें, अच्छे अच्छे घरों की लड़कियों को गाते और वीणा बजाते देख कर, आश्चर्य्य होता है। आश्चर्य्य होने का यह कारण है कि, इस समय स्त्रियों में गाने बजाने को लोगों ने बदनाम कर रक्खा है; उसे वे वेश्याओं ही का व्यवसाय समझते हैं। इस पाठशाला की लड़कियों को संगीत में बहुतही अच्छी शिक्षा दी जाती है। इसमें शिक्षा पाई हुई एक स्त्री महारानी बड़ौदा को वीणा बजाना सिखलाती है। इस पाठशाला में सङ्गीत सीखनेवाली लड़कियों में से कुछ लड़कियों का चित्र हम यहां पर प्रकाशित करते हैं। संगीत के सिवाय और भी स्त्रियों के

उपयोगी विषय इसमें सिखलाये जाते हैं। उदाहरण के लिए—चित्र खींचना, खाना पकाना, सीना पिरोना, बेल बूटे निकालना और आरोग्य-शास्त्र इत्यादि। और भी गृहस्थी के अनेक कामों की शिक्षा यहां दी जाती है। इस शाला में पहले केवल कनारी भाषा पढ़ाई जाती थी; परन्तु कुछ ही दिन में अंगरेज़ी पढ़ाई जाने लगी। अब लड़कियां और स्त्रियां कनारी के साथ अंगरेज़ी भी पढ़ती हैं।

इस पाठशाला में अच्छी अच्छी विद्वान् स्त्रियां अध्यापक का काम करती हैं। इसकी प्रधान अध्यापिका कुमारी पेलथार्प हैं। यह केम्ब्रिज के न्यूहम कालेज की पढ़ी हुई हैं। ये अपना काम बड़ी योग्यता से करती हैं और इनके आधीन जितनी स्वदेशी अध्यापिका हैं वे भी बहुतही मन लगाकर शिक्षा देती हैं; इसलिये पाठशाला की प्रतिदिन उन्नति होती जाती है।

१ दिसम्बर १८८६ को लेडी डफ़रिन ने इस पाठशाला को देख भाल की थी। उन्होंने अपनी एक पुस्तक में इसकी बड़ी बड़ाई की है।

ऐसी पाठशालाओं की इस देश में बहुत आवश्यकता है।

पुस्तक-परीक्षा।

सतसई का उर्दू-अनुवाद।

सरस्वती के इस वर्ष की दूसरी-तीसरी संख्याओं में, "विविध विषय" के अन्तर्गत, बिहारी-सतसई के उर्दू-अनुवाद के सम्बन्ध में, हमने एक टिप्पणी लिखी है। इसका हवाला देकर, लाला देवीप्रसाद ने हमको एक पत्र लिखा है। इसमें वे अपने को बिजावर (बुन्देलखण्ड) के स्कूल का हेडमास्टर बतलाते हैं; कहते हैं कि यह उर्दू अनुवाद उन्होंने किया है; और वह समाप्त भी होचुका है। लाला साहब ने बड़ी कृपा की जो सतसई के समान उत्तम काव्य का अनुवाद उर्दू जानने वालों के लिए सुलभ करके यह दिखला दिया कि हिन्दी में कैसे कैसे मनोहर काव्य हैं। अनुवादक ने इस अनुवाद के कुछ नमूने भी हमारे पास भेजे हैं, जिनमें से दो चार नमूने हम नीचे देते हैं—

१—मूल

मेरी भवबाधा हरो राधा नागरि सोइ।
जा तन की झांई परें श्याम हरितदुति होइ॥

अनुवाद।

مرے افکار دنیا دور کیجے رادھکارانی
کہ جنکے سائیہ تن سے ہرے ہوں شیام نورانی

मेरे अफ़कार दुनिया दूर कीजै राधिका रानी।
कि जिनके सायये तन से हरे हों श्याम नूरानी।

२—मूल।

सीस मुकुट कटि काछनी कर मुरली उर माल।
यहि बानिक मो मन बसहु सदा बिहारीलाल॥

अनुवाद।

مکٹ سر - کاچھنی زیب کمر - سینہ پہ بن مالا
لئے ہاتھوں میں مرلی - دلمیں بسئے میرے ندلالا

मुकुट सर; काछनी ज़ेबे कमर, सीने प बनमाला।
लिए हाथों में मुरली, दिल में बसिये मेरे नँदलाला

३—मूल।

आये आप भली करी मेटन मान मरोर।
दूर करौ यह देखि हैं छला छिगुनियाँ छोर॥

अनुवाद।

منانے آپ آئے - آئیے - مشفق کرم کیجے
چھلا چھنگلی کنارے کا کنارے آپ کردیجے

मनाने आप आये; आइये, मुशफ़िक़! करम कीजै।
छला छिँगुली किनारे का किनारे आप कर दीजै॥

४—मूल।

पलनि प्रगटि बरुनीन बढ़ि छन कपोल ठहरात।
अँसुआ परि छतियान पै छनछनाय छिप जात॥

अनुवाद।

جھلک پلکوں میں چڑھہ مژگاں پہ عارض پر سے ڈھلتے ہیں
چھنا چھن اشک گرگر - سینئہ سوزاں پہ جلتے ہیں

झलक पलकों में, चढ़ मिज़गाँ पै, आरिज़ पर से ढुलते हैं
छनाछन अश्क गिर गिर सीनये सोज़ाँ पै जलते हैं॥

५—मूल।

डग कुड़गति सी चलि ठिठकि चितई चली निहारि
लिये जाति चित चोरटी वहै गोरटी नारि॥

अनुवाद।

چلی مستی سے - ٹھٹکی - پھر مڑی - پھر چلکے رخ پھیرا
وہ گوری لے چلی چوری سے دیکھو ہائے دل میرا

चली मस्ती से, ठिठकी, फिर मुड़ी, फिर चलके रुख़ फेरा
व गोरी ले चली चोरी से देखो हाय दिल मेरा॥

६—मूल।

भूषन भार सँभारि है क्यों यह तन सुकुमार।
सूधे पाय न धर परत सोभा ही के भार॥

अनुवाद।

سنبھالے بار زیور کیا تیرا نازکبدن پیاری
کجی رفتار کی کہتی ہے بار حسن ہے بھاری

सँभालै बार ज़ेवर क्या तेरा नाज़ुक बदन प्यारी।
कजी रफ़्तार की कहती है बारे हुस्न है भारी॥

लाला देवीप्रसाद ने जो नमूने हमारे पास भेजे हैं सब चुन कर अच्छे ही अच्छे भेजे होंगे। उनमें से भी हमने जो बहुत अच्छे समझे वही यहां पर दिये हैं। यदि साद्यन्त ऐसा ही अनुवाद हुआ हो तो हम उसे बुरा नहीं कह सकते। ऊपर दिये गये उदाहरणों में से तीसरे और पाँचवें दोहे का अनुवाद बहुत ही मनोरम है।

❋

भुवनेन्द्रभूषण। ४० पन्ने की छोटीसी पुस्तक है। इसमें नल और दमयन्ती-सम्बन्धी पद्य हैं। इसके टाइटिल पेज पर लिखा है—

"भारतप्रख्यात श्रीमत् पण्डित् द्विजशुक्ल
गजाधरसाहित्य विशारद सायर
शीक्षक गवर्नमेण्ट सनदयाफ़्ता
पण्डित रियासत पाता-
बोझ ने सुललित छन्दों
में निर्मित किया"

इन "भारतप्रख्यात सायर शीक्षक पण्डित" का एक "सुललित" छन्द सुनिए—

"सुनी नारदै बात इन्द्रै जहांहीं।
बुलायो तबै वन्हिजू को तहां ही॥
बरूणौ यमौराज राजै मिलायो।
सबै मेल कै एक मन्त्रै दृढ़ायो॥
सजे दिव्य साजै चले देवपालै।
स्वरूपो उदात्तो सुक्रान्तो विशालै॥
मिले राह बीचै नलौ भूपराई।
बिड़ौजा कह्यौ कृत्य सबै बुझाई॥"

कवि जी की संस्कृत रचना सुनिए—

"श्रीराजकुमार परमउदार अनंन्वयालंकृत श्रीं कुवँरमितानसिंह साहबतथा सकलगुणगण विशिष्ठ श्रीकुवँर जगन्नाथसिंह साहब बहादुर बरखेरवाद्यधीशस्याज्ञा कारिते द्विज शुक्ल गजाधर शाहित्य बिशारदस्य विरचिते नलदमयन्ती चरित्र वर्णनोनाम शुभर्म्भूयात्"

ये तीनों अवतरण पुस्तक से यथावत् नक़ल किये गये हैं। जो संस्कृत का ऐसा उद्भट विद्वान् है; जो भाषा कविता का ऐसा स्वच्छन्द कवि है; जो साहित्यविशारद आदि पदवियों से विभूषित है, वह क्यों न "भारतप्रख्यात" हो!

❋

सं० १९६० का पञ्चाङ्ग। महामहोपाध्याय पण्डित सुधाकर द्विवेदी के कहने से, भार्गव बुकडिपो, बनारस, के मैनेजर ने यह पञ्चाङ्ग समालोचना के लिए हमारे पास भेजा है। सुधाकर जी को हम इस लिए धन्यवाद देते हैं कि उन्होंने हमको अपने पञ्चाङ्ग की समालोचना करने के योग्य समझा; परन्तु खेद है, हम समालोचना करने में असमर्थ हैं। उनके पञ्चाङ्ग की आलोचना वही कर सकता है जो उनसे अंगुल भर बड़ा नहीं तो बराबर का ज्योतिषी तो हो। हम नहीं जानते हम उनके पञ्चाङ्ग के विषय में क्या कहें। हां, इतना हम कह सकते हैं कि जो प्रति हमारे पास भेजी गई है उसमें पाँच चार पन्ने उलटे लगे हुए हैं। हम देखते हैं कि, बनिये बक़्क़ाल तक अब पञ्चाङ्ग बनाने और बेचने लगे हैं। अतएव सुधाकर जी से हमारी प्रार्थना है कि अब वे पञ्चाङ्ग बनाना छोड़ दें। क्योंकि—

दर्दुरा यत्र वक्तारस्तत्र मौनं हि शोभनम्।

❋

भावनिदर्शिका। यह ३० श्लोक की एक करुणरसात्मक संस्कृत कविता है। हिन्दी में भावार्थ भी है। बाबू जगन्नाथप्रसाद वर्म्मा ने इसकी रचना की है। जिस समय आप यफ़० ए० की परीक्षा के लिए तैयार हो रहे थे उस समय आपने यह कविता लिखी है। कविता सरस है; शुद्ध है और आल्हादकारिणी है। साद्यन्त वियोगिनी छन्द है। यह विषय के अनुकूल हुई है। इसमें अयोध्या के महात्मा जानकीवर-शरण की मृत्यु पर विलाप है। बाल्यावस्था में ऐसी अच्छी कविता लिखना बाबू जगन्नाथ

वाद के लिए प्रशंसा की बात है। इस पुस्तक के कोई कोई पद्य बहुत ही मनोरम हैं; यथा—

मधुसद्मनि लालितशिशुः
सुमनोमोदगृहीतमानसः।
कथमद्य स वीतसम्मदः
क्रियतेऽमन्दमरन्दलोलुपः॥

सबसे अधिक पसन्द हमको कवि की शालीनता है। शालीनतासूचक एक प्राचीन पद्य, जो आपने भूमिका में दिया है, बहुत ही उपयुक्त हुआ है। वह यह है—

भविता न विचाराचारु चे-
त्तदपि श्रव्यमिदम्मदीरितम्।
शिशुवागियमित्यतोऽपि किं
न मुदन्धास्यति सन्ततं सताम्?

अर्थात् हमारा कहना सुनने के लायक़ न भी हो तो भी आप इसे सुन लीजिये। यह बाल-भाषण है; इसलिये भी सज्जन इसे सुनकर क्या प्रसन्न न होंगे?

✻

पद्मासुन्दरी। यह एक बँगला उपन्यास का हिन्दी भाषान्तर है। कोई २५० पृष्ठ की पुस्तक होने पर भी दाम केवल ॥=) है। छपाई इसकी बहुत स्वच्छ है। यह सोने में सुगन्ध है। ज्ञानभास्कर प्रेस, बाराबङ्की, से यह मिलती है। अनुवादक इसके पण्डित मथुराप्रसाद मिश्र हैं। बाबू कालीप्रसन्नसिंह ने कीर्त्तिवासीय रामायण के लङ्काकाण्ड का जो हिन्दी अनुवाद प्रकाशित किया है उसकी छन्दोरचना इन्हीं मिश्र जी की की हुई है। यह उपन्यास पढ़ने लायक़ है। इसमें कोई अस्वाभाविक बातें नहीं वर्णन की गईं। मनोरञ्जन के साथ साथ इससे शिक्षा भी मिल सकती है। इस उपन्यास के उद्देश्य के विषय में अनुवादक जी लिखते हैं—

"स्वाधीन भारत के अधःपतन के समय राजन्य वर्ग की राज्यशक्ति किस प्रकार से हीनता को प्राप्त हो रही थी, संकेत से, उसका किञ्चित् आभास देना इस ग्रन्थ का मुख्य उद्देश्य है"।

यह सच है। इस पुस्तक की भाषा कुछ अधिक क्लिष्ट है; मुहाविरा भी कहीं कहीं बिलकुल बँगाली है। "नीलोत्पल-श्रुति-विश्रान्त-नेत्र-द्वय", "कृष्ण-नागिनी-न्याय वेणी पृष्ठ-देश पर लम्बमान", "चम्पक-दामोपम करांगुली" इत्यादि क्लिष्टता के नमूने हैं। पण्डित मथुराप्रसाद का मत है कि विशुद्ध और उन्नत हिन्दी वही है जिसमें अन्य भाषा का कोई शब्द न आने पावे। यह बात आपने इस पुस्तक की भूमिका मे लिखी है। इस विषय में हम आप से सहमत नहीं हैं। दूसरी भाषाओं के जो शब्द रोज़ बोलचाल में आते हैं वे हिन्दी में शामिल हो गये समझने चाहियें। उनका लिखना सर्वथा उचित है। उनके प्रयोग से भाषा अधिक सुवाच्य होती है।

✻

गीतार्थपद्यावली। यह गुटका श्रीयुक्त शिवचन्द्र बलदेव भरतिया कृत है। भाषा इसकी मराठी है। इसमें भगवद्गीता का भावार्थ है। इसके कर्ता अनेक भाषा-कोविद हैं। संस्कृत में भी आपने ग्रन्थ-रचना की है। अब कुछ दिन से आपका ध्यान हिन्दी की ओर गया है। यह हिन्दी के लिये सौभाग्य की बात है। गीता के समान कठिन पुस्तक का भावार्थ किसी प्राकृत भाषा के पद्य में लाना बड़ा कठिन काम है। परन्तु कवि ने यह पद्यावली लिखकर गीता का भाव प्रदर्शित करने में अच्छी सफलता प्राप्त की है। आपकी कविता सरस और हृदयग्राहिणी हुई है। दो एक उदाहरण लीजिये—

वासांसि जीर्णानि यथा विहाय
नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णा-
न्यन्यानि संयाति नवानि देही॥

अर्थात् पुराने कपड़ों को त्याग करके मनुष्य जैसे नये कपड़े ग्रहण करता है, उसी प्रकार शरीर-धारी जीर्ण शरीर को छोड़ कर नवीन शरीर धारण करता है। इसका भावार्थ—

जैसें नूतन घेउनी मनुज हा वस्त्रां जुन्या टाकतो,
आत्मा देह तसा नवा धरित से, येथें वृथा शोकतो।

गीता के दूसरे अध्याय में लिखा है—

नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः।
न चैनं क्लेदयन्त्यापो न शोषयति मारुतः॥

आत्मा को न तो शस्त्र काट सकते हैं; न आग जला सकती है; न पानी भिगा सकता है; और न वायु शोषण कर सकता है। इसका मराठी भावार्थ सुनिए—

शस्त्रे न कापूं शकती तयाला;
न अग्नि जाळी; भिजवी न याला
पाणी; न वारा सुकवी जयाला;
असा सदा अव्यय जाण याला॥

कैसा मनोहर पद्य है? यह पुस्तक निर्णयसागर प्रेस, बँबई, में छपी है और चार आने में मिलती है।

❋

केसरविलास नाटक। यह भी श्रीयुक्त शिवचन्द्र जी की रचना है। इसकी भाषा मारवाड़ी है। छपाई निर्णयसागर की है। मारवाड़ियों की कुरीतियों का इसमें अच्छा प्रदर्शन है। शादी विवाह में व्यर्थ ख़र्च करने और उमर का विचार न करके बेजोड़ विवाह करने की हानियों के इसमें अच्छे नमूने हैं। रचना इसकी बहुत ही स्वाभाविक है। कहीं कहीं, पढ़ते समय, स्वाभाविकता का इतना आविर्भाव हो उठता है कि इस बात की विस्मृति हो जाती है कि यह कल्पित कथा पढ़ रहे हैं। इस पुस्तक में दोष भी दो एक हैं। प्रथम तो पात्रों के भाषण कहीं कहीं पाँच पाँच पृष्ठ तक लम्बे चले गये हैं, जिसके कारण यह नाटक खेलने के योग्य नहीं रहा। दूसरे, कहीं कहीं इसमें ग्राम्यता भी है, यथा—

(१) देखो शेटां, परसूं हूं पापा की बींदणी ने देखी तो पूरी लुगाई हो गई! कपड़ां सूं तो ब्याव के पहलीज होती थी! पृष्ठ २६

(२) एक की एक लुगाई बीगड़ जावे!! दिन मांहे दस दस खसम करे! पृष्ठ १६५

दो एक स्थलों में ग्राम्यता की मात्रा इतनी बढ़ गई है कि हम उसका उदाहरण ही नहीं दिखला सकते। मारवाड़ी समाज में इस प्रकार की बातें शायद ग्राम्य न समझी जाती हों! इस पुस्तक के आदि में मङ्गलाचरण के जो दोहे हैं उनमें से कई दोहे भी विचारणीय हैं। परन्तु जहां अनेक गुण हैं वहां ये दो एक दोष सहजही छिप जा सकते हैं।

जैसे चन्द्रबिम्ब के भीतर नहीं कलङ्क दिखाता है,
तैसेही गुणगण समुद्र में एक दोष छिप जाता है।

❋

ललितरामचरित्रकाव्यम्। रामायण की कथा का अवलम्बन करके इस काव्य की रचना हुई है। इसमें भी सात काण्ड हैं। परन्तु सब मिलाकर केवल ५१३ श्लोक हैं। राजपूताना के अन्तर्गत रामगढ़ के निवासी पण्डित बालचन्द्र ने इसकी रचना की है। प्रस्तावना में आपने अपने को षट्शास्त्री पण्डित बतलाया है। पुस्तक के अन्त में एक जगह आपने अपने लिए

कविवरः श्रीबालचन्द्रः कृती

भी लिखा है। बालचन्द्रमा जी की कविता कहीं कहीं सचमुच कविवरों की सी है; परन्तु कहीं कहीं दुरूह भी हो गई है। अच्छा किया जो आपने अपनी कविता की संस्कृत टीका भी साथ ही प्रकाशित कर दी; नहीं, शायद अर्थज्ञान में कठिनता होती। आज कल संस्कृत में कविता करना सब का काम नहीं है। पण्डित बालचन्द्र ही के समान विद्वान् पुरुष संस्कृत काव्य करने का साहस कर सकते हैं। पण्डित जी से हमारी प्रार्थना है कि वे २३१ वें पृष्ठ में छपे हुए—

प्रोक्तं श्रीमन्नन्दरामजननं देवीप्रसादस्य सं-
जातो नात्मज उत्तमाहि नितरां पश्यन्ति सङ्कोचताम्

इस श्लोक का विचार करलें; क्योंकि हमको इसमें छन्दोभङ्ग सा जान पड़ता है।

❋

रसवाटिका। पण्डित बलवन्तराव कमलाकर मराठी के अच्छे लेखक होगये हैं। उनका शरीरान्त

हुए अभी दोही तीन वर्ष हुए। अलङ्कारशास्त्र में वे बड़े निष्णात थे। संस्कृत में ध्वन्यालोक नामक ध्वनि का एक परमोत्तम ग्रन्थ है। एक दिन हमने इस ग्रन्थसम्बन्धी एक प्रश्न बलवन्तराव से किया, जिस पर उन्होंने कामिल दो घंटे वक्तृता की। हम उनके साहित्यशास्त्र-सम्बन्धी अगाध ज्ञान को देख कर चकित हो गये। ग्वालियर में चीफ़-जस्टिस के कोर्ट में वे एक अधिकारी थे। जब कभी वे ग्वालियर से अपने घर इन्दौर जाते थे; अथवा वहां से लौटते थे, तब वे हम पर कृपा करने के लिए बहुधा, झांसी में, ठहर जाते थे। बलवन्तराव ने मराठी में रसप्रबोध नाम की एक पुस्तक लिखी है। रसवाटिका इसी रसप्रबोध का प्रतिबिम्ब है। इस पुस्तक को लिख कर पण्डित गङ्गाप्रसाद अग्निहोत्री ने हिन्दी का बड़ा उपकार किया है। इस प्रकार की कोई पुस्तक आज तक हिन्दी में न थी। वह अभाव आज दूर हो गया। इसमें रस, भाव, लक्षणा, व्यञ्जना और काव्य आदि साहित्य के सब अङ्गों का बहुतही सयुक्तिक और थोड़े में वर्णन हुआ है। जो कुछ इसमें कहा गया है, इस प्रकार कहा गया है कि झट समझ में आजाता है। उदाहरणों को छोड़कर शेष पुस्तक गद्य में लिखी गई है। सहजही में बोधगम्य होने का यह एक प्रधान कारण है। अग्निहोत्री जी ने उदाहरण अपनी तरफ़ से दिये हैं; और बहुत अच्छे दिये हैं। जिनको साहित्यशास्त्र में रुचि हो अथवा जो इस शास्त्र का अध्ययन करना चाहते हों उनको यह पुस्तक अवश्य देखनी चाहिए। अग्निहोत्री जी इस पुस्तक के विषयों का एक सूचीपत्र भी यदि जोड़ देते तो बहुत अच्छा होता। यह वेङ्कटेश्वर प्रेस, बम्बई, में छपी है।

*

कृष्णायण। तुलसीदास पर साढ़ेसाती सनीचर सा आया जान पड़ता है। कुछ दिन हुए सीता-रामचरितायण की आलोचना हमको करनी पड़ी थी; आज हमारे सामने कृष्णायण उपस्थित है। आज कल के भक्त कवियों को अयनान्त के सिवाय और कोई नामही नहीं अच्छा लगता। उसमें भी 'ण'त्व पर ज़बरदस्ती! सब बात में तुलसीदास की नक़ल। नाम की नक़ल; कथा की नक़ल; वर्णन वैचित्र्य की नक़ल; शब्दों की नक़ल; अर्थ की नक़ल; छन्द की नकल; उनके 'ण' तक की नक़ल; सब नक़लही नक़ल। कृष्णायणमें रामायण की तरह सात काण्ड हैं। रामायण की तरह प्रति काण्ड के पहले श्लोक (यदि वे श्लोक कहे जा सकते हैं); रामायण ही की तरह दोहा, चौपाई और सोरठा आदि हैं। कथा श्रीकृष्ण की है। कर्त्ता बाबू बिसाहूराम हैं। रायपुर ज़िले में एक सिमगा जगह है। वहां आप हेड मास्टर हैं। कृष्णायण छोटी साइज़ के साढ़े चार सौ पन्ने की जिल्द बँधी पोथी है। नरसिंहपुर के सरस्वतीविलास प्रेस में वह छपी है और १॥) में मिलती है।

तुलसीदास महात्मा थे; पहुँचे हुए साधु थे; अलौकिक भक्त थे। साथही उसके वे विद्वान् भी थे और उनमें कवित्वशक्ति भी अपूर्व थी। इसी कारण उनकी कविता इतनी सरस है; और इसी कारण रामचन्द्र के गुणगान से पूरित उन्होंने अनेक उत्तमोत्तम पुस्तकें बनाडालीं। भक्तों और महात्माओं के लिए विधिनिषेध नहीं होता। भक्ति का उद्रेक होने से साहित्य के नियमों की ओर दृक्पात किये बिना हीं वे अपने मुख से पद्यों का प्रवाह बहाने लगते हैं। उनके ऐसे पद्यों को भी संसारीजन प्रसाद जानकर ग्रहण करते हैं और उनके द्वारा चाहें तो वे अपना कल्याण भी साधन कर सकते हैं। सामान्यजन भी ईश्वर अथवा किसी आदर्श पुरुष के सम्बन्ध में काव्य कर सकते हैं; ग्रन्थ लिख सकते हैं; गीत गा सकते हैं। परन्तु उनकी कृति का संसार में तादृश आदर नहीं हो सकता। विशेष करके उनकी कविता का मान तभी हो सकता है जब उसमें रस हो। अन्यथा नहीं। बाबू बिसाहूराम जी के परिश्रम की हम प्रशंसा करते

हैं। व्यर्थ कालातिपात न करके कृष्णचरित लिखने में उन्होंने अपना समय लगाया है। यह उनकी सच्चरित्रता का लक्षण है। परन्तु हमको खेद के साथ कहना पड़ता है कि ठौर ठौर पर तुलसीदास का अनुकरण करके भी उनकी कविता अच्छी नहीं हुई। पढ़ने में मन नहीं लगता; क्योंकि वह सरस नहीं है। और और दोषों को जाने दीजिए, उनकी कविता में छन्दोभङ्ग दोष तक भरे हुए हैं:—

जो अगुण सगुण निरूप निरूपम रूप सुन्दर धारनं
नमामि दास बिसाहु प्रभु सोइ कृष्ण अगजग कारनं
पृष्ठ १९।

यह आपकी हरिगीतिका है! तुलसीदास ने यदि अपने रामायण के प्रति काण्ड के आरम्भ में संस्कृत पद्य दिये हैं तो वे पण्डित थे। वे "नानापुराण निगमागम" के समझनेवाले थे। परन्तु कृष्णायण के कर्त्ता ने, इस बात में भी क्यों उनकी नक़ल की?

नमो वातस्य पुत्राय कल्याणाय कलेवरम्।
जनानां सततं हितं करोति वीरविक्रमः॥

बालकाण्ड के आरम्भ में ग्रन्थकार जी का यह अनुष्टप है! और यह उनकी संस्कृत है! आपने अजीब तरह की संस्कृत लिखी है। छन्दोरचना भी आपकी अजीब ही है। युद्धकाण्ड के आरम्भ का एक शार्दूलविक्रीड़ित सुनिए—

लोके यस्य भयातपि कृपणनराः कुर्वन्ति दानं जपं
वन्दे तं खलु खेचरं कुनयनं कुर्वीत मासिज्जने।
हे शम्भो करुणानिधे पशुपते काशीपते शूलपाणे
दासस्योर महा भयं हरु जयं शान्तिं कुरु प्रियंवरं

हम नहीं जानते क्यों बाबू बिसाहूराम ने ऐसा ऊट पटांग लिखकर अपने को हास्यास्पद बनाया है? जो जिस बात को नहीं जानता उसे उस रास्तेही न जाना चाहिए। उन्होंने पुस्तक का नाम तक ग़लत लिक्खा है। 'राम' शब्द के साथ 'अयन' शब्द की सन्धि होने से 'न' को जो 'ण'-त्व होता है उसका कारण 'राम' शब्द के आदि का 'रा' है। 'कृष्ण' में 'ष' के योग से एक बार 'ण'त्व हो चुका, अतएव 'अयन' के 'न' को 'ण'त्व नहीं हो सकता। इस लिए 'कृष्णायन' शब्द शुद्ध है; 'कृष्णायण' नहीं। बाबू बिसाहूराम को विश्वास न हो तो किसी पण्डित से पूछ देखें। हमारी इच्छा न थी कि हम इस पुस्तक की समालोचना करें; परन्तु ग्रन्थकार जी का बहुत आग्रह देखकर हमें इतना लिखना पड़ा।

विनोद और आख्यायिका।

ग्रीस देश में थीब्स नामक एक नगर है। वहां सुनते हैं किसी समय एक राक्षसी थी। प्राचीनों ने लिख रक्खा है कि वह आधी स्त्री और आधी सिंहिनी थी। उसके पास से जो निकलता था उससे वह एक कूट प्रश्न पूछती थी और उसका ठीक उत्तर न मिलने पर वह उसे खा जाती थी। ईडिप्स नामक एक मनुष्य, उस समय, ग्रीस में बहुत ही चतुर और प्रत्युत्पन्नबुद्धि था। अन्त में उसने उस राक्षसी के प्रश्न का ठीक उत्तर दे कर उसे जीता। उसका प्रश्न यह था-"ऐसा कौन प्राणी है जो प्रातःकाल चार पैरों पर, दो पहर को दो पैरों पर और सायङ्काल तीन पैरों पर चलता है"! इस सुन कर, ईडिप्स ने तत्काल उत्तर दिया "मनुष्य"।

✻

एक लड़का एक चिट्ठी ले कर डाकखाने में छोड़ने गया। वहां पोस्ट मास्टर ने उसे तोला तो वह आधे तोले से अधिक निकली। इसपर उसने लड़के से कहा—

पोस्ट मास्टर-"चिट्ठी वज़न में आधे तोले से अधिक है; इसपर एक टिकट और लगाना चाहिए"।

लड़का-"पर, बाबू साहब! एक टिकट और लगाने से चिट्ठी का वज़न और बढ़ जायगा न!"

✻

विजयनगर के राजा कृष्णदेव के यहां जैसे त्यनालीरामा विकट-कवि था, वैसेही पूर्व में, नवद्वीप के राजा कृष्णचन्द्र के यहां गोपाल भाँड़ नामक

विकट-कवि था। एक बार विनोदी गोपाल से राजा कृष्णचन्द्र ने हँसी में पूछा—"गोपाल! हमारे और तुम्हारे शरीर के अवयव कुछ कुछ मिलते हैं। क्या कभी तुम्हारी माता का इस ओर आगमन तो नहीं हुआ"। गोपाल ने नम्रता-पूर्वक हाथ जोड़ कर उत्तर दिया—"महाराज! माता तो नहीं किन्तु मेरे पिता इस ओर एक बार आये थे"।

❋

फ़्रांस की राजधानी पेरिस में एक साहब बिलियर्ड खेल रहे थे। इत्तिफ़ाक़ से गेंद मेज़ से उछल कर खिड़की में लगा। खिड़की की राह से वह पास के एक कमरे में जा गिरा। वहां चीनी मिट्टी की एक क़ीमती तश्तरी रक्खी थी। गेंद के गिरने से वह टूट गई। तश्तरी के पास एक पालतू बिल्ली बैठी थी। वह तश्तरी के टूटने का कड़ाका सुन कर वहाँ से घबड़ाहट में भगी। उसके भगने से एक जलता हुआ लैम्प उलट गया। उसके उलटने से मकान में आग लग गई। अतएव आग के बुझाने के लिए कई यनजिन आये और वहां हज़ारों आदमियों का शोरोग़ुल होने लगा। जो साहब गेंद खेलते थे उनकी एक बुढ़िया रिश्तेदार भी, वहां, उस समय, बीमार पड़ी थी। इस आग लगने और बुझाने की गड़बड़ में उसे ऐसा धक्का पहुँचा कि वह वहीं रह गई! इसी बुढ़िया की लड़की से साहब की सगाई हुई थी और शीघ्रही शादी होनेवाली थी। अपनी मा के इस प्रकार मरने से उसने शादी करने से इन्कार कर दिया। देखिए, एक गेंद ने क्या क्या ग़ज़ब किये। खेलाड़ी साहब का मकान भी जला; बुढ़िया भी मरी और भावी दुलहिन से भी उन्हें हाथ धोना पड़ा!

❋

सुनते हैं, राजा भोज ने एक नया महल बनवाया था। परन्तु उसमें जो कोई रात को सोता उसे एक ब्रह्मराक्षस तङ्ग करता था। इस पीड़ा से बचने के लिए अनेक तांत्रिक बुलाये गये; परन्तु उनसे कुछ न हो सका। वह ब्रह्मराक्षस वहां से न टला। जो ब्राह्मण पूजा पाठ के लिए उस मकान में रात को रहता उसे वह ब्रह्मराक्षस पाणिनि मुनि के व्याकरण सूत्रों की, प्रति पहर में, एक एक समस्या देता और उसका उत्तर ठीक न मिलने से वह उसे बहुत सताता और किसी किसीको मार भी डालता। इस प्रकार जब बहुत उपद्रव होने लगा तब एक रात को कालिदास ने वहां रहना स्वीकार किया। वे वहां गये। उनको पहलेही का सा तांत्रिक ब्राह्मण समझ कर उस राक्षस ने, पहले पहर, यह समस्या दी—

राक्षस—'सर्वस्य द्वे'

कालिदास ने कहा—'सुमति कुमती सम्पदापत्तिहेतू'।

दूसरे पहर आकर उसने दूसरी समस्या दी—

राक्षस—'वृद्धो यूना'

कालिदास बोले—'सह परिचयात् त्यज्यते कामिनीभिः'।

तीसरे पहर वह ब्रह्मराक्षस फिर आया और बोला—

राक्षस—'एको गोत्रे'

कालिदास ने पढ़ा-'स भवति पुमान् यः कुटुम्बं बिभर्ति'।

चौथे पहर, उसने चौथी समस्या इस प्रकार दी—

राक्षस—'स्त्री पुंवच्च'

कालिदास ने कहा—'प्रभवति यदा तद्धि गेहं विनष्टम्'।

इसमें 'सर्वस्यद्वे', वृद्धो यूना', 'एको गोत्रे', और 'स्त्री पुंवच्च' ये पाणिनि के चार सूत्र हैं। इन्हीं की समस्या दी गई है। अष्टाध्यायी में इनके और ही अर्थ हैं; परन्तु कालिदास ने उनको मन्दाक्रान्ता वृत्त का आरम्भ मानकर उनका औरही अर्थ किया है और अपने अर्थ के अनुकूल श्लोक की पूर्ति की है। समस्याओं और पूर्तियों को मिला कर यह श्लोक हुआ—

सर्वस्य द्वे सुमतिकुमती सम्पदापत्तिहेतू
वृद्धो यूना सह परिचयात् त्यज्यते कामिनीभिः।

एको गोत्रे स भवति पुमान् यः कुटुम्बं बिभर्ति
स्त्री पुंवच्च प्रभवति यदा तद्धि गेहं विनष्टम् ॥

अर्थात्—सबकी सम्पत्ति और विपत्ति के दो कारण होते हैं—सुमति और कुमति। युवा से परिचय हो जाने पर स्त्रियां वृद्ध को छोड़ देती हैं। गोत्र में वही एक पुरुष समझा जाता है जो कुटुम्ब का पालन पोषण करता है। स्त्री यदि पुरुष के समान आचरण करने लगती हैं तो घर सत्यानाश जाता है।

इस पूर्ति को सुनकर वह ब्रह्म-राक्षस, कालिदास पर बहुत प्रसन्न हुआ और उस दिन से वह मकान उसने छोड़ दिया।

मनोरञ्जक श्लोक।

अस्मान्विचित्रवपुषश्चिरपृष्ठलग्नान्
कस्माद्विमुञ्चसि विभो! यदि मुञ्च, मुञ्च।
हा हन्त केकिवर! हानिरियं तवैव
गोपालमौलिमुकुटे भविता स्थितिर्नः ॥

हे मोर महाराज! आप हमको क्यों निकाले देते हैं? हम आपहो के पंख हैं; देखिए हमारा रूप कैसा चित्र विचित्र है; फिर हम बहुत दिन से आप की पीठ पर रहे हैं। इसलिए हमारा त्याग आपको उचित नहीं। परन्तु, यदि आप, किसी तरह मानते ही नहीं, छोड़ने ही पर उद्यत हैं, तो ख़ैर छोड़ दीजिए; हम चले जांयगे। परन्तु आप सोच लीजिए; हमारा त्याग करने में आपही की हानि है; हमारी नहीं। हम तो आपके यहां से चल कर कृष्ण के मुकुट पर जा बैठेंगे।

*

एक निर्धन कवि लक्ष्मी से प्रार्थना करता है—

निद्राति; स्नाति; भुंक्ते; चलति; कचभरं
शोषयत्यन्तरास्ते;
दीव्यत्यक्षैर्न चायं गदितुमवसरो
भूय आयाहि; याहि।
उद्दण्डैः प्रभूणामसकृदधिकृतै-
र्वारितान् द्वारि दीना-
नस्मान् पश्याब्धिकन्ये! सरसि-
रुहरुचामन्तरङ्गैरपाङ्गैः।

अभी वे सो रहे हैं; इस समय स्नान कर रहे हैं; यह भोजन का समय है; अब टहलते हैं; अब केश सुखा रहे हैं; इस समय अन्तःपुर में हैं; अभी वे खेल रहे हैं; यह समय भेंट करने का नहीं; जाओ फिर कभी आना। इस प्रकार धनवानों के द्वार से उनके उद्दण्ड अधिकारियों द्वारा बार बार निकाले गये हम दीन निर्धनी जनों की ओर, हे देवी लक्ष्मी! अपने कमलकोमल कटाक्षों से एक बार तो देखिए!

मानं मानिनि! सञ्जहीहि विदुषि! ब्रूयाः क एष क्रमो
यद्रागः श्रुतिसेविनोर्नयनयोरेतादृशो दृश्यते।
किञ्चान्यत्कुचशम्भुसेविनि चिरं बन्धः कथं कंचुके
काञ्चीसङ्गतिसङ्गतापि लभते नीवी न मोक्षं कुतः॥

हे मानिनि! मान छोड़ दे। हे विदुषि! यह उलटा क्रम कैसा? ये उलटी बातें कैसी? (मूर्ख यदि कुछ विपरीत करे तो आश्चर्य्य नहीं; परन्तु तू तो विदुषी है—पढ़ी लिखी है—तू ऐसा क्यों करती है?) श्रुति (कान तथा वेद) की सेवा करनेवाले नयनों में यह राग (लालिमा और सांसारिक अनुराग) क्यों दिखाई दे रहा है? श्रुति-सेवकों को भी राग! स्तनरूपी शम्भु का चिरकाल सेवक यह कञ्चुक (कञ्चुकी) बँधा हुआ क्यों है? सदाशिव के भक्त को भी बन्धन!! और काञ्ची (तागड़ी तथा सप्त-पुरियों में से एक पवित्र पुरी) का समागम करनेवाली, अर्थात् उसके साथ रहनेवाली, नीवी (वस्त्र-ग्रन्थि) की मुक्ति क्यों नहीं? काञ्चीवास करके भी मोक्ष की अप्राप्ति!!!
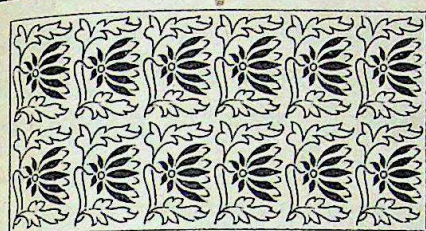
सरस्वती

सचित्र

मासिकपत्रिका
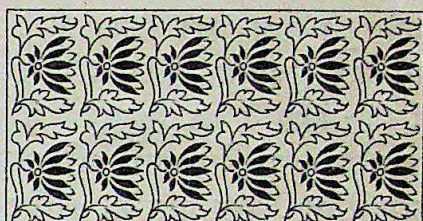
भाग ४] नवम्बर १९०३ [संख्या ११

विविध विषय।

संस्कृत के साहित्य का विस्तार बहुत बड़ा है। उसमें प्रायः सब विषयों के ग्रन्थ हैं। जितने ग्रन्थ लैटिन ग्रैार ग्रीक, दोनों में, मिला कर हैं, उनसे भी अधिक ग्रन्थ अकेले एक संस्कृत में हैं। कोई १२ वर्ष हुए जब संस्कृत-ग्रन्थों का एक सूचीपत्र बना था। उसमें ३२,००० ग्रन्थों के नाम हैं! तब से ग्राज तक ग्रैार कई हज़ार ग्रन्थों का पता लगा है। चीन, जापान, तिब्बत, मध्य एशिया ग्रैार मङ्गोलिया तक में संस्कृत-साहित्य का पता लगता है। विद्वानों का मत है कि वेद तीन हज़ार वर्ष से भी अधिक पुराने हैं। संसार में क्या इससे भी अधिक प्राचीन कोई पुस्तक है? वेदान्त, बौद्ध ग्रैार जैन धर्म्म के तत्वों का पूरा पूरा ज्ञान बिना संस्कृत पढ़े नहीं होता। संस्कृत देव-वाणी है; संस्कृत का साहित्य देव-साहित्य है। संस्कृत-साहित्य में ग्रैार ग्रैार विषयों की अपेक्षा धर्म्म-सम्बन्धी ग्रन्थों का ग्राधिक्य अधिक है—बहुत अधिक है। परन्तु उसमें ग्रैार ग्रैार विषयों के ग्रन्थों की भी कमी नहीं है। काव्य, नाटक, उपन्यास, दर्शन, वैद्यक ग्रैार ज्योतिष के ग्रनेक ग्रन्थ भरे पड़े हैं।

***

प्राचीन पण्डितों ने केवल मनोयोग, ध्यान, विचार ग्रैार अवलोकन द्वारा विज्ञान की उन्नति की थी। परीक्षाग्रों के द्वारा विज्ञान की पुष्टि करना उन्होंने ग्रारम्भ ही किया था कि मुसल्मानों ने उनकी स्वतन्त्रता छीन ली। केवल वैद्यकशास्त्र के संस्कृत में कोई ४०० ग्रन्थ हैं। इस शास्त्र का योरप ग्रैार अमेरिका के प्रसिद्ध प्रसिद्ध डाकृर भी ग्रादर करने लगे हैं ग्रैार उसे पढ़ने लगे हैं। अमेरिका में तो, सुनते हैं, भारतवर्ष की जड़ी बूटियों की जाँच के लिए एक ग्रोषधिशाला बनाई गई है। गणितशास्त्र में इस देश की समता, पुराने ज़माने में, कोई देश नहीं कर सका। भारतवर्ष ही ने दूसरे देशों को यह शास्त्र सिखलाया। हां, इस समय, योरप अवश्य उससे बहुत कुछ बढ़ चढ़ गया है। बिना ग्राज कल के से यन्त्रों की सहायता के ज्योतिषविद्या में भी हिन्दुग्रों ने बहुत उन्नति

की थी। बृहत्संहिता और सूर्य्य-सिद्धान्त आदि ग्रन्थ इस बात के प्रमाण हैं। कला कौशल में भी भारतवर्ष ने नाम पैदा किया है। यलोरा की गुफायें और भुवनेश्वर आदि के मन्दिर इस बात को सिद्ध करते हैं कि भारतवर्ष ने चित्रविद्या, गृहनिर्म्माण-विद्या और पत्थर पर नक़्क़ाशी करने के काम में भी विज्ञता प्राप्त की थी। नाचने, गाने और बजाने पर अनेक ग्रन्थ लिखे गये। कला-कौशल ६४ भागों में बांटा गया और प्रत्येक भाग पर ग्रन्थों की रचना हुई।

* * *

काव्य, व्याकरण और दर्शनशास्त्रों में तो, इस गिरी हुई दशा में भी, भारतवर्ष का कोई सामना नहीं कर सकता। मुख्य छ ही दर्शन हैं; परन्तु उनके सिवाय और भी अनेक दर्शन हैं। योरपवालों ने हमारे दर्शनशास्त्रों की महिमा, अभी, कुछ दिन से, जानी है, और उनका अध्ययन उन्होंने आरम्भ किया है। हिन्दुओं का योगशास्त्र ऐसा शास्त्र है कि योरपवाले उसमें कभी पारदर्शी होंगे, अथवा नहीं, यह शङ्का ही है। भारतवर्ष की प्राचीन कविता का क्या कहना है। उसके दो ही चार हृदयहारी उदाहरणों से पाश्चात्य पण्डितों का हृदय परमानन्द में डूबने उतराने लगा है। संस्कृत का ऐसा परिपूर्ण व्याकरण जगत् में दूसरा नहीं। उसीके प्रताप से मोक्षमूलर आदि प्रख्यात पण्डित भाषा-शास्त्र के तत्वों को जानने में समर्थ हुए हैं।

* * *

धर्म्मशास्त्र के सूत्रमय ग्रन्थों की सृष्टि कोई ढाई तीन हज़ार वर्ष पहले हुई थी। इन्हीं सूत्रों से, फिर पीछे पद्य में पुस्तकें बनीं। इस शास्त्र में भी भारतवर्ष ही ने पहले पहल प्रतिष्ठा पाई। हां, संस्कृत में, इतिहास की कमी है। परन्तु प्राचीन समय के किस उन्नत देश ने इतिहास लिखा है? फ़ारस, कार्थेज, बाबुल, आसीरिया आदि देश, किसी समय, बड़े प्रभुताशाली थे। परन्तु इनमें से एकने भी अपना इतिहास नहीं लिखा। लिखा किसने है, रोम और ग्रीस ने। इसका कारण है। इतिहास में विशेष करके मनुष्य के जीवन की घटनाओं ही का वर्णन रहता है। भारतवर्ष जीवन ही को तुच्छ समझता आया है और अब भी तुच्छ समझता है। सांसारिक बन्धनों से मुक्ति पाना ही, उसके मत में, परम पुरुषार्थ है। अतएव सांसारिक और सामाजिक घटनाओं पर यदि उसने ग्रन्थावली न बनाई तो कोई आश्चर्य्य नहीं।

प्राण-घातक माला।

प्रसिद्ध चित्रकार राजा रविवर्मा ने "प्राण-घातक माला" अथवा अज-विलाप नामक एक नया चित्र, इसी वर्ष, बनाया है। यह चित्र बहुतही भाव-भरा अतएव मनोहर है। सरस्वती के पढ़नेवालों के मनोरञ्जन के लिए, वह, इस अङ्क के साथ दिया जाता है। चित्र की कथा इस प्रकार है—

एक देवाङ्गना को मनुष्य-योनि में उत्पन्न होने का शाप हुआ। जिस समय कोई दिव्य वस्तु का उससे स्पर्श हो उस समय वह अपना मनुष्य-शरीर छोड़कर फिर देवाङ्गना हो—यह उसके शाप की अवधि हुई। यह देवाङ्गना अयोध्या के राजा अज की रानी इन्दुमती हुई। एक बार अज और इन्दुमती नगर के पास उपवन में विहार कर रहे थे। इन्दुमती अज के अङ्क में थी। उसी समय नारद जी आकाश में गोकर्णेश्वर महादेव के दर्शनों को जा रहे थे। उनकी वीणा पर दिव्य फूलों की एक माला थी। वायु के झोंके से वह माला स्थान-च्युत होकर इन्दुमती के ऊपर आ गिरी। उसके गिरतेही इन्दुमती के प्राण चल बसे! उसके शाप की अवधि हो गई। प्राणाधिका इन्दुमती को, इस प्रकार, सहसा निर्जीव देख अज ने हृदय-विदारी विलाप करना आरम्भ किया। इन्दुमती को अङ्क में लिए हुए इसी विलाप-विह्वल अज का राजा रविवर्मा ने यह अद्भुत चित्र खींचा है।

इस कथा का आश्रय लेकर कालिदास ने रघुवंश के आठवें सर्ग में बड़ी ही मनोहारिणी कविता की है। उनके किये हुए अज-विलाप को सुनकर चित्त की अजब हालत होती है। इस विलाप-वर्णन के कोई २८ श्लोक हैं। उनमें से चुने चुने श्लोकों का भावार्थ हम नीचे देते हैं। महाकवि जी कहते हैं कि अत्यन्त साहजिक धीरता को भी छोड़कर, अज, गद्गद स्वर में, रोते हुए, बिलपने लगे! तपाने से महाकठिन लोहा भी द्रवीभूत हो जाता है। फिर, शोक से सन्तप्त हुए शरीरधारियों का कलेजा पिघल उठैगा, इसमें कहना ही क्या है? अज का विलाप सुनिए —

शरीर में छू जाने से महाकोमल फूल भी जब प्राण ले लेते हैं, तब, काल के लिए, जीवों को मारने का सभी कुछ साधन हो सकता है। वह चाहै तो तुच्छ से तुच्छ वस्तु से भी प्राण-हनन कर सकता है १ अथवा यों कहिये, कि कोमल वस्तु को वह कोमलही वस्तु से मारता है। देखो न, अतिशय कोमल तुषार से कमलिनी नष्ट हो जाती है। मेरे ऊपर पड़ी हुई विपत्ति से पहले ही यह उदाहरण हो चुका है २ यदि यह माला प्राणहारिणी है तो मुझे क्यों नहीं मार डालती? मैं इसे हृदय पर रक्खे हूं। ईश्वर की इच्छा से कभी कभी विष अमृत हो जाता है और अमृत विष! ३ अथवा निर्दयी ब्रह्मा ने मेरे दुर्दैव के कारण इस माला से वज्र का सा काम लिया। क्योंकि इसने पेड़ को तो नहीं किन्तु उसकी आश्रित लता को मार गिराया! ४ हे प्रिये! मैंने मन से भी कभी तेरे प्रतिकूल कोई काम नहीं किया। फिर तू क्यों मुझे छोड़े जाती है? पृथ्वी का पति तो मैं केवल शब्दगत—अर्थात् कहने ही भर को—था; पति तो मैं केवल तेरा था; तुझी में मेरी पूर्ण प्रीति थी ५ रातको, भौरों का शब्द जिनमें बन्द हो गया है ऐसे, मुकुलित कमल के समान, वायु से हिलती हुई अलकोंवाला यह तेरा मौन मुख मेरे हृदय के टुकड़े टुकड़े किये डालता है ६ निशा फिर भी निशानाथ को मिलती है; बिछोह हो जाने पर फिर भी चक्रवाकी चक्रवाक के पास पहुँचती है। इसीलिये वे अपने अपने विरह को किसी प्रकार सह भी लेते हैं। परन्तु, तू तो मुझे हमेशा के लिये छोड़ गई। फिर क्यों न मेरे शरीर में दुःसह दाह उत्पन्न हो? ७ नये नये पल्लवों के कोमल बिछौने पर भी तेरा मृदुल अङ्ग दुखने लगता था। अतएव, तू ही कह, किस प्रकार तू इस विषम चिता पर चढ़ना सहन कर सकैगी? ८ हे सुन्दरि! बजते हुए नूपुरधारी तेरे चरणों का जो अनुग्रह दूसरों को दुर्लभ था उसका स्मरण सा करता हुआ, फूल रूपी आंसुओं को बरसानेवाला यह अशोक, तेरा शोक कर रहा है ९ तेरे सुख में सुखी और तेरे दुःख में दुःखी तेरी सखियां, प्रतिपदा के चन्द्रमा के समान यह तेरा पुत्र, केवल तुझ में अनुराग रखनेवाला मैं—ये सब सुख के सामान रहते भी तेरा, इस प्रकार, हम सबको छोड़ जाना निश्चयही बड़ा निष्ठुर कर्म्म है १० मेरा धीरज अस्त हो गया; विलास का भी नाश हो गया; गाना बजाना भी हो चुका; वसन्तादिक उत्सव भी समाप्त हुए; आभूषणों का प्रयोजन भी जाता रहा; शय्या भी सूनी हो गई ११ तू मेरी गृहिणी थी; तू मेरी मन्त्री थी; तू मेरी एकान्त की सखी थी; तू ललित कलाओं में मेरी प्यारी शिष्या थी। ऐसी तुझको इस निष्करुण मृत्यु ने हरण करके मेरा क्या नहीं हरण किया? १२

इस कविता का आनन्द अनुवाद में नहीं मिल सकता; फिर गद्य में तो और भी नहीं। उसके लिये मूल श्लोक ही पढ़ने चाहिए।

श्रीगुरु हरिराय जी।

प्यारे पाठको, गत वर्ष की सरस्वती के अङ्कों से आप लोग सिक्ख मतानुयायी छः गुरुओं का जीवनचरित्र पढ़ चुके हैं। अस्तु, आज सातवें गुरु हरिराय जी का जीवनचरित्र हम आपकी भेंट करते हैं। आप लोगों को

याद होगा कि छठे गुरु हरगोविन्द जी के बड़े लड़के गुरुदत्ता जी लड़ाई में मारे गये थे। इस लिए इनके बाद गुरु दत्ता जी के बड़े पुत्र, जिनका जन्म माघ सुदी २ संवत् १६८६ विक्रमी में हुआ था, वैशाख बदी ७ संवत् १७०१ को चौदह वर्ष की अवस्था में गद्दी पर बैठे। संवत् १६९७ के आषाढ़ मास में अनूपशहर के रहनेवाले दयाराम खत्री ने अपनी चारो कन्यायें इन्हींको व्याह दीं।

बचपन ही से यह अपने कुल की रीति के अनुसार ईश्वर की भक्ति उपासना से विशेष प्रेम रखते थे। यद्यपि यह अपने शूरवीर दादा हरगोविन्द जी के सामने सदा हाज़िर रहते थे, पर इन की साधु प्रकृति पर हरगोविन्द जी के उग्रस्वभाव का कुछ भी असर न पड़ा; क्योंकि इनकी माता निहालकुँवर बड़ी ईश्वरभक्त थीं। इस लिए पुत्र को भी उन्होंने अपनी नांई बना लिया और इन्हें लड़ाई झगड़ा और मारकाट नहीं सुहाता था। क्यों न हो! शान्ति-रसदायिनी प्रेममयी भक्ति में जो लीन हो जाता है उसे यह सांसारिक उमङ्ग कब अच्छे लगेंगे। गद्दी पर बैठने के पीछे यह ईश्वरभक्ति का उपदेश करने लगे। इनकी भक्ति-रस की कथा का स्वाद चखने के लिए श्रोतालोग रात दिन इन्हें घेरे बैठे रहते थे। थोड़े ही दिनों में इनकी सुख्याति दूर दूर तक फैल गई और हज़ारों भक्तिरस-पिपासु श्रोता मानो मन्त्रबल से खिँचे हुए इनके पास आने लगे। जो एकबार इनके उपदेश सुनता वह चाहे कैसा ही कठोर-हृदय क्यों न हो, एक बार तो भगवत-प्रेम में मुग्ध हो ज़रूर ही रो देता था। जिस समय हमारे चरित्रनायक की सुख्याति भारतवर्ष भर में फैल रही थी, उस समय यहां शान्तिप्रेमी मुग़ल बादशाह शाहजहां का राज्य था। इन्हीं दिनों शाह रूम ने दिल्ली के बादशाह के पास किसी काम के लिए अपना दूत भेजा। यह दूत जब अपना काम कर लौटने लगा तब उसे गुरु साहब के दर्शनों की बड़ी अभिलाषा हुई। क्योंकि जब से उसने आर्यावर्त में पैर रक्खा था तभी से वह इनकी धर्म्मचर्चा का हाल सब छोटे बड़ों के मुंह से सुन रहा था; और चूंकि वह भी धर्मचर्चा का प्रेमी था, इसलिए वह दिल्ली से सीधा हरिराय जी के पास रवाने हुआ और वहां पहुँच कर बड़े भक्तिभाव से इन्हें प्रणाम कर बैठ गया और इनसे पूछा कि "मनुष्य पाप से किस तरह छूट सकता है? मुहम्मद, ईसा, मूसा अथवा और किस पैग़म्बर की सिफ़ारिश से ख़ुदा उसके पापों को क्षमा कर सकता है?" इस पर हरिराय जी ने बड़े शान्तभाव से उत्तर दिया कि "परमात्मा न्यायकारी है, जो जैसा कर्म करता है वैसा ही फल पाता है। सब महात्मा, जिन्हें आप पैग़म्बर समझते हैं, मेघों की नांई हैं। वे आपके कर्मरूपी वृक्ष को अपने सुललित उपदेशों द्वारा हरा कर देते हैं; पर यदि आप बबूल का पेड़ बोवेंगे तो उसके सूखजाने पर मेघ जल बरसा कर उन्हें हरा कर सकते हैं; पर उस पेड़ में आपके लिए आम नहीं उपजा सकते। इससे आपको उचित है कि इन महात्माओं के उपदेशों से लाभ उठाकर सत्कर्म करिए जिससे परलोक में अच्छे फल की प्राप्ति हो।" गुरु हरिराय जी का पक्षपात-रहित उपदेश उस दूत के चित्त में ऐसा चुभा कि वह मुग्ध सा हो गया, और बड़ी तारीफ़ के साथ उसने यह उपदेश अपने सफ़रनामे में दर्ज कर लिया।

इसी समय के लगभग शाहजहां के लड़कों में शत्रुता उत्पन्न हुई। शाहजहां का बड़ा पुत्र दारा पिता का बड़ा प्यारा था; इस लिए कुटिल औरङ्गज़ेब उससे सदा मन में जला करता था। एक दिन औरङ्गज़ेब ने रसोइया को घूस देकर युवराज दारा को भोजन में शेर की मूंछ का बाल खिलवा दिया, जिससे दारा उदरपीड़ा से बड़ा बेचैन हो गया। बड़े बड़े वैद्य और हकीम बुलाये गये; सभों ने रोगी की परीक्षा करके कहा कि "यदि दस तोले की हड़ और चार तोले की लौंग मिल सके तो शाहज़ादा आराम हो सकता है।" इस पर किसी

[द]र्बारी मुसाहिब ने कहा कि सिक्खों के गुरु हरि-[रा]य जी के दवाईख़ाने में ये दोनों चीज़ें मिल [स]कती हैं; क्योंकि वह ग़रीब और अनाथ रोगियों की दातव्य चिकित्सा किया करते हैं और उनके पास जड़ी बूटियों का अच्छा संग्रह है। शाहजहां ने फ़ौरन गुरु साहब के पास वज़ीर ख़ां नाम के सर्दार को इन दोनों चीज़ों को लेने के लिए भेजा। जब औरङ्ग़ज़ेब को यह हाल मालूम हुआ तो वह निराले में गुरु साहब से मिला और उन्हें कहा कि आप वज़ीर ख़ां को ये दोनों चीज़ें हरगिज़ मत दीजिएगा; पर गुरु साहब ने उत्तर दिया कि "मैं, संसार में, चाहे वह अमीर हो चाहे ग़रीब, सब ही की पीड़ा छुड़ाने की सदा चेष्टा करता रहता हूं। इस हालत में कब सम्भव हो सकता है कि मैं बिचारे शाहज़ादे की बीमारी से हमदर्दी न दिखाऊं।" इस पर दुष्ट औरङ्ग़ज़ेब ने उन्हें बहुत कुछ भय और लोभ भी दिखाया, पर हमारे परोपकारी दृढ़प्रतिज्ञ चरित्रनायक ने उसकी बातों पर कुछ भी ध्यान न दिया और अपने दवाईख़ाने में से दोनों चीज़ें निकलवा कर वज़ीर ख़ां को दे दीं। इस औषधि से दारा शीघ्र ही आरोग्य हो गया और गुरु साहब के उपकार का बदला देने के लिए, संवत् १७०७ में लाहोर जाती समय, वह गुरु के दर्शनों को आया और उनको धन्यवाद के साथ बहुत कुछ धन रत्नादि भेंट किये। साथ ही उनके निर्वाह के लिए एक बड़ी भारी जागीर भी उसने [दे]नी चाही; पर हमारे निर्लोभी महात्मा ने जागीर लेने से इनकार किया और धन रत्नादिक, जो दारा ने भेंट किये थे, उनका कड़ाहा प्रसाद करवा कर हज़ारों भूखे कङ्गालों को भोजन करवा दिया। शाहज़ादा दारा इनसे बड़ा खुश हुआ और इनके भक्तिपूर्ण उपदेशों को अपने चित्त पर खचित कर लाहोर की ओर रवाने हुआ। इसके बाद गुरु हरिराय जी ने भी पञ्जाब में कई जगह घूम कर अपने शिष्यों को अपने विश्वप्रेम के उपदेश से मुग्ध किया। और इसी बार भ्रमण करते करते मालवा में जा पहुँचे, जहां संवत् १७१० में इनकी दादी दामोदरी जी का स्वर्गवास हुआ। अतएव इन्होंने उनकी यादगार में वहां एक समाधि और बावली बनवा दी। फिर घूमते घूमते, संवत् १७११ में, वहां से वे वेद-दवाली ग्राम में गये। वहां के कई रईसों ने आकर गुरु साहब से शिकायत की कि "महाराज, आपके सिक्ख लोग बड़ी कड़ाई करके हमसे भेंट उगाहते हैं, और देने में ज़रा भी विलम्ब होने से हमारे इलाक़ों में लूट पाट कर रैयत को बड़ा सताते हैं।" गुरु साहब ने वहां के सिक्खों को बुलाकर बड़े शान्तभाव से समझाया कि तुमलोग इन पर अत्याचार न किया करो। पर लुटेरे सिक्खों ने गुरु की आज्ञा पर कुछ ध्यान न दिया। तब हरिराय जी ने क्रोधित हो उन्हें श्राप दिया कि तुम लोगों ने हमारी आज्ञा नहीं मानी, इसलिए वेही लोग जिन पर तुम ज़ुल्म करते हो, तुम्हारी ज़मीन के स्वामी हो जायंगे। फिर उन्होंने फ़रियादियों से कहा कि तुमलोग सीधे पूरब की ओर चले जाओ और जहां शाम हो वहीं झण्डा गाड़ कर गांव बसाओ। इन्होंने ऐसा ही किया। जिन सिक्खों के इलाके में इन्होंने झण्डा गाड़ा था, उन लोगों ने अपने दलबल के साथ झण्डा गाड़नेवालों पर हमला किया। दोनों ओर से ख़ूब मार काट हुई, अन्त को ज़ुल्मी सिक्ख सब मारे गये और इन्होंने वहीं एक गांव बसा कर उसका नाम महाराजपुर रक्खा और गुरु हरिराय जी की यादगार में वहां एक बावली भी बनवाई। इस लड़ाई में सिक्खों का जो अफ़सर मारा गया था उसके अनाथ बच्चे गुरु साहब की शरण आये। गुरु हरिराय जी ने दया कर उन्हें वरदान दिया कि "जाओ, तुम और तुम्हारे वंशधर जमुना तक का राज्य करेंगे।" पटियाला, सिन्ध, नाभा के राजा, जिनका राज्य जमुना तक फैला हुआ है, इसी वंश के हैं। इसी दौरे में जब हरिराय जी डिरोनी ग्राम से कर्तारपुर जा रहे थे, तब वह तो अपने सिक्खों के साथ सतलज के पार हो गये, और साथ की स्त्रियों

की डोलियां और बारबरदारी का ख़ज़ाना पीछे रह गया। सतलज के इस पार बादशाही फ़ौजों का डेरा पड़ा हुआ था, जिसका सिपहसालार मुहम्मद परवेज़ खां था। सिपाहसालार ने, जो शराब के नशे में अन्धा हो रहा था, फ़ौरन अपनी फ़ौज को हुक्म दिया कि समाने जो डोलियां जा रही हैं, वह सब उनके रक्षकों से लूट कर मेरे पास ले आओ और बारबरदारी का सब सामान लूट लो। बादशाही फ़ौजें सेनापति की यह आज्ञा सुन कर हरिराय जी के आदमियों पर एका एकी टूट पड़ीं, पर हरिराय जी की ओर से भाई गोरा नाम का एक सिक्ख सरदार, पाँच सौ सिक्ख सवारों के साथ मैदान में आ डंटा और मुसल्मानी फ़ौज को तलवार के घाट उतारने लगा। वह जिधरही घोड़ा लिए घुस जाता उधरही थोड़ी देर में मैदान साफ़ नज़र आता। अस्तु, उसने ऐसी वीरता दिखाई कि बादशाही फ़ौज को लेने के देने पड़ गये। और सिपहसालार साहब का नशा हवा हो गया और उनके मुंह पर हवाइयां उड़ने लगीं। उन्हें फ़ौरनही अपनी फ़ौज के साथ जान बचा कर भागना पड़ा। भाई गोरा ने बहुत दूर तक पीछा कर शत्रुओं के बहुत से सामान लूट लिये। यह भाई गोरा, कुछ दिन हुए, हरिराय जी के एक चोबदार के मार डालने के अपराध में निकाल दिया गया था। तब से वह सदा ऐसा मौक़ा खोजा करता था कि गुरु की कुछ सेवा कर वह अपना अपराध क्षमा करावे। जब उसने गुरु के परिवार पर यह विपद देखी तो उसे अपनी अभिलाषा पूरी करने का अच्छा मौक़ा मिला और जैसा कि लिखा जा चुका है, उसने अपनी जान पर खेल कर हरिराय जी की स्त्रियों की रक्षा की। जब हरिराय जी ने यह हाल सुना तो वे गोरा पर बड़े ख़ुश हुए और उसका पहिला सब अपराध क्षमा कर दिया और उसे विशेष स्नेह से अपने पास रखने लगे। इसके थोड़े ही दिनों में वे दौरा समाप्त कर अपने घर गोइँदवाल में पहुँच गये।

संवत् १७१३ विक्रमी में दुष्टात्मा औरङ्गज़ेब ने अपने नेक पिता सम्राट शाहजहां को क़ैद कर लिया और फिर शाही तख़्त के सब कंटकों को दूर करना निश्चित कर युवराज दारा के ख़ून का प्यासा बन बैठा। उस समय औरङ्गज़ेब ने अपनी दग़ाबाज़ी और बेगम रौशनआरा की चालबाज़ी की सहायता से बड़ी सुगमता से बादशाही दख़ल करली और उसके बैरिओं को सिर रखने का कोई ठिकाना बाक़ी न रहा। इस लिए बिचारे दारा को औरङ्गज़ेब से युद्ध में हार कर अफ़ग़ानिस्तान की ओर भागना पड़ा। इस आपत्तिकाल में भी नेक मिज़ाज़ दारा हरिराय जी के उपकार को नहीं भूला था। इसलिए रास्ते में उसने उनसे मिल कर ११०० अशरफ़ी और बहुत से रत्नादिक उन्हें भेंट दिये; तथा अपनी इस विपद का हाल उनसे कह कर सलाह पूंछी। अभी दारा हरिराय जी के पास बैठा बात चीत करही रहा था कि इतने ही में औरङ्गज़ेब के सवार दारा का पीछा करते हुए वहां आ पहुँचे। इस एकाएकी आफ़त के आजाने से दारा बड़ा घबड़ा गया, अतएव उसने हरिराय जी से प्रार्थना की कि "अगर आप एक दिन के लिए भी मेरे पीछा करनेवालों को सतलज पार उतरने से रोक सकें तो मैं ख़ुशी से लाहौर पहुँच जाऊं और ज़ालिम औरङ्गज़ेब से अपनी जान बचाऊं।" गुरु साहब ने दारा को अभयदान दे फ़ौरन भाई गोरा को बुलवा कर आज्ञा दी कि "तुम अपने सवारों के साथ सतलज के किनारे जा डटो और औरङ्गज़ेब के सवारों को सतलज पार मत उतरने दो।" हरिराय जी की आज्ञा की देरी थी कि बस शूरवीर गोरा अपने सवारों को साथ ले बादशाही फ़ौज पर बाज़ की नाईं टूट पड़ा और ख़ूब घमासान युद्ध छिड़ गया। इसी बीच में दारा गुरु साहब से बिदा हो अफ़ग़ानिस्तान की ओर रवाने हुआ और वहां राज़ी ख़ुशी पहुँच गया। इधर हमारे सिक्ख जवानों ने मुसल्मानी सेना को ऐसा हराया कि उन्हें भागते

बन पड़ा। सिक्खों ने उन्हें पन्द्रह कोस तक खदेड़ा और उनके बहुत से सामान लूट लिये। हरिराय जी गोरा की बहादुरी से बहुत खुश हुए और उसे "भाई" की पदवी दी।

इसके पीछे हरिराय जी दिवाली के मौक़े पर अमृतसर गये और फिर उसी ज़िले में दौरा करते हुए गोइन्दवाल लौट आए। उधर जब औरङ्गज़ेब बादशाही तख़्त पर बैठा तब उसने अपना स्वाभाविक विष उगलना आरम्भ किया और अपनी सलतनत भर में यह आज्ञा जारी कर दी कि "हिन्दू लोग तलवार के ज़ोर से मुसल्मान बना लिये जायं"। इसके सिवाय उसने बिचारे हिन्दुओं पर क्या क्या ज़ुल्म किये, सो इतिहास प्रेमियों से छिपे नहीं हैं। इसी बीच में जिन सवारों को भाई गोरा ने खदेड़ कर भगा दिया था, उन्होंने बादशाह के पास आकर गुरु हरिराय जी से दारा के मिलने और उनकी सहायता से अफ़ग़ानिस्तान भागने तथा अपनी दुर्दशा का सब हाल कहा जिसे सुन कर औरङ्गज़ेब ने महाक्रोधित हो फ़ौरन हरिराय जी को दर्बार में हाज़िर होने और "पाक दीन इसलाम" क़बूल करने का हुकुमनामा भेजा। जब गुरु साहब के पास यह हुकुमनामा पहुँचा तब गुरु साहब ने अपने बड़े पुत्र रामराय को बुलाकर यह हुकुमनामा दिखलाया और कहा कि "बेटा, तुम्हें दिल्ली जाना होगा। अगर बादशाह तुमसे मुसल्मान होने को कहे, तो उससे कहना कि गुरु नानक जी का गद्दीधारी धर्म्म त्यागने की अपेक्षा प्राण त्यागना उत्तम समझता है। फिर जो होगा, देखा जायगा"। अस्तु, अपने पुत्र को यों समझा कर हरिराय जी ने बिदा किया और उसके साथ दस सिक्ख सवार कर दिये। पर रामराय अपने पिता की नाईं दृढ़ न था, इसलिए जब वह दर्बार में पहुँचा और औरङ्गज़ेब ने उससे पूछा कि "तुम्हारी मज़हबी किताब में जो यह लिखा है कि 'मट्टी मूसलमान की, पैंडी पिए कुम्हार' इसका क्या अर्थ है"। इस पर कापुरुष रामराय ने जवाब दिया कि "हुज़ूर, यह लिखने वाले की भूल है 'मट्टी मूसलमान की' नहीं वरन् इस जगह 'मट्टी बेईमान की' होना चाहिए।" रामराय का यह उत्तर सुन औरङ्गज़ेब बड़ा खुश हुआ और उससे शाही तख़्त के मददगार रहने की क़सम खिलवा कर बिदा किया।

जब हरिराय जी ने पुत्र की यह करतूत सुनी तब वे बड़े दुखी और क्रोधित हुए और रामराय को कहला भेजा कि "आज से मैंने तुझे त्याज्यपुत्र कर दिया। तू महात्मा नानक और हरगोविन्द की पवित्र गद्दी का उत्तराधिकारी होने योग्य नहीं है"। रामराय पिता की इस ख़फ़गी से बड़ा चिन्तित हुआ और उसने अपना अपराध क्षमा करवाने के लिए पिता के पास कई लोगों की मारफ़त सिफ़ारिश पहुँचाई। पर हरिराय जी ने कहा कि "उस नालायक़ का मैं मुंह नहीं देखा चाहता"। अतएव निराश हो बिचारा रामराय लाहोर चला गया। उसके बाद हरिराय जी ने अपने छोटे पुत्र हरिकृष्ण को, जो अभी केवल पांच वर्ष का था, गद्दी पर बैठा दिया और आप १७ वर्ष गुरुआई कर ३१ वर्ष की अवस्था में संवत् १७१९, कार्तिक सुदी ९ को, छ घड़ी रात रहे परलोक सिधार गये।

वेणीप्रसाद।

वर्षा-ऋतु-वर्णन।

[कालिदास के ऋतुसंहार से]

(पूर्व-प्रकाशित से आगे)

उन्नत चारु उरोजन पै मुकुता लर धारि सिँगार करैं
त्यों सुविशाल नितम्बन पै पतरी सित सारी सँवारि धरैं
नीरद की नव बूँद लगैं तें रुमावलि त्यों त्रिबली उभरैं
सो नव बाल सुहाग भरी मन प्यारेन के अनुराग भरैं

मिलके नव घन विन्दु से होगया जो शीतल
पुष्प भार से झुके सघन वृक्षों के हिलावै
लिये केतकी फूल की सौरभित धूल को
विदेशियों का चित्त विवश नव पवन चुरावै २६

जल के अतिशय भार से जब हम झुक जावैं
निश्चय ऊंचे पर यहां एक आश्रय पावैं
यों मानौ घन सींचकर ग्रीष्म के सताए
विन्ध्याचल के कर रहे आल्हादित आए २७

बहु गुन युत, कमनीय, कामिनी गन मन मोहन
तृन-तर-वर-बन-बन्धु, अमित अम्मृत रस दोहन
सो पावस यह प्रान सर्व प्रानिन कौ सर्वस
पुजवै तुअ जिय आस, होय हितमय, हटि कल्मष २८

(समाप्त)

श्रीधर पाठक।

शरदागमन।

[१]

भयो बिमल आकाश, कतहुँ नहिँ बारिदमाला;
लसत मनोहर नील-बरण ताकर यहि काला।
बहत सुहावन पवन, त्रिविध अतिशय सुखकारी
हृदय प्रफुल्लित करनि, सकल वर्षाश्रमहारी ॥ १

[२]

सोहत नाना वृक्ष, विविध-नव-पल्लव-भूषित;
सुखद मनोरम भूमि, हरित-तृण सो अति-सज्जित।
जरा-अवस्था निरखि, त्यागि पावस जनु कामा
हरित-वसन महि डासि, करत सुखसों विश्रामा ॥ २

[३]

कहुँ कहुँ कुसुमित सुमन, शरद-वैभव दरसावत,
निज शोभा दिखराय, सहज ऋतुपतिहि लुभावत।
कूजत विविध विहङ्ग, मधुर-रव हियहिँ चुरावत
शुभ्र शरद आगमन, सुखद जनु प्रगट जनावत ॥ ३

[४]

भये मीन-गण सुखी, विमल-जलराशि निहारी,
तजे दंश मशकादि, प्राण निज व्याकुल भारी।
लागी चातक रटन, त्यागि सब धैर्य विचारी
गगन रहित घन निरखि, 'तृषा' 'हा तृषा' पुकारी ॥ ४

[५]

गुञ्जत मधुकर-वृन्द, मत्त, सरसीरुह-वन मैं,
मनहुँ मधुर मकरंद पान करि हर्षित मन मैं।
धन्यवाद मुख खोलि देत निज मधु दाता कहँ;
करत प्रशंसा तासु, मधुर स्वर सों जनु हियमहँ ॥ ५

[६]

चूमि कमल-मुख तुरत, होत उनमत तेहि मदसों;
सब सुधि बुधि बिसराइ, विवश ह्वै गावत स्वरसों;
करि मनरञ्जक शब्द, सरस अति हिय ललचावत;
टेरि मनुज गण मनहुँ कञ्ज गुण गाय सुनावत ॥ ६

[७]

बहत सुहावन नीर, विमल शीतल सरितन मैं;
उठत तरंग अपार, पवन प्रेरित अति जिन मैं।
नागर नट कोउ मनहुँ, विविध विध नृत्य दिखावत;
वायु मृदँग समान, तनिक नहिँ पैर डिगावत ॥ ७

[८]

बैठे सरितन तीर, अनेकन खग अति सोहत;
चक्रवाक वक हंस, चकित जनु दृश्य विलोकत।
भरि अति मोद प्रमोद, देह की सुरति भुलावत;
शरद विभव अवलोकि, मनहुँ नट महिमा गावत ॥ ८

लोकमणि

शिक्षाशतक।

[१]

जो पाकर दुर्लभ नर देह,
हरि पद मैं न लगाते नेह।
देह गेह ममता मैं लीन,
उन से बढ़ न और मतिहीन ॥

[२]

गुण, स्वभाव, अन्वय, आचार
यही चार आदर-आधार।
इन्हें जान जो करैं न मान,
उनको जानो निपट अजान ॥

[३]

जो तज अपने हित की बात,
बुरा काम करता दिन रात।
उससे बढ़ विचित्र पशु नीच,
और न होगा जग के बीच ॥

[४]

उचित काम करना है ठीक,
इसे न समझो कभी अलीक।
जो करता है अनुचित काम,
सो होता जग में बदनाम ॥

[५]

आलस परम पाप का भार,
इससे सभी बिगड़ता कार।
इसे दूरकर उद्यम ठान,
कारज करके बनो महान ॥

[६]

जहां न गुणियों का सन्मान,
नहीं हिताहित का कुछ ज्ञान।
ठहरो तहां न पल परमान,
पाओ यद्यपि सौख्य महान ॥

[७]

जिनके नहिं मन में सन्तोष,
रहता सदा कपट औ रोष।
उन्हें न मिलता है सुख नेक,
दिन दिन पाते कष्ट अनेक ॥

[८]

नौ सिख देख विधर्मी रीति,
लगते तुरत बदलने नीति।
निज कुल का जो सद्व्यवहार,
तज देते सो परम गवाँर ॥

[९ [

पहिले कहला के अतिशिष्ट,
जो करते फिर क्रिया निकृष्ट।
सो होते हैं अपयश-धाम,
उनको क्या जीवन से काम ॥

[१०]

सुमति एक है अनुपम रत्न;
करो उसे पानेका यत्न।
जो मनुष्य है बुद्धि-विहीन,
वही जगत में सबसे दीन ॥

(११)

उपकारी हो तज आलस्य,
दया दीन पर करो अवश्य।
जिसे नहीं करुणा का लेश,
वह निश्चय निश्चर पशुवेष ॥

[१२]

क्षमा शस्त्र है जिसके हाथ,
क्या डर है रह दुर्जन साथ।
जाओ बिसर पराई भूल,
रहो सदा सब पर अनुकूल ॥

[१३]

दस लोगों से छिप के आप,
जो दूषण करते सो पाप।
करना चाहें जिसे प्रकाश,
सोई सुकृत न इसमें त्रास ॥

[१४]

जो अपनी कुचाल से लोग,
औरों को देते हैं सोग।
उनके डर से हो बेचैन,
धरती भी थिर रहती है न ॥

[१५]

जो कुछ धन हो तेरे पास,
रख तू सदा उसी की आस।
देख परस्त्री परधन धाम,
ले न कभी लालच का नाम ॥

[१६]

समझ समझ के अपना दोष,
तज दो धारण कर सन्तोष।
कुछ भी करो धर्म का काम,
जिससे बना रहै जग नाम ॥

[१७]

जो अपनी इच्छा अनुसार,
करता है अनुचित व्यवहार।
सो कुछ दिन में सोच बिचार,
पछताता है बारंबार ॥

2

[१८]

दया सहित करके सम्मान,
जो दुखियों को देते दान।
करते नहीं कभी अभिमान,
उनसे बढ़ कर कौन महान॥

[१९]

गुरुजन से रखते नहिँ प्रीति,
करते हैं दिन रात अनीति।
अन्तकाल होकर निरुपाय,
पाते हैं वे दुख-समुदाय॥

[२०]

विषय-वासना दुख की मूल,
सब प्रकार से देती शूल।
इससे जब होगे तुम दूर,
तब सुख पाओगे भरपूर॥

[२१]

जो होगया पाप में चूर,
क्या उससे वह होगा दूर?
उसको सत्पथ का उपदेश,
नहीं करेगा हृदय प्रवेश॥

[२२]

ज्यों ज्यों नर करता है पाप,
त्यों त्यों दुख पाता है आप।
तदपि न होती पातक-भीति,
देखो कलियुग की यह रीति॥

[२३]

दिन दिन अपना अवगुण ढूँढ़,
नहीं त्याग देते जो मूढ़।
वे समझे जाते अतिनीच,
नाम हँसाते जग के बीच॥

[२४]

जिसे लगा जिसका अभ्यास,
वह उसका हो रहता दास।
जानो, बिना किये सत्संग,
होगी नहीं वासना भङ्ग॥

[२५]

जो न कभी करते अन्याय,
बतलाते सबको सदुपाय।
धन्य पुरुष सो ले अवतार,
बिलगाते धरती का भार॥

[२६]

करो काम जो हो निर्दोष,
जिससे सब पावैं सन्तोष।
हो जाओ सबके चितचोर,
यश फैलेगा चारों ओर॥

जनार्दन झा।

तोंबी में तूफान*।

वा

बीबी काडल के उलाहने।

बड़े दिन के त्यौहार के बाद यह तीसरी छत्री जाचुकी है। तुमारा क्या दोष है? क्यों नहीं? बिना छत्री आपके मित्र घर नहीं जासकते थे? उनके पास था क्या जो बिगड़ जाता? क्या कहा, सरदी लग जाती? अवश्य! वे ऐसेही कोमल

---

* आज कल हिन्दी के सामयिक साहित्य में अंगरेज़ी लेखों के आधार पर अनेक प्रबन्ध प्रकाशित होते हैं। यह प्रथा कुछ बुरी नहीं है। परन्तु यदि अन्य भाषा के आधार पर लिखे हुये निबन्ध हिन्दी-साहित्य की सेवा कर सकते हैं तो क्या अन्य भाषाओं के शुद्ध अनुवाद नहीं कर सकते? हमारे विचार में अवश्य कर सकते हैं। लाटिन और ग्रीक भाषा अंगरेज़ी से बहुत पहिले उन्नत हुई हैं। उक्त भाषाओं का कोई ऐसा मान्य ग्रन्थ नहीं है, जिसका अंगरेज़ी अनुवाद न हो। सन् ईसवी के प्रथम शतक में यूनानी पंडित प्लूतार्क लिखित बड़े आदमियों के चरित्रों का अंगरेज़ी भाषान्तर अब भी बहुत आदर के साथ पढ़ा जाता है। अभिप्राय यह है कि अन्य भाषाओं की उत्तम सामग्री को अपनी भाषा के व्यवहार में लाने से हमारी भाषा का विस्तार तथा क्षमता बढ़ती है। इससे पहिले इसी नीति को ग्रहण करने से बंगभाषा तथा मराठी गौरव को प्राप्त हो चली हैं। ये "उलाहने", जिनका मूल एक अति क्षुद्र घटना है, मुझे ऐसे रोचक प्रतीत हुए कि मैं

ख पड़ते थे। और सरदी लगै तो लग जाय, बलाय से, हमारी एकमात्र छत्री क्यों चली जाय? मिस्टर काडल, तुम मेह की झड़ी का शब्द सुनते हो? मैं समझती हूं, तुम्हें मेह की झड़ी नहीं सुनाई देती? जान पड़ता है आज इन्द्रराज सारे संसार पर कुपित हुए हैं। खिड़कियों के ऊपर तुम्हें पट पट शब्द नहीं सुन पड़ता? तुम व्यर्थ मुझसे छल मत करो। ऐसी भीषण वर्षा में मनुष्य को ऊंघ आजाय! मैं पूछूं हूं, तुम नहीं सुनते? सब सुनते हो। अच्छा ख़ासा प्रलय है। छः सप्ताह रहैगा; इतने दिन तक घर से बाहर न हिलना, न चलना! खूब! मिस्टर काडल, मुझे मूर्ख मत समझो। यह जले पर नोन बुरकना है। वे महात्मा आपको छत्री लौटा देंगे? अवश्य! तुम्हारी बात से तो लोग तुम्हें कल का जनमा बालक जानेंगे। मानो पहले भी कभी किसी ने छत्री लौटा कर दी थी। वह देखो! और विशेष विशेष होता जाता है। मूसलधार और छः सप्ताह तक लगातार! इसपर पास छत्री नहीं!

मुझे यह बताओ, कल बालक पाठशाला कैसे जायंगे? मैंने प्रतिज्ञा करली है; ऐसी कराल वर्षा में उन्हें कभी घर से बाहर न जाने दूंगी। बिचारे दीनबालक घर में बैठे सड़ा करें; कुछ न लिखें न पढ़ें! न सही! पर घर से बाहर निकलने और भींगने कदापि न पावेंगे। फिर बड़े होने पर निरक्षर रह जाने का दोष, भगवान जाने, किसके माथे मढ़ा जायगा। अवश्य, पिता के अतिरिक्त और किसके माथे? जिन लोगों को अपनी निज सन्तान पर दया नहीं आती, वे कदापि पिता बनने योग्य नहीं हो सकते।

यह आपके छत्री मांगे देने का कारण मैं खूब जानती हूं। हां जी! मैं अच्छी तरह जानती हूं।

मैं कल चाय के निमन्त्रण में मायके जाऊंगी—तुम यह जानते थे; इससे जानबूझ कर तुमने छत्री मांगे देदी।

मिस्टर काडल, तुम वर्षा का आहट सुनते हो? सच कहो सुनते हो कि नहीं? पर, क्या चिन्ता है; मैं कल मायके जाऊंगी, अवश्य जाऊंगी; और विशेषता यह है कि प्रति पद पयादे जाऊंगी—समझ-लो, बस, इसीसे मेरे प्राण जायंगे। मूर्ख मैं नहीं हूं; मूर्ख तुम हो। तुम जानते हो मुझसे खड़ाऊं नहीं पहनी जातीं; जब छत्री भी न होगी तो सीलसे मुझे अवश्य सरदी लगैगी; सदा लग जाती है। पर तुम्हें क्या? तुम्हारी बलाय से; मैं मांदी होकर खाट में पड़ जाऊं। विश्वास रक्खो; मैं अवश्य पड़ूंगी। और एक अच्छा ख़ासा बिल डाकृर का तयार है। मुझे तो यही भरोसा है। छत्री मांगे देने का स्वाद आपको तभी जान पड़ेगा। मेरे प्राण जायं तो कौन अचरज की बात है; इसीलिये तो तुम ने छत्री मांगे दी। निस्सन्देह!

ऐसी वर्षा में कीचड़ खूंद कर चलने से मेरे वस्त्रों की भी अच्छी दशा होगी। गौन और टोपी का सर्वथा नाश हो जायगा। क्या कहा? तो पहनने की क्या आवश्यकता है? अवश्य, मैं कभी न मानूंगी। नहीं जी, मैं तुम्हें वा और किसीको प्रसन्न करने के लिये गुड़िया बन कर बाहर नहीं जाती। भगवान साक्षी है, मैं कभी देहली से परे पांव नहीं रखती। सत्य जानो, अत्युक्ति नहीं है; इस विषय में गुलाम भी मुझसे अच्छे हैं। परन्तु जब जाना होता है, तो भले घर की स्त्रियों की ही भांति जाती हूं। ओहो! यह भीषण वर्षा आज खिड़की को तोड़कर चूर चूर कर देगी!

कल का स्मरण करके मुझे ताप चढ़ा आता है। न जाने, मायके कैसे जाना होगा। मर भलेही जाऊं; पर जाऊंगी अवश्य। क्या कहा? नहीं जी, मैं किसी से मांगकर छत्री नहीं लेने की। न; और न तुम्हें दूसरी मोल लेने दूंगी। इसलिए प्यारे काडल,

---

उनका अविकल अनुवाद "सरस्वती" के पाठकों की भेंट करता हूं। श्रीमती काडल के पति, मिस्टर काडल का गुरु अपराध यह था कि उन्होंने, एक मित्र को जो मिलने आया था, छत्री मांगे देदी थी। अनुवादक।

भली भाँति सुनलो; यदि तुम ग्रैार छत्री घर के भीतर लाये, मैं उठाकर बाहर फेंक दूंगी। लूंगी तो ग्रपनीही छत्री लूंगी, नहीं न लूंगी।

ग्रैार देखो, पिछलेही सप्ताह उस छत्री में पोला लगवाया था। ऐसा जानती तो योंही पड़ी रहने देती न; दूसरों के लिये नये पोलें के दाम ख़रचें; ग्रैार हंसी करावें सो घाते में। पर तुम्हें क्या परवाह? ग्रच्छा, जाग्रो, सो रहो। तुम्हें ग्रपने प्यारे बालक तथा दीन रोगी स्त्री की कुछ भी चिन्ता नहीं है। तुम तो केवल छत्री मांगे देना जानते हो।

पुरुष, निस्सन्देह, ग्रपने को सारी सृष्टि के स्वामी कहते हैं। ग्रच्छे स्वामी! जो एक छत्री को भी नहीं सम्भाल सकते।

मैं जानती हूं, कल पैदल चलने से मेरे प्राण जायंगे। पर तुम तो यही चाहते हो। क्लब में ग्राना जाना, ग्रैार मन का माना तभी तो होगा। तब मेरे दीन बालकों की क्या दशा होगी। परन्तु क्या है, तुम तो सुखी हो जाग्रोगे। ग्रजी, मैं ग्राप की बात कभी न मानूंगी; मैं जानती हूं, तुम तभी सुखी होगे; नहीं तो तुम कदापि छत्री मांगे न देते।

मङ्गलवार को तुम को कचहरी जाना है; भला तुम कैसे जाग्रोगे? ग्रवश्य, बिना छत्री जाना भी मत। ऋण का रुपया मारा जाय। माराजाग्रो; बलाय से; कपड़ों का तो नाश नहीं होगा। जो लोग छत्री उधार देते वे इसी योग्य हैं कि उनका दिया हुग्रा रुपया मारा जाय।

ग्रैार ग्रब मुझे कोई बतावे, मैं बिना छत्री मायके कैसे जाऊंगी। मैं पहले कह चुकी हूं कि जाऊंगी ग्रवश्य। न जाने से माता जानैंगी, बेटी मुझसे दूर दूर भागती है; ग्रैार थोड़ा बहुत द्रव्य जो हमको उससे मिलता, वह भी नहीं मिलैगा—क्योंकि हमारे पास छत्री तो है ही नहीं।

बिचारे बालक मेह में भीगकर गरक हो जायंगे। क्योंकि घर तो वे ठहरने पावैंगे ही नहीं; उनके पाठ में नागा नहीं होने का। उनका पिता उनके लिये ग्रैार क्या छोड़ जायगा? ग्रतः उन्हें पाठशाला जाना होगा। क्या कहा? हां जी, मैंने कहा था कि उन्हें पाठशाला न भेजेंगे। पर तुमारी धृष्टता का कुछ वारा पार है; तुम शरीरधारिणी शीलता को चुड़ैल बना सकते हो। बालकों को पाठशाला जाना होगा। समझ लो; ग्रैार यदि सरदी लगकर उनके प्राण जायँ; मेरा दोष नहीं। छत्री मैंने मांगे नहीं दी।

वैद्यनाथ।

ध्वनि।

हम ग्रपने ग्रास पास जितनी चीज़ें देखते हैं उन चीज़ों में चल विचल होने से कोई न कोई ध्वनि उनसे ग्रवश्य निकलती है। इस ध्वनि के शब्द, नाद, स्वर ग्रादि कई नाम हैं। जिस चीज़ से ध्वनि निकलती है उस चीज़ के किसी हिस्से के कँपने से ध्वनि की उत्पत्ति होती है। ध्वनि के सम्बन्ध में उस कँपने को कम्पन, ग्रान्दोलन, थरथराहट ग्रथवा लहराव भी कह सकते हैं। किसी वस्तु पर ग्राघात होने ग्रथवा उसके हिलने डुलने से उसका कुछ भाग कम्पित हो उठता है। ग्रथवा यों कहिए कि उसमें एक प्रकार की लहरैं सी उठने लगती हैं। ध्वनि इन्हीं लहरों का फल है। ध्वनि के भेद, पदार्थों से उत्पन्न हुए कम्पन के भेदों पर, ग्रवलम्बित हैं। ग्रर्थात् जिस प्रकार का कम्पन ग्रथवा ग्रान्दोलन होगा उसी प्रकार की ध्वनि निकलैगी। ध्वनि के तरङ्ग वायु के द्वारा कान तक पहुँचते हैं। घण्टा, मञ्जीर, मृदङ्ग, सितार ग्रादि, ग्राघात लगने पर, ध्वनि उत्पन्न करते हैं ग्रैार उस ध्वनि को वायु बहाकर सुननेवालों के कान तक पहुंचा देता है। वायु केवल ध्वनि-वाहक है। वह स्वयं ध्वनि को उत्पन्न करनेवाला नहीं।

ध्वनि की उँचाई, निचाई ग्रैार गम्भीरता, ध्वनि करनेवाले पदार्थों से, एक नियमित समय में, उत्पन्न हुए तरङ्गों की गिनती पर, ग्रवलम्बित है। तरङ्ग जितने कम होंगे नाद ग्रथवा शब्द भी उतनाहीं ग्रधिक गम्भीर होगा। ग्रैार तरङ्ग जितने

अधिक होंगे नाद उतनाही हलका होगा। ध्वनि के भेदों से ध्वनि के तरङ्गों की लम्बाई का बहुत ही निकट सम्बन्ध है। गहरे स्वर लम्बे तरङ्गों से उत्पन्न होते हैं और ऊंचे स्वर छोटे तरङ्गों से। सबसे गहरा स्वर उन तरङ्गों से उत्पन्न होता है जो एक सेकण्ड में १४ या १५ निकलते हैं। इस प्रकार के तरङ्गों की लम्बाई कोई ३२ फ़ुट होती है। सबसे ऊँचा स्वर उन तरङ्गों से उत्पन्न होता है जो एक सेकण्ड में ४८,००० तक निकलते हैं!

तार को सितार या तँबूरे पर चढ़ाकर उसके ठीक बीच में एक जवारी लगा दीजिए। इस प्रकार बीच में उसे आधार देकर उसके एक छोर को छेड़िए। आघात होतेही तार का दूसरा छोर भी तरङ्गित हो उठैगा। उसमें भी कम्प उत्पन्न हो जायगा। अर्थात् सारा तार हिलने लगैगा। इस बात को सिद्ध करने के लिए तार के दूसरे भाग में काग़ज़ के छोटे छोटे टुकड़े रख दीजिए और रख कर तार के पहले भाग को फिर छेड़िए। छेड़ते ही दूसरे भाग में भी तरङ्ग उठैंगे और काग़ज़ के वे टुकड़े नीचे गिर जायंगे।

तार को चढ़ाकर उसके तीन भाग कल्पना कीजिए और यथा स्थान जवारी लगाकर पहले और दूसरे भाग पर काग़ज़ के टुकड़े रख दीजिये; फिर तीसरे भाग पर आघात कीजिए। इस प्रकार तार को छेड़ते ही पहले भाग पर रक्खे हुए टुकड़े हिल कर गिर जायँगे; परन्तु दूसरे भागवाले न गिरैंगे। अर्थात् दूसरा भाग कम्पित न होगा। उसमें ध्वनि की तरंगें न उठैंगी। वह विश्राम करता रहैगा। इसलिए उसे विश्रामस्थान कहना चाहिए। यदि किसी तार के चतुर्थांश पर आधार लगावें तो वह बराबर बराबर के चार भागों में बँट जायगा। इन चार भागों में से दो भाग कम्पित होंगे और दो विश्राम करते रहैंगे। इसी प्रकार और भी समझिए।

घण्टा, मञ्जीर, झांझ और घड़ियाल आदि पर जिस समय आघात होता है, अर्थात् जिस समय वे बजाये जाते हैं, उस समय उनमें सब कहीं ध्वनि के तरङ्ग नहीं उठते। जिस नियम का ऊपर वर्णन किया गया उसी नियम के अनुसार उनका कुछ भाग तरङ्गित होता है और कुछ विश्राम करता रहता है। जिस धातु के घण्टे और मञ्जीर आदि बनाये जाते हैं उसकी एक बहुत हलकी तश्तरी लीजिए। उसमें बहुत बारीक बालू पतली पतली बिछा दीजिए। फिर उसे एक ओर धीरे से पकड़ कर दूसरी ओर किनारे पर उसमें किसी चीज़ से आघात कीजिए। आघात होते ही जहां जहां ध्वनि की तरंगें उठैंगी वहां वहां की बालू हिलकर तश्तरी के उन भागों पर चली जायगीजो भाग विश्राम लेते होंगे। पकड़ने और आघात करने के स्थान को आप बदलते जाइए। बदलने केसाथही तरङ्ग और विश्राम के स्थान भी बदलते जायंगे।

गोल अथवा चौकोन घड़ियालों या तश्तरी
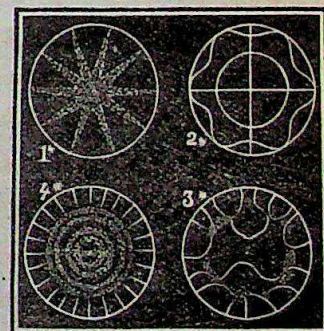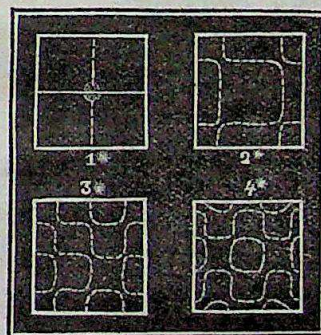
लीजिए। उसको भिन्न भिन्न स्थानों पर पकड़िये; अथवा भिन्न भिन्न स्थानों पर किसी चीज़ के सहारे उसको लटकाइए। फिर उसपर आघात कीजिए, और आघात का स्थान बदलते जाइए; तथा आघात करने का प्रकार भी बदलते जाइए। अर्थात् कभी धीरे से आघात कीजिए और कभी ज़ोर से। ऐसा करने से तश्तरी के कभी कोई भाग तरङ्गित हो कर ध्वनि उत्पन्न करैंगे, कभी कोई। हर दफ़े ध्वनि का एक नया ही चित्र उत्पन्न हो जायगा। ऊपर के चित्र देखिए—

ऐसे ही या इसी प्रकार के ग्रैार अनेक अद्भुत अद्भुत ध्वनि के चित्र उत्पन्न होंगे।

जिस स्थान पर आघात किया जाता है अथवा होता है, उसी स्थान पर ध्वनि का तरङ्ग उत्पन्न होता है। यह तरङ्ग एक परमाणु से दूसरे परमाणु में चला जाता है ग्रैार विश्राम-स्थलों को छोड़ कर तत्सम्बन्धी वस्तु में सब कहीं तत्काल व्याप्त हो जाता है। ध्वनि बड़े वेग से बहती है। एक सेकण्ड में वह १,०५० फ़ुट जाती है। परन्तु प्रकाश की गति ध्वनि से भी अधिक है। यह बात बन्दूक़ छोड़ते समय भली भाँति जानी जाती है। बन्दूक़ दागते ही प्रकाश पहले देख पड़ता है ग्रैार छूटने का शब्द पीछे सुनाई पड़ता है। बिजुली की चमक पहले दिखाई देती है; उसकी गरज पीछे।

ध्वनि के सम्बन्ध में एक बात यह आश्चर्य्य की है कि घने पदार्थों में उसका वेग अधिक होता है ग्रैार विरल पदार्थों में कम। यदि दूर तोपें छूट रही हों ग्रैार ज़मीन पर कान रख कर हम सुनें तो उनके छूटने का शब्द अधिक सुनाई पड़ेगा। परन्तु योंही खड़े खड़े यदि हम सुनें तो वही शब्द बहुत कम सुनाई पड़ेगा। पानी के योग से भी ध्वनि बहुत दूर तक जाती है।

बहती हुई ध्वनि को यदि कोई घना, अर्थात् सान्द्र, पदार्थ मिल जाता है तो उसमें प्रवेश करते समय उसकी गति का मार्ग बदल जाता है। अर्थात् वह सीधी नहीं जा सकती; उसकी गति टेढ़ी हो जाती है। यदि बीच में आ जानेवाले किसी ठोस अवरोधक पदार्थ से ध्वनि टक्कर खाती है तो टकरा कर उसे लैाट आना पड़ता है। इस लैाट आने ही का फल प्रतिध्वनि है। एक अक्षर की प्रतिध्वनि सुनने के लिए सुननेवाले को प्रतिरोधक पदार्थ से कम से कम ६० फ़ुट की दूरी पर होना चाहिए। अधिक अक्षरों की प्रतिध्वनि सुनने के लिए यह दूरी कोई ११६ या १२० फ़ुट होनी चाहिए।

यदि एक इञ्च व्यास की एक टीन की नली लेकर उसका एक छोर मकान के एक खण्ड में ग्रैार दूसरा छोर दूसरे खण्ड में रक्खें ग्रैार उसे मुँह में लगाकर बोलें तो एक ग्रोर का शब्द दूसरी ग्रोर साफ़ सुनाई देगा। इस प्रकार की नलियां एक मकान से दूसरे मकान तक भी लगाई जा सकती हैं। कोसों दूर तक जिस यन्त्र के द्वारा मुँह से बात चीत की जाती है उसका नाम स्पीकिंग फ़ोन है। इस यन्त्र के पास मुँह रखकर जो कुछ बोला जाता है, उसकी ध्वनि तार के सहारे दूसरी ग्रोर पहुच जाती है। वहाँ वह एक नली के भीतर प्रवेश करती है। यह नली जब कान में लगाई जाती है तब ध्वनि साफ सुनाई पड़ती है।

मार कर लैाट ग्रानेवाला ग्रस्त्र।

आपने ऐसे अस्त्रों का वर्णन रामायण आदि में पढ़ा होगा जो चलाये जाने पर लक्ष्य भेद कर फिर अपने प्रयोक्ता के पास लैाट आते थे। ये अस्त्र मन्त्र के बल से चलाए जाते थे। ऐसा हमारे प्राचीन ग्रन्थों में लिखा है। किन्तु हम आज एक ऐसे अस्त्र के विषय में लिखना चाहते हैं जो मन्त्रबल के बिना भी, चलाए जाने पर, चिड़िए के समान ऊपर नीचे उड़ता, मँड़राता, शब्द करता हुआ अपने निशाने का काम बेचूक तमाम कर, अस्त्र-धर के हाथ में या उसके बहुत समीप लैाट आता है। न इसमें कोई यन्त्र हैं ग्रैार न मन्त्र; यह केवल एक टेढ़ी, सादी लकड़ी, है जिसमें लोहे का लेश तक नहीं है।

२—आस्ट्रेलिया टापू के जङ्गली मनुष्यों का, यहां के कोल, भील ग्रैार सन्तालों के धनुष के समान, यह मुख्य हथियार है जिसे वे "बूमरेंग" कहते हैं। इससे वे अपना शिकार मारते हैं ग्रैार समर में शत्रुओं का सिर धड़ से विलग भी करते हैं। बड़ा चतुर, सावधान ग्रैार पैतरेबाज़ समरपटु भी इसके वार से बचने में कदाचित् ही समर्थ होता है। तलवार, भाले, बर्छे, कुठार आदिक से बचने के लिए ढाल है, पर बूमरेंग से ढाल द्वारा भी निस्तार सम्भव नहीं; क्योंकि ढाल पर टक्कर खातेही यह

टुकड़े टुकड़े हो जाता है और छिटक कर शरीर में शतधा प्रवेश कर जाता है। जिनको हमारे लिखने में कुछ अत्युक्ति का सन्देह हो, वे आस्ट्रेलिया में जाकर इस अस्त्र का चमत्कार स्वयं देख सकते हैं; अथवा यदि गौराङ्ग लेखकों पर विश्वास हो तो पादरी जे० जी० उड कृत "मैन ऐण्ड हिज़ हैण्डी-वर्क्स" नामक पुस्तक का अवलोकन करें।

३-बूमरैंग के डील डौल का विवरण ठीक ठीक नहीं दिया जा सकता। क्योंकि दो बूमरैंग कभी पूरे पूरे एक से नहीं होते। तौभी मोटे तौर पर समझाने के लिए यह कहना चाहिए कि यह अस्त्र २ फुट लम्बा, २½ इञ्च चौड़ा और ⅜ इञ्च मोटा होता है। यह आकार में प्रायः धन्वा सा होता है। इसकी लम्बाई, चौड़ाई, मोटाई और झुकावट, बनानेवाले की इच्छा पर, स्थिर है। झुकावट कभी कम, कभी अधिक, और कभी कभी दुहरी (अंगरेज़ी S अक्षर के सदृश) होती है। इसके नीचे का तल समथर; ऊपर का, गोलाई लिए हुए; बीच का उभड़ा हुआ; और चारों ओर का तट तीक्ष्ण होता है। दो भिन्न बूमरैंग के चित्र यहां पर दिए जाते हैं। यह किसी मज़बूत लकड़ी का बनाया जाता है।
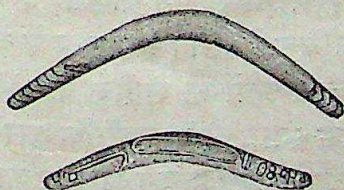
४-पादरी जे० जी० उड साहब का कथन है कि, आस्ट्रेलियावालों को छोड़, न कोई बूमरैंग बना सकता है और न कोई ठीक ठीक चलाही सकता है। वे कहते हैं कि किसी जङ्गली से बूमरैंग ख़रीद लिया जाय और नमूने के तौर पर उसे किसी परम निपुण विलायती बढ़ई को, उसकी नक़ल बनाने के लिए दिया जाय; तो परिणाम यह होगा कि बढ़ई ऐसा भद्दा बूमरैंग बनावेगा जिसे, दूसरा तो दूर रहे, स्वयं कोई आस्ट्रेलियन भी न चला सकैगा। सब आस्ट्रेलियन भी इसे नहीं बना सकते। चलानेवाले बहुत हैं, पर बनानेवाले बहुत थोड़े। देखने में बूमरैंग बहुत सादा है; पर उसके बनाने में बड़ी कारीगरी है। बनाने में जो वज़न रक्खा जाता है, मुख्यतः उसीको, और फेरवट देकर फेकनेही को, कारण वह लौट आता है। जिनमें इसके गढ़ने की कला है वे इतने धनी हो जाते हैं कि वहां के प्रधान के पद तक कभी कभी पहुच जाते हैं। नवसिखुए शिल्पी के लिए अच्छा बूमरैंग बना लेना नितान्त असम्भव है। बनाने की क्रिया बड़ी लम्बी, क्लिष्ट और उद्वेग उत्पन्न करनेवाली है। शिल्पी एक लकड़ी लेलेता है और निरन्तर हाथ पर तौलता हुआ कभी यहां से और कभी वहां से छीलता चला जाता है।

५-आस्ट्रेलियनों को छोड़कर कोई और मनुष्य बूमरैंग के चलाने की कला में कुशल हो सकैगा, इसका विश्वास पादरी साहब को नहीं है। बहुत से यैरोपीय, पादरी साहब समेत, बूमरैंग चला सकते थे। उनका फेंका बूमरैंग लौट आता था। पर आस्ट्रेलियन इससे कहीं बढ़कर चमत्कार कर सकता है। एक को पादरी साहब ने देखा था कि वह दहने हाथ को पीछे करके उछलता और अपने सिर के ऊपर आयुध को फेरा दे, आकाश में, कीक मार, छोड़ देता। फिर क्या था, मानो कबूतर छोड़ दिया गया। अस्त्र कभी पलटी खाता, चक्कर मारता, नीचे उतरता, ऊपर चढ़ता, शब्द करता हुआ मानो अपने रास्ते को स्वयं चुनता, उड़ा करता और जब लौट कर अपने स्वामी के पास आता तो फिर दुबारा मण्डल बाँधने लगता और अन्त को बाज़ के समान चलानेवाले के हाथ में आजाता था। जानना चाहिए कि यह कौशल केवल दिखाने के लिए था।

६-अस्त्र का एक सिरा चलानेवाला इस भांति पकड़ता है कि कुबड़ा भाग ऊपर को रहता है। फेकने में चक्करदार चाल दी जाती है जिससे वह उसी ठौर फिर लौट आता है। कभी कभी यह निशाने पर सीधे जाकर वार करता है और कभी

मण्डरा कर। यदि लक्ष्य किया गया जन्तु किसी चट्टान के उधर है तो अस्त्रधारी इस प्रकार उसका प्रयोग करेगा कि उस ओट के नीचे जाकर वह टक्कर खावे और फिर उछल कर लक्ष्य पर जा गिरे।

७—पादरी साहब ने एक बार देखा कि एक युवक अभियुक्त हुआ। वहां की रीति के अनुसार उसके सत्यासत्य की परीक्षा इस भाँति की गई। सारा वस्त्र खोल करके वह निरायुध खड़ा किया गया। उसपर धावा करने के लिए दो मनुष्य दो दो भाले और एक एक बूमरैंग से सज्जित होकर अभियुक्त से साठ साठ गज़ पर खड़े हुए। और अनल्प-वेग-पूर्वक उसपर वे टूट पड़े। निःशस्त्र रहकर भी जवान ने, एक बूमरैंग को छोड़, समग्र हथियारों के वार से अपनी रक्षा की। बूमरैंग ने दोअन्नी के बराबर उसके कन्धे से मांसखण्ड इस सफाई से उड़ा दिया जैसे अस्तुरे ने काट की हो। सुतरां मनुष्य दोषी ठहराया गया।

८—बहुत दिनों तक पश्चिमी लोगों की यह धारणा थी कि बूमरैंग केवल आस्ट्रेलिया ही की विशेषता है, पर यह बात अब जाती रही। भारतवर्ष और आफ़्रिका में भी यह पाया गया है! आफ्रिका के जङ्गलियों का बूमरैंग लौटता नहीं; पर यहां का सर्वगुण-सम्पन्न है। द्राविड़ देश की कई जातियां इससे हरिन आदि का शिकार करती हैं। मद्रास के सरकारी अजायब घर में दो हाथीदांत के बूमरैंग हैं जो तानजोर-नरेश के शस्त्रागार से लाए गए हैं। मद्रास के डाकृर ओपर्ट को भी एक लोहे का और चार काले काठ के बूमरैंग पदुकोटा से मिले थे। पदुकोटा राज्य की आयुधशाला में इनका एक बड़ा संग्रह रहता है। वहां की मद्रासी भाषा में इनको "वलाई टाडी" अर्थात् झुकी लकड़ी कहते हैं। इनके लौट आने का गुण मद्रासी अच्छी तरह जानते हैं। ये एक से नाप के नहीं होते; कुछ अन्तर होता है।

९—जान पड़ता है कि आर्य्यों के यहां आने के पूर्व यहां के अनार्यों में बूमरैंग प्रचलित था—जैसे अंगरेज़ों के पहले आष्ट्रेलिया में। उन अनार्यों से आर्य्यों ने भी उसका वर्तना सीखा। क्योंकि वैश्यम्पायन ऋषि प्रणीत "नीति-प्रकाशिका" नामक नीति ग्रन्थ में, जो डा० ओपर्ट को पहले पहल दक्षिण में मिला, इसका वर्णन "आस्तर" नाम से इस भाँति पाया जाता है। "इसके अन्त में एक ग्रन्थि (घुण्डी) होती है। इसका सिर लम्बा होता है यह एक बालिश्त चौड़ा होता है। बीच में एक हाथ का झुकाव होता है। यह तीक्ष्ण और कृष्ण वर्ण होता है। दो हाथ लम्बा होता है। चक्कर बाँधना, गिरा देना और टूट जाना इसके गुण हैं। रथ और पैदलवालों के लिए यह बड़े काम का आयुध है।"

१०—यद्यपि इसका प्रचार आर्यावर्त्त से बहुत पहिले धनुष बाण के सामने जाता रहा; पर आर्यों में भी किसी समय यह प्रचलित था; इसमें संशय नहीं। नहीं तो यह एक ऋषिकृत संस्कृत ग्रन्थ में आयुधों के बीच न गिना जाता। धनुष बाण के लाभों के सम्मुख इसका उठ जाना स्वाभाविक है। धनुष बाण सुकरता से बन सकते थे और समर में काम भी अधिक देते थे। क्षणमात्र में वे शत्रुदल के सैकड़ों क्या सहस्रों का संहार कर सकते थे; प्रत्यञ्चा से एक रवाना हुआ नहीं कि दूसरे तरकश से निकाल चढ़ाए गए। प्रत्युत आस्तर का भाण्डार शीघ्र चुक जानेवाला और अस्त्रधारी को ख़ाली हाथकर देनेवाला है।

११—संस्कृत के विद्वानों ने आस्तर अर्थात् 'छिटका देनेवाला' इसका नाम बहुत ही उपयुक्त रक्खा है। किसी चढ़ती हुई सेना पर जब वे निष्ठुरता से छोड़ दिए जाते रहे होंगे, उस समय सैनिकों की बुरी दशा हो जाती रही होगी। इन तीक्ष्णदंष्ट्र, सन्कार भरते हुए उड़नेवालों, को देख वे किंकर्त्तव्य-विमूढ़ हो यह नहीं स्थिर कर सकते

रहे होंगे कि इनका उड़ना कब बन्द होगा, ये कब गिरकर किस किस को लक्ष्य बनावेंगे तथा उनसे कैसे बचेंगे। ऐसी दशा में सेना का 'छिटक जाना' तितर बितर हो जाना, परिणाम ही है।

काशीप्रसाद।

देशव्यापक भाषा।

देवनागर-लिपि के गुण।

[३]

देश की उन्नति उसकी भाषा की उन्नति पर अवलम्बित रहती है। जिस देश की भाषा अच्छी दशा में है वह देश उन्नत हुए बिना नहीं रहता। विचारों के प्रकट करने का मार्ग भाषा ही है। जिस देश में सुविचारों का अभाव है उस देश की अवस्था कभी नहीं सुधरती। और सुविचारों का, कला-कैशल-सम्बन्धी ज्ञान का, व्यापार-विषयक तारतम्य आदि का, देश में भाषा ही के द्वारा प्रचार होता है। इसी से देश को उन्नत करने के लिए भाषा की उन्नति ही मुख्य साधन है। जितने देश हम अच्छी दशा में देखते हैं उन सबको हम अपनी अपनी भाषा को प्रौढ़, सुगम और विशेष व्यापक करने में सदैव तत्पर देखते हैं। हमारे प्रभु अंगरेज़ों को देखिए। यद्यपि उनकी भाषा में उच्चारण आदि सम्बन्धी कितने ही बड़े बड़े दोष हैं, तथापि उनका उसपर विलक्षण प्रेम है। वे उसकी अभिवृद्धि के लिए सदैव यत्नवान् रहते हैं। कोई विषय ऐसा नहीं है जिस विषय के सैकड़ों ग्रन्थ अंगरेज़ी में न हों। इन्हीं ग्रन्थों के द्वारा लोगों को सज्ञानता बढ़ती है; उनके विचार प्रौढ़ होते हैं; उनकी बुद्धि विकसित होती हैं। इन्हीं गुणों के योग से देश की प्रतिदिन अधिक अधिक उन्नति होती जाती है।

जब सज्ञानता की वृद्धि के लिए केवल भाषा ही एक मात्र मुख्य साधन है तब जिस लिपि में भाषा लिखी जावै, वह लिपि भी सर्वगुण-विशिष्ट, सरल और निर्दोष होनी चाहिए। गुणों का विचार करने में फ़ारसी लिपि का तो नामही न लेना चाहिए; क्योंकि उसकी बराबर सदोष और भ्रामक दूसरी लिपि शायदही इस भूतल में हो। अंगरेज़ी लिपि विदेशी है और अनेक दोषों से दूषित है। अंगरेज़ों ही के लड़के उस लिपि की पुस्तकें बिना दो ढाई वर्ष परिश्रम किये अच्छी तरह नहीं पढ़ सकते। परन्तु देवनागरी की पुस्तकें हमारे देश में छ सात वर्ष के छोटे छोटे बालक केवल पांच छ महीने में पढ़ने लगते हैं। अतएव नागरी लिपि के सामने अंगरेज़ी लिपि को किसी प्रकार श्रेष्ठता नहीं मिल सकती। कनारी, तामील और तैलङ्गी आदि लिपियां तो अनार्य्यों ही की लिपियां ठहरीं। उन की सदोषता की तो बातही न कहिए। वे तो किसी प्रकार ग्राह्य नहीं। रहीं बँगला और गुजराती लिपियां; सो ये देवनागरी लिपि ही की रूपान्तर हैं। उसीसे बिगड़ कर ये बनी हैं। अतएव इनको प्रधानता नहीं मिल सकती। प्रधान लिपि वही है जिससे वे बनी हैं। इसीलिए देवनागरी लिपि ही में देश-व्यापक भाषा का होना इष्ट है।

देवनागरी लिपि के समान शुद्ध, सरल और मनोहर लिपि संसार में नहीं है। विदेशीय और विजातीय विद्वानों तक ने इसकी प्रशंसा की है। विद्वान् बेडन साहब कहते हैं—

"संस्कृत लिपि की सरलता और शुद्धता सबको स्वीकार करनी पड़ैगी। संसार में संस्कृत के समान शुद्ध और स्पष्ट लिपि दूसरी नहीं है।"

संस्कृत लिपि कोही देवनागर लिपि कहते हैं। इस लिपि की पूर्णता और स्पष्टता के विषय में इतना ही कहना बस है कि इसकी रचना उच्चारण के अनुसार है। मुख से जैसा उच्चारण होता है उसीके अनुसार इसमें वर्ण रक्खे गये हैं। यही एक ऐसी लिपि है जिस

में दूसरी भाषाओं के कठिन से कठिन शब्द बड़ी शुद्धता से लिखे जासकते हैं और वैसेही पढ़े भी जा सकते हैं। संस्कृत के प्रसिद्ध विद्वान् अध्यापक मॉनियर विलियम्स लिखते हैं—

"सच तो यह है कि, संस्कृत लिपि जितनी अच्छी है उतनी अच्छी और कोई लिपि नहीं है। मेरा तो यह मत है कि संस्कृत लिपि मनुष्यों की उत्पन्न की हुई नहीं है; किन्तु देवताओं की उत्पन्न की हुई है।"

बम्बई के हाईकोर्ट के चीफ़ जस्टिस सर अर्स्किन पेरी "नोट्स टू ओरियंटल केसेज़" (Notes to Oriental Cases) की भूमिका में यह लिखते हैं—

"इस एकही बात से संस्कृत लिपि की सर्वाङ्ग पूर्णता सिद्ध होती है कि उसमें प्रत्येक शब्द का उच्चारण केवल अक्षर देखकर होता है। वर्ण-परिचय होतेही हिन्दुस्तान के लड़के बिना रुके कोई भी पुस्तक पढ़ सकते हैं। उनको चाहे विषय का ज्ञान न हो, परन्तु पढ़ने में उनको कोई कठिनाई नहीं होती। योरप में पुस्तकों को साधारण रीति पर पढ़ने के लिए लड़कों को दो वर्ष लगते हैं; परन्तु इस देशमें, जहां संस्कृत लिपि का प्रचार है, तीन ही महीने में लड़के पुस्तकें पढ़ने लगते हैं।

विद्वान् मुसल्मानों तक ने देवनागरी लिपि की प्रशंसा की है। शमसुलउल्मा सय्यद अली बिलग्रामी ने इस प्रकार लिखा है—

"फ़ारसी लिपि की कठिनता ही के कारण मुसल्मानों में विद्या का कम प्रचार है। फारसी लिपि शुद्ध भी नहीं है और देखने में भी अच्छी नहीं है। फ़ारसी अक्षरों में, थोड़ा बहुत लिखना पढ़ना आने में, दो वर्ष लग जाते हैं; परन्तु देवनागरी लिपि में हिन्दी लिखने पढ़ने के लिए, तीन महीने बस हैं।"

सब गुणों से सम्पन्न, सुन्दर, स्पष्ट और सरल देवनागरी लिपि में ही, देश में, हिन्दी भाषा का प्रचार होना चाहिए। हमलोगों को इस लिपि का अभिमान होना चाहिए; और उसके प्रचार के लिए कोई बात उठा न रखनी चाहिए। यह लिपि कोहेनूर हीरा है; अमोल रत्न है। उसे छोड़कर हमको काँच पर क्यों तृप्त होना चाहिए। देवनागरी लिपि को छोड़ किसी दूसरी अशुद्ध, अपूर्ण, कर्कश, कर्णकटु और भ्रामक लिपि को आश्रय देना अविचार की पराकाष्ठा दिखलाना है। गुणवान् का योग्य आदर न करने से उसकी क्या हानि? कुछ नहीं। हानि आदर न करनेवालों ही की है।

अतएव बंगाली, महाराष्ट्र, गुजराती और मदरासी विद्वानों को इस सर्व-गुण-शालिनी नागरी-लिपिही को आश्रय देना चाहिए। एक लिपिहो जाने से एक भाषा होने की कठिनाई बहुत कम हो जावैगी। लिपिकी एकता होने से सहानुभूति बढ़ैगी; परस्पर के विचारों का मेल मिलने लगैगा; परायापन कम हो जावैगा; और सबके हृदय में यह बात जम जायगी कि यद्यपि हमलोग भिन्न भिन्न भाषायें बोलते हैं तथापि सब एकही देश के निवासी हैं। लिपि के एक होतेही, यदि सबके नहीं, तो शिक्षित लोगों के मन में, यह बात अवश्य स्थान कर लेगी कि हम हिन्दू हैं; हमारी भाषा हिन्दी है और हमारा देश हिन्दुस्तान है। "हिन्दी और हिन्दुस्तान" ही इस देश की उन्नति का मूल मन्त्र है। शिक्षित-समाज में इस मन्त्र का अनुष्ठान आरम्भ होने पर सर्वसाधारण लोग भी क्रम क्रम से इसकी दीक्षा लेंगे और यथा-समय यह देश भी देशत्व का अधिकारी होगा। उस समय हमारी न्यायशीला और दयामयी गवर्नमेंण्ट भी, हमारी उन्नति के लिए, विशेष रूप से सहायता दे सकैगी।

हिन्दी के व्यापक भाषा होने में कठिनाइयां

इस समय, हिन्दी का साहित्य अच्छी दशा में नहीं है। यदि हम यह कहैं कि हिन्दी में, नाम लेने योग्य, साहित्यही नहीं तो भी बहुत बड़ी अत्युक्ति न होगी। इसके कई कारण हैं। एक कारण यह है कि इन प्रान्तों में लोगों की प्रवृत्ति पढ़ने लिखने की ओर कम है। जो अपने लड़के को स्कूल भेजता है वह ज्ञान सम्पादन के लिए नहीं,

किन्तु सरकारी नौकरी मिलने के लिए भेजता है। दूसरा कारण यह है कि सरकार आज तक हिन्दी की ओरसे उदासीन थी। अब उसने हिन्दी को भी आश्रय दिया है। अतएव शीघ्रही इसकी दशा सुधरने की आशा है। परन्तु उसकी वर्तमान अवस्था का विचार करने की आवश्यकता नहीं। आवश्यकता इस बात के विचार करने की है कि हिन्दी देश-व्यापक भाषा हो सकती है या नहीं; और ऐसा होने से देश को लाभ पहुँच सकता हैं या नहीं। इन बातों का विचार हम ऊपर कर आये हैं। हिन्दी सब प्रकार व्यापक भाषा होने के योग्य है। यदि इस देश में कोई व्यापक भाषा हो सकती है, तो हिन्दी ही हो सकती है। इसलिए उसकी वर्तमान स्थिति की ओर दृक्पात न करके उसके गुणों ही का विचार करना अभीष्ट है। रत्न यदि कूड़े में फेंक दिया जावै तो उसका क्या अपराध? अपराध फेंकनेवाले का है। वहां पड़ा रहने से उसका रत्नत्व नहीं जाता। किसीने कहा है—

कनकभूषणसंग्रहणोचितो यदि मणिस्त्रपुणि प्रणिधीयते।
न स विरौति न चापि हि शोभते भवति योजयितुर्वचनीयता॥

अर्थात् सोने की अंगूठी में जड़े जाने योग्य हीरे को यदि किसीने कांच में जड़ दिया तो उसका क्या दोष? इस दशा में न तो वह वहां पर शोभित ही होता है और न कुछ कहताही है। हां, जड़नेवाले की बुद्धिमानी की सबलोग चर्चा अवश्य करते हैं! अतएव हिन्दी के वर्तमान साहित्य का विचार न करके उसकी योग्यता ही का विचार करना उचित है। और योग्यता का विचार करने पर सबको यही स्वीकार करना पड़ेगा कि वह देश-व्यापक भाषा होने के सर्वथा योग्य है। इसलिए उसकी साहित्य विषयक न्यूनता, उसे व्यापक भाषा बनाने की किसी प्रकार अवरोधक नहीं है।

हिन्दी लिपि और हिन्दी भाषा के प्रचार का यदि निश्चय भी किया जाय तो गवर्नमेण्ट उसे स्वीकार करैगी या नहीं? यह एक प्रश्न है। हम नहीं जानते, गवर्नमेण्ट इसमें क्यों बाधा डालैगी। एक लिपि और एक भाषा होने से गवर्नमेण्ट को सब प्रकार लाभ ही लाभ है; हानि नहीं। इस समय अधिकारियों को जो बँगला, गुजराती और तामील, आदि क्लिष्ट लिपियां और क्लिष्ट भाषायें सीखनी पड़ती हैं, वे उन्हें न सीखनी पड़ेंगी। इन कष्टसाध्य भाषाओं के सीखने में योरोपियन सिविलियन अधिकारियों को बहुत समय लगता है; बहुत कष्ट उठाना पड़ता है; परन्तु तिसपर भी उनको उनका यथोचित ज्ञान नहीं होता। हिन्दी का प्रचार हो जाने से, फिर, "चिरदिन" के नाम समन्स भेजे जाने का अवसर कदापि न आवैगा। भाषा की बात राजनीतिसे सम्बन्ध नहीं रखती। भाषा के सम्बन्ध में किसी गूढ़ मन्त्रणा की शङ्का नहीं की जा सकती। भाषा एक होने से राजा और प्रजा दोनों को समान लाभ है। जिस हिन्दी लिपि के गुणों का वर्णन बड़े बड़े पाश्चात्य विद्वानों ने किया है, उसे हमारी न्यायमूर्त्ति गवर्नमेण्ट अवश्य स्वीकार करैगी। सब लोगों को उसे देश-व्यापक लिपि बनाने की चेष्टा भी करना चाहिए; गवर्नमेण्ट से प्रार्थना भी करनी चाहिए। गवर्नमेण्ट तभी बाधा देगी जब लोकमत में विरोध होगा; अन्यथा नहीं। और यदि प्रथम उसने यह प्रस्ताव न भी स्वीकार किया तो, हिन्दी के विषय में, चर्चा करते रहने, उसके व्यापक भाषा न होने के दोष बतलाने, और सारे देश का एक मत होने से, किसी न किसी दिन, गवर्नमेण्ट अवश्य प्रजा का प्रस्ताव स्वीकार करैगी। देश में एक भाषा होने के गुण ऐसे गुरु, ऐसे प्रखर और ऐसे सर्व-सम्मत हैं कि गवर्नमेण्ट को, शायद एक भी शब्द, इस प्रस्ताव के विरुद्ध न कहना पड़े।

देशभर में एक लिपि और एक भाषा करने में जो कठिनाइयां जान पड़ती हैं वे सब उल्लंघनीय हैं। वे ऐसी नहीं हैं जिनका प्रतिबन्ध न हो सके। सब प्रान्तों में देवनागरी लिपि करने का सहज उपाय यह है कि प्राइमरी (प्रारम्भिक) मदरसों में उसकी शिक्षा दी जावै। यदि ऐसा किया जावै तो

बहुतही थोड़े दिनों में इस लिपि का सब कहीं प्रचार हो जाय और शीघ्रही प्रजा में सहानुभूति जागृत हो उठै। यदि एक सम्मत होकर सब लोग गवर्नमेण्ट से इस विषय में प्रार्थना करें तो सर्वथा सम्भव है, कि वह इस परमोचित प्रार्थना को स्वीकार करले और प्रारम्भिक मदरसों में, और और विषयों के साथ, नागरी लिपि का भी प्रचार कर दे। परन्तु, कल्पना कीजिये, कि गवर्नमेण्ट ने ऐसा करना मंज़ूर न किया तो क्या इस लिपि को प्रचलित करने का और कोई मार्ग ही नहीं; और कोई उपायही नहीं ? है क्यों नहीं। अवश्य है। ऐसे अनेक स्कूल हैं जिनपर गवर्नमेण्ट का कोई स्वत्व नहीं; वे सर्वथा प्रजाही के ख़र्च से चलते हैं। उनमें हिन्दी लिपि की शिक्षा प्रारम्भ करदी जाय। इस प्रकार के जितने स्कूल हैं सबमें हिन्दी लिपि यदि सिखलाई जावै तो वर्षही छ महीने में हज़ारों नहीं, लाखों, लड़के और लड़कियां, देश में हिन्दी लिखने लगें; और इस लिपि को व्यापक लिपि करने में बहुत सहायता मिलै। देश के कल्याण के लिए, देश के मङ्गल के लिए, इस मृतक देश को फिर सजीव करने के लिए, यह क्या कोई बड़ी बात है ?

यदि हिन्दी लिपि प्रचलित हो जाय तो दूसरी लिपि के आज तक जो असंख्य उत्तमोत्तम ग्रन्थ निकल चुके हैं उनका क्या हो ? अनन्त धन जो छापेख़ानों के मालिक और व्यापारियों ने इन ग्रन्थों के लिए लगाया है उसकी क्या दशा हो ? उस हानि से किस प्रकार निस्तार हो ? ये बातें भी सहसा मन में उठती हैं और थोड़ी देर के लिए एक लिपि की असम्भवनीयता प्रकट करती हैं। परन्तु, विचार करने से, यह असम्भवनीयता जाती रहती है। जो पुस्तकें, जो काग़ज़ात, जो दस्तावेज़ें इस समय बँगला, गुजराती और तामील आदि भाषा की लिपियों में हैं उनको वैसेही रहने देना चाहिए। पुस्तकें जब दुबारा छपैं तब उनकी लिपि हिन्दी कर देने से काम निकल सकता है। ऐसा करने से किसीको कुछ भी हानि न उठानी पड़ैगी। एक लिपि का प्रचार होने (लिपि नहीं, भाषा का भी प्रचार होने) के सैकड़ों वर्ष आगे तक लोग अपनी मूल भाषा को न भूलेंगे; और सम्भव है उनकी मूल भाषा सदा बनीही रहै। इस दशा में पुरानी पुस्तकें जो हिन्दी लिपि में छपेंगी उनके पढ़ने और समझने में कोई कठिनता न उपस्थित होगी। यही बात दस्तावेज़ों के विषय में भी समान रूप से कही जा सकती है। पुराने काग़ज़ात जैसे हैं वैसेही रहैं। हां, नये देवनागरी लिपि में लिखे जावैं। यदि ऐसे महान् देशकार्य में किसीको थोड़ीसी हानि भी उठानी पड़े तो कोई बड़ी बात नहीं। ऐसे अनेक महात्मा होगये हैं, और अब भी कोई कोई हैं, जिन्होंने देशहित के लिए अखण्ड परिश्रम किया है; जिन्होंने अपनी सारी सम्पत्ति दे डाली है; जिन्होंने अपना सर्वस्व समर्पण कर दिया है; जिन्होंने अपने प्राणों तक की भी परवाह नहीं की !

इस काम के लिए आत्मावलम्बन दरकार है; दृढ़ निश्चय दरकार है; दीर्घ प्रयत्न दरकार है। परावलम्बन से काम नहीं चल सकता। परावलम्बन से सफलता की बहुतही कम आशा होती है। गवर्नमेण्ट का मुँह ताकने की अपेक्षा स्वयं कुछ करके दिखलाना चाहिए। गवर्मेण्ट की सहायता माँगने के पहले भिन्न भिन्न भाषाओं के दो चार समाचार पत्रों को हिन्दी लिपि में निकलना चाहिए। सर्वसाधारण के ख़र्च से चलनेवाले स्कूलों में हिन्दी लिपि, और, तदनन्तर हिन्दी भाषा का थोड़ा थोड़ा प्रचार होना चाहिए। सब कहीं इस विषय की चर्चा होनी चाहिए; लेख निकलने चाहिएं; पुस्तकें छपनी चाहिएं; लोगों का चित्त इस ओर अनेक उपायों से आकर्षित किया जाना चाहिए। इन बातों की बड़ी आवश्यकता है। बिना इसके सफलता असम्भव है। अपनी उन्नति के लिए हम को स्वयं कमर कसना चाहिए। यदि भाषा-सम्बन्धिनी उन्नति की अभिलाषा से हम बद्धपरिकर

होंगे और कुछ करके दिखलावेंगे तो गवर्नमेण्ट भी, यथा-समय, हमारी अवश्य सहायता करेगी।

सब कहीं हिन्दी लिपि करने की अपेक्षा हिन्दी भाषा करने में विशेष कठिनता की सम्भावना है। इस समय प्रत्येक प्रान्त के निवासी अपनी अपनी भाषा को उन्नत करने के प्रयत्न में हैं। महाराष्ट्र, गुजराती, मदरासी और बंगाली, सभी, अनेक प्रकार से, अपने अपने साहित्य को सुश्रीक करने में लगे हैं। अनुवाद करने, नवीन पुस्तकें लिखने, व्याख्यान देने, उत्तमोत्तम मासिक पुस्तक और समाचार पत्र निकालने के लिए अनेक सभा, अनेक समाज, और अनेक क्लब स्थापित हुए हैं। वे भला कब चाहेंगे कि उनकी भाषा त्याज्य समझी जावे; और हिन्दी, जो, इस समय, सबसे पीछे पड़ी है, देश-व्यापक भाषा बनाई जावे। परन्तु, देश के हित के लिए उनको दुराग्रह छोड़ना पड़ेगा; ऐक्य उत्पन्न करने के लिए अपने पराये की भावना भुलानी पड़ेगी, सहानुभूति का बीज अंकुरित करने के लिए थोड़ासा कष्ट उठाना पड़ेगा। उनको अपने शासक अंगरेज़ों की ओर दृक्पात करना चाहिए। देश का काम उपस्थित होतेही वे किस साहस से, किस उत्तेजना से, किस स्वार्थत्याग से उठ खड़े होते हैं और तन, मन, धन, सभी अर्पण करके कार्यसिद्धि होने तक वे सारा दुराग्रह और सारा पक्षपात भूल जाते हैं। यदि भाषा के सम्बन्ध में भी हमलोगों ने यह गुण उनसे न सीखा तो हमने कुछ भी न किया। यदि यह भी हमसे न हो सका तो हमको समझना चाहिए कि कभी हमारा सिर ऊंचा न होगा। हमारा जो अधःपतन हुआ है उससे कभी हमारा निस्तार न होगा; हम कभी एकजातित्व के गुणों से परिपूर्ण होकर सुखी न होंगे। और ऐसी सुशिक्षित, ऐसी न्यायी और ऐसी दायमयी गवर्नमेण्ट के शासन से हम कभी पूरा पूरा लाभ न उठा सकेंगे। आकल्पान्त हम इसी शोचनीय दशा में पड़े रहेंगे! कौन ऐसा अधम है जो इसी में सुख मानेगा!

ज़रा जापान की ओर दृष्टि कीजिए। अलग अलग छोटी छोटी रियासतों में बँटे रहने के कारण, जब अपनी अशक्तता जापानियों की समझ में आगई तब उन्होंने एकमत होकर अपनी अपनी रियासतें और अपनी अपनी सेनायें गवर्नमेण्ट के स्वाधीन करदीं। इससे जापान शीघ्रही प्रबल हो उठा; और, इस समय, वह पृथ्वी के शक्तिमान देशों में गिना जाने लगा। इसीका नाम स्वार्थ-त्याग है। हिन्दी को व्यापक भाषा बनाने के लिए महाराष्ट्र, गुजराती, मदरासी और बंगालियों को क्या उतना स्वार्थ-त्याग करने की आवश्यकता है जितना कि जापानियों ने किया है? नहीं। उसका दशांश भी नहीं। उनको अपनी भाषा के स्थान में हिन्दी भाषा को प्रधानता ही भर देना है यह कोई बहुत बड़ा स्वार्थ-त्याग नहीं।

फिर, इसकी आवश्यकता भी नहीं कि और लोग अपनी अपनी भाषाओं को बिलकुलही भूल जावें। उनमें वे कोई पुस्तकही न लिखें। उनमें वे अपने विचारही न प्रकट करें। वे, यह सब कर सकते हैं। देश-व्यापक भाषा के लिए केवल इतनाही आवश्यक है कि इस विस्तीर्ण देश में जितनी भिन्न भिन्न भाषायें प्रचलित हैं उनके उत्तमोत्तम ग्रन्थों का प्रतिबिम्ब देश-व्यापक भाषा में उतारा जावे। किसी भाषा का कोई भी ग्रन्थ हो, उसकी प्रतिमा हिन्दी में आनी चाहिए। ऐसा किये बिना उन ग्रन्थों का सार्वत्रिक प्रचार न होगा। ऐसा किये बिना ज्ञानवृद्धि न होगी। प्रत्येक मनुष्य को अपनी अपनी भाषा के साहित्य के साथ साथ हिन्दी के साहित्य के उत्कर्ष के लिए हृदय से प्रयत्न करना चाहिए। हिन्दी पढ़ने का प्रचार सब कहीं होना चाहिए। हिन्दी में अच्छे अच्छे समाचार पत्र सब प्रान्तों से निकलने चाहिए। ऐसा होने से हिन्दी की शीघ्रही उन्नति होगी। और वह सुगमता से देश-व्यापक भाषा हो सकेगी।

उपसंहार ।

यहां तक जो कुछ लिखा गया उससे यह स्पष्ट है कि हिन्दुस्तान में यदि कोई देश-व्यापक भाषा हो सकती है तो वह हिन्दी है। व्यापक भाषा होने के लिए वह सब प्रकार योग्य है। सरलता, शुद्धता और पूर्णता में हिन्दी लिपि की बराबरी दूसरी लिपि नहीं कर सकती। एक भाषा न होने से जो हानियां हैं उनका भी ऊपर ज़िकर होचुका है; और एक भाषा होने से जो लाभ हैं उनका भी ज़िकर होचुका है। हिन्दी को देश-व्यापक भाषा बनाने में कठिनाइयां अवश्य उपस्थित होंगी। परन्तु कठिनाइयों का सामना करना उचित है। उनको हल करना उचित है। वे ऐसी नहीं हैं जो उल्लंघनीय न हों। इस देश को अपेक्षा रूस बहुत बड़ा है। वहां भी अनेक भाषायें प्रचलित हैं। ऐसे विस्तीर्ण देश में भी, इस समय, एक रशियन भाषा को देश-व्यापक भाषा बनाने का प्रयत्न हो रहा है; और सफलता के पूरे लक्षण दिखलाई देते हैं। इसलिए जब रूस के समान विशाल देश में एक भाषा हो सकती है तब इस देश में भी वह हो सकती है। रूसमें यह विशेषता है कि राजा की भाषा रशियन ही है। यह बात इस देश में नहीं। परन्तु गवर्नमेण्ट की सहायता के बिना भी, हिन्दी को, हमलोग, देश-व्यापक भाषा बना सकते हैं। सफल-मनोरथ होने के लिए एकता की आवश्यकता है; प्रयत्न की आवश्यकता है; दृढ़ निश्चय की आवश्यकता है; अध्यवसाय की आवश्यकना है। बस इतनाही चाहिए। इतनेही में सब कुछ आगया। उद्योग करने से सिद्धि हुए बिना नहीं रहती। चाहै विलम्ब हो; परन्तु सिद्धि होती अवश्य है।

देश के मङ्गल के लिए, देश के कल्याण के लिए, देश को सचेतन करने के लिए एक भाषा होने की परमावश्यकता है। जिसने इस देश में जन्म लिया है; जिसने इस देश का अन्न जल ग्रहण किया है; जो इस देश से कुछ भी प्रीति रखता है; उसका धर्म्म है कि वह इसे सजीव करने के लिए यथा शक्ति प्रयत्न करै। उसका धर्म्म है कि इस मृत भारतवर्ष को एक भाषा-रूपी सञ्जीवनी शक्ति के द्वारा सजीव करै। ऐसा न करना, और न करके इस मृतक के मृण्मय पिण्ड पर पादाघात करते रहना घोर कृतघ्नता है! हमारा देश हिन्दुस्तान है; अतएव हमारी स्वाभाविक भाषा हिन्दी है। हिन्दी और हिन्दुस्तान का अविच्छिन्न सम्बन्ध है। देखैं, हमारे देश-बन्धु इस सम्बन्ध को दृढ़ करने के लिए कब कमर कसते हैं।

कविता ।

बम्बई से बालबोध नामक एक छोटी सी मासिक पुस्तक निकलती है। इसकी २२वीं जिल्द के पांचवें अङ्क में कविता-विषयक एक बहुत ही सरल और हृदयङ्गम लेख निकला है। उसका भावार्थ हम, यहां पर, अपने वाचकों के लिए देते हैं।

हँसना, रोना, क्रोध करना और विस्मित होना आदि व्यापार मनुष्यों में आप ही आप उत्पन्न होते हैं। उन व्यापारों के लिए जो सामग्री दरकार होती है उस समग्री के यथासमय प्राप्त होतेही वे व्यापार आपही आप आविर्भूत हो जाते हैं। इसके लिए और कोई प्रयत्न नहीं करना पड़ता। कविता का भी प्रकार ऐसाही है। अन्तःकरण की वृत्तियों के चित्र का नाम कविता है। नाना प्रकार के विकारों के योग से उत्पन्न हुए मनोभाव जब मन में नहीं समाते तब वे आपही आप मुख के मार्ग से बाहर निकलने लगते हैं; अर्थात् वे मनोभाव शब्दों का स्वरूप धारण करते हैं। वही कविता है। चाहै वह पद्यात्मक हो, चाहै गद्यात्मक शब्दात्मक मनोभाव अपनी शक्ति के अनुसार सुननेवाले पर अपना प्रभाव जमाते हैं। कथा, पुराण अथवा संकीर्तन आदि के समय भक्तिभाव-पूर्ण पदों को

सुनकर कोई कोई प्रेमी आनन्द में लीन हो जाते हैं। उनकी आँखों से आँसुओं की धारा बहने लगती है, यहां तक कि वे अपने के भूल जाते हैं। परन्तु वहीं पर उनके पास ही बैठे हुए कोई कोई महात्मा, निकटस्थ नटखट लड़कों की शरारत देखकर हँसते रहते हैं; किम्वा ऊंघा करते हैं। इसका यह कारण है कि उन पदों में भरे हुए भक्तिरस का स्वीकार अथवा उपभोग करने का सामर्थ्य उनमें नहीं होता। इसमें कोई विशेषता नहीं है। ख़ून के समान भारी अपघात जिस जगह हो जाते हैं, उस जगह सब समञ्जस मनुष्य घबरा उठते हैं; परन्तु तीन चार वर्ष के छोटे छोटे लड़के वहीं आनन्द से खेला करते हैं। उन पर उस घटना का कुछ भी असर नहीं होता। अज्ञानता के कारण ख़ून के समान भयानक घटनाओं की भयङ्करता का विचार ही जब उन लड़कों के मनमें नहीं आता, तब उनको उस विषय में भय कैसे मालूम हो सकता है?

कवियों का यह काम है कि वे जिस पात्र अथवा जिस वस्तु का वर्णन करते हैं, उसका रस अपने अन्तःकरण में लेकर उसे ऐसा शब्द-स्वरूप देते हैं कि उन शब्दों को सुनने से वह रस सुननेवालों के हृदय में जागृत हो उठता है। ऐसा होना बहुत कठिन है। सच तो यह है कि, काव्य-रचनामें सबसे बड़ी कठिनता जो है वह यही है। रामचन्द्र और सीता को हुए कई युग हुए। तुलसीदास को भी आज तीन सौ वर्ष हुए। परन्तु उनके काव्य में किसी किसी स्थान पर इतना रस भरा हुआ है कि, उस रस के प्रवाह में पड़े बिना सहृदय मनुष्य कदापि नहीं रह सकते। रामचन्द्र के वन-गमन-समय सीता कहती है—

प्राणनाथ करुणायतन सुन्दर सुखद सुजान।
तुम बिन रघुकुल-कुमुद-विधु सुरपुर नरक समान॥
मातु पिता भगिनी प्रियभाई।
प्रिय परिवार सुहृद समुदाई॥
सासु ससुर गुरु सुजन सहाई।
सुठि सुन्दर सुशील सुखदाई॥
जहँ लगि नाथ नेह अरु नाते।
पिय-बिनु तियहि तरणि ते ताते॥
तनु धन धाम धरणि पुर राजू।
पति विहीन सब शोक-समाजू॥
भोग रोग सब भूषण भारू।
यम-यातना सरिस संसारू॥
प्राणनाथ तुम बिनु जग माहीं।
मो कहँ सुखद कतहुँ कोउ नाहीं॥
जिय बिनु देह नदी बिनु बारी।
तैसहि नाथ पुरुष बिनु नारी॥
नाथ सकल सुख साथ तुम्हारे।
शरद-विमल-विधु-वदन निहारे॥
खग मृग परिजन, नगर वन, वलकल वसन दूकूल।
नाथ साथ सुर सदनसम पर्णशाल सुखमूल॥
वनदेवी वनदेव उदारा।
करिहैं सासु ससुर सम सारा॥
कुश-किशलय साथरी सुहाई।
प्रभु सँग मंजु मनोज तुराई॥
कन्द मूल फल अमिय अहारू।
अवध सहस सुख सरिस पहारू॥
क्षण क्षण प्रभु-पद-कमल विलोकी।
रहिहौं मुदित दिवस जिमि कोकी॥
वन दुख नाथ कहेउ बहुतेरे!
भय विषाद परिताप घनेरे॥
प्रभु वियोग लव लेश समाना!
सब मिलि होहिँ न कृपा निधाना॥
अस जिय जानि सुजान शिरोमनि।
लेइय संग मोहिँ छाड़िय जनि॥
विनती बहुत करौं का स्वामी।
करुणामय उर अन्तरयामी॥
राखिय अवध जो अवधिलगि रहित जानिये प्रान।
दीनबन्धु सुन्दर सुखद शील-सनेह-निधान॥
मोहिँ मग चलत न होइहि हारी।
क्षण क्षण चरण-सरोज निहारी॥
सबहि भाँति प्रिय सेवा करिहौं।
मारग-जनित सकल श्रम हरिहौं॥

पाँव पखारि बैठि तरु छाहीं ।
करिहैं वायु मुदित मन माहीं ॥
श्रमकण सहित श्याम तनु देखे ।
का दुख समय प्राणपति पेखे ॥

सम महि तृण तरु पल्लव डासी ।
पाँय पलोटिहि सब निशि दासी ॥
बार बार मृदु मूरति जोही ।
लागिहि ताति बयारि न मोहीं ॥

को प्रभु सँग मोहि चितवनहारा ।
सिंह-बधुहि जिमि शशक सियारा ॥
मैं सुकुमारि नाथ वन-योगू ।
तुमहिँ उचित तप मो कहँ भोगू ॥

ऐसहु वचन कठोर सुनि जो न हृदय विलगान ।
तौ प्रभु विषम वियोग दुख सहिहैं पामर प्रान ॥

अस कहि सीय विकल भई भारी ।
वचन वियोग न सकी सँभारी ॥

यह पढ़ते अथवा सुनते समय सुननेवाले के हृदय में सीता की धर्मिष्टता ग्रैार पतिपरायणता-विषयक भाव थोड़ा उद्दीप्त जाग्रत हुए बिना कभी नहीं रह सकता।

एक ग्रैार उदाहरण लीजिए। पण्डित श्रीधर पाठक द्वारा अनुवादित "एकान्तवासी योगी" में वियोगिनीपथिक-वेशधारिणीअंजलेनाअपनेप्रियतम एडविन से उसीके विषय में इस प्रकार कहती है—

पहुंचा उसे खेद इससे अति,
हुआ दुखित अत्यन्त उदास,
तज दी अपने मनमें उसने
मेरे मिलने की सब आस ।
मैं यह दशा देखने पर भी,
ऐसी हुई कठोर;
करने लगी अधिक रूखापन
दिन दिन उसकी ग्रोर ॥
होकर निपट निरास अन्तको
चला गया वह बेचारा;
अपने उस अनुचित घमंड का
फल मैंने पाया सारा ।
एकाकी में जाकर उसने,
तोड़ जगत से नेह;
धोकर हाथ प्रीति मेरी से,
त्याग दिया निज देह ॥
किन्तु प्रेमनिधि, प्राणनाथ को
भूल नहीं मैं जाऊंगी;
प्राणदान के द्वारा उसका
ऋण मैं आप चुकाऊंगी ।
उस एकान्त ठैार को मैं, अब
ढूंढूं दिन रैन;
दुख की आग बुझाय जहां पर
दूं इस मनको चैन ॥
जाकर वहां जगत् को मैं भी,
उसी भांति बिसराऊंगी,
देह गेह को देय तिलाञ्जलि,
प्रिय से प्रीति निभाऊंगी ।
मेरे लिये एडविन ने ज्यों,
किया प्रीति का नेम;
त्योंहीं मैं भी शीघ्र करूंगी,
परिचित, अपना प्रेम

इसमें अंजलेना के पवित्र प्रेम ग्रैार उसकी भूलके पश्चात्ताप सम्बन्धी रस को कवि ने अपने हृदय में लेकर शब्दों के द्वारा बाहर बहाया है। वह रस-प्रवाह सुननेवालों के अन्तःकरण में प्रवेश करके उपरति उत्पन्न करता है, जिसके कारण हृदय गद्गद हो उठता है; ग्रैार किसी किसी के आँसू तक निकलने लगते हैं। इसीका नाम कविता-शक्ति है। ऐसी ही उक्तियों को कविता कहते हैं।

एक तत्वज्ञानी ने तो यहां तक कहा है कि रस-परिपक्वताही कविता है। उसे मुख से कहने की आवश्यकता नहीं; ग्रैार कागज़ पर लिखने की भी आवश्यकता नहीं। यदि नट रंगभूमि में उपस्थित होकर, अपना मुंह ऊपर की ग्रोर उठाकर ग्रैार

गर्दन को हिलाकर, सभासदों को हँसा दे, तो उसके उस व्यापार को भी कविता कहना होगा। आज कल के विद्वानों का मत है कि अन्तःकरण में रस को उत्पन्न करके, और थोड़ी देर के लिए और बातों को भुला कर, उदात्त विचारों में मन को लीनकर देना ही कविता का सच्चा पर्य्यवसान है। कविता द्वारा यह भासित होना चाहिए कि जो बात हो गई है वह अभी हो रही है; और जो दूर है वह बहुत निकट दिखलाई देती है।

एक पण्डित का मत है कि कविता एक भ्रम है; परन्तु वह सुखदायक है। उसका अच्छी तरह उपभोग लेने के लिए थोड़ी देर तक अपनी सज्ञानता भूल जानी चाहिए। जो कुछ सीखा है उसको भी विस्मरण कर डालना चाहिए; और कुछ काल के लिए बालक बन जाना चाहिए। कमल के समान आँखें नहीं होतीं; कोकिल का सा कण्ठ किसी का नहीं होता; जो कुछ इसमें लिखा है, झूंठ है—इस प्रकार की बातें मन में आते ही कविता का सारा रस जाता रहता है। कविता में जो कुछ कहा गया है उसे ईश्वर-वाक्य मान कर उसका रस लेना चाहिए।

आज कल के इतिहासवेत्ताओं का कथन है कि देश में जैसे जैसे अधिक सुधार होता जाता है, और जैसे जैसे विद्या बुद्धि बढ़ती जाती है, वैसे ही वैसे कविताशक्ति भी कम होती जाती है। अब पहले के से अच्छे कवि नहीं होते। यह इस बात का प्रमाण है। यह बहुत ठीक है कि, ज्यों ज्यों हम प्राचीन काल की ओर देखते हैं, त्यों त्यों कविता विशेष रसाल दिखाई देती है। प्राचीन कवियों का सारा ध्यान अर्थ की ओर रहता था; भाषा की ओर बहुत ही कम रहता था। इसीलिए उनकी कविता में उनका हृद्गत भाव बहुत ही अच्छी तरह से प्रथित होजाता था। परन्तु उनके अनन्तर होनेवाले कवियों में प्रबन्ध, शब्द-रचना और अलङ्कार आदिकों की ओर ध्यान अधिक जाने से, कविता में, अर्थ-सम्बन्धी हीनता आगई है। यह हमारा मत है। एक बात और भी है। कविता के लिए एक प्रकार की भाविकता, एक प्रकार की सात्विकता, और एक प्रकार का भोलापन दरकार होता है। वह समय के परिवर्तन से प्रति दिन कम होता जाता है। इसीलिए पहले की सी कविता अब नहीं होती। और प्राचीन कवियों की कविता के सरस होने का एक कारण यह भी है कि किसी प्रकार की आशा के वशीभूत होकर वे कविता न करते थे। सत्कृत्य द्वारा कालक्षेप करने, अथवा परमेश्वर को भक्ति द्वारा प्रसन्न करने ही के लिए प्रायः वे कविता करते थे। यह बात अब बहुत कम पाई जाती है। कविता में हीनता आने का यह भी एक कारण है।

कविता से विश्रांति मिलती है। वह एक प्रकार का विराम-स्थान है। उससे मनोमालिन्य दूर होता है और थकावट कम हो जाती है। चक्की पीसने के समय स्त्रियां, और काम करने के समय मज़दूर आदि परिश्रम कम होने के लिए गीत गाते हैं। जैसे मनुष्यों के लिए गाने की ज़रूरत है, वैसेही देश के लिए कविता की ज़रूरत है। प्रति दिन नए नए गीत बनते हैं और सब कहीं गाये जाते हैं। इसी नियमानुसार देश में, समय समय पर, नई नई कवितायें हुआ करती हैं। यह स्वाभाविक किम्वा नैसर्गिक योजना है।

कामिनी-कौतूहल।

(१)—प्रसूति।

गर्भ-सञ्चार होकर जब गर्भ अपनी पूरी स्थिति को पहुँच जाता है तब वह गर्भाशय से बाहर निकलता है। इस बाहर निकलने, अर्थात् बहिर्गमन को प्रसूति कहते हैं। गर्भ-धारण होकर प्रायः २८० दिन में प्रसूति होती है। यह हम पहले भी कहीं लिख आये हैं। किसी किसी स्त्री का प्रसूति-समय बढ़ जाता है। डाक्टर चार्ल्स कहते

हैं कि उन्होंने एक स्त्री को ४५६ दिन के अनन्तर प्रसूत होते देखा है। डाकृर सिम्सन लिखते हैं कि उन्होंने किसी स्त्री को ३३६, किसी को को ३३२, किसी को ३२४ और किसी को ३१९ दिन में प्रसूत होते देखा है। परन्तु इन उदाहरणों से कोई साधारण नियम नहीं बनाया जा सकता। किसी कारण से यथा-समय गर्भ की सम्पूर्णता न होने से प्रसूति का समय बढ़ जाता है। गर्भ रहने के अनन्तर २८० दिन में प्रसूति होने का जो नियम है वही व्यापक नियम है।

गर्भ के काल-मान को ध्यान में रख कर यह बतलाया जा सकता है कि गर्भिणी स्त्री को किस दिन प्रसूति होगी। जिस दिन रजोदर्शन अर्थात् मासिक धर्म्म बन्द हो, उसमें से पिछले तीन महीने निकाल डालने चाहिएं। जो कुछ बचै उसमें सात दिन जोड़ देना चाहिए। जोड़ने से जो दिन आवै, अगले महीने के उसी दिन प्रसूति का समय जानना चाहिए। कल्पना कीजिए कि आज मार्च महीने की २३ तारीख़ है। इसमें पिछले तीन महीने कम किये तो दिसम्बर की २३ तारीख़ हुई। २३ में ७ जोड़े तो ३० हुये। अतएव यह समझना चाहिए कि अगले दिसम्बर की ३० तारीख़ को प्रसूति होगी। यदि स्त्री को कोई रोग नहीं है तो बहुत करके इस नियम में अन्तर न पड़ेगा; और पड़ेगा भी तो दो एक दिन इधर उधर हो जावेंगे, अधिक नहीं। इस हिसाब में, कोई कोई महीना ३१ दिन का होने के कारण, प्रसूति का काल दो तीन दिन बढ़ कर आवैगा। इसे ध्यान में रखना चाहिये।

इस विषय में मतभेद है कि गर्भ पूर्ण होने पर क्यों बाहर आता है। डाकृरों ने इसके अनेक कारण बतलाये हैं; परन्तु उन कारणों को हम, यहां पर न बतलाकर, केवल इतनाही लिखते हैं कि जिन ऐश्वरीय नियमों के अनुसार रजोदर्शन होता है और मल, मूत्र, वीर्य और पित्त आदि, यथासमय, शरीर से बाहर निकलते हैं, उन्हीं नियमों के अनुसार गर्भ-मोचन भी होता है। बाहर निकलने के लिए गर्भ स्वयं कोई प्रयत्न नहीं करता, वह निष्क्रिय रहता है; अर्थात् वह कोई क्रिया नहीं करता। उसे कोई अदृष्ट शक्ति बाहर निकालती है। इस शक्ति को चाहै हम ईश्वर की शक्ति मानें; चाहै प्रकृति की शक्ति मानें; और चाहै गर्भाशय की शक्ति मानें। वैद्यक के प्रसिद्ध ग्रन्थ चरक में लिखा है—

> नवमे दशमे मासि प्रबलैः सूतिमारुतैः।
> निःसार्य्यते बाण इव चित्रयन्त्रेण सोऽर्भकः॥

अर्थात् नवें अथवा दसवें महीने प्रसूति नामक प्रबल वायु के द्वारा, बाण के समान, बालक गर्भ से निकाला जाता है। इसी प्रसूति वायु को गर्भमोचन का प्रधान कारण समझना चाहिए।

प्रसूति होने के दो चार दिन पहले स्त्रियों का पेट जो बहुत फूला और तना हुआ होता है वह कम हो जाता है। इस समय, गर्भाशय से गर्भ तलपेट में नीचे उतर आता है; इस लिए स्त्रियों को अपना पेट कुछ हलका सा हो गया जान पड़ता है। अतएव उनको विशेष समाधान होता है। वे अच्छी तरह श्वासोच्छ्वास ले सकती हैं। जिस कारण से ये चिन्ह देख पड़ते हैं उसी कारण से और भी कई चिन्ह, उस समय, प्रकट होते हैं। गर्भ के बहुत नीचे उतर आने से मलाशय और मूत्राशय पर दबाव पड़ता है। इस लिए बार बार मल और मूत्र विसर्जन करने की इच्छा होती है। इस समय, मज्जातन्तु पर भी दबाव पड़ता है, जिस के कारण पैर के तलवों में दर्द होने लगता है। फिर जननेन्द्रिय से पिच्छा-स्राव (एक प्रकार का पानी निकलना) आरम्भ होता है, और शीघ्रही उसके साथ रुधिर भी निकलने लगता है। रुधिर से मिला हुआ स्राव आरम्भ होने पर शीघ्रही प्रसूति की पीड़ा होने लगती है, अर्थात् बालक उत्पन्न होने का समय आजाता है। प्रसूति होने के एक आध दिन पहिले स्त्रियों के मुख में एक प्रकार का पानी भर जाता है और जी मचलाने लगता है। कभी कभी वमन (क़ै) भी होती है।

प्रसूति के समय गर्भ में बालक की स्थिति इस प्रकार रहती है—
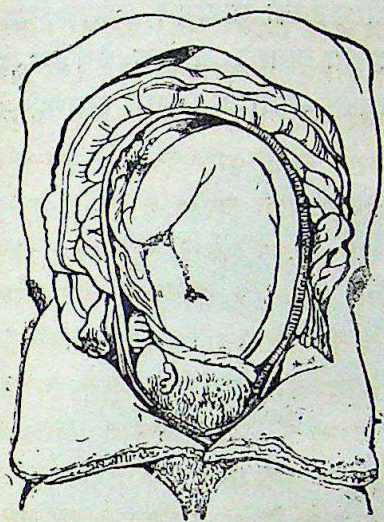
प्रसूति का कालमान बराबर नहीं होता। किसी किसी स्त्री को शीघ्र प्रसूति हो जाती है और किसी को देर में। आरम्भ से अन्त तक दो घण्टे से लेकर अठारह घण्टे तक लगते हैं। किसी किसीको २४ घण्टे लग जाते हैं। प्रसूति की तीन अवस्थायें हैं। पहली अवस्था में गर्भाशय का मुँह विस्तृत होता है। इसके लिए कोई १२ घण्टे दरकार होते हैं। गर्भाशय का मुँह विस्तृत हो जाने पर गर्भोदक की थैली फूट कर बाहर निकलती है। पहली अवस्था यहां समाप्त हो जाती है। दूसरी अवस्था में गर्भमोचन होता है। गर्भ के बाहर आजाने पर इस अवस्था का अन्त हो जाता है। तीसरी अवस्था में स्त्रियों के गर्भाशय से झिल्ली इत्यादि निकलती है। उसके निकल जाने पर तीसरी अवस्था समाप्त हो जाती है और उसके साथही प्रसूति की भी समाप्ति हो जाती है।

जिन स्त्रियों को पहले पहल प्रसूति होती है उनको प्रसूति की वेदना अधिक सहनी पड़ती है। स्त्री-जाति के बालक की अपेक्षा पुरुष-जाति के बालक की प्रसूति में अधिक क्लेश होता है। क्योंकि पुरुष-जाति के बालक का सिर स्त्री-जाति के बालक से कुछ बड़ा होता है। बालक का आकार जितना ही बड़ा होता है उतनी ही अधिक वेदना भी होती है। जन्म के समय कोई कोई बालक साढ़े चौबीस इञ्च तक लम्बा होता है। प्रसूति में अनेक दुर्घटनायें भी होती हैं। कम उमर की स्त्रियों को यदि प्रसूति होती है तो उनको वेदना भी अधिक सहनी पड़ती है और दुर्घटना का भी अधिक डर रहता है। स्त्रियों की उमर कोई बीस वर्ष से कम न होने से प्रसूति में विशेष डर नहीं रहता। सन्तान उत्पन्न करने की शक्ति कम हो जाने पर भी दुर्घटना का डर रहता है। आठ नौ लड़के होने के अनन्तर जो प्रसूति होती है, उसमें बालक और उसकी माता, दोनों को डर रहता है। डाक्टर सिम्सन का मत है कि जिन स्त्रियों को केवल पुरुष-जाति के बालक होते हैं उनको, प्रसूति में, दुर्घटनाओं से विशेष सामना करना पड़ता है। ऐसी दशा में प्रसूति का कालमान बढ़ जाने से बहुधा शिशु की मृत्यु हो जाती है।

प्रसूति होना स्वाभाविक है। उसमें पीड़ा क्यों होनी चाहिए? इसके अनेक कारण हैं। जो लोग सुशिक्षित नहीं हैं, असभ्य हैं, उनमें प्रसव-वेदना कम होती है। दुर्घटनायें भी प्रायः कभी नहीं होतीं। क्योंकि उनकी स्त्रियां स्वाभाविक अवस्था में रहने के कारण शरीर से दृढ़ होती हैं। अफ़रीका के जङ्गली मनुष्यों की स्त्रियों को प्रसव-वेदना बहुतही कम होती है। प्रसूति होने पर तत्काल ही वे स्नान कर डालती हैं और हल जोतने लग जाती हैं। साइबेरिया की स्त्रियां, प्रसूति के अनन्तर, स्वयं एक दिन भी नहीं लेटी रहतीं। वे अपने पतियों को लेटा रखती हैं और स्वयं उनकी सेवा करती हैं। तातार देश के खारडन प्रदेश की स्त्रियां, प्रसूत होने पर, बालक को धोकर उसे अपने पतियों को दे देती हैं। पति उसे लेकर ४० दिन तक लेटे रहते हैं। जैसे वेही प्रसूत हुए हों!

असभ्य स्त्रियों की अपेक्षा सुशिक्षित और सभ्य देश की स्त्रियों में बड़ा अन्तर है। सभ्य देश की

स्त्रियों का शरीर और मन अधिक कोमल होता है। वे अधिक सज्ञान भी होती हैं। इसी लिए उन पर सुख दुःख का प्रभाव अधिक पड़ता है। जल, वायु और रहने की स्थिति के कारण भी सुशिक्षित देश की स्त्रियों की प्रकृति असभ्य देश की स्त्रियों की प्रकृति से बहुत भिन्न हो जाती है। फिर, सभ्य देश की स्त्रियां बहुधा गर्भाशय-सम्बन्धी रोगों से भी पीड़ित रहती हैं। उनको और भी अनेक बीमारियां सताती रहती हैं। इन्हीं कारणों से उन्हें प्रसूति की वेदना अधिक सहनी पड़ती है। उनकी प्रसूति में अनेक दुर्घटनायें भी, इन्हीं कारणों से, होती हैं।

प्रसूति के समय गर्भाशय का आकुञ्चन होता है। अर्थात् गर्भ बाहर निकालने के लिए गर्भाशय के स्नायु (नसें) सिकुड़ते हैं। इसी लिए वेदना होती है। उनके आकुञ्चन ही को प्रसव-वेदना कहते हैं। पैर की एक आध नस चढ़ जाने से जो वेदना होती है उसका स्मरण होते ही जी घबड़ाने लगता है। फिर, कहिए, गर्भाशय की सबसे मोटी नस के आकुञ्चन से कोमल और स्वभावही से भीरु स्त्रियों को कितना कष्ट होता होगा। इसी लिए कहा गया है—

नहि वन्ध्या विजानाति गुर्वीं प्रसववेदनाम्।

उनकी वेदना को कम करने, और उनको तथा उनके गर्भस्थ बालक को दुर्घटनाओं से बचाने के लिए, पुरुषों को चाहिए कि गर्भमोचनविद्या में चतुर दाई को बुलाकर प्रसूति के समय स्त्रियों की सहायता करें।

(२)—ऐनी कैथराइन लायड।

कई महीने हुए इस पुण्यात्मा नारी की मृत्यु काशी में हुई। काशी में जो हिन्दू कालेज है उसका एक बोर्डिंग हाउस अर्थात् लड़कों का निवासालय भी है। उस निवासालय से इनका बहुतही घना सम्बन्ध था। लड़कों से वे इतना प्रेम रखती थीं और उनके अध्ययन, उन्नति और आराम का इनको इतना ख़याल था कि बोर्डिंग हाउस के विद्यार्थी उनको माता के समान समझते थे। इस-

लिए लोग उनको "बोर्डिंग हाउस की माता" कहने लगे थे।

श्रीमती ऐनी व्यसन्ट ने इस पवित्र-कीर्ति विदुषी का एक छोटासा सचित्र जीवनचरित हिन्दू कालेज मैगेज़ीन में, प्रकाशित किया है। उसे हम भी अपने पाठकों को सुनाते हैं।

विवाह के पहले श्रीमती लायड का नाम ऐनी कैथराइन जोन्स था। इनके पिता इङ्गलैण्ड के विंच्यस्टर नगर के स्कूल के हेड मास्टर थे। उन्होंने इनको बहुत ही अच्छी शिक्षा दी थी। वे वनस्पति शास्त्र के प्रख्यात ज्ञाता थे और उस विषय की उन्होंने अनेक पुस्तकें भी लिखी हैं। इन पुस्तकों में

जो चित्र हैं वे उनकी कन्या ऐनी कथराइन ही ने बनाये हैं। बहुतहीं थोड़ी अवस्था में इन्होंने चित्र बनाना सीखा था। इनके चित्रों से अनेक पुस्तकें अलंकृत हुई हैं। इस विद्या से इनको बड़ाही अनुराग था। इसी विद्या ने पीछे से इनको इनके जीवन-निर्वाह में बहुत कुछ सहायता दी। यथासमय इनका विवाह लायड नामक पादरी के साथ हुआ। विवाह के अनन्तर अपने पति के यहां बहुत वर्षों तक इन्होंने अनेक उपयोगी काम किये। १८८९ ईसवी में मैडम ब्लावेसकी और सिनेट से इनकी भेंट हुई। तबसे ये थियासफ़िस्ट हो गईं। कुछ दिनों में मैडम ब्लावेसकी ने लण्डन के पूर्व ओर, नगरही में, मज़दूर लड़लियों का एक क्लब (समाज) स्थापित किया। उसकी ये अधिष्ठात्री नियत हुईं।

जो लड़कियां दियासलाई और रबर आदि बनाने के कारख़ानों में काम करती थीं, उन्हींके लिए यह क्लब था। शारीरिक और मानसिक व्यथाओं से पीड़ित होकर भी श्रीमती ऐनी लायड ने इन लड़कियों की दशा, इस क्लब के द्वारा, बहुत कुछ सुधारी। जिनकी कोई परवाह न करता था ऐसी इन निर्धन लड़कियों को इन्होंने अनेक प्रकार से आराम पहुँचाया। ये उनके साथ काम करती थीं; उनको पुस्तकें पढ़कर सुनाती थीं; उनको गाना सुनाती थीं; उनको तरह तरह के व्यायाम सिखलाती थीं; और अनेक प्रकार के हितोपदेश से उनकी आत्मोन्नति करती थीं। इस प्रकार कुछ ही दिनों में ये उन लड़कियों की दृष्टि में देवी के तुल्य होगईं।

१८९४ ईसवी में ऐनी कैथराइन लायड लड़कियों के एक प्रसिद्ध स्कूल की अध्यक्षता स्वीकार करने के लिए लङ्का गईं। परन्तु वहां का जल-वायु उनको हितकर नहीं हुआ; उसके कई महीने बाद वे योरप को लौट गईं। परन्तु लङ्का से वे मदरास आईं और वहां से काशी होकर तब वे लण्डन को लौटीं।

कुछ काल के अनन्तर श्रीमती लायड इटली की राजधानी रोम नगर को गईं। वहां थियासफ़िक सोसाइटी के पुस्तकालय की वे अध्यक्ष हुईं। उनके उद्योग से थोड़े ही दिनों में अनेक इटैलियन लोग थियासफ़ी मत को मानने लगे। यहां उन्होंने "रोम लाज" नामक थियासफ़ी सम्बन्धी एक मन्दिर बनवाया। रोम से वे फ्लारेन्स गईं; और फ्लारेन्स से नेपल्स। इन नगरों में भी उन्होंने थियासफ़ी का बहुत कुछ प्रचार किया।

१९०० में वे काशी आईं और हिन्दू सेंट्रल कालेज के बोर्डिंग हाउस सम्बन्धी काम काज में सहायता देने लगीं। यद्यपि आँखों से उन्हें, प्रतिदिन, कम दिखाई देने लगा था, और यद्यपि उनका शरीर भी स्वस्थ न रहता था, तथापि अपना काम उन्होंने बड़ीही मुस्तैदी से करना आरम्भ किया। लड़कों के सब काम काज वे स्वयं देखने भालने लगीं; जिसका यह फल हुआ कि लड़के उनको बहुत प्यार करने लगे। लड़कों के अँगरेज़ी पढ़ने में वे प्रति दिन सहायता देती थीं। कोई काम उनके लिए ऐसा न था जो लड़कों को सहायता देने और उत्साहित करने के लिए वे न करती हों। सुबह और शाम, रोज़, जब वे बोर्डिंग हाउस में आती थीं, तब अनेक मनोरम-मूर्ति लड़के उनको घेर लेते थे। वे उनको माता के समान प्यार करते थे। सचमुचही वे उनकी माता थीं।

इस पवित्रात्मा विदुषी ने काशी में, जाह्नवी के तट पर अभी कुछ ही दिन हुए, परलोक का मार्ग लिया। उनका आत्मा परलोक को गया; उनका शरीर अग्नि ने ले लिया; और उनका पवित्र यश तथा नाम, उनके हृदय में जा रहा जिनकी वे प्रीतिपात्र थीं।

पुस्तक-परीक्षा।

अमीर अब्दुर्रहमान ख़ाँ। गत बार 'वेङ्कटेश्वरसमाचार" के ग्राहकों को जो उपहार दिया गया है, उसमें कई पुस्तकें हैं। उन सब में अमीर अब्दुर्रहमान ख़ां" नामक पुस्तक प्रधान है। इसमें काबुल के मृत अमीर अब्दुर्रहमान ख़ां का जीवनचरित है।

इसके कर्त्ता 'श्रीवेङ्कटेश्वरसमाचार' के सम्पादक पण्डित लज्जाराम मेहता हैं। यह छोटी साइज़ की २१६ पन्ने की पुस्तक है। हिन्दी में यह पुस्तक अपने ढङ्ग की एकही है। इसमें अमीर के घराने का वंशवृक्ष भी है; अमीर के दो चित्र भी हैं; तथा और भी कई चित्र हैं। भाषा इसकी सबके समझने लायक़ है। इसके चार भाग हैं। प्रथम भाग में काबुल राज्य का इतिहास है; दूसरे में काबुल-राज्य के प्रबन्ध और उसकी उन्नति का वर्णन है; तीसरे में काबुल का अन्य राज्यों से जिस प्रकार का सम्बन्ध है उसका वर्णन है; और चौथे में काबुल के वर्तमान अमीर हबीबुल्ला खां तथा उनके राज्य की भावी दशा आदि का विवरण है। पुस्तक इतनी मनोरञ्जक है कि छोड़ने को जी नहीं चाहता; और पढ़ने में बिलकुल प्रयास नहीं पड़ता। अमीर की आपत्तियां, उनका धैर्य्य, उनका बल विक्रम, उनकी कुटिल नीति आदि का, इस पुस्तक में, बहुतही अच्छा वर्णन है। इसे पढ़ने से काबुल की राज्यव्यवस्था का बहुत कुछ ज्ञान हो सकता है। हिन्दी पुस्तकों में यह पुस्तक एक रत्न है।

✱

क्षेत्रमिति कौमुदी—बाबू जीतनसिंह, सेकण्ड मास्टर, बेंकट हाई स्कूल, सतना, कृत। मूल्य आठ आने। इस पुस्तक का कुछ भाग हमने पढ़ कर देखा। पुस्तक बड़ी योग्यता से लिखी गई है। समझाने का क्रम और उदाहरण बहुत अच्छे हैं। जिन लड़कों के लिए यह लिखी गई है उनके लिए यह सचमुच उपयोगी है। सुनते हैं, मध्य प्रदेश के शिक्षाविभाग ने इस पुस्तक को स्कूलों में प्रचलित भी कर दिया। बहुत अच्छा हुआ।

✱

गङ्गा-माहात्म्य—पण्डित वंशीधर पाठक ने इसे "लोकोपकारार्थ" बनाया है। मूल्य एक आना। इस पुस्तक को लिखने के बहाने पाठक महाशय ने पूजन, पाठ; गङ्गा, यमुना; देवी, देवता; गो, ब्राह्मण; तुलसी, शालग्राम; दान, दक्षिणा सबकी निन्दा की है।

✱

ईश्वर का स्वरूप—पूर्वोक्त पाठक जी के द्वारा मुद्रित और सम्पादित। मूल्य एक पैसा। इसमें भावार्थ सहित वेद और उपनिषद् आदि के अवतरण देकर निराकार ईश्वर का लक्षण बतलाया गया है।

✱

सावित्री—बाबू प्रसिद्धनारायण सिंह, बी० ए०, विरचित पद्यात्मक पुस्तक। दाम तीन आने। इसमें सावित्री और सत्यवान की कथा नौ अध्यायों में है। अध्याय का नाम प्रतिभा रक्खा गया है। कवि का उत्साह प्रशंसा के योग्य है; परन्तु कविता को अधिक सरस करने की ओर उन्हें ध्यान देना चाहिए।

✱

चीनदर्पण—पण्डित महेन्दुलाल गर्ग लिखित। दाम सवा रुपया। २४ नम्बर पञ्जाबी पल्टन, झेलम, में कर्ता से प्राप्तव्य। यह कोई ३०० पन्ने की छोटे सांचे की किताब है। जिल्द बँधी हुई है। ऊपर सुनहले अक्षरों में पुस्तक और पुस्तककार का नाम छपा है। इसका नामही इसका विषय बतला रहा है। इसमें चीन का बहुतही मनोरञ्जक वर्णन है। सब दस अध्याय हैं। इसमें चीनियों के जन्म मरण, पठन पाठन, कला-कुशलता, खेल तमाशा, गाना बजाना, धर्म्म कर्म, हुकूमत इन्तिज़ाम, इत्यादि सभी बातों का बहुत ही अच्छा वर्णन है। चीनवालों की विचित्र सामाजिक और धार्म्मिक रीतियों का बयान बड़ा ही कौतूहलजनक है। भाषा भी इसकी इतनी सरल है कि लड़के और स्त्रियां तक इसको सहजही में समझ सकती हैं। इस पुस्तक में वर्णन की गई अनेक बातें पण्डित महेन्दुलाल ने स्वयं आंखों देखकर लिखी हैं। जिनको उन्होंने स्वयं नहीं देखा उनको उन्होंने प्रामाणिक ग्रन्थकारों के आधार पर लिखा है। इस पुस्तक में छापे की यद्यपि भूलें रह गई हैं, तथापि पुस्तक सर्वथा उपादेय है। उपन्यासों के प्रेमियों को भी, इसे पढ़ने में, अवश्य आनन्द आवैगा। पुस्तक संग्रह करने योग्य है। ऐसी पुस्तकों की हिन्दी में बड़ी आवश्यकता है।

✱

उत्तम-आचरण-शिक्षा—सुशीला टहलराम कृत। पञ्जाब प्रिण्टिङ्गवर्क्स, लाहौर से, १ रुपये में प्राप्तव्य। आठ व्याख्यान मिला कर यह एक पुस्तक तैयार हुई है। पञ्जाब के शिक्षा-विभाग के डाइरेकृर साहब को यह समर्पण कर दी गई है। इसकी भूमिका अंगरेज़ी में हैं। इसमें स्त्रियों को अनेक अच्छे अच्छे उपदेश हैं। सुशीला देवी के विषय में हम इतना ही जानते हैं कि वे ७ वर्ष तक विलायत में रही हैं और वहीं उन्होंने विद्याध्ययन किया है। परन्तु विलायत की बहुत ही कम बू उनकी पुस्तक में आती है। रामायण और महाभारत आदि से अनेक उतमोत्तम आख्यान उद्धृत करके उन्होंने इस देश की स्त्रियों को विद्या पढ़ने, स्वच्छता रखने, मर्यादशीलता सीखने, बालविवाह रोकने, समय न खोने, धर्म्म से विमुख न होने आदि को बहुतही सुन्दर सुन्दर शिक्षायें दी हैं। सुशीला जी की हिन्दी यद्यपि सदोष और बे-मुहाविरे है तथापि हम उनके लिखने की रुचि का अभिनन्दन किये विना नहीं रह सकते। उन्होंने अंगरेज़ी पढ़कर हिन्दी में पुस्तक-रचना तो की। यह कम प्रशंसा की बात नहीं है। हमारे मित्रमण्डल में भी किसी किसी की स्त्रियां अंगरेज़ी और हिन्दी में ख़ूब दक्ष हैं; परन्तु हमारी प्रार्थना पर भी वे लेख द्वारा अपने को सर्वसाधारण में प्रकट करने का साहस नहीं कर सकतीं। स्त्रियों को लिखने की शक्ति होकर भी उसके उपयोग द्वारा स्त्री-समाज को लाभ न पहुंचाना बड़ीही अनुदारता है।

विनोद और आख्यायिका।

एक बार राजा भोज शिकार से लौटा आता था। मार्ग में उसे एक ब्राह्मण मिला। उसके हाथ में चमड़े का कमण्डलु था। कमण्डलु, धातु का, लकड़ी का अथवा तुम्बे का होता है; चमड़े का नहीं। यह विचार कर भोज ने उस ब्राह्मण से चमड़े का कमण्डलु रखने का कारण पूछा। ब्राह्मण ने नम्रतापूर्वक उत्तर दिया कि "राजा भोज के राज्य में लोहे और ताँबे का अभाव हो गया है। इसीलिए, विवश होकर, मुझे चमड़े का कमण्डलु रखना पड़ा है"। भोज ने अभाव का हेतु पूछा। तब वह ब्राह्मण बोला—

अस्य श्रीभोजराजस्य द्वयमेव सुदुर्लभम्।
शत्रूणां शृङ्खलैर्लोहं ताम्रं शासनपत्रकैः॥

अर्थात् राजा भोज के राज्यकाल में दो पदार्थ दुर्लभ होरहे हैं। शत्रुवों के पैरों की करोड़ों मन बेड़ियां बनने के कारण लोहा; और असंख्य शासन-पत्र लिखे जाने के कारण ताँबा। यह मनोहर उक्ति सुनकर राजा बहुत प्रसन्न हुआ; और उस ब्राह्मण को उसने बहुत कुछ पुरस्कार दिया।

❋

न्यूटन ने अपने नौकर को आज्ञा दी कि जहां बैठे हुए वह लिख रहा था, वहां अँगेठी में आग जलाकर रक्खे। उसने आग रखदी; परन्तु थोड़ी ही देर में वह बहुत तेज़ होगई। इसलिए उसे उठाने अथवा दूर खिसकाने के लिए न्यूटन ज़ोर ज़ोर से अपने नौकर को पुकारने लगा। जब तक वह आवै आवै तब तक न्यूटन का शरीर, जलती हुई आग की प्रचण्ड आँच से भुन सा गया। नौकर ने आकर अँगेठी उठाई और प्रार्थना की कि "यदि आपही अपनी कुरसी को ज़रा पीछे हटा लेते तो क्या न बनता?" यह सुनकर न्यूटन चिल्ला उठा—"मैं सच कहता हूं मुझे यह बातही न सूझी!"

❋

एक राजा की सभा में इसपर बात चीत हो रही थी कि कौन बाजा सबसे अच्छा होता है। किसीने कहा वीणा, किसीने सितार, किसीने मृदङ्ग, किसीने जलतरङ्ग, किसीने हारमोनियम, किसीने कुछ, किसीने कुछ। वहां पर एक देहाती कवि भी बैठे थे। उनसे जब पूछा गया कि "कवीश्वर! आपको कौन बाजा पसन्द है?" तब, बहुत कहने सुनने पर, आपने धीरे से कहा—"जाँता"—आटा पीसने की चक्की!

मनोरञ्जक श्लोक ।

सर्वदा सर्वदोऽसि त्वं मिथ्या कथ्यसे बुधैः ।
नारयो लेभिरे पृष्ठं न वक्षः परयोषितः ॥

एक कवि एक राजा की व्याज-स्तुति करता है—हे राजन् ! विद्वान् लोग आपको जो यह कहते हैं कि आप 'सर्वद' हैं, अर्थात् सब कुछ दे डालनेवाले हैं, सो झूठ है । आज तक आपने न तो किसी शत्रु को अपनी पीठ दी और न किसी परस्त्री को अपना वक्षःस्थल—हृदय दिया। फिर आप सब कुछ दे डालने वाले कैसे ?

❋

येनाञ्चलेन सरसीरुहलोचनाया—
त्रातः प्रभूतपवनादुदये प्रदीपः ।
तेनैव सोऽस्तसमयेऽस्तमयं विनीतः
क्रुद्धे विधौ भजति मित्रममित्रभावम् ॥

कमलनयनी के जिस अञ्चल ने, उदय के समय, प्रचण्ड वायु से दीपक की पहले रक्षा की, उसी अञ्चल ने, पीछे से, उसे अस्त को पहुँचाया ! सच है; दैव का कोप होने से मित्र भी शत्रु हो जाते हैं।

❋

कर्णामृतं सूक्तिरसं विमुच्य
दोषेषु यत्नः सुमहान् खलस्य ।
अवेक्षते केलिवनं प्रविष्टः
क्रमेलकः कण्टकजालमेव ॥

अच्छी अच्छी उक्तियों के अमृतवत् मीठे रस का स्वाद न लेकर, बुरे आदमी दोषही ढूंढते फिरते हैं । अनेक प्रकार के पेड़ों से भरे हुए वन में जाकर भी ऊंट काँटेदार बबूलही की ओर झुकता है !

❋

त्यजन्ति शूर्पवद्दोषान् गुणान् गृह्णन्ति साधवः ।
दोषग्राही गुणत्यागी चालनीरिव दुर्जनः ॥

भले आदमी, सूप के समान होते हैं। वे दोषों को छोड़ देते हैं और गुणों को ले लेते हैं। परन्तु बुरे आदमी चलनी के समान होते हैं। क्योंकि वे गुणों को छोड़ कर दोषों ही को ग्रहण करते हैं।

सुनते हैं; एक बार, राजा विक्रमादित्य प्यासा हुआ और अपने सेवक से इस प्रकार बोला—

स्वच्छं सज्जनचित्तवल्लघुतरं दीनार्तिवच्छीतलं
पुत्रालिङ्गनवत्तथैव मधुरं तद्बाल्यसंजल्पवत् ।
एलोशीरलवङ्गचन्दनलसत्कर्पूरकस्तूरिका-
जातीपाटलिकेतकैः सुरभितं पानीयमानीयताम् ॥

सज्जन के चित्त के समान स्वच्छ; दीनजन की आर्ति के समान हलका; पुत्र के आलिङ्गन के समान शीतल; उसीकी, अर्थात् पुत्र की, तोतली बातों के समान मीठा; इलायची, खस, लौंग, चन्दन, कपूर, कस्तूरी, केतकी इत्यादि से सुगन्धित किया गया पीने का पानी लावो ।

इस आज्ञा को सुनकर विक्रमादित्य का सेवक विनय करता है—

वक्त्राम्भोजे सरस्वत्यधिवसति
सदा शोण एवाधरस्ते
बाहुः काकुत्स्थवीर्यस्मृति-
करणपटुर्दक्षिणस्ते समुद्रः ।
वाहिन्यः पार्श्वमेताः कथमपि भवतो
नैव मुञ्चन्त्यभीक्ष्णं
स्वच्छे चित्ते कुतोऽभूत् कथय नरपते
तेऽम्बुपानाभिलाषः ॥

आपके मुख में सब काल सरस्वती (सरस्वती, नदी का भी नाम है) वास करती है; आपका ओंठ स्वयं शोण (सोनभद्र नद भी है) अर्थात् लाल है; आपका हाथ रामचन्द्र के पराक्रम का स्मरण कराने वाला दक्षिण (दाहिना) समुद्र (मुद्रिका आदि बाहु-भूषण-चिन्ह-धारी) है; वाहिनी अर्थात् सेनायें (नदियों को भी वाहिनी कहते हैं) आपका साथ एक क्षण के लिये भी नहीं छोड़तीं। इसलिए, हे नरेश ! कृपापूर्वक कहिये, कैसे आपके स्वच्छ चित्त में पानी पीने की अभिलाषा उत्पन्न हुई ? शोण और सरस्वती आदि अनेक नदियों के सिवाय समुद्र तक जिसके शरीर ही के अन्तर्गत है, उसका प्यासा होना, सचमुच, आश्चर्य की बात है !

❋

दुर्जनहुताशदग्धं काव्यसुवर्णं विशुद्धिमुपयाति ।
दर्शयितव्यं तस्मान्मत्सरिमनसः प्रयत्नेन ॥

काव्यरूपी सुवर्ण दुर्जनरूपी आग में तपाया जाने से अत्यन्त शुद्ध हो जाता है। अतएव ईर्षा-द्वेष-पूरित मनुष्य को अपना काव्य प्रयत्न-पूर्वक दिखलाना चाहिए।

अहमिहैव वसन्नपि तावकस्त्व-
मपि तत्र वसन्नपि मामकः ।
हृदयसङ्गम एव हि सङ्गमो
न तनुसङ्गम एव सुसङ्गमः ॥

हम यहां होकर भी आपके हैं; और आप वहां होकर भी हमारे हैं। हृदय का सङ्गम ही सच्चा सङ्गम है। शरीर का सङ्गम कोई सङ्गम नहीं।

एक कवि कहता है—

स्वकीयं हृदयं भित्वा निर्गतौ यौ पयोधरौ ।
हृदयस्यान्यदीयस्य भेदने का कृपा तयोः ॥

जो अपने ही हृदय को फोड़ कर बाहर निकल आये, उन पयोधरों को भला दूसरे का हृदय छेदने में क्यों दया आने लगी!

दूसरा कवि और ही कुछ कहता है—

यथा यथा विशत्यस्या हृदयं हृदयेश्वरः ।
तथा तथा बहिर्यातौ शङ्के सङ्कोचितौ कुचौ ॥

मैं समझता हूं कि, इसके हृदय के भीतर जैसे जैसे इसका हृदयेश्वर—प्रियतम—प्रवेश करता जाता है, तैसेही तैसे, हृदय में स्थान कम रह जाने के कारण संकुचित होकर, इसके पयोधर बाहर निकलते आते हैं!!

✻

तीसरा कवि एक तीसराही कारण बतलाता है। नायिका को सम्बोधन करके वह कहता है—

मृद्वङ्गि, कठिनौ; तन्वि, पीनौ; सुमुखि दुर्मुखौ ।
अतएव बहिर्यातौ हृदयात्ते पयोधरौ ॥

तेरा अङ्ग कोमल है, ये कठोर हैं; तू कृशाङ्गी है, ये पुष्ट हैं; तू सुमुखी है, ये दुर्मुख (काले मुख-वाले) हैं; इसीलिए, अर्थात् तेरा और इनका मेल न मिलने के कारण, ये पयोधर तेरे हृदय से बाहर निकल आये हैं!!!

कचकुचचिबुकाग्रे पाणिषु व्यापृतेषु
प्रथमजलधिपुत्रीसङ्गमेऽनङ्गधाम्नि ।
ग्रथितनिबिड़नीवीबन्धनिर्मोक्षणार्थं
चतुरधिककराशः पातुवश्चक्रपाणिः ॥

समुद्र-सुता, लक्ष्मी, के प्रथम समागम में वेणी में एक, चिबुक—मुख के नीचे—एक, और स्तनद्वय में दो, इस प्रकार चारों हाथ अपनी अपनी जगह अटक जाने के कारण, बड़ी दृढ़ता से बँधी हुई नीवी को खोलने के लिए एक पाँचवें हाथ की इच्छा रखनेवाले चक्रधारी विष्णु हमारे वाचकों को प्रसन्न रक्खें!

प्रश्न।

रघुवंश के पन्द्रहवें सर्ग के आरम्भ में टीका-कार मल्लिनाथ ने इस प्रकार मङ्गलाचरण किया है—

अरण्यकं गृहस्थानं श्वशुरौ यद्रजःकणाः ।
स्वयमौद्वाहिकं गेहं तस्मै रामाय ते नमः ॥

इस श्लोक का ठीक ठीक अर्थ जो कोई लिख कर हमारे पास भेजैगा उसका नाम, उसके भेजे हुए अर्थ समेत, सरस्वती में प्रकाशित किया जायगा

सम्पादक, सरस्वती।

साहित्य-समाचार ।

चातकी की चरमलीला ।
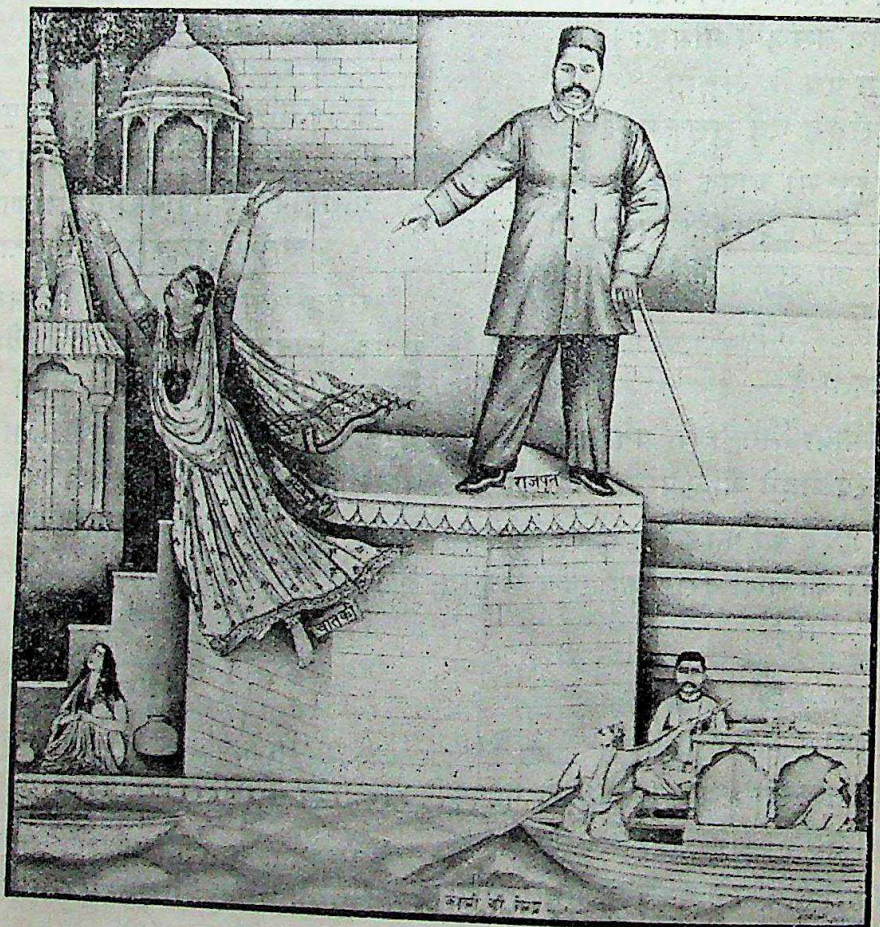
स्थान—काशी, गङ्गा-तट ।
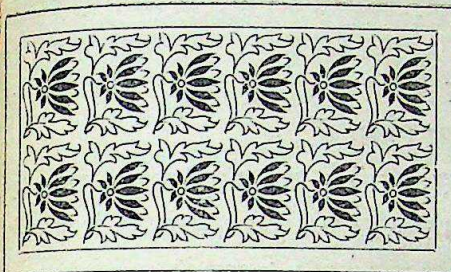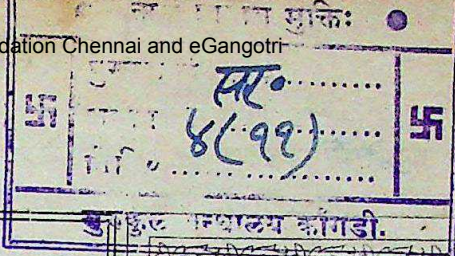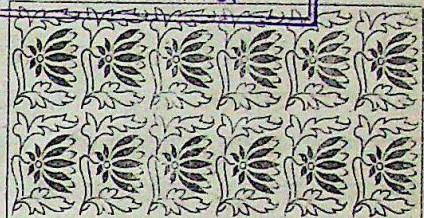
भाग ४] दिसम्बर १९०३ [संख्या १२

सिंहावलोकन।

इस संख्या के साथ सरस्वती का चौथा वर्ष समाप्त होता है। इस वर्ष के आरम्भ में सरस्वती के एक वर्ष से अधिक जीवित रहने की बहुत कम आशा थी; परन्तु उसके उत्साही प्रकाशकों तथा उसके प्रेमी पाठकों की कृपा से, अभी, इस समय, उसकी अकाल मृत्यु टल गई जान पड़ती है। दिसम्बर १९०२ में सरस्वती का जितना प्रचार था, इस समय, उससे अधिक हो गया है। यह बात हमारे लिए भी और प्रकाशकों के लिए भी विशेष उत्साह-वर्द्धक है। इससे यह भी सूचित है कि पाठकों का मनोरञ्जन करने में सरस्वती कुछ कुछ कृतकार्य्य हुई है। परन्तु इसकी अर्थकृच्छता अभी तक नहीं गई। इस वर्ष भी इसका जमा-ख़र्च बराबर नहीं हुआ; फिर भी कुछ घाटा रहा। इस दशा में पिछले वर्षों का घाटा पूरा होने का तो प्रश्नही नहीं हो सकता। सरस्वती की सेवा से प्रसन्न होकर कई सच्चरित्र महानुभावों ने उसकी अर्थकृच्छता को दूर कर देना चाहा; परन्तु सरस्वती के आत्मावलम्बी प्रकाशकों ने धन्यवादपूर्वक उनकी इस उदारता को न स्वीकार करना ही उचित समझा। सरस्वती किसी व्यक्ति-विशेष के लिए नहीं प्रकाशित की जाती। और, इस प्रकार, कब तक उसकी कोई सहायता करेगा? जिस काम में निरन्तर हानि ही हानि है, उसे कोई भी, चाहे वह जितना श्रीमान् हो, चिरकाल तक नहीं कर सकता। सरस्वती हिन्दी भाषाभाषी जन-समूह की पत्रिका है। उन्हीं के लाभ के लिए, उन्हीं के मनोविनोद के लिए वह प्रकाशित होती है। अतएव जन-समुदाय की सहानुभूति उसके लिए आवश्यक है। जिनके लिए वह है वही यदि उसकी उपेक्षा करेंगे तो उसके स्थायित्व की आशा रखना व्यर्थ है। सरस्वती के प्रकाशक बंगाली हैं। बंगाली होकर भी, और बहुत कुछ हानि उठा कर भी, वे हिन्दी की उन्नति करने पर दत्त-चित्त हैं। हिन्दी-भाषियों का धर्म्म है कि वे उनके इस औदार्य्य के कृतज्ञ होते हुए सरस्वती को लेकर उन्हें उत्साहित करें। सचित्र और यथा-समय निकलने वाली, सरस्वती के समान,

यदि एक भी अच्छी मासिक पुस्तक हिन्दी में न रहैगी, तो हिन्दी बोलनेवालों के लिए यह बड़ी ही लज्जा की बात होगी। हमें आशा है, ऐसा समय न आवैगा। यदि सरस्वती के ऊपर पाठकों की ऐसी ही कृपादृष्टि बनी रही, श्रैार उसके प्रचार में, इसी वर्ष की तरह, वर्द्धमान उन्नति होती गई तो उसका चिरस्थायी होना कोई बड़ी बात नहीं। पाठकों के जानना चाहिए कि, सरस्वती की अच्छी दशा न होने पर भी, वर्ष भर में, (चित्रों के सिवाय) उनको उसके ४४० पृष्ठ पढ़ने को मिले। ३२ पृष्ठ प्रति संख्या के हिसाब से केवल ३८४ पृष्ठ उनको मिलने चाहिए थे; परन्तु साल भर में ५६ पृष्ठ उनको अधिक मिले।

२—इस वर्ष साहित्य-समाचार-सम्बन्धी जो चित्र प्रकाशित हुए वे पाठकों को बहुत पसन्द आये। इस लिए हमारा इरादा था कि हम इस क्रम को जारी रक्खैंगे; परन्तु कुछ पत्र हमारे पास ऐसे आयें हैं, जिनसे सूचित होता है कि इन चित्रों से किसी किसी को मनोवेदना भी हुई है। इन चित्रों के द्वारा साहित्य की सामयिक अवस्था बतलाना ही हमारा एकमात्र अभिप्राय है। इस बहाने हम किसीको ज़राभी वेदना नहीं पहुँचाना चाहते। अतएव लोकरञ्जन का ख़याल न करके, हम, इस क्रम को भङ्ग कर देंगे। अगले वर्ष से ऐसे चित्र नियमित-रूप से प्रति मास न प्रकाशित किये जावैंगे; जब कोई बहुतही भावभरा चित्र ध्यान में आजायगा तभी हम उसे प्रकाशित करैंगे। कामिनी-कैातूहल-विषयक दे। दे। एक एक लेख प्रति बार देने से जगह बहुत रुकती है; श्रैार दूसरे अच्छे अच्छे लेख छपने से रह जाते हैं। इस लिए स्त्रियों के पाठोपयोगी लेख अब हम कभी कभी प्रकाशित करैंगे। परन्तु इस बात का हम यथा शक्य ध्यान रक्खैंगे कि कुछ लेख सरस्वती में ऐसे भी रहैं जो स्त्री-पुरुष दोनों के लिए समान-भाव से पढ़ने योग्य हों। आख्यायिकायें कभी कभी देकर, मनोरञ्जक श्लोकों का क्रम वैसाही रखने का हमारा विचार है। एक नई बात करने का हमारा इरादा है। वह यह, कि यदि हो सका तो, अगले वर्ष से, वैज्ञानिक श्रैार प्राचीन ऐतिहासिक विषयों पर, प्रति संख्या में, एक आध लेख देनेका हम प्रयत्न करना चाहते हैं। शेष क्रम सब इसी वर्ष का सा रहैगा।

३—सरस्वती में अनेक त्रुटियां हैं। इन त्रुटियों को हम जानते हैं। जब दूसरी भाषाओं के सामयिक साहित्य को हम देखते हैं तब ये त्रुटियां श्रैार भी स्पष्टरूप से हमको देख पड़ती हैं। उनको दूर करने का हम प्रयत्न भी कर रहे हैं। परन्तु "सर्वारम्भास्तण्डुलाः प्रस्थमूलाः"। जब तक इसको अर्थकृच्छता नहीं दूर होती तब तक इसकी पूरी पूरी सुव्यवस्था भी नहीं हो सकती। सबसे बड़ी शिकायत लोगों को यह है कि इसकी भाषा क्लिष्ट होती है। इस दोष को दूर करने की हम यथा-साध्य चेष्टा कर रहे हैं। परन्तु जब तक सरस्वती के सभी लेखक इस बात पर ध्यान न देंगे तब तक इस दोष का निर्मूल होना कठिन जान पड़ता है। सरस्वती के पाठकों में अनेक विद्वान् श्रैार पण्डित भी हैं। अतएव यदि दे। एक लेख क्लिष्ट भी हुए तो भी कुछ अनुचित नहीं। सरस्वती के समान मासिक-पत्रिका का सम्पादन करना कठिन काम है। हमारे लिए तो अवश्य कठिन है। उसके सुचारु-रूप से सम्पादन के लिए बहुत योग्यता दरकार है। वह हममें नहीं। हमारे एक उदारचरित मित्र के अनुसार हम "जाङ्गल्य" (जाङ्गल नहीं) देश में रहते हैं। श्रैार "जाङ्गल्य" देश में जङ्गली ही अधिक वास करते हैं। न यहां कोई पुस्तकालय है; न अच्छी सङ्गति है; न किसीसे सत्परामर्श लेने ही का कोई द्वारा है। फिर, हम दास्य की रजत-शृङ्खलाओं से ऐसे जकड़े हुए हैं कि हमको सदैवही समयाभाव रहता है। किसी सामयिक पत्र का सम्पादक बनने के लिए विशेष विद्या, विशेष अनुभव श्रैार विशेष पुस्तकावलोकन दरकार होता है। परन्तु इन बातों में से एक भी पूरी पूरी हम में नहीं। यह हम बख़ूबी समझते

और सरस्वती पर कृपा-कटाक्षों की वर्षा करने वालों के जानने के लिए यहां पर हम इस बातको लिखे भी देते हैं। हमने इस पत्रिका का सम्पादन भार इसके प्रकाशकों के आग्रह से ही अपने ऊपर लिया है। जिस दिन कोई योग्य सम्पादक मिल जायगा उस दिन हम स्वयं हीं इस काम के छोड़ देंगे। परन्तु जब तक हम करते हैं तब तक इसे यथाशक्ति अच्छी तरह सम्पादन करने में हम त्रुटि नहीं करेंगे। यह हम दृढ़ता से कहते हैं।

४—तीन वर्षों तक अनेक लाल, गोपाल, दास, चरण, प्रसाद और शरण आदि सरस्वती में लेख लिखते रहे। परन्तु इस पत्रिका के हमारे हाथ में आतेही कितने ही सज्जन हमसे रूठ गये। कोई लेख लैटाने से रूठ गये; कोई इस लिए रूठ गये कि हमने पत्र लिख कर उनसे लेख भेजने की सहायता न मांगी; कोई इस लिए रूठ गये कि उनके लेखों की अशुद्धियां निकाले बिना हमने उनको प्रकाशित करना स्वीकार न किया।

(क) पहले विषय में हमारा यह कहना है कि लेखों के लैटाने अथवा लेने में हमने किसीका पक्षपात नहीं किया। कोई ऐसे ख़राब लिखे हुए थे कि वे हमसे पढ़ेही नहीं गये। किसीका विषय उपयोगी अथवा मनोरञ्जक न था। किसी किसी में अशुद्धियां भरी हुई थीं। ऐसेही ऐसे दोषों के कारण हमको कितनेहीं लेख लैटाने पड़े। किसी-को इसे अपमान-जनक न समझना चाहिए। कई बार हमारे लेख लैटा दिये गये; परन्तु, फिर भी हम सरस्वती में लिखतेही रहे। अपना लिखा सभी को अच्छा लगता है; परन्तु उसके अच्छे बुरे का विचार दूसरे ही कर सकते हैं। जो लेख हमने लैटाये वे समझ बूझ कर हमने लैटाये; किसी और कारण से नहीं। अतएव यदि इसमें किसी को बुरा लगा तो हमको खेद है। यदि हमारी बुद्धि के अनुसार अच्छे लेख हमारे पास आवैं तो हम उन्हें क्यों लैटावैं? उनको हम सादर स्वीकार करैं; भेजनेवालों को धन्यवाद भी दें; और उसके साथही, यदि हो सके तो, कुछ पुरस्कार भी दें।

(ख) दूसरी बात के विषय में हमारा यह उत्तर है कि लेख-द्वारा सहायता के लिए सबसे प्रार्थना करना हमने अनावश्यक समझा।

समीरणो नोदयिता भवेति व्यादिश्यते केन हुताशनस्य।

जिसको लिखने में रुचि है, और मातृभाषा से जिसे कुछ भी प्रेम है, उसके लिए प्रार्थना अपेक्षित नहीं। बिना प्रार्थनाही के मेघ बरसता है; और चन्द्रमा संसार को शीतल करता है। लेख भेजने के लिए हमने तीन व्यक्तियों को लिखा भी; परन्तु फल क्या हुआ? कुछ नहीं। बिहार और मध्य-प्रदेश-वासी दो सज्जनों ने एक भी लेख न भेजा। हां, संयुक्त-प्रान्तवासी एक मित्र ने कुछ सहायता की; सो भी बहुत देर से।

(ग) तीसरी बात ऐसी है कि, यदि किसी को सर्वज्ञता का घमण्ड नहीं है, तो, वह, अपने लेख में, दूसरे के किये हुए परिशोधन को देख कर कदापि रुष्ट न होगा। लेखक अपने लेख का प्रूफ स्वयं शोध सकता है; और संशोधन के समय, हमारे किये हुए परिवर्तन यदि उसे ठीक न जान पड़ें, तो, हमको सूचना देकर, वह उनको अपने मनोऽनुकूल बना सकता है। इस विषय में सरस्वती का नवां नियम देख लेना चाहिए।

५—इस वर्ष, मातृ-भाषा के कुछ सच्चे शुभ-चिन्तकों ने अपने कृपाप्लावित कटाक्षों से सरस्वती को, समय समय पर, अनेक बार, अभिषिक्त किया। यहां तक, कि हमारे मेहरबान जैन वैद्यजी के "समालोचक" तक ने सरस्वती पर प्रसाद चढ़ाने से मुँह नहीं मोड़ा। इन सब सज्जनों को हम उनकी कृपाके परिवर्तन में धन्यवाद देते हैं। किसी तरह उन्होंने सरस्वती को याद तो किया। हमारी त्रुटियों को ढूंढ़ने के लिए उसे मनोनिवेश-पूर्वक पढ़ा तो। सरस्वती के पाठकों में से कुछ ऐसे हैं जो मनोरञ्जक श्लोकों ही पर लुब्ध होकर

उसे लेने लगे हैं। उनको प्रसन्नता के लिए हम प्राचीन कवियों के चुने हुए दो चार पद्य प्रकाशित किया करते हैं। संस्कृत में और रसों की अपेक्षा शृङ्गार रस की कविता अधिक है। इस लिए नमूने के तौर पर हम दो एक पद्य इस रसके भी दे देते हैं। यह बात किसी किसी को असह्य है। उनसे हमारी यह प्रार्थना है कि सरस्वती को यदि आप सरस्वती (वाणी) मानते हैं तो सारा वाङ्मय उसीके अन्तर्भूत हुआ। यदि आप उसे देवी समझते हैं तो उसमें पूजन-पाठ, स्तवन, हवन आदि ही की सामग्री होनी चाहिए। ये दुनिया भर की बातें जो छापनी पड़ती हैं उनकी क्या आवश्यकता है? और, क्या, देवी के साथ किसी ने विनोदही नहीं किया? देवी के ऊपर क्या किसीने शृङ्गार-रस की कविता ही नहीं की? सरस्वती को "अहं को रण्डे" कहने वाले कालिदास की कथा सभी जानते हैं। पञ्चस्तवी और शङ्कराचार्यकृत आनन्दलहरी में जैसी कविता है वह छिपी नहीं। कुमारसम्भव के आठवें सर्ग की तो बातही न पूछिये। आनन्दलहरी में—

(१) शिरीषाभागाले दृशदिव कठोरा कुचतटे।
(२) स्वकुम्भौ हेरम्बः परिमृशति हस्तेन झटिति।
(३) चतुश्चक्रं शङ्के तव मुखमिदं मन्मथरथम्।
(४) हठात् त्रुटयत्काञ्चीविगलितदुकूला युवतयः।

एक ओर शङ्कराचार्य्य ऐसे महा शृङ्गारिक श्लोक पार्वती के विषय में कहते जाते हैं; और दूसरी ओर यह भी कहते हैं—

ममाप्येतौ मातः शिरसि दयया धेहि चरणौ।

शङ्कराचार्य्य से बड़ा योगी, धार्मिक और महात्मा कौन होगा? जब प्रत्यक्ष पार्वती के वर्णन में महात्माओं ने ऐसी ऐसी शृङ्गाररस की कविता लिखी हैं तब सरस्वती के नाम से परिचित पत्रिका में इस रस के दो एक श्लोक और आख्यायिकाओं का आजाना, हमारी समझ में, कोई अश्लाघ्य बात नहीं है। यदि सरस्वती के स्त्री-लिङ्ग-बोधक नाम और चित्र ही पर कटाक्ष है तो भी विचार-पूर्वक कुछ कहना चाहिए। इस हिसाब से तो जिस पत्र या पुस्तक का नाम पञ्चानन है, और जिस पर शेरकी तसवीर है, उसमें मार-काट-सम्बन्धी हिंसा और क्रूरता ही से भरे हुए लेख प्रकाशित होने चाहिएं। नाम के अनुसार गुण ढूंढना अन्याय है। समाचारपत्रों का नाम यदि सार्थक हो सकैगा तो "केसरी" की दंष्ट्रा से कौन बचैगा! "काल" की कुक्षि से किसका परित्राण होगा!! फिर तो "पूर्णिमा" सबके अँधेरे घरों को चन्द्रिका-मय कर देगी; और "वेङ्कटेश्वरसमाचार" को वेङ्कटेश जी के मन्दिर के समाचार छोड़कर और कुछ कहने का साहसही न होगा!!!

अन्त में हमारा निवेदन है कि—

सौजन्यसौरभ्यभरैर्लसन्तः पिबन्तु सन्तो रसराशिमस्याः।
दौर्जन्यतो व्यर्थमिमां हसन्तः सन्तोषमेध्यन्तुतरामसन्तः॥

जो सत्पुरुष हैं वे सरस्वती के लेखों के रस को पान करके प्रसन्न हों; और कुचेष्टा करने ही के लिए जिन्होंने दीक्षा ग्रहण की है वे भी इसकी हँसी करके, सन्तोष को प्राप्त हों। हँसना भी तो प्रसन्नता का लक्षण है; क्योंकि, जब तक चित्त आह्लादित नहीं होता तब तक हँसी नहीं आती।

कवि केशवदास मिश्र।

जयन्तु ते सुकृतिनो रससिद्धाः कवीश्वराः।
नास्ति येषां यशःकाये जरामरणजं भयम्॥

ऐसा कौन हिन्दी-साहित्य का प्रेमी है जिसने केशवदास का नाम न सुना हो और उनकी अनूठी कविता पढ़कर आनन्द न उठाया हो? इनके नाम के कई और कवि हुए हैं। एक भ्रमरगीत के रचयिता केशवराम; दूसरे एक और कवि केशवराय बाबू बुन्देलखण्ड ही में सं० १७३९ में हुए; तीसरे एक कवि केशवदास जिनका कुछ और पता नहीं लगता; परन्तु मिश्र केशवदास और अन्य कवियों के काव्य का भेद केवल पठनमात्र से ज्ञात हो जाता है।

केशवदास सनाढ्य ब्राह्मणों में मिश्र थे। जिस काल में कविता का सम्मान होता था, ग्रैार राज्य-स्थानादि में उच्च पद का कवि राज्य का भूषण समझा जाता था, उस काल में इनके कुल में बहुत से कवीश्वर हुए। कविता इनके यहां परम्परा से चली आती रही। इनके दादा का नाम कृष्णदत्त मिश्र था। वे राजा प्रतापरुद्र के कवि थे; ग्रैार उनके साथ कई गढ़ कठोर संग्राम करके उन्होंने जीते थे। जो काम राजकवि का था वह उन्होंने पूरा किया था। जब प्रतापरुद्र ने ग्रोड़छा बसाया तब कृष्णदत्त का उन्होंने बहुत सम्मान किया। कृष्णदत्त के लड़के का नाम काशीनाथ था। वह भी ग्रपने पिता की भाँति कविता में निपुण थे। काशीनाथ राजा मधुकरशाह के राजकवि थे। राजा मधुकरशाह राजा प्रतापरुद्र के वंशज थे। काशीनाथ के तीन पुत्र थे; सबसे बड़े बलभद्र, दूसरे केशवदास, तीसरे कल्याण। बलभद्र ग्रैार केशवदास ने बाल्यावस्था ही में कविता से स्नेह पैदा कर लिया था। बलभद्र छोटेपन से राजा मधुकरशाह को पुराणादि सुनाया करते थे ग्रैार पूरे पण्डित थे। उन्होंने श्रीमद्भागवत की एक टीका की है ग्रैार नखसिख नामी पुस्तक भी लिखी है। ये दोनों ग्रन्थ माननीय हैं। बलभद्र के दो लड़के थे ग्रैार वे दोनों भी उत्तम कवि थे। एक का नाम बालकृष्ण था जिसने रसचन्द्रिका नामी ग्रन्थ लिखा है। इससे ज्ञात होगा कि केशवदास को कविता सीखना कोई कठिन कार्य्य नहीं था। कविता उनकी कुल-मर्य्यादा थी। कविता के बीज उनके रक्त में भरे हुए थे। वह जन्म-कवि थे ग्रैार पुराणादि पढ़ने का बालकपन से ही उनको ग्रवसर प्राप्त था।

राजा मधुकरशाह के सुयोग्य पुत्र राजा इन्द्रजीत थे। राजा इन्द्रजीत के राजकवि मिश्र केशवदास थे। इनके दरबार में ग्रैार भी कई विद्वान् थे ग्रैार राजा इन्द्रजीत स्वयं ग्रच्छी कविता करते थे। इनकी कविता का नाम धीरज-नरिन्द था। इनकी उत्तम ग्रैार सरस कविता का परिचय पाठकों को उनके रचित निम्न कवित्त से होगा—

> कुक्कुट-कुटुम्बिनी को कोठरी में डारि राखैां,
> चिक दै चिरैयन को रोकि राखैां गलियां।
> सारंग में सारंग सुनाय कै प्रवीन वीना,
> सारंग दै सारंग की ज्योति करैां भलियां॥
> बैठी परजंक में निशंक ह्वै के ग्रंक भरैां,
> करैांगी ग्रधरपान नैन मत्त मिलियां।
> मोहिँ मिले प्राण प्यारे धीरज-नरिन्द ग्राजु,
> ऐहो बलि चन्द नेकु मन्दगति चलियां॥

राजा इन्द्रजीत के दरबार में एक पातुरी रहती थी जो सङ्गीत ग्रैार साहित्य दोनों में ग्रति कुशल थी। वह दूर दूर तक विख्यात थी। नाम उसका प्रवीणराय था। राजा इन्द्रजीत का प्रवीणराय पर विशेष प्रेम था। सच्चे गुणग्राहक की भांति वे केशवदास तथा ग्रन्य दरबार के रत्नों से गाढ़ा स्नेह रखते थे ग्रैार उनके साथ मित्रभाव से व्यवहार करते थे। सुना जाता है कि इस भय से भीत होकर, कि मृत्यु होने पर यह समाज टूट जायगा ग्रैार एक मित्र दूसरे से ग्रलग हो जायगा, राजा इन्द्रजीत ने एक प्रेत-यज्ञ इस मनोरथ से रचा था कि मरने के पश्चात् भी सम्पूर्ण दरबार प्रेतयोनि को प्राप्त होकर एक साथ रहे।

प्रवीणराय की सङ्गीत-कुशलता की ख्याति फैलते फैलते हिन्दुस्तान के प्रसिद्ध बादशाह ग्रकबर के कान तक पहुँची। ग्रकबर को सदा गुणीजन से मिलने का ग्रैात्सुक्य रहता था ग्रैार हिन्दी भाषा के काव्य तथा गान के ग्राप मर्मज्ञ थे। इसीसे उनको प्रवीणराय से मिलने की इच्छा हुई। बादशाह ने प्रवीणराय को ग्रपने दरबार में उपस्थित होने की ग्राज्ञा भेजी। प्रवीणराय, जो बहुत ही स्वरूपवती थी, ग्रपने संग कुव्यवहार होने का ग्रनुमान करने लगी; ग्रैार राजा इन्द्रजीत के पास जा कर उसने तीन कूट-पद्य पढ़ कर ग्राज्ञा मांगी। यथा—

कमल कोक श्रीफल मँजीर कलधौत कलशहर,
उच्च मिलन अति कठिन दमक बहु स्वल्प नीलधर,
सरवर शरवन हेम मेरु कैलाश प्रकाशन,
निशि वासर तरुवरहिँ कांस कुन्दन दृढ़ आसन,

इमि कहि प्रवीन जल थल अपक
अविध भजित तिय गौर सँग
कलि खलित उरज उलटे सलिल
इन्दुशीश इमि उरज ढँग ॥१॥

छूटी लटैं अलबेली सी चाल
भरे मुख पान गरी कटि छीनी,
चोर नकारा उघारे उरोजन
मोतिन हेरि रही जो प्रवीनी।

बात निशङ्क कहै अति मोहि सोँ
मोहि सोँ प्रीति निरन्तर कीनी,
छाँड़ि महानिधि लोगन की हित
मेरे सों क्यों बिसरे रसभीनी ॥२॥

आई हैं। वूझन मंत्र तुम्हें
निज श्वासन सोँ सिगरी मति गोई,
देह तजौं कि तजौं कुलकानि,
अजौं न लजौं लजिहै सब कोई।

हाथ रहै परमारथ स्वारथ
चित्त विचारि कहौ पुनि सोई,
जामें रहै प्रभु की प्रभुता
अरु मोर पतिव्रत भङ्ग न होई ॥३॥

राजा इन्द्रजीत ने प्रवीणराय का बादशाह के यहां जाना स्वीकार नहीं किया। इसपर बादशाह ने राजा इन्द्रजीत पर आज्ञोल्लंघन के अपराध में एक करोड़ रुपया दण्ड दिया। तब केशवदास मिश्र ने, जो राजा इन्द्रजीत और अकबर शाह दोनों के पौरुष भली भांति जानते थे, शान्ति का उपाय सोचा; और वे राजा वीरबल के पास गये जो अकबर शाह के प्रधान मन्त्री थे और उनकी प्रशंसा में उन्होंने एक कवित्त पढ़ा—

पावक पक्षी पशू नग नाग,
नदी नद लोक रच्यो दशचारी,
केशव देव अदेव रच्यो नरदेव
रच्यो रचना न निवारी।

रचिकै नरनाह बली बलवीर
भयो कृतकृत्य महाव्रतधारी,
दै करतापन आपनो ताहि
दियो करतार दुऔ कर तारी ॥

राजा वीरबल इसपर अति प्रसन्न हुये और अकबर शाह से उन्होंने सन्धि कराई। करोड़ रुपया के दण्ड का क्षमा प्रदान हुआ; और केशवदास ने इन्द्रजीत को समझा कर प्रवीणराय को अकबर के यहां भिजवा दिया। राजा इन्द्रजीत इस व्यवहार तथा अन्य व्यवहारों में केशवदास की कुशाग्रबुद्धि और चातुर्य्य से ऐसे प्रसन्न होगये कि उनको २१ ग्राम उन्होंने पारितोषिक दिये। तब से केशवदास वहां सकुटुम्ब रहने लगे।

केशवदास की अवस्था का विशेष अंश राजा इन्द्रजीत और प्रवीणराय आदि उनके विद्वान दरबारी तथा मित्रों में व्यतीत हुआ। केशवदास के काव्य में भी बहुधा उन लोगों की प्रशंसा पाई जाती है।

केशवदास जिस तरह अपने स्वामी के सच्चे शुभचिन्तक और हितैषी थे, उसी तरह वे साहित्य की सकल कलाओं में व्युत्पन्न थे। हिन्दी भाषा के असामान्य कवियों में सूरदास, तुलसीदास के साथ सदा केशवदास की गणना की जाती है; यथा—

सूर सूर्य्य तुलसी शशी उड़गन केशवदास।
अबके कवि खद्योत सम जहँ तहँ करत प्रकास॥१

और

उत्तम पद कवि गङ्ग को कविता को बलबीर।
केशव अर्थ गँभीर को सूर तीन गुनधीर ॥२॥

और

कविता करता तीन हैं तुलसी केशव सूर।
कविता खेती इन लुनी सीला बिनत मजूर ॥३॥

सूरदास और तुलसीदास की कविता अधिकतर विस्तृत होने का मुख्य कारण भगवद्भजन है। यह चर्चा ते छन्द और कवित्व आदि के गुणों से रहित और नीरस होने पर भी सर्वसाधारण के मन को आकर्षण करती है। तिसपर, उक्त उत्तम कवियों का सहारा पाकर वह और भी अधिक अच्छी हो गई है। परन्तु, यदि निरपेक्ष न्याय-चक्षु से देखा जाय ते पदरचना, वर्णनशक्ति, अनूठे रसभेद आदि गुणों में केशवदास इन दोनों कवियों से कम नहीं हैं।

केशवदास के रचे हुए मुख्य ग्रन्थ।

(१) रसिकप्रिया–सम्वत् १६४८ में बनी।

यह हिन्दी साहित्य की एक अद्भुत पुस्तक है। नायिका भेद में किसी कवि ने इतने भेद वर्णन नहीं किये। यह ग्रन्थ केशवदास ने राजा इन्द्रजीत के नाम से बनाया। यद्यपि ग्रन्थ के प्रस्ताव में केशवदास ने स्वयं ग्रन्थकार होना वर्णन किया है (रसिक प्रिया कीन्हीं केशवदास); तथापि जहां प्रकाश अर्थात् अध्याय का अन्त होता है वहां केशवदास ग्रन्थ का नाम इस प्रकार लिखते हैं–"इति श्रीमहाराज इन्द्रजीत-विरचितायां रसिक-प्रियायां..."। यह पुराने राजकवियों का साधारण नियम मालूम होता है कि बहुधा स्वयं ग्रन्थ रचकर अपने उपकारी स्वामियों का नाम वे डाल देते थे। रसिकप्रिया की उत्पत्ति का कारण प्रस्ताव में केशवदास ने यह कहा है—

दोहा।

नदी बेतवा तीर जहँ तीरथ तुङ्गारन्न।
नगर ओड़छो बहु बसै धरणीतल में धन्न॥
दिन प्रति जहँ दूनो लहैं जहां दया अरु दान।
एक तहां केशव सुकवि जानत सकल जहान॥
रच्यो विरञ्चि विचार तहँ नृपमणि मधुरकरशाहि।
गहरवार काशीश रवि कुल मण्डन यश जाहि॥
ताके पुत्र प्रसिद्ध महि-मण्डन दूलहराम।
इन्द्रजीत ताको अनुज सकल धर्म को धाम॥
तिन कवि केशवदास सों कीन्हों धर्म सनेहु।
सब सुख दै करि यों कही रसिकप्रिया करि देहु॥
संवत सोरह सै। वरष बीतै अड़तालीस।
कातिक सुदि तिथि सप्तमी वार वरन रजनीस॥
अतिरति गति मति एक करि विविध विवेक विलास।
रसिकन को रसिकप्रिया कीन्हीं केशवदास॥
ज्यों बिन डीठ न शोभिये लोचन लोल विशाल।
त्यों ही केशव सकल कवि बिन वाणी न रसाल॥
ताते रुचि शुचि सोच पचि कीजै सरस कवित्त।
केशव श्याम सुजान को सुनत होय वश चित्त॥

रसिकप्रिया में नायिकाभेद क्या, नवरसों के सब भेद और साहित्य तथा काव्य की विशेषता की परिभाषा देकर उनका रूप दिखा दिया गया है। वह रूप बहुतही श्रेष्ठ उदाहरण देकर केशवदास ने स्पष्ट किया है। साहित्य के मर्मज्ञ केशवदास ने अपनी रुचि के अनुसार साहित्य-सम्बन्धी विषय को पाकर, अपनी अनुपम वाक्यरचना की शक्ति का बहुतही अच्छा परिचय दिया है। प्रायः प्रत्येक कवित्त में यमकादि अलङ्कार की विशेषता है। प्रत्येक कवित्त में पदों तथा अक्षरों की ऐसी रचना है कि अक्षरों से ही दो दो अर्थ सिद्ध होते हैं; और पठनमात्र से रस प्रतीत होता है। दो कवित्त नमूने के लिए हम उद्धृत करते हैं—

एक समय इक गोपी सों केशव
  कैसोहू हाँसी को बात कही।
या कहँ तात दई तजि जाहि
  कहां हमसों रसरीति नहीं।
को प्रति उत्तर देइ सखी दृग
  आंसुन की अवली उमही।
उरलाय लाई अकुलाय तऊ
  अधिरातक लैां हिलकी न रहीं॥

नायिका के विच्छित्त भाव का उदाहरण—

तन आपने भाये सिंगार नहीं
  ये, सिंगार सिंगारै सिंगारै वृथा हीं।

व्रजभूषण नैननि भूख है जाकी
सुतै पै सिँगार उतारे न जाहीं ॥
सब होत सुगन्ध नहीं तो सुगन्ध
सुगन्ध में जाति सुगन्ध वृथाहीं
सखि तो हित हैं सब भूषण भूषित
भूषण तो तुव भूषित नाहीं ॥

इनमें अर्थ विचारते हुये पाठक अवश्य गम्भीरता पावेंगे। प्रथम सवैया के दूसरे पाद में 'दई' और दूसरे सवैया के चतुर्थ पाद में भूषण(भू=पृथ्वी + खन=खोदना; मान का चिन्ह है) का अर्थ-बाहुल्य तथा युक्ति प्रशंसनीय है।

(२) कविप्रिया—सम्वत् १६५८ में बनी।

इसमें काव्य के दशो अंग पूर्णरूप से वर्णित हैं। यह ग्रन्थ प्रवीणराय पातुरी के लिए लिखा गया था। छन्दों के भेद इसमें उत्तम प्रकार से वर्णन किये गये हैं। इसी ग्रन्थ के कारण इनको लोग मम्मट और भरत के समान भाषाकाव्य का प्रथम आचार्य मानते हैं। प्रवीणराय के लिए ग्रन्थ रचा जाना कुछ कुतूहलजनक हो सकता है; परन्तु इस शङ्का का समाधान सहल है। प्रवीणराय केवल पातुरी ही न थी। केशवदास ने उसकी प्रशंसा यहां तक की है—

राय प्रवीण कि शारदा शुचि रुचि राजत अंग।
वीणा पुस्तक धारिणी राजहंस सुत संग ॥
रत्नाकर लालित सदा परमानन्दहि लीन।
अमल कमल कमनीय कर रमा कि राय प्रवीन ॥

प्रवीणराय की प्रवीणता विशेषकर उस घटना से प्रकट है जो अकबर बादशाह के सामने हुई, और जिससे राजा इन्द्रजीत की 'प्रभुता' रह गई और प्रवीण का 'पतिव्रत' भंग न हुआ। उस समय की बातचीत इस प्रकार है—

बादशाह अकबर—

युवन चलत तिय देह के चटकि चलत किहि हेत।
प्रवीण—मन्मथ वारि मसाल को सैंति सिहारो लेत

बा०—ऊंचे ह्वै सुरवश किये सम ह्वै नरवश कीन।
प्र०—अब पताल वश करन को ढरकि पयानो कीन
प्र०—विनती राय प्रवीण की सुनिये शाहसुजान।
जूंठी पतरी भखत हैं बारी बायस श्वान ॥
फिर—"सविताजू कविता दई जा कहं परम प्रकास
ताके काज कविप्रिया कीन्हीं केशवदास" ॥

तो क्या आश्चर्य्य है? और भाषा कवियों ने भी अपने स्वामी की नायिकाओं के लिए ग्रन्थ बनाये हैं। इस ग्रन्थ के प्रस्ताव में नृपकुल और कविवंश वर्णन किये गये हैं; और प्रवीण की बहुत प्रशंसा की गई है—

प्रगट पञ्चमी को भयो कविप्रिया अवतार।
सोलह सौ अट्ठावनो फागुन सुदि बुधवार ॥
तिनको (कृष्णदत्तको वृत्तिपुरानकीदीन्हीराजारुद्र
तिनके काशीनाथ सुत सोभे बुद्धि समुद्र ॥
इन्दजीततासों(केशवदाससें)कह्योमांगनमध्यप्रयाग
मांग्यो सब दिन एक रस कीजै कृपा सभाग ॥
योंही कह्यो जु बीरबर माँगु जो मन में होय।
मांग्यो तुव दरबार में मोहिँ न रोके कोय ॥
गुरु करि मानो इन्द्रजित तनमन कृपा विचार।
ग्राम दिये इक्कीस तब ताके पांय पखार ॥

इस ग्रन्थ में गनागन फल, कविता के दोष व गुण, विविध अलङ्कार, नवरस, नखशिख परिभाषा मनोहर उदाहरण सहित वर्णित हैं। उपमा तथा यमकालङ्कार के अनेक भेद इसमें हैं। चित्र काव्य का विषय बहुत योग्यता से वर्णन किया गया है। मात्राहीन छन्द, एकाक्षर छन्द, कपाटबद्ध, अश्वगति चक्र, गोमूत्रिका चक्र, चरणगुप्त, धनुषबन्ध, पर्वतबन्ध, डमरूबन्ध आदि अनेक विषय इसमें हैं। बारहमास का जैसा अच्छा वर्णन है वह पाठकगण निम्न उद्धृत छप्पय से विचार कर सकेंगे।

चैत्र-वर्णन।

फूली लतिका ललित तरुण तन फूले तरवर
फूली सरिता सुभग सरस फूले सब सरवर

फूली कामिनि कामरूप करि कंतहि पूजहिँ
शुक सारी कुल केलि फूल कोकिल कल कूजहिँ
कहि केशव ऐसो फूल महँ शूल न फूल लगाइये
पिय आप चलन की को कहै, चित्तन चैत चलाइये।

(३) केशव का तीसरा ग्रन्थ रामचन्द्र-चन्द्रिका है। इसका भी आरम्भ १६५८ सम्वत् में हुआ॥ इसमें रामायण तथा अश्वमेध की कथा अनेक प्रकार के मनोहर छन्दों में वर्णित की गई है। तुलसीकृत रामायण की कथा से इसमें कुछ भेद पड़ता है; और वाल्मीकि रामायण का विशेष अनुसरण मालूम होता है। केशवदास ने स्वयं इस काव्य की रचना वाल्मीकि की आज्ञा से बताया है; यथा—

सोलह सौ अठ्ठावना कातिक सुदि बुधवार।
रामचन्द्र की चन्द्रिका तब लीन्हों अवतार॥
वाल्मीकि मुनि स्वप्न में दीन्हों दरशन चारु।
केशव तिनसों यों कह्यो क्यों पाऊं सुखसार॥

मुनि— रामनाम—सत्यधाम।
और नाम कोन काम॥

केशव—दुख क्यों टरि है।
मुनि— हरि जू हरि है॥ आदि।

यह ग्रन्थ भी राजा इन्द्रजीत के नाम से बनाया गया है और केशवदास ने इसका नाम 'सकल-लोक-लोचन-चकोर-चिन्तामणि' रक्खा है। कविता इसकी नाना प्रकार के अलङ्कारादि पाण्डित्य से भरी हुई है। यह ग्रन्थ कुछ लक्षण न मिलने पर भी महाकाव्य ही मानने योग्य है। इसमें छन्दों का प्रबन्ध ऐसा उत्तम है कि कई स्थलों का काव्य अभिनय योग्य है। वह वार्तालाप जो शिवधनुखण्डन से क्रोधित परशुराम और लक्ष्मणादि दशरथ के दल-वालों में हुआ है; तथा वह सम्वाद जो रामचन्द्रजी के वानर-दूत और रावण से हुआ है, रङ्गभूमि में अवश्य प्रयोगयोग्य है।

(४) विज्ञानगीता—सम्वत् १६६७

सोलहसै बीते बरष विमल सतसठा पाइ।
भई ज्ञानगीता प्रकट सबही को सुखदाइ॥

(५) राम-अलंकृतमञ्जरी—यह छन्दोग्रन्थ है। परन्तु इसमें और और विषयों का भी वर्णन है। एक जगह इसमें अलङ्कार का वर्णन यों किया गया है—

प्रकट शब्द में अर्थ जहँ अधिक चमत्कृत होइ।
रस अरु व्यङ्ग दुहूनतें अलङ्कार कहि सोइ।

केशवदास के काव्य के पढ़नेवालों को यह बात अवश्य ही प्रत्यक्ष होगी कि केशवदास की भाषा परिशोधित और परिमार्जित है; और बहुधा शब्दों के अर्थ और ध्वनि का मेल एक दूसरे से रहता है। यह वह भाषा नहीं है जो बिना न्यूनाधिक श्रम और विचार के कोई लिख सके। केशवदास उस दल के कवि नहीं हैं जिनके काव्य उसी भाषा में लिखे जाते हैं जिसमें उनके चित्त के विकार उत्पन्न होते हैं। केशवदास अपने मन के विचारों को नग्नावस्था में बाहर नहीं निकलने देते। वे विविध अलङ्कारादि से सुशोभित होकर हो बाहर आकर पाठकों का मनोरञ्जन करते हैं। तुलसीदास और केशवदास दोनों ही ने कविता को स्त्री की उपमा दी है। तुलसीदास बालकाण्ड के आदि में कहते हैं

बिधु वदनी सब भाँति सँवारी।
सोहन वसन बिना वर नारी॥

और केशवदास ने भी रामअलंकृतमञ्जरी में कहा है

यदपि सुजाति सुलक्षणी सुवरन सरस सुवृत्त।
भूषन बिन न बिराजहीं कविता वनिता मित्त॥

केवल भेद यह है कि तुलसीदास 'विधुवदनी' 'वर नारी' के शोभार्थ 'वसन' आवश्यक समझते हैं; और केशवदास के मत में सब गुण होने पर भी 'भूषन' का होना परमावश्यक है। इसी कारण केशवदास ने जाति, लक्षण, वर्ण, रस, वृत्त आदि सब बातों पर ध्यान रखकर भी अपनी कविता

को अलङ्कारों से भूषित किया है। और, योहीं, रसिकप्रिया के प्रस्ताव में अपना मत प्रगट किया है—

दोहा।

ज्यों बिन डीठ न शोभिये लोचन लोल विशाल।
त्योंही केशव सकल कवि बिन वाणी न रसाल॥
ताते रुचि शुचि सोच पचि कीजै सरस कवित्त।
केशव श्याम सुजान को सुनत होय वश चित्त॥

केशवदास सदा अपने नियमानुसार अपने शब्दों को रुचि से प्रयोग करते थे और फिर उन शब्दों को शुद्ध करके पूर्ण विचार पूर्वक और पचा कर कविता में स्थान देते थे।

बहुधा आज कल के समालोचक शब्दों के लिए कवि के विशेष श्रम को निन्दित मानते हैं और उन्हीं शब्दों के प्रयोग को वे श्रेष्ठ समझते हैं जो स्वतः कवि के चित्त में पैदा हों। यह मत-भेद है; और इसका निर्णय करना हमारा अभिप्राय नहीं। परन्तु गद्य और पद्य की भाषा में शब्दों के प्रयोग का भेद सब देश और सब काल के कवियों में पाया जाता है। अर्थ की गम्भीरता, विचार की सूक्ष्मता, पदों की सरसता, ये कविता के मुख्य गुण हैं; और इन विषयों पर विचार करते हुए केशवदास के पाठक उनके काव्य में निश्चय कुशलता का परिचय पावेंगे। केशवदास हिन्दी के कवियों में निस्सन्देह उच्चपद के अधिकारी हैं; और यदि पाठक उनके काव्य पढ़कर विचारेंगे तो अवश्य उनका श्रम सफल होगा। और आशा है, ऐसा करने से हमारा भी श्रम सफल हो। बाबू राधाकृष्णदास का अनुमान है कि प्रसिद्ध सतसई-कार बिहारीलाल, केशवदास के पुत्र थे; परन्तु यह मत तब तक ग्रहीत नहीं हो सकता जब तक इसपर अच्छी तरह विचार न किया जाय।

खड्गजीत मिश्र।

शान्तनु-प्रति गङ्गा। *

[१]

वृथा भ्रमहु मम तीर कष्ट करि, हे नरपतिवर।
अश्रु सलिल तव वृथा अनर्गल बहत निरन्तर॥
मेरे जल के साथ, जात बहि मिलि निशिवासर।
भूत-पूर्व सब कथा भूलि तुम जाहु गुणाकर॥

[२]

भूलि जात ज्यों स्वप्न लोग निद्रा सों जागे।
चिर-वियोग में एक मात्र औषध यह लागे॥
सत्य सत्य मैं कहौं तोँहि हे नरकुल भूषन!
ध्यान देहु तुम ज्ञानवान हो परम अदूषन॥

[३]

हर-सिर-वासिनि हर-प्रिया हम अहैं जाह्नवी।
तब क्यों इतनो काल आय, धरि रूप मानवी॥
किय व्यतीत तुअ सदन माँहि, कारण यहिको सब
कहती हौं चित लाइ, सुनहु तुम नृपति-श्रेष्ठ अब॥

[४]

जब वसिष्ठ ब्रह्मर्षि कोपि साप्यो वसुगन को।
जाय जन्म क्षिति माँहि लेहु, सहि दुख जठरन को॥
आय पड़े वे रोय मेरे पग ऊपर तबही।
विनती निष्कृति हेतु अधिक उन कीन्ही सबही॥

[५]

मैं दीन्हो वरदान मानवीरूप जगत में।
धरि, धरिहौं निजगर्भ माँहि तुम सबको तित मैं॥
निज इच्छा सोँ वरण कियो, मैं तोहिँ आदर सोँ।
कौरव-अवनि-अधीश! श्रेष्ठ तुम हो सब नर सोँ॥

---

* गङ्गा के वियोग में शान्तनु राजा का उनके तीर पर रोना और तदनन्तर उनको गङ्गा से आश्वासन मिलना। यह कविता माइकेल मधुसूदन दत्त के वीराङ्गना काव्य के नवम सर्ग का अनुवाद है। विदित हो कि हमने इसके पहिले दुष्यन्त प्रति शकुन्तला का प्रेम पत्र जो सरस्वती के द्वितीय भाग की द्वादश संख्या में छपवाया था, वह भी उक्त महाशय के वीराङ्गना काव्य के प्रथम सर्ग का अनुवाद है। अनुवादक।

[६]

तेरे औरसजात अष्ट शिशु धरे उदर में।
अष्ट वसू वे सोय भूप जनमें तुअ घर में॥
फूल्यौ पङ्कज आठ मनो एकहि मृणाल में।
चमक्यौ आठो रत्न मनो तव सुयश-माल में॥

[७]

कितनो तेरो पुण्य विचारो तो हे नृपवर!
ऐसो कबहू लह्यौ जगत में कहो कौन नर?
सप्त पुत्र तव गये देह तजि स्वर्ग धाम में।
अष्टम नन्दन तेरो मेरे ढिग है अराम में॥

[८]

तव समीप तेहि आज पठावति हे भूपाला।
सुर-नर-रूपी रत्न यत्न सौं लेहु दयाला!
गङ्गानन्दन नाम देवव्रत करि प्रसिद्ध अति।
उज्ज्वल करिहैं वंश तेरे यह; चन्द्रवंश-पति!

[९]

बनि शिरमणि शोभित ह्वै हैं भारत सुभाल में।
यथा आदि पितु,* तेरो, कपाली के कपाल में॥
करो पालना अजौं यत्नसों तेरे कारण।
श्रेष्ठ तनय को तेरो भूप करि अङ्कहिं धारण॥

[१०]

चन्द्रानन ताको विलोकि भूलो वियोग-दुख।
मम हित जो तुम लहत; त्यागि कै अपनो सब सुख॥
ऐसो नहि गुनवान कोउ है सकल भुवन में।
नीतिमान बलवान प्रतापी दुर्मद रण में॥

[११]

जिमि गिरिपति गिरिराज सिन्धु जैसे नदपति हैं।
खाण्डव जिमि वनराज इन्द्र जैसे सुरपति हैं॥
रथी देवव्रत को रथीन्द्रपति तैसे जानो।
गुरु वसिष्ठ को शिष्य-श्रेष्ठ इनको पहचानो॥

[११]

तेरे सुत के सुगुन बखानौं नृप मैं कितने।
पैहो परिचय रोज रोज दिन जैहैं जितने॥

देव देवि गुणरूप होय इनके अङ्गन में।
करि निवास सब काल रहै निस दिन सङ्गन में॥

[१३]

वीणावादिनि आय बसी है रसनासन पै।
दया हिये में, कमला जैसे कमलासन पै॥
यमसमान बल भुजा माँहि रिपुसिर संहारी।
रण में जिमि वनवह्नि सर्व-भुक्-चख त्रिपुरारी॥

[१४]

स्नेहताल को पद्म पुण्य तरु फल तव भूपति।
पूर्णशशी आशा प्रकाश कौं लेहु धीरमति॥
परम प्रीति मैं लह्यौ रही तुअ गृह जितने दिन।
तुअ कृतज्ञता-पाश बँधी मैं खाय प्रेम-ऋन॥

[१५]

सरणरूप मैं देति रत्न यह लेहु शान्तमति!
मों पै पत्नीभाव धारु जनि अब अपने चिति॥
तेरी महिमा महा; मान में, कुल में, धन में,
तुम हो नरकुल-ईश विश्व के सिगरे जन में॥

[१६]

तरुणतेज तोहि अजौं, जाहु फिरि कै स्वदेश में।
पुरी हस्तिना विरहकातरा तुअ उदेश में॥
आनहु गृह में व्याहि वराङ्गिनि राजसुता कोउ।
सुख सम्पादहु राज्य, प्रेम धरि आपस में दोउ॥

[१७]

पालि प्रजा रिपु दमहु, दण्ड पापिन कौं दीजे।
सुन्दर नृप, यह राजनीति मेरी सुन लीजे॥
सत्कर्मन को साधि यत्न सौं हे सुविज्ञवर!
सतत बढ़ावहु तव स्वदेश में सत् को आदर॥

[१८]

जिमि प्रदीप दूजो प्रदीप सम ताही सौं बरि।
होत तेजसी तोहि समान उज्ज्वल प्रकाश करि॥
तिमि तुअ सम, यशवान! यशस्वी ह्वै हैं तव सुत।
यौवराज्य एहि, काल पाय, दीजो आदर-युत॥

[१९]

विना काज अब भूप तोहि कहिहौं अनेक कत।
भूलि पूर्व की कथा और मन धोइ काम-गत

* चन्द्र (शन्तनु चन्द्रवंशी थे)

भक्ति रसन सोँ; साष्टाङ्ग प्रणामहु मोहि नृपवर !
शैल-सुता शिवसती असीवैं गङ्गा सुन्दर ॥

[२०]

जैौं लौं रहिहै मम प्रवाह यह धराधाम में।
तौ लौं रहिहैं सुयश लागि गुन तुम्र सुनाम में ॥
भारतवासी सदा गाइहैं भरि अनन्द से।
धन्य शान्तनु क्षत्रिकुलोद्भव चारु चन्द से

[२१]

रथी देवव्रत जासु तनय वीराग्र-गण्य हैं।
धन्य धन्य ! सम्राट मेरे प्रभु धन्य धन्य हैं ॥
सुत धन सङ्गहिं लिये जाहु चलि अति उमङ्ग सोँ।
नगर हस्तिना मैं, गजेन्द्रगति ! परम रङ्ग सोँ ॥

[२२]

तुम्र नगरी मैं अन्तरीक्ष रहिहौं कुरु-भूषण !
तनय-चन्द्-मुख हेरि दिवानिशि परम अदूषण ॥
तुम्र सुख सोँ हम सुखी होइहैं अधिक निहाला !
कही हमारी मानि, जाहु निज घर भूपाला ॥

कमलानन्द सिंह।

रहिमन-विलास।

[आठवीं संख्या से आगे]

होय न जाकी छाँह ढिग फल रहीम अति दूर
बाढ़ेउ सो बिनु काम के जैसे तार खजूर ॥
जैसे तार खजूर बढ़े पै काम न आवै।
धिक धिक ऐसी बाढ़ जो न कछु सुख सरसावै ॥
जानि देहु फल कथा दया नहिँ पथिक बिथा की।
व्यर्थ ठाम रहे रोकि छाँह हू निकट न जाकी ॥५२

रहिमन निज मन की बिथा मन ही राखो गोय।
सुनि अठिलैहैं लोग सब बाँटि न लैहैं कोय ॥
बाँटि न लैहैं कोय भरम बिनु बात गँवाइय।
जो कछु बीतै सहै बिथा केहि रोइ सुनाइय ॥
हँसिबे वारे सबै दुखित दुख बूझत बिरलन।
भव दुख मेटनहार और नाहिँ बिनु वा रहिमन ॥५३

रहिमन वे नर मरि चुके जे कहुँ माँगन जाहिँ।
उन तेँ पहिले वे मुए जिन मुख निकसत नाहिँ ॥
जिन मुख निकसत नाहिँ नाहिँ ते मनैाँ जगत मैं।
होते विमुख जे होहिँ जनम धिक तिनको जग मैं ॥
भलें पसारैं हाथ लगै जब प्रान अधर तर।
जिन्हें न ताको दरद जियत क्यों रहिमन वे नर ॥५४

मुकता करै कपूर करि चातक जीवन जोय।
एतो बड़ो रहीम जल व्याल बदन विष होय ॥
व्याल बदन विष होय प्रकृति अम्मृतमय तजि कै।
जैसो देखै पात्र मिलै तेहि तैसाेहि सजि कै ॥
जे रघुपति पद पदुम रहत मुनि मन संयुक्ता।
तिन पद तर दस सीस लुठत रजमय तजि मुक्ता ॥५५

ससि की सीतल चाँदनी सुन्दर सबहिँ लखाय।
लगे चोर चित मैं लटी घटि रहीम मन आय ॥
घटि रहीम मन आय न तासों ससिहिँ छोटाई।
जो घटि लखै उलूक दिवाकर नाहिँ हेठाई ॥
खल निन्दा नहिँ गिनहिँ सुसज्जन टारि देहिँ हँसि
सज्जन गुन सब काल लगत सीतल जैसे ससि ॥५६

अमृत ऐसे वचन मैं रहिमन रिस की गाँस।
जैसे मिसरिहु मैं मिली निरस बाँस की फाँस ॥
निरस बाँस की फाँस सरस मिसरी सँग लागत।
बाँकी चितवनि बिना रसिक मन नहिँ अनुरागत ॥
मान समय अपमान रुचत पिय कोँ मानिनि कृत।
रसमय रिसके बैन दास लागत ज्योँ अम्मृत ॥५७

रहिमन मनहिँ लगाइ कै देखि लेहु किन कोय।
नर को बस करिबो कहा नारायन बस होय ॥
नारायन बस होय मनहिँ दृढ़ करि जु लगावै।
सब कारज ही धाइ सहज मैं सनमुख आवै ॥
जगत भयो बस जानु भयो बस जब चञ्चल मन।
दमन कठिन मन केर कठिन कछु और न रहिमन ५८

रहिमन अँसुआ नैन ढरि मन दुख प्रगट करेइ।
जाहि निकारो गेह तेँ कस न भेद कहि देइ ॥

कस न भेद कहि देइ भेद घर को सब जानै ।
देइ मान हिय धरयो निकारत जिय दुख मानै ॥
मुँह लगाउ करि जाँच तरह दीजै भेदी सन ।
होत अतिहि नुकसान बिगारे भेदिया रहिमन ॥ ५९

कस न भेद कहि देइ भेद घर को सब जानै ।
करौ न कोटि छिपाव सीस चढ़ि तौन बखानै ॥
तब लौं गोए रहत सकत सहि जब ही लौं मन ।
जब उफनाइ कढ़ात छिपत तब नाहिन रहिमन ५९

गुन तें लेत रहीम जन सलिल कूपतें काढ़ ।
कूपहु तें कहुँ होत है मन काहू को गाढ़ ॥
मन काहू को गाढ़ कितेको चाहै होवै ।
बस गुन तें ह्वै जाय रुखाई सारी खोवै ॥
गुनी जनन के गुन को गाहक अवसि मिलै सुन ।
कबहुँ दुखी नहिँ होइ रहै अपुने में जो गुन ॥ ६०

रहिमन मन महराज के दृग सो नहीं दिवान ।
जाहि देखि रीझे नयन मन तेहि हाथ बिकान ॥
मन तेहि हाथ बिकान ठिकानो लागै कैसे ।
इक तो आपुहि चपल मिले मन्त्री हू तैसे ॥
तापै उततें लगे नैन सर कसिकै जेहि छन ।
दीवाने दीवान भए मन फँसयो रहिमन ॥ ६१

बिरह रूप घन तम भयो अवधि आस उद्योत ।
ज्यौं रहीम भादौं निसा चमकि जात खद्योत ॥
चमकि जात खद्योत कहूं कहुँ पन्थ सुझावत ।
जैसे सिन्धु अथाह बाँस लहि धीर बढ़ावत ॥
अवधि मिलन पिय कह्यो आसइकसोइबिरहिनितन
त्रान रहत ठहराय भेदिकै बिरह रूप घन ॥ ६२

रहिमन लाख भली करौ अगुनी अगुन न जाय ।
राग सुनत पय पियत हू साँप सहज धरि खाय ॥
साँप सहज धरि खाय जदपि पाल्यो बचपन सों ।
वाको जाति सुभाय कोऊ सों द्वेष न मन सों ॥
कुटिल कृतघ्नी लोगन पैं वारे हू तन मन ।
जाइ न दुष्ट सुभाव दास यह कहत रहीमन ॥ ६३

जैसी परै सो सहि रहै कहि रहीम यह देह ।
धरती ही पर परत सब सीत घाम औ मेह ॥
सीत घाम औ मेह सबै सहतै बनि आवै ।
चलै न एक विचार आइ जब सिर घहरावै ॥
राजा रङ्क अमीर दास सब की गति ऐसी ।
बनै सबन ही सहत परै जिनपैं जब जैसी ॥ ६४

सीत रहत तम हरत नित भुवन भरत नहिँ चूक ।
रहिमन तेहि रविको कहा जो घटि लखै उलूक ॥
जो घटि लखै उलूक दोस तो रवि नहिँ पावै ।
ससि पैं डारै धूर आपुने ही पैं आवै ॥
इनहीं के बल जगत चलत दूजो को इन सम ।
परयो सोर जग नाम दास नित सीत हरत तम ॥ ६५

श्रीराधाकृष्णदास

पण्डित और पण्डितानी ।

पण्डित जी की अवस्था क़रीब ४५ वर्ष की है और उनकी पत्नी की २० वर्ष की। पण्डित जी अंग्रेज़ी और संस्कृत दोनों में विद्वान् हैं और कई पुस्तकें लिख चुके हैं। सप्ताह में दो एक दिन उन्होंने समाचारपत्र और मासिक पुस्तकों के लिये लेख लिखने को नियत कर लिया है। विशेष कर इन्हीं दिनों में, अर्थात् जब वे कुछ लिखते होते हैं, तब उनकी युवा पत्नी उनको बात चीत में लगाना चाहती हैं। पण्डितानी स्वरूपवती हैं और कुछ पढ़ी लिखी भी हैं। उमर में बहुत कम हैं हीं। इन सब कारणों से वाद विवाद में पण्डित जी उनसे हार मानना ही अकसर उचित समझते हैं। एक दिन का हाल सुनिये।

कमरे के एक कोने में, जहां मेज़ कुर्सी लगी हुई थी, पण्डित जी बैठे हुए एक विश्व-विख्यात कवि के कविता चातुर्य पर कुछ लिख रहे थे। थोड़ी ही दूर पर पण्डितानी भी बैठी हुई एक समाचार पत्र पढ़ रही थीं। कुछ देर सन्नाटे के बाद पण्डितानी अपने पति का ध्यान अपनी ओर

खींचने के लिए ज़रा खांसीं। पण्डित जी ने इसकी कुछ परवाह न की और अपने काम में वे लगे रहे।

"सुना!—सुना!!"

पण्डित जी ने पहिले "सुना!" को तो टाल दिया। परन्तु बहरे तो थे ही नहीं; दूसरे पर उन्हें बोलना ही पड़ा।

"हां! आज्ञा"।

"क्या कुछ बड़े ज़रूरी काम में हो"?

"नहीं नहीं, कुछ नहीं" करते हुए पण्डित जी ने कहा "हमको केवल पचास पन्ने का एक लेख लिख कर आजही रात को भेजना है। लेकिन हम यह कुछ बहुत नहीं समझते; कहो तुम्हें क्या कहना है"।

"इस पत्र में एक बड़े अच्छे तोते का विज्ञापन है। यह तुम्हें मालूम ही है कि तोता पालने की बहुत दिनों से मेरी इच्छा है। अगर मैं यह विज्ञापन काट कर तुम्हें दे दूं, तो तुम कर्नैलगञ्ज में, बोस कम्पनी की दूकान पर उसे देख आओगे?" पण्डित जी ने क़लम तो रखदी और ज़रा ज़ोर से सांस खींच कर बोले—"प्रिये! क्या सच मुचही तोता पालने का तुम्हारा इरादा है?"

"क्यों नहीं; और लोगों के पास भी तो तोते हैं। और यह तोता, जिसका मैं ज़िकर करती हूं बोल सकता है। जब तुम बाहर होगे वह मेरे लिए एक साथी होगा"।

"हां यह तो ठीक है! मुझे विश्वास है कि मेरे न होने पर तुम तोते के साथ जी बहला सकती हो। परन्तु वह तोता मेरे लिए किस काम का होगा, यह भी तुमने सोचा?"

"वह तुम्हें भी प्रसन्न करेगा; नए नए ख़याल तुम उससे सीख सकोगे"!

"ज़रूर! मगर जब नये नये ख़याल मेरे ध्यान में न आवेंगे तब मैं उनके लिए बोलते हुए तोते के पास नहीं जाने का"।

इतना कह कर पण्डित जी फिर लिखने में लग गये। भौंह चढ़ाकर उन्होंने, अपने ध्यान को कालिदास की ओर खींचना चाहा। पण्डित जी ने "कालिदास को काव्यरस का मानो"—यह वाक्य लिख कर सन्नाटे में आगे लिखा—"तोता समझना चाहिये"।

ध्यान तो प्रिया के तोते की ओर था। इस कारण पण्डित जी 'सोता' की जगह 'तोता' लिख गये! दुबारा पढ़ने पर यह ग़लती मालूम हुई; तब उन्होंने झुंझला कर उसे काट दिया और पत्नी से आप बोले—

"जब मैं काम में हुआ करूं तब तुम कृपा करके मुझसे मत बोला करो। तुमने मेरे विचारों का प्रवाह बन्द कर दिया"।

पण्डितानी—"हां! हम तुमसे कुछ भी बोलीं और तुम्हारे विचारों का प्रवाह बन्द हुआ। मगर वह प्रवाह ही कैसा जिसे तोता बन्द करदे! मैं तो उसे टपकना भी नहीं कहने की। मगर अब मैं तुमसे कभी न बोलूंगी; और अपनी शेष ज़िन्दगी चुप चाप रह कर काटूंगी। अगर तुम व्याह के समय यह मुझसे कह देते कि मैं तुमको केवल देख सकूंगी; मगर तुमसे बोल न सकूंगी; तो मुझको यह तो मालूम रहता कि किस बात की तुमसे आशा रख सकती हूं और किसकी नहीं। ओह, मैं मानो किसी काठ के पुतले को व्याही गई!"

यह सुनकर पण्डित जी मुसकुराए और बोले "यह जवाब तो कुछ बुरा नहीं। इसमें तो तुमने ख़ूब कविता छांटी"।

"यदि तुम इतने चिरचिरे न होते तो मैं तुम्हें ऐसी ही बातें सुनाया करती। उन्हें तुम अपने लेखों में शामिल कर लिया करते और वे तुम्हारे लेखों की शोभा बढ़ातीं। परन्तु मुझे तो घण्टों चुप चाप बैठा रहना पड़ता है। जैसे मैं किसी कालकोठरी की कैदी हूं, जिसे अपनी परछांही से भी बात चीत करना मना हो"।

"प्राणाधिके! मैं तुम्हें बोलने से केवल उस समय रोकता हूं जब मैं किसी काम में लगा होता हूं। भला तुम्हीं सोचो कि काम और बात चीत, दोनों, साथ ही कैसे हो सकते हैं?"

"वाह! मैं तो उस समय भी काम कर सकती हूं जब घर भर बात चीत करते हों; बीसियों आदमी बोलते हों। देखो न, मेरे साथ की सात आठ सहेलियां बात चीत करती जाती थीं जब मैंने तुम्हारे लिए वह मख़मली जूती तय्यार की। तुम्हीं कहो वह कैसी अच्छी है।"

पण्डित जी हँसकर—"हम तुम्हारे ऐसे बुद्धिमान नहीं"।

"इसी लिए तो मैं तोता पालना चाहती हूं कि जब तुम मुझसे न बोल सको और मुझसे भी चुप चाप बैठे न रहा जाय, तब मैं तोते से बोल सकूं और तोता मुझसे बोल सके; और मुझे यह शङ्का न होने लगे कि मैं गूंगी या बहरी होती जाती हूं, जैसा कि अब कभी कभी होती है"।

"मैं कहे देता हूं"—पण्डित जी ने कुछ क्रोधित होकर कहा, "कि अब मैं कदापि और जीव घर में न लाने दूंगा। तुम्हारे पास एक कुत्ता है, एक बिल्ली है, रङ्गीन मछलियां हैं, और कितनेही लाल हैं। इतने जानवर, किसी स्त्री के लिए, जो नूह की नौका* में न पली हो, बस हैं"।

पण्डितानी ने बड़े मधुरस्वर से कहा—"देखो, इस मामले में बाइबिल को न घसीटो"।

पण्डित जी ने अपने लेख को निराशा की निगाह से देखा और पण्डितानी की ओर प्यार से देख कर वे बोले "प्रिये, तनिक तो बुद्धि से काम लो। यह कम्बख़्त तोता तुम्हारे सिर में कैसे घुसा?"

"मेरे घर में भी एक तोता था। फिर, जब मैं ऐसे घर से आई, जहां सदा तोता रहा, तो बिना उसके मुझसे कैसे रहा जाय?"

"जिस का व्याह हो गया हो उसके लिए तोता अच्छा साथी नहीं"।

"क्या ख़ूब! बापू तोते का बहुत प्यार करते थे"।

"तुम्हारे बापू को, शामको अख़बारों के लिए लेख न लिखने पड़ते होंगे।"

"नहीं। वे अपना काम दिनही को ख़तम कर डालते थे, और सायंकाल भले आदमियों की तरह अपने बाल बच्चों के साथ बिताते थे। मुझे इस प्रकार, कुल रात बापू की ओर घूरते हुए न बैठे रहना पड़ता था। एक शब्द तक मुँह से निकलने का मुझे कष्ट न था। हमलोग बहुत मज़े में मिलजुल कर रहते थे—हम, और बापू और तोता—"

इतना कह कर पण्डितानी ने अपनी सूरत रोती सी बनाई, जिससे पण्डित जी आतुर हो कर बोले—

"देखो, आंसू न निकालो। तुम अच्छी तरह रहो। कि जो तुम इस मकान के नींव को ईंटें तक मांगो तो वे भी मैं तुम्हें देने को तैयार हूं"।

"मैं ईंटें नहीं मांगती; तोता मांगती हूं"। पण्डित जी को रोक कर वह फिर बोली—"तुम मेरे लिए तोता ज़रूर लादो; मैं देखती रहूंगी कि वह तुम्हें दिक़ न करे"।

"परन्तु वह दिक़ करेहीगा। देखो तुम ने लाल पाले हैं; वे मुझे कितना दिक़ करते हैं"।

"वे बिचारे प्यारे प्यारे लाल, कैसी मधुरी बानी बोलते हैं। क्या उनके गाने से तुम दिक़ होते हो?"

"प्रिये! उनके गाने से मेरा हर्ज नहीं। परन्तु जब कभी पिँजड़े के किवाड़ खुले रह जाते हैं, तब मुझे रखवाली करनी पड़ती है, कि कहीं तुम्हारी बिल्ली उनका नाश्ता न कर डाले। कल दो बार मैंने उधर जो देखा तो मालूम हुआ कि पुसी पिँजड़े के पास अपने होठ फड़का रही है। भला तुम्हीं कहो, कोई मनुष्य अपना ध्यान किसी बात में कैसे लगा सकता है यदि उसे एक बिल्ली की रखवाली करना पड़े, जो उसकी पत्नी के लालों की ताक में हो"।

"परन्तु, तुम्हें तोते को न ताकना पड़ेगा। तुम जानते हो, कि बिल्लियां तोते को नहीं खातीं!

---

* ईसाइयों की धर्मपुस्तक बाइबिल में लिखा है कि जब संसारी जीवों के पातकों के कारण आई हुई भयंकर बाढ़ से बचने के लिए, नूह ने ईश्वर के आज्ञानुसार एक बड़ी किश्ती बनाई और उसमें शरण ली तब उन्होंने अपने बाल बच्चों के अतिरिक्त सब जन्तुओं का एक एक जोड़ा भी साथ ले लिया।

ग्रौर जब तुम काम में न होगे तब उसकी बोली सुनकर प्रसन्न होगे। मैं उसको बड़ी ग्रच्छी ग्रच्छी बोलियां सिखाऊंगी"।

"जो कुछ तुम उसे सिखाग्रोगी वह नहीं बोलेगा; बल्कि वह वही बोलेगा जो वह पहिले ही से जानता है"।

"नहीं! नहीं! मुझे विश्वास है कि इस तोते की शिक्षा बुरी नहीं हुई है। विज्ञापन में लिखा है कि वह बच्चों से मिल गया है। इसके यह मानी हैं, कि वह गाली गुफ़ा नहीं बकता। मेरे घर का तोता पूरा भला मानस था। उससे मेरे घर के ग्रादमियों पर बड़ा ग्रच्छा ग्रसर पड़ा। मेरा भाई तोते के ग्राने से पहले तो कभी गाली वग़ैरह तक भी देता था; परन्तु जब से तोता ग्राया तब से उसने कभी वैसा नहीं किया। उसको भय था कि कहीं तोता भी न वही बोलने लगे। मुझे बहुधा ख़याल हुग्रा है कि बोलनेवाले तोते के होने से शायद तुम्हारी भी कुछ ग्रादतें सुधर जायं"!

"ग्रपना यह ख़याल तो तुम एकदम दूर कर दो। घर में तोते की मौजूदगी मुझे ग्रापे से बाहर करदेगी। जब वह चीख़ने लगेगा तब न जाने मैं क्या क्या बक जाऊंगा। इसके सिवाय मेरे इज़्ज़तदार, भलेमानस, ग्रौर सीधे सादे पड़ोसियों को एक चीख़ते हुए तोते से बड़ी परेशानी होगी"।

"हां! हां! तुम पड़ोसियों का ख़याल कर रहे हो? तुम्हें इस बात का ख़याल नहीं कि मुझे कितना दुःख है। तुम्हारा सब ध्यान ग़ैरों की तरफ़ है! ग्रच्छा कल मैं ग्रपने मकान के सामने वाली हवेली में कहला भेजूंगी कि वे कुत्ता न पालें क्योंकि वह घंटों दरवाज़े पर भोंका करता है। ग्रगर मैं तोता न पाल सकूंगी तो वे कुत्ता भी न पाल सकेंगे। ग्रौर, हां, पड़ोस में ग्रभी एक बच्चा हुग्रा है। वह क़रीब क़रीब रात भर चिल्लाता रहता है। मैं उसके लिए भी वैसाही कहला भेजूंगी। ग्रगर मैं उनके कारण तोता न रख सकूंगी तो वे मेरे कारण बच्चा भी न रखने पावेंगे"!

इतने पर पण्डित जी ने कालिदास ग्रौर उनके काव्य को तो हटाया ग्रौर कुरसी फेर कर वे ग्रपनी ग्रर्धाङ्गिनी के सम्मुख हुए।

"प्रियतमे! यदि तुम बुद्धिमानी से बात करो तो मैं तुम्हारी बात सुनूंगा, वरना नहीं। भला पड़ोसी के बच्चे ग्रौर तुम्हारे तोते से क्या सम्बन्ध?"

"सम्बन्ध क्यों नहीं! ख़ूब सम्बन्ध है। ग्रगर मेरे कोई बच्चा हो, ग्रौर वह रोए तो तुम कहोगे कि तुम्हारा ध्यान बटता है। इस लिये दाई को उसे लेकर छत पर या बाहर बाज़ार में बैठना पड़ेगा जिसमें उसका रोना तुम्हें न सुनाई दे। तुम्हारे लिए तो केवल एक स्थान ग्रच्छा होगा। तुम एक कमरा किसी गूंगे बहिरों के ग्रस्पताल में लेलो, तो तुम बिना किसी विघ्न के लिख पढ़ सकोगे। मैं कहती हूं कि ग्राख़िर ग्रौर लोग कैसे किताबें लिखते हैं? तुम्हें कालिदास के बारे में दो सतरें लिखना है; ग्रौर उतने के लिए ग्रपनी पत्नी को सभ्यता-पूर्वक जवाब देना तुम्हें कठिन होगया है!"

"प्रिये! जवाब तो मैं दे चुका। क्या मैंने यह नहीं कहा कि मैं तोता रखने के विरुद्ध हूं?"

"हां! परन्तु तुमने मुझे समझाने तो नहीं दिया। तुम्हारा जो ख़याल तोतों के विषय में है वह सर्वथा ग़लत है। तुमने जानवरों के ग्रजायबघर के चीख़ते हुए तोते देखे हैं जो एक शब्द भी नहीं उच्चारण कर सकते। परन्तु एक सिखाया हुग्रा तोता, एक शिक्षित तोता, एक पालतू तोता, जैसा विज्ञापन में लिखा है कुछ ग्रौर ही चीज़ है। मेरे घर में जो तोता है, वह गा सकता है। लोग कोसों से उसके गीत सुनने ग्राते हैं। उसके पिंजड़े के पास भीड़ लग जाती है"।

"ग्रच्छा, वह क्या गाता है? ऋतुसंहार के श्लोक?"

"देखो ऐसी बे-लगाव बातें मत करो! ऋतुसंहार के श्लोक पढ़ेगा! वह काशी का कोई शास्त्री है न!"

"अच्छा, फिर, यह ते। बताओ, वह गाता क्या है? इसमें ते। कोई सन्देह ही नहीं कि तुम तोता ज़रूर पालोगी। चाहे हम माने या न मानें। अब हमें इतना ते। मालूम हो जाय कि क्या बक बक कर सुबह, दोपहर और शाम, हर समय वह, हमारे कान फोड़ैगा?"

"उसमें कान फोड़ने की कोई बात नहीं। तुम ते। ऐसा कहते हो गोया मेरे घर के आदमी सब जङ्गली हैं; गान-विद्या जानते ही नहीं। याद रखिए उनमें बुद्धि और सभ्यता तुमसे कुछ कम नहीं"।

"अच्छा यह सब हमने माना। ज़रा बताइये ते। सही आपका वह सभ्य तोता कहता क्या है?"

"वह कई बड़े ही मनोहर पद कहता है। नीचे का पद ते। वह बड़ी ही सफाई से गाता है, वह कहता है—"

"सत्त, गुरदत्त, शिवदत्त दाता"।

"आहा! क्या कहना है!" पण्डित जी ने कुछ क्रोध और कुछ कटाक्ष से कहा—"मैंने अपने जीवन में इससे अधिक अच्छा गाना कभी नहीं सुना। अगर यही गाना है ते। मैं इस 'दत्तदत्त' पर 'धत्त' कहता हूं'!

"देखो मुझ से धत्त न कहना। कोई मैं कुँजड़िन कवड़िन नहीं।"

"ख़फ़ा मत हो। मैं तुम्हें धत्त नहीं कहता; तुम्हारे सभ्य तोते के। धत्त कहता हूं। तुमने पूरा एक घण्टा समय मेरा नष्ट किया। अब कृपा करके लिखने दे।"।

किसी प्रकार पण्डित जी ने अपना चित्त खींच कर फिर कालिदास पर उसे जमाया! लेकिन पण्डितानी जी से चुपचाप कब रहा जाता है! थोड़ी ही देर में उस सन्नाटे ने उन्हें व्याकुल कर दिया। अपनी जगह से उठकर वे पण्डित जी के पास आईं और अपना हाथ मेज़ पर कई बार मारकर उन्होंने उनका ध्यान अपनी ओर आकर्षित किया। वे बोलीं—"अच्छा, तो पूछती हूं कि, अगर मैं एक तोता न पालूं ते। तुम छः कुत्ते कैसे पालोगे? हां छ कुत्ते! और एक उनमें से ऐसा काटनेवाला कि जिसके मारे धोबिन, नाइन, तेलिन, तमोलिन तक का आना मुश्किल! अहीर जब दूध दुहने आता है तब दे। नैाकर उस कुत्ते के। पकड़ने के। चाहिएं। यह सब तुम जानते हो; तब भी उसे नहीं निकालते। अभी उस दिन तुम्हें मेहतर के। दे। रुपए देने पड़े। जिसमें वह उसके काटने की ख़बर पुलीस के। न करे। जनकिया महरी के। देख उस दिन वह ऐसा गुर्राया कि वह गिर ही पड़ी! तुम ते। ऐसा कुत्ता रक्खो और मैं यदि छोटासा, मिष्टभाषी, ख़ूबसूरत, निरुपद्रवी तोता पिंजड़े में पालना चाहूं ते। तुम मुझसे ऐसे लड़े। जैसे मैं कोई बाघ घर में लाना चाहती हूं"!!

पण्डित जी से अब आगे कुछ न बन पड़ी। उन्होंने पण्डितानी के दोनें हाथ अपने हाथों में प्यार से लेकर दबाया और उनका मुख एक बार चुम्बन करके कहा "अच्छा ते। हम तुम्हारे लिए एक नहीं ६ तोते ला देंगे। अब ते। प्रसन्न हो?"

इस पर पण्डितानी जी प्रसन्नता से फूल कर चुपचाप बैठ गईं और पण्डित जी ने जल्दी जल्दी अपना लेख समाप्त कर डाला।

गिरिजादत्त वाजपेयी।

कीट-ग्राहक पौधा।

ईश्वर ने इस विशाल विश्व में ऐसे ऐसे अद्भुत जीवजन्तु और लता-पत्रादिक उत्पन्न किये हैं कि उनको देखकर मनुष्य चकित हो जाता है; और महा-नास्तिकों के भी मन में, उस समय, यह भावना उत्पन्न हो उठती है कि ऐसी ऐसी आश्चर्य्य-कारिणी वस्तुओं का उत्पादक कोई अवश्य होगा। मकरी के। जाला लगाते और उसमें मक्खियों के। फँसा कर उनका शिकार करते प्रायः सभी ने देखा होगा। तन्तुओं के बने हुए अपने घर में वह, चुपचाप, योगी के समान समाधिस्थ सी होकर, शिकार की मार्ग-प्रतीक्षा किया करती है और

ज्योंहीं कोई मक्खी अथवा और कोई कीटक उसके जाल पर गिरता है त्योंहीं वह बड़े वेग और बड़े आवेश से उसपर टूट पड़ता है। तालचञ्चु-पक्षी, अर्थात् अबाबील, भी एक प्रकार का फंदा लगाकर अनेक मक्खियों को एकही साथ पकड़ लेता है। ऐसे ऐसे उदाहरण इन्द्रिय-विशिष्ट जीवों में तो पाए जाते हैं; परन्तु इन्द्रियहीन लता-पत्रादिकों में नहीं सुने गये। इन्द्रिय-विशिष्ट जीवधारी अपनेही मनुष्यको, अपनी बुद्धि और विद्या के बल से बनाए हुए नियमों की असारता पर लज्जित होना पड़ता है। आज, हम, यहां पर, एक ऐसे पौधे का वर्णन लिखते हैं जो मक्खी इत्यादि कीटपतङ्गों को अपने पत्ते-रूपी जाल में फँसा कर उन्हें मार डालता है और जब तक इच्छा होती है तब तक उनके मृतक देह को अपनी पत्तियों के भीतर बन्द रखता है। इस पौधे का चित्र नीचे देखिए।
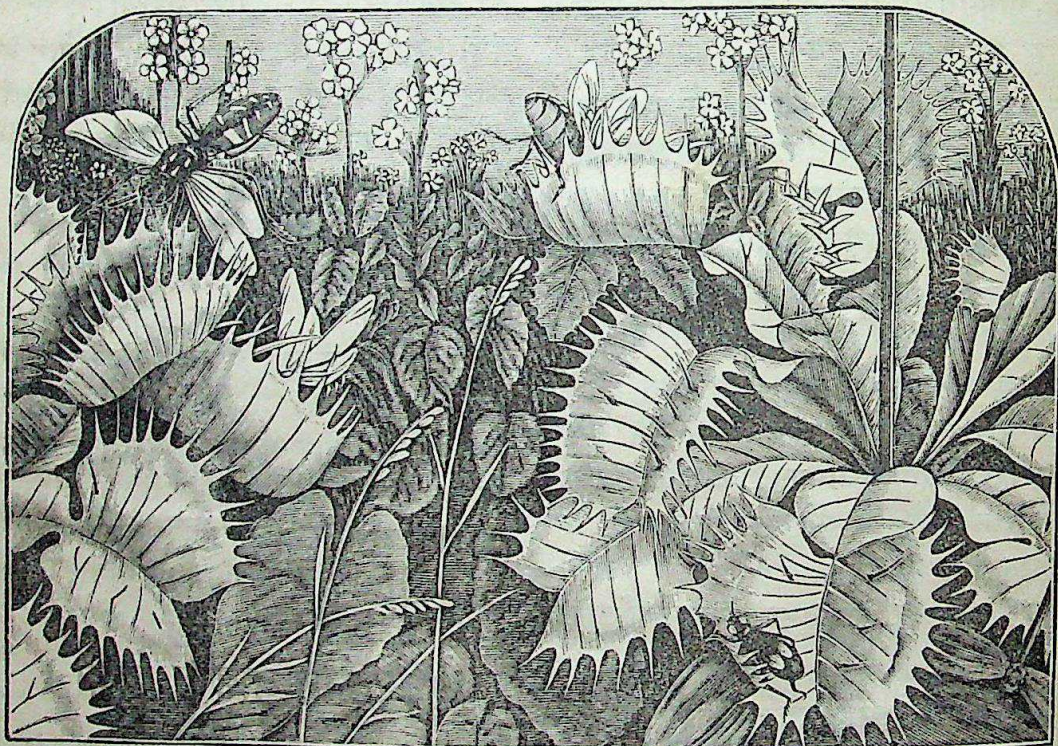
सदृश इन्द्रिय-वान् जीवों और उद्भिद् पदार्थों पर अपना जीवन निर्वाह करते हैं; और इन्द्रियहीन वृक्ष इत्यादि अपनेही प्रकार के इन्द्रिय-हीन पदार्थों को ग्रहण करके उनपर अपना जीवन धारण करते हैं। यह नहीं देखा गया कि पेड़ चिड़ियों अथवा मक्खियों का शिकार करने लगें। परन्तु ईश्वर परम-लीलामय है। उसके रचना-चातुर्य्य का ज्ञान अल्पज्ञ मनुष्य को कदापि नहीं हो सकता। कभी कभी वह अपनी अखण्ड शक्तिमत्ता का परिचय, ऐसे ऐसे पदार्थ उत्पन्न कर, देता है जिनको देख

कैलीफार्निया का उत्तरी भाग बहुत करके रेतीला है। यह पौधा वहीं उत्पन्न होता है। इसकी उँचाई ६ से १२ इञ्च तक होती है। इसकी पत्तियों के बीच से फूलों की नाल निकलती है जिसके अन्तमें छोटे छोटे सफेद फूलों के गुच्छे लगते हैं और लटक कर पृथ्वी पर फैल जाते हैं। प्रत्येक पत्ती के दो भाग होते हैं और उनके बीच में एक रेखा सी होती है। नीचेवाली की अपेक्षा उपर की पत्ती कुछ अधिक चौड़ी होती है। इन पत्तियों के प्रत्येक भाग में दाहिनी बांई ओर फिर दो दो भाग

होते हैं। ऊपरी पत्तियों के चारो ओर आरे के सदृश लम्बे लम्बे दाँत होते हैं। इस पौधे की पत्तियों के जो दो विभाग होते हैं उनमें से ऊपरी भाग ही कीट-ग्राहक है; वही मक्खी इत्यादि जीवों को पकड़ता है। उसकी समता आँखों की पलकों से दी जा सकती है। पलकों में जैसे बरौनियाँ होती हैं, इस पत्ती में वैसेही दाँत होते हैं। जैसे पलकें बन्द कर लेने से ऊपर और नीचे की बरौनियाँ एक हो जाती हैं, वैसे ही, बन्द होने पर, इस पत्ती के दाँत एक दूसरे में मिल जाते हैं और बीच की ख़ाली जगह में जम कर बैठ जाते हैं। पत्ती के ऊपर लाल रंग के दाने दाने से उभड़े रहते हैं। उसके बीच में जो रेखा है उसके दोनों ओर का कुछ भाग भीतर की ओर गहरा होता है। इस गहराई, अर्थात् गड्ढे में, दोनों ओर, तीन तीन कँटीले रोवें होते हैं। इन्हीं रोवों में ही इस पत्ती की ग्राहक-शक्ति है। जैसे लाजवन्ती को छूने से वह सिकुड़ जाती है, वैसे ही इन रोवों को स्पर्श करने से पत्ती का ऊपरी भाग बन्द हो जाता है। यदि कोई मक्खी अथवा कीड़ा पत्ती पर बैठ जाता है और इन रोवों में से एक अथवा अधिक को छू लेता है तो पत्ती के दोनों किनारे सहसा एक दूसरे की ओर उठ जाते हैं और उसका भीतरी भाग तत्काल बन्द हो जाता है। जिस समय पत्ती के किनारे उठने लगते हैं उस समय उसका शिकार चाहै बचने का जितना प्रयत्न करै सब निष्फल जाता है; और एक निमिष-मात्र में वह उस पत्ती के पेट में अपने को बन्द पाता है। कीड़े के भीतर आते ही पत्ती के कँटीले रोवें उसे जकड़ कर पकड़ लेते हैं और एक दूसरे से ऐसा मिल जाते हैं जैसा मनुष्य के हाथों के दोनों पञ्जे मिलाने से परस्पर मिल जाते हैं। जाल में, इस प्रकार, फाँस लिए जाने पर वह कीड़ा न तो दबा कर ही मार डाला जाता और न रोवों के द्वारा छेद कर ही उसके जीवन की समाप्ति कर दी जाती है। अपनी पत्तीरूपी काल कोठरी में कीड़े को बँधुवा बनाकर पौधा उसे तब तक वहां बन्द पड़ा रहने देता है जब तक वह अपना हिलना डुलना बन्द नहीं करता। जब वह मर जाता है तब उसका हिलना डुलना बन्द हो जाता है, और तभी वह शिकारी पौधा अपनी पत्ती को खोलकर फिर उसे पहले के समान फैला देता है। यदि इस पौधे की पत्तियों के कँटीले रोवों को मनुष्य छू लेता है तो भी वे तत्काल बन्द हो जाती हैं और कुछ काल तक बन्द रहने के अनन्तर धीरे धीरे खुलती हैं। उन्हें यदि कोई बारम्बार छूता है तो उनकी बन्द होने की शक्ति क्रम क्रम से क्षीण हो जाती है और जब तक उनको कुछ देर तक विश्राम न दिया जाय तब तक उनकी ग्राहिका-शक्ति पूर्ववत् जागृत नहीं होती।

कुतुब मीनार।

फ़रवरी और मार्च को सरस्वती में, इस वर्ष, कुतुब मीनार पर एक लेख प्रकाशित हुआ है। इस बीच, देहली जाकर, हमने इस मीनार को स्वयं देखा और जिन लोगों ने इसके विषय में लिखा है उनके लेख भी, जहां तक हमको मिल सके, हमने पढ़े। (१) सर सैयद अहमद ख़ाँ ने आसारुस्सनादीद नाम की एक किताब लिखी है। इसमें उन्होंने देहली की प्राचीन इमारतों और वहां के प्राचीन शिलालेखों का वर्णन किया है। सैयद साहब का मत है कि यह मीनार आदि में हिन्दुओं का था। (२) इस विषय में एशियाटिक सोसाइटी के जरनल में भी कई विद्वानों ने कई लेख लिखे हैं। परन्तु पुरातत्व के सम्बन्ध में जेनरल कनिंहम की सम्मति बहुत प्रामाण्य मानी जाती है। (३) उन्हों-ने "आरकिऑलाजिकल रिपोर्ट्स" के पहले भाग में कुतुब मीनार से हिन्दुओं का कोई सम्बन्ध न बतलाकर उसे ख़ालिस मुसल्मानी इमारत बतलाई है। (४) इसके सिवाय यडवर्ड टामस साहब ने अपनी "पठान किंगज़ आफ़ देहली" नाम की किताब में जेनरल कनिंहम के मत को पुष्ट किया है।

टामस साहब बंगाल, लण्डन और पेरिस की एशियाटिक सोसाइटी के सभासद थे; उन्होंने पुरातत्व सम्बन्धी सैकड़ों निबन्ध इन सोसाइटियों के जरनलों में प्रकाशित किये हैं; और कई पुस्तकें इन विषयों पर लिखी हैं। देहली के पठान बादशाहों पर जो किताब उन्होंने लिखी है वह ऐतिहासिक तत्वों से भरी हुई है। टामस साहब की विद्वत्ता, गवेषणा और श्रम का विचार करके आश्चर्य्य होता है। कुतुब मीनार के विषय में उन्होंने जो मत प्रकाशित किया है उसे हम थोड़े में यहां पर लिखते हैं।

पृथ्वीराज का पराभव करनेवाले और उसके साथही हिन्दू-साम्राज्य का सर्वदा के लिए अन्त करनेवाले मुइज़्ज़ुद्दीन मुहम्मद बिन साम के नाम से पाठक अवश्यही परिचित होंगे। यह गोर देश से यहां आया था; इस लिए यहां यह मुहम्मद गोरी के नाम से अधिक प्रसिद्ध है। कुतुब मीनार के नीचे के खण्ड में कई लेख हैं जिनमें इसका नाम है। उनमें से एक यह है—

السلطان المعظم شهنشاه الاعظم مالک رقاب الامم مولي ملوک
العرب والعجم سلطان السلاطين في العالم غياث الدنيا والدين
* * * * ابوالمظفر محمد بن سام قسيم اميرالمومنين
خلد الله ملکه —

अक्षरान्तर—

अस्सुल्तानुल्मुअज़्ज़म, शहनशाहुल आज़म, मालिके रक़ाबुल् उमम, मौलाये मलूकुल अरब व अजम, सुल्तानुस्सलातीन फ़िल् आलम, ग़यासुद्दुनिया व दीन * * * अबुलमुज़फ्फर मुहम्मद बिन साम क़सीम अमीरुलमोमनीन खुल्द अल्लाह मुल्कहू।

इस अवतरण में जहां पर हमने तारकाकार चिन्ह दिये हैं वहां की कई पंक्तियां हमने छोड़दी हैं। उनमें मुहम्मद बिन साम की प्रशंसा में अपूर्व अपूर्व विशेषणवाली वैसीही उपाधियां हैं जैसी कि इन पंक्तियों में है। "आप इस समय दुनिया भर के सुल्तानों के सुल्तान हैं; आप दीन और दुनिया दोनों के दीपक हैं; आप अरब और अजम के भी मालिक हैं" इसी प्रकार की तारीफ़ इनमें भरी है। मुहम्मद बिन साम के नाम और उसकी प्रशंसा को छोड़कर उसमें यह नहीं लिखा कि क्यों और किस प्रकार यह मीनार बनाया गया।

कुतुब मीनार के पास ही कुतुबुद्दीन की जो मसजिद है उसके पूर्वी दरवाज़े के नीचे जो लेख है उसकी, अब, दूसरी पंक्ति देखिए—

اين حصار رافتح کرد واين مسجد جامع رابه ساخت بتاريخ
في شهور سنه سبع و ثمانين و خمسمايت امير اسپهسالار اجل کبير
قطب الدوله والدين اميرالامرا ايبک سلطاني اعزالله انصاره
و بست و هفت آلت بتخانه که درهر بتخانه دو بار هزار بار هزار
دليوال صرف شده بود دراين مسجد بکار بسته شده است خداي عز و
جل بران بنده رحمت کناد هرکه برنيت باني خير دعاء ايمان گويد —

अक्षरान्तर—

ईं हिसार रा फ़तेह कर्द व ईं मसजिद जामै रा बिसाख्त ब तारीख़ फ़ी शहूर सनसबआ व समानीन व ख़मसमायत अमीर असफ़हेसालार अजल कबीर कुतुबुद्दौला व दीन अमीरुल् उमरा ऐबके सुल्तानी आज़ुल्ला इन्सारहू। व बिस्त व हफ़्त आलते बुतख़ाना के दर हर बुतख़ाना दो बार हज़ार बार हज़ार दिलेवाल सर्फ़ शुदा बूद दरीं मसजिद बकार बस्ता शुदा अस्त। ख़ोदाये अज़्ज़ व जल बरां बन्दा रहमत कुनाद हरके बरनीयते बानो खैरदोआये ईमान गोयद।

भावार्थ—

दीन और दौलत के केन्द्र, अमीरों के अमीर सुल्तान ऐबक ने, ५८७ हिजरी (११९१ई०) में इस क़िले को जीता और इस जामै मसजिद को बनवाया। इस मसजिद की इमारत में २७ मन्दिर तोड़कर उनका माल मसाला काम में लाया गया है। इन मन्दिरों में, एक एक मन्दिर के बनवाने में बीस बीस लाख दिलेवाल (एक प्रकार का सिक्का) ख़र्च हुए थे। जिसने इसकी नीव डाली है, अर्थात् जिसने इसे बनवाया है, उसे जो आशीर्वाद देगा उसका ईश्वर कल्याण करैगा।

मुहम्मद बिन साम ने पृथ्वीराज से पहले हार खाई थी। जब उसने पृथ्वीराज पर विजय पाई

ग्रैार उससे देहली का सिंहासन छीन लिया, तब उसे परमावधि का ग्रानन्द हुग्रा। इस विजय के उपलक्ष्य में उसने यह मीनार बनवाया। देहली विजय करके वह स्वदेश को लैाट गया ग्रैार यहां पर कुतुबुद्दीन को गवर्नर बनाकर छोड़ गया। कुतुबुद्दीन ने यह मीनार ग्रपने मालिक के विजय की यादगारी में बनवाया ग्रैार उसका नाम, कई जगहों पर, उसकी प्रशंसापूर्ण उपाधियों के साथ इस पर खुदवाया। यह मीनार कुतुबुद्दीन ही ने बनावाया; इस लिए वह उसीके नामसे प्रसिद्ध है; मुहम्मद बिन साम के नाम से, नहीं। १८६२-६३ की ग्रारकियोलाजिकल रिपोर्ट में जेनरल कनिंहम नेजो यह सिद्धान्त निकाला है कि यह स्वतन्त्रमुसलमानी इमारत है; पृथ्वीराज ग्रथवा किसी ग्रैार की प्राचीन इमारत पर, या उसको तोड़कर, यह नहीं बनाई गई; वह बहुत ठीक है। यह मीनार ग्रैार इसके पासही कुतुब की मसजिद दोनों एकही समय की इमारतें हैं। ये दोनों ५८७ हिजरी ग्रर्थात् ११९१ ई० को, ग्रथवा वर्ष छ महीने इधर उधर की हैं। ग्रैार इसी साल, ग्रर्थात् ११९१ ई० में, देहली विजय हुई। यदि किसी प्राचीन इमारत को तोड़ कर यह मीनार बनाया जाता तो इस पर भी वैसे ही शेखों से भरे हुए वाक्य पाये जाते जैसे कुतुब की मसजिद पर हैं। कोई कारण नहीं जान पड़ता कि २७ मन्दिरों को तोड़कर मसजिद बनाने की बात तो लिखी जावे ग्रैार ऐसे विशाल विजय-स्तम्भ पर, वहीं पर की प्राचीन लाट, मकान या महल के तोड़े जाने की बात न रहे। उस समय, हिन्दुग्रों के प्राचीन स्थानों को तोड़कर, जो इमारतें मुसल्मानी बादशाह बनवाते थे, उन पर, उन प्राचीन स्थानों के जाज्वल्यमान चिन्हों के साथ, उस विषय का लेख भी वे वहां खुदवा देते थे। इस बात का प्रमाण, कुतुब की मसजिद के सिवाय, ढाई दिन के झोंपड़े के नामसे प्रसिद्धि पानेवाली ग्रजमेर की मसजिद भी है। वहां पर प्राचीन मूर्तियां ग्रैार प्राचीन मन्दिरों के निशान प्रत्यक्ष देख पड़ते हैं। यह मसजिद भी मुइज्जुद्दीन मुहम्मद बिन साम के ही शासन-काल में बनी थी। इस पर जो लेख है उसे कर्नल लीज़ ने प्रकाशित किया है। उसमें साफ़ लिखा है कि मन्दिरों को तोड़ कर वह मसजिद बनवाई गई। "ताजुलमग्रासिर" नामके इतिहास में भी यह बात स्पष्ट लिखी है। ग्रतएव यदि किसी पुरानी इमारत को तोड़ कर यह मीनार बनाया जाता तो इस बात का उल्लेख ग्रवश्यही इस पर होता। इसके लेख, जिनमें मुहम्मद बिन साम का नाम है, इस बात की गवाही दे रहे हैं कि यह उसीका विजयस्तम्भ है; उसी के नाम से कुतुबुद्दीन ने बनवाया; ग्रैार नयाही बनवाया। कुतुब मीनार के नीचे के खण्ड में एक लेख था जो ग्रब बहुत घिस गया है; परन्तु "कुतुबुद्दीन ग्रसफेहसालार" का नाम उसमें ग्रभी तक पढ़ा जाता है। इस लेख में शायद कुतुबुद्दीन के द्वारा इसके बनाये जाने का स्पष्ट उल्लेख रहा हो।

फ़ीरोज़शाह के समय में इस मीनार पर बिजुली गिरी थी। उसके गिरने से इसके दो खण्ड बिगड़ गये थे। इन दो खण्डों की मरम्मत फ़ीरोज़शाह ने कराई। मरम्मत क्या, उनको नए सिरे से उसने बनवाया। इस विषय का लेख उस मीनार के पाँचवें खण्ड में है। यह ७७० हिजरी का, ग्रर्थात् मीनार बनने के कोई १८३ वर्ष पीछे का, है; इसे हम नीचे देते हैं—

درایں منارہ بسنہ سبعین و سبعمایہ باٰفت برق خلل راہ یافتہ بود بتوفیق ربانی برکشیدہ عنایت سبحانی فیروز سلطانی این مقام را باحتیاط تمام عمارت کرد خالق بیچون این مقام را از جمیع آفات مصیون داراد -

अक्षरान्तर—

दरीं मनारह सन सबईं व सबग्रमाया ब ग्राफ़त बर्क़ ख़लल राह याफ़्ता बूद। बतौफ़ीक़ रब्बानी बर कशीदा इनायत सुभानी फ़ीरोज़ सुलतानी ईं मुक़ाम रा बयहतियात तमाम इमारत कर्द ख़ालिक बेचूं ईं मुकाम रा ग्रज़ जमीय ग्राफ़ात मसयून दाराद।

भावार्थ—

७७० हिजरी में इस पर बिजुली गिरी। फ़ीरोज़शाह ने इसकी मरम्मत कराई। ईश्वर इस स्थान को आफ़तों से बचावे।

फ़ीरोज़शाह ने अपना संक्षिप्त जीवनचरित अपनेही हाथ से लिखा है। उसका नाम है "फ़तूहाते फ़ीरोज़शाही"। सर यच यलियट ने अपनी "हिस्टोरियन्स" (Historians) नामकी किताब के तीसरे भाग में इसका पूरा अनुवाद दिया है। इस आत्मचरित में फ़ीरोज़शाह ने एक जगह, इस प्रकार, लिखा है—

و منارۂ سلطان معیزالدین سام را کہ از حادثۂ برق افتادہ بود
بہتر از آنکہ بود از ارتفاع قدمي بلند تر مرمت کردہ شد —

अक्षरान्तर—

व मनारह सुल्तान मुइज़्ज़ुद्दीन साम रा के अज़ हादसै बर्क़ उफ़्तादा बूद बेहतर अज़ आँ कि बूद अज़ इरतिफ़ाय क़दीमी बलन्दतर मरम्मत कर्दा शुद।

अर्थात्—

मुइज़्ज़ुद्दीन साम का मीनार, जो बिजुली से गिर पड़ा था, पहले से भी अधिक ऊंचा मरम्मत किया गया।

मीनार बनने के डेढ़ही दोसैा वर्ष पीछे होने वाला फ़ीरोज़शाह इसे मुहम्मद बिन साम का मीनार बतलाता है। यदि पृथ्वीराज ने इसे अपनी लड़की के यमुना-दर्शन के लिए बनवाया होता तो फ़ीरोज़शाह अपने आत्म-चरित में मुहम्मद बिन साम का नाम क्यों लिखता?

इन बातों से तो यही सिद्ध होता है कि देहली विजय के उपलक्ष्य में मुहम्मद बिन साम के नाम से इसे कुतुबुद्दीन ऐबक ही ने बनवाया। सम्भव है, पृथ्वीराज की कोई इमारत वहां पहले रही हो और उसी पर या उसको तोड़कर यह मीनार बनाया गया हो; परन्तु इस बात को सिद्ध करने के लिए प्रमाण दरकार है। नागरी-प्रचारिणी सभा के मन्त्री बाबू श्यामसुन्दर दास के मत में यह मीनार मुसल्मानी इमारत नहीं है; और इस विषय में, फ़रवरी और मार्च की सरस्वती में, जो प्रमाण दिये गये हैं वे भी मान्य नहीं हैं। उन्होंने अपने मत को सप्रमाण सिद्ध करने के लिए, अवकाश मिलने पर, एक लेख लिखने का वादा किया है।

———

वर्णमाला-रहस्य।

हमारी भारतभूमि की प्रायः सभी प्राचीन प्रणालियां प्राकृतिक (स्वाभाविक) रहस्यों से परिपूर्ण हैं। जिधर आंखें उठाइये उधर ही स्वाभाविकता की छटा दिखाई देती है। क्या लैाकिक, क्या पारलैाकिक, यहां के सभी प्राचीन विषय स्वाभाविक और वैज्ञानिक भित्ति पर स्थित हैं। उदाहरण के लिये भारत की पुरानी भाषा देववाणी अर्थात् संस्कृत का व्याकरण ही लीजिये। अहा! इसकी प्रणाली कैसी नैसर्गिक भित्ति पर स्थित है। इस विषय का स्वाद वेही लोग जानते होंगे जिन्होंने इसे भली भांति मनन किया होगा। बहुधा इसके नियम तो ऐसे हैं जो प्रायः इस भूतल की सभी भाषाओं के व्याकरण में नामान्तर होकर विराजमान हैं और जिन्हें हम मनुष्यमात्र की भाषा के व्याकरण का स्वाभाविक और सार्वभौम नियम कहें तो अत्युक्ति नहीं। संस्कृत व्याकरण का रहस्य तो हम और कभी अवकाश पाने पर निवेदन करेंगे; परन्तु यहां केवल इसका "वर्णमाला-रहस्य" पाठकों की सेवा में भेंट करते हैं। यह विषय अत्यन्त नीरस होने के हेतु कितनों को अच्छा लगेगा यह हम नहीं कह सकते। परन्तु यदि भाषा-रहस्य के रसिकों में से थोड़े सज्जन भी इस लेख से सन्तुष्ट होंगे तो हम अपने परिश्रम को सफल और अपने को कृतकृत्य समझेंगे।

संस्कृत वर्णमाला की परिपाटी जैसी स्वाभाविक है वैसी ही अनोखी और मनोहर भी है। हम और और वर्णमालाओं के विषय में जहां तक जानते हैं उनमें से किसीमें अच्छी परिपाटी तो दूर रहे, यह

नहीं कहा जा सकता, कि उनमें कोई नैसर्गिक क्रम है। अंगरेज़ी, फ़्रेंच आदि बहुतेरी यूरोपीय भाषाओं में जो वर्णमाला व्यवहृत है उसमें प्रथम अक्षर 'ए' या 'अ', द्वितीय अक्षर 'बी' या 'ब', तृतीय अक्षर 'सी' या 'स' अथवा 'क' आदि हैं। अरबी, फ़ारसी, हिब्रू आदि वर्णमालाओं की भी यही दशा है। इनमें से किसी वर्णमाला में नैसर्गिक क्रम नहीं देख पड़ता। 'स्वर' और 'व्यञ्जन' का पृथक् पृथक् समावेश तक नहीं है। आज कल जिसे विज्ञान कहते हैं उसी विज्ञान की दृष्टि से इन वर्णमालाओं को क्रमहीनता के दोष को विज्ञान-विरुद्ध कहना अनुचित नहीं है। हम मुक्तकंठ होकर कह सकते हैं कि केवल संस्कृत वर्णमाला ही उक्त दोष से विमुक्त है। यह अत्यन्त गौरव की बात है और इसी लिये हम लोगों के लिये भी यह बड़े आनन्द की बात है।

संस्कृत वर्णमाला की क्रमोत्पत्ति में अद्भुत नैसर्गिक सौन्दर्य्य पाया जाता है। ऐसी क्रम-व्यवस्था क्यों हुई यह हम निश्चय नहीं जानते। हम यहां जो कारण निवेदन करेंगे सो केवल अपने विचार के अनुसार। शब्दशास्त्र के पारदर्शी पण्डित लोग ही विचार कर सकते हैं कि हमने जो हेतु यहां दिया है सो वास्तव में शास्त्रसंगत है कि नहीं। यदि हमारी यह काल्पनिक युक्ति शास्त्रसंगत ठहरेगी तो हम अपने को परम सौभाग्यशाली समझेंगे।

संस्कृत वर्णमाला में नैसर्गिक परिपाटी के होने का अभिप्राय यह है कि वाग्यन्त्र के गठन के अनुसार जिस ध्वनि के अनन्तर जो ध्वनि उच्चारित हो सकती है, संस्कृत वर्णमाला में उस ध्वनि के उपरान्त वही ध्वनि रक्खी गई है। और, फिर, भाषा में जितनी ध्वनियों का प्रयोजन पड़ता है, वर्णों की संख्या भी उतनी ही है। इस विषय को स्पष्टतः समझने के लिये हम यहां वाग्यन्त्र का कुछ परिचय देते हैं।

कण्ठनाली के जिस स्थान में जिह्वा का मूल लगा हुआ है उसी स्थान से ओठों की छोर तक वाग्यन्त्र का स्थान है। यह कहने की आवश्यकता नहीं कि यह स्थान वक्र है, अर्थात् कण्ठनाली से थोड़ा ऊपर चढ़कर, क्रमशः ऊपर जाकर, फिर क्रमशः नीचे की ओर हो, अर्द्धवृत्ताकार हो गया है। उदान वायु के कण्ठनाली से चल कर इस स्थान होकर बाहर आने पर, जो जो ध्वनियां स्फुट उच्चारण की जा सकती हैं, एक एक वर्ण उसी उसी ध्वनि का द्योतक चिन्ह है। परन्तु उदान वायु, सीधे, अथवा एक बार, जिस प्रकार ओठ होकर निकल सकती है, उसी भांति सीधे सीधे ओठों के समीप न आकर नासिका छिद्र की जड़ में प्रवेश कर लौट आ सकती है। आगे यथा प्रकरण यह बात और भी स्पष्टतः कही जायगी।

कण्ठनाली से लेकर ओठ तक स्थान की बात जो हम ऊपर कह आये हैं, इसी स्थान के बीच भिन्न भिन्न प्रकार के अभिघात से भिन्न भिन्न प्रकार की ध्वनि उत्पन्न होती है। यह अभिघात जीभ की सहायता से ही होता है, अर्थात् या तो उदान वायु को बिना रोके बाहर होने दिया जाय, अथवा भिन्न भिन्न स्थानों में जीभ के सहारे रोक कर अभिहत करके भिन्न भिन्न रूप में लाया जाय। बस, ध्वनियों के प्रभेद का यही कारण है। ये अभिघात स्थान पांच हैं। पहला अभिघातस्थल कण्ठ में, दूसरा तालू में, तीसरा मूर्द्धा में, चौथा दांत अथवा उसकी जड़ में और पांचवां ओठ में है। भली भांति विचार कर देखा जाय तो जान पड़ेगा कि इन पांचों को छोड़ और अभिघात-स्थान हो ही नहीं सकता। तो अब इससे स्पष्टतः जाना गया कि सम्पूर्ण स्फुट ध्वनियां पांच श्रेणियों में विभक्त हैं। इसी श्रेणीसमूह को संस्कृत में 'वर्ग' भी कहते हैं। तात्पर्य्य यह कि उत्पत्तिस्थान अथवा अभिघातस्थान के विचारने से स्फुट ध्वनि को पांच ही जातियां हो सकती हैं—कण्ठ्य, तालव्य, मूर्द्धन्य, दन्त्य और ओष्ठ्य। भिन्न भिन्न ध्वनियों ही के द्योतक चिन्ह का नाम वर्ण है; इस लिये वर्ण भी कण्ठ्य, तालव्य, इत्यादि के भेद से पांच प्रकार के हुये।

अब और एक बात देखिये कि वर्ण दो प्रकार के हैं—(१) स्वयंसिद्ध स्फुट ध्वनि और (२) कृत्रिम ध्वनि। स्वयंसिद्ध स्फुट ध्वनियां वे हैं जो उदान वायु के द्वारा भिन्न भिन्न अभिघात स्थानों से स्वाभाविक रूप में निकलकर सुननेवालों को सुन पड़ती हैं। इन्हीं स्वयंसिद्ध ध्वनियों और उनके द्योतक चिन्हों को 'स्वरवर्ण' कहते हैं। और कृत्रिम ध्वनियां वे हैं जो इन स्वयंसिद्ध ध्वनियों अर्थात् स्वरों की सहायता के बिना स्पष्टरूप से मुंह के बाहर नहीं हो सकतीं। जब तक उनमें 'स्वर' का संयोग नहीं होता तब तक वे अभिघात स्थान में रुकी हुई रहती हैं। स्वर की सहायता पातेही वे स्फुट रूप से सुन पड़ने लगती हैं। इन्हें तथा इनके द्योतक चिन्हों को 'व्यञ्जन' कहते हैं।

पहले ही कह आये हैं कि ध्वनि और वर्ण अभिघातस्थान के भेद से पांच जाति के हैं। अब देखिये 'स्वर' भी पांच जाति के और 'व्यञ्जन' भी पांच जाति के हुये।

पहले स्वर लीजिए—अ, आ, इ, ई आदि संस्कृत वर्णमाला में येही सोलह स्वर हैं। 'अ' कण्ठ्य स्वर है। सहजतः थोड़ा मुँह उठाकर थोड़ा ही कण्ठ के सहारे ध्वनि निकाल कर देखिये; जो स्फुट ध्वनि होगी वही 'अ' है। स्वरसमूह उच्चारणकाल के भेद से 'ह्रस्व', 'दीर्घ' होते हैं। इसी उच्चारणकाल को 'मात्रा' कहते हैं। अल्पकाल में उच्चारण करने से जो ध्वनि होती है उसे 'ह्रस्व' कहते हैं। सुतरां ह्रस्व स्वर 'एकमात्रिक' हुआ। दूना समय लगा कर उसी 'ह्रस्व' को उच्चारण करने से 'दीर्घ' होता है। इसीलिये दीर्घ स्वर 'द्विमात्रिक' हुआ। ह्रस्व स्वर जब तिगुने समय में उच्चारित होता है तब 'प्लुत' कहलाता है। वर्णमाला में ह्रस्व और दीर्घ इन्हीं दो का समावेश है। प्लुत की गिनती वर्णमाला में नहीं है और न इसका उन दोनों की नांई कोई विशेष रूप है। स्वर के आगे '३' का अंक लिख देने से प्लुत का बोध होता है। अस्तु हमें इसके विषय में अधिक कहने का प्रयोजन भी नहीं है। ह्रस्व स्वर के उच्चारण करने में जितना समय लगता है उतनाही उस स्वर के उच्चारण में विलम्ब करने से वह दीर्घ हो जाता है। अब देखिये अकार का दीर्घ 'आ'। 'आ' द्विमात्रिक है। अब हमलोगों को दोनों कण्ठ्य स्वर मिल गये—अ आ। कण्ठ के उपरान्त दूसरा अभिघातस्थान 'तालु' है। तालव्य स्वर है 'इ'। इसीको पूर्वोक्त रीति से द्विमात्रिक करने पर दीर्घ 'ई' हुई। अब हुये 'अ', 'आ', 'इ', 'ई'।

इकार के उच्चारण का स्वरूप स्पष्ट समझ में आना कुछ कठिन है। इसके उच्चारण के समय अभिघात की ओर लक्ष्य करने से यह भली भांति समझ में आ सकता है। सहजतः ओठों को अलग कर जिह्वा के बीच का भाग तालु में सटाकर और उसके आगे का भाग झुकाकर ध्वनि निकालने से इकार उच्चारित होता है। जिह्वा को तालु में सटाने के समय अवश्यही इसकी लम्बाई कुछ बढ़ जाती है एवं इसके आगे का भाग थोड़ा सिकुड़ जाता है।

उसके उपरान्त तीसरा अभिघात स्थान मूर्द्धा है। मूर्द्धा में जीभ के आगे का भाग लगाकर उदान वायु को निकालने से हलन्त रकार की नांई एक प्रकार की ध्वनि उत्पन्न होती है। चरवाहे लोग जब बकरियों को पुकारने के समय 'अर्र्र्' कह कर चिल्लाते हैं तब उसमें इसी हलन्त रकार का प्लुत उच्चारित होता है। इसी ध्वनि को ह्रस्व अर्थात् एकमात्र करके उच्चारण करने पर 'ऋकार' उत्पन्न होता है।

चौथा अभिघातस्थान दाँत की जड़ है। जीभ को दाँत की जड़ में सटाकर ध्वनि निकालने से 'ऌकार' उत्पन्न होता है। अब ये दोनों अर्थात् 'ऋ' और 'ऌ', ह्रस्व दीर्घ भेद से, दो प्रकार के हुये—ऋ, ॠ, ऌ, ॡ।

पांचवां एवं अन्तिम अभिघातस्थान ओठ है। दोनों ओठों को सिकोड़ कर ध्वनि निकालने से 'उ' होता है। वही द्विमात्र भेद करके 'ऊ' हुआ।

अभी और भी स्वरवर्ण अवशेष हैं; किन्तु उन सबों के विषय में कहने के पहले उकार के सम्बन्ध में जो एक क्रमभंग हुआ है उसका कारण निर्देश करना उचित है।

संस्कृत वर्णमाला में अकार के अनन्तर इकार, उसके अनन्तर ऋकार और लृकार न होकर उकार है। उकार के उपरान्त ऋकार और लृकार को स्थान दिया गया है, सो क्यों ?

स्वर-ध्वनि का लक्षण कहने के समय हम कह आये हैं कि भिन्न भिन्न अभिघातस्थानों से उदात्त वायु के द्वारा स्वाभाविक रूप में जो स्वयंसिद्ध ध्वनि निकाली जा सकती है वही स्वर है। इसके अतिरिक्त स्वरमें और भी एक विशेषता कही जा सकती है। वह यह कि स्वरवर्ण सुलभतः उच्चारित होनेसे ही श्रेष्ठ हैं। कष्टतः उच्चारित होने से स्वर होनेपर भी वे निकृष्ट हैं। अब विचार कर देखिये कि 'ऋ' 'लृ' के उच्चारण में जीभ कुछ ऐंठ जाती है। इस ऐंठन में अभिघात की अधिकता है; अतः इनका उच्चारण भी कष्टसाध्य है। किन्तु 'उकार' में यह क्लेश नहीं। उकार सुगमता से उच्चारण किया जा सकता है; सुतरां स्वर वर्णों में 'ऋ' 'लृ' की अपेक्षा उकार श्रेष्ठ है। इसी हेतु उकार ओष्ठ्य स्वर होने पर भी, मूर्द्धन्य एवं दन्त्य स्वरों के पहले रक्खा गया है। अब अ, इ, उ, ऋ, लृ ये ह्रस्व दीर्घ भेद से दस स्वर यथाक्रम हुये। ये ही दस अमिश्र या शुद्ध स्वर हैं।

अब मिश्र स्वरों के विषय में सुनिये। ए, ऐ, ओ, औ ये चार मिश्र स्वर हैं। ये चारो सन्ध्यक्षर हैं; अर्थात् दो दो स्वरों की सन्धि अर्थात् संयोग से उत्पन्न हुये हैं। इन्हें संकर-स्वर-वर्ण भी कह सकते हैं। अकार और इकार मिलकर एकार बनता है। एकार का प्रकृत उच्चारण करने से कंठ्य अभिघात के साथ तालव्य अभिघात का भी योग होता है। अकार और इकार दोनों मिलाकर उच्चारण करने से जो ध्वनि निकलती है वही प्रकृत एकार है। व्याकरण के सन्धिसूत्र में भी यह बात दिखाई गई है कि अकार के उपरान्त इकार रहने से दोनों मिलकर एकार हो जाता है। हमारे पाठक यह न समझें कि वैयाकरणिक शासन के द्वारा ही एकार होता है; बल्कि यह समझना चाहिये कि यह सन्धि-योग नैसर्गिक नियम के बल से होता है। इसी प्रकार अकार और एकार मिलकर ऐकार; अकार और उकार मिलकर ओकार; और अकार और ओकार मिलकर औकार की उत्पत्ति होती है।

अब ए, ऐ, ओ, औ इन्हें छोड़ और सन्धियुक्त स्वर क्यों नहीं हैं, इसका भी कारण निर्णय किया जा सकता है। जैसे हमारे हिन्दूशास्त्रानुसार चार वर्णों के बीच ब्राह्मण श्रेष्ठ है, वैसेही अक्षरों में अकार भी श्रेष्ठ है। इस अकार की श्रेष्ठता के विषय में अधिक कहना प्रकरण-विरुद्ध होने के कारण, हम अपने पाठकों को इतनाही कह कर सन्तोष कराते हैं, कि हमारे प्राचीन दार्शनिक तत्ववेत्ता महात्माओं ने इसी अकार से सृष्टिमा[illegible] की शब्दोत्पत्ति बताकर इसे जगत्स्रष्टा के [illegible] स्थान दिया है।

'अकारो वेदवाचकः', 'अक्षराणामकारोऽस्मि' इत्यादि अगणित प्रमाण इसके लिये जागरूक हैं। वस्तुतः है भी ऐसाही। अब इन पूर्वोक्त सन्धियुक्त स्वरों के स्वरूप को भली भाँति विचारने से जान पड़ेगा कि इनकी उत्पत्ति में अकार ही मूल कारण है। अकार को छोड़ ये परस्पर मिलकर स्वर की ध्वनि कदापि उत्पन्न नहीं कर सकते। और, फिर, इकार और उकार को छोड़ और कोई अमिश्र स्वर भी ऐसा नहीं है जिसके मेल से अकार, स्वर की ध्वनि उत्पन्न कर सके। इसी कारण स्वाभाविक नियम के वश ए, ऐ, ओ, औ को छोड़ और सन्धियुक्त स्वर होना असम्भव है।

अब दो वर्णों के विषय में कहने हो से हमारा स्वर-प्रकरण समाप्त हो जाता है। इन दोनों में एक 'अं' और दूसरा 'अः' है। इनके नाम, क्रम से, अनुस्वार और विसर्ग हैं। अनुस्वार और विसर्ग के विषय में वैयाकरण लोगों में अनेक मतभेद हैं। बहुतेरे इन्हें स्वरवर्णों में गिनते हैं और बहुतेरे नहीं, जिसे यहां कहने का प्रयोजन नहीं। किन्तु तन्त्रशास्त्र तथा अधिकांश वैयाकरणों के मत से इनकी गिनती स्वरों में है। सुतरां इन्हें स्वरवर्णों में गिननाही

अच्छा है। दूसरे स्वर के संयोग बिना एकबारगी इनका उच्चारण हो ही नहीं सकता, सो नहीं। हां, स्पष्ट उच्चारण नहीं हो सकता, पर अस्पष्ट हो सकता है। उदान वायुको नाक के छेदों में रोक कर निकालने से अनुस्वार का उच्चारण होता है; परन्तु इतना है कि अकार के आश्रय से इसका उच्चारण और भी परिस्फुट होता है।

अनुस्वार के विषय में नाक के छेदों का उल्लेख अभी किया गया है। विसर्ग के सम्बन्ध में भी एक विशेष बात कहने का प्रयोजन है। सो यह कि उदानवायु को विशेष बलपूर्वक नहीं निकालने से जो एक सहज स्वर पाया जाता है, विशेष बल देकर निकालने से उस प्रकार का स्वर नहीं पाया जाता; व[illegible] दूसरे प्रकार की ध्वनि निकलती है। हमलोग जब कुछ उदासीनता प्रकाशित करते हैं तब यही ध्वनि हम लोगों के मुँह से निकलती है। जैसे—'ओः क्या करते हो' बोलने के समय 'ओः' के उच्चारण में जो ध्वनि होती है, केवल 'अ' कहने से वैसी नहीं होती। यहां अर्द्ध-स्फुट महाप्राण-जनित ध्वनि 'विसर्ग' है। इसे और भी परिस्फुट करने के लिए अकार का आश्रय लेकर विसर्ग का सामान्य परिचय दिया जाता है। फलतः 'अं' और 'अः' की गणना स्वरों में होने पर भी ये अविशुद्ध एवं निकृष्ट स्वर हैं। इसीसे सम्पूर्ण स्वरों के अन्त में इन्हें स्थान दिया गया है।

अब व्यञ्जन वर्णों का स्थान निर्णय किया जाता है। व्यञ्जन वर्णों के विषय में यह एक साधारण तत्व आवश्यक है कि स्वर में संयोग बिना व्यञ्जन का उच्चारण एकबारगी हो ही नहीं सकता। इनका उच्चारण आरम्भ करने पर भी यदि उसमें स्वर की सहायता न दी जाय तो वहीं उसका अन्त हो जाता है; केवल अर्द्धस्फुटध्वनि सुनाई नहीं पड़ सकती। ककार के उच्चारण में अकार का भी संयोग है; अकार को निकाल देने से 'क्' का उच्चारण जिह्वामूल ही में रह जाता है। मुंह के बाहर आकर उच्चाररित नहीं हो सकता। सुतरां व्यञ्जनमात्र में स्वरों की सहायता का नितान्त प्रयोजन है। अतएव स्वरवर्णों की अपेक्षा व्यञ्जन वर्ण जाति में निकृष्ट हुए। इसीलिए वर्णमाला में पहले स्वरवर्ण; पीछे व्यञ्जनवर्ण का स्थान है। अंगरेज़ी में छब्बीस वर्ण हैं। जिसने जहां पाया वह वहीं बैठ गया—A के अनन्तर B, B के उपरान्त C आदि। किन्तु संस्कृत में सो नहीं। क्यों न हो, हमलोगों की वर्णमाला में भी ऊंचनीच का विचार है।

अब व्यञ्जन वर्णों के स्थान-समावेश का क्रम देखिये। ऊपर कहा जा चुका है कि ध्वनि निकालने के पांच स्थान क्रमशः कण्ठ, तालू, मूर्द्धा, दाँत और ओठ हैं। यहां इतना कहने का प्रयोजन नहीं कि कण्ठ, तालू आदि अभिघातस्थान के क्रमानुसार ही व्यञ्जन वर्णों का भी स्थान समावेश है।

पहले देखिये, कण्ठ में जिह्वामूल को छुलाकर अभिघात करने से स्वर की सहायता द्वारा जो सहज ध्वनि उत्पन्न होती है वह 'क' है। अधिक बल देकर महाप्राण द्वारा उच्चारण करने से वही 'क' 'ख' हो जाता है। कण्ठध्वनि को गद्गद करके निकालने से वही 'क' 'ग' होता और वही 'ग' महाप्राण द्वारा उच्चारित होने से 'घ' होता है।

गद्गद स्वर के विषय में जो ऊपर कहा गया उसे स्पष्टतः यों समझना चाहिए कि जिस समय मन व्याकुल रहता है, आंखों से बाष्प निकलने लगता है, एवं कण्ठस्वर अवरुद्ध होता है, उस समय गद्गद भाव होता है। बालक जब रोते रोते बोलता है तब 'क' का ऊच्चारण उसके मुंह से 'ग' के रूप में निकलता है। फलतः वायु रोककर और कण्ठ दाबकर जो उच्चारण किया जाता है उसीको गद्गद उच्चारण कहते हैं। इसी उच्चारण के प्रकार-भेद से प्रथम वर्ग अर्थात् कवर्ग के प्रथम चार अक्षर मिले—सहजतः 'क', वही महाप्राण द्वारा 'ख', गद्गद स्वर से 'ग' और फिर वही महाप्राण द्वारा 'घ'। अब इसी कण्ठध्वनि को नाक के भीतर ज

में रोक कर निकालने से 'ङ' होगा। अब हुये 'क', 'ख', 'ग', 'घ', 'ङ'। येही पाँच प्रथम अथवा कण्ठ्य वर्ग के व्यञ्जन हैं।

इसके अनन्तर ही द्वितीय अर्थात् तालव्य वर्ग के अक्षर 'च' 'छ' 'ज' 'झ' 'ञ' पूर्वोक्त रीत्यनुसार मिलेंगे। जिह्वा के बीच का भाग तालू में थोड़ा छुलाकर अभिघात करने से जो ध्वनि निकलती है वही "तालव्य" ध्वनि है।

तृतीय वर्ग मूर्द्धन्य हैं। जीभ के आगे का भाग मूर्द्धा में सटा कर अभिघात करने से मूर्द्धन्य ध्वनि की उत्पत्ति होती है। पूर्वोक्त उच्चारणभेद के नियमानुसार मूर्द्धन्य वर्ग के 'ट,' 'ठ,' 'ड,' 'ढ,' 'ण,' ये पांच अक्षर होते हैं।

इसके उपरान्त दाँत में, इसी प्रकार, जीभ को छुला कर उच्चारण करने से पूर्वविहित नियमानुकूल 'त,' 'थ,' 'द,' 'ध,' 'न,' ये चतुर्थ अर्थात् दन्त्य वर्ग के पांच अक्षर मिले।

और, दोनों ओठों को सटा कर उच्चारण करने से पंचम वा ओष्ठ्य वर्ग की उत्पत्ति है; जिसमें पूर्व की भांति 'प,' 'फ,' 'ब,' 'भ,' 'म,' ये पांच अक्षर क्रमशः होते हैं।

इन पांच वर्गीय व्यंजन अक्षरों को छोड़ कर और भी व्यंजन वर्ण हैं; परन्तु वे स्पर्शाभिघात से उत्पन्न नहीं हैं। यद्यपि ये स्पर्शाभिघात से उत्पन्न नहीं हुये हैं तथापि दो स्वरों की सन्धि से उत्पन्न होने के कारण इनकी गणना व्यंजन वर्णों में है। गिनती में वे चार हैं और वे ये हैं—य, र, ल, व। तालव्य स्वर इकार, अकार में मिलने से 'य,' ओष्ठ्य स्वर 'उ' अकार में मिलने से 'व,' 'ऋ' अकार में मिलने से 'र' और 'ऌ' अकार में मिलने से 'ल' उत्पन्न होता है। स्वर वर्णों के मेल से जो अक्षर उत्पन्न हुये वे स्वरों में स्थान न पाकर व्यंजन वर्णों में क्यों आये? अब यह जानना चाहिये।

ऊपर हम लक्ष्यमात्र कह आये हैं कि हम लोगों की वर्णमाला में भी वर्णविचार है। जैसे ए, ऐ, ओ, औ संकर स्वरवर्ण हैं वैसे ही य, र, ल, व, ये सन्ध्यक्षर भी संकर व्यंजनवर्ण हैं। अकार इकार मिल कर जिस प्रकार एकार होता है उसी प्रकार इकार अकार मिलकर यकार होता है। अथच ए स्वर वर्ण और य व्यंजन वर्ण। सो क्यों? इसके समाधान में इतना समझना चाहिये कि संकर जाति के दो भेद हैं। एक अनुलोम संकर; दूसरा विलोम या प्रतिलोम संकर। उच्च वर्ण और नीच क्षेत्र के संयोग से अनुलोम और नीच वर्ण और उच्च क्षेत्र के संयोग से विलोम की उत्पत्ति है। एकारादि स्वर संकरवर्ण होने पर भी अनुलोम संकर हैं; सुतरां श्रेष्ठ जाति के हैं; एवं स्वर धर्म्म को प्राप्त हुए हैं। किन्तु यकारादि विलोम संकर हैं; इसलिये चाण्डाल के समान अधम हैं। इसी कारण वे स्पर्शाभिघात से उत्पन्न विशुद्ध व्यंजनों के उपरान्त रक्खे गये हैं।

और भी व्यंजन वर्ण हैं। वे न तो विरुद्ध स्पर्शाभिघातजन्य ही हैं; और न सन्ध्यक्षर ही हैं। अथच वे भी एक एक प्रकार की ध्वनि सिद्ध करते हैं। सन्ध्यक्षर वर्ण उनकी अपेक्षा अवश्य उच्चस्थानीय हैं। इसी हेतु वे अन्तःस्थ वर्ण के नाम से प्रसिद्ध हैं। विशुद्ध व्यंजन वर्णों के पीछे, एवं उन प्रान्तवासी व्यंजनों के पहले अन्तःस्थ वर्ण 'य, र, ल, व,' रक्खे गये हैं।

ये प्रान्तवासी व्यञ्जनवर्ण 'ऊष्मवर्ण' कहलाते हैं। इन ऊष्मवर्णों के विषय में, जहां तक हमने समझा है, यही जान पड़ता है, कि पांचों वर्गों के विकार से इनकी उत्पत्ति है, अर्थात् प्रत्येक वर्ग के विकृत भाव से जो ध्वनि सिद्ध होती है उन्हीं से इनकी उत्पत्ति है। इस से ऊष्म वर्ण भी गिनती में पांच होने चाहिये, पर सो नहीं। वर्तमान संस्कृत वर्णमाला में केवल तीन ही अक्षर ऐसे पाये जाते हैं, अर्थात् तालव्य वर्ग का ऊष्म वर्ण 'श,' मूर्द्धन्यवर्ग का 'ष' और दन्त्य का 'स'। आदिवर्ग कवर्ग तथा अन्त्य वर्ग ओष्ठ्य के ऊष्म वर्ण नहीं देखे जाते हैं। कुछ वैयाकरणों का यह मत है कि वर्णमाला के कई अक्षर कालक्रम से लोप हो गये हैं। कदाचित् ये

ही दो ऊष्म वर्ण लोप हो गये हों तो आश्चर्य क्या ? अब हम ऊष्म वर्णों के विषय में इससे अधिक सन्तोषजनक समाधान करने का सामर्थ्य नहीं रखते और इसके समुचित समाधान का भार अपने विचारशील पाठकों के हाथ सौंपते हैं।

अब रहा 'हकार'। ऊपर जिस महाप्राण की बात कही गई है वही महाप्राण परिस्फुट उच्चारण होने से 'ह' हो जाता है। जहां विसर्ग की आलोचना की गई है वहां देखने से हकार का स्वरूप भली भांति समझ में आ सकता है। महाप्राण ध्वनि अकार में मिलकर व्यंजन भाव को प्राप्त हुई है। बस, इतना ही जानने का काम है।

तन्त्रशास्त्र में और भी एक 'लकार' है; परन्तु वह आजकल के सुशिक्षित सभ्यसमाज में सम्पूर्ण अपरिचित है। अतएव यहां उसे खींच लाना व्यर्थ समझा गया।

वर्णमाला की पांति में और भी तीन युक्ताक्षर-क्ष, त्र, ज्ञ-देखे जाते हैं, जो न जानें कब से व्यञ्जन-वर्णों के साथ चले आते हैं। यद्यपि ये कोई विशेष ध्वनि सिद्ध नहीं करते, तथापि इनका रूप निरा पृथक् होने के कारण इन्हें वर्णमाला की श्रेणी में स्थान दिया गया है। थोड़ा विचारने से जान पड़ेगा कि इनके नहीं रहने से वर्णमाला ही नहीं बनती। ये वर्णमाला के मेरु की नांई हैं। माला गूथने में दाने के दोनो छोर इकट्ठे करने चाहिये। अकार से लेकर हकार तक वर्णसमूह गूंथा तो गया पर माला नहीं बनी। माला बनाने के लिये दोनो छोरों को एक में बांधना चाहिये। परन्तु स्वर और व्यञ्जन से बांधा नहीं जायगा; और फिर थोड़ा तागे के आगे का भाग बिना निकाले भी नहीं बन सकता। इसी हेतु स्वर वर्णों को बाहर ही रखकर आदि व्यञ्जन 'क' और ऊष्म मूर्द्धन्य 'ष' के संयोग से क्ष; ज, ञ से ज्ञ; और त, र् से त्र; इन तीनों को सुमेरुकी नांई बांधकर पूर्ण 'वर्णमाला' बनाई गई है।

संस्कृत वर्णमाला के विषय में हमने अपनी युक्ति के अनुसार जैसा विचार किया है वही अपने पाठकों की सेवा में हमने निवेदन किया। यह विषय आत्मानुमोदित है या नहीं इसका विचार अपने पाठकों के हाथ सौंपकर हम आशा करते हैं कि वे इस की त्रुटियों का सुधार कर हमें कृतार्थ करेंगे।

यशोदानन्दन अखौरी।

अतुल यन्त्र।

सेप्टेम्बर की सरस्वती में महामहोपाध्याय बापूदेव शास्त्री का जो जीवनचरित प्रकाशित हुआ है उसमें उनके द्वारा कल्पित किये गये अतुल यन्त्र का भी नाम आया है। यह यन्त्र बहुतही अपूर्व है; अतएव सरस्वती के वाचकों के जानने के लिए, हम, यहां पर, संक्षेप से, यह बतलाना चाहते हैं कि उससे किन किन बातों का ज्ञान होता है। शास्त्री जी ने इस यन्त्र का वर्णन जिस श्लोक में किया है वह इस प्रकार है—

> दिनमितिमथाभीष्टं कालं नतञ्च समुन्नतं
> निरयणतनुं सांशां भानोश्चरापमदिग्लवान्।
> सपदि नरभाग्रच्छामात्रोद्वेत्ति नरो यत-
> स्तदिदमतुलं यन्त्रं काश्यां जयत्यनिशं स्फुटम्॥

अर्थात्—दिन-मान, इष्टकाल, नत-काल, उन्नत-काल, अंश-सहित निरयण-लग्न, सूर्य का चर-काल तथा क्रान्तिअंश और दिग्-अंश; ये सब बातें जिस यन्त्र के शंकु की छाया का केवल अग्र-भाग ही देखने से मनुष्य को तुरन्त विदित हो जाती हैं वह अतुल यन्त्र काशी में सर्वदा विराजमान रहै।

परिभाषा।

जिन पदार्थों का इस यन्त्र से ज्ञान होता है उनका संक्षिप्त विवरण लिखने के पहले ज्योतिष के दो चार स्थूल स्थूल पारिभाषिक शब्दों का अर्थ लिख देना उचित होगा—

१—क्षितिज-वृत्त। इसकी व्याख्या आवश्यक नहीं। इसे प्रायः सभी जानते हैं।

२—खमध्य । क्षितिज-वृत्त के ऊपर जो सबसे ऊंचा केन्द्र (स्थान) होता है उसे खमध्य कहते हैं। यह ठीक अपने मस्तक के ऊपर आकाश में होता है।

३—दक्षिणोत्तर-वृत्त। जो वृत्त खमध्य में होकर उत्तर-दक्षिण जाता है उसे दक्षिणोत्तर-वृत्त कहते हैं। इसका दूसरा नाम याम्योत्तर-वृत्त भी है। जो गोलार्ध देख पड़ता है उसको, क्षितिज के ऊपर, दक्षिणोत्तर-वृत्त बराबर बराबर दो विभागों में बांट देता है। इन दोनों में से जो विभाग पूर्व की ओर होता है उसे पूर्व कपाल और जो पश्चिम की ओर होता है उसे पश्चिम कपाल कहते हैं। प्रातःकाल से लेकर दोपहर तक सूर्य्य पूर्व कपाल में रहता है; और दोपहर से सायङ्काल तक पश्चिम कपाल में।

४—दक्षिणोत्तर-बिन्दु। याम्योत्तर-वृत्त दक्षिण और उत्तर में क्षितिज से मिल जाता है। जहां पर दोनों का सम्पात (मेल) होता है वह स्थान बिन्दु कहलाता है। इस सम्पात के दो बिन्दु होते हैं; एक दक्षिण-बिन्दु, दूसरा उत्तर-बिन्दु।

५—पूर्वापर-बिन्दु। याम्योत्तर-वृत्त के पृष्ठ-केन्द्र क्षितिज में होते हैं। ये केन्द्र अपनी अपनी दिशा के अनुसार पूर्व-बिन्दु और पश्चिम बिन्दु कहलाते हैं।

६—दिगंश। पूर्व और पश्चिम (अर्थात् पूर्वापर) बिन्दु से लेकर उत्तर-बिन्दु पर्य्यन्त ९०° अंश क्षितिज-वृत्त में होते हैं। ये उत्तर-दिगंश कहलाते हैं। इसी प्रकार, पूर्व और पश्चिम बिन्दु से लेकर दक्षिण-बिन्दु पर्य्यन्त भी ९०° अंश क्षितिज वृत्त में होते हैं। ये दक्षिण-दिगंश कहलाते हैं।

७—दृग्वृत्त। खमध्य से लेकर सूर्यबिम्ब को भेद करके जो वृत्त क्षितिज-वृत्त पर लम्बरूप होता है उसे दृग्वृत्त कहते हैं। इस वृत्त में भी क्षितिज से लेकर खमध्य तक ९०° अंश होते हैं।

यन्त्र-विषय।

दिनमान। अतुल यन्त्र को छाया मात्र को देखने से जिन जिन बातों का ज्ञान होता है उनमें से प्रथम दिनमान है। सूर्योदय से सूर्यास्त तक जितना काल होता है उसे दिनमान कहते हैं। यह दिनमान इस यन्त्र से तत्काल मालूम हो जाता है।

इष्टकाल। सूर्योदय से लेकर अपने अभीष्ट समय तक (अर्थात् दिन के उस भाग तक जिसका विचार करना है) जो काल बीत गया होता है उसे इष्टकाल कहते हैं। अतुल यन्त्र से इष्टकाल का भी ज्ञान हो जाता है।

नत-काल। यदि सूर्य पूर्व कपाल में हो तो दोपहर होने में जितना काल बाक़ी होता है, उसे पूर्व-नतकाल कहते हैं। इसी प्रकार, यदि सूर्य पश्चिम कपाल में हो तो दोपहर के बाद जितना काल व्यतीत हो जाता है उसे पश्चिम-नत काल कहते हैं। तात्पर्य्य यह कि, पूर्व या पश्चिम कपाल में, याम्योत्तर वृत्त से जितने काल का सूर्य नत, अर्थात् नीचा, होता है वही नत-काल है। अतुल यन्त्र में, प्रातःकाल के पाँच बजे से लेकर शाम के सात बजे तक के, अङ्क चिन्हित रहते हैं। इन अङ्कों के ऊपर शंकु (यन्त्र के कील) की छाया को देखकर नत-काल का ज्ञान, घण्टा और मिनिट समेत, तुरन्त हो जाता है।

उन्नत-काल। यदि सूर्य पूर्व कपाल में हो तो सूर्योदय से लेकर अभीष्ठ समय पर्य्यन्त जितना दिन गत होता है उसे पूर्व-उन्नत-काल कहते हैं। ऐसेही, यदि सूर्य पश्चिम कपाल में हो तो अभीष्ट समय से सूर्य्यास्त तक जितना दिन शेष होता है वह पश्चिम-उन्नत-काल कहलाता है। अर्थात् पूर्व या पश्चिम कपाल में, क्षितिज से जितने काल का सूर्य उन्नत (ऊंचा) होता है उसे उन्नत काल कहते हैं। अतुल-यन्त्र इस काल का भी बोधक है।

लग्न। एक वर्ष में, अपनी दैनंदिन गति से गमन करके, सूर्य, एक राशि-चक्र का भ्रमण जिस वृत्त में करता हुआ मालूम होता है उसे क्रान्ति-वृत्त कहते हैं। अथवा, यों कहिए, कि आकाश-मण्डल में सूर्य के भ्रमण करने का जो कल्पित मार्ग है उसका नाम क्रान्ति-वृत्त है। यह क्रान्ति-वृत्त ३६०° अंशों में विभक्त है; और प्रति ३०° की एक राशि कल्पना

की गई है। ऐसी मेष, वृष, मिथुन आदि १२ राशियां हैं। अभीष्ट काल में, सूर्य के क्रान्ति वृत्त का जो प्रदेश पूर्व-क्षितिज में लग्न, अर्थात् लगा होता है, उसे लग्न कहते हैं। इस लग्न की अंश-सहित राशि का भी ज्ञान, अतुल यन्त्र में छायाग्र को देखने के साथही, हो जाता है।

चर-काल। गरमी के दिनों में सबेरे छ बजने से जितना पहले; और जाड़े में छ बजने के जितना पीछे सूर्योदय होता है उसका नाम चर-काल है; वह इस यन्त्र में स्पष्ट मालूम हो जाता है।

क्रान्त्यंश। उत्तर और दक्षिण ध्रुवों के ठीक बीच में जो पूर्व-पश्चिम एक बड़ा वृत्त होता है उसे विषुव-वृत्त कहते हैं। इस वृत्त से याम्योत्तर वृत्त में सूर्य जितने अंश झुका होता है उसे यथादिशि (उत्तर या दक्षिण दिशा के अनुसार) क्रान्त्यंश कहते हैं। यह भी अतुल यन्त्र से जाना जा सकता है।

दिगंश। अभीष्ट काल में, सूर्य पर जो दृग्वृत्त होता है, वह, क्षितिज में, पूर्व-बिन्दु या पश्चिम-बिन्दु से जितने अंश के अन्तर से, उत्तर या दक्षिण में, लगता है उसे दिगंश कहते हैं। इन दिगंशों का भी ज्ञान अतुल-यन्त्र से तत्क्षण ही हो जाता है।

उन्नतांश। दृग्वृत्त में क्षितिज से लेकर सूर्य तक जितने अंश होते हैं उनका नाम उन्नतांश है। शास्त्री जी के श्लोक में यद्यपि उन्नतांश का नाम नहीं है, तथापि वे भी अतुल यन्त्र से तत्क्षण विदित हो जाते हैं।

अब देखिए कि ज्योतिष शास्त्र की गणित-सम्बन्धी मुख्य मुख्य जितनी बातें हैं सभी इस अकेले यन्त्र से मालूम हो जाती हैं। यन्त्ररत्नावली और यन्त्रसार आदि, आज तक, जितने इस विषय के ग्रन्थ बने हैं उनमें एक भी यन्त्र ऐसा नहीं है जिसकी छाया मात्र देखने से पूर्वोक्त सारी बातें ज्ञात हो जावें। अतएव यह अतुल यन्त्र निःसन्देह अतुल-अतुलनीय-है। ऐसा अनुपम यन्त्र दूसरा देखा तो क्या, सुना भी नहीं गया। यह यन्त्र हमारे गुरुवर बापूदेव शास्त्री जी की अद्वितीय प्रतिभा और उद्भट विद्वत्ता का शरीरधारी जाज्वल्यमान प्रमाण है। परन्तु, खेद है कि, आज तक किसी गुण-ग्राही ने इस अद्वितीय और परमोपयोगी यन्त्र को बनवा कर [illegible] करने का प्रयत्न न किया! अभी कुछ नहीं बिगड़ा; अभी तक यह बन सकता है।

चन्द्रदेव शर्म्मा।

कामिनी-कौतूहल।

१—रजोदर्शन।

स्त्रियों की जननेन्द्रिय से महीने महीने जो रुधिर निकलता है उसे रज, आर्तव अथवा मासिक धर्म कहते हैं। स्त्रियां जब तरुण अवस्था में प्रवेश करती हैं तब उनको पहले पहल रजोदर्शन होता है। कुमारिका अवस्था के समाप्त होने का रजोदर्शन चिन्ह है। रजोदर्शन होने पर स्त्री गर्भधारण करने के योग्य हो जाती है। अपने यहां के प्राचीन लेखों को देखने से जान पड़ता है कि पहले स्त्रियों को [illegible] वर्ष की उमर के लगभग रजोदर्शन होता था। लिखा है—

बालेति गीयते नारी यावद्वर्षाणि षोडश।

अर्थात् १६ वर्ष तक स्त्री को बाला कहते हैं। देश, काल, स्थिति और व्यवहार में फेर फार होने के कारण अब १६ वर्ष के पहले ही रजोदर्शन होता है। प्रायः १२ से १६ वर्ष तक की उमर में स्त्रियों को रजोदर्शन अर्थात् ऋतु प्राप्त होता है। जो शीत प्रधान देश हैं, अर्थात जहां जाड़ा बहुत पड़ता है, वहां रजोदर्शन देर में होता है। इंगलैण्ड, फ्रांस, जर्मनी और रूस आदि शीत प्रधान देश हैं। वहां स्त्रियों को [illegible] और २० वर्ष के बीच में ऋतु प्राप्त होता है। परन्तु अफरीका बहुत गरम देश है। इस लिए स्त्रियां [illegible] प्रायः दसही ग्यारह वर्ष में ऋतुमती हो जाती हैं। अधिक से अधिक २५ वर्ष और कम से कम [illegible] वर्ष की उमर में स्त्रियों को

रजोदर्शन होता है। बहुत कम अर्थात् नव दस वर्ष की उमर में रजोदर्शन होने से दो तीन वर्ष तक गर्भसञ्चार का प्रसङ्ग न आने देना चाहिए। जो स्त्रियां शीघ्र ऋतुमती होती हैं उनका मासिक धर्म्म बहुत वर्षों तक नहीं रहता; शीघ्र बन्द हो जाता है। नीरोग स्त्रियों को यह धर्म्म ४५ अथवा ५० वर्ष तक हुआ करता है।

हर महीने, ऋतु के समय, एक छटांक से लेकर पाव भर तक रक्त जाता है। किसी स्त्री के इससे भी अधिक अथवा कम रुधिर जाता है। कहीं कहीं आध सेर तक रुधिर निकलते देखा गया है। स्त्रियों को, ऋतु काल, हर महीने, प्रायः २८ दिन के बाद आता है और चार दिन तक रहता है। पहले दिन रुधिर कम लाल होता है। दूसरे दिन उसकी लालिमा बढ़ जाती है और उसका परिमाण भी बढ़ जाता है। तीसरे दिन रुधिर की मात्रा, जहां तक सम्भव है, खूब अधिक हो जाती है। चौथे दिन वह कम होने लगता है; और पांचवें दिन बिलकुल जाता रहता है। यह एक सामान्य नियम है। कहीं कहीं आठ दिन तक मासिक धर्म होता रहता है और कहीं इससे भी अधिक दिन तक रहता है। वर्ष में प्रायः १३ बार स्त्रियों को रजोदर्शन होता है।

वैद्यक के प्राचीन ग्रन्थ सुश्रुत में लिखा है—

ऋतौ प्रथमदिवसात्प्रभृति ब्रह्मचारिणी दिवास्वप्नाञ्जनाश्रुपातस्नानानुलेपनाभ्यङ्गनखच्छेदनप्रधावनहसनकथनानिलायासान्परिहरेत्।

अर्थात् ऋतु होने पर स्त्री को पहले ही दिन से ब्रह्मचर्य्य रखना चाहिए। दिन में सोना, काजल लगाना, रोना, स्नान, लेप, उबटन, नाखून काटना, दौड़ना, हँसना, बहुत बातें करना और हवा में बैठना इत्यादि मना है। इससे विदित होता है कि पुराने विद्वान् रजस्वला स्त्री की अवस्था को अच्छी तरह समझते थे। स्नान, उबटन इत्यादि इसलिए मना किया, जिसमें स्त्रियों की ओर देखने से, मलीनता के कारण, पुरुष को सङ्गम की इच्छा न हो। दौड़ना, हँसना, हवा में बैठना इत्यादि मना करने का भी हेतु बहुत अच्छा है। रजस्वला स्त्रियां थोड़े बहुत ज्वर से पीड़ित रहती हैं। इस अवस्था में उनकी तबीयत अच्छी नहीं रहती। शरीर भारी रहता है; कमर दुखती है; सिर दर्द करता है; किसी किसी का पेट भी दुखता है; मन मलीन रहता है। इसलिए ऐसी स्थिति में परिश्रम करना अर्थात् हँसना, रोना, दौड़ना इत्यादि अवश्यही हानिकारी है। यही कारण है जो ये बातें मना की गई हैं।

रजःस्राव और प्रसूति दोनों बातें शरीर के एकही व्यापार की सूचक हैं। परन्तु प्रसूता स्त्री की हमलोग बहुत बड़ी परवाह करते हैं और रजस्वला की बिलकुल नहीं करते। ऐसा होना अनुचित है। रजस्वला स्त्रियों को अच्छी तरह न रखने से रोग हो जाते हैं और गर्भधारण के वे योग्य नहीं रह जातीं। यदि गर्भ रहता भी है तो वह ठहरता नहीं। मासिक के समय स्त्रियों को आराम से रखना चाहिए। एक धोती पहन कर, एक आध फटा पुराना कपड़ा बिछा कर, ज़मीन पर उनको न पड़ा रहना चाहिए। ऐसे समय में उनको कपड़े लत्ते की तकलीफ न उठानी चाहिए; शीत से बचना चाहिए। और हलका भोजन करना चाहिए। अच्छी तरह न रहने से रक्तस्राव कम होता है, अथवा बन्द हो जाता है, और स्त्रियों के शरीर में विकार उत्पन्न करता है। मासिक धर्म्म होने से स्त्रियों का रुधिर शुद्ध होता है। अतएव यदि मासिक में कोई प्रतिबन्ध हुआ तो शरीर का रुधिर अशुद्ध हो जाता है और स्त्रियों की तबीयत बिगड़ जाती है। प्रदर–सफ़ेद पानी का निकलना–आदि रोग इसीसे हो जाते हैं। जो आरामी की हालत में नरम बिछौने पर सोता है उसे ज्वर आने पर ज़मीन के ऊपर टाट का एक टुकड़ा डालकर, और कम्मल ओढ़कर, यदि सोना पड़े तो, कहिए, उसे कितना कष्ट होगा? इन बातों का विचार करके पुरुषों को चाहिए कि वे स्त्रियों को, ऋतु के समय, इस

प्रकार रक्खें जिसमें उनके रजःस्राव में बाधा न आवै और सुख से उनके चार दिन बीत जावें।

गर्भ रह जाने पर ऋतु बन्द हो जाता है। और प्रसूति होने पर भी कुछ दिन तक बन्द रहता है। यदि इन समयों के सिवाय और कभी वह बन्द हो जावै तो यह समझना चाहिए कि स्त्री रोगी है और उसकी ओषधि का उचित प्रबन्ध करना चाहिए। इन बातों को तुच्छ समझना भूल है। इस विषय को महत्व का विषय समझ कर यदि मनुष्य स्त्रियों के दुःख के निवारण करेंगे तो स्त्रियां निरोग, दृढ़ और सुखी होंगी। और उनके निरोग होने से उनकी सन्तति भी सुखी होगी। रजस्वला स्त्रियों को अधम और पापिनी समझ कर उनकी ओर बेपरवाही करना बहुत अनुचित है। उस अवस्था में उनको बीमार समझकर उनके खाने, पीने, पहनने, ओढ़ने और बैठने उठने का योग्य प्रबन्ध करना ही पुरुषों का धर्म्म है।

विनोद और आख्यायिका।

प्राचीन समय में, रोमन लोग, किसी किसी अपराधी को निराहार रहने का दण्ड देते थे। ऐसे अपराधी प्रायः एक सप्ताह से अधिक न जीते थे। एक बार, इस प्रकार का, एक अपराधी महीने भर तक जीता रहा। अतएव इस बात की खोज होने लगी, कि क्या कारण है, जो यह अभी तक नहीं मरा; और उसपर रक्षकों की कड़ी दृष्टि रहने लगी। उसके पास केवल उसकी युवा लड़की उससे मिलने के लिए रोज़ आती थी। उसी पर रक्षकों का सन्देह हुआ। वह कोई भी खाने की वस्तु भीतर न ले जाने पाती थी। तिसपर भी जब उस अपराधी में मरने के कोई लक्षण न दिखलाई पड़े तब रक्षकों ने उस लड़की की अधिक देखभाल करना आरम्भ किया। एक दिन उन्होंने छिपकर देखा तो वह लड़की पिता को अपना दूध पिला रही थी! इसी स्तन-पान के बल से वह इतने दिन तक जीवित था। जब यह बात रोम के प्रधान अधिकारी को मालूम हुई तब उसने उसका अपराध क्षमा कर दिया। उसने कहा कि जिसकी सन्तति इतनी पितृभक्त है वह वध किये जाने योग्य नहीं।

✲

सुनते हैं, एक बार, असनी के कवि सेवकराम महाराजा बनारस की सभा में बैठे थे। उस समय वहां, राजा शिवप्रसाद, सितारै-हिन्द, भी थे। महाराजा बनारस को कवि जी की बातें बहुत अच्छी लगती थीं; इसलिए राजा शिवप्रसाद की ओर उनका कम ध्यान था; कवि जी की ओर अधिक। यह बात राजा शिवप्रसाद को बुरी लगी। इसे कवि जी ने उनके मुख की चेष्टा से पहचान लिया। जब महाराजा बनारस उनसे बातचीत कर चुके तब कवि जी ने उनसे एक प्रश्न करने के लिए आज्ञा माँगी। महाराजा बनारस ने उनको प्रसन्नता पूर्वक आज्ञा दी। तब सेवकराम जी ने, उसी समय बना कर, एक पद्य पढ़ा जिसके अन्त में था—

इन माहेताब-हिन्द को सितारै-हिन्द क्यों कह्यौ?

इसका सामान्य अर्थ जो है सो तो हई है; इसमें एक ध्वनि भी है। इसका विलक्षण प्रभाव राजा साहब पर हुआ। सुनते हैं, पीछे से वे कवि जी के स्थान पर आये और उनसे उन्होंने क्षमा माँगी।

एक बाबू साहब यद्यपि अच्छे पद पर थे और यद्यपि उनको रुपये पैसे की कमी न थी, तथापि पिता की वे कुछ भी सहायता न करते थे। पिता दरिद्र का दरिद्र ही था। एक दिन पिता महाशय अपने कलियुगी पुत्र से मिलने चले; और घर का पता ठीक न मालूम होने के कारण, पुत्र के दफ़्तर में ही सीधे चले गये। वहां दरिद्र भेष में जाकर वे पुत्र के पास बैठे। उनको देखकर, पुत्र के दफ़्तर के एक बाबू साहब ने पूछा "ये कौन हैं"?। पितृभक्त पुत्र ने कहा "ये हमारे आत्मीय हैं; हमारे ही घर में रहते हैं"। वृद्ध पिता से और नहीं सहा गया उसने क्रुद्ध होकर उत्तर दिया-"बाबू जी ठीक कहते हैं; आप की मा से हमारी प्रीति है; इसीलिये हम वहां रहते हैं"!

शिक्षक—गरमी और सर्दी में क्या भेद है ?।

विद्यार्थी—गरमी का गुण फैलना और सर्दी का संकुचित होना है। यही दोनों में भेद है।

शिक्षक—ठीक; अच्छा एक उदाहरण दो।

विद्यार्थी—ग्रीष्म ऋतु में गरमी अधिक पड़ती है; इसीसे दिन फैल कर बड़ा हो जाता है। और जाड़े में सर्दी अधिक पड़ती है; इसीसे दिन संकुचित होकर छोटा हो जाता है!

✿

पति-(एक गधे की ओर उँगली उठा कर, हँसते हँसते) सुनते हैं, इसका और तुम्हारा कोई सम्बन्ध है।

पत्नी-(नम्रभाव से) हां, जब से विवाह हुआ तब से है सच!

मनोरञ्जक श्लोक।

एक दरिद्री पण्डित घूमतेघामते सिंहल पहुँचे। वहां के राजा ने उनको इतना दान दिया कि सङ्कल्प के जल की नदी बह निकली। इसपर पण्डित जी राजा से कहते हैं—

> यो गङ्गामतरत्तथैव्यमुनां
> यो नर्म्मदां शर्म्मदां
> का वार्ता सरिदुल्लंघनविधौ
> यस्तीर्णवानर्णवान्।
> सोऽस्माकं चिरसंस्थितोऽपि सहसा
> दारिद्र्यनामा सखा
> त्वद्दानाम्बुसरित्प्रवाहलहरी-
> मग्नो न सम्भाव्यते॥

जो हमारे साथ गङ्गा उतर आया; यमुना भी उतर आया; कल्याणकारी नर्म्मदा भी पार कर आया; नदियों की बात न कीजिए, समुद्र तक को भी जिसने उल्लंघन किया; बहुत दिन तक हमारे साथ रहनेवाला दरिद्र नामक हमारा वही पुराना साथी, आज आपके दान की नदी के प्रवाह में डूब गया! अब उसका कहीं पता नहीं लगता।

> स्तुवन्ति गुर्वीमभिधेयसम्पदम्
> विशुद्धिमुक्तेरपरे विपश्चितः।
> इति स्थितायां प्रतिपूरुषम् रुचौ
> सुदुर्लभाः सर्वमनोरमा गिरः।

कोई कोई विद्वान् कहते हैं कि अर्थ की गम्भीरता ही सबसे श्रेष्ठ है; वे उसी की प्रशंसा करते हैं। कोई कहते हैं, नहीं; शब्द, पद और वाक्य आदि की शुद्धता ही को प्रधानता दी जा सकती है। इस प्रकार प्रत्येक मनुष्य की रुचि भिन्न भिन्न होने के कारण, सबका बराबर मनोरञ्जक करनेवाली वाणी का होना सर्वथा दुर्लभ है। यह श्लोक किरातार्ज्जुनीय काव्य के चौदहवें सर्ग का है।

✿

> पत्राणि जीर्णानि फलं विनष्टं
> छाया गता पक्षिकुलैः प्रयातम्।
> वसन्त! जानीहि तवाशयासौ
> समुन्नतिं नैव जहाति वृक्षः॥

पत्ते पुराने हो गये; फल नहीं रहे; छाया भी गई; चिड़ियों ने भी छोड़ दिया। परन्तु हे वसन्त! याद रख, केवल तेरे ही आसरे यह वृक्ष अभी तक अपनी उन्नति (उच्चता, सदाशयता) को नहीं छोड़ता।

> जलनिधौ जननं धवलं वपु-
> र्मुररिपोरपि पाणितले स्थितः।
> इति समस्तगुणान्वित शंख भोः
> कुटिलता हृदये न निवारिता॥

जन्म जलनिधि में; शरीर गौर; निवास विष्णु के हाथ में; ऐसे ऐसे अद्भुत गुणों से युक्त होकर भी हे शंख! अपने हृदय की कुटिलता तू ने न छोड़ी!

✿

> लोके कलङ्कमपहातुमयं मृगाङ्को
> जातो मुखं तव पुनस्तिलकच्छलेन।
> तत्रापि कल्पयसि तन्वि कलंकरेखां
> नार्यः समाश्रितजनं हि कलङ्कयन्ति॥

अपने कलङ्क को धोने के लिए यह चन्द्रमा, इस लोक में आकर, तेरा मुख हुआ। परन्तु, हे कृशाङ्गि!

काला तिलक लगा कर उसमें, यहां भी, तू कलङ्क की रेखा उत्पन्न करती है ! सच है, आश्रित मनुष्य को कलङ्क लगाये बिना स्त्रियां क्यों छोड़ने लगीं ?

आवृणोति यदि सा मृगीदृशी
स्वाञ्चलेन कुचकाञ्चनाचलम् ।
भूय एव बहिरेति गौरवा-
दुन्नतो न सहते तिरस्क्रियाम् ॥

यह मृगलोचनी अपने कुचरूपी काञ्चन पर्वतों को यद्यपि अञ्चल से ढकती है; तथापि गौरव के कारण, वे बार बार बाहर प्रकट होना चाहते हैं। जो स्वभावही से उन्नत है वह अपना तिरस्कार कदापि नहीं सह कर सकता ।

✻

अपूर्वो दृश्यते ह्यग्निः कामिन्याः स्तनमण्डले ।
दूराद्दहति यो ऽत्र गात्रलग्नस्तु शीतलः ॥

कामिनी के स्तन-मण्डल में विलक्षण प्रकार की आग देख पड़ती है। देखिए न, दूर से तो वह शरीर को जलाती है; परन्तु शरीर में लगने से उलटा उसे शीतल करती है !

साहित्य-समाचार ।

उपन्यास-कार और उनकी कृति ।
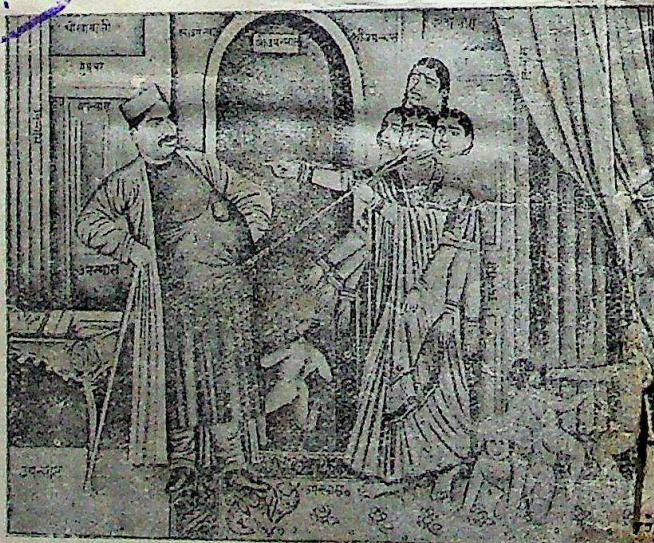
उ० का०—बेटी, तुम्हें कौन अधिक चाहते हैं ?
चाँदी की नली से फूंकती हुई कृति (चौथे मुख से)—आँख के अन्धे गाँठ के पूरे ।

काशी ...द ।